प्रिय मित्र

स्व० श्री रामकुमार गुप्त

की

पुण्य स्मृति

में

सादर समर्पित

प्रस्तुत संस्करण की भूमिका

नियोजित आर्थिक विकास के साथ-साथ भारतीय मौद्रिक व्यवस्था मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। देश मे एक ऐसी मुद्रा-नीति का निर्माण करने का प्रयत्न किया जा रहा है जो मौद्रिक स्थिरता स्थापित करने के साथ साथ आर्थिक विकास मे भी सहायक हो सके। आर्थिक नियोजन के परिणामस्वरूप कुछ नई मौद्रिक समस्यायें देश मे उत्पन्न हो गई हैं जिन्हे सुलझाने के लिये सरकार प्रयत्नशील है। देश की अर्थ-व्यवस्था पर मुद्रा प्रसार का बढता हुआ दबाव तथा विदेशी विनिमय सकट इसके स्पष्ट प्रमाण है। भारतीय बैंको को एक नये वातावरण मे तथा अधिक महत्वपूर्ण सामाजिक उद्देश्यो के लिये कार्य करना है। रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक के सम्मुख नये कर्तव्य एव समस्यायें हैं। आर्थिक विकास के लिये वित्त की व्यवस्था करने के उद्देश्य से विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय सस्थायें स्थापित की जा रही है। इस बदलती हुई पृष्ठ-भूमि मे मौद्रिक अर्थशास्त्र के विद्यार्थियो के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वे वर्तमान मौद्रिक व्यवस्था का समुचित ज्ञान प्राप्त करके इन समस्याओ को सुलझाने मे अपना योगदान दे। इस दृष्टिकोण से विद्यार्थियों को उपयुक्त सामग्री उपलब्ध करने के उद्देश्य से ही यह पुस्तक लिखी गई है।

पुस्तक का नया सस्करण निकलना इस बात का प्रमाण है कि पुस्तक विद्यार्थियो के लिये उपयोगी सिद्ध हुई है। साथी प्राध्यापको द्वारा भेजे गये सुझावो का यथास्थान सशोधन एव परिवर्द्धन के द्वारा नये सस्करण को और अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। जहा तक सम्भव हो सका है आधुनिकतम परिवर्तनो को इस सस्करण मे सम्मिलित कर दिया गया है।

लेखक उन सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों का आभारी है जिनके विचारो के आधार पर इस पुस्तक को लिखना सम्भव हो सका है। लेखक अपने स्वर्गीय मित्र श्री रामकुमार गुप्त का अत्यन्त आभारी है, जिन्होंने इस पुस्तक को लिखने की प्रेरणा, आवश्यक सुविधायें एव बहुमूल्य परामर्श प्रदान किया। यह पुस्तक उनकी देन है और उन्हे सादर समर्पित है।

अर्थशास्त्र विभाग
एस. डी कालिज
मुजफ्फरनगर।

लेखक
आर. एल. गोयल

भूमिका

आज के आर्थिक जीवन मे मौद्रिक समस्यायें अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। किसी देश की आर्थिक प्रगति बहुत कुछ इस बात पर निर्भर होती है कि उस देश मे मुद्रा व बैंकिंग सम्बन्धी किस प्रकार की नीति अपनाई जाती है। पिछले कुछ वर्षो से अल्प-विकसित देशो मे नियोजित आर्थिक विकास का युग आरम्भ हो जाने से मौद्रिक नीति की उपयोगिता और भी अधिक बढ गई है। मुद्रा तथा बैंकिंग सम्बन्धी समस्याओ का अध्ययन काफी समय से किया जा रहा है किन्तु आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से इन समस्याओ का अध्ययन करने की प्रवृत्ति बहुत कम पाई जाती है। इस प्रकार का अध्ययन आज की आर्थिक समस्याओ को सुलझाने के लिये आवश्यक प्रतीत होता है। इस पुस्तक मे मौद्रिक समस्याओ को आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है।

आज अल्प-विकसित देशो के सामने मुद्रा, बैंकिंग तथा विदेशी व्यापार सम्बन्धी अनेक समस्यायें उपस्थित हैं जिन्हे सुलझाने के लिये यह देश प्रयत्नशील हैं। मुद्रा को हम किस प्रकार आर्थिक विकास के अस्त्र के रूप मे प्रयोग कर सकते हैं, यह अल्प-विकसित देशो की एक प्रमुख समस्या है। इन देशों में केन्द्रीय बैंक के क्या नये उत्तरदायित्व उत्पन्न हो गये हैं और उन्हे वे किस प्रकार पूरा कर सकते है ? आर्थिक विकास के महान् कार्य मे संलग्न इन देशो मे विदेशी व्यापार सम्बन्धी क्या नीति होनी चाहिये तथा यह देश किस प्रकार विदेशी विनिमय की स्थिरता के साथ-साथ आर्थिक विकास कर सकते हैं ? यह कुछ मौलिक प्रश्न हैं जिनका उत्तर मौद्रिक अर्थशास्त्र के द्वारा दिया जाना है। इन समस्याओ को सुलझाने के लिय मुद्रा, बैंकिंग तथा विदेशी व्यापार सम्बन्धी सिद्धान्तो का आधार-भूत ज्ञान होना आवश्यक है। इन सिद्धान्तो को भली प्रकार समझे बिना उचित आर्थिक नीति का निर्माण नही किया जा सकता। इस पुस्तक मे इन सिद्धान्तो का सरल तथा वैज्ञानिक ढग से विश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया है। यदि यह पुस्तक अल्प-विकसित देशो की मुद्रा सम्बन्धी समस्याओ को विद्यार्थी-वर्ग के सम्मुख सरल भाषा मे प्रस्तुत करने मे कुछ भी सहायता करती है तो मैं अपने इस प्रयत्न को सफल समझूगा।

पुस्तक मुख्यत: भारतीय विश्वविद्यालयों की बी. ए कक्षाओ के विद्यार्थियो के लिये लिखी गई है और मुद्रा, बैंकिंग तथा विदेशी व्यापार सम्बन्धी सिद्धान्तो एवं समस्याओं को एक वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न करती है। पुस्तक का उद्देश्य मौद्रिक अर्थशास्त्र जैसे कठिन विषय को सरल तथा आम बोलचाल की भाषा मे समझाना है। इस विषय पर अन्य पुस्तकें होते हुये भी इस पुस्तक को

प्रस्तुत करने का उद्देश्य मौद्रिक अर्थशास्त्र की नवीन प्रवृत्तियो को पाठको तक पहुँचाना तथा उनमे वर्तमान मौद्रिक समस्याओ को समझने की क्षमता उत्पन्न करना है। यह पुस्तक इसी विषय की अन्य पुस्तको से किस बात मे भिन्न है अथवा इसकी क्या उपयोगिता है इसका निर्णय स्वय पाठक करेंगे। पुस्तक मे विभिन्न सिद्धान्तो के विश्लेषण के साथ-साथ वर्तमान आर्थिक विचारो का समावेश करने का प्रयत्न किया गया है। किसी भी निश्चित पाठ्यक्रम के अनुसार लिखी गई पुस्तक के विषय मे मौलिकता का दावा तो नही किया जा सकता किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह पुस्तक आर्थिक विकास से सम्बन्धित मौद्रिक समस्याओ को समझाने मे सहायता करेगी।

मैं उन सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्रियो का आभारी हूँ जिनके विचारो के आधार पर इस पुस्तक का लिखना सम्भव हो सका है। लेखक उन सब लोगो का आभारी है जिन्होने इस पुस्तक के लिखने म सहयोग दिया है। प्रकाशक मुख्यत धन्यवाद के पात्र हैं क्योकि उन्होने इतने कम समय मे इस पुस्तक को विद्यार्थियो तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है।

अर्थशास्त्र विभाग
एस. डी कालिज
मुजफ्फरनगर

रतन लाल गोयल

विषय-सूची

खण्ड — २

राजस्व की विषय सूची खण्ड ३ के प्रारम्भ में देखें

———

१

मुद्रा का विकास

EVOLUTION OF MONEY

प्रत्येक विकसित समाज की अर्थ-व्यवस्था अनिवार्य रूप से मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था होती है। समाज पूँजीवादी हो या समाजवादी, नियोजित हो अथवा अनियोजित, प्रत्येक दशा मे अर्थ-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए मुद्रा का होना अनिवार्य है। यद्यपि पूँजीवादी समाज मे मुद्रा को अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है, किन्तु समाजवादी अर्थ-व्यवस्था भी मुद्रा के बिना ठीक प्रकार से नही चल सकती है। वास्तव मे मुद्रा आज के आर्थिक जीवन का केन्द्र बन गई है। बड़े पैमाने का उत्पादन, श्रम विभाजन, बाजारो का विकास, बैंक तथा आर्थिक नियोजन, यह सब कुछ मुद्रा के कारण ही सम्भव हो सका है। यदि हमारे जीवन से मुद्रा को अकस्मात हटा दिया जाये तो हमारी आर्थिक क्रियायें रुक जायेगी और सम्पूर्ण आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जायगा। मुद्रा को मानव इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण आविष्कार कहा जा सकता है। मुद्रा के प्रयोग के द्वारा ही व्यापार तथा विनिमय को सुविधापूर्ण बनाया जा सका है तथा आधुनिक ढग से उत्पादन करना सम्भव हो सका है। यह तो नही कहा जा सकता कि आज का आर्थिक सगठन व्यवसायिक वर्गीकरण, श्रम विभाजन पर आधारित वर्तमान उत्पादन व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों का विकास केवल मुद्रा की देन है किन्तु मुद्रा के आविष्कार ने इस प्रकार के विकास को सम्भव बनाने मे काफी योगदान दिया है।

मुद्रा ने विकास की दशाये उत्पन्न करके मानव समाज को आर्थिक प्रगति के पथ पर अग्रसर किया है। यदि मुद्रा का आविष्कार न हुआ होता तो आज भी मानव समाज काफी पिछडी हुई दशा मे रहता। आज हम आर्थिक विकास की ऐसी अवस्था मे पहुँच गये हैं कि हमारे लिए मुद्रा-रहित समाज की कल्पना करना भी सम्भव नही है किन्तु एक समय ऐसा भी था जब मुद्रा नही थी और वस्तुओ तथा सेवाओ का विनिमय प्रत्यक्ष रूप से किया जाता था। मानव समाज की प्रगति के साथ-साथ इस प्रकार की वस्तु-विनिमय प्रणाली को छोडकर मुद्रा-विनिमय प्रणाली

को अपना लिया गया। प्रत्यक्ष विनिमय में होने वाली विभिन्न असुविधाओं के कारण ही मुद्रा का आविष्कार हुआ। मुद्रा के विकास का यह इतिहास हमें उसकी प्रवृत्ति तथा आर्थिक जीवन में उसके महत्व को समझने में काफी सहायता कर सकता है। मुद्रा क्या है ? इसे समझने के लिए हमें सर्वप्रथम उन दशाओं का अध्ययन करना होगा, जिनके कारण मुद्रा का आविष्कार किया गया।

विनिमय का आरम्भ—

मानव समाज की आर्थिक प्रगति विनिमय प्रणाली के विकास के साथ ही आरम्भ होती है। विनिमय व्यवस्था के पूर्व आर्थिक जीवन बहुत ही सरल तथा पिछड़ी हुई दशा में था। मनुष्य की आवश्यकतायें इतनी सीमित थी कि वह स्वयं ही उन्हें पूरा कर लेता था। इसे आत्म-निर्भरता का युग कहा जाता है क्योंकि उस समय मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं रहता था। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए स्वयं साधन जुटाने पड़ते थे। इस प्रकार का सरल आर्थिक जीवन अधिक समय न चल सका। मानव समाज के विकसित होने के साथ-साथ आवश्यकतायें भी बढ़ने लगी और वे पहले की अपेक्षा अधिक जटिल होती गई। अब मनुष्य अपनी समस्त आवश्यकताओं को स्वयं पूरा नहीं कर सकता था और उन्हें एक दूसरे के सहयोग के द्वारा पूरा किया जाने लगा। समाजशास्त्रियों ने इसे परस्पर निर्भरता का युग कहा है। विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा उत्पादित वस्तुओं का आपस में विनिमय किया जाने लगा और इस प्रकार आत्म-निर्भरता के युग ने परस्पर निर्भरता के युग को स्थान दिया। विनिमय के विकास के साथ-साथ मानव समाज प्रगति के एक नये पथ पर अग्रसर हुआ। व्यावसायिक विशिष्टीकरण, श्रम विभाजन तथा बाजारों का विकास होने लगा जिसके कारण उत्पादन प्रणाली में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। जैसे-जैसे समाज प्रगति करता गया वैसे-वैसे विनिमय का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया और आर्थिक जीवन में विनिमय ने एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। आज का समाज पूर्णतया विनिमय पर आधारित है और उसे आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण साधन समझा जाता है।

विनिमय दो प्रकार का होता है—(अ) प्रत्यक्ष विनिमय (Direct Exchange) या वस्तु-विनिमय (Barter) तथा (ब) परोक्ष विनिमय (Indirect Exchange) या मुद्रा-विनिमय (Money Exchange)। मुद्रा के विकास के पूर्व विनिमय का कार्य प्रत्यक्ष रूप से किया जाता था, किन्तु इस प्रकार के विनिमय में अनेक कठिनाइयाँ होने लगी और विनिमय मुद्रा के माध्यम के द्वारा किया जाने लगा। कोई भी आधुनिक समाज वस्तु-विनिमय के द्वारा अपनी अर्थ-व्यवस्था का नहीं चला सकता है। कुछ एक पिछड़े हुए वर्गों को छोड़कर आज की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्थायें मुद्रा-विनिमय पर आधारित हैं।

(अ) वस्तु-विनिमय
(Barter)

मानव समाज मे विनिमय का प्रारम्भ सर्वप्रथम वस्तु-विनिमय के रूप मे हुआ। क्राउथर (Crowther) के अनुसार, "एक व्यावसायिक प्राणी के रूप में, मनुष्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में जो भी कुछ व्यापार करता था वह वस्तु-विनिमय के रूप मे था।"[1] वस्तु-विनिमय का युग साधारण विनिमय का युग था। उस समय मानव आवश्यकतायें कम थी और विनिमय का क्षेत्र इतना सीमित था कि वस्तुओं की सीधी अदल-बदल के द्वारा ही लोग अपनी आवश्यकतायें पूरी कर लेते थे। आज के विकसित समाज मे बार्टर प्रणाली लगभग समाप्त हो गई है किन्तु कुछ पिछड़े हुए भागो मे अभी भी इस प्रणाली के आधार पर विनिमय किया जाता है। वस्तु-विनिमय के अन्तर्गत विनिमय का माध्यम न होने के कारण, वस्तुओं का विनिमय प्रत्यक्ष रूप से होता है। टॉमस के अनुसार, "एक वस्तु के, दूसरी वस्तु के साथ प्रत्यक्ष रूप से बदले जाने को ही वस्तु-विनिमय कहा जाता है।"[2] जैवन्स (Jevons) के शब्दों मे, "तुलनात्मक रूप से कम आवश्यक वस्तु के साथ अधिक आवश्यक वस्तु के बदलने को वस्तु-विनिमय कहते है।"[3] वस्तु-विनिमय प्रणाली मे वस्तुओं को पहले किसी मध्यवर्ती वस्तु के साथ नही बदला जाता है वरन् उसे सीधा उसी वस्तु अथवा सेवा के साथ बदल लिया जाता है, जिसकी आवश्यकता होती है। एक किसान अपने अतिरिक्त गेहूँ को देकर उसके बदले मे अपनी आवश्यकता के अनुसार कपडा तथा अन्य वस्तुएँ प्राप्त कर लेता था और बढई अपने द्वारा बनाये गये औजारो को कपड़े तथा गेहूँ के साथ बदल लेता था। इस प्रकार वस्तुओं तथा सेवाओं को आपस मे बदलकर विभिन्न मानव आवश्यकताओं को पूरा किया जाता था।

वस्तु-विनिमय की सफलता की दशायें—

वस्तु-विनिमय प्रणाली केवल कुछ दशाओं मे ही सफल हो सकती है। प्रत्यक्ष विनिमय की सफलता के लिए मानव आवश्यकताओं का साधारण तथा सीमित होना अनिवार्य है। विनिमय का क्षेत्र भी विस्तृत नहीं होना चाहिए और वह केवल एक गाँव अथवा आस-पास के कुछ गाँव तक ही सीमित रहना चाहिए। इस प्रकार की व्यवस्था केवल समाज की प्रारम्भिक दशाओं में ही सम्भव हो सकती है इसीलिए

---

1 "In the earliest stages of Man as a commercial animal, his trading consisted entirely of barter." —*Geoffrey Crowther.*

2 "........ direct exchange of one commodity for another is termed barter." —*S. E. Thomas.*

3 "Exchange is the barter of the comparatively superfluous with the comparatively necessary." —*Jevons.*

प्राचीन सामाजिक व्यवस्था वस्तु-विनिमय पर आधारित थी। समाज के पिछड़े होने के कारण मनुष्य का रहन-सहन सादा था और उसकी आवश्यकतायें इतनी कम थी कि उन्हे वस्तु-विनिमय के द्वारा पूरा किया जा सकता था। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव आवश्यकतायें बढ़ने लगी और वे पहले की अपेक्षा अधिक जटिल होती गईं। बाजारो का विस्तार होने के कारण विनिमय का क्षेत्र भी निरन्तर बढ़ता गया और वस्तु-विनिमय के लिए उपयुक्त वातावरण समाप्त हो गया। ऐसी दशाओ मे वस्तु-विनिमय नही चल सकता था और विनिमय का कार्य ठीक प्रकार चलाने के लिए मध्यवर्ती वस्तु की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। धीरे-धीरे समाज मुद्रा पर आधारित अर्थ-व्यवस्था की ओर बढ़ने लगा।

आज भी संसार के अल्प-विकसित भागों मे तथा पिछड़ी हुई जातियो में वस्तु-विनिमय देखने को मिल जाता है क्योकि वहां पर अभी तक वस्तु-विनिमय के लिए उपयुक्त वातावरण उपस्थित है। भारतवर्ष के ग्रामीण क्षेत्रो मे अभी तक भी कुछ किसान अनाज के बदले मे अपनी आवश्यकता की वस्तुयें तथा सेवायें प्राप्त करते हैं किन्तु अब धीरे-धीरे यह प्रणाली लुप्त होती जा रही है और उसके स्थान पर मुद्रा के द्वारा विनिमय को अधिक सुविधापूर्ण समझा जाने लगा है। प्रगतिशील समाज का वस्तु-विनिमय को त्याग कर मुद्रा को अपनाना एक स्वाभाविक घटना थी। वस्तु-विनिमय प्रणाली दोषयुक्त होने के कारण प्रगतिशील समाज की विनिमय की आवश्यकताओं को पूरा न कर सकी और उसके स्थान पर अधिक कुशल तथा सुविधापूर्ण मुद्रा प्रणाली को अपना लिया गया। आज हम आर्थिक विकास की एक ऐसी अवस्था मे पहुँच गये हैं कि हमारा आर्थिक जीवन पूर्णतया मुद्रा पर आधारित हो गया है और वह हमारी आर्थिक क्रियाओं का मुख्य केन्द्र बनती जा रही है।

वस्तु-विनिमय की कठिनाइयां—

वस्तु-विनिमय के लिए उपयुक्त वातावरण न मिलने के कारण वस्तुओ का प्रत्यक्ष विनिमय असुविधापूर्ण हो गया और उसमे विशेष कठिनाइयां अनुभव की जाने लगी। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए मुद्रा का आविष्कार हुआ और धीरे-धीरे मुद्रा प्रणाली ने वस्तु-विनिमय का स्थान ले लिया। वस्तु-विनिमय की प्रमुख कठिनाइयां निम्नलिखित थी—

(१) आवश्यकताओं के दोहरे संयोग का अभाव (Lack of Double Coincidence of Wants)—वस्तु-विनिमय की सफलता के लिए आवश्यकताओं के दोहरे संयोग का होना अनिवार्य है। प्रत्यक्ष विनिमय केवल दो ऐसे व्यक्तियों में ही हो सकता है जिनके पास एक दूसरे की आवश्यकता की वस्तुयें हो और जो उनका आपस मे विनिमय करने के लिए तैयार हो। वस्तुओ की सीधी अदल-बदल करने के लिए एक व्यक्ति को दूसरे ऐसे व्यक्ति की खोज करनी पडती है जिसके

पास वह वस्तु फालतू हो जिसकी पहले को आवश्यकता है और जो उस वस्तु को लेने के लिए तैयार हो जो पहले व्यक्ति के पास फालतू है। यदि दोनो व्यक्तियों की आवश्यकताओं में इस प्रकार का दोहरा सयोग नही है तो वस्तु-विनिमय नहीं हो सकेगा। उदाहरणार्थ यदि कोई किसान अपने गेहूँ को बदल कर कपडा प्राप्त करना चाहता है तो उसे दूसरा ऐसा व्यक्ति मिलना चाहिए जो कपडा देकर गेहूँ लेना चाहता हो। यदि उसे ऐसा व्यक्ति नहीं मिलता है और जो व्यक्ति उसे मिलता है वह कपडा तो देना चाहता है, किन्तु उसे गेहूँ की आवश्यकता नही है और वह कपड़े के बदले लकडी के औजार प्राप्त करना चाहता है। ऐसी स्थिति मे वस्तु-विनिमय तब तक नही हो सकेगा जब तक उन्हे कोई तीसरा व्यक्ति ऐसा न मिल जाये जो गेहूँ के बदले मे औजार देने को तैयार हो।

आवश्यकताओं के दोहरे सयोग को प्राप्त करने मे लोगो को काफी असुविधा होती थी और कभी-कभी उसके अभाव के कारण वस्तु-विनिमय नही हो पाता था। जब तक विनिमय की जाने वाली वस्तुओं की सख्या कम थी और विनिमय का क्षेत्र सीमित था उस समय तक पारस्परिक ज्ञान के द्वारा आवश्यकताओं मे दोहरे सयोग को स्थापित करना सम्भव था। आर्थिक विकास के साथ मानव आवश्यकतायें बढने लगी और विनिमय का क्षेत्र भी विस्तृत हो गया जिसके कारण आवश्यकताओं मे दोहरे सयोग को स्थापित करना काफी कठिन होता गया। आज के विकसित समाज मे तो विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकताओं मे इस प्रकार के सयोग का मिलना असम्भव है। जार्ज हाम ने इसी कठिनाई के सम्बन्ध मे लिखा है—"वस्तु-विनिमय करने वाले व्यक्तियो की समस्त इच्छाओं का वस्तुओं की श्रेणी, गुण, मात्रा एवं मूल्य के सम्बन्ध मे सयोग बैठना लगभग असम्भव है, विशेषतया आधुनिक अर्थ-व्यवस्था मे जहाँ एक ही दिन मे लाखो व्यक्ति लाखो प्रकार की वस्तुओं तथा सेवाओं का विनिमय करते हैं।"[२] आवश्यकताओं के दोहरे सयोग की कठिनाई के कारण विनिमय के माध्यम की खोज आरम्भ हुई और मुद्रा के आविष्कार के साथ वस्तु-विनिमय का स्थान मुद्रा-विनिमय ने ले लिया।

(२) **मूल्य के सर्वमान्य माप का अभाव** (Lack of Common Measure of Value)—वस्तु-विनिमय की दूसरी कठिनाई मूल्य के माप के अभाव के कारण पैदा होती है। वस्तु-विनिमय प्रणाली मे कोई ऐसी वस्तु नही होती है जिसके द्वारा अन्य वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य को आंका जा सके। मूल्य का सर्वमान्य माप न होने के कारण प्रत्येक वस्तु का मूल्य प्रत्येक दूसरी वस्तु के साथ प्रत्यक्ष रूप से

---

2 "It is next to impossible that all wishes of bartering individuals should coincide as to the kind, quality, quantity and value of things which are mutually desired, especially in a modern economy in which on a single day millions of persons may exchange millions of commodities and services."

—*George N. Halm* : Monetary Theory, P. 1.

निर्धारित करना होता है। प्रत्यक्ष विनिमय के लिए यह जानना अनिवार्य है कि एक वस्तु की निश्चित मात्रा के बदले में दूसरी वस्तु की कितनी मात्रा दी जाय। गेहूँ और कपड़े का विनिमय तभी सम्भव हो सकता है जब हमे यह मालूम हो कि गेहूँ की एक निश्चित मात्रा कपड़े की कितनी मात्रा के बराबर है। कई बार इस प्रकार के विनिमय अनुपातो को निश्चित करने मे बड़ी कठिनाई होती थी। यह कठिनाई उन वस्तुओ के सम्बन्ध मे अधिक होती थी जिनका कभी-कभी विनिमय किया जाता था। यदि किसी प्रकार विनिमय दरो को निश्चित भी कर लिया जाता था तो एक अन्य समस्या यह पैदा होती थी कि इतनी अधिक विनिमय दरो को किस प्रकार याद रखा जाय। प्रत्येक विनिमय करने वाले व्यक्ति को अपनी वस्तु के विनिमय अनुपात उन सब वस्तुओ के सम्बन्ध मे याद रखने होते थे जिनके साथ उसे बदला जा सकता था। आरम्भ काल मे विनिमय की जाने वाली वस्तुओ की संख्या इतनी कम थी कि उनकी विनिमय दरो को याद रखना सम्भव था किन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ विनिमय की जाने वाली वस्तुओ की संख्या निरन्तर बढ़ती गई और उनसे सम्बन्धित असख्य विनिमय दरो को याद रखना असम्भव हो गया। इस कठिनाई को दूर करने के लिए किसी ऐसी सामान्य वस्तु की खोज आरम्भ हुई जिसके द्वारा अन्य सब वस्तुओ तथा सेवाओ के मूल्य को मापा जा सके।

(३) **विभाजन की कठिनाई** (Difficulty of Sub division)—वस्तु-विनिमय मे एक अन्य कठिनाई वस्तुओ का विभाजन न हो सकने के कारण पैदा होती है। ऐसी वस्तुओ का विनिमय करना अत्यन्त कठिन होता है जिनका विभाजन मूल्य को नष्ट किये बिना नही किया जा सकता। मूल्य विभाजन का कोई साधन न होने के कारण अधिक मूल्यवान वस्तुओ को कम मूल्य वाली वस्तुओ के साथ बदलने मे विशेष कठिनाई होती है। यदि कोई वस्तु ऐसी है जिसके टुकड़े करने पर उसका मूल्य नष्ट हो जाता है अथवा बहुत कम रह जाता है तो ऐसी वस्तु को कम मूल्य वाली वस्तु के साथ बदलना सम्भव नही होता है। यदि किसी किसान के पास एक बैल है और वह उसके बदले मे कुछ कपड़ा, बीज, औजार तथा आवश्यकता की अन्य वस्तुयें प्राप्त करना चाहता है तो ऐसी परिस्थिति मे विनिमय करना एक समस्या बन जाती है। ऐसे व्यक्ति का मिलना सम्भव नही होता है जिसे बैल की आवश्यकता हो और जिसके पास वे सब वस्तुयें हो जिनको किसान लेना चाहता है। किसान अपने बैल का विभाजन करके उसके बदले मे अलग-अलग लोगो से अपनी आवश्यकता की वस्तुये इसलिए प्राप्त नही कर सकता क्योकि ऐसा करने मे उसके बैल का मूल्य नष्ट हो जाता है। अत ऐसी स्थिति मे विनिमय नही हो सकेगा। मुद्रा के प्रयोग के द्वारा ही इस प्रकार की कठिनाई को दूर किया जा सकता है।

(४) **मूल्य संचय के साधन का अभाव** (Lack of Store of Value)—वस्तु-विनिमय प्रणाली के समय मे मूल्य संचय का कोई साधन न होने के कारण

भविष्य के लिए धन को इकट्ठा करना सम्भव न था। वस्तुओं के रूप में क्रय शक्ति को संचय करने में बहुत कठिनाई होती थी क्योंकि वस्तुयें शीघ्र नष्ट हो जाने वाली होती थी तथा उसके मूल्य में सामयिक परिवर्तन होते रहते थे। ऐसी दशा में समाज में जो कुछ भी पैदा किया जाता था उसे वर्तमान प्रयोग में ही ले लिया जाता था और भविष्य के लिए कुछ बचा कर रखना सम्भव न था। समाज में बचत न होने के कारण पूँजी संचय तथा विनियोग नहीं हो सकता था। यही कारण था कि वस्तु-विनिमय के युग में देश इतने प्रगतिशील न थे जितने कि आजकल हैं। मुद्रा के आविष्कार से ही समाज में आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा हुआ।

(५) स्थगित भुगतानों में कठिनाई (Difficulty in deferred payments)—वस्तु-विनिमय प्रणाली में स्थगित भुगतानों (Deferred payments) को व्यक्त करने तथा निबटाने का कोई उचित साधन नहीं होता था जिसके कारण ऋणों का लेन-देन अथवा दीर्घकालीन सौदों को करने में काफी कठिनाई होती थी। मुद्रा की अनुपस्थिति में इस प्रकार के भुगतानों को वस्तुओं के रूप में ही निश्चित करना होता था किन्तु ऐसी वस्तुयें बहुत कम थी जिनके रूप में ऋणी तथा ऋण-दाता लेन-देन कर सकें। वस्तुओं में गुण-भेद होने के कारण उन्हें दीर्घकालीन भुगतानों को व्यक्त करने तथा निबटाने के माध्यम के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त वस्तुओं के मूल्य में होने वाले परिवर्तन, उनमें सामान्य स्वीकृति का अभाव तथा टिकाऊपन की कमी के कारण स्थगित भुगतानों को वस्तुओं के रूप में निबटाने में काफी कठिनाई होती थी। ऐसी स्थिति में लेन-देन तथा स्थगित भुगतानों के आधार पर किये जाने वाले सौदे केवल सीमित मात्रा में ही हो सकते थे।

उपरोक्त कठिनाइयों के कारण वस्तु-विनिमय प्रणाली अधिक समय तक न चल सकी और उसका स्थान मुद्रा-विनिमय ने ले लिया। वस्तु-विनिमय की असुविधाओं से तंग आकर मनुष्य ने ऐसी सर्वमान्य वस्तु की खोज आरम्भ की जो विनिमय के माध्यम का कार्य कर सके तथा जिनके द्वारा विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य को सरलता से नापा जा सके। अत्यन्त प्राचीन काल से ही समाज में किसी ऐसी मध्यवर्ती वस्तु को निश्चित कर लिया गया होगा जिसे वस्तुओं तथा सेवाओं के बदले में हर समय स्वीकार किया जा सके और जो मूल्य के मापक का कार्य भी कर सके। ऐसी मध्यवर्ती वस्तु का विनिमय के माध्यम के रूप में स्वीकार किया जाना ही मुद्रा प्रणाली का आरम्भ था।

वर्तमान समाज में वस्तु-विनिमय—

आज का युग मुद्रा का युग है और मुद्रा ही हमारी समस्त आर्थिक क्रियाओं की मुख्य संचालक है। फिर भी हम वस्तु-विनिमय से बहुत अधिक दूर नहीं है। वर्तमान समाज में भी हमें कभी-कभी अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए

वस्तु-विनिमय का सहारा लेना पड़ता है। आज केवल असभ्य तथा पिछड़ी हुई जातियाँ ही वस्तु-विनिमय पर निर्भर नहीं हैं अपितु कभी-कभी प्रगतिशील देश भी आपस में वस्तु-विनिमय के द्वारा अपनी आवश्यकता की वस्तुयें प्राप्त करते हैं। हमारे देश का अपने द्वारा पैदा किया हुआ जूट देकर दूसरे देश से गेहूँ प्राप्त करना अथवा कच्चे लोहे के बदले में मशीनें प्राप्त करना वस्तु-विनिमय का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसी प्रकार अन्य देशों के बीच होने वाले व्यापार में भी वस्तु-विनिमय का सीमित प्रयोग किया जाता है। वस्तु-विनिमय प्रणाली के इस प्रकार जीवित रहने का मुख्य कारण इस प्रणाली की सरलता है। समाज में जब भी इस प्रणाली को कार्य रूप में लाने के लिए उपयुक्त वातावरण मिलता है तब ही लोग प्रत्यक्ष रूप से विनिमय करना प्रारम्भ कर देते हैं और इस प्रकार वे मुद्रा प्रणाली से उत्पन्न होने वाले दोषों से बचने का प्रयत्न करते हैं।

आधुनिक समाज में वस्तु विनिमय को अपनाने के दो मुख्य कारण रहे है—(१) मुद्रा के मूल्य में अधिक परिवर्तन होना तथा (२) विदेशी मुद्रा की दुर्लभता। यदि किसी मुद्रा का मूल्य बड़ी तेजी के साथ गिरने लगता है तो लोगों का विश्वास उस मुद्रा के प्रति कम हो जाता है और ऐसी दशा में लोग वस्तुओं तथा सेवाओं का प्रत्यक्ष विनिमय करने लगते हैं। कीमतों के बहुत अधिक बढ़ जाने पर मजदूर वस्तुओं के रूप में मजदूरी लेना पसन्द करते हैं, पिछले विश्व-युद्ध काल में जर्मनी की मुद्रा-मार्क (Mark) का मूल्य अत्यधिक मुद्रा प्रसार के कारण इतनी तेजी से गिर रहा था कि लोग मुद्रा के बदले में अपनी वस्तुयें बेचना नहीं चाहते थे और उसके स्थान पर प्रत्यक्ष विनिमय पसन्द किया जाता था। अमरीका में १९३२–३३ में आर्थिक मन्दी के बुरे प्रभाव के कारण छोटे-छोटे वस्तु-विनिमय समाज बन गये थे। विदेशी विनिमय की कमी के कारण भी वर्तमान समाज में वस्तु-विनिमय का प्रयोग बढ़ रहा है और बहुत से देशों के द्वारा आपस में वस्तुओं को बदलने के सम्बन्ध में समझौते किये गये हैं। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में जो द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते (Bilateral Trade Agreements) किये जाते हैं वे वस्तु-विनिमय का एक संशोधित रूप है।

इन सब प्रवृत्तियों से यह स्पष्ट होता है कि जब भी मानव समाज में मुद्रा की कमी होती है अथवा उसका मूल्य तेजी के साथ बदलता है तो वस्तु-विनिमय के आधार पर विनिमय किया जाने लगता है। मुद्रा प्रणाली में कुछ ऐसे दोषों का पैदा हो जाना स्वाभाविक है जो वस्तु-विनिमय काल में नहीं थे। यदि आज के सामाजिक जीवन से मुद्रा को हटा दिया जाय तो वर्तमान समाज की बहुत सी आर्थिक समस्यायें स्वयं सुलझ जायेंगी। किन्तु क्या ऐसा करना सम्भव है? आज का समाज मुद्रा के बिना नहीं चल सकता है। मुद्रा एक ऐसा यन्त्र है जिसकी अनुपस्थिति में वर्तमान समाज की आर्थिक मशीन का चलना असम्भव प्रतीत होता

है। अतः यह कहना कि वर्तमान समाज धीरे-धीरे वस्तु विनिमय की ओर बढ़ रहा है, अधिक उचित नहीं है। मुद्रा प्रणाली दोषयुक्त होते हुए भी हमारे आर्थिक जीवन का आधार बन चुकी है। इस प्रणाली में कुछ ऐसे विशेष गुण है जिनके कारण उसने वस्तु विनिमय पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है। प्रत्यक्ष विनिमय के द्वारा आज का समाज अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओं को पूरा कर सकेगा अथवा समाज से मुद्रा को हटाना संभव होगा, यह सन्देहपूर्ण है।

(ब) मुद्रा-विनिमय
(Money Exchange)

मुद्रा-विनिमय के अन्तर्गत वस्तुओं तथा सेवाओं का विनिमय मुद्रा के माध्यम के द्वारा किया जाता है। वर्तमान समाज में विनिमय का कार्य इसी प्रणाली के आधार पर होता है। मुद्रा के प्रयोग ने विनिमय के तरीके को बिल्कुल बदल दिया है। मुद्रा-विनिमय प्रणाली में विनिमय प्रत्यक्ष रूप से न होकर परोक्ष रूप से किया जाता है। वस्तु-विनिमय के युग में कोई माध्यमिक वस्तु नहीं होती थी। किन्तु मुद्रा प्रणाली में वस्तुओं को पहले मुद्रा के साथ बदला जाता है और फिर मुद्रा को अन्य वस्तुओं तथा सेवाओं के साथ बदलते हैं। इस प्रकार मुद्रा मध्यवर्ती वस्तु का कार्य करती है और विभिन्न वस्तुओं का विनिमय मुद्रा के द्वारा ही किया जाता है। विनिमय का कार्य दो भागों में बँट जाता है—(अ) वस्तुओं को बेचना तथा (ब) वस्तुओं को खरीदना। पहले वस्तुओं को मुद्रा के साथ बदला जाता है और फिर मुद्रा को अन्य वस्तुओं के साथ बदल लिया जाता है। यदि समाज में गेहूँ और कपड़े का विनिमय किया जाता है तो पहले गेहूँ के उत्पादक उसे बेचकर रुपया प्राप्त कर लेते है और फिर उस रुपये के बदले में बाजार से कपड़ा खरीद लेते हैं। अतः वस्तुओं का विनिमय प्रत्यक्ष न होकर मुद्रा के माध्यम के द्वारा परोक्ष रूप से होता है। विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्रा का प्रयोग होने से वस्तु विनिमय की सब कठिनाईयाँ दूर हो गई है और आर्थिक विकास के एक नये युग का आरम्भ हुआ है। मुद्रा में ऐसे गुण पाये जाते हैं जिनके कारण वह विनिमय का उपयुक्त माध्यम बन सकी है। सर्वमान्यता के गुण के कारण सभी लोग मुद्रा को अपनी वस्तुओं तथा सेवाओं के बदले में स्वीकार कर लेते है। वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य आसानी से मुद्रा के द्वारा व्यक्त किये जा सकते हैं। अधिक टिकाऊ होने के कारण मुद्रा के माध्यम से धन का सचय भी किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त मुद्रा का विभाजन बिना मूल्य ह्रास के करना सम्भव है। इन्हीं सब कारणों से मुद्रा-विनिमय व्यवस्था (Money Economy) को वस्तु विनिमय-व्यवस्था (Barter Economy) से अच्छा समझा जाता है। आज के प्रगतिशील समाज में इसी प्रकार का विनिमय प्रचलित है और यह कहा जा सकता है कि मुद्रा-विनिमय ने वस्तु विनिमय का स्थान काफी सीमा तक ले लिया है।

मुद्रा का प्रारम्भ—

मुद्रा का इतिहास बहुत कुछ काल्पनिक है और उसके आधार पर नही कहा जा सकता है कि मुद्रा का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ। केन्स (Keynes) ने ठीक ही कहा है—'मुद्रा उससे कही अधिक प्राचीन सस्था है जितना कि हमें बताया जाता रहा है। इसका उद्गम अतीत के कोहरे मे लुप्त हो गया है।'[3] फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अत्यन्त प्राचीन काल मे ही मानव समाज मे मुद्रा का प्रयोग किसी न किसी रूप मे होता रहा है। सभ्यता के विकास की प्रारम्भिक दशाओ मे मनुष्य ने प्रत्यक्ष विनिमय की कठिनाइयो से तग आकर किसी ऐसी सामान्य वस्तु की खोज आरम्भ कर दी होगी जो विनिमय के माध्यम का कार्य कर सके और जिसके द्वारा अन्य वस्तुओ के मूल्य को नापा जा सके। विनिमय का विस्तार होने के कारण वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ बढती गई और विनिमय के माध्यम की खोज आरम्भ हो गई। विभिन्न जातियो ने विभिन्न प्रकार की वस्तुओ से विनिमय के माध्यम का कार्य लेना आरम्भ कर दिया। मुद्रा का विकास ससार के सब जातियो द्वारा मिलकर किसी निश्चित काल मे नही किया गया। विभिन्न देशो मे अलग-अलग समय पर विभिन्न प्रकार की परिस्थितियो मे मुद्रा का प्रयोग आरम्भ हुआ और इसीलिए आरम्भ काल से लेकर अब तक विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का प्रयोग मुद्रा के रूप मे किया जा चुका है।

मुद्रा के विकास के सम्बन्ध मे दो प्रकार के विचार पाये जाते है। कुछ विद्वानो का मत है कि मुद्रा का विकास अपने आप ही हो गया और किसी ने भी उसकी खोज नही की। यह लोग मुद्रा के आकस्मिक विकास के सिद्धान्त (Theory of Spontaneous Growth) मे विश्वास रखते हैं। स्पालडिंग (Spalding) और उसके साथी इसी सिद्धान्त के मानने वाले है। इन लोगो के अनुसार ऐतिहासिक घटनाओ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्थिक विकास के साथ-साथ मुद्रा का विकास अपने आप हो गया और उसके लिए किसी प्रकार का प्रयत्न नही करना पडा। विनिमय का विस्तार होने के साथ-साथ किसी न किसी वस्तु को विनिमय के माध्यम के रूप मे प्रयोग किया जाने लगा। इस प्रकार मुद्रा का अभ्युदय सर्वप्रथम विनिमय के माध्यम के रूप मे हुआ। धीरे-धीरे यही विनिमय का माध्यम मूल्य का मापक तथा लेखे की इकाई के रूप मे भी प्रयोग किया जाने लगा। इस प्रकार इन अर्थशास्त्रियो ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मुद्रा का उदय अपने आप ही हो गया और उसके लिए मनुष्य को किसी प्रकार की खोज नही करनी पडी है।

---

3 'Money, like certain other essential elements in civilization, is far more ancient institution than we were taught to believe some few years ago. Its origins are lost in the mists ....

—*Keynes*. A Treatise on Money: Vol. I, P. 13.

इसके विपरीत दूसरी विचारधारा के मानने वालो के अनुसार मुद्रा का आविष्कार विनिमय की कठिनाइयो को दूर करने के लिए किया गया। वस्तु-विनिमय के युग मे सबसे बडी कठिनाई वस्तुओ के मूल्य को नापने मे होती थी। इसलिए सर्वप्रथम मूल्य के मापक की खोज आरम्भ हुई और मुद्रा का प्रयोग मूल्य नापने की इकाई के रूप मे किया जाने लगा। विनिमय के माध्यम के रूप मे मुद्रा का प्रयोग बाद मे किया गया। इस विचारधारा के अनुसार मुद्रा स्वयं पैदा नही हुई वरन् वस्तु-विनिमय की कठिनाइयो से तग आकर मनुष्य ने अपनी विवेकशीलता से मुद्रा की खोज की। हेन्सन (Hanson) के अनुसार 'मुद्रा का उद्गम वस्तु-विनिमय से सम्बन्धित कठिनाइयो मे है।'[४] अतः मुद्रा का आविष्कार वस्तु-विनिमय की असुविधाओ को दूर करने के लिए किया गया। क्राउथर (Crowther) ने भी मुद्रा को एक आविष्कार माना है जो मनुष्य की विवेकशीलता का परिणाम है। इन्होने कहा है कि 'यह निश्चित रूप से एक आविष्कार था। साधारण वस्तु-विनिमय से मुद्रा के द्वारा हिसाब करने की अवस्था मे आने के लिए मनुष्य को अपनी विवेक शक्ति का प्रयोग करना पडा होगा।'[५] इस प्रकार कहा जा सकता है कि मुद्रा मनुष्य की निरन्तर खोज का परिणाम है और सर्वप्रथम इसका प्रयोग मूल्य की इकाई के रूप मे हुआ।

मुद्रा का आविष्कार किया गया अथवा उसका विकास अपने आप हो गया तथा मुद्रा का सर्वप्रथम प्रयोग मूल्य के मापक के रूप मे हुआ अथवा विनिमय के माध्यम के रूप मे, यह विषय अभी भी विवादग्रस्त है। दोनो विचारधाराओ के पक्ष तथा विपक्ष मे काफी तर्क दिये जा सकते हैं किन्तु इस प्रकार के वाद-विवाद से हम किसी भी नतीजे पर नही पहुँच सकते है। वास्तव मे मुद्रा के विकास का इतिहास इतना अधूरा तथा काल्पनिक है कि मुद्रा के उद्गम के विषय मे अधिक निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता है। केवल यही कहना उचित होगा कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही मुद्रा मानव समाज की अर्थ-व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अग बन गई थी। समाज की प्रगति के साथ-साथ मुद्रा की प्रकृति मे भी परिवर्तन होता रहा है और विकास की विभिन्न अवस्थाओ मे से गुजरने के पश्चात् मुद्रा का वर्तमान रूप विकसित हो सका है।

वस्तु मुद्रा (Commodity Money)—

सर्वप्रथम मुद्रा का विकास वस्तु मुद्रा के रूप मे हुआ। किसी उपयोगी वस्तु को मूल्य नापने की इकाई तथा विनिमय के माध्यम के रूप मे निश्चित कर लिया

4 "Money, therefore, had its origin in the difficulties associated with barter. ....

—*J. L. Hanson*: Monetary Theory and Practice, P. 4.

5 "And it undoubtedly was an invention, it needed the conscious reasoning power of man to make the step from simple barter to money accounting." —*Crowther* An Outline of Money, P. 3.

जाता था और उसके द्वारा ही मुद्रा का काम किया जाता था। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अत्यन्त प्राचीन काल मे सभ्य जातियाँ किसी न किसी वस्तु को मुद्रा के रूप मे प्रयोग करती थी। भारतीय सभ्यता के प्राचीन युग मे वस्तु मुद्रा के प्रयोग किये जाने के प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेद काल मे गाय का प्रयोग मुद्रा के रूप मे किया जाता था। रोम और यूनान के प्राचीन समाज मे पशु ही व्यक्ति का धन समझे जाते थे और उनके द्वारा ही अन्य वस्तुओ के मूल्य नापे जाते थे। इसी प्रकार अन्य प्राचीन जातियों मे भी किसी न किसी वस्तु का प्रयोग मुद्रा के रूप मे किया जाता रहा है। जो वस्तु जिस समाज के लिए अधिक उपयोगी होती थी वही मुद्रा का कार्य करने लगती थी। तम्बाकू, अनाज, चाय, सीपियां, कौडी, भेड, बकरी तथा बैल व गाय, जानवरो की खाले, पत्थर, औजार तथा अगणित अन्य प्रकार की वस्तुओ का प्रयोग विभिन्न देशो अथवा विभिन्न काल मे मुद्रा के रूप मे किया गया।

आर्थिक विकास की भिन्न-भिन्न दशाओ मे भिन्न-भिन्न वस्तुओ का प्रयोग मुद्रा के रूप मे हुआ। किसी समाज मे मुद्रा के रूप मे प्राय उस वस्तु का प्रयोग किया जाता था जो समाज के लिए सबसे अधिक उपयोगी होती थी और जो सब लोगो को मान्य होती थी। शिकारी अवस्था मे जानवरो की खालो तथा औजारो को मुद्रा के रूप मे काम मे लाया जाना स्वाभाविक था। पशुपालन के युग मे पशुओ का महत्व बढ जाने के कारण भेड, बकरी, बैल इत्यादि को मुद्रा के रूप मे प्रयोग किया जाने लगा। कृषि पर आधारित समाज मे लोगो के द्वारा गेहूँ, चावल, तम्बाकू तथा अन्य कृषि सम्बन्धी वस्तुओ का प्रयोग मुद्रा के रूप मे किया जाता था। इसी प्रकार आर्थिक विकास के साथ-साथ मुद्रा के रूप मे प्रयोग की जाने वाली वस्तुयें भी बदलती गई।

मुद्रा के विकास के प्रारम्भिक काल मे जिन वस्तुओ का प्रयोग मुद्रा के रूप मे किया गया वे इस कार्य के लिए अधिक उपयुक्त न थी, इसलिए एक-एक करके उन्हे छोड दिया गया। अनुभव ने यह बताया कि पशु, अनाज, खाले, औजार इत्यादि मुद्रा का कार्य करने के लिए अच्छी वस्तुयें नही हैं क्योंकि उनमे अच्छी मुद्रा वस्तु के अधिकाश गुण नही पाये जाते। विशेषतया पशुओ को मुद्रा के रूप मे प्रयोग करते समय विशेष असुविधा होती थी। प्राय इनमे प्रमापीकरण (Standardisation) का अभाव होता था क्योंकि सब बकरियाँ अथवा गाय एक प्रकार की नही हो सकती हैं। यह निश्चित करना काफी कठिन था कि किस प्रकार की गाय अथवा बकरी को मुद्रा का कार्य करने के लिए प्रमाणिक माना जाय और फिर यह भी निश्चित करना होता था कि अन्य गाय तथा बकरियाँ उन प्रमाणिक पशुओ की तुलना मे कितनी अच्छी अथवा बुरी है। इस कठिनाई को बतलाते हुए लार्ड केन्स (Lord Keynes) ने लिखा है कि युगेण्डा मे (Uganda) मे जिलाधीश का

अधिकाश समय तथा शक्ति इस बात का निर्णय करने मे लग जाती है कि कोई भेड ऋण का भुगतान करने के लिए प्रमाणिक भेड है अथवा नही। इसके अतिरिक्त पशुओ को धन का संचय करने के साधन के रूप मे प्रयोग करना भी सुविधापूर्ण नही होता था क्योकि ऐसा करने से सचित करने वाले व्यक्ति का धन कभी भी घट-बढ सकता था। पशुओ मे बीमारी फैल जाने की दशा मे मनुष्य के सचित धन मे भारी कमी हो जाती थी तथा प्रजनन काल मे उसमे काफी वृद्धि होने की सम्भावना रहती थी। पशुओ के स्वामी को इस प्रकार के धन को जीवित तथा स्वस्थ रखने के लिए काफी व्यय भी करना होता था। एक अन्य कठिनाई इस पशु-मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने मे होती थी। इन असुविधाओ के कारण मुद्रा के रूप मे पशुओ का प्रयोग धीरे-धीरे बन्द कर दिया गया। इसी प्रकार अनाज, खाले, औजार, चाय आदि भी मुद्रा के रूप मे अधिक सफल न हो सकी। इन वस्तुओ मे भी प्रमापीकरण का अभाव था, वे अधिक समय तक सचित करके नही रखी जा सकती थी तथा उन्हे एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना कठिन होता था या ऐसा करने मे अधिक व्यय करना पडता था। इन वस्तुओ का मूल्य भी स्थिर नही रहता था जिसके कारण वे मुद्रा का कार्य अच्छी प्रकार कर सकती थी।

इन सब दोषो के कारण इन वस्तुओ के स्थान पर धातुओ का प्रयोग मुद्रा के रूप मे होने लगा। सभ्यता के साथ-साथ वस्तु मुद्रा का प्रयोग कम होता गया और उसका स्थान धातु मुद्रा ने ले लिया। धातुओ का मुद्रा के रूप मे प्रयोग सबसे पहले उन देशो मे आरम्भ हुआ जिन्होने धातुओ को निकालने का कार्य सबसे पहले किया। शुरु-शुरु मे धातुओ के विभिन्न आकार तथा विभिन्न वजन के टुकडो का प्रयोग मुद्रा के रूप मे किया जाता था, किन्तु विकास के साथ-साथ सिक्को का उदय हुआ। प्रारम्भ मे लोहा, पीतल, तावा, सोना, चांदी तथा अन्य सभी प्रकार की धातुओ के टुकड़े मुद्रा के रूप मे प्रयोग किये जाते थे। किन्तु धीरे-धीरे यह अनुभव किया गया कि सोने और चांदी के अतिरिक्त अन्य धातुओ मे स्वल्पता का गुण नही पाया जाता है। अत: वे मुद्रा के रूप मे अधिक उपयुक्त नही है। स्वल्पता की दृष्टि से सोने व चांदी के टुकड़े अन्य धातुओ के टुकडो से श्रेष्ठ थे इसलिए अन्य धातुओ के स्थान पर केवल इन दो धातुओ ने मुद्रा का स्थान ले लिया। आरम्भ मे सोने की अपेक्षा चांदी का प्रयोग अधिक किया जाता था किन्तु सोने का उत्पादन बढ जाने पर सोने का प्रयोग मुद्रा के रूप मे अधिक किया जाने लगा।

सिक्के (Coinage)—

धातु सिक्को का विकास तथा प्रयोग मुद्रा के इतिहास मे सर्वप्रथम महत्वपूर्ण घटना थी। सर्वप्रथम सिक्को का प्रयोग कब और कहां हुआ, इस प्रश्न पर काफी वाद-विवाद रहा है। उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि चीन मे ईसा से ११ वी शताब्दी पूर्व सिक्को का चलन आरम्भ हो गया था, एशिया

माईनर मे ७ वी शताब्दी पूर्व तथा भारत मे चौथी शताब्दी पूर्व सिक्को का प्रयोग किया जाता था। आरम्भ मे लोहे तथा ताबे के सिक्को का प्रयोग किया गया, किन्तु शीघ्र ही उनका स्थान सोने तथा चांदी के सिक्को ने ले लिया। अब मनुष्य को सोने और चांदी के रूप मे एक उत्तम मुद्रा वस्तु मिल गई थी। यह बहुमूल्य धातुयें सर्वमान्य होने के साथ-साथ जल्दी नष्ट होने वाली न थी। इनका मूल्य भी प्राय: निश्चित रहता था। इन्हे आसानी से पहचाना जा सकता था तथा इनके विभाजन मे कोई विशेष कठिनाई नही होती थी। इन्ही गुणो के कारण लगभग सभी देशो मे सोने और चांदी को मुद्रा के रूप मे प्रयोग किया जाने लगा और इस प्रकार वस्तु मुद्रा का स्थान धातु मुद्रा ने ले लिया।

सिक्को का वर्तमान रूप एक लम्बे विकास का परिणाम है। प्रारम्भिक सिक्के भद्दी किस्म के धातु टुकड़े होते थे जिन पर किसी प्रकार की मोहर लगी होती थी। इन सिक्को को काट कर अथवा अन्य विधियो से उनमे धातुओ की मात्रा अथवा शुद्धता कम की जा सकती थी। उन पर लगी हुई मोहर इस बात का प्रमाण नही होती थी कि वे निश्चित वजन अथवा निश्चित शुद्धता के है। लोग इस प्रकार के सिक्को को स्वय भी ढाल लेते थे जिसके कारण काफी मात्रा मे बुरी मुद्रा चलन मे रहती थी। इन दोषो को दूर करने के लिए सिक्को मे सुधार किया गया जिससे कि खोटे सिक्को को चलन मे डालने की सम्भावना कम हो जाय। सिक्के निश्चित आकार, वजन तथा शुद्धता के बनाये जाने लगे, उनके किनारे विशेष प्रकार से काटे जाते थे तथा उनके दोनो ओर सरकारी मोहर लगाई जाती थी। इस प्रकार सिक्को ने धीरे-धीरे अपना आधुनिक रूप प्राप्त किया। आवश्यकता पडने पर प्रमाणिक सिक्को के साथ-साथ सांकेतिक सिक्के भी चलाये जाने लगे।

पत्र मुद्रा (Paper Money)—

आर्थिक विकास के साथ व्यापार तथा वाणिज्य का विस्तार होने लगा और मुद्रा की आवश्यकता निरतर बढती गई किन्तु बहुमूल्य धातुओ की मात्रा सीमित थी। मानव समाज के लिए मुद्रा की बढती हुई माग को धातु मुद्रा के द्वारा पूरा न किया जा सका और ऐसी वस्तु की खोज आरम्भ हुई जो उनके स्थान पर मुद्रा का कार्य कर सके। धातु मुद्रा का ढलाई व्यय अधिक होता था उसका चलन व्यय भी बहुत अधिक था क्योकि मूल्यवान सिक्को की घिसावट के कारण सरकार को प्रतिवर्ष बहुत हानि उठानी पडती थी। इसके अतिरिक्त धातु मुद्रा की पूर्ति मनुष्य के हाथो मे न होकर प्रकृति पर निर्भर रहती थी। इन दोषो को दूर करने के लिए तथा सोने चांदी की बचत करने के उद्देश्य से पत्र मुद्रा का प्रयोग आरम्भ हुआ। बैंको का विकास हो जाने के कारण तथा शक्तिशाली और विश्वसनीय राज्यो की स्थापना हो जाने पर कागजी मुद्रा को चलाने के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा हो गया। बहुमूल्य धातुओ की कमी के कारण तथा पत्र मुद्रा के अधिक सुविधाजनक होने के कारण ससार के सब देशो ने उसे अपना लिया।

प्रारम्भ मे पत्र मुद्रा को केवल धातु मुद्रा के प्रतिनिधि के रूप मे अपनाया गया और लोगो ने कागजी नोटो को लेना इसलिए स्वीकार किया क्योकि उन्हे किसी भी समय धातु मुद्रा मे बदला जा सकता था। नोटो को परिवर्तनीय रखने के लिए उनके पीछे शतप्रतिशत कोष रक्खा जाता था। धीरे-धीरे जनता का विश्वास पत्र मुद्रा मे बनता गया और दूसरे विश्व-युद्ध काल मे मुद्रा की बढती हुई माग को पूरा करने के लिए अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा चलाई गई। जनता ने उसे भी निसकोच स्वीकार कर लिया क्योकि उसमे सर्वमान्यता का गुण था। अब लोगों को यह भी अनुभव होने लगा कि मुद्रा स्वय कोई महत्व नही रखती है, वह तो केवल आवश्यकता पूर्ति का साधन मात्र है। इसलिए मुद्रा का मूल्यवान वस्तु का बना होना कोई अनिवार्य नही है। इन दशाओं मे अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा का विकास हुआ और पत्र मुद्रा के पीछे रखे जाने वाले धातु कोष की मात्रा को कम कर दिया गया। आजकल अधिकाश देशों मे अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा चलाई जाती है। इसके साथ-साथ प्रगतिशील देशो मे साख मुद्रा का प्रयोग तेजी के साथ बढता जा रहा है। अमरीका, इङ्गलैंड आदि देशो मे तो साख मुद्रा का प्रयोग इतना अधिक बढ गया है कि वह नकद मुद्रा की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती जा रही है।

साख मुद्रा (Credit Money)—

पत्र मुद्रा के विकास के साथ-साथ साख मुद्रा का प्रयोग भी निरन्तर बढता रहा है। यद्यपि साख पत्रो का प्रयोग काफी प्राचीन समय से होता आया है किन्तु आधुनिक बैंको के विकास ने साख मुद्रा के प्रयोग मे काफी वृद्धि की है। प्रारम्भिक काल मे बैंकों के द्वारा जारी किये जाने वाले नोट भी एक प्रकार की साख मुद्रा थी क्योकि उसे बैंको की साख के आधार पर ही स्वीकार किया जाता था। इन बैंक नोटो का स्थान धीरे-धीरे वर्तमान करन्सी नोटों ने ले लिया जो सरकार या केन्द्रीय बैंक के द्वारा जारी किये जाते हैं और कानूनी विधिग्राह्य (Legal Tender) होते है। आजकल चैक (Cheque) बिल आफ ऐक्सचेन्ज (Bill of Exchange) तथा बैंक ड्राफ्ट (Bank Draft) आदि साख पत्रो की सहायता से साख मुद्रा का प्रयोग विभिन्न प्रकार के भुगतानो को निबटाने के लिए आसानी से किया जा सकता है। साख पत्रो का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो को निबटाने के लिए भी किया जाता है। आधुनिक व्यापार तथा उद्योगो की मुद्रा के लिए बढती हुई माग को बहुत कुछ साख मुद्रा के द्वारा पूरा किया जाता है। वह एक प्रकार से कानूनी मुद्रा की पूरक है। बैंक अपने ग्राहको की आवश्यकताओ के अनुसार साख का विस्तार करके व्यापार तथा उद्योग की मुद्रा की माग को पूरा करते रहते है।

साख मुद्रा की प्रकृति अन्य प्रकार की मुद्राओ से भिन्न होती है। यह मुद्रा कानूनी विधि ग्रह (Legal Tender) नही होती है, इसलिए इसे स्वीकार करना लोगों के लिए अनिवार्य नही है। इस प्रकार की मुद्रा केवल भुगतान करने वाले की साख के आधार पर स्वीकार की जाती है। भुगतान लेने वाले को साख पत्र जारी

करने वाले व्यक्ति अथवा संस्था पर कितना विश्वास है इस बात पर ही साख मुद्रा की स्वीकृति निर्भर होती है। साख मुद्रा के बढ़ते हुये प्रयोग का मुख्य कारण उसका अधिक सुविधाजनक होना है। साख मुद्रा पत्र मुद्रा से भी अधिक सुविधापूर्ण होती है। उसके द्वारा बड़े भुगतानों को तथा दूर के भुगतानों को बड़ी आसानी से निबटाया जा सकता है। इसके साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि अनियन्त्रित साख मुद्रा समाज के लिए बहुत बड़ा खतरा है। यदि आवश्यकता से अधिक साख बैंकों के द्वारा जारी की जाती है तो वह अर्थ-व्यवस्था की स्थिरता को समाप्त कर सकती है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) मुद्रा का विकास कैसे हुआ ? मुद्रा कितने प्रकार की होती है और वह क्या कार्य करती है ? (आगरा बी० काम १९५६ s)

(२) मुद्रा अर्थ-व्यवस्था एवं वस्तु-विनिमय अर्थ-व्यवस्था में भेद कीजिए। (आगरा बी० काम १९५८ s)

(३) हमारे समाज में मुद्रा का क्या महत्व है ? इस पर प्रकाश डालिये। क्या आज का आर्थिक समाज बिना मुद्रा के रह सकता है ? (राजस्थान बी० ए० १९५६)

(४) 'वस्तु विनिमय व्यवस्था' तथा 'मुद्रा व्यवस्था' के लाभ और दोषों को बतलाइये। क्या संसार फिर से वस्तु-विनिमय की ओर लौट रहा है ? (राजस्थान बी० ए०)

(५) स्पष्ट समझाइये कि किस प्रकार एवं किस सीमा तक विनिमय व्यवहारों में मुद्रा का प्रयोग करने से वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ दूर हो गई हैं ? (राजस्थान बी० काम १९५८)

(६) मुद्रा का मानव जाति के आर्थिक विकास में क्या स्थान रहा है ? इस पर प्रकाश डालिये और बताइये कि क्या अब मुद्रा की उपयोगिता समाप्त हो गई है ? (सागर बी० काम १९५४)

(७) वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा के विकास के महत्व को समझाइये। उसके आर्थिक व सामाजिक प्रभाव क्या हुये हैं ? (पटना १९५५ s)

(८) मुद्रा के आविष्कार ने बहुत सीमा तक आर्थिक क्रियाओं को प्रोत्साहन दिया है। विवेचन करिये। (बिहार बी० काम १९५६)

२

मुद्रा की परिभाषा तथा कार्य

DEFINITION AND FUNCTION OF MONEY

यद्यपि मुद्रा का प्रयोग काफी प्राचीन काल से होता आया है, किन्तु उसकी प्रकृति के बारे में अधिकांश लोगों का ज्ञान अधूरा है। निरन्तर प्रयोग करते रहने पर भी हम लोग उसका सही अर्थ नहीं समझ पाते हैं। व्यवहारिक जीवन में सभी लोग यह अनुभव करते हैं कि वे मुद्रा को भली प्रकार समझते हैं किन्तु बहुत कम लोग ऐसे हैं जो मुद्रा की प्रकृति के बारे में सही ज्ञान रखते हैं अथवा जो उसकी ठीक परिभाषा कर सकते हैं। मुद्रा के बारे में हमारी अज्ञानता के सम्बन्ध में क्राउथर (Crowther) ने ठीक ही कहा है—'व्यवहार में प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि मुद्रा क्या है किन्तु बहुत कम लोग उसकी तुरन्त परिभाषा करने के लिए तैयार होंगे जिसमें कि उसे अन्य वस्तुओं से अलग किया जा सके।'[1] केन्ट (Kent) के अनुसार, 'यद्यपि मुद्रा हमारे विचारों में बहुत अधिक रहती है, यद्यपि वह हमारी बहुत सी क्रियाओं को प्रभावित करती है किन्तु फिर भी हमें, निश्चित रूप से यह बताने में कि वह क्या है, काफी कठिनाई होती है।'[2] आज हम आर्थिक विकास की ऐसी अवस्था में पहुँच गये हैं, जिसमें मुद्रा हमारी क्रियाओं पर गहरा प्रभाव डालती है तथा वह हमारे विचारों का मुख्य केन्द्र बनती जा रही है। ऐसी स्थिति में मुद्रा के बारे में सही ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। मुद्रा का सही प्रयोग बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि हम उसे ठीक प्रकार से पहचानते हैं अथवा नहीं। मुद्रा के प्रयोग से पूरा लाभ उठाने के लिए हमें उसकी प्रकृति का सही ज्ञान होना चाहिए। राबर्टसन (Robertson) के अनुसार अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिए आरम्भ से ही यह आवश्यक है कि वह मुद्रा के उस आवरण (Monetary Veil)

---

1 "Everybody knows in practice what constitutes money, but few people would be prepared at a moment's notice to define money, to indicate precisely what differentiates money from other articles or commodities."

—*G. Crowther*: An Outline of Money, P. 1.

2 "Though money is much in our thoughts and though it conditions many of our actions we encounter great difficulty in attempting to state precisely what it is?" —*P. Kent*: Money & Banking, P. 1.

को, जिसमें अधिकांश व्यापारिक सौदे लिपटे रहते हैं, हटाकर यह देखने का प्रयत्न करे कि वास्तविक वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप में क्या हो रहा है जिससे कि वह लोगों के वास्तविक त्याग तथा उन्हें प्राप्त होने वाले वास्तविक सन्तोष को समझ सके।'[3]

मुद्रा की प्रकृति—

मुद्रा की प्रकृति के सम्बन्ध में एक बड़ी विशेषता यह है कि वह स्वयं कोई उपयोगी वस्तु नहीं है। वह केवल उपयोगी वस्तुयें प्राप्त करने का साधन है। मुद्रा का अपना कोई महत्त्व नहीं है, उसका महत्व इस बात में है कि उसमें अन्य वस्तुओं को प्राप्त करने की शक्ति पाई जाती है। जब तक मुद्रा में यह शक्ति है तब तक वह उपयोगी है किन्तु यदि मुद्रा की क्रय-शक्ति समाप्त हो जाये तो वह हमारे लिए व्यर्थ की वस्तु रह जायेगी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मुद्रा उद्देश्य (End) नहीं है, वह केवल उद्देश्य पूर्ति का साधन (Means) मात्र है। वह स्वयं कोई उपयोगी वस्तु नहीं है, केवल विनिमय का माध्यम है। मुद्रा का प्रत्यक्ष प्रयोग करके सन्तुष्टि प्राप्त नहीं की जा सकती है, उसके बदले में उन वस्तुओं को *अवश्य* प्राप्त किया जा सकता है जिनमें हमारी आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता पाई जाती है। मुद्रा के बारे में यह जान लेना आवश्यक है कि वह केवल विनिमय का साधन है और वह हमारा लक्ष्य नहीं बन सकती है।

क्योंकि मुद्रा केवल विनिमय के लिए है इसलिए उसमें सर्वमान्यता का गुण होना अनिवार्य है। कोई भी वस्तु जो समाज में सर्वमान्य न हो, वह विनिमय के माध्यम का कार्य नहीं कर सकती है। मुद्रा का एकमात्र गुण है कि वह समाज में सामान्यतः स्वीकृत की जाती हो, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति उसे अपनी वस्तुओं और सेवाओं के बदले में लेने को तैयार हो। *क्योंकि मुद्रा वस्तु के रूप में उपयोगी नहीं है* और उससे केवल विनिमय का कार्य लिया जाता है, इसलिए उसका बहुमूल्य होना अनिवार्य नहीं है। समाज में कोई भी वस्तु मुद्रा का कार्य कर सकती है यदि उसे सर्वमान्यता प्राप्त है। इसीलिए आजकल मूल्यवान वस्तुओं को मुद्रा के रूप में प्रयोग न करके उसके स्थान पर कागज जैसी कम मूल्यवान वस्तु का प्रयोग किया जाने लगा है। जब हमें मुद्रा से विनिमय का ही काम लेना है तो क्या यह जरूरी है कि विनिमय का माध्यम मूल्यवान ही हो। कम मूल्य वाली वस्तुयें भी इस कार्य को भली प्रकार से कर सकती है।

मुद्रा स्वयं धन को पैदा नहीं करती, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से धन के उत्पादन में बड़ी सहायता करती है क्योंकि उसमें विनियम के कार्य को सुविधापूर्ण बनाने

---

3 "It is necessary for the economic student to try from the start to pierce the monetary veil in which most business transactions are shrouded, and see what is happening in terms of real goods and services; indeed so far as possible he must try to penetrate further, and to see what is happening in terms of real sacrifices and satisfactions." —*Robertson* : Money, P. 1.

तथा विशिष्टीकरण को सम्भव करने की शक्ति पाई जाती है। आदम स्मिथ ने मुद्रा की प्रकृति के विषय में बतलाते हुए कहा है कि मुद्रा न तो स्वयं कोई धन है और न वह प्रत्यक्ष रूप से धन पैदा करती है, वह तो धन पैदा करने में सहायक होती है और इसी कारण उसका विशेष महत्व है। जिस प्रकार किसी क्षेत्र में से जाने वाली सड़क धन के उत्पादन में सहायक होती है क्योंकि उस पर से होकर कुल क्षेत्र की फसल मन्डी को जाती है, किन्तु सड़क पर कुछ पैदा नहीं होता, ठीक उसी प्रकार मुद्रा स्वयं धन पैदा न करके भी धन के उत्पादन में सहायक होती है। प्रो० कोल (G. D. H. Cole) के अनुसार मुद्रा स्वयं कोई उत्पादन नहीं करती है वह तो केवल उत्पत्ति और विनिमय को सरलतापूर्वक चलाने से सहायता देती है। जिस प्रकार मशीन को भली प्रकार चलाने में तेल (Lubricating oil) सहायक होता है, ठीक उसी प्रकार मुद्रा हमारी आर्थिक क्रियाओं को सरलतापूर्वक चलाने में सहायता देती है।

मुद्रा की परिभाषा—

मुद्रा की परिभाषा के सम्बन्ध में विचारों का मतभेद पाया जाता है कि उसकी कोई एक परिभाषा निश्चित रूप से नहीं दी जा सकती। कुछ लेखकों ने तो मुद्रा की परिभाषा करने की आवश्यकता ही नहीं समझी और इनके अनुसार मुद्रा को केवल उसके वर्णन के द्वारा ही समझा जा सकता है।[4] किन्तु यह दृष्टिकोण अधिक वैज्ञानिक नहीं है। किसी भी वस्तु को हम उसकी परिभाषा के द्वारा ही पूर्णत समझ सकते है। अतः मुद्रा की परिभाषा करना अनिवार्य हो जाता है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की भिन्न-भिन्न परिभाषायें दी हैं किन्तु इनमें से अधिकतर परिभाषायें केवल मुद्रा के कार्यों का वर्णन ही करती हैं। कुछ लेखकों का मत है कि मुद्रा की एक अच्छी परिभाषा वही है जो उसके समस्त कार्यों का वर्णन करे। इसके दूसरी ओर कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की परिभाषा करते समय उसकी प्रकृति को बतलाने का प्रयत्न किया है। इनमें कौनसा विचार ठीक है, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मुद्रा की अधिकांश परिभाषायें वर्णनात्मक हैं।

मुद्रा की परिभाषा करते समय उसका क्षेत्र निश्चित करने में विशेष कठिनाई होती है। कुछ लेखकों ने मुद्रा शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में किया है। इनके अनुसार केवल धातु मुद्रा ही मुद्रा में सम्मिलित की जानी चाहिए, अन्य प्रकार के विनिमय के माध्यम मुद्रा नहीं है। राबर्टसन इसी विचारधारा के मानने वाले हैं। उनके अनुसार मुद्रा वह वस्तु है जो भुगतानों को निबटाने के लिए विस्तृत रूप से समाज में स्वीकार की जाती हो क्योंकि सोने और चाँदी के सिक्के ही किसी देश में विस्तृत रूप से स्वीकार किये जा सकते हैं, इसलिए केवल धातु मुद्रा ही मुद्रा में

4. *Edwin Cannon*: Money (1935) P. 2.

सम्मिलित की जानी चाहिए। वर्तमान अर्थशास्त्री इतने सकुचित अर्थ मे मुद्रा शब्द का प्रयोग किए जाने के पक्ष मे नही हैं क्योंकि ऐसा करने से बहुत से विनिमय के माध्यम जैसे करेंसी नोट अथवा बैंक जमा मुद्रा होते हुये भी मुद्रा नही कहे जा सकते हैं।

कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो ने मुद्रा शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ मे किया है और इनके अनुसार मुद्रा के अन्तर्गत सब प्रकार के विनिमय के माध्यम आ जाते हैं। इस प्रकार के लेखको मे हार्टले विदर्स (Hartlay Withers) का नाम सर्वप्रथम आता है। इनके अनुसार सब प्रकार के विनिमय के माध्यम को मुद्रा मे सम्मिलित किया जा सकता है। "कोई भी वस्तु जो मुद्रा का कार्य करती है मुद्रा है।" इस प्रकार धातु मुद्रा (Coins), करेंसी नोट (Currency notes), बैंको मे जमा रकम (Bank Deposits) तथा अन्य प्रकार के साख पत्र जो मुद्रा का कार्य करते हैं, सब मुद्रा मे सम्मिलित किये जाने चाहिएँ। मुद्रा शब्द का प्रयोग इतने विस्तृत अर्थ मे किया जाना भी उचित नही है क्योंकि बहुत मे विनिमय के माध्यम ऐसे हैं जिन्हे मुद्रा नही कहा जा सकता।

वर्तमान अर्थशास्त्रियो ने इन दोनो के बीच का मार्ग अपनाया है। उन्होंने मुद्रा शब्द का प्रयोग न ही तो विस्तृत रूप मे किया है और न उसका सकुचित अर्थ ही लगाया है, बल्कि उसका उचित देत्र निश्चित करने का प्रयत्न किया है। मार्शल, ऐली, कोल इत्यादि अर्थशास्त्री इसी वर्ग मे सम्बन्धित हैं। इनके अनुसार यह आवश्यक नही कि मुद्रा धातु की ही बनी हो। कोई भी वस्तु जिसे समाज मे विनिमय के माध्यम रूप मे अथवा ऋणो के भुगतान के लिए सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो, मुद्रा कही जा सकती है। मुद्रा का एक ही अनिवार्य गुण है कि उसका स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तातरण होता हो। इन लेखको के अनुसार धातु सिक्के (Coins), करेंसी नोट (Currency Notes) और बैंक जमा (Bank Deposits) तो मुद्रा है किन्तु अन्य प्रकार के विनिमय के माध्यम मुद्रा नहीं हैं। आजकल अधिकतर लोग इसी विचारधारा से सहमत हैं।

मुद्रा की परिभाषाओं को उनकी प्रकृति के आधार पर निम्नलिखित तीन वर्गों मे बांटा जा सकता है—

(अ) वर्णनात्मक परिभाषायें (Descriptive Definitions)
(ब) वैधानिक परिभाषायें (Legal Definitions)
(स) सर्व ग्रहणीयता पर आधारित परिभाषायें (Definitions based on General Acceptability).

(अ) वर्णनात्मक परिभाषायें (Descriptive Definitions)—

इस वर्ग मे वे परिभाषायें आ जाती है जिनमे मुद्रा की परिभाषा के स्थान पर उसके कार्यों के वर्णन पर विशेष जोर दिया जाता है। इस प्रकार की परिभाषायें

यह नहीं बताती कि मुद्रा क्या है, वे केवल उसके कार्यों का वर्णन करती हैं। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि मुद्रा की परिभाषा केवल उसके कार्यों के द्वारा की जा सकती है। वाकर (F. A. Walker), हार्टले विदर्स (Hartley Withers), सिजविक (Sidgwick) तथ टामस (Thomas) इसी वर्ग के अर्थशास्त्री हैं। इन लेखकों के अनुसार मुद्रा को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है की मुद्रा का विकास क्यों हुआ और वह समाज मे क्या करती है। इसीलिए इन अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के कार्यों के आधार पर उसकी परिभाषा करने का प्रयत्न किया है। वाकर (Walker) के अनुसार 'मुद्रा वह है जो मुद्रा करती है'।[5] अर्थात् कोई भी वस्तु जो मुद्रा के कार्य करती है। यह कार्य मुख्य रूप से चार हो सकते हैं—विनिमय के माध्यम और मूल्य के मापक कार्य का करना तथा मूल्य के सचय करने और स्थगित भुगतानों को निवटाने की सुविधाएँ प्रदान करना। जो भी वस्तु इन कार्यों को करती हो वही मुद्रा है। इस प्रकार मुद्रा कोई वस्तु विशेष नहीं है। कोई भी वस्तु मुद्रा हो सकती है यदि उसमे मुद्रा के कार्यों को करने की क्षमता पाई जाती है। इसी प्रकार हार्टले विदर्स (Hartley Withers) ने मुद्रा उस वस्तु को बतलाया है जिसके द्वारा हम वस्तुयें बेचते और खरीदते हैं।[6] टामस (Thomas) के अनुसार "मुद्रा एक वस्तु है जो मूल्य मापक तथा अन्य वस्तुओं के बीच विनिमय माध्यम का कार्य करने के लिए एकमत होकर चुन ली जाती है"।[7] इसी प्रकार कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों ने भी मुद्रा की वर्णनात्मक परिभाषाये दी हैं। इस प्रकार की परिभाषायें सरल है और व्यवहारिक दृष्टि से उपयोगी भी है किन्तु वे तर्क की कसौटी पर सही नहीं उतरती है क्योकि उनमे वे गुण नहीं पाये जाते है जो तर्क की दृष्टि से एक अच्छी परिभाषा मे होने चाहिएँ। यह परिभाषायें केवल मुद्रा के कार्यों का वर्णन करती है, उसकी प्रकृति के बारे मे हमे कुछ नहीं बताती है। किसी वस्तु के कार्यों की व्याख्या केवल उसका वर्णन हो सकती है, परिभाषा नहीं। एक अच्छी तथा वैज्ञानिक परिभाषा को वस्तु विशेष का वर्ग (Genus) तथा अन्य वस्तुओं से प्रथक करने वाले उसके गुणों (Differentia) की व्याख्या अवश्य करनी चाहिए। इन परिभाषाओं मे यह विशेषता नहीं पाई जाती है। अत उन्हे मुद्रा की वैज्ञानिक परिभाषा नहीं कहा जा सकता है।

(ब) वैज्ञानिक परिभाषायें (Legal Definitions)—

कुछ अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की परिभाषा करते समय इसके वैधानिक पक्ष पर विशेष जोर दिया है। इनके अनुसार मुद्रा वही है जिसे वैधानिक रूप से मुद्रा घोषित

5. 'Money is that money does' —*Francis Walker* : Money in its Relations to Trade & Industry (1889) P. 1.

6. 'Money, then is, the stuff with which we buy and sell things' —*Hartley Withers* : The Meaning of Money.' P 267.

7. 'Money is a commodity chosen by common consent to be a measure of value and a means of exchange between all other commodities.' —*Thomas* : Elements of Economics.

कर दिया गया हो। किसी वस्तु को मुद्रा बनाने के लिए वैधानिक मान्यता प्राप्त होनी चाहिए। मुद्रा की वैधानिक परिभाषायें मुद्रा के राज्य सिद्धान्त (State Theory of Money) पर आधारित हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार कुछ विशेष वस्तुओं को मुद्रा के रूप मे प्रयोग किये जाने की घोषणा करती है। केवल उन वस्तुओं को ही मुद्रा कहा जा सकता है जिन्हे इस प्रकार की वैधानिक मान्यता प्राप्त होती है। क्योंकि राज्य की दृष्टि मे ऋणों का भुगतान आर्थिक क्रियाओं मे सबसे महत्वपूर्ण है इसलिए मुद्रा वही वस्तु हो सकती है जिसे राज्य के द्वारा ऋणों का भुगतान करने का साधन घोषित कर दिया हो। जर्मन अर्थशास्त्री नैप (William Knapp) तथा ब्रिटिश अर्थशास्त्री हाट्रे (R. G Hawtrey) इसी विचारधारा के मानने वाले हैं। नैप के अनुसार "कोई भी वस्तु जो राज्य के द्वारा मुद्रा घोषित कर दी जाती है, मुद्रा हो जाती है।" नैप (Knapp) का यह विचार, कि सरकार द्वारा घोषित की हुई वस्तु ही मुद्रा कहलाती है, बहुत कुछ वास्तविक प्रतीत होता है। आजकल अधिकाश मुद्रा सरकार के द्वारा चलाई जाती है और समाज मे केवल वे वस्तुये ही मुद्रा का कार्य करती हैं जिन्हे राज्य की ओर से वैधानिक मान्यता प्राप्त होती है। राज्य द्वारा घोषित वस्तुओं को मुद्रा के रूप मे प्रत्येक व्यक्ति को स्वीकार करना अनिवार्य होता है। जब तक उनके पीछे कानूनी दबाव होता है तब तक कोई भी उन्हे लेने से इन्कार नही कर सकता है। यदि कोई उन्हे मुद्रा के रूप मे स्वीकार नही करता है तो उसे दण्ड दिया जाता है। इस प्रकार कानूनी दबाव के द्वारा मुद्रा की सामान्य स्वीकृति प्राप्त की जाती है। विशेषकर कागजी मुद्रा के सम्बन्ध मे नैप का विचार अधिक सही प्रतीत होता है क्योकि पत्र मुद्रा का नि सकोच स्वीकार किया जाना उसकी वैधानिक मान्यता पर आधारित है। पत्र मुद्रा का अपना कोई मूल्य नही होता, उसे समाज मे मुद्रा के रूप मे इसलिए स्वीकार किया जाता है क्योकि राज्य के द्वारा उसे मुद्रा घोषित कर दिया गया है और उसके पीछे वैधानिक दबाव है। यदि यह वैधानिक दबाव हटा लिया जाये और कागजी मुद्रा का विमुद्रीकरण (Demonetisation) कर दिया जाय तो कोई भी उसे लेने के लिए तैयार नही होगा। इससे यह ज्ञात होता है कि वर्तमान मुद्रा का नि सकोच स्वीकार किया जाना कानूनी दबाव के कारण है, न कि उसकी अपनी शक्ति अथवा गुणों के कारण। अत मुद्रा मे सामान्य स्वीकृति का गुण राज्य के द्वारा पैदा किया जाता है।

व्यवहारिक दृष्टि से उचित होते हुये भी नैप की परिभाषा को ठीक नही माना जा सकता क्योकि किसी वस्तु का, मुद्रा का कार्य करने के लिए, वैधानिक रूप से स्वीकार किया जाना अनिवार्य नही है। कई बार समाज मे ऐसी वस्तुयें भी मुद्रा के रूप मे ग्रहण कर ली जाती है जिन्हे राज्य ने मुद्रा घोषित नही किया है। इस प्रकार की मुद्रा की सामान्य स्वीकृति राज्य की घोषणा पर आधारित नही होती, वह उसके निजी गुणों के कारण होती है। ऐसा प्राय धातु मुद्रा के सम्बन्ध मे होता

है। इसके दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता कि जिस वस्तु को राज्य मुद्रा घोषित कर दे वह अवश्य ही मुद्रा का कार्य करती रहेगी। यदि जनता का विश्वास किसी मुद्रा मे से हट जाय तो वैधानिक मान्यता होते हुए भी लोग उसे स्वीकार नही करेंगे। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् जर्मनी मे इसी प्रकार की स्थिति पैदा हो गई थी। अधिक मुद्रा प्रसार के कारण जनता का विश्वास वहाँ की मुद्रा मे से हट गया और कानूनी दबाव होते हुए भी लोगो ने कागजी मुद्रा लेने से इन्कार कर दिया। सरकार ने मुद्रा की मान्यता को बनाये रखने के लिए बहुत प्रयत्न किया। मुद्रा को स्वीकार न करने वालो को मृत्यु-दण्ड भी दिया गया किन्तु जनता का विश्वास मुद्रा मे न लौट सका। अन्त मे विवश होकर सरकार ने कागज के नोटो को भूमि के टुकडो मे परिवर्तित करने की घोषणा की और तब कही लोगो ने पत्र मुद्रा को लेना आरम्भ किया। इस घटना से विदित होता है कि मुद्रा की सामान्य स्वीकृति केवल राज्य की घोषणा के द्वारा उत्पन्न नही की जा सकती। कोई भी वस्तु मुद्रा के रूप मे उसी समय तक स्वीकार की जाती है जब तक जनता का विश्वास उसमे रहता है। इसके अतिरिक्त नैप की परिभाषा मे एक और दोष भी पाया जाता है। मुद्रा का प्रयोग विनिमय के माध्यम के रूप मे किया जाता है और विनिमय का कार्य स्वतन्त्र तथा ऐच्छिक होना चाहिए। यदि मुद्रा की स्वीकृति कानूनी दबाव के कारण होती है तो विनिमय ऐच्छिक तथा स्वतन्त्र नहीं रहता है। इन सब कारणों से नैप की परिभाषा को वैज्ञानिक नही माना जा सकता। हाट्र (Hawtrey) ने नैप की परिभाषा के दोषो को ध्यान मे रखकर मुद्रा की वैधानिक परिभाषा में सुधार करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने मुद्रा को विधिग्राह्य (Legal Tender) होने के साथ-साथ हिसाब की इकाई (Unit of Account) भी माना है और इस प्रकार उनकी परिभाषा नैप की परिभाषा से अच्छी है।

(स) सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाये

(Definitions based on General Acceptability)—

इस वर्ग मे वे परिभाषाये आ जाती है जिनमे सामान्य स्वीकृति मुद्रा का एक विशेष गुण माना गया है। इन परिभाषाओ के अनुसार। वह है मुद्रा जो वस्तुओ के मूल्य चुकाने, ऋणो का भुगतान करने तथा अन्य प्रकार के लेन-देन के सौदो को निवटाने के लिए समाज मे समान्य रूप से स्वीकार की जाती हो। मुद्रा मे सामान्य स्वीकृति का गुण होना आवश्यक है। यदि कोई वस्तु सरकार के द्वारा मुद्रा घोषित कर दी जाती है किन्तु उसमे सामान्य स्वीकृति का गुण नही है तो वह मुद्रा का कार्य ठीक प्रकार से नही कर सकेगी। मुद्रा का कार्य करने के लिए किसी वस्तु का सर्वमान्य होना अनिवार्य है। सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषायें वैधानिक तथा वर्णनात्मक परिभाषाओं की अपेक्षा कम दोषपूर्ण हैं। राबर्टसन, मार्शल, पीगू, कोल, केन्स, क्राउथर तथा ऐली आदि ने इसी प्रकार की परिभाषायें दी हैं। यद्यपि इन परिभाषाओ मे परस्पर काफी अन्तर पाया जाता है किन्तु वे सब

ही सामान्य स्वीकृति के सिद्धान्त पर आधारित हैं। राबर्टसन (Robertson) के अनुसार 'मुद्रा कोई भी वह वस्तु है जिसे वस्तुओं का मूल्य चुकाने या अन्य प्रकार के व्यवसायिक भुगतनो को निवटाने के लिए विस्तृत रूप से स्वीकार किया जाता है।"[८] इस परिभाषा मे राबर्टसन ने सामान्य स्वीकृति पर विशेष जोर दिया है। उनका कहना है कि कोई भी वस्तु उस समय तक मुद्रा का कार्य नही कर सकती है जब तक उसे समाज मे सामान्य रूप से स्वीकार न किया जाता हो। यदि किसी सरकार द्वारा मुद्रा के रूप मे चलाये जाने वाले करेंसी नोट सामान्य स्वीकृति खो दें और भुगतानों को निवटाने के लिए आम तौर से स्वीकार न किये जायें तो वे नोट मुद्रा होते हुए भी मुद्रा का कार्य न कर सकेंगे, इसलिए उन्हे मुद्रा नही कहा जा सकता है। इसके दूसरी ओर यदि ऐसी वस्तुयें जैसे तम्बाकू, बैल, इत्यादि जिनसे हम मुद्रा का कार्य नही लेना चाहते, भुगतानो को निवटाने के लिए सामान्यत. स्वीकार की जाने लगे तो मुद्रा न होते हुये भी वे मुद्रा का कार्य करने लगती हैं। इस प्रकार सामान्य स्वीकृति मुद्रा का एक अनिवार्य गुण है। नीचे दी गई सभी परिभाषायें मुद्रा की सामान्य स्वीकृति पर विशेष जोर देती हैं।

डा० मार्शल के अनुसार—"मुद्रा मे वे सब वस्तुयें सम्मिलित होती हैं, जो किसी विशेष समय अथवा स्थान पर बिना संदेह अथवा विशेष जाँच के वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने अथवा अन्य भुगतानो को निबटाने के साधन के रूप मे ग्रहण की जाती हैं।"[९]

एँली (Ely) ने मुद्रा की परिभाषा इस प्रकार की है। "मुद्रा कोई भी वह वस्तु है जो विनिमय के माध्यम के रूप मे स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तान्तरित की जाती हो और जिसे ऋणो के अन्तिम भुगतान के लिए सामान्यत स्वीकार किया जाता हो।"[१०]

जे० एम० केन्स (J. M. Keynes) के अनुसार—"मुद्रा वह है जिसको देकर ऋण तथा मूल्य सम्बन्धी भुगतानो को निबटाया जाता है और जिसके रूप मे सामान्य क्रय-शक्ति को सचय किया जाता है।"[११]

---

8. "Money is anything which is widely accepted in payment for goods, or in discharge of other kinds of business obligations "
—*Pobertson* . Money, P. 2.

9 "All those things which are (at any time and place) generally current without doubt or special enquiry as a means of purchasing commodities and services and of defraying expenses." —*Marshall*

10 "Money is anything that passes freely from hand to hand as a medium of exchange, and is generally received in final discharge of debts."
—*Ely* Elementary Principles of Economics.

11 "Money is that by the delivery of which debt contracts and price contracts are discharged and in the shape of which a store of general purchasing power is held." —*Keynes :* A Treatise on Money, vol. I, P. 1.

क्राउथर (Crowther) के शब्दों में—"मुद्रा कोई भी वह वस्तु है जो सामान्यतः विनिमय के माध्यम के रूप मे स्वीकार की जाती हो और उसके साथ ही वह मूल्य के मापक तथा उसे संचय करने का कार्य भी करती हो।"[१२]

सैलिगमैन के अनुसार—"मुद्रा वह वस्तु है जिसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो।"[१३]

कैन्ट ने भी मुद्रा के सम्बन्ध मे बताते समय सामान्य स्वीकृति हो उसका सर्वप्रथम गुण माना है। उसके अनुसार "मुद्रा कोई भी वह वस्तु है जो विनिमय के माध्यम या मूल्य के मापक के रूप मे साधारणतः प्रयोग की जाती हो और सामान्य रूप से ग्रहण कर ली गई हो।"[१४]

उपरोक्त सभी परिभाषाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि सामान्य स्वीकृति मुद्रा का सर्वप्रथम गुण है। यद्यपि इनमे से कुछ परिभाषायें मुद्रा के विनिमय के माध्यम के कार्य पर अधिक जोर देती है तथा कुछ उसे विनिमय के माध्यम और मूल्य के मापक के रूप मे समझाने का प्रयत्न करती हैं। कुछ अन्य परिभाषायें मुद्रा के ऋणो के अन्तिम भुगतान के साधन के रूप मे अधिक महत्वपूर्ण समझती हैं। इस मतभेद के होते हुए भी यह सब परिभाषायें मुद्रा की सर्वमान्यता के सम्बन्ध मे एकमत है। कोई वस्तु मुद्रा का कार्य उसी समय कर सकती है जब उसे समाज मे मुद्रा के रूप मे सामान्यतः स्वीकार किया जाता हो। मुद्रा कोई विशेष वस्तु नही है। कोई भी वस्तु जिसे समाज मे सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो जाती है और जिसे मुद्रा के रूप मे निःसंकोच स्वीकार किया जाने लगता है, मुद्रा हो जाती है। अतः मुद्रा कोई भी वह वस्तु है जिसे या तो वैधानिक दबाव के कारण अथवा रिवाज के तौर पर वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य चुकाने तथा ऋणो का अन्तिम भुगतान करने के लिए सामान्यतः स्वीकार किया जाता हो।

मुद्रा के कार्य

(Functions of Money)

मुद्रा को हम उसके कार्यों के द्वारा समझ सकते है। उपरोक्त परिभाषाओं से हमें मुद्रा के कार्यों के सम्बन्ध मे कुछ ज्ञान हो जाता है, किन्तु मुद्रा को पूर्णतया समझने के लिए हमें उसके कार्यों का विधिवत् अध्ययन तथा विश्लेषण करना

---

12 "Money can be defined as anything that is generally acceptable as a means of exchange and that at the same time acts as a measure and as a store of value" —*Crowther*: An Outline of Money, P, 20

13 "Money is one thing that possesses general acceptability" —*Seligman.*

14 "Money is anything which is commonly used and generally accepted as a medium of exchange or as a standard of value." —*P. Kent*: Money and Banking, P. 4.

चाहिए। अधिकाश परिभाषाओं के अनुसार मुद्रा दो प्रमुख कार्य करती है—वह विनिमय का माध्यम तथा मूल्य का मापक है। इनके अतिरिक्त मुद्रा स्थगित भुगतानों के मान तथा मूल्य सचय के साधन के रूप में भी प्रयोग की जाती है, जो उसके गौण कार्य हैं। इस प्रकार मुद्रा के चार कार्य माने जाते हैं—विनिमय का माध्यम, मूल्य का मापक, स्थगित भुगतानों का मान तथा मूल्य सचय करने का साधन। वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के कुछ और कार्य भी बतलाये हैं जो उसे विशेष आर्थिक व्यवस्था में करने होते हैं। मुद्रा के कार्यों को सामान्यत. तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

(क) मुख्य कार्य (Primary Functions)
(ख) सहायक कार्य (Derived Functions)
(ग) आकस्मिक कार्य (Contingent Functions)

(क) मुख्य कार्य (Primary Functions)—

मुद्रा के मुख्य कार्य वे है जो उसे आर्थिक विकास की प्रत्येक अवस्था में करने होते हैं। ये मुद्रा के आधारभूत कार्य है जो वह प्रत्येक समाज में अनिवार्य रूप से करती है। विनिमय के माध्यम तथा मूल्य के मापक का काम करना, मुद्रा के दो मुख्य कार्य हैं। प्रारम्भ काल से मुद्रा इन दोनो कार्यों को करती आई है और आगे भी करती रहेगी। चाहे मुद्रा के रूप में कोई भी वस्तु क्यो न प्रयोग की जाय, उसे समाज में विनिमय के माध्यम तथा मूल्य के मापक का कार्य अवश्य करना होता है। वास्तव में मुद्रा का आविष्कार ही इन दोनो कार्यों को करने के लिए किया गया था। इसीलिए इन्हें मुद्रा के आधारभूत अथवा मौलिक कार्य भी कहा जाता है।

(१) विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange)—मुद्रा का सर्वप्रथम कार्य विनिमय को सरल तथा सुविधापूर्ण बनाना है। मुद्रा विनिमय के माध्यम का कार्य करके प्रत्यक्ष विनिमय की कठिनाई को दूर करती है। वस्तु-विनिमय प्रणाली में आवश्यकताओं के दोहरे सयोग के अभाव के कारण जो कठिनाई होती थी, वह मुद्रा के प्रयोग से दूर हो जाती है। अब हमें आवश्यकताओं के दोहरे सयोग की आवश्यकता नहीं पडती है क्योकि मुद्रा विनिमय के माध्यम का कार्य करती है। वस्तुओं को सीधा वस्तुओं के साथ न बदल कर, वस्तुओं को पहले मुद्रा के साथ बदलते हैं और फिर मुद्रा को अन्य वस्तुओं तथा सेवाओं के साथ बदला जाता है। विनिमय का कार्य प्रत्यक्ष न होकर मुद्रा के माध्यम के द्वारा किया जाता है। मुद्रा के प्रयोग के कारण विनिमय का कार्य दो भागों में बँट जाता है—(i) वस्तुओं का बेचना तथा (ii) वस्तुओं का खरीदना। एक बार हम वस्तुयें अथवा सेवायें देकर उनके बदले में मुद्रा प्राप्त करते हैं जिसे वस्तुओं का बेचना कहा जाता है और फिर उस मुद्रा को देकर अन्य वस्तुयें तथा सेवायें प्राप्त की जाती हैं जिसे वस्तुओं

का खरीदना कहते हैं। मुद्रा व्यवस्था में बेचने वाले को अपनी वस्तुओं के बदले में जो मुद्रा प्राप्त होती है, उसे अन्य वस्तुओं अथवा सेवाओं के खरीदने पर तुरन्त व्यय करना आवश्यक नहीं है। बेचने वाला यदि चाहे तो उस मुद्रा को कुछ समय पश्चात् खर्च कर सकता है, उसका कुछ भाग खर्च कर सकता है और कुछ बचा सकता है अथवा वह कुल रकम को अपने पास भविष्य के खर्च के लिए रख सकता है। इस प्रकार वस्तुओं का बेचना और खरीदना दोनों एक दूसरे से पृथक् क्रियायें हो जाती है। विनिमय के माध्यम का कार्य करते समय मुद्रा केवल एक मध्यवर्ती वस्तु के रूप में स्वीकार की जाती है। उसकी प्रत्यक्ष उपयोगिता कुछ भी नहीं होती है और वह केवल वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिमय को सरलतापूर्वक कराने का एक माध्यम है। डच (Dutch) अर्थशास्त्री एन० जी पियर्सन ने विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्रा की तुलना रेलवे स्टेशन के शटिङ्ग करने वाले इंजन से की है जो कभी डिब्बों की एक पंक्ति को खींचता है और कभी दूसरी को ढकेलता है। इस इन्जन का काम प्रत्येक डिब्बे को सही पटरियों पर लाना होता है जिससे कि वे निश्चित स्थान पर पहुँच सकें। किन्तु इन्जन स्टेशन से कभी नहीं जाता है।[१५]

विनिमय के माध्यम का कार्य करते समय मुद्रा समाज में सामान्य क्रय-शक्ति (General Purchasing Power) के रूप में कार्य करती है क्योंकि उसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त होती है। प्रत्येक व्यक्ति मुद्रा के बदले में अपनी वस्तुयें तथा सेवायें देने को तैयार रहता है। मुद्रा के साथ कोई भी वस्तु बदली जा सकती है और किसी भी वस्तु के साथ मुद्रा बदली जा सकती है। व्यक्ति अपनी वस्तुयें बेचकर मुद्रा के रूप में सामान्य क्रय-शक्ति प्राप्त कर लेता है जिसे वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी आवश्यकता की वस्तुयें खरीदने में प्रयोग कर सकता है। मुद्रा की सहायता से वह जब चाहे अपनी इच्छा के अनुसार वस्तुयें तथा सेवायें ले सकता है। मुद्रा का विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग किया जाना उत्पत्ति में भी बहुत सहायक होता है। उत्पादक के लिए यह सम्भव हो जाता है कि वह अपनी शक्ति केवल उत्पादन सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने में ही लगा सके और इस प्रकार मुद्रा का प्रयोग उसकी कार्य-क्षमता बढ़ाने में सहायक होता है।

(२) मूल्य का सामान्य माप (Common Measure of Value)—मुद्रा का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य को आंकना है। आधुनिक समाज में मुद्रा मूल्य के सामान्य सूचक (Common denominator of Value)

---

15 "The well known Dutch economist, N. G. Pierson, has very happily likened money to a shunting locomotive at a railway station : at one moment it pulls one line of trucks, at the next it pushes another, its function being to bring each truck on to the right rails in order that it may be able to reach its destination. But the locomotive never leaves the station."

Quoted by *Wicksell*: Lectures on Political Economy, vol. II, P. 19.

का कार्य करती है और मूल्य नापने का एकमात्र साधन है। सभी वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य मुद्रा में नापे जाते हैं जिसके कारण विनिमय का कार्य बहुत सरल हो जाता है। जिस प्रकार एक मीटर (Meter) निश्चित लम्बाई को बताता है अथवा एक किलोग्राम (Kilogram) निश्चित वजन को, ठीक उसी प्रकार मुद्रा की एक इकाई निश्चित मूल्य को बताती है। मुद्रा मूल्य नापने के एक पैमाने का काम करती है जिसका प्रयोग विभिन्न वस्तुओं के मूल्य नापने तथा उनकी तुलना करने के लिए किया जाता है। क्राउथर (Crowther) के शब्दों में 'वह एक लेखे की इकाई का काम करती है। वह मूल्य के माप-दण्ड अथवा सर्वमान्य मापक के रूप में कार्य करती है जिसके साथ अन्य सभी वस्तुओं की तुलना की जा सकती है।"[16] वस्तु विनिमय के युग में मूल्य का सामान्य सूचक न होने के कारण प्रत्येक वस्तु का मूल्य उन सब वस्तुओं में नापना होता था जिनके साथ वह बदली जाती थी जिसके कारण असंख्य विनिमय दरों (Exchange Ratios) याद रखना आवश्यक था। एक सौ वस्तुओं को आपस में बदलने के लिए ४,९५० विनिमय दरों का प्रयोग करना पड़ेगा। मुद्रा के प्रयोग से यह कठिनाई दूर हो गई है क्योंकि अब सब वस्तुओं का मूल्य केवल एक वस्तु (मुद्रा) के रूप में व्यक्त किया जाता है। मुद्रा के द्वारा एक सौ वस्तुओं का विनिमय करने के लिए केवल ९९ विनिमय दरों की ही आवश्यकता होगी। इससे स्पष्ट है कि मुद्रा मूल्य के मापक का कार्य करके विनिमय को काफी सरल बना देती है।

यद्यपि मुद्रा का प्रयोग वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य नापने के लिए किया जाता है किन्तु वह मूल्य नापने का आदर्श साधन नहीं है। मूल्य के मापक के रूप में वह दोषपूर्ण है क्योंकि उसका अपना मूल्य स्थिर नहीं रहता है। मुद्रा समाज में मूल्य के मापक का कार्य करती है किन्तु उसका अपना मूल्य बदलता रहता है। ठीक उसी प्रकार जैसे लम्बाई नापने वाले पैमाने की अपनी लम्बाई कभी बढ़ जाय और कभी कम हो जाय। दोषपूर्ण होते हुए भी, मूल्य के मापक के रूप में मुद्रा का ही प्रयोग किया जाता है क्योंकि मूल्य नापने का उससे अच्छा साधन उपलब्ध नहीं है।

मुद्रा के उपरोक्त दोनों कार्यों में इतना गहरा सम्बन्ध है कि उन्हें प्रायः एक दूसरे से अलग करना सम्भव नहीं है। विनिमय के माध्यम और मूल्य-मान के कार्य इस प्रकार एक दूसरे में मिल-जुले रहते हैं कि यह बताना कठिन हो जाता है कि कब मुद्रा एक कार्य को समाप्त करती है और कब दूसरा आरम्भ होता है। मुद्रा विनिमय के माध्यम का कार्य तभी कर सकती है जब पहले उसके द्वारा वस्तुओं के

16 "It serves as a unit of account. It acts as a yardstick on standard measure of value to which all other things can be compared."

—*Crowther*: An Outline of Money, P. 3.

मूल्य को आंक लिया गया हो। इस प्रकार मुद्रा मूल्य मान का कार्य किये बिना विनिमय के माध्यम का कार्य नहीं कर सकती। मुद्रा के द्वारा मूल्यमान तथा विनिमय के माध्यम के कार्य प्रायः एक साथ किये जाते है।

विनिमय-माध्यम तथा मूल्यमान का अलग-अलग होना सम्भव है—

यद्यपि मुद्रा मूल्यमान तथा विनिमय-माध्यम का कार्य सामान्यत एक साथ करती है किन्तु कभी-कभी वह केवल मूल्य के मापक का कार्य ही करती है और और विनिमय के माध्यम का कार्य उसके द्वारा नहीं किया जाता है। जार्ज हाम (George N. Halm) के अनुसार "विनिमय के माध्यम तथा मूल्यमान का एक ही वस्तु के रूप में होना आवश्यक नहीं है। आवश्यक केवल यह है कि विनिमय के माध्यम की इकाइयों को मूल्यमान की इकाइयों के रूप में व्यक्त किया जा सके।"[१७] विनिमय के माध्यम तथा मूल्यमान के लिए दो प्रकार की मुद्राओं का प्रयोग किया जा सकता है। यह सम्भव है कि एक मुद्रा केवल मूल्यमान का कार्य ही करती हो और विनिमय के माध्यम के रूप में किसी अन्य मुद्रा का प्रयोग किया जाता हो किन्तु ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब इन दोनों प्रकार की मुद्राओं में किसी प्रकार एक विनिमय अनुपात निश्चित कर लिया जाय।[१८] इतिहास में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं जब विनिमय के माध्यम और मूल्यमान के लिए अलग-अलग वस्तुओं का प्रयोग किया गया है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जब जर्मन मार्क (Mark) का मूल्य मुद्रा प्रसार के कारण तेजी से गिरने लगा तो वहाँ के लोगों ने वस्तुओं के मूल्य नापने के लिए अमरीकन डालर (Dollar) तथा अन्य विदेशी मुद्राओं का प्रयोग आरम्भ कर दिया क्योंकि इन मुद्राओं का मूल्य मार्क (Mark) की अपेक्षा अधिक स्थिर था। इस प्रकार जर्मनी में दो मुद्रायें काम कर रही थीं—एक मूल्य नापने के लिए और दूसरी विनिमय के माध्यम के रूप में। वस्तुओं के मूल्य तो डालर (Dollar) तथा अन्य मुद्राओं में नापे जाते थे किन्तु भुगतान जर्मन मार्क (Mark) में किया जाता था। इसी प्रकार इंगलैंड में कुछ समय तक गिन्नी (Guinee) का प्रयोग वस्तुओं का मूल्य नापने के लिए होता था, किन्तु विनिमय का माध्यम पौंड (£) था। भारतवर्ष में भी आजकल ऐसी ही स्थिति है क्योंकि वस्तुओं के मूल्य अभी भी आने और पैसों (annas and pices) में नापे जाते हैं किन्तु भुगतान नये पैसों में किया जाता है।

---

17 'The medium of exchange and the standard of value need not be represented by the same good. It is only necessary for the units of the medium of exchange to be expressed in the units of the standard of value.'

—*George N. Halm*: Monetary Theory, P 2.

18 "It is possible ... . for two units to be different, provided that an exchange ratio between them can somehow be established."

—*Benham*: Economics, P. 424.

जब मुद्रा का प्रयोग हिसाब की इकाई (unit of account) के रूप मे किया जाता है तो वह केवल मूल्य मान का कार्य करती है। वर्तमान समय मे किसी भी व्यवसायिक फर्म का हिसाब-किताब मुद्रा मे रखा जाता है और उसकी सम्पत्ति (मशीन, मकान, भूमि इत्यादि) का मूल्य मुद्रा मे बतलाया जाता है किन्तु फर्म का विचार इन्हे बेचने का बिल्कुल नही होता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति अपने मकान का मूल्य बताते समय कह सकता है कि उसका मकान तीस हजार ३०,०००) रु० का है किन्तु वह उसे इस मूल्य पर बेचता नही है। अत कभी-कभी मुद्रा केवल मूल्यमान का कार्य करती है और विनिमय के माध्यम का कार्य उसके द्वारा नही किया जाता है।

(ख) सहायक कार्य (Derived Functions)—

सहायक कार्य मुद्रा के वे कार्य होते हैं जो उसके मुख्य कार्यों के कारण पैदा होते है अथवा उनके ऊपर आधारित होते हैं। ये कार्य मुद्रा के द्वारा प्रारम्भिक अवस्था मे नही किये जाते थे। कुछ आर्थिक विकास हो जाने के पश्चात् ही मुद्रा इन कार्यों को करना आरम्भ करती है। स्थगित भुगतान के मान का कार्य करना तथा मूल्य सचय के साधन के रूप मे प्रयोग किया जाना, मुद्रा के इसी प्रकार के कार्य है। क्योंकि मुद्रा विनिमय का माध्यम तथा मूल्य का मापक है, इसलिए उसे स्थगित भुगतानो को निबटाने के लिए तथा धन सचय करने के लिए भी प्रयोग किया जाता है।

(१) स्थगित भुगतानों का मान (Standard of Deferred Payments)—आज के व्यवसायिक जीवन मे ऋणो का लेन-देन एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। समाज मे बहुत से भुगतान ऐसे होते है जिन्हे वर्तमान मे न करके भविष्य के लिए स्थगित किया जाता है। इस प्रकार के भुगतानो को निबटाने के लिए एक ऐसी इकाई का होना अनिवार्य है जिसके द्वारा ऋणो को बताया जा सके तथा उनका भुगतान किया जा सके। मुद्रा स्थगित भुगतानो के मान के रूप मे इस कार्य को करती है। ऋण मुद्रा मे बताये जाते हैं और मुद्रा के द्वारा ही उनका भुगतान होता है। मुद्रा केवल वर्तमान व्यवसायिक भुगतानो के लिए ही मूल्य मान का कार्य नही करती है, बल्कि वह भविष्य मे किये जाने वाले स्थगित भुगतानो का मान (Standard) भी होती है। स्थगित भुगतानो के मान के रूप मे मुद्रा को इसलिए अधिक उपयुक्त समझा जाता है क्योंकि अन्य सब वस्तुओं की अपेक्षा उसके मूल्य मे सबसे कम परिवर्तन होता है और लोग यह समझते है कि मुद्रा मे लेन-देन करने से उनके साथ किसी प्रकार का अन्याय होने की सम्भावना नही है। मुद्रा मे सामान्य स्वीकृति का गुण होने के कारण उसकी आवश्यकता हर समय बनी रहती है। किसी भी समय मुद्रा को देकर उसके बदले मे आवश्यक वस्तुये प्राप्त की जा सकती हैं। यह गुण अन्य वस्तुओं मे नही पाया जाता है। अन्य वस्तुओं की अपेक्षा

मुद्रा मे टिकाऊपन भी अधिक होता है। इन सब कारणो से ही मुद्रा विलम्बित भुगतानो के मान के रूप मे स्वीकार की जाती है। स्थगित भुगतानो के मान का कार्य करके मुद्रा समाज मे लेन-देन की व्यवस्था पैदा करती है जिस पर वर्तमान समाज का आर्थिक विकास निर्भर है। साख का सम्पूर्ण ढांचा मुद्रा के इसी कार्य पर आधारित है।

मुद्रा विलम्बित भुगतानो के मान के रूप मे भी दोषपूर्ण है क्योंकि स्वय मुद्रा के मूल्य मे भारी परिवर्तन होते रहते है। मुद्रा का मूल्य स्थिर न रहने के कारण कभी ऋणी को और कभी ऋण-दाता को हानि उठानी पडती है। ऋण लेने वाला उतनी ही रकम लौटाता है जितनी उसने उधार ली थी किन्तु यदि इस बीच मे मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो जाय तो ऋणदाताओ को उतनी क्रय-शक्ति नहीं लौटती है जितनी उन्होंने उधार दी थी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए कभी-कभी यह सुझाव दिया जाता है कि मुद्रा के विलम्बित भुगतान के कार्य मे अधिक लोच होनी चाहिए और ऋणो की रकम मुद्रा की क्रय-शक्ति मे होने वाले परिवर्तनो के अनुसार घटा-बढा देनी चाहिए।

(२) **मूल्य संचय का साधन** (Store of Value)—मुद्रा समाज मे मूल्य सचय करने के साधन का कार्य भी करती है। मुद्रा की सहायता से धन को भविष्य के लिए इकट्ठा किया जा सकता है। मुद्रा-रहित समाज मे धन सचय करने मे बडी कठिनाई होती थी क्योकि उपयोगी वस्तुओ को बहुत अधिक समय तक इकट्ठा करके रखना सम्भव न था। बहुत सी वस्तुओ का मूल्य बदल जाता था और बहुत सी नाशवान् होने के कारण समय व्यतीत होने पर बेकार हो जाती थी। इन कठिनाइयो के कारण वस्तु विनिमय के युग मे धन सचय और पूँजी का निर्माण सम्भव न था। किन्तु जब से मुद्रा का प्रयोग आरम्भ हुआ है, मनुष्य को एक ऐसा साधन मिल गया है जिसके द्वारा वह भविष्य के लिए क्रय-शक्ति का सचय कर सकता है। वस्तुएँ और सेवायें बेचकर मुद्रा प्राप्त कर ली जाती है, उसका कुछ भाग वर्तमान आवश्यकताओं पर व्यय कर दिया जाता है और शेष भविष्य के लिए जमा कर लिया जाता है। इस प्रकार वस्तुओ के रूप मे धन सचय न करके मुद्रा के रूप मे क्रय-शक्ति को सचय किया जाता है, जिसका आवश्यकता पडने पर प्रयोग किया जा सकता है। मुद्रा के रूप मे धन सचय करना अधिक सुविधापूर्ण है, क्योंकि मुद्रा की माँग हर समय बनी रहती है और उसका मूल्य अन्य वस्तुओ की अपेक्षा अधिक स्थिर रहता है। इसके अतिरिक्त मुद्रा प्राय: सोने, चाँदी, कागज इत्यादि टिकाऊ वस्तुओ की बनाई जाती है जिसके कारण उसे मूल्य मे हानि हुए बिना लम्बे समय तक रखा जा सकता है। इन्ही गुणो के कारण मुद्रा क्रय-शक्ति सचय करने का एक अच्छा साधन है। किन्तु कभी-कभी जब मुद्रा के मूल्य मे बहुत अधिक परिवर्तन होते हैं तो वह क्रय-शक्ति संचय करने का अच्छा साधन नहीं रहती है

क्योंकि मुद्रा का मूल्य बदलने के कारण संचित धन की मात्रा मे भी परिवर्तन हो जाता है।

वर्तमान समाज मे मुद्रा का क्रय-शक्ति संचय करने का कार्य बहुत महत्व-पूर्ण है क्योंकि मुद्रा बचत को सम्भव बनाती है और बचत से पूँजी का निर्माण होता है जो आज के आर्थिक विकास का मुख्य आधार है। जब तक क्रय-शक्ति का संचय सम्भव न था, पूँजी का निर्माण नही हो सकता था और समाज पिछड़ी हुई दशा मे था। किन्तु जब मुद्रा के प्रयोग के द्वारा क्रय-शक्ति का संचय सम्भव हो गया तो पूँजी का निर्माण होने लगा और समाज आर्थिक प्रगति की ओर अग्रसर हो गया। मुद्रा के रूप मे धन का संचय किया जाना इसलिए भी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि समाज मे की जाने वाली बचत की मात्रा हमारी आर्थिक क्रियाओ पर गहरा प्रभाव डालती है। लार्ड केन्स (Lord Keynes) के अनुसार मुद्रा केवल विनिमय का माध्यम ही नही है बल्कि लोग उसे बचाकर भविष्य के लिए क्रय-शक्ति का संचय कर लेते हैं। इस प्रकार मुद्रा वर्तमान को भविष्य के साथ जोडती है। लोगों के द्वारा की जाने वाली बचत समाज की वर्तमान आर्थिक क्रियाओ के साथ-साथ भविष्य की आर्थिक क्रियाओ को भी प्रभावित करती है। केन्स (Keynes) के शब्दो मे "मुद्रा का विशेष महत्व इसलिए है क्योंकि वह वर्तमान तथा भविष्य को जोडने वाली एक कडी है।"[१९]

(३) मूल्य हस्तान्तरित करने का कार्य (Transfer of Value)—मुद्रा समाज मे मूल्य को एक स्थान से दूसरे स्थान को तथा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित करने का कार्य भी करती है। जैसे-जैसे आर्थिक विकास होता गया, विनिमय का क्षेत्र विस्तृत होने लगा और मूल्य को हस्तांतरित करने की आवश्यकता अनुभव हुई। मुद्रा मे सामान्य स्वीकृति का गुण होने के कारण उसके द्वारा मूल्य को हस्तान्तरित किया जाने लगा। आज जब हम अपना धन एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना चाहते है तो वस्तुओं को अपने साथ नही ले जाते हैं। अपनी वस्तुओं तथा सम्पत्ति को एक स्थान पर बेचकर मुद्रा प्राप्त कर लेते हैं और मुद्रा को अपने साथ ले जाते हैं तथा उसके द्वारा दूसरे स्थान पर सम्पत्ति व अन्य वस्तुयें प्राप्त कर लेते है। इसी प्रकार जब धन को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित करना होता है तो वस्तुओं को देना आवश्यक नही है। केवल मुद्रा को हस्तान्तरित करने से ही क्रय-शक्ति एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित हो जाती है। इस प्रकार मुद्रा का प्रयोग क्रय-शक्ति के हस्तान्तरण की सुविधा प्रदान करता है और कुछ लोगो के पास पडी बेकार क्रय-शक्ति अन्य लोगो के द्वारा प्रयोग मे लाई जा सकती है।

---

19 "For the importance of money essentially flows from its being a link between the present and the future"

—*J. M. Keynes*. The Theory of Employment Interest & Money, P-293.

(ग) आकस्मिक कार्य (Contingent Functions)—

प्रो० किन्ले ने मुद्रा के कुछ आकस्मिक कार्यों का वर्णन किया है जो उसे विशेष आर्थिक व्यवस्था में करने होते है। आर्थिक जीवन का अधिक विकास हो जाने के कारण मुद्रा को कुछ नये कार्य करने पड़ते है, जिन्हे उसके आकस्मिक कार्य कहा जा सकता है। आजकल मुद्रा बहुत से ऐसे कार्य करती है जो केवल वर्तमान अर्थ-व्यवस्था के कारण ही उसे करने होते हैं। यह कार्य आर्थिक विकास की अन्य अवस्थाओ मे मुद्रा के द्वारा नही किये जाते थे। सामाजिक आय का वितरण करना, साख के आधार का कार्य करना, पूँजी को तरलता प्रदान करना तथा सीमान्त उपयोगिता समान करने मे सहायता देना आदि मुद्रा के इसी प्रकार के कार्य है।

(१) सामाजिक आय का वितरण (Distribution of Social Income)— वर्तमान समाज मे धन का उत्पादन सामूहिक रूप से होता है। वस्तुयें किसी एक व्यक्ति अथवा साधन के द्वारा पैदा न होकर उत्पत्ति के विभिन्न साधनो के द्वारा सम्मिलित रूप से पैदा की जाती है। सामूहिक उत्पादन को उन सब साधनो मे बाँटना होता है जिन्होने उसके उत्पादन मे सहयोग दिया है। अत सामूहिक उत्पत्ति के कारण वितरण की समस्या पैदा होती है। मुद्रा संयुक्त उत्पत्ति को विभिन्न साधनो मे बाँटने मे सहायक होती है। मुद्रा के अभाव मे संयुक्त उत्पत्ति को विभिन्न साधनो मे बाँटना कठिन होता है किन्तु मुद्रा की सहायता से यह कार्य बडी आसानी से कर लिया जाता है। विभिन्न उत्पत्ति के साधनो का हिस्सा मुद्रा मे निश्चित कर लिया जाता है और उसका भुगतान वस्तुओ के रूप मे न करके मुद्रा के रूप मे होता है। उत्पादित वस्तुयें बेचकर मुद्रा प्राप्त कर ली जाती है और मुद्रा के द्वारा उत्पत्ति के विभिन्न स्थानो को भुगतान कर दिया जाता है। इस प्रकार मुद्रा सामाजिक आय के वितरण मे बडी सहायता करती है।

(२) मुद्रा साख का आधार है (Money forms the basis of Credit)— वर्तमान समाज मे अधिकतर भुगतान चैक, हुण्डी, विदेशी विनिमय पत्र तथा अन्य प्रकार के साख पत्रो के द्वारा निबटाये जाते हैं। मुद्रा के स्थान पर साख का प्रयोग निरन्तर बढता जा रहा है। उन्नत देशो मे तो साख मुद्रा का प्रयोग इतना अधिक बढ गया है कि भुगतानों को निबटाने के लिए नकद मुद्रा का प्रयोग बहुत कम किया जाता है। साख मुद्रा का निर्माण बैंको के द्वारा किया जाता है। बैंक साख द्रव्य को जारी करते समय उसके पीछे एक निश्चित अनुपात मे नकद मुद्रा रखते है। साख मुद्रा के पीछे नकद कोष इसलिए रक्खा जाता है जिससे बैंक, माँग होने पर साख मुद्रा को नकद मुद्रा मे बदल सकें और जनता का विश्वास बैंक मुद्रा मे बना रह सके। बैंक के द्वारा जारी की जाने वाली साख की मात्रा उनके पास नकद मुद्रा की मात्रा के द्वारा सीमित होती है। सरकार के द्वारा जो पत्र मुद्रा चलाई जाती है, उसकी परिवर्तनशीलता को बनाये रखने के लिए भी नकद कोष रक्खा जाता है।

निश्चित अनुपात में नकद कोष रखकर ही पत्र मुद्रा जारी की जाती है, जिससे कि जनता का विश्वास उस प्रकार की मुद्रा में बना रह सके। यद्यपि वर्तमान समय में नकद कोषों की मात्रा बहुत कम करने की प्रवृत्ति पाई जाती है और उनका महत्व घटता जा रहा है, फिर भी साख का निर्माण नकद कोष के आधार पर ही किया जाता है। इस प्रकार मुद्रा साख के आधार का कार्य करके हमारी अर्थ-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने में सहायता देती है।

(३) पूँजी को सामान्य रूप प्रदान करना (Giving a general form to Capital)—मुद्रा सब प्रकार की पूँजी व सम्पत्ति को एक सामान्य रूप प्रदान करती है। पूँजी के अन्तर्गत आने वाली विभिन्न वस्तुओं को अब हम मुद्रा के रूप में व्यक्त करते हैं। व्यक्ति अपनी आय को मुद्रा के रूप में बचाता है और इस प्रकार समाज में पूँजी का सचय मुद्रा के रूप में ही किया जाता है। मुद्रा के रूप में संचित पूँजी को पूँजीगत वस्तुओं पर व्यय करके उसका विनियोग किया जाता है। पूँजी को मुद्रा के रूप में रखने से उसमें तरलता (Liquidity) तथा गतिशीलता (Mobility) के गुण पैदा हो जाते हैं, जो वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में अनिवार्य हैं। इन गुणों के कारण पूँजी को नित्य नये प्रयोगों में लाया जा सकता है और उसे एक प्रयोग अथवा स्थान से हटाकर किसी अन्य प्रयोग अथवा स्थान पर लगाया जा सकता है। इस प्रकार मुद्रा पूँजी को सामान्य रूप प्रदान करके पूँजी के सचय तथा उसके विनियोग में बड़ी सहायता प्रदान करती है।

(४) सीमान्त उपयोगिता तथा सीमान्त उत्पादकता में समानता लाना (Equalisation of marginal utility and marginal productivity)—मुद्रा उपभोक्ताओं को सम सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करने में सहायता देती है। मुद्रा द्वारा ही उपभोक्ता के लिए यह सम्भव होता है कि वह अपनी आय को विभिन्न मदों पर इस प्रकार व्यय करे कि उसे सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो सके। इस प्रकार मुद्रा के प्रयोग से उपभोक्ताओं के लिए अधिकतम सतुष्टि प्राप्त करना सम्भव हो जाता है। उत्पत्ति के क्षेत्र में मुद्रा विभिन्न साधनों से प्राप्त होने वाली सीमान्त उत्पादकता को समान करने में सहायता देती है। मुद्रा के द्वारा ही उत्पादक विभिन्न साधनों को ठीक अनुपात में मिलाता है और उनसे सम सीमान्त उत्पत्ति प्राप्त करके अधिकतम उत्पादन करने में सफल होता है।

(५) मुद्रा शोधन क्षमता की गारन्टी करती है (Money is a Guarantee of Solvency)—केंट (Kent) के अनुसार मुद्रा हमें ऋणों का भुगतान करने की क्षमता प्रदान करती है। जब तक किसी व्यक्ति के पास पर्याप्त मात्रा में नकद मुद्रा होती है वह अपने ऋणों का भुगतान करने की क्षमता रखता है किन्तु मुद्रा की कमी होने पर उसकी यह शोधन क्षमता समाप्त हो जाती है। प्रत्येक फर्म अपनी शोधन क्षमता (Solvency) को बनाये रखने के लिए काफी मात्रा में नकद मुद्रा अपने पास

रखती है। जब किसी फर्म के पास पर्याप्त मात्रा मे मुद्रा नहीं होती तो उसकी ऋणों का भुगतान करने की क्षमता समाप्त हो जाती है और फर्म को दिवालिया (Insolvent) घोषित कर देते हैं, चाहे उसके पास अन्य सम्पत्ति कितनी भी क्यो न हो। इस प्रकार मुद्रा शोधन क्षमता को बनाये रखने मे सहायक होती है।

(६) मुद्रा का तरल सम्पत्ति के रूप में प्रयोग (Money as Liquid Asset)—केन्स (Keynes) ने मुद्रा का तरल सम्पत्ति के रूप मे प्रयोग किया जाना उसका एक महत्वपूर्ण कार्य माना है। मुद्रा मे अन्य सम्पत्ति की अपेक्षा सबसे अधिक तरलता (Liquidity) पाई जाती है। मुद्रा मे सामान्य स्वीकृति का गुण होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति उसे लेने के लिए तैयार रहता है। मुद्रा का यह गुण ही उसे तरलता प्रदान करता है। प्रत्येक व्यक्ति अथवा फर्म को आय एक निश्चित समय के पश्चात् ही प्राप्त होती है किन्तु व्यय उसे हर समय करते रहना पड़ता है। इस व्यय के लिए उसे अपनी आय का एक निश्चित भाग तरल रूप मे रखना होता है। अपनी पूँजी को लोग तरल रूप मे इसलिए भी रखना चाहते है कि वे उसके द्वारा आकस्मिक व्यय को निबटा सके। इसके अतिरिक्त कुछ लोग सट्टे के दृष्टिकोण (Speculative Motive) से भी पूँजी को तरल रूप मे रखना पसन्द करते हैं। इस तरलता की आवश्यकता को पूरा करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति तथा फर्म अपनी आय का एक भाग मुद्रा के रूप मे रखते है, जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर उसका प्रयोग किया जा सके। मुद्रा का तरल सम्पत्ति के रूप मे प्रयोग किया जाना वर्तमान समाज के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

(७) मुद्रा निर्णय का वाहक है (Money is a bearer of Option)—प्रो० ग्राहम (Graham) ने मुद्रा को निर्णय का वाहक माना है। व्यक्तियो के द्वारा मुद्रा का सचय किया जाना उन्हे एक ऐसी शक्ति प्रदान करता है जिससे वे कभी भी वस्तुयें तथा सेवाये प्राप्त कर सकते हैं। मुद्रा के रूप मे लोग भविष्य के लिए क्रय-शक्ति का संचय करते है। सचय करने वाला व्यक्ति अपने भविष्य की आवश्यकताओं को ध्यान मे रख कर अपनी क्रय-शक्ति का एक विशेष ढग से प्रयोग कर सकता है जिससे उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सके। मुद्रा की अनुपस्थिति मे ऐसा करना सम्भव न था। मुद्रा के रूप मे क्रय-शक्ति का सचय होने के कारण ही यह सम्भव हो सका है कि मनुष्य सचित मुद्रा का मनचाहे ढग से व्यय कर सके।

मुद्रा का महत्व
(Significance of Money)

आज का युग मुद्रा का युग है। हमारे आर्थिक जीवन के लिए मुद्रा इतनी अधिक आवश्यक है कि उसे वर्तमान समाज का जीवन रक्त कहा जा सकता है। आर्थिक जीवन के लिए मुद्रा से अधिक महत्वपूर्ण वस्तु की हम कल्पना भी नही कर सकते हैं। विनिमय आज के जीवन का आधार है और वह मुद्रा की सहायता के

बिना नहीं किया जा सकता है। बड़े पैमाने का उत्पादन, श्रम विभाजन, बाजारों का विस्तार, यातायात का विकास, बैंक तथा आर्थिक योजनायें, यह सब मुद्रा के बिना असम्भव हैं। इसीलिए प्रो० मार्शल ने मुद्रा को आर्थिक जीवन का केन्द्र माना है। उनके अनुसार 'मुद्रा वह धुरी है जिसके चारों ओर समस्त अर्थ-विज्ञान केन्द्रित है'।[२०] आर्थिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हमें मुद्रा की आवश्यकता होती है। वह बहुत अधिक सीमा तक हमारी आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करती है और आर्थिक प्रगति के लिए सबसे शक्तिशाली प्रोत्साहन देती है। उसके बिना हमारा आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन सुचारू रूप से नहीं चल सकता है। उसे अर्थशास्त्र का एक महान् आविष्कार कहा जा सकता है। क्राउथर (Crowther) के अनुसार—'मुद्रा मनुष्य के समस्त अनुसन्धानों में आधारभूत है। ज्ञान की प्रत्येक शाखा के अपने-अपने मूल अनुसन्धान है। जिस प्रकार यन्त्र शास्त्र में चक्र, विज्ञान में अग्नि और राजनीति शास्त्र में वोट आधार स्तम्भ हैं इसी प्रकार अर्थशास्त्र तथा मनुष्य के समस्त व्यवसायिक जीवन में मुद्रा एक ऐसा आवश्यक आविष्कार है जिस पर अन्य सब बातें आधारित है।'[२१]

किसी देश का आर्थिक विकास वहाँ की मुद्रा प्रणाली के सुव्यवस्थित होने पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। जब तक मुद्रा ठीक प्रकार से काम करती रहती है समाज में आर्थिक उन्नति के लिए अनुकूल वातावरण रहता है और हम स्थिरता के साथ प्रगति करते चले जाते है। किन्तु यदि किसी देश की मुद्रा प्रणाली बिगड़ जाती है तो उस देश की आर्थिक प्रगति रुक जाती है और वह अवनति की ओर जाने लगता है। राबर्टसन (Robertson) के अनुसार 'मुद्रा प्रणाली एक यन्त्र की भाँति है। जब तक वह ठीक चलती रहती है तब तक हमारा अधिक ध्यान आकर्षित नहीं करती है किन्तु जब उसमें कोई खराबी आ जाती है तो हम उसकी ओर काफी ध्यान देने लगते हैं।'[२२] प्रत्येक देश यह प्रयत्न करता है कि वह अपनी मुद्रा प्रणाली को नियन्त्रित तथा सुव्यवस्थित रक्खे, क्योंकि ऐसा करने से ही आर्थिक तथा सामाजिक विकास के लिए अनुकूल दशायें उत्पन्न हो सकती हैं।

---

20 'It is the pivot round which the economic science clusters '

— *Alfred Marshall*

21 'Money is one of the most fundamental of all Man's inventions. Every branch of knowledge has its fundamental discovery In mechanics it is the wheel, in science fire, in politics the vote. Similarly, in economics, in the whole commercial side of Man's social existence, money is the essential invention on which all the rest is based '

—*Geofrey Crowther* : An Outline of Money, P. 4.

22 'For a monetary system is like a liver : it does not take up very much of our thoughts when it goes right, but it attracts a deal of attention when it goes wrong.' —*D. H. Robertson* : Money, P. 2.

मुद्रा के इतना उपयोगी होते हुए भी कुछ अर्थशास्त्री उसे समाज के आर्थिक जीवन मे अधिक महत्वपूर्ण स्थान देने के लिए तैयार नही है। वे केवल उसे आर्थिक क्रियाओ को अधिक तेजी के साथ तथा सुविधापूर्ण ढग से करने का साधन मानते है। जे० एस० मिल (J. S. Mill) के अनुसार 'किसी समाज की अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा से कम महत्व की वस्तु नही हो सकती है। यह केवल श्रम तथा समय की बचत करने मे सहायता करती है। यह उन कार्यों को शीघ्रता तथा सरलता से सम्पन्न करने का एक यन्त्र है जिन्हे मुद्रा के बिना कठिनाई से तथा विलम्ब से किया जा सकता है।'[23] राबर्टसन (Robertson) के विचार मे 'मुद्रा इतना अधिक महत्वपूर्ण विषय नही है जितना की उसे सामान्यत समझा जाता है किन्तु फिर भी वह अर्थ-शास्त्र के अध्ययन की एक रुचिपूर्ण तथा उपयोगी शाखा है।'[24] इन लेखको ने मुद्रा को समाज मे आवश्यकता से अधिक महत्व देने के खतरे की ओर संकेत किया है। वास्तव मे, मुद्रा आधुनिक समाज के लिए कितनी आवश्यक तथा महत्वपूर्ण है, इसे जानने के लिए हमे मुद्रा से प्राप्त होने वाले विभिन्न लाभो का अध्ययन करना होगा। मुद्रा के महत्व को उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा राजस्व के क्षेत्रो मे स्वीकार किया जाता है। वह वस्तु-विनिमय प्रणाली की कठिनाइयो को दूर करके वर्तमान अर्थ-व्यवस्था को अधिक कार्यक्षमता के साथ चलाने मे सहायक होती है। चाहे पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था हो या समाजवादी, नियोजित अर्थ-व्यवस्था हो या मिश्रित, सभी प्रकार के समाजो मे मुद्रा एक विशेष महत्व रखती है। कोई भी आधुनिक समाज मुद्रा के बिना नही चल सकता है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा के महत्व का विश्लेषण करके हम वर्तमान समाज मे मुद्रा की उपयोगिता को भली प्रकार समझ सकते है।

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा का महत्व
(Importance of Money in a Capitalist Society)—

मुद्रा को पूँजीवादी समाज का आधार कहा जा सकता है। सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था मुद्रा पर आधारित होती है और प्रत्येक प्रकार के आर्थिक निर्णय मुद्रा की सहायता से किये जाते है। उपभोक्ता मूल्य यन्त्र (Price Mechanism) के द्वारा उत्पादन व्यवस्था का निर्देशन करते हैं। जिन वस्तुओ को वे अधिक खरीदना चाहते

---

23 'There cannot intrinsically be a more insignificant thing in the economy of a society than money except in the character of a contrivance of sparing time and labour. It is a machine for doing quickly and commodiously, what would be done though less quickly and commodiously without it.'

—*J. S. Mill* : Principles of Political Economy, Book III chap. VII.

24 'Money is not such a vital subject as is often supposed; nevertheless it is an interesting and important branch of study of Economics.'

—*D. H. Robertson* : Money, P. 1.

हैं, उनके लिए अधिक मूल्य देकर वे उत्पादकों को इन वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। जिन वस्तुओं के मूल्य नीचे रहते हैं उनका उत्पादन नहीं किया जाता है। इस प्रकार मूल्य-यन्त्र के द्वारा सम्पूर्ण उत्पादन व्यवस्था को नियन्त्रित किया जाता है। उत्पत्ति के साधनों का विभिन्न प्रयोगों में वितरण भी उन्हें दिये जाने वाले मूल्य के आधार पर ही होता है। समाज में उत्पादित वस्तुओं का वितरण मूल्य-यन्त्र की सहायता से किया जाता है। इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था में मूल्य यन्त्र (Price Mechanism) का एक विशेष महत्व है और मूल्य-यन्त्र मुद्रा की सहायता के बिना नहीं चल सकता है। एरिक रोल (Eric Roll) के अनुसार 'मुद्रा उस यन्त्र का अनिवार्य अंग है जो अनियोजित समाज को नियन्त्रित करता है।'[२५] मूल्य के द्वारा उपभोक्ता अपनी माग को सूचित करते हैं और मूल्य की सहायता से उत्पादक यह निश्चय करते हैं कि उन्हें क्या पैदा करना है। मूल्य-यन्त्र, उत्पत्ति, उपभोग, बचत, विनियोग तथा अन्य सभी आर्थिक क्रियाओं को निश्चित करता है। ए० पी० लर्नर (A. P. Lerner) ने मूल्य-यन्त्र के महत्व को बतलाते हुए कहा है—'किसी भी जटिल अर्थ-व्यवस्था के लिए मूल्य-यन्त्र के बिना सामान्य क्षमता के साथ चलना असम्भव है।'[२६] वर्तमान समाज में वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य मुद्रा के रूप में निश्चित किये जाते हैं इसलिए मुद्रा पूँजीवादी समाज का मुख्य आधार है और उसे हमारी अर्थ-व्यवस्था का रक्त कहा जा सकता है। पॉल ट्रेस्कोट (Paul Trescott) के अनुसार—'मुद्रा यदि हमारी अर्थ-व्यवस्था का हृदय नहीं है तो वह उसका रक्त प्रवाह अवश्य है।'[२७] आधुनिक पूँजीवादी समाज में मुद्रा के प्रयोग से प्राप्त होने वाले कुछ निश्चित लाभ निम्नलिखित हैं—

(१) **मुद्रा से उपभोक्ताओं को लाभ**—मुद्रा क्रय-शक्ति को सामान्य रूप प्रदान करती है जिससे उपभोक्ताओं के लिए यह सम्भव हो जाता है कि वे अपने धन को जिस प्रकार चाहे व्यय करें। मुद्रा की अनुपस्थिति में मनुष्यों को कुछ वस्तुयें आवश्यकता से अधिक और कुछ कम लेने के लिए बाध्य होना पडता था, किन्तु अब वे मुद्रा की सहायता से ठीक अपनी आवश्यकता के अनुसार ही वस्तुयें प्राप्त करते हैं। इस प्रकार वस्तुओं का अपव्यय काफी सीमा तक बच जाता है। समाज के द्वारा इस बात का अनुमान लगाना सम्भव हो गया है कि उपभोक्ता क्या चाहते हैं और कितना चाहते हैं। रावर्टसन के अनुसार

25 Thus money is 'indispensable part of the mechanism which regulates an otherwise planless society ' —*Eric Roll*, About Money, P 33-34.

26 'It is impossible for an economic system of any complexity to function with any reasonable degree of efficiency without a price-mechanism.' —*A. P. Lerner*.

27 'If money is not the heart of our economic system, it can certainly be considered its blood stream.'

—*Paul B. Trescott* Money, Banking and Economic Welfare, P. 3

'मुद्रा अर्थ-व्यवस्था का होना समाज को इस बात का पता लगाने में सहायता करता है कि लोग क्या चाहते है और कितना चाहते हैं तथा इस बात का निश्चय करने में कि क्या पैदा किया जायगा और कितना जिससे कि वह अपनी सीमित उत्पादन शक्ति का सर्वोत्तम प्रयोग कर सके।'[२८] मुद्रा के रूप मे उपभोक्ता के पास ऐसी सामान्य क्रय-शक्ति आ गई है जिसके द्वारा उसे प्रत्येक वस्तु प्राप्त करने का अधिकार मिल जाता है और वह विभिन्न स्थानो पर बनी विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का उपयोग कर सकता है। वस्तुयें कब खरीदी जाये, कहाँ से खरीदी जाये तथा खरीदी जाने वाली वस्तुओ की मात्रा और गुण के बारे मे मुद्रा उपभोक्ताओ को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करती है। मुद्रा की सहायता से मनुष्य अपने व्यय से अधिक से अधिक सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है। उपभोक्ता अपनी आय को मुद्रा के रूप मे सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार व्यय करके अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है। मुद्रा समाज के प्रत्येक सदस्य को यह अवसर देती है कि वह सन्तुष्टि के उपलब्ध साधनों से अधिक से अधिक वास्तविक लाभ उठा सके।

(२) मुद्रा से उत्पादकों को लाभ—वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादको के लिए मुद्रा विशेष महत्व रखती है। मुद्रा के प्रयोग के द्वारा उत्पादक के लिए यह सम्भव हो सका है कि वह अपना समस्त ध्यान उत्पादन सम्बन्धी बातों पर ही केन्द्रित रक्खे जिससे कि समाज मे अधिक वस्तुयें तथा सेवायें पैदा की जा सकें। अब उसे अपना समय उत्पत्ति के साधनो का भुगतान करने के लिए वस्तुओ को इकट्ठा करने मे नष्ट नही करना पड़ता है क्योंकि समस्त भुगतान मुद्रा के द्वारा निबटाये जाते हैं। मुद्रा की सहायता से उत्पत्ति के विभिन्न साधनो की ऐसी व्यवस्था करना सम्भव हो सका है जिससे कि अधिकतम उत्पादन किया जा सके। एच० जी० मोलटन (H. G. Moulton) के अनुसार उत्पत्ति के विभिन्न साधनो को एकत्रित करने के लिए मुद्रा एक अनिवार्य आवश्यकता है।[२९] मुद्रा के कारण ही

---

28 'The existence of a monetary economy helps society to discover what people want and how much they want it; and so to decide what shall be produced and in what quantities and to make the best use of its limited productive power.' —*D. H Robertson* : Money, P 5.

29 "Money is the indispensable pre-requisite to the assembling of the concrete instruments of production. The businessman uses money, or its equivalent to purchase materials for the construction of his factory; he uses money in buying the supplies and materials necessary for its equipment; he bids competitively in the markets of the world for the raw materials used in the process of manufacturing, and employs money as a means of attracting to his organisation the requisite labour force and corps of administrative officials."

—*H. G. Moulton* : The Financial Organisation of Society, 3rd ed. P. 3.

श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण सम्भव हो सका है जिससे अधिक और सस्ती वस्तुयें पैदा की जाती हैं। बेन्हाम (Benham) के अनुसार 'विशिष्टीकरण पर आधारित आज का आर्थिक जीवन मुद्रा के बिना असम्भव है।'[30] राबर्टसन (Robertson) ने भी मुद्रा को श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण के लिए आवश्यक माना है। उनके अनुसार 'यदि प्रत्येक व्यक्ति को अपना अधिकांश समय उत्पादित वस्तुओं को अपनी आवश्यकता की वस्तुओं के साथ बदलने में नष्ट करना पड़ता है तो विशिष्टीकरण तथा श्रम-विभाजन, जिन पर हमारा आर्थिक जीवन आधारित है, असम्भव हो जायेंगे।'[31] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आज की उत्पादन प्रणाली में मुद्रा एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। मुद्रा के द्वारा श्रमिकों तथा उत्पत्ति के अन्य साधनों का भुगतान किया जाता है, उसकी सहायता से बचत तथा विनियोग करना आसान हो गया है और वह वर्तमान साख व्यवस्था का आधार है।

(३) मुद्रा ऋणों के लेन-देन तथा अग्रिम भुगतानों को सुविधापूर्ण बनाती है—आज की उत्पादन व्यवस्था ऋणों के लेन-देन तथा अग्रिम भुगतानों (Advance Payments) पर आधारित है। प्रत्येक उत्पादक को उत्पादन आरम्भ करने से पूर्व काफी धन की आवश्यकता होती है जिसके द्वारा वह मशीनें तथा कच्चा माल खरीदता है, श्रमिकों को काम पर लगाता है और अपने उद्योग के दैनिक भुगतानों को निबटाता है। यह सब धन अधिकांश रूप से ऋणों के द्वारा प्राप्त किया जाता है। श्रमिकों को दिया जाने वाला वेतन भी एक प्रकार का अग्रिम भुगतान है जो उन्हें पूँजीपति उन वस्तुओं के बदले में देता है जो उनके द्वारा पैदा की जा रही है। इस प्रकार के अग्रिम भुगतान मुद्रा की सहायता के बिना सम्भव नहीं हैं। मुद्रा की अनुपस्थिति में ऋणों का लेन-देन इतनी अधिक मात्रा में नहीं किया जा सकता था। मुद्रा ऋणों के लेन-देन को सम्भव करके वर्तमान समाज की आर्थिक मशीन को सुचारू रूप से चलाने में बड़ी सहायता करती है।

(४) मुद्रा पूँजी को गतिशीलता प्रदान करती है—आजकल पूँजी का विनियोग मुद्रा के रूप में किया जाता है और उस पर प्राप्त होने वाले ब्याज का भुगतान भी मुद्रा के द्वारा ही होता है। मुद्रा एक तरल सम्पत्ति है जिसे आसानी से बैंकों में जमा किया जा सकता है, विभिन्न प्रकार के विनियोगों में लगाया जा सकता है तथा एक स्थान से दूसरे स्थान को सरलतापूर्वक हस्तान्तरित किया जा

---

30 "Modern economic life which is founded on specialisation would not be possible without money" —*Benham* Economics, P 427

31 "The specialisation and division of labour on which our economic structure is founded would be impossible if every man had to spend a large part of his time and energies in bartering his products for the materials of his industry and the goods which he requires for his own consumption"

—*D. H. Robertson* : Money, P 7

सकता है। मुद्रा के रूप मे पूंजी का होना उसे गतिशीलता प्रदान करता है जिसके कारण पूंजी को एक विनियोग से हटाकर दूसरे विनियोग मे आसानी से लगाया जा सकता है तथा आवश्यकता पडने पर उसका स्थान परिवर्तन किया जा सकता है। विनियोग करने वाला जब चाहे अपनी पूंजी को विनियोग से निकाल सकता है। पूंजी की इस गतिशीलता के कारण समाज को अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। मुद्रा केवल पूंजी को गतिशीलता ही प्रदान नही करती है बल्कि वह समाज मे बचत तथा विनियोग को भी प्रोत्साहित करती है। लोग आसानी से मुद्रा के रूप मे अपने धन को बचा सकते हैं तथा उसे लाभपूर्ण विनियोग मे भी लगा सकते हैं। इस प्रकार मुद्रा आर्थिक विकास की आधारभूत दशायें उत्पन्न करती है।

(५) **मुद्रा आर्थिक विकास की दशायें उत्पन्न करती है**—मानव समाज की आर्थिक प्रगति मुद्रा के विकास के साथ सम्बन्धित रही है। मुद्रा के आविष्कार तथा विकास के साथ ही आर्थिक प्रगति का युग प्रारम्भ होता है। मुद्रा रहित समाज प्राय: पिछडी हुई दशा मे रहते थे। मुद्रा ने समाज मे आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा किया है तथा लोगो को प्रगति करने के लिए आर्थिक प्रोत्साहन (Economic Incentive) भी दिया है। आज की जटिल अर्थ-व्यवस्था तथा प्रगतिशील उत्पादन प्रणाली मुद्रा के बिना असम्भव प्रतीत होती है। अर्थ-व्यवस्था को बनाये रखने तथा उसमे स्थिरता स्थापित रखने के लिए मुद्रा एक महत्वपूर्ण साधन है। किसी देश की मुद्रा प्रणाली का वहाँ के आर्थिक विकास पर गहरा प्रभाव पडता है। मुद्रा को आर्थिक विकास का सूचक (Index) भी माना जा सकता है। किसी देश की मुद्रा प्रणाली को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह देश आर्थिक विकास की किस अवस्था मे है। आधुनिक एव सुसगठित मुद्रा प्रणाली का होना देश के प्रगतिशील होने का सूचक है।

(६) **मुद्रा आर्थिक तथा सामाजिक स्वतंत्रता प्रदान करती है**—पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे प्राप्त होने वाली विभिन्न प्रकार की आर्थिक स्वतन्त्रताएँ मुद्रा के कारण ही सम्भव हो सकी है। उपभोक्ताओ, उत्पादको तथा श्रमिको की विभिन्न स्वतन्त्रताएँ मुद्रा के बिना सभव नही हो सकती हैं। उपभोग सम्बन्धी स्वतन्त्रता तथा उपभोक्ताओ की सार्वभौमिकता (Sovereignty of the Consumer) मुद्रा के कारण ही स्थापित की जा सकी है। उत्पादन प्रणाली का स्वतन्त्र रूप भी बहुत कुछ मुद्रा की देन है। *डा० मार्शल के अनुसार 'मुद्रा अर्थ-व्यवस्था के विकास ने ही* आज की स्वतन्त्र व्यवसाय प्रणाली को सम्भव किया है।' श्रमिकों की व्यवसाय चुनने की आजादी भी मुद्रा के कारण सम्भव हो सकी है। आर्थिक स्वतन्त्रता के साथ मुद्रा ने सामाजिक स्वतन्त्रता को स्थापित करने मे भी बडा योग दिया है। दास प्रथा का अन्त तथा श्रमिको की सामाजिक स्वतन्त्रता बहुत कुछ मुद्रा की देन है। जब तक लगान और मजदूरी का भुगतान वस्तुओ के रूप मे होता था, श्रमिकों तथा किसानों को पूंजीपतियो व भू-स्वामियो के आधीन रहना पडता था किन्तु

अब लगान और मजदूरी मुद्रा के रूप में दिये जाने के कारण इन वर्गों को सामाजिक तथा आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई।

समाजवादी समाज और मुद्रा (Money in a Socialist Society)—

समाजवादी व्यवस्था केन्द्रीय निर्देशन एवं नियोजन पर आधारित होती है। उत्पत्ति के साधनों पर समाज का अधिकार होता है और उनका प्रयोग जनहित के लिए किया जाता है। कौनसी वस्तुयें पैदा की जानी है और कितनी मात्रा में उनका उत्पादन किया जाना है इसका निर्णय मूल्य-यन्त्र के द्वारा न होकर सरकार के द्वारा किया जाता है। अतः समाजवादी समाज में मूल्य-यन्त्र का उतना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं होता है जितना की पूँजीवादी व्यवस्था में है किन्तु फिर भी समाजवादी व्यवस्था मूल्य-यन्त्र की सहायता के बिना नहीं चल सकती है। मुद्रा प्रणाली और समाजवादी व्यवस्था परस्पर विरोधी नहीं हैं। कुछ समाजवादी लेखकों के अनुसार पूर्ण समाजवाद में मुद्रा का कोई स्थान नहीं है और समाजवाद की स्थापना के साथ मुद्रा को समाप्त कर देना चाहिए जिससे कि समाज को मुद्रा के दोषों से मुक्त किया जा सके। कुछ समाजवादी देशों में मुद्रा को समाप्त करने के प्रयत्न भी किये गये किन्तु वे अधिक सफल नहीं हो सके हैं।

अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि समाजवादी व्यवस्था भी मुद्रा के बिना कुशलतापूर्वक नहीं चल सकती है। आधुनिक समाजवादी लेखकों के अनुसार समाजवाद में भी आर्थिक निर्णय करने के लिए मूल्य-यन्त्र की आवश्यकता होती है। यद्यपि मूल्य-यन्त्र आर्थिक व्यवस्था का नियन्त्रक नहीं होता है किन्तु उसका प्रयोग एक उपयोगी यन्त्र के रूप में अवश्य किया जा सकता है। समाजवादी समाज में भी नियोजन सत्ता (Planning Authority) के सम्मुख चुनाव की समस्या रहती है। अल्प साधनों को विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाँटना होता है, विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन लक्ष्य निश्चित करने होते हैं तथा साधनों के बटवारे की विभिन्न योजनाओं की तुलना करनी होती है। यह सब कुछ मूल्य-यन्त्र की सहायता से ही किया जाता है। साधनों के विवेकपूर्ण तथा आदर्श उपयोग के लिए आर्थिक हिसाब (Economic Calculation) आवश्यक है जो केवल मुद्रा तथा मूल्य-यन्त्र की सहायता से ही सम्भव है। समाजवादी नियोजन में मुद्रा की अनिवार्यता को ट्रॉटस्की (Trotsky) ने भी स्वीकार किया है। उनके अनुसार, "सरकारी कार्यालयों द्वारा तैयार की गई योजनाओं (blueprints) को भी अपनी आर्थिक उपयुक्तता व्यवसायिक गणनाओं (Commercial Calculations) के द्वारा स्थापित करनी चाहिए। एक स्थिर मौद्रिक इकाई के बिना इस प्रकार की गणनायें समाज में केवल अव्यवस्था को बढ़ा सकती हैं।"[32] लेनिन (Lenin) जैसे महान् साम्यवादी नेता भी समाजवादी

32 "The blueprints produced by offices must demonstrate their economic expediency through commercial calculation. Without a firm monetary unit commercial accounting can only increase the chaos."

—*L. D. Trotsky*: Soviet Economy in Danger, P. 30.

अर्थ-व्यवस्था के लिए मुद्रा को आवश्यक समझते थे। इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्री भी एक मत हैं कि आर्थिक हिसाब (Economic Calculation) के बिना कोई भी जटिल अर्थ-व्यवस्था ठीक प्रकार से नही चल सकती है और आर्थिक हिसाब के लिए मुद्रा का होना आवश्यक है। हॉम (Halm) ने समाजवादी व्यवस्था मे मुद्रा के महत्व को बताते हुये लिखा है कि "यदि उत्पादन लक्ष्य एक डिक्टेटर (Dictator) के द्वारा निश्चित किये जायें तब भी इन लक्ष्यो के अनुसार साधनो का बटवारा मूल्य-यन्त्र (Price mechanism) के द्वारा ही किया जायेगा क्योकि उसकी सहायता से ही विभिन्न प्रयोगो मे उपलब्ध साधनो की उपयोगिता की तुलना की जा सकती है।"[33] उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाजवादी समाज मे भी मुद्रा की उपयोगिता कम नही है और उसे एक लाभपूर्ण सस्था के रूप मे जारी रखा जा सकता है। यही कारण है कि रूस, युगोस्लेविया, पोलैंड तथा चीन जैसे समाजवादी देशो मे भी मुद्रा तथा मूल्य-यन्त्र का प्रयोग बराबर किया जा रहा है।

मुद्रा के दोष (Evils of Money)—

उपरोक्त कथन से प्रतीत होता है कि मुद्रा प्रत्येक व्यवस्था मे एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। वह आज के आर्थिक जीवन की मुख्य चालक शक्ति है। यद्यपि मुद्रा मनुष्य मात्र के लिए एक बहुत बडी देन है किन्तु उसका प्रयोग दोषरहित नही है। जब कभी भी वह नियन्त्रण से बाहर हो जाती है तो हमारा आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है और प्रगति रुक जाती है। इसलिए कभी-कभी यह कहा जाता है कि मुद्रा समाज मे बुराई का प्रतीक है। मुद्रा के कारण समाज मे बहुत से आर्थिक तथा सामाजिक दोष उत्पन्न होते है। मुद्रा समाज के लिए तभी तक उपयोगी है जब तक कि हम उसकी बुराइयो से बच सकते हैं किन्तु यदि वह हमारे ऊपर अपना बुरा प्रभाव डालने मे कामयाब हो जाती है तो वह समाज के लिए एक बहुत बडा अभिशाप भी बन सकती है। मुद्रा समाज मे निम्नलिखित दोषों को उत्पन्न कर सकती है—

(१) मुद्रा एक बहुत बड़ा धोखा है—प्राय लोग मुद्रा और क्रय-शक्ति मे भेद नही कर पाते है और मुद्रा के टुकडो को ही वस्तुयें तथा सेवायें समझ बैठते हैं जबकि वे केवल *उन्हें प्राप्त करने का साधन मात्र हैं। मुद्रा प्रणाली मे हमारी आर्थिक* क्रियायें मुद्रा के पर्दे से इस प्रकार छुपी रहती हैं कि हम उनके वास्तविक रूप को नही समझ पाते है। ऋणो का लेन-देन, बचत तथा विनियोग की क्रियायें सब मुद्रा

33 "Even if the aims of production should be determined by a dictator, the allocation of resources according to these aims would have to be the result of the working of a pricing process by means of which it is possible to compare the usefulness of the available resources in different fields of employment." —*George N. Halm*: Monetary Theory, 2nd ed. P. 13.

की सहायता से की जाती हैं जिसके कारण कभी-कभी विशेष बुराई पैदा हो जाती है। कई बार ऐसी वस्तुयें उधार दे दी जाती हैं जिनका अभी तक निर्माण नहीं हुआ है। मुद्रा प्रसार के समय में ऐसा ही होता है। मुद्रा की मात्रा वस्तुओं की अपेक्षा तेजी के साथ बढ़ती है, मजदूरों की मजदूरी भी बढ़ती है किन्तु वस्तुयें प्राप्त न होने के कारण विशेष कठिनाई होती है।

(२) **मुद्रा का मूल्य निश्चित नहीं रहता है**—मुद्रा के प्रयोग से सबसे बड़ा दोष उसका मूल्य निश्चित न रहने के कारण पैदा होता है। यद्यपि मुद्रा मूल्य मान तथा ऋणों के अन्तिम भुगतान के साधन के रूप में प्रयोग की जाती है किन्तु अपना मूल्य स्थिर न रहने के कारण वह इन कार्यों को भली प्रकार नहीं कर पाती है। यदि मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों का सब लोगों पर एक-सा प्रभाव पड़े तो कोई बुराई नहीं है। वास्तव में ऐसा नहीं होता है और मुद्रा के मूल्य परिवर्तन का प्रभाव विभिन्न लोगों पर भिन्न-भिन्न पड़ता है। कुछ लोगों को आकस्मिक लाभ होते हैं और कुछ को अनावश्यक हानि उठानी पड़ती है। समाज में धन का वितरण बदल जाता है और इस प्रकार मुद्रा के प्रयोग से सामाजिक अन्याय का जन्म होता है। मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों का उत्पत्ति के ऊपर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। मुद्रा संकुचन के कारण उत्पादन का गिरना तथा बेकारी की समस्या पैदा हो जाती है और मुद्रा प्रसार के समय अत्यधिक उत्पादन, गिरती हुई वास्तविक आय तथा आवश्यकता से अधिक विनियोग के कारण अर्थ-व्यवस्था को बहुत हानि उठानी पड़ती है। मुद्रा का मूल्य जल्दी-जल्दी बदलने से आर्थिक जीवन में अनिश्चितता पैदा होती है जिसका आर्थिक प्रगति पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(३) **मुद्रा के कारण व्यापार-चक्र आते हैं**—मुद्रा रहित समाज में जो कुछ बचत की जाती थी उस सबका विनियोग कर दिया जाता था और किसी प्रकार के असंतुलन का भय नहीं रहता था। किन्तु वर्तमान समाज में मुद्रा का प्रयोग होने के कारण समस्या बहुत जटिल हो गई है। बचत और विनियोग मुद्रा के रूप में किया जाता है और बचत तथा विनियोग करने वाले व्यक्ति अलग-अलग होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कभी विनियोग की मात्रा बचत की अपेक्षा अधिक हो जाती है और कभी बचत की मात्रा विनियोग से अधिक। इस प्रकार के असंतुलन के कारण ही व्यापार-चक्र आते हैं जो आज के आर्थिक जीवन का अभिशाप बन गये हैं।

(४) **मुद्रा ने पूँजीवाद की दोषपूर्ण प्रणाली को जन्म दिया है**—वर्तमान पूँजीवाद का विकास बहुत कुछ मुद्रा के कारण ही सम्भव हो सका है। अत. मुद्रा पूँजीवादी व्यवस्था के समस्त दोषों के लिए भी जिम्मेदार है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में उत्पत्ति के साधन कुछ लोगों के हाथों में ही एकत्रित हो जाते हैं। आर्थिक क्रियायें केवल धन प्राप्त करने के उद्देश्य से की जाती हैं और समाज में धन का वितरण असमान रहता है और अधिकांश लोगों के साथ सामाजिक न्याय

नही किया जाता है। यह सब दोष मुद्रा के प्रयोग के कारण ही पैदा हुये है। एक मुद्रा रहित समाज पूँजीवाद के इन दोषो से प्राय मुक्त रहता था। मुद्रा के कारण ही विभिन्न प्रकार के पूँजीवादी शोषण सम्भव हो सके है।

(५) **मुद्रा के सामाजिक दोष**—मुद्रा केवल आर्थिक बुराइयों के लिए ही जिम्मेदार नही है बल्कि हमारा सामाजिक तथा नैतिक पतन भी बहुत कुछ मुद्रा के कारण ही हुआ है। मुद्रा ने हमारा ध्यान लक्ष्यो से हटाकर साधनो पर केन्द्रित कर दिया है। प्राचीन नैतिक विचारों का स्थान अधिक मुद्रा कमाने ने ले लिया है। आज मनुष्य मुद्रा का उपासक बन गया है और उसे प्राप्त करने के लिए चोरी, जालसाजी, बेईमानी तथा अन्य प्रकार के अनैतिक साधनो का प्रयोग किया जाता है। मुद्रा आज वस्तुओ तथा सेवाओ को ही नही मापती है वरन् व्यक्तियो का माप भी बन गई है। मुद्रा पर आधारित आज की सभ्यता सामाजिक तथा नैतिक भ्रष्टाचार का केन्द्र बन गई है। रस्किन (Ruskin) के अनुसार 'मुद्रा दानव ने आत्माओं पर अधिकार कर लिया है और कोई भी धर्म तथा दर्शनशास्त्र उसे बाहर निकालने की शक्ति रखता हुआ प्रतीत नही होता है।'[34] मुद्रा के सामाजिक तथा नैतिक दोषों की व्याख्या करते हुए वॉन मीजेज (Von Mises) ने लिखा है कि 'मुद्रा को चोरी, हत्या, छल तथा प्रतिज्ञा भग करने का कारण माना जा सकता है। जब वैश्या अपना शरीर अथवा न्यायाधीश अपना न्याय बेचता है तो मुद्रा को ही दोष दिया जाता है। चरित्रवादी जब अत्यधिक भौतिकवाद की आलोचना करना चाहता है तो वह मुद्रा का विरोध करता है। प्रत्येक प्रकार के लालच को मुद्रा-प्रेम कहा जा सकता है तथा सब बुराइयो को लालच से उत्पन्न हुआ मानना काफी ठीक है।"[35]

मुद्रा का नियन्त्रण (Control of Money)—

उपरोक्त दोषो के आधार पर कभी-कभी यह कह दिया जाता है कि मुद्रा मनुष्य के लिए अभिशाप बन गई है। वास्तव मे ऐसा नही है क्योकि इनमे से अधिकाश दोष मुद्रा के दुरुपयोग के कारण पैदा होते है। यदि मुद्रा का उचित प्रयोग किया जाय तो वह मानव समाज के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है। मुद्रा के दोष उससे प्राप्त होने वाले लाभो की अपेक्षा बहुत कम है और उन्हे मुद्रा के सही प्रबन्ध के द्वारा दूर किया जा सकता है। मुद्रा कोई स्वयं दोषपूर्ण वस्तु

---

34 'The devil of money has come to possess their souls. No religion or philosophy seems to have the power of driving it out.' —*Ruskin.*

35 'Money is regarded as the cause of theft and murder, of deception and betrayal. Money is blamed when the prostitute sells her body and when the bribed judge perverts the law. It is money against which the moralist declaims when he wishes to oppose excessive materialism. Significantly enough avrice is called the love of money and all evil is attributed to it.' —*Ludwig Von Mises* : The Theory of Money and Credit, P. 93.

नहीं है। किन्तु यदि हम ठीक प्रकार से उसका प्रबन्ध नहीं करते हैं तो वह नियन्त्रण से बाहर हो जाती है और उसके कारण समाज में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि मुद्रा का सही प्रबन्ध किया जाय तथा उसे उचित नियन्त्रण में रक्खा जाय। ऐसा करने से मुद्रा को समाज के लिए अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। मुद्रा का नियन्त्रण करना इसलिए आवश्यक है क्योंकि वह हमारी समस्त आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि मुद्रा कभी भी नियन्त्रण से बाहर हो सकती है और समाज के लिए विभिन्न प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न कर सकती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि 'मुद्रा एक अच्छा सेवक है किन्तु बुरा स्वामी।'[36] अनियन्त्रित मुद्रा समाज के लिए अभिशाप सिद्ध हो सकती है। रावर्टसन ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'मुद्रा जो मानव समाज के लिए अनेक लाभों का स्रोत है, यदि हम उसे नियन्त्रित नहीं करते हैं तो वह अव्यवस्था तथा कठिनाइयों का कारण भी बन सकती है।'[37] जब तक मुद्रा को नियन्त्रण में रक्खा जाता है तब तक वह आर्थिक जीवन में एक उपयोगी संस्था का काम देती है किन्तु नियन्त्रण से बाहर होते ही वह समाज के लिए अभिशाप बन जाती है। मुद्रा के दोषों से बचने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा की मात्रा पर कड़ा नियन्त्रण रक्खा जाय। मुद्रा का उचित प्रबन्ध तथा नियन्त्रण मुद्रा अधिकारियों का काम है क्योंकि मुद्रा अपना प्रबन्ध स्वयं नहीं कर सकती है।[38] अतः यह कहा सकता है कि मुद्रा को उसके दोषों के कारण त्यागने की आवश्यकता नहीं है वरन् उसका सही प्रबन्ध होने की आवश्यकता है जिससे कि उसके दोषों से बचा जा सके।

मुद्रा और आर्थिक विकास—

प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा को निष्क्रिय माना है। उनके अनुसार वह केवल विनिमय के माध्यम का कार्य करती है और समाज में आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित नहीं कर सकती है। वर्तमान अर्थशास्त्री इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार मुद्रा केवल आर्थिक क्रियाओं को ठीक प्रकार से चलने में सहायता ही नहीं करती है बल्कि वह उन्हें सीधा प्रभावित भी कर सकती है। आज के समाज में इस गतिशील कार्य (Dynamic Role) के कारण मुद्रा का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। वर्तमान समाज में मुद्रा उत्पत्ति तथा रोजगार की मात्रा को प्रभावित कर सकती है। मुद्रा की सहायता से समाज में उत्पादन की मात्रा में वृद्धि की जा सकती है, रोजगार के स्तर को ऊपर उठा सकते हैं तथा लोगों की आय में वृद्धि कर सकते

36 'Money is a good servant but a bad master.'

37 'Money which is a source of so many blessings to mankind, becomes also, unless we control it, a source of peril and confusion.'

—*D. H Robertson*. Money, P. 16

38 'Money will not manage itself.' —*Walter Bagehot.*

है। इस प्रकार मुद्रा हमारी महत्वपूर्ण आर्थिक क्रियाओ को सीधा प्रभावित कर सकती है।

आजकल मुद्रा को आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण साधन समझा जाता है। विशेषतया पत्र मुद्रा का प्रयोग अल्प विकसित देशो के विकास के लिए किया जा सकता है। यद्यपि पत्र मुद्रा स्वय पूंजी नही है किन्तु वह समाज मे पूंजी को कार्य-शील करती है। उसके द्वारा बेकार साधनो को काम मे लगाया जा सकता है और उत्पादन तथा रोजगार की मात्रा मे वृद्धि की जा सकती है। जिन देशो मे उत्पत्ति के साधन बेकार पडे है वहाँ पर कागजी मुद्रा का विस्तार करके इन साधनों को प्रयोग मे लाया जा सकता है। यदि नई मुद्रा का प्रयोग कारखाने लगाने, विकास योजनाओ को बनाने अथवा लोगो के लिए रोजगार के अवसर बढाने के लिए किया जाता है तो यह मुद्रा का गतिशील कार्य (Dynamic Role) है। बेकार साधनो के काम मे लगाने से उत्पत्ति की मात्रा बढती है, लोगो को अधिक रोजगार मिलता है तथा उनकी आय मे वृद्धि होती है। इस प्रकार पत्र मुद्रा का प्रयोग आर्थिक विकास के लिए किया जा सकता है किन्तु मुद्रा के इस प्रकार के प्रयोग मे मुद्रा स्फीति का भय रहता है इसलिए आर्थिक विकास के लिए मुद्रा का विस्तार नियन्त्रित तथा नियमित गति से किया जाना चाहिए।

परीक्षा-प्रश्न

(१) "मुद्रा एक अच्छा सेवक है किन्तु बुरा स्वामी है।" व्याख्या कीजिये।
(आगरा बी० ए० १९६४, सागर बी० ए० १९५७)

(२) "मुद्रा वही है जो मुद्रा का कार्य करती है।" इस कथन को पूर्णतः समझाइये। यदि अचानक ही मुद्रा लुप्त हो जाय तो इसका क्या परिणाम होगा?"
(आगरा बी० ए० १९६३ व १९५६, पटना १९५३, आगरा बी० काम० १९५६)

(३) समाज में मुद्रा के आर्थिक महत्व को समझाइये।
(आगरा बी० ए० १९६२)

(४) मुद्रा के आकस्मिक कार्यों का स्पष्ट वर्णन कीजिये। उन्हें आकस्मिक क्यों कहा जाता है तथा मुद्रा के अन्य कार्य क्या हैं?
(आगरा बी० काम० १९६०)

(५) मुद्रा की आलोचनात्मक परिभाषा कीजिये तथा उसकी प्रकृति को समझाइये।
(आगरा बी० काम० १९५९)

(६) मुद्रा से आप क्या समझते हैं ? एक आधुनिक समाज में इसके मुख्य कार्यों पर प्रकाश डालिये। (आगरा बी० काम० १९५८)

(७) मुद्रा के आर्थिक प्रभावों का विवेचन करिये। (राजस्थान बी० ए० १९५८)

(८) मुद्रा की परिभाषा करिये और उसके कार्यों पर प्रकाश डालिये ? (राजस्थान बी० ए० १९५६)

(९) डच अर्थशास्त्री एन० जी० पियर्सन ने मुद्रा की उपमा किसी स्टेशन पर शन्टिग कर रहे इन्जिन से दी है, जो एक समय डिब्बों की किसी पंक्ति को खींचता है और दूसरे समय दूसरी पंक्ति को ढकेलता है, इसका काम प्रत्येक डिब्बे को सही-सही पटरी पर लाना होता है, ताकि वह अपने स्थान पर पहुँच जाय। इसकी व्याख्या कीजिये और मुद्रा के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिये। (सागर बी० काम० १९५५)

(१०) मुद्रा के कार्यों की पूर्ण व्याख्या कीजिये। उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं को इसके लाभों को पूर्णतया समझाइये। (विक्रम बी० ए० १९५९, आगरा बी० ए० १९६०)

(११) "मुद्रा के आविष्कार ने बहुत सीमा तक आर्थिक क्रियाओं को प्रोत्साहन दिया है।" विवेचन कीजिये। क्या आप आधुनिक युग में एक निष्पक्ष मुद्रा की कल्पना कर सकते हैं ? (बिहार बी० काम १९५९)

(१२) एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा के कार्य तथा उसके महत्व को समझाइये। (राजस्थान बी० ए० १९५४)

(१३) वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा के महत्व को बतलाइये। (अलीगढ़ बी० ए० १९५६)

(१४) मुद्रा की परिभाषा दीजिये। तरल सम्पत्ति के रूप में उसके महत्व की व्याख्या कीजिये। (आगरा बी० ए० १९६० स)

(१५) मुद्रा के कार्यों का वर्गीकरण एवं विवेचन करिये और यह दिखाइये कि मुद्रा के प्रयोग द्वारा उत्पादन एवं विनिमय किस प्रकार आसान हो गये हैं ? (बिहार बी० काम १९५८)

३

मुद्रा का वर्गीकरण

KINDS OF MONEY

मुद्रा की प्रकृति को समझने के लिए विभिन्न प्रकार की मुद्राओं के विषय में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। मुद्रा के वर्गीकरण के द्वारा ही यह जाना जा सकता है कि मुद्रा कितने प्रकार की होती है तथा अनेक प्रकार की मुद्रा की प्रकृति एव गुण क्या हैं ? विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने मुद्रा का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से किया है। मुद्रा के कुछ महत्वपूर्ण वर्गीकरण निम्नलिखित है—

(अ) वास्तविक मुद्रा तथा हिसाबी मुद्रा (Actual Money and Money of Account) ।

(ब) विधिग्राह्य मुद्रा तथा ऐच्छिक मुद्रा (Legal Tender Money and Optional Money) ।

(स) धातु मुद्रा तथा पत्र मुद्रा (Metallic Money and Paper Money) ।

(अ) वास्तविक मुद्रा तथा हिसाबी मुद्रा

(Legal Tender Money and Money of Account)

लार्ड केन्स (Lord Keynes) ने वास्तविक मुद्रा तथा हिसाबी मुद्रा मे सूक्ष्म एवं महत्वपूर्ण भेद किया है। उनके अनुसार मुद्रा दो प्रकार की हो सकती है—(i) मुख्य मुद्रा (Money Proper) तथा (ii) हिसाबी मुद्रा (Money of Account) । प्रो० सैलिगमैन (Seligman) ने उन्हे वास्तविक मुद्रा तथा आदर्श मुद्रा (Ideal Money) कहा है और बेनहाम (Benham) के अनुसार उन्हे चलन की इकाई (Unit of Currency) तथा हिसाब की इकाई (Unit of Account) कहा जा सकता है। केन्स (Keynes) के अनुसार दिया गया मुद्रा का वर्गीकरण निम्न प्रकार है—
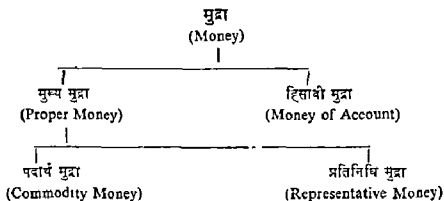
मुख्य मुद्रा (Proper Money)—प्रो० केन्स (Keynes) के अनुसार वास्तविक मुद्रा वह है जिसको देकर सब प्रकार के भुगतानो को निबटाया जाता है तथा जिसके रूप में सामान्य क्रय-शक्ति का सचय किया जाता है।[1] जितने प्रकार की मुद्रा चलन मे होती है वह सब ही वास्तविक मुद्रा है। जिस मुद्रा के देने से ऋणों को चुकाया जाता है अथवा वस्तुओ के मूल्यो का भुगतान होता है, उसे वास्तविक मुद्रा कहते हैं। भारतवर्ष मे रुपये तथा पैसे के समस्त सिक्के एव चलन मे रहने वाले विभिन्न प्रकार के करसी नोट वास्तविक मुद्रा हैं। इसी प्रकार अमेरिका मे डालर तथा सैंट के सिक्के और डालर नोट वास्तविक मुद्रा है। अत वास्तविक मुद्रा वह है जिसका विभिन्न प्रकार के भुगतानों को निबटाने के लिए वास्तव मे प्रयोग किया जाता हो।

हिसाबी मुद्रा (Money of Account)—हिसाबी मुद्रा वह है जो चलन मे नही रहती है और जिसका प्रयोग केवल लेखे की इकाई के रूप मे किया जाता है। इस मुद्रा के रूप मे वस्तुओ के मूल्य बताये जाते हैं तथा ऋणों का हिसाब-किताब रक्खा जाता है। केन्स (Keynes) के अनुसार 'हिसाबी मुद्रा वह है जिसमे ऋणों, कीमतो तथा सामान्य क्रय-शक्ति को व्यक्त किया जाता है।'[2] हिसाबी मुद्रा का प्रयोग केवल हिसाब-किताब रखने के लिए किया जाता है। इस प्रकार की मुद्रा का वास्तविक रूप से चलन मे रहना आवश्यक नही है। हिसाबी मुद्रा वास्तविक मुद्रा का वर्णन मात्र है। वास्तविक मुद्रा वह वस्तु है जो इस वर्णन को व्यावहारिक रूप देती है।[3] जब यह कहा जाता है कि अमुक वस्तु का मूल्य २५ रुपये है अथवा

---

1 "Money itself is that by delivery of which debt-contracts and price-contracts are discharged, and in the shape of which a store of General Purchasing Power is held "—*J M Keynes*. A Treatise on Money, vol I, P. 3.

2 "Money-of-Account is that in which Debts and General Purchasing Power are expressed." —*J M, Keynes* A Treatise on Money, vol. I, P. 3.

3 "Money of account is the description or title and the money is the thing which answers to the description "

—*J. M. Keynes*. A Treatise on Money, vol I, P. 4.

अमुक व्यक्ति को १०० रुपये का ऋण देना है तो यहाँ पर रुपया हिसाबी मुद्रा का कार्य करता है। भारतवर्ष मे प्राचीन काल से ही लेखे की इकाई के रूप मे रुपया, आने, पाई का प्रयोग होता रहा है किन्तु अब उसके स्थान पर रुपये और पैसो का प्रयोग आरम्भ हो गया है

वास्तविक मुद्रा तथा हिसाबी मुद्रा का अन्तर इतना सूक्ष्म है कि साधारण व्यक्ति के लिए उसे समझना कठिन है। वास्तविक मुद्रा से तो हम सब लोग परिचित है कि हिसाबी मुद्रा केवल एक सैद्धान्तिक तथ्य है। हिसाबी मुद्रा वास्तविक मुद्रा का केवल एक वर्णन मात्र है। वास्तविक मुद्रा चलन मे रहने वाली मुद्रा का व्यवहारिक रूप है और हिसाबी मुद्रा उसका सैद्धान्तिक रूप है। वास्तविक मुद्रा मे परिवर्तन हो सकता है। उसका वजन, आकार तथा उसमे पाई जाने वाली वस्तु बदल सकती है किन्तु हिसाबी मुद्रा मे परिवर्तन नही होता है। भारतवर्ष मे बहुत प्राचीन काल से हिसाबी मुद्रा रुपया चली आ रही है किन्तु चलन मे रहने वाली वास्तविक मुद्रा मे अनेक परिवर्तन हुए हैं। बहुत समय पहले रुपया शुद्ध चाँदी का होता था, फिर धीरे-धीरे चाँदी की मात्रा कम होती गई और आज रुपया कागज अथवा गिलट का होता है। साधारणत प्रत्येक देश मे जिस मुद्रा का प्रयोग विनिमय माध्यम के रूप मे तथा अर्थ सचय के लिए किया जाता है, वही मुद्रा हिसाब-किताब रखने के काम मे भी लाई जाती है। परन्तु कभी-कभी हिसाबी मुद्रा और वास्तविक मुद्रा पृथक् भी हो सकती है। इगलैंड मे बहुत समय तक वस्तुओ का मूल्य गिन्नी मे बताने का रिवाज था और वह हिसाबी मुद्रा का कार्य करती थी पर वास्तव मे गिन्नी का सिक्का चलन मे नही था और पौंड वास्तविक मुद्रा का कार्य करता रहा है। प्रथम युद्ध के पश्चात् जर्मनी मे फ्रैंक (Franc) अथवा अमेरिकन डॉलर (Dollar) हिसाब-किताब की मुद्रा थी किन्तु वास्तव मे भुगतान निबटाने के लिए जर्मन मार्क का ही प्रयोग किया जाता था।

वास्तविक मुद्रा भी दो प्रकार की हो सकती है। (i) वस्तु मुद्रा (Commodity money) तथा (ii) प्रतिनिधि मुद्रा (Representative money)। वस्तु मुद्रा को पूर्ण मुद्रा (Full bodied money) भी कहा जाता है। वस्तु मुद्रा वह मुद्रा होती है जो किसी धातु की बनी हो और जिसका धातु मूल्य उस पर लिखित मूल्य के बराबर हो। प्रत्येक सिक्के मे उस पर अकित मूल्य के बराबर धातु पाई जाती है। सोने, चाँदी तथा अन्य धातुओ के बने सम्पूर्ण सिक्के जिनका आन्तरिक और बाहरी मूल्य लगभग बराबर हो, पूर्ण-मुद्रा कहलाते हैं। वस्तु मुद्रा विनिमय के माध्यम के रूप मे प्रयोग की जाती है और मूल्यवान होने के कारण धन का सचय भी उसी के रूप मे किया जाता है।

प्रतिनिधि मुद्रा (Representative money) वह मुद्रा है जो स्वयं मूल्यवान नही होती है किन्तु मूल्यवान मुद्रा का प्रतिनिधित्व करती है। इसमें वह समस्त मुद्रा

सम्मिलित है जो स्वतन्त्रतापूर्वक विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग की जाती है किन्तु उसमें मूल्य का संचय नही किया जा सकता है। सब प्रकार की कागजी मुद्रा प्रतिनिधि मुद्रा है। इस प्रकार की मुद्रा को प्रायः वस्तु मुद्रा के बदलने में सुविधा दी जाती है। यद्यपि वह मुद्रा स्वयं मूल्य के संचय का कार्य नही करती है किन्तु वह मूल्य का सूचक तथा प्रतिनिधि होती है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर उसे पदार्थ मुद्रा में बदला जा सकता है।

(ब) विधिग्राह्य मुद्रा तथा ऐच्छिक मुद्रा
(Legal Tender Money and Optional Money)

प्रो० डी० एच० राबर्टसन (D. H. Robertson) ने बैंक मुद्रा (Bank Money) तथा सामान्य मुद्रा (Common Money) में भेद किया है। सामान्य मुद्रा को भी उन्होने कानूनी स्वीकृति के आधार पर तीन वर्गों में बाँट दिया है। राबर्टसन के द्वारा दिया गया मुद्रा का वर्गीकरण निम्न प्रकार है—

मुद्रा
(Money)

- बैंक मुद्रा (Bank Money)
- साधारण मुद्रा (Common Money)
    - विधिग्राह्य मुद्रा (Legal Tender Money)
        - सीमित विधिग्राह्य (Limited Legal Tender)
        - असीमित विधिग्राह्य (Unlimited Legal Tender)
    - ऐच्छिक मुद्रा (Optional Money)
    - गौण मुद्रा (Subsidiary Money)
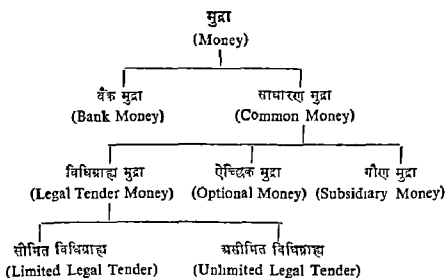
विधिग्राह्य मुद्रा (Legal Tender Money)—वह मुद्रा है जिसके द्वारा देश के भीतर हर प्रकार के भुगतान किये जा सकते है। इस मुद्रा को भुगतान के साधन के रूप में सरकारी मान्यता प्राप्त होती है व लोगों को कानूनन इसे विभिन्न प्रकार के भुगतानो के लिए स्वीकार करना होता है। इस मुद्रा को स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होती है। यदि कोई व्यक्ति इसे लेने से इन्कार करता है तो उसे कानून के द्वारा दण्ड दिया जा सकता है। हमारे देश में रुपये का सिक्का, करन्सी नोट तथा अन्य प्रकार के सिक्के विधिग्राह्य मुद्रा हैं किन्तु किसी बैंक पर लिखा गया चैक (cheque) विधिग्राह्य मुद्रा नहीं है। अत. विधि-ग्राह्य मुद्रा वह

मुद्रा होती है जिसे भुगतान के साधन के रूप में सरकारी तथा वैधानिक स्वीकृति प्राप्त होती है।

विधिग्राह्य मुद्रा दो प्रकार की हो सकती है—सीमित विधिग्राह्य तथा असीमित विधिग्राह्य। सीमित विधिग्राह्य मुद्रा देश की उस मुद्रा को कहते हैं जिसे विभिन्न प्रकार के भुगतानों को निबटाने के लिए केवल एक निश्चित सीमा तक ही स्वीकार किया जाता है। इस सीमा के पश्चात् उसे लेने से इन्कार किया जा सकता है। इस प्रकार की मुद्रा किसी भी सीमा तक लेने के लिए लोगो को विवश नही किया जा सकता है। भारतवर्ष मे १ पैसे से लेकर २५ पैसे तक के सभी सिक्के सीमित विधिग्राह्य हैं क्योंकि उन्हे निश्चित सीमा तक ही लोगो को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। वह मुद्रा असीमित विधिग्राह्य होती है जिसे किसी भी सीमा तक भुगतान निबटाने के लिए लोगों को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना होता है। इस प्रकार की मुद्रा स्वीकृति की कोई सीमा निश्चित नहीं होती है। चाहे कितना भी बडा भुगतान क्यों न हो उसे वैधानिक रूप से इस मुद्रा के द्वारा निबटाया जा सकता है। भारतवर्ष मे ५० पैसे तथा एक रुपये के सिक्के और समस्त करसी नोट असीमित विधिग्राह्य हैं।

ऐच्छिक मुद्रा (Optional Money)—विधिग्राह्य मुद्रा के अतिरिक्त देश मे कुछ ऐसी मुद्रा भी चलती है जिसे सरकारी मान्यता प्राप्त नही होती है और लोग उसे केवल अपनी इच्छा से ही स्वीकार करते हैं। इस मुद्रा को लेने के लिए किसी व्यक्ति को बाध्य नहीं किया जा सकता है और इसकी स्वीकृति लेने वालों की इच्छा पर निर्भर होती है। यद्यपि इस प्रकार की मुद्रा को भुगतान निबटाने के लिए आम तौर से प्रयोग किया जाने लगा है किन्तु यदि कोई चाहे तो इसे लेने से इन्कार कर सकता है। इस प्रकार की मुद्रा का चलन-क्षेत्र सीमित होता है और उसकी स्वीकृति लोगो की व्यक्तिगत साख के ऊपर निर्भर होती है। यदि लेने वाले को भुगतान करने वाले पर विश्वास है तो वह उसके द्वारा दी जाने वाली ऐच्छिक मुद्रा को स्वीकार कर लेता है अथवा नही।

गौण मुद्रा (Subsidiary Money)—इसमें सस्ती धातु के बने हुए वे सिक्के सम्मिलित होते हैं जो प्रमाणिक सिक्कों की सहायता के लिए चलाये जाते हैं। ये साधारणतया थोड़ी कीमत के सिक्के होते हैं और छोटे-भुगतानो को निबटाने के लिए काम मे लाये जाते है। गौण मुद्रा प्राय सांकेतिक होती है और उसका अंकित मूल्य आन्तरिक मूल्य से बहुत अधिक होता है। इनकी ढलाई स्वतन्त्र नही होती और ये सिक्के सदा ही सीमित विधिग्राह्य होते हैं। इन सिक्को का देश की प्रमाणिक मुद्रा से निश्चित सम्बन्ध रहता है। हमारे देश मे नये पैसे के समस्त सिक्के तथा अन्य प्रकार की रेजगारी गौण मुद्रा हैं।

(स) धातु मुद्रा व पत्र मुद्रा
(Metallic Money and Paper Money)

मुद्रा का यह वर्गीकरण उस वस्तु के आधार पर किया गया है जिसकी वह बनी हुई होती है। मुद्रा वस्तु की प्रकृति के आधार पर मुद्रा को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—(i) धातु मुद्रा तथा (ii) पत्र मुद्रा। प्राचीन काल से मुद्रा के रूप मे विभिन्न वस्तुओ का प्रयोग किया जाता रहा है किन्तु आजकल मुद्रा या तो कागज की बनती है या किसी धातु की। वर्तमान युग मे धातु मुद्रा का स्थान धीरे-धीरे पत्र मुद्रा ने ले लिया है और धातु के सिक्के केवल गौण मुद्रा (Subsidiary Money) के रूप में ही चलाये जाते हैं। मुद्रा बनाने के लिए मूल्यवान धातुओ का प्रयोग कम होता जा रहा है और उनके स्थान पर प्राय सस्ती धातुओ के सिक्के बनाये जाते है।

धातु मुद्रा
(Metallic Money)

वह मुद्रा जो किसी धातु की बनी हो धातु मुद्रा कहलाती है। इस प्रकार की मुद्रा को पूर्ण मुद्रा (Fullbodied Money) भी कहा जाता है। हमारे देश मे चलने वाला रुपये का सिक्का तथा नये पैसे के समस्त सिक्के धातु मुद्रा है। धातु मुद्रा भी दो प्रकार की हो सकती है—(क) प्रमाणिक मुद्रा तथा (ख) सांकेतिक मुद्रा।

(क) प्रमाणिक मुद्रा (Standard Money)—

वह मुद्रा है जो देश में मूल्य मान का कार्य करती है और जिसके द्वारा देश मे चलने वाली अन्य सब प्रकार की मुद्राओं का मूल्य नापा जाता है। यह देश की मुख्य मुद्रा होती है और प्राय सोने और चांदी की बनाई जाती है। प्रमाणिक मुद्रा की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(१) प्रमाणिक सिक्कों की मुक्त ढलाई की जाती है—जनता को यह स्वतन्त्रता होती है कि वे किसी भी मात्रा मे अपना सोना या चाँदी टकसाल पर ले जाकर उसे सिक्को मे ढलवा सकते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि मुद्रा की माग और पूर्ति मे अपने आप सतुलन बनता रहता है और किसी प्रकार के सरकारी प्रबन्ध की आवश्यकता नही पडती है। सिक्को की ढलाई कभी नि शुल्क की जाती है और कभी उसके लिए कुछ खर्च लिया जाता है।

(२) प्रमाणिक सिक्के देश की मुख्य मुद्रा होते हैं—सब प्रकार के भुगतानों को निबटाने के लिए मुख्यत प्रमाणिक सिक्को का प्रयोग किया जाता है। अन्य सब प्रकार की मुद्रायें केवल उसकी सहायता के लिए चलाई जाती है और उनका मूल्य भी प्रमाणिक मुद्रा के द्वारा ही नापा जाता है।

(३) प्रमाणिक सिक्कों का अंकित मूल्य तथा आन्तरिक मूल्य बराबर होता है—इन सिक्को में एक निश्चित शुद्धता वाली धातु निश्चित वजन में पाई जाती है। प्रत्येक सिक्के में उतने ही मूल्य की धातु पाई जाती है जितना मूल्य उस पर अंकित है। यदि इन्हे गलाकर धातु के रूप में बेचा जाय तो उतना ही मूल्य मिल जाता है जितने मूल्य का वह सिक्का है। अतः प्रमाणिक मुद्रा के निहित मूल्य और अंकित मूल्य मे कोई अन्तर नही होता है।

(४) प्रमाणिक सिक्के असीमित विधिग्राह्य होते हैं—प्रमाणिक सिक्के को किसी भी सीमा तक विभिन्न प्रकार के भुगतानो को निबटाने के लिए सरकारी मान्यता प्राप्त होती है। इन सिक्कों को प्रत्येक व्यक्ति को असीमित मात्रा तक लेने के लिए कानूनन मजबूर किया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति इन्हे लेने से इन्कार करता है तो उसे दण्ड दिया जाता है।

(ख) सांकेतिक मुद्रा (Token Money)—

इस मुद्रा के अन्तर्गत वे सब सिक्के आ जाते हैं जिनका अंकित मूल्य उनके आन्तरिक मूल्य से अधिक होता है। यह सिक्के सस्ती धातुओ के बनाये जाते है और इनमे पाई जाने वाली धातु का मूल्य सिक्के के अंकित मूल्य से बहुत कम होता है। ऐसे सिक्को का मूल्य उनमे पाई जाने वाली धातु के ऊपर निर्भर नही होता है, बल्कि सरकारी आदेश के द्वारा निश्चित किया जाता है। इसीलिए इन्हे आदिष्ट मुद्रा (Fiat Money) भी कहा जाता है। इन सिक्को की स्वतन्त्र ढलाई नही की जाती है और सरकार केवल एक निश्चित मात्रा मे इन्हे जारी करती है। यह देश की मुद्रा नही होती है और इसे केवल प्रमाणिक मुद्रा की सहायता के लिए चलाया जाता है। इस प्रकार की मुद्रा केवल एक निश्चित सीमा तक ही विधिग्राह्य होती है।

साकेतिक मुद्रा मुख्यतः दो उद्देश्यो से चलाई जाती है—(१) बहुमूल्य धातुओ की बचत करने के लिए। जब सरकार के पास बहुमूल्य धातुओ की कमी होती है और अधिक मुद्रा जारी करना अनिवार्य होता है तो सरकार साकेतिक सिक्के चला कर इस कमी को पूरा करती है। ऐसा करने से बहुमूल्य धातुओ की बचत होती है और सोने व चांदी की थोडी मात्रा से बहुत अधिक मात्रा मे मुद्रा जारी कर दी जाती है। (२) कभी-कभी साकेतिक सिक्को को जारी करने का उद्देश्य जनता के द्वारा सिक्को को गलाये जाने की प्रवृत्ति को रोकना भी होता है। जब सिक्को मे पाई जाने वाली धातु का मूल्य इतना अधिक बढ जाता है कि सिक्के का अंकित मूल्य उसके निहित मूल्य से कम रह जाता है तो लोग इन सिक्कों को पिघला डालते है और लाभ उठाते है। ऐसी स्थिति को रोकने के लिए सरकार सिक्को मे पाई जाने वाली धातु की शुद्धता को कम करके उन्हें साकेतिक सिक्का बना देती है।

इस सम्बन्ध में भारतीय रुपये की स्थिति विचित्र है। न तो उसे पूर्णतया प्रमाणिक सिक्का ही कहा जा सकता है और न साकेतिक ही। जब तक भारतीय

रुपये में लगभग एक रुपये के मूल्य की चाँदी पाई जाती थी वह प्रमाणिक सिक्का था। १८९३ से पहले भारतीय रुपये का अंकित मूल्य और धातु मूल्य बराबर होता था और प्रत्येक रुपये में १६ आने के मूल्य की चाँदी होती थी। रुपये की स्वतन्त्र ढलाई होती थी और टकसाल जनता के लिए खुली थी। इस समय तक रुपया पूर्णतया प्रमाणिक सिक्का था। १८९३ के पश्चात् रुपये का अंकित मूल्य उसके आन्तरिक मूल्य से अधिक रक्खा जाने लगा, टकसाल जनता के लिए बन्द कर दी गई और रुपये को सांकेतिक सिक्का बना दिया गया। वर्तमान निकल का रुपया प्रमाणिक सिक्का नहीं है क्योंकि उसका आन्तरिक मूल्य उस पर अंकित मूल्य से बहुत कम है। उसकी मुक्त ढलाई भी नहीं की जाती है। इन्हीं कारणों से भारतीय रुपये को सांकेतिक सिक्का कहा जा सकता है। किन्तु वह सांकेतिक सिक्का होते हुए भी प्रमाणिक मुद्रा का कार्य करता है। रुपया ही हमारे देश की मुख्य मुद्रा है और समस्त मूल्य उसके द्वारा नापे जाते हैं। वह असीमित विधिग्राह्य भी है। इसीलिए कुछ लेखकों ने भारतीय रुपये को प्रमाणिक सांकेतिक सिक्का (Standard Token Coin) माना है।

पत्र मुद्रा
(Paper Money)

आजकल धातु मुद्रा के साथ-साथ पत्र मुद्रा का प्रयोग भी किया जाता है। पत्र मुद्रा ही वर्तमान समाज में मुख्य मुद्रा का कार्य करती है और धातु मुद्रा उसकी सहायक मात्र रह गई है। यद्यपि पत्र मुद्रा का प्रयोग पिछले ५० वर्षों में ही बढ़ा है किन्तु आज वह विनिमय का मुख्य माध्यम बन गई है। विनिमय की बढ़ती हुई आवश्यकता को पूरा करने के लिए तथा बहुमूल्य धातुओं के प्रयोग में बचत करने के उद्देश्य से पत्र मुद्रा का प्रयोग आरम्भ हुआ था। पत्र मुद्रा के प्रयोग में विशेष सुविधा रहती है क्योंकि उसके द्वारा बड़े-बड़े भुगतानों को आसानी से निबटाया जा सकता है तथा उसे सुविधापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाया जा सकता है। धातु मुद्रा के चलन में रहने से जो सिक्कों की घिसावट आदि के कारण नुकसान होता था, वह पत्र मुद्रा में नहीं होता है। पत्र मुद्रा का प्रयोग होने से सोने और चाँदी की बहुत अधिक बचत करना सम्भव हो सका है। इन सब सुविधाओं के कारण ही पत्र मुद्रा का प्रयोग निरन्तर बढ़ता जा रहा है और प्रगतिशील देशों में तो उसका प्रयोग इतना अधिक होने लगा है कि धातु मुद्रा का महत्व लगभग समाप्त हो चुका है। आरम्भ में पत्र मुद्रा को जारी करने का अधिकार केवल सरकार को होता था किन्तु अब यह काम देश के केन्द्रीय बैंक के द्वारा किया जाने लगा है।

पत्र मुद्रा मुख्यतः चार प्रकार की हो सकती है—(i) प्रतिनिधि पत्र मुद्रा (Representative paper money); (ii) परिवर्तनीय पत्र मुद्रा (Convertible

paper money); (iii) अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा (Inconvertible paper money) और (iv) प्रादिष्ट मुद्रा (Fiat money)।

(i) प्रतिनिधि पत्र मुद्रा (Representative Paper Money)—

आरम्भ काल में नोट जारी करने का मुख्य उद्देश्य मूल्यवान धातुओं की घिसावट के कारण होने वाली हानि को रोकना था और पत्र मुद्रा केवल सुरक्षित कोष मे रक्खे सोने व चाँदी के प्रतिनिधि के रूप मे काम करती थी। जनता को यह विश्वास दिलाया जाता था कि वास्तविक मुद्रा तो सोना और चाँदी ही है, पत्र मुद्रा तो केवल उसकी ही प्रतिनिधि है। पत्र मुद्रा मे जनता का विश्वास बनाये रखने के लिए तथा अत्यधिक निकासी को रोकने के लिए नोटो के पीछे उनके मूल्य के बराबर सोना व चाँदी सुरक्षित कोष मे रक्खा जाता था। **जब नोटों के पीछे शतप्रतिशत मूल्य का सोना अथवा चाँदी सुरक्षित कोष में रक्खी जाती है तो इस प्रकार की पत्र मुद्रा को प्रतिनिधि मुद्रा कहा जाता है।** इसे प्रतिनिधि मुद्रा इसलिए कहा जाता है, क्योकि वह सुरक्षित कोष मे रक्खे सोने व चाँदी का प्रतिनिधित्व करती है। प्रतिनिधि पत्र मुद्रा पूर्णतया सोने और चाँदी मे परिवर्तनशील होती है। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार होता है कि वह अपनी मुद्रा के बदले सोना अथवा चाँदी प्राप्त कर सके। कुछ समय तक अमरीका मे प्रतिनिधि मुद्रा के रूप मे सोने और चाँदी के प्रमाण-पत्र (Gold and Silver Certificates) चलाये जाते थे। अमरीकन सरकार इन प्रमाण-पत्रो के पीछे पूरे मूल्य का सोना तथा चाँदी कोषागार मे जमा रखती थी और उन्हे किसी भी समय सोने और चाँदी मे बदलने की गारन्टी देती थी।

प्रतिनिधि पत्र मुद्रा के लाभ—

(१) प्रतिनिधि मुद्रा का सबसे बडा लाभ यह है कि **इस प्रकार की पत्र मुद्रा में जनता का बहुत अधिक विश्वास होता है** क्योकि नोटों को किसी भी समय सोने और चाँदी मे बदलने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाती है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि वह जब चाहे अपने नोटो के बदले मे सोना व चाँदी प्राप्त कर सकता है। **(२) प्रतिनिधि मुद्रा के प्रयोग से सोने और चांदी की बचत हो जाती है।** बहुमूल्य धातुओं को चलन मे नही रक्खा जाता है और वे केवल सुरक्षित कोष के रूप मे केन्द्रीय बैंक अथवा सरकार के पास रहती है। इस प्रकार सिक्को की घिसावट आदि के कारण होने वाली हानि से सरकार बिल्कुल बच जाती है। **(३) प्रतिनिधि मुद्रा सबसे अधिक सुरक्षित होती है।** इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली मे मुद्रा प्रसार का भय बिल्कुल नही होता है। नोटो के पीछे शतप्रतिशत धात्विक कोष रखना अनिवार्य होता है, इसलिए अत्यधिक निकासी की सम्भावना समाप्त हो जाती है।

प्रतिनिधि पत्र मुद्रा के दोष—

इन सब गुणो के होते हुए भी प्रतिनिधि मुद्रा का प्रयोग बहुत कम किया गया है। उसमें कुछ ऐसे दोष पाये जाते है जिनके कारण उसका प्रयोग अधिक

सुविधाजनक नही होता है। (१) **प्रतिनिधि मुद्रा में बहुत अधिक व्यय करना होता है।** नोटो के पीछे शतप्रतिशत कोष रखने के लिए सरकार को बहुत बडी मात्रा मे सोना और चांदी बन्द करके रखना होता है, जिन्हे किसी अन्य प्रयोग मे नही लाया जा सकता है। (२) **इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली मे लोच का गुण नहीं पाया जाता है।** मुद्रा की आवश्यकता बढने पर अधिक मुद्रा जारी करना सम्भव नही होता है क्योकि प्रत्येक जारी किये जाने वाले नोट के पीछे उसके बराबर मूल्य का सोना रखना होता है। सकट काल मे इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली का टूट जाना अनिवार्य है क्योकि ऐसे समय में अधिक सोना और चांदी नही प्राप्त किया जा सकता है। (३) **गरीब देशों के लिए प्रतिनिधि मुद्रा अनुपयुक्त है।** ऐसे देशो के लिए, बहुमूल्य धातुओ के पर्याप्त मात्रा मे न होने के कारण, प्रतिनिधि मुद्रा जारी करना सम्भव नहीं होता है।

(ii) परिवर्तनीय पत्र मुद्रा (Convertible Paper Money)—

जिस पत्र मुद्रा के बदले मे सरकार एक निश्चित दर से सोना या चाँदी देने की गारन्टी करती है, उसे परिवर्तनीय मुद्रा कहा जाता है। प्रतिनिधि पत्र मुद्रा के दोषो को दूर करने के लिए इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली का विकास हुआ। यह अनुभव किया गया कि नोटो के पीछे शतप्रतिशत स्वर्ण निधि रखने की आवश्यकता नही है क्योकि सब नोट एक साथ परिवर्तन के लिए नही आ सकते हैं। जारी की जाने वाली पत्र मुद्रा के पीछे केवल एक निश्चित अनुपात मे ही सोना और चाँदी रख कर उनकी परिवर्तनशीलता को बनाये रक्खा जा सकता है। इस प्रणाली मे, चलन मे रहने वाली पत्र मुद्रा के केवल एक भाग के पीछे सोने और चाँदी का सुरक्षित कोष रक्खा जाता है और शेष मुद्रा के पीछे केवल कागजी प्रतिभूतियाँ होती हैं। पत्र मुद्रा का वह भाग जिसके पीछे धात्विक कोष होता है, उसे रक्षित मुद्रा (Covered Issue) कहा जाता है और जिस भाग के पीछे सोना नही होता है और जो प्रतिभूतियो के आधार पर जारी की जाती है उसे विश्वासाश्रित मुद्रा (Fiduciary Issue) कहा जाता है। विदेशी भुगतानो को निबटाने के लिए सरकार सोने या चाँदी का एक कोष रखती है। सरकार इस बात की गारन्टी देती है कि कोई भी व्यक्ति अपने नोटो को एक निश्चित दर पर सोने या चाँदी में बदल सकता है।

परिवर्तनीय पत्र मुद्रा के लाभ—

(१) **इस प्रणाली मे बहुमूल्य धातुओं की काफी बचत हो जाती है।** पत्र मुद्रा के पीछे शतप्रतिशत धातु कोष नही रक्खा जाता है और नोटो की कीमत से बहुत कम कीमत का सोना व चाँदी सुरक्षित कोष मे रहता है। इस प्रकार बहुमूल्य धातुओ के प्रयोग मे बहुत बचत हो जाती है। (२) **यह प्रणाली बहुत लोचदार है।** आवश्यकता पड़ने पर नोटो की मात्रा को आसानी से बढाया जा सकता है। इस प्रणाली मे थोड़े से धात्विक कोष के आधार पर कई गुनी अधिक पत्र मुद्रा जारी की

जा सकती है। जनता का विश्वास भी इस प्रकार की पत्र मुद्रा में बना रहता है। नोटो को किसी भी समय धातु मुद्रा मे बदला जा सकता है और लोग विदेशी भुगतानों के लिए सरकार से सोना अथवा चाँदी प्राप्त कर सकते है। गरीब देश भी इस प्रकार की पत्र मुद्रा को जारी कर सकते है क्योकि इस प्रणाली मे अधिक सोने और चाँदी की आवश्यकता नही पडती है। (४) **परिवर्तनीय पत्र मुद्रा प्रणाली में मुद्रा प्रसार पर नियन्त्रण रहता है।** अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा की अपेक्षा परिवर्तनीय पत्र मुद्रा अधिक सुरक्षित होती है क्योकि उसमे अत्यधिक निकासी का भय कम रहता है। परिवर्तनीय पत्र मुद्रा के इस गुण को बताते हुए क्राउथर (Crowther) ने लिखा है कि "जब तक परिवर्तनशीलता का दायित्व रहता है, यह पत्र मुद्रा जारी करने वाली संस्था पर कठोर प्रतिबन्ध रखती है।

परिवर्तनीय पत्र मुद्रा के दोष—

(१) **मुद्रा प्रसार का भय।** क्योकि नोटों के मूल्य के बराबर सोना उनके पीछे नही रक्खा जा सकता है इसलिए अत्यधिक निकासी का भय बना रहता है सरकार इस प्रकार की पत्र मुद्रा का दुरुपयोग कर सकती है। यदि प्रतिभूतियो के आधार पर सरकार बहुत अधिक मात्रा मे नोट जारी कर देती है तो मुद्रा प्रसार के कारण देश का आर्थिक व सामाजिक जीवन दूषित हो जाता है। (२) **प्रतिनिधि मुद्रा की अपेक्षा इस प्रकार की मुद्रा में जनता का विश्वास कम होता है।** नोटो के पीछे केवल आंशिक कोप ही रक्खा जाता है जिसके कारण सकट काल मे जनता का विश्वास मुद्रा मे बनाये रखना कठिन हो जाता है। (३) **परिवर्तनीय पत्र मुद्रा केवल अनुकूल परिस्थिति मे ही सम्भव है।** युद्ध-काल मे जब सरकार को अधिक मात्रा मे मुद्रा जारी करना आवश्यक हो जाता है तो मुद्रा की परिवर्तनशीलता को समाप्त करना पडता है। यह सम्भव हो सकता है कि सरकार मे जनता का विश्वास कम हो जाने के कारण लोग पत्र मुद्रा के बदले मे अधिक सोने की माँग करने लगें, जिसे पूरा करना सरकार के लिए सम्भव नही होता है और ऐसी स्थिति में मुद्रा की परिवर्तनशीलता समाप्त हो जाती है।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अधिकाश देशो मे इसी प्रकार की पत्र मुद्रा चलती थी। १९२५ मे इगलैंड तथा फ्रास ने इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली को अपनाया। सरकार नोटो की परिवर्तनशीलता को बनाये रखने के लिए पत्र मुद्रा के बदले मे एक निश्चित दर पर सोना बेचती थी। भारतवर्ष मे १९२७ मे हिल्टन यग कमीशन (Hilton Young Commission) की सिफारिश पर पत्र मुद्रा को परिवर्तनशील कर दिया गया। कोई भी व्यक्ति अपने नोटो के बदले मे कम से कम ४० तोले की सोने की सलाखें २१ रुपये ७ आने १० पाई प्रति तोला के हिसाब से

4 "So long as the obligation to convert remains, it imposes a severe restraint upon the note issuing authority."

—*Crowther*: An Outline of Money.

सरकार से ले सकता था। सन् १९३१ मे लगभग सब देशो ने स्वर्णमान को त्याग दिया और उसके साथ ही परिवर्तनशील पत्र मुद्रा का भी अन्त हो गया।

(iii) अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा (Inconvertible Paper Money)—

जिस पत्र मुद्रा के बदले मे सरकार सोने व चांदी देने की कोई गारन्टी नहीं देती है, उसे अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा कहा जाता है। परिवर्तनीय मुद्रा का अन्त हो जाने पर लगभग सभी देशों मे अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा का प्रयोग किया जाने लगा। अब पत्र मुद्रा मे जनता का विश्वास इतना बन चुका था कि नोटो के पीछे बहुत मामूली सुरक्षित कोष रखा जा सकता था। मुद्रा की आवश्यकता बढ जाने से तथा बहुमूल्य धातुओ की कमी के कारण नोटो के पीछे अनुपातिक धात्विक कोष रखना सम्भव नही था और पत्र मुद्रा को अपरिवर्तनीय घोषित कर दिया गया। इस प्रकार की पत्र मुद्रा केवल सरकार की साख के आधार पर जारी की जाती है और उसके पीछे किसी प्रकार का धात्विक कोष नही रक्खा जाता है। सरकारी प्रतिभूतियो तथा अन्य साख पत्रो की आड पर ही इस मुद्रा को जारी किया जाता है। अपरिवर्तनीय मुद्रा केवल सीमित मात्रा मे ही जारी की जाती है किन्तु समय-समय पर सरकार उसकी मात्रा को बढाती रहती है। आरम्भ मे इस प्रकार की मुद्रा को केवल सकट काल मे ही जारी किया जाता था। इसलिए कुछ लेखको ने इसे सकटकालीन मुद्रा भी कहा है। किन्तु अब तो इस प्रकार की मुद्रा का प्रयोग स्वाभाविक समझा जाने लगा है।

अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा के लाभ—

अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा मे कुछ ऐसे लाभ हैं जिनके कारण उसका प्रचलन निरन्तर बढता जा रहा है। इस प्रकार की पत्र मुद्रा से मिलने वाले मुख्य लाभ इस प्रकार हैं—(१) **अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा में मितव्ययिता का गुण पाया जाता है।** नोटो के पीछे किसी प्रकार का धात्विक कोष नही रखना पडता है जिसके कारण बहुमूल्य धातुओ के प्रयोग मे काफी बचत हो जाती है। प्रतिनिधि तथा परिवर्तनीय मुद्राओ की अपेक्षा यह प्रणाली अधिक मितव्ययितापूर्ण है। (२) **यह प्रणाली बहुत अधिक लोचदार है।** पत्र मुद्रा के अपरिवर्तनीय हो जाने पर आवश्यकता के अनुसार कितनी भी मात्रा मे नोट चलाये जा सकते हैं। इस प्रणाली मे नोटो की मात्रा का सुरक्षित कोष के साथ कोई सम्बन्ध नही रहता है और मुद्रा का विस्तार बडी आसानी के साथ किया जा सकता है। एक प्रगतिशील समाज के लिए इस प्रकार की मुद्रा विशेष उपयुक्त है क्योंकि उसके द्वारा समाज की मुद्रा के लिए बढती हुई मांग को पूरा किया जा सकता है। (३) **इस मुद्रा का व्यवहारिक महत्व अधिक है।** सोने व चांदी की कमी के कारण प्रतिनिधि एव परिवर्तनीय पत्र मुद्रा का व्यवहारिक महत्व बहुत कम रह गया है। अधिकाश देश इस प्रकार मुद्रायें चलाने की स्थिति मे नही है और उनके लिए अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा को स्वीकार करना अनिवार्य हो गया है।

अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा के दोष—

(१) मुद्रा प्रसार का भय बहुत बढ़ जाता है—सुरक्षा की दृष्टि से अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा को अच्छी मुद्रा नही कहा जा सकता है। अन्य प्रकार की पत्र मुद्राओ की अपेक्षा अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा प्रणाली मे मुद्रा प्रसार का भय सबमे अधिक होता है। नोटो के पीछे किसी प्रकार का धात्विक कोष रखना आवश्यक नही रहता है, जिसके कारण सरकार मनमाने ढग से मुद्रा का विस्तार कर सकती है। आवश्यकता से अधिक मुद्रा हो जाने पर मूल्य-स्तर बढ जाता है और उसके कारण मुद्रा का मूल्य गिर जाता है। विभिन्न देशो के अनुभव इस बात की पुष्टि करते हैं। क्राउथर (Crowther) के अनुसार "मौद्रिक इतिहास मे अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा का लगभग प्रत्येक अनुभव मौद्रिक अस्थिरता के साथ सम्बद्ध रहा है।"[५] जब भी परिवर्तनशीलता को हटाया जाता है तो अत्यधिक मात्रा मे पत्र मुद्रा जारी करने का लोभ काफी बढ जाता है जिसके कारण अपरिवर्तनशीलता और अत्यधिक निकासी साथ-साथ चलते है। टॉमस (Thomas) ने भी अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा के इस दोष की ओर सकेत किया है। उनके अनुसार 'अपरिवर्तनीय मुद्रा का सबसे बडा दोष यह है कि उसमे ऐसा कोई निश्चित तथा स्वय सचालित तरीका नही होता है जिससे कि वर्तमान माँग को पूरा करने के लिए केवल पर्याप्त मुद्रा ही जारी की जाय और मुद्रा प्रसार को दूर रख कर समाज को अपनी सामान्य आर्थिक क्रियाओं एव प्रगति के लिए पर्याप्त मुद्रा दी जा सके।'[६] **(२) अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा में जनता का विश्वास बनाये रखना बहुत कठिन होता है।** नोटो को धातु मुद्रा मे न बदला जाने के कारण लोग आरम्भ काल मे इस प्रकार की मुद्रा को भार स्वरूप मानते थे और केवल शक्तिशाली सरकार ही इसका प्रयोग कर सकती थी। जनता का विश्वास मुद्रा मे न होने के कारण किसी भी समय इस प्रणाली के टूट जाने का भय रहता था। किन्तु अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि पत्र मुद्रा के पीछे सुरक्षित कोष रखकर उसे परिवर्तनीय बनाये रखने की कोई आवश्यकता नही है। सुरक्षित निधि केवल इसलिए रक्खी रहनी चाहिए कि सकट काल मे विदेशी भुगतानो को निबटाने के लिए उसका प्रयोग किया जा सके। सुरक्षित कोष मे और नोटो की मात्रा मे किसी प्रकार का सम्बन्ध नही होना चाहिए। दोषपूर्ण होते हुए भी आजकल यह प्रणाली लगभग सब देशों मे अपना ली गई है। इस प्रकार की पत्र मुद्रा से पूर्ण

---

5 "Nearly every experience of inconvertible bank notes known to monetary history has been associated with monetary instability."

—*Crowther* : An Outline of Money, P. 17.

6 "The great disadvantage of an inconvertible currency is that there is no certain automatic method of ensuring that only sufficient money is issued to satisfy current demands and that while inflation is avoided the community is provided with sufficient money for its normal economic activity and progress." —*S. E. Thomas* : Elements of Economics, P. 336.

लाभ उठाने के लिए अनिवार्य है कि मुद्रा का प्रबन्ध इस प्रकार किया जाय कि अत्यधिक निकासी न होने पाये और मुद्रा के मूल्य में स्थिरता को बनाये रखा जा सके।

(iv) प्रादिष्ट मुद्रा (Fiat Money)—

प्रादिष्ट पत्र मुद्रा और अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा में कोई विशेष भेद नही है। प्रादिष्ट मुद्रा अपरिवर्तनीय मुद्रा का एक विशेष रूप है। जब अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा संकट काल में जारी की जाती है तो उसे प्रादिष्ट मुद्रा कहते हैं। इस प्रकार की मुद्रा के पीछे कोई धात्विक कोष नही होता है और ये नोट सिक्के या धातु में नहीं बदले जा सकते हैं। इनकी परिवर्तनशीलता के विषय में सरकार किसी प्रकार की गारन्टी नहीं देती है। इसे प्रादिष्ट मुद्रा इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसे सरकारी आदेश के द्वारा लोगों को लेने के लिए बाध्य किया जाता है। इस प्रकार की मुद्रा को लोग इसलिए स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि वह स्वयं मूल्यवान है अथवा मूल्यवान धातुओं में बदली जा सकती है बल्कि इसलिए स्वीकार किया जाता है क्योंकि उसे सरकारी मान्यता प्राप्त होती है। जब सरकार किसी विशेष कठिनाई में होती है तो वह इस प्रकार की पत्र मुद्रा जारी किया करती है क्योंकि इसके द्वारा सरकार अपने ऋणों को तथा अन्य प्रकार के भुगतानों को आसानी से निबटा सकती है। इस प्रकार की मुद्रा जनता से जबर्दस्ती लिया जाने वाला एक प्रकार का ऋण है जिस पर ब्याज नही दिया जाता है। इस प्रकार की मुद्रा की केन्ट (Kent) के अनुसार तीन प्रमुख विशेषतायें हैं—(i) प्रादिष्ट मुद्रा का वस्तु मूल्य बहुत कम अथवा शून्य के बराबर होता है (ii) उसे किसी भी सामान्य मूल्य वाली वस्तु के साथ नहीं बदला जा सकता है तथा (iii) उसकी क्रय-शक्ति को सोना आदि किसी वस्तु के मूल्य के साथ सम्बन्धित नही रखा जाता है। इस प्रकार की पत्र मुद्रा में अपरिवर्तनशील मुद्रा के सब दोष पाये जाते हैं। प्रादिष्ट मुद्रा यदि बहुत अधिक मात्रा में जारी कर दी जाय तो मुद्रा प्रसार के रूप में उसके भयंकर परिणाम हो सकते हैं। किन्तु यदि मुद्रा का सही प्रबन्ध कर लिया जाय तो उसके दोषो से बचा जा सकता है। फ्रांस की क्रान्ति के अवसर पर जारी किये गये ऐसाइनेट (Assignats) तथा अमरीकन गृह-युद्ध (American Civil War) काल में जारी किये गये ग्रीनबैक्स (Greenback) प्रादिष्ट पत्र मुद्रा (Fiat Money) के मुख्य उदाहरण हैं। प्रथम महायुद्ध में जारी किये गये जर्मन मार्क (German Mark) तथा दूसरे विश्व-युद्ध में चलाई गई समस्त पत्र मुद्रा अपरिवर्तनीय थी।

सिक्के और उनकी ढलाई
(Coins and Coinage)

"धातु मुद्रा अथवा सिक्के एक निश्चित शुद्धता तथा वजन के धातु के उन टुकड़ों को कहते हैं जिनके दोनों ओर देश की सरकार की मोहर लगी होती है और

जो मुद्रा के रूप मे चलाये जाते है।" अच्छे सिक्को मे पाये जाने वाले कुछ आवश्यक गुण इस प्रकार हैं—(१) वे सुविधाजनक आकार के होने चाहिएँ। (२) वे इस प्रकार बनाये गये हो कि टूट-फूट तथा घिसावट की सम्भावना कम से कम हो। (३) उनका आकार ऐसा होना चाहिए कि नकली सिक्के बनाना अथवा सिक्को के किनारे काटना सम्भव न हो सके। (४) उन पर सुन्दर सरकारी मोहर लगी होनी चाहिए। वर्तमान सिक्के इन सब विशेषताओ को पूरा करते हैं इसलिए उन्हे पूर्ण सिक्के कहा जाता है। आज के सिक्को का विकास काफी लम्बे काल मे हुआ है और उनमे काफी सुधार करने के पश्चात् ही उन्हे वर्तमान रूप दिया जा सका है। यह तो ठीक-ठीक नही कहा जा सकता कि सिक्को का प्रयोग कब आरम्भ हुआ किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि बहुत प्राचीन काल से उनका प्रयोग होता आ रहा है। ऐतिहासिक खोज के आधार पर पता चलता है कि सर्वप्रथम लिडिया (Lydia) देश मे सिक्कों का प्रयोग किया गया। मिश्र तथा अन्य देशो ने भी सिक्को को ढालने की कला के विकास मे महत्वपूर्ण सहयोग दिया है।

धातु मुद्रा को वर्तमान स्थिति तक पहुँचने के लिए विकास की विभिन्न अवस्थाओ मे से गुजरना पडा है। सर्वप्रथम जब वस्तु-विनिमय को त्याग कर धातु मुद्रा को अपनाया गया तो धातु के विभिन्न आकार तथा वजन के टुकडो एव सलाखो का प्रयोग मुद्रा के रूप मे किया जाता था। जिस धातु को मुद्रा के लिए निश्चित किया जाता था उसके विभिन्न प्रकार के टुकडे चलन मे रहते थे और विनिमय के माध्यम का कार्य करते थे। इन टुकडो का वजन, शुद्धता तथा आकार समान न होने के कारण प्रत्येक बार स्वीकार करने से पूर्व उनकी जांच की जाती थी। धातु के टुकडो को मुद्रा के रूप मे प्रयोग करने मे विशेष असुविधा होती थी क्योकि प्रत्येक बार लेते समय उनकी शुद्धता को जांचना पडता था और उन्हे तोलना होता था।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए निश्चित आकार, वजन तथा प्रमाणिक शुद्धता वाले धातु के टुकडो का प्रयोग आरम्भ हुआ। इन धातु के टुकडो का वजन तथा शुद्धता सरकार द्वारा प्रमाणित की जाती थी जिसके लिए उन पर सरकारी मोहर लगाई जाती थी। अब इन सिक्को की प्रत्येक बार जाँच करने की आवश्यकता नही होती थी और इस प्रकार एक बहुत बडी कठिनाई दूर हो गई। किन्तु अभी धातु मुद्रा को पूर्ण नही कहा जा सकता था क्योंकि जाली सिक्के बनाने, सिक्को के किनारे काट लेने तथा अन्य प्रकार की जालसाजी का भय रहता था। इस दोष को दूर करने के लिए सरकार ने सिक्को पर जटिल आकृति (Design) बनाने तथा उनके किनारे कटे-फटे बनाने आरम्भ कर दिये। इसका उद्देश्य नकली सिक्को को बनने से रोकना था। प्रत्येक सिक्के पर राजा की तस्वीर अथवा सरकारी मोहर लगाई जाती थी। इस प्रकार सिक्कों को वर्तमान रूप दिया गया।

आज के सिक्कों को प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण कहा जा सकता है। उनमे वे सब गुण पाये जाते हैं जो अच्छे सिक्को मे होने चाहिएँ। वर्तमान सिक्के उपरोक्त विभिन्न

अवस्थाओं मे से गुजरने के पश्चात् ही पूर्ण हो पाये हैं। १८ वी शताब्दी में ऐसे सिक्कों का निर्माण होने लगा था जिन्हे प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण कहा जा सकता है। सिक्कों सम्बन्धी विभिन्न कठिनाइयों को दूर करने के लिए, उन्हें समान रूप प्रदान करने तथा अच्छे और सुन्दर सिक्कों का निर्माण करने के उद्देश्य से सरकार ने सिक्कों की ढलाई का काम अपने हाथ मे ले लिया। आरम्भ काल में सिक्कों को बनाने का काम व्यक्तिगत टकसालो के द्वारा किया जाता था किन्तु धीरे-धीरे सरकार ने यह कार्य अपने हाथ मे ले लिया। शुरू-शुरू में सिक्कों के अंकित मूल्य की धातु उनमे होती थी किन्तु बाद मे सिक्कों का अकित मूल्य उनके निहित मूल्य से अधिक रक्खा जाने लगा और टकन लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से सिक्कों को जारी करना सरकार का एकमात्र अधिकार कर दिया गया।

मुद्रण प्रणालियाँ
(Systems of Coinage)

सिक्के ढालने की दो प्रमुख प्रणालियां प्रचलित रही है—(१) स्वतन्त्र मुद्रण तथा (२) सीमित मुद्रण।
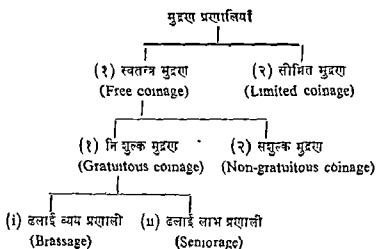
(१) स्वतन्त्र मुद्रण (Free Coinage)—इसका अभिप्राय टंकन की उस प्रणाली से है जिसमे किसी भी सीमा तक सिक्के ढाले जा सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता होती है कि वह किसी भी मात्रा मे मुद्रा धातु को टकसाल पर देकर उसके बदले मे सिक्के प्राप्त कर सकता है। टकसाल जनता के लिए खुली होती है और मुद्रा की ढलाई जनता की आवश्यकता के अनुसार की जाती है। मुद्रण की यह व्यवस्था तभी तक सम्भव थी जब तक सिक्कों का आन्तरिक मूल्य उनके अकित मूल्य के बराबर होता था। सांकेतिक सिक्कों का चलन आरम्भ होने पर स्वतन्त्र

मुद्रण के स्थान पर सीमित मुद्रण को अपना लिया गया। १६ वी शताब्दी मे स्वतन्त्र मुद्रण की प्रथा संसार के बड़े-बडे देशों में प्रचलित थी। हमारे देश मे १८६३ तक रुपये का स्वतन्त्र मुद्रण किया जाता था तथा इगलैंड में १६३१ तक पौड की स्वतन्त्र ढलाई होती थी।

(२) सीमित मुद्रण (Limited Coinage)—जब सिक्के केवल सरकार के लिए ही तैयार किये जाते है और जनता को सिक्के ढलवाने की स्वतन्त्रता नहीं होती है तो उसे सीमित मुद्रण कहा जाता है। टकसाल जनता के लिए बन्द कर दी जाती है और लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार धातु के बदले मे टकसाल से सिक्के प्राप्त नही कर सकते हैं। जिन सिक्को का अकित मूल्य उनके आतरिक मूल्य से अधिक होता है उनकी स्वतन्त्र ढलाई नही की जा सकती है और इसलिए सरकार उनकी सीमित ढलाई करती है। इस प्रणाली मे सरकार स्वय धातु खरीद कर जनता की अनुमानित आवश्यकता के अनुसार सिक्के बनाती है। आजकल ससार के सभी देशो मे सिक्को की सीमित ढलाई की जाती है। भारतवर्ष मे १८६३ मे हर्शेल (Herschell) कमेटी की सिफारिश पर रुपये की स्वतन्त्र ढलाई बन्द कर दी गई और उसके स्थान पर सीमित ढलाई प्रणाली को अपना लिया गया।

मुद्रण व्यय—सरकार मुद्रण व्यय जनता से लेती है अथवा नही इसके आधार पर सिक्का ढलाई दो प्रकार की हो सकती—है—(क) निःशुल्क मुद्रण तथा (ख) स-शुल्क मुद्रण। सिक्को की ढलाई मे सरकार को कुछ खर्च करना पडता है। यदि सरकार ढलाई के इस खर्च को जनता से नही लेती है तो उसे निःशुल्क ढलाई (Gratuitous Coinage) कहा जाता है। प्राचीन काल मे सिक्को की ढलाई प्राय: नि.शुल्क की जाती थी। सिक्के बनाना सरकार का कर्त्तव्य समझा जाता था और उस पर आने वाला व्यय सरकारी खजाने से पूरा किया जाता था। जब तक सिक्को की आवश्यकता बहुत कम थी, सरकार के लिए उनकी नि.शुल्क ढलाई करना सम्भव था किन्तु उनकी आवश्यकता बढ जाने पर निःशुल्क ढलाई बन्द कर दी गई और सरकार ने सिक्के बनाने का व्यय जनता से लेना आरम्भ कर दिया। जब सरकार मुद्रण व्यय जनता से लेती है तो उसे स-शुल्क ढलाई (Non-gratuitous Coinage) कहा जाता है।

स.शुल्क ढलाई (Non-gratuitous Coinage) भी दो प्रकार की हो सकती है—(१) ढलाई व्यय प्रणाली (Brassage) तथा (२) ढलाई लाभ प्रणाली (Seniorage)। यदि सिक्का ढलाई से सरकार किसी प्रकार का लाभ नही बनाना चाहती है और जनता से केवल उतना ही शुल्क लेती है जितना वास्तव मे सिक्के बनाने पर व्यय आता है तो उसे ढलाई व्यय प्रणाली (Brassage) कहा जाता है। कुछ समय तक सरकारें मुद्रण से लाभ प्राप्त करना उचित नही समझती थी और केवल ढलाई व्यय ही जनता से लिया जाता था। किन्तु इसके पश्चात् यह

सोचा गया कि मुद्रण से सरकार लाभ प्राप्त कर सकती है और ढलाई-लाभ-प्रणाली (Seniorage) को अपना लिया गया। जब सरकार मुद्रण व्यय के रूप मे जनता से उससे अधिक लेती है जो वास्तव मे सिक्के बनाने पर खर्च आता है तो उसे ढलाई-लाभ प्रणाली कहा जाता है। इस प्रणाली को अपनाने का उद्देश्य सिक्को को गलाने की प्रवृत्ति को रोकना तथा मुद्रण से लाभ प्राप्त करना होता है।

सरकार के द्वारा मुद्रण व्यय लेने की दो रीतियां होती हैं। सरकार सिक्के में पाई जाने वाली धातु मे मिलावट करके उसकी शुद्धता कम कर देती है और इस प्रकार मुद्रण व्यय निकाल लिया जाता है। यह तरीका अधिक सुविधाजनक होता है क्योंकि इसमे सरकार को मुद्रण व्यय लेने मे किसी प्रकार की कठिनाई नही होती है। दूसरा तरीका यह होता है कि सरकार सिक्के की शुद्धता अथवा वजन मे किसी प्रकार की कमी नही करती हैं किन्तु जब लोग अपनी धातु को सिक्को मे बदलवाने के लिए लाते हैं तो उनसे मुद्रण व्यय अलग लिया जाता है।

यह कहना कठिन है कि इनमे कौनसी मुद्रण प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है। प्रत्येक प्रणाली के पक्ष तथा विपक्ष मे बहुत कुछ कहा जा सकता है। स्वतन्त्र ढलाई प्रणाली के समर्थको का कहना है कि इस प्रणाली मे मुद्रा आवश्यकता के अनुसार ही जारी की जाती है जिससे अत्यधिक निकासी का भय नही रहता है और मुद्रा प्रसार की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। इसके दूसरी ओर सीमित ढलाई प्रथा के पक्ष में यह कहा जाता है कि इस प्रणाली मे सरकार सांकेतिक सिक्के बना कर सोने और चाँदी की बचत कर सकती है तथा धातुओं का मूल्य बढ जाने पर उन्हे जनता के द्वारा गलाने का भय नही रहता है। नि:शुल्क ढलाई के समर्थको का कहना है कि सिक्के जारी करना सरकार का कर्त्तव्य है इसलिए ढलाई व्यय उसे स्वयं बर्दाश्त करना चाहिए और उसे जनता से नही लेना चाहिए। इसके दूसरी ओर सशुल्क ढलाई के पक्ष मे भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। इस प्रणाली मे सरकार को टंकन व्यय अपनी आय मे से नही देना पडता है। इसमे यदि सरकार चाहे तो टंकन लाभ भी प्राप्त कर सकती है और सरकारी आय को बढाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जब सरकार मुद्रण लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से सिक्के चलाती है तो सिक्कों को गलाने से कोई लाभ न होने के कारण इसका भय समाप्त हो जाता है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों मे भिन्न-भिन्न प्रणाली उपयुक्त हो सकती है। अत: किसी भी प्रणाली को सर्वश्रेष्ठ नही कहा जा सकता है।

अच्छी मुद्रा वस्तु के गुण (Qualities of Good Money Material)—

वस्तु मुद्रा का इतिहास हमे बतलाता है कि आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं मे भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं का प्रयोग मुद्रा के रूप मे किया गया है। समाज मे जो भी वस्तु सामान्य रूप से उपयोगी होती थी वही विनिमय के माध्यम का कार्य करने लगती थी। शिकारी अवस्था मे जानवरो की खालें,

पशु-पालन अवस्था में गाय, बकरी तथा अन्य जानवर और कृषि अवस्था में विभिन्न प्रकार के अनाजों को मुद्रा के रूप में प्रयोग किया गया। इनके अतिरिक्त तम्बाकू, चाय, सूखी मछलियां, कौडियां, पत्थर तथा विभिन्न प्रकार की दूसरी वस्तुयें भी किसी न किसी देश अथवा काल मे मुद्रा के रूप मे प्रयोग की गई हैं। कुछ समय तक इन वस्तुओं का प्रयोग करने के पश्चात् यह अनुभव होने लगा कि इनमे से अधिकाश वस्तुयें मुद्रा का कार्य ठीक प्रकार से नही कर सकती हैं। धीरे-धीरे इन वस्तुओ को त्याग कर इनके स्थान पर धातुओ का प्रयोग किया जाने लगा। सोने और चांदी को लगभग सब देशो मे मुद्रा वस्तु के रूप मे अपना लिया गया क्योकि वे अन्य वस्तुओ की अपेक्षा मुद्रा का कार्य अधिक अच्छी तरह कर सकती थी।

किसी भी मुद्रा मे अच्छी मुद्रा वस्तु बनने के लिए कुछ विशेष गुण पाये जाने चाहिएं जिससे कि वह मुद्रा का कार्य ठीक प्रकार से कर सकें। प्रो० जीवन्स (Jevons) ने एक अच्छी मुद्रा वस्तु मे पाये जाने वाले निम्नलिखित गुणों का उल्लेख किया है—

(१) उपयोगिता अथवा सर्वमान्यता (Utility or General Acceptability)—कोई भी वस्तु मुद्रा का कार्य तभी कर सकती है जब लोग सामान्यतय उसे अपनी वस्तुओ तथा सेवाओ के बदले मे निःसकोच लेने को तैयार हो। सामान्या स्वीकृति को प्राप्त करने के लिए मुद्रा वस्तु का उपयोगी होना अनिवार्य है। मुद्रा क्योकि मूल्यवान वस्तुओ के साथ बदली जाती है इसलिए उसे स्वय भी मूल्यवान होना चाहिए। वह ऐसी वस्तु ही बनी हो जिसकी समाज मे निरन्तर माग हो और जिसे किसी भी समय आवश्यक वस्तुओ तथा सेवाओ के साथ बदला जा सके। इसके लिए आवश्यक है कि वह वस्तु मुद्रा के अतिरिक्त अन्य रूप मे भी लोगो के लिए उपयोगी हो। यदि कोई वस्तु ऐसी है जो मुद्रा के अतिरिक्त दूसरे लोगो के लिए भी बहुत उपयोगी है तो लोग उसे निश्चयपूर्वक स्वीकार करना पसन्द करेंगे। इस दृष्टि से सोना और चांदी अच्छे मुद्रा पदार्थ हैं क्योकि वे स्वय मूल्यवान् होते हैं और हर समय प्रत्येक व्यक्ति उन्हें लेने को तैयार रहता है। आजकल कागज के नोटो का प्रयोग किया जाने लगा है क्योकि सरकारी मान्यता प्राप्त होने के कारण उनमे सामान्य स्वीकृति का गुण पैदा हो गया है। यद्यपि कागज के नोटों का मुद्रा के अतिरिक्त और कोई महत्व नहीं है, फिर भी उन्हे स्वीकार किया जाता है क्योंकि हम जानते हैं कि अन्य लोग भी उन्हे स्वीकार कर लेगे।

(२) वहनीयता (Portability)—एक अच्छी मुद्रा वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि सुगमतापूर्वक उसे एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाया जा सके। यदि उसे एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने मे बहुत अधिक खर्च आता है अथवा असुविधा होती है तो वह वस्तु मुद्रा का कार्य ठीक प्रकार से नही कर सकेगी। मुद्रा वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि उसकी थोडी मात्रा मे ही बहुत अधिक मूल्य निहित हो जिससे उसे कम खर्च से तथा सुविधापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जा सकेगा।

गेहूँ तथा गाय अच्छी मुद्रा वस्तुयें नही है क्योंकि उनमे वहनीयता का गुण नहीं पाया जाता हैं। सोने और चाँदी की थोडी मात्रा मे ही बहुत अधिक मूल्य होने के कारण, वे अच्छे मुद्रा पदार्थ माने जाते हैं। इस दृष्टि से कागज और भी अच्छी वस्तु है क्योकि उसमे वहनीयता का गुण बहुत अधिक मात्रा मे पाया जाता है।

(३) टिकाऊपन (Durability)—मुद्रा का प्रयोग क्रय-शक्ति सचय करने के लिए किया जाता है इसलिए वह ऐसी वस्तु की बनी होनी चाहिए जो बहुत अधिक टिकाऊ हो। शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुये मुद्रा का कार्य नही कर सकती हैं। मुद्रा वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि यदि उसे काफी लम्बे समय तक रक्खा जाय तो न उसका वजन ही कम हो और न उसका मूल्य नष्ट हो। इस दृष्टि से सोना और चाँदी आदर्श वस्तुयें हैं क्योंकि वे शीघ्र नष्ट नही होती हैं। अनुमान लगाया गया है कि सोने के सिक्के ८००० वर्ष मे पूर्णतया नष्ट होते हैं। चाँदी मे भी बहुत अधिक टिकाऊपन पाया जाता है। गेहूँ, पशु, चाय इत्यादि शीघ्र नष्ट हो जाने के कारण अच्छी मुद्रा वस्तुयें नही कही जा सकती हैं।

(४) विभाज्यता (Divisibility)—मुद्रा को कम मूल्य वाली वस्तुओ का विनिमय करने के लिए भी प्रयोग किया जाता है इसलिए मुद्रा वस्तु में विभाज्यता का गुण होना अनिवार्य है। मुद्रा वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि उसका मूल्य नष्ट किये बिना ही उसे छोटे-छोटे टुकडो मे बाँटा जा सके। इसका इस प्रकार विभाजन करना सम्भव होना चाहिए कि सब छोटे-छोटे टुकडो का मूल्य मिलाकर कुल के मूल्य के बराबर हो। हीरे को अच्छा मुद्रा पदार्थ नही कहा जा सकता है क्योंकि विभाजन करने पर उसका मूल्य बहुत कम हो जाता है। सोना और चांदी अन्य वस्तुओ की अपेक्षा अच्छे मुद्रा पदार्थ हैं क्योकि मूल्य को कम किये बिना उन्हे छोटे-छोटे टुकडो मे बाँटना सम्भव है।

(५) मूल्य की स्थिरता (Stability of Value)—मुद्रा पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसके मूल्य मे जल्दी-जल्दी और बहुत अधिक परिवर्तन न होते हों। मुद्रा मूल्य के मापक तथा स्थगित भुगतानो के मान का कार्य करती है और उसके रूप मे भविष्य के लिए क्रय-शक्ति सचय की जाती है इसलिए उसके मूल्य मे स्थिरता का होना अनिवार्य है। जिन वस्तुओ का मूल्य जल्दी-जल्दी बदलता रहता है वे अच्छी मुद्रा वस्तुयें नही हो सकती है। मुद्रा वस्तु के मूल्य मे परिवर्तन होने के कारण ऋणो के भुगतान मे विशेष कठिनाई होती है तथा क्रय-शक्ति का सचय भी ठीक प्रकार से नही किया जा सकता है। इसलिए मुद्रा वस्तु का मूल्य प्रायः स्थिर रहना चाहिए और यदि कभी उसका मूल्य बदलता भी है तो यह परिवर्तन केवल नाममात्र को होना चाहिए। सोने और चांदी के मूल्य मे अन्य वस्तुओ की अपेक्षा अधिक स्थिरता पाई जाती है और वे इस दृष्टि से अच्छी मुद्रा वस्तुयें हैं।

(६) परिचयता (Congnisibility)—मुद्रा वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि उसे आसानी से पहचाना जा सके और अन्य प्रकार की वस्तुओ से अलग किया जा सके।

मुद्रा विनिमय के माध्यम के रूप मे एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास ग्राती-जाती रहती है, इसलिए ग्रावश्यक है कि उसे केवल देखकर ही पहचाना जा सके ग्रौर लेते समय उसकी किसी विशेष जांच की ग्रावश्यकता न हो। यदि प्रत्येक बार जांच करने के लिए उसे विशेषज्ञ के पास ले जाना पडता है, तो वह ग्रच्छी मुद्रा वस्तु नही है। सोने ग्रौर चाँदी के सिक्कों को देखकर ग्रथवा बजाकर उनकी जांच ग्रासानी से की जा सकती है।

(७) ग्रनुरूपता (Homogeneity)—मुद्रा पदार्थ मे एकरूपता का गुण पाया जाना चाहिए। उसके विभिन्न टुकडो की शुद्धता समान होनी चाहिए तथा एक ही वजन के टुकडो का मूल्य भी एक होना चाहिए। उस वस्तु के बने हुए सिक्के एक ही प्रकार के होने चाहिएँ। एक सिक्का दूसरे सिक्के से किसी भी प्रकार उत्तम नही होना चाहिए जिससे विभिन्न सिक्को मे किसी प्रकार के छाँटने की ग्रावश्यकता पडे। गेहूँ तथा पशुग्रों मे एकरूपता का गुण न पाया जाने के कारण वे ग्रच्छी मुद्रा वस्तु नही हैं किन्तु सोने ग्रौर चांदी मे यह गुण बहुत ग्रधिक सीमा तक पाया जाता है।

(८) ढाले जाने की क्षमता (Malleability)—मुद्रा पदार्थ ऐसा होना चाहिए कि उसे ग्रासानी से गलाकर विभिन्न ग्राकार तथा वजन के सिक्के बनाये जा सकें ग्रौर उन पर सरकारी चिन्ह ग्रथवा मोहर ग्रकित की जा सके। मुद्रा पदार्थ न तो बहुत सख्त होना चाहिए ग्रौर न बहुत मुलायम ही होना चाहिए। उसमे सुविधा-पूर्वक ढाले जाने की क्षमता होनी चाहिए जिससे उसे ग्रासानी से गलाकर सिक्कों का निर्माण किया जा सकें। सोना, चाँदी इस दृष्टि से भी पूर्ण मुद्रा वस्तु है।

उपर्युक्त विवेचन के ग्राधार पर यह कहा जा सकता है कि जितनी भी वस्तुएँ ग्रभी तक मुद्रा के लिए प्रयोग की गई हैं उनमे सोना ग्रौर चांदी उत्तम है। इन धातुग्रों मे वे सब गुण पाये जाते हैं जिनका एक ग्रच्छी मुद्रा वस्तु में होना ग्रनिवार्य है। यही कारण है कि ग्रन्य सब धातुग्रों को त्याग कर सोना चाँदी को ही मुद्रा के रूप मे ग्रपनाया गया है। लगभग सब देशो मे यह वस्तुयें बहुत ग्रधिक समय तक मुद्रा का कार्य करती रही हैं। बहुमूल्य धातुग्रो की बचत करने के उद्देश्य से इनके स्थान पर ग्रब कागज का प्रयोग किया जाने लगा है। बहुमूल्य धातुग्रो का पर्याप्त मात्रा मे न होना तथा उनकी ग्रन्य प्रयोगो के लिए बचत करने की ग्रावश्यकता के कारण यह परिवर्तन ग्रनिवार्य था।

परीक्षा प्रश्न

(१) मुद्रा का विकास कैसे हुआ ? मुद्रा कितने प्रकार की होती है ? मुद्रा क्या कार्य करती है ? (आगरा बी० ए० १९५६)

(२) निम्न से आप क्या समझते हैं—

(क) चलन की इकाई और हिसाब की इकाई।

(ख) प्रमाणिक मुद्रा और सांकेतिक मुद्रा। उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए भारतीय रुपये की स्थिति बताइए।

(आगरा बी० काम १९६०)

(३) मुद्रा पदार्थ अपनी दुर्लभता के कारण चुना जाता है, मूल्य के आधार पर नहीं।" व्याख्या कीजिये। (आगरा बी० काम १९५९)

(४) निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये—

(अ) सीमित विधिग्राह्य।

(ब) मुद्रण लाभ (Seigniorage) (आगरा बी० काम० १९५८)

(५) "आधुनिक युग मे धातु मुद्रा का महत्व समाप्त हो गया है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिये। (आगरा बी० काम १९५७)

(६) 'भारतीय रुपया प्रमाणिक तथा सांकेतिक सिक्के का विचित्र मिश्रण है।' इसे समझाइये। (आगरा बी० कॉम १९५६

(अ) वास्तविक मुद्रा एवं हिसाब की मुद्रा।

(ब) पदार्थ मुद्रा एवं प्रतिनिधि मुद्रा।

(स) विधिग्राह्य मुद्रा एवं ऐच्छिक मुद्रा। (राजस्थान बी० काम १९६०)

(८) प्रादिष्ट मुद्रा पर टिप्पणी लिखिये। (राजस्थान बी काम १९६०)

(९) टिप्पणियाँ लिखिये।

(क) निःशुल्क टंकन।

(ख) प्रतिनिधि पत्र मुद्रा। (विक्रम बी काम १९६०)

(१०) परिवर्तनीय तथा अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा में भेद कीजिये।

(राजस्थान बी० ए० १९५६)

४
मुद्रामान
MONETARY STANDARDS

मुद्रा मान की आवश्यकता मुद्रा इकाई के मूल्य को नियन्त्रित करने के लिए होती है। प्रत्येक देश की मुद्रा विनिमय माध्यम के साथ-साथ मूल्यमान (Standard of Value) का कार्य भी करती है और उसके द्वारा ही विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य व्यक्त किये जाते हैं। एक अच्छे मूल्यमान का कार्य करने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा के मूल्य में अनावश्यक परिवर्तन न होने दिये जायें। सरकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उचित व्यवस्था एवं नियन्त्रण के द्वारा मुद्रा के मूल्य मे स्थिरता स्थापित करे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रत्येक देश को किसी न किसी प्रकार के मुद्रामान की व्यवस्था को अपनाना पडता है। मुद्रा की इकाई, जिसमे देश की सभी वस्तुओं अथवा सेवाओं के मूल्य को मापा जाता है, मूल्यमान (Standard of Value) कहलाती है किन्तु जिस वस्तु के द्वारा मुद्रा इकाई के मूल्य को व्यक्त किया जाता है अथवा जिस व्यवस्था के द्वारा मूल्यमान के मूल्य को स्थिर रक्खा जाता है, उसे मुद्रामान (Monetary Standard) कहते है। मुद्रामान तथा मूल्यमान एक दूसरे से काफी भिन्न है। मुद्रामान अधिक विस्तृत है जिसके अन्तर्गत मूल्यमान के अतिरिक्त उसे स्थिर रखने की व्यवस्था भी सम्मिलित होती है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि जिस वस्तु अथवा पद्धति के द्वारा मुद्रा की क्रय-शक्ति को व्यक्त किया जाता है उसे मुद्रामान कहते हैं।[1] हॉम (Halm) ने मुद्रामान की परिभाषा इस प्रकार की है—"अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से प्रमाणिक मुद्रा की मात्रा तथा उसके विनिमय मूल्य को नियन्त्रित करने की प्रमुख विधि को मुद्रामान कहा जा सकता है।"[2] यह परिभाषा केवल मुद्रा नियन्त्रण की विभिन्न पद्धतियों को ही मुद्रामान के अन्तर्गत सम्मिलित करती है।

1. "Any object or system in terms of which the purchasing power of money is expressed is known as monetary standard "

2. "We may define monetary standard from the view point of economics as the principal method of regulating the quantity and the exchange value of standard of definitive money."

—*Halm.: Monetary Theory. P. 105.*

वास्तव में मुद्रामान अधिक विस्तृत शब्द है और उसके अन्तर्गत मुद्रा सम्बन्धी सभी प्रकार के नियम, व्यवस्थायें तथा व्यवहारों को सम्मिलित किया जा सकता है।

मुद्रा की क्रय-शक्ति को व्यक्त करने तथा उसके मूल्य को नियन्त्रित करने की विभिन्न विधियाँ हो सकती हैं। सबसे प्रमुख विधि मुद्रा के मूल्य को मूल्यवान धातुओं (सोना अथवा चाँदी) के द्वारा व्यक्त करने की रही है। किसी एक धातु को मुद्रामान के रूप में निश्चित कर लिया जाता है और मुद्रा इकाई के मूल्य को उसके द्वारा व्यक्त किया जाता है। स्वर्णमान में सोना तथा रजतमान में चाँदी मुद्रामान का कार्य करती थी। एक से अधिक धातुओं को भी मुद्रामान के रूप में प्रयोग किया गया है। द्वि-धातुमान (Bimetallism) इसी प्रकार का मुद्रामान है। वर्तमान समय में मुद्रा के मूल्य को धातुओं के द्वारा व्यक्त करने की पद्धति समाप्त हो गई है और केवल मौद्रिक प्रबन्ध के द्वारा ही मुद्रा की मात्रा तथा उसके मूल्य को निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार की पद्धति को प्रबन्धित मुद्रामान (Managed Currency Standard) कहते हैं। विभिन्न प्रकार के मुद्रामानों में से प्रत्येक देश को अपने लिए एक उपयुक्त मुद्रामान चुनना होता है। किसी भी देश के लिए मुद्रामान का चुनाव एक महत्वपूर्ण समस्या है क्योंकि उसकी आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति बहुत कुछ मुद्रामान पर निर्भर होती है। एक अच्छा मुद्रामान मुद्रा के मूल्य में स्थिरता स्थापित करके अनिश्चितता को दूर करता है तथा आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा करता है। मुद्रामान का दोषपूर्ण होना आर्थिक विकास में बाधायें उत्पन्न करता है तथा विभिन्न प्रकार के आर्थिक व सामाजिक दोषों को जन्म देता है। प्रत्येक देश को ऐसा मुद्रामान अपनाना चाहिए जो मुद्रा की माग तथा पूर्ति में सतुलन स्थापित कर सके और जिसके द्वारा मूल्य-स्तर की स्थिरता को बनाये रखा जा सके। मुद्रामान से सम्बन्धित अनेक समस्याओं का अध्ययन करने से पूर्व यह आवश्यक है कि विभिन्न प्रकार के मुद्रामानों की प्रकृति तथा उनकी व्यवस्था के सम्बन्ध में उचित ज्ञान प्राप्त किया जाय। मुद्रामानों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

मुद्रामान

- I एक धातुमान (Mono-metallism)
  - (१) स्वर्णमान (Gold Standard)
  - (२) रजतमान (Silver Standard)
- II द्वि-धातुमान (Bimetallism)
  - (अ) शुद्ध द्वि-धातु-मान (Pure Bi-metallism)
  - (ब) पगु द्वि-धातुमान (Limping Bi-metallism)
  - (स) मिश्रित धातुमान (Symmetallism)
- III पत्र मुद्रामान (Paper Standard)
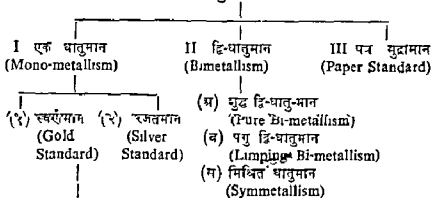
(अ) स्वर्ण मुद्रामान
(Gold Currency Standard)
(ब) स्वर्ण पाट मान
(Gold Bullion Standard)
(स) स्वर्ण विनिमय मान
(Gold Exchange Standard)

एक धातुमान
(Monometallism)

एक-धातुमान से अभिप्रायः उस मुद्रामान से है जिसमें एक धातु (सोना अथवा चाँदी) मूल्यमान का कार्य करती है और देश की मुद्रा का मूल्य इस धातु के मूल्य के साथ सम्बन्धित कर दिया जाता है। या तो इस धातु के सिक्के बनाये जाते हैं और उन्हे चलन मे रखा जाता है, या देश मे चलने वाली मुद्रा को एक निश्चित दर पर इस धातु मे परिवर्तनीय कर दिया जाता है। एक-धातुमान प्रायः दो प्रकार का हो सकता है—स्वर्णमान अथवा रजतमान। जब सोने को मूल्यमान के रूप मे स्वीकार किया जाता है और एक निश्चित वजन तथा शुद्धता वाले सोने के सिक्के चलन मे रहते हैं या देश मे चलने वाली मुद्रा को एक निश्चित दर पर सोने मे परिवर्तनीय कर दिया जाता है तो इस प्रणाली को स्वर्णमान कहते हैं। स्वर्णमान मे प्रमाणिक सिक्का सोने का होता है, उसकी स्वतन्त्र ढलाई की जाती है तथा वह अपरिमित कानूनी मुद्रा होती है। देश मे अन्य साकेतिक सिक्के अथवा नोट चल सकते हैं किन्तु उन सबका मूल्य प्रमाणिक सिक्के के साथ सम्बन्धित होता है। यदि सोने के सिक्के नही चलाये जाते है तो देश मे चलने वाली मुद्रा को एक निश्चित दर पर सोने मे परिवर्तनीय रखा जाता है। जब चाँदी मूल्यमान का कार्य करती है और प्रमाणिक सिक्के चाँदी के बनाये जाते है अथवा उन्हे एक निश्चित दर पर चाँदी मे परिवर्तनीय रखा जाता है तो इस प्रणाली को रजतमान कहते है। दोनो मे से स्वर्णमान ही अधिक प्रचलित रहा है और १६३६ से पूर्व ससार के सब बडे देशों ने स्वर्णमान को अपनाया हुआ था केवल कुछ देशो मे जैसे चीन, मेक्सिको, स्पेन और भारत मे रजतमान था।

एक धातुमान के लाभ—

एक धातुमान मे कुछ विशेष लाभ पाये जाते है जिनके कारण वह बहुत अधिक समय तक ससार का प्रमुख मुद्रामान रहा है। इस मुद्रामान के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

(१) यह प्रणाली साधारण है और लोग इसे आसानी से समझ सकते हैं—एक धातुमान मे एक ही धातु को मूल्यमान के रूप मे प्रयोग किया जाता है

इसलिए साधारण व्यक्ति को भी इस प्रणाली के समझने में कोई कठिनाई नहीं होती है। सोने और चाँदी जैसी मूल्यवान धातुओं के सिक्कों के चलन में रहने के कारण लोगों का विश्वास भी इस प्रणाली में बहुत अधिक होता है।

(२) **ग्रेशम के नियम के लागू होने की सम्भावना कम रहती है**—इस प्रणाली में केवल एक ही धातु की मुद्रा चलन में होती है जिसके कारण ग्रेशम के नियम के कार्यशील होने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। इसके विपरीत द्वि-धातुमान में इस नियम के लागू होने की प्रवृत्ति बहुत अधिक होती है।

(३) *अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सुविधा रहती है*—यदि संसार के अधिकांश देशों के द्वारा एक धातुमान को अपना लिया जाता है तो विदेशी भुगतानों को बड़ी सुविधापूर्ण ढंग से निबटाया जा सकता है। एक धातुमान वाले देशों में विदेशी विनिमय दरें आसानी से निश्चित हो जाती हैं और वे प्रायः स्थिर रहती हैं।

(४) **मूल्य स्तर की स्थिरता**—एक धातुमान में मुद्रा को सोने अथवा चाँदी से सम्बन्धित करके उसकी मात्रा में होने वाले अनावश्यक परिवर्तनों को रोका जा सकता है जिसके कारण मूल्य-स्तर तथा मुद्रा की क्रय-शक्ति में अधिक स्थिरता आ जाती है।

एक धातुमान के दोष

इन गुणों के साथ-साथ एक धातुमान में कुछ दोष भी पाये जाते हैं जिनके कारण यह प्रणाली असंतोषजनक रही है। कुछ प्रमुख दोष इस प्रकार हैं—

(१) **एक धातुमान संसार के सब देशों के द्वारा एक साथ नहीं अपनाया जा सकता है**—सोने अथवा चाँदी में से जिस धातु को भी मूल्यमान के रूप में अपनाया जाता है उसकी कुल पूर्ति सब देशों की मुद्रा बनाने की आवश्यकता को पूरा नहीं कर सकती है। अतः कुछ देशों को मुद्रा धातु की कमी के कारण एक धातुमान को छोड़ना पड़ेगा। संसार में सोने की मात्रा पर्याप्त न होने के कारण ही स्वर्णमान को त्यागकर उसके स्थान पर पत्र मुद्रामान को अपनाने की आवश्यकता अनुभव हुई है। यह ऐसा मुद्रामान है जिसे केवल वे देश ही अपना सकते हैं जिनके पास सोना व चाँदी पर्याप्त मात्रा में हो। निर्धन देशों के द्वारा इस प्रकार के मुद्रा-मान अपनाया जाना सम्भव नहीं है।

(२) **इस प्रणाली में मुद्रा के मूल्य की स्थिरता को बनाये रखना सम्भव नहीं होता है**—जिस धातु को मूल्यमान के रूप में अपनाया जाता है उसकी पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों के कारण मुद्रा की मात्रा बदलती रहती है और उसके परिणाम स्वरूप मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होते रहते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि स्वर्णमान के युग में सोने की मात्रा घट या बढ़ जाने के कारण समय-समय पर मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होते रहते थे।

(३) मुद्रा प्रणाली में लोच का प्रभाव रहता है—एक धातुमान मे मुद्रा प्रणाली बहुत कम लोचदार होती है जिसके कारण मुद्रा की मात्रा को आवश्यकता के अनुसार घटाना-बढना सम्भव नही होता है। मुद्रा की मात्रा का घटाना-बढाना मुद्रा की आवश्यकता के अनुसार न होकर धातु की पूर्ति मे होने वाले परिवर्तनों के अनुसार होता है। इस प्रकार के मुद्रामान मे आवश्यकता पडने पर मुद्रा की मात्रा को बढाना सम्भव नही होता है क्योंकि ऐसा करने के लिए अधिक सोने व चाँदी की आवश्यकता पडती है। विशेषतया सकट काल मे अधिक मात्रा मे सोना या चाँदी प्राप्त करना सम्भव नही होता है। इसी कारण प्रथम महायुद्ध मे अधिकाश देशो को स्वर्णमान स्थगित करना पडा था।

द्वि-धातुमान
(Bi-metallism)

द्वि-धातुमान उस मुद्रा प्रणाली को कहते है जिसमे दो धातुयें एक साथ मूल्यमान का कार्य करती है। दोनो धातुओ के बने हुए सिक्के प्रमाणिक मुद्रा के रूप में चलाये जाते है और उन्हे एक निश्चित दर पर एक दूसरे के साथ बदलने की व्यवस्था होती है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से कोई भी दो धातुये मुद्रामान का कार्य कर सकती है किन्तु व्यावहारिक रूप मे सोने और चाँदी का प्रयोग ही इस कार्य के लिए किया गया है। द्वि-धातुमान मे सोने तथा चाँदी दोनों की स्वतत्र ढलाई की जाती है और उनके एक निश्चित वजन तथा शुद्धता वाले सिक्के बनाये जाते है। दोनो प्रकार के सिक्के असीमित विधिग्राह्य होते हैं। दोनो मुद्राये साथ-साथ चलाई जाती हैं और उनकी आपसी विनिमय दर सरकार के द्वारा निश्चित कर दी जाती है। इस प्रकार की व्यवस्था को शुद्ध द्वि-धातुमान (Pure Bi-metallism) कहा जाता है। प्रो० हॉम (Halm) के अनुसार 'यदि दो धातुओ का प्रमाणिक मुद्रा के रूप में स्वतत्र टकण हो सकता है और यदि दोनो ही धातुओ के मूल्य मे अनुपात लेखे की इकाई के रूप मे विधान के द्वारा निश्चित कर दिया जाता है जिससे केवल एक प्रमाणिक इकाई तथा कीमतो की एक व्यवस्था हो जाती है तो इस प्रकार के मुद्रामान को द्वि-धातुमान अथवा दोहरा मान कहते है।'[3]

द्वि-धातुमान का इतिहास—उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक द्वि-धातुमान ससार का प्रमुख मुद्रामान था। द्वि-धातुमान को अपनाने का मुख्य कारण सोने की कमी थी। सबसे पहले इगलैंड ने १७१७ मे रजतमान को त्याग कर द्वि-धातुमान को अपनाया। १७९२ मे अमेरिका ने इस मान को अपनाया और १८७३ तक यह

3. "If two metals can be coined freely as standard money and if the ratio between the value of the two metals in terms of the units of account is fixed by law, so that there is only one standard unit and only one system of prices, then we have a bi-metallic standard or double standard."

Halm : Monetary Theory, P 108 109.

मुद्रामान वहाँ प्रचलित रहा। १८०३ में फ्रांस ने द्वि-धातुमान को अपना लिया और सोने व चाँदी का विनिमय अनुपात १ : १५½ निश्चित कर दिया गया। सन् १८४८ तक यह प्रणाली बिना किसी कठिनाई के चलती रही किन्तु १८४८-५० के बीच में सोने की नई खानों का पता लग जाने के कारण सोने की पूर्ति बढ़ गई और उसका मूल्य गिरने लगा। ऐसी दशा में ग्रेशम के नियम के लागू होने के कारण द्वि-धातुमान का चलना कठिन हो गया और इस कठिनाई को दूर करने के लिए सोने और चाँदी का विनिमय अनुपात बदलना पड़ा। १८६५ में इटली, बेल्जियम, स्विटजरलैंड तथा कुछ अन्य यूरोप के देशों ने मिलकर सामूहिक रूप से द्वि-धातुमान को चलाने का प्रयत्न किया किन्तु १८७४ में चाँदी के मूल्य में भारी गिरावट आ जाने के कारण सोने और चाँदी के विनिमय अनुपात को सही बनाये रक्खा जा सका और द्वि-धातुमान टूट गया। सन् १९०० में द्वि-धातुमान को सदैव के लिए त्याग दिया गया। द्वि-धातुमान के पतन के मुख्य कारण, सोने की पूर्ति का बढ़ जाना, ग्रेशम के नियम का बार-बार क्रियाशील होना तथा इस प्रकार के मुद्रामान की अन्य व्यावहारिक कठिनाइयाँ थीं।

द्वि-धातुमान की विशेषतायें (Characteristics of Bi metallism)—

द्वि-धातुमान की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(१) द्वि-धातुमान में देश की मुद्रा इकाई के मूल्य को सोने और चाँदी की एक निश्चित मात्रा के द्वारा व्यक्त करना होता है। सन् १७९२ में अमेरिकन डॉलर (Dollar) के मूल्य को २४·७५ ग्रेन सोने अथवा ३७१·२५ ग्रेन चाँदी के बराबर निश्चित किया गया। इसी प्रकार अन्य द्वि-धातुमान वाले देशों के द्वारा भी अपनी मुद्रा के मूल्य को सोने और चाँदी की निश्चित मात्रा के साथ सम्बन्धित कर दिया गया। इस प्रकार के मुद्रामान में या तो सोने व चाँदी के प्रमाणिक सिक्के चलाये जाते हैं और उनकी स्वतन्त्र ढलाई होती है या देश में चलने वाली पत्र मुद्रा को निश्चित दरों पर सोने व चाँदी में परिवर्तनशील रक्खा जाता है।

(२) सरकार द्वारा दोनों धातुओं के बीच एक विनिमय दर (Exchange Ratio) निश्चित कर दी जाती है जिसके अनुसार सोने व चाँदी को आपस में स्वतन्त्रतापूर्वक बदला जा सकता है। अमेरिका में सन् १७९२ में सोने व चाँदी की विनिमय दर को १ : १५ निश्चित किया गया जिसके अनुसार सोने की एक इकाई को चाँदी की १५ इकाई के साथ बदला जा सकता है। इस प्रकार की व्यवस्था के द्वारा सोने और चाँदी के मूल्य में एक निश्चित सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव हो जाता है।

(३) मुद्रा अधिकारी निश्चित मूल्यों पर किसी भी सीमा तक सोने और चाँदी को बेचने की व्यवस्था करते हैं जिसके कारण इन धातुओं के बाजारी मूल्य सरकारी मूल्य से अधिक ऊपर या नीचे नहीं रह सकते हैं।

द्वि-धातुमान के लाभ (Advantages of Bi-metallism)—

द्वि-धातुमान के समर्थकों ने इस मान को एक-धातुमान की अपेक्षा अधिक उपयुक्त बतलाया है। उनके अनुसार इस प्रकार के मुद्रामान से निम्नलिखित लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं—

(१) कीमतों में अधिक स्थिरता (Greater Stability of Prices)—द्वि-धातुमान मे एक-धातुमान की अपेक्षा कीमतो मे अधिक स्थिरता रहती है। दो प्रकार की मुद्राये चलन मे होने के कारण मुद्रा के मूल्य मे होने वाले परिवर्तन बहुत कम हो जाते है और उनकी क्रय-शक्ति प्राय. निश्चित बनी रहती है। जब केवल एक धातु मुद्रामान का कार्य करती है तो उसकी पूर्ति मे होने वाले परिवर्तनो के कारण मुद्रा का मूल्य बदलता रहता है किन्तु द्वि-धातुमान मे यह दोष बहुत सीमा तक दूर हो जाता है। सोने और चांदी की मुद्रायें एक साथ चलने के कारण मुद्रा धातु (money metal) की कुल पूर्ति प्रायः निश्चित रहती है और मुद्रा के मूल्य में स्थिरता आ जाती है। एक धातु की पूर्ति मे होने वाले परिवर्तन दूसरी धातु की पूर्ति मे विपरीत दिशा मे होने वाले परिवर्तनो के साथ सतुलित हो जाते है। यदि देश मे सोने की पूर्ति बढती है तो उसके साथ यह सम्भव हो सकता है कि चांदी की पूर्ति कम हो जाये और देश मे मुद्रा धातु (money metal) की कुल पूर्ति मे कोई परिवर्तन न हो। इसी प्रकार सोने की पूर्ति के कम होने पर चांदी की पूर्ति बढ सकती है। ऐसी दशा मे मुद्रा का मूल्य स्थिर बना रहता है। प्रो० जीवन्स (Jevons) ने इस बात को समझने के लिए दो शराबियो का उदाहरण दिया है। उनका कहना है कि दो शराबी यदि हाथ मे हाथ डाल कर चलते हैं तो वे अधिक स्थिरता के साथ चल सकते है। उनमे से यदि एक दांई ओर गिरता है और दूसरा बांई ओर तो वे दोनो एक दूसरे के साथ सन्तुलित हो जाते हैं। किन्तु यदि वे अलग-अलग चलते है तो उनमे से प्रत्येक के गिरने की सम्भावना बढ जाती है। द्वि-धातुमान मे दो धातुओं के साथ-साथ चलने के कारण इसी प्रकार की स्थिरता स्थापित होती है। यदि एक धातु की पूर्ति बढने के कारण उसका मूल्य गिरता है तो दूसरी धातु का मूल्य पूर्ति घटने के कारण बढ सकता है। इस प्रकार दोनों धातुओं के मूल्य मे होने वाले परिवर्तन एक दूसरे के साथ सतुलित हो जाते है और दोनो धातुओं के कुल कोष के मूल्य मे कोई परिवर्तन नही होता है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए जीवन्स (Jevons) ने एक और उदाहरण भी दिया है। उनके अनुसार 'यदि हम पानी की ऐसी दो टंकियों की कल्पना करें जिनमे से प्रत्येक पर पानी की मांग और पूर्ति का अलग-अलग प्रभाव पडता है और यदि उन्हे जोडने वाला नल नही है तो उनमे से प्रत्येक टंकी में पानी का स्तर अपने ही परिवर्तनों से प्रभावित होगा किन्तु यदि दोनों को जोड़ने वाले नल को खोल दिया जाये तो दोनों टंकियों मे पानी एक औसत स्तर पर आ जायेगा और पानी की अधिक मांग अथवा पूर्ति का प्रभाव दोनो टंकियों

पर समान रूप से वितरित हो जायेगा।[4] यदि जीवन्स द्वारा बताये गये इस क्षतिपूरक प्रभाव (Compensatory Action) को स्वीकार कर लिया जाये तो द्वि-धातुमान में मुद्रा के मूल्य की स्थिरता की सम्भावना काफी अधिक हो जाती है। प्रो० फिशर (Fisher) ने भी इस मत का समर्थन किया है और उनके अनुसार—"द्वि-धातुमान ही मुद्रा के मूल्य में स्थिरता स्थापित करने की एक ऐसी योजना है जिसे पर्याप्त सामान्य स्वीकृति मिली है।"[5] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विशेष परिस्थितियों में द्वि-धातुमान कीमतों में अधिक स्थिरता कायम कर सकता है।

(२) द्वि-धातुमान में सोने की कमी दूर हो जाती है—यदि संसार के सब देश स्वर्णमान को अपनाते हैं तो सोने की कुल पूर्ति मुद्रा की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकेगी और सोने की कमी के कारण आवश्यकता के अनुसार मुद्रा की मात्रा को नहीं बढ़ाया जा सकेगा। किन्तु द्वि-धातुमान में यह कठिनाई बिल्कुल दूर हो जाती है क्योंकि चाँदी का प्रयोग होने के कारण मुद्रा धातु की पूर्ति इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसके द्वारा मुद्रा की आवश्यकता को भली प्रकार पूरा किया जा सकता है। इस प्रकार द्वि-धातुमान सोने की कमी को दूर करके मुद्रा विस्तार की उपयुक्त सुविधायें प्रदान करता है।

(३) विदेशी विनिमय दरों में स्थिरता स्थापित करता है—इस प्रकार के मुद्रामान में देश की मुद्रा का मूल्य सोने और चाँदी में एक साथ बतलाया जाता है, जिसके कारण स्वर्णमान तथा रजतमान वाले देशों के साथ विनिमय दरों को निर्धारित करना तथा उनकी स्थिरता को बनाये रखना आसान हो जाता है। विभिन्न देशों के बीच सोने और चाँदी का स्वतन्त्र निर्यात तथा आयात होता है जिसके कारण दोनों धातुओं का विनिमय अनुपात सब देशों में एक रहने की प्रवृत्ति रखता है और विदेशी विनिमय दरों में होने वाले परिवर्तन बहुत कम हो जाते है। विनिमय दरों के स्थिर रहने के कारण विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है और विभिन्न देशों के बीच पूँजी का विनियोग बढ़ता है।

(४) इस प्रकार के मुद्रा मान में उत्पादक तथा ऋणी वर्ग के लोगों को लाभ रहता है—द्वि-धातुमान में मुद्रा की मात्रा काफी होती है और उसमें वृद्धि भी तेजी के साथ होती है जिसके कारण कीमतों के धीरे-धीरे बढ़ने की प्रवृत्ति पाई जाती

4 "Imagine two reservoirs of water each subject to independent variation of supply and demand. In the absence of any connecting pipe the level of water in each will be subject to its fluctuations only. But if we open a connection, the water in both will assume a certain mean level and the effects of any excessive supply or demand will be distributed over the whole area of both reservoirs."

—*Jevons* Money & the Mechanism of Exchange, P. 140.

5 "Bi-metallism is the only scheme for securing stability of the standard of value which has received any substantial measure of popular support." —*Fisher*: The Purchasing Power of Money.

है। मूल्य-स्तर के ऊँचा होने के कारण उत्पादकों के लाभ बढते है और उन्हे प्रोत्साहन मिलता है। ऋणियो को भी लाभ होता है क्योंकि उनके लिए ऋण का भार कम हो जाता है। इसके विपरीत एक धातुमान मे सोने की कमी के कारण, मुद्रा की कमी रहती है और वस्तुओ के मूल्य नीचे रहते है जिससे उत्पादको को लाभ कम होते हैं तथा ऋणों का भार बढ जाता है।

द्वि-धातुमान के दोष (Disadvantages of Bi-metallism)—

(१) **सोने और चांदी के टकसाली अनुपात (Mint Ratio) को बनाये रखना कठिन होता है**—द्वि-धातुमान का एक बडा दोष यह है कि बाजार मे सोने व चाँदी की माग और पूर्ति मे परिवर्तन होने के कारण सोने और चाँदी के टकसाली अनुपात को बनाये रखना सम्भव नही होता है। जब दोनो धातुओ का टकसाली अनुपात बाजारी अनुपात से भिन्न हो जाता है तो दैनिक भुगतानो को निवटाने मे विशेष कठिनाई होती है। भुगतान लेने वाले महँगी धातु के सिक्कों मे भुगतान लेना चाहते है और देने वाले सस्ती धातु के सिक्के मे भुगतान करना पसन्द करते है, जिसके कारण काफी असुविधा होती है। यदि दोनो धातुओ मे से किसी एक का सापेक्षिक मूल्य बाजार मे बढ जाता है तो उस धातु को कोई भी सिक्के बनवाने के लिए नही लायेगा और टकसाल पर केवल सस्ती धातु ही सिक्के बनाने के लिए प्रस्तुत की जायेगी। ऐसी दशा मे सरकार के लिए विशेष कठिनाई पैदा हो जाती है और उसे मजबूर होकर टकसाली अनुपात को बाजारी अनुपात के बराबर करना पडता है।

(२) **ग्रेशम के नियम का कार्यशील होना**—द्वि-धातुमान का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमे ग्रेशम के नियम के लागू होने की प्रवृति पाई जाती है। जब भी टकसाली दर (Mint Ratio) और बाजारी दर (Market Ratio) मे अन्तर होता है तब ही ग्रेशम का नियम काम करने लगता है। जो धातु बाजार मे टकसाल की अपेक्षा महंगी होती है उसके सिक्के चलन से गायब हो जाते हैं और केवल सस्ती धातु के सिक्के ही चलन मे रह जाते हैं। ऐसी दशा मे एक धातु का आयात अथवा निर्यात लाभदायक हो जाता है और सरकार को भारी नुकसान उठाना पडता है। इस स्थिति से बचने के लिए या तो सरकार को टकसाली दर कम करनी होनी है या द्वि-धातुमान को त्याग देना पडता है। जब तक ससार के सब देश मिलकर द्वि-धातुमान को न अपनायें और सब देशो मे सोने व चाँदी के विनिमय अनुपात को एक न रक्खा जाये तब तक ग्रेशम के नियम को कार्यशील होने से नही रोका जा सकता है। यही कारण है कि कुछ एक देशो मे चलने वाला द्वि-धातुमान सफल नही हो सकता है।

(३) **द्वि-धातुमान में वस्तुओं के मूल्य स्थिर नहीं रह सकते हैं**—आलोचकों के अनुसार द्वि-धातुमान में सदा वस्तुओं के मूल्य स्थिर नही रहते हैं और इस

मुद्रामान मे भी कीमतो मे परिवर्तन हो सकते हैं। यह ठीक है कि कुछ समय तक द्वि-धातुमान वाले देशो मे वस्तुओ के मूल्य स्थिर रहे किन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि द्वि-धातुमान मे हमेशा ऐसा ही होता है। यह सम्भव हो सकता है कि सोने और चाँदी की पूर्ति मे एक साथ वृद्धि अथवा कमी होने लगे। ऐसी दशा मे मुद्रा के मूल्य मे भी भारी परिवर्तन हो सकते हैं और कीमतो की स्थिरता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार के मुद्रामान मे कीमतो की स्थिरता तब तक ही रहती है जब तक एक धातु की पूर्ति मे होने वाले परिवर्तन दूसरी धातु की पूर्ति मे होने वाले विपरीत परिवर्तनो के द्वारा सन्तुलित होते रहते हैं। किन्तु सदैव ऐसा ही होगा, इसका आश्वासन नही दिया जा सकता है। अत. द्वि-धातुमान मे मुद्रा के मूल्य की स्थिरता का पाया जाना अनिवार्य नही है।

द्वि-धातुमान का क्षतिपूरक कार्य

(Compensatory Action of Bimetallism)—

द्वि-धातुमान के समर्थको का कहना है कि इस मान मे कुछ ऐसी क्षतिपूरक शक्तियाँ काम किया करती हैं जिनके प्रभाव से मूल्य स्तर मे स्वय स्थिरता स्थापित हो जाती है। जब कभी भी सोने व चाँदी के टकसाली अनुपात और बाजारी अनुपात मे अन्तर होता है तो क्षतिपूरक शक्तियाँ उन दोनो को बराबर लाने की प्रवृति रखती हैं। यदि चाँदी बाजार की अपेक्षा टकसाल पर महगी है तो प्रत्येक व्यक्ति सिक्के बनवाने के लिए चाँदी ही लायेगा। सोने का भाव बाजार मे अधिक होने के कारण सोने के सिक्को को पिघलाने की प्रवृति पाई जायेगी। इस प्रकार चाँदी बाजार से टकसाल पर जाने लगेगी और सोना टकसाल से बाजार मे आयेगा। बाजार में चाँदी की कमी हो जायेगी और सोने की पूर्ति बढेगी जिसके कारण चाँदी का मूल्य बढने लगेगा और सोने का मूल्य गिरेगा। इस प्रकार सोने व चाँदी का बाजारी विनिमय अनुपात (Market Ratio) टकसाली अनुपात (Mint Ratio) के समीप आ जायेगा और मुद्रा के मूल्य मे स्थिरता बनी रहेगी। बाजार मे एक धातु के मूल्य के गिरने के कारण वस्तुओ और सेवाओ के मूल्य मे जो वृद्धि होने लगती है वह इसलिए रुक जाती है क्योकि दूसरी धातु के मूल्य के बढने का प्रभाव मूल्य स्तर को गिराने का होता है। इस प्रकार परस्पर सन्तुलन के द्वारा कीमतो मे स्थिरता बनी रहती है।

यह क्षतिपूरक शक्तियाँ कभी-कभी इतनी कमजोर होती हैं कि वे मूल्य स्तर मे होने वाले परिवर्तनो को नही रोक पाती हैं और मुद्रा की क्रय-शक्ति की स्थिरता समाप्त हो जाती है। यदि दोनो धातुओ मे से किसी एक की पूर्ति के बढने या घटने की बहुत तीव्र प्रवृति पाई जाती है तो क्षतिपूरक शक्तियाँ भी उसके मूल्य मे होने वाले परिवर्तनो को नही रोक सकेंगी और बाजारी अनुपात तथा टकसाली अनुपात का अन्तर बराबर बना रहेगा। उदाहरणार्थ यदि नई खानो के खुलने के कारण

बाजार में चाँदी की पूर्ति बहुत तेजी के साथ बढ़ती है तो लोगों के द्वारा टकसाल पर अधिक चाँदी प्रस्तुत करने पर भी चाँदी के मूल्य मे गिरावट आना स्वाभाविक है और इस प्रकार चाँदी और सोने का बाजारी भाव सरकारी भाव से भिन्न रहने की प्रवृत्ति रखेगा। संसार के इतिहास मे ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब सोने और चाँदी के मूल्य मे एक साथ ही दिशा मे परिवर्तन हुए है और जिनके परिणामस्वरूप मुद्रा के मूल्य मे भी भारी परिवर्तन होते रहे हैं। इस प्रकार यह कहना उचित न होगा कि क्षतिपूरक क्रियाओ के द्वारा द्वि-धातुमान मे मुद्रा के मूल्य मे होने वाले परिवर्तन बिल्कुल दूर हो जाते है।

द्वि-धातुमान की सफलता की दशायें—

अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि द्वि-धातुमान एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रामान के रूप मे ही सफल हो सकता है। कुछ एक देशो के द्वारा अपनाया गया द्वि-धातुमान, ग्रेशम के नियम के कार्यशील होने के कारण, टूट जाने की प्रवृत्ति रखता है। यदि बहुत से देश एक साथ द्वि-धातुमान को स्वीकार करते है और सोने तथा चाँदी के विनिमय अनुपात को निश्चित रक्खा जाता है, तो ग्रेशम के नियम को कार्यशील होने से रोका जा सकता है और द्वि-धातुमान को बनाये रखना सम्भव होता है। जितने अधिक देश एक निश्चित विनिमय अनुपात पर द्वि-धातुमान को अपनाते है उतनी ही क्षतिपूरक शक्तियाँ अधिक प्रभावशाली होती हैं और द्वि-धातुमान की सफलता की सम्भावना बढ जाती है। राष्ट्रीय द्वि-धातुमान सम्भव नही है और केवल बहुत से देशो के द्वारा एक निश्चित विनिमय अनुपात पर, सामूहिक रूप से अपनाया जाने वाला द्वि-धातुमान ही व्यवहारिक रूप से चल सकता है। द्वि-धातुमान की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था मे ही टकसाली अनुपात (Mint Ratio) की स्थिरता को स्थापित करना सम्भव हो सकता है। प्रो० हॉम (Prof. Halm) के अनुसार "यदि द्वि-धातुमान को एक ही टकसाली दर पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे अपना लिया जाता है तो दोनो धातुओं का विनिमय अनुपात किसी प्रकार स्थिर हो ही जाता है क्यकि सम्पूर्ण विश्व के लिए टकसाली अनुपात व बाजारी अनुपात मे भिन्नता होना असम्भव है।"[६]

द्वि-धातुमान का भविष्य (Future of Bi-metallism)—पिछली शताब्दी के समाप्त होने के साथ ही द्वि-धातुमान भी सदैव के लिए समाप्त हो चुका है। सन् १८७८ और १८९२ के मुद्रा सम्मेलनो मे अन्तर्राष्ट्रीय द्वि-धातुमान को स्थापित करने के लिए कुछ प्रयत्न किये गये किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के अभाव के कारण इस प्रकार का मुद्रामान स्थापित न किया जा सका। सन् १९२९-३० मे अमरीका

6 "Assuming . . . . . the international adoption of bi-metallism on a common mint ratio, the unit ratio would be secured any how, since divergencies between market and mint ratio would now be impossible for the world as a whole" —*Halm* : Monetary Theory, P. 111.

मे कुछ प्रभावशाली लोगो के द्वारा द्वि-धातुमान का समर्थन किया गया किन्तु उसे व्यवहारिक रूप देना सम्भव न हो सका। आजकल द्वि-धातुमान के समर्थक बहुत कम रह गये हैं और उसका कोई भविष्य नही दिखलाई पडता है। वर्तमान समाज धातुमान को छोडकर बहुत आगे निकल चुका है और सभी देशों ने उसके स्थान पर पत्र मुद्रामान को अपना लिया है। धातुमान का अब किसी भी रूप मे *अपनाया जाना सम्भव नही है।* *ससार मे अब तक जितने भी प्रयत्न धातुमान को* फिर से स्थापित करने के लिए किये गये है वे सभी असफल रहे है। ऐसी दशाओ मे द्वि-धातुमान सम्बन्धी वाद-विवाद निरर्थक प्रतीत होता है और उसका कोई व्यवहारिक महत्व नही है।

पंगु द्वि-धातुमान (Limping Bi-metallism)—यह द्वि-धातुमान का अशुद्ध रूप है। इस प्रणाली मे भी दोनो धातुओ (सोना और चाँदी) के सिक्के प्रमाणिक मुद्रा के रूप मे चलते है और दोनो प्रकार के सिक्के अपरिमित कानूनी मुद्रा होते हैं तथा उनकी आपसी विनिमय दर सरकार के द्वारा निश्चित कर दी जाती है। किन्तु दोनो मे से केवल एक की स्वतन्त्र ढलाई की जाती है। प्राय. चाँदी *की स्वतन्त्र ढलाई नही होती है और उसके सिक्के केवल सीमित मात्रा मे ही चलाये* जाते हैं। इस प्रणाली को पगुमान इसलिए कहा जाता है क्योकि जिस धातु की स्वतन्त्र ढलाई नही होती है वह कठिनाई के साथ चलती है। इस प्रकार का मुद्रा मान कुछ समय के लिए फ्रास मे अपनाया गया था। उस समय वहाँ पर सोने और चाँदी के सिक्के प्रमाणिक मुद्रा के रूप मे चलते थे। दोनो प्रकार के सिक्के अपरिमित कानूनी मुद्रा थे और निश्चित दर पर आपस मे बदले जाते थे परन्तु चाँदी के सिक्को की स्वतन्त्र ढलाई नही की जाती थी।

मिश्रित धातुमान

(Symetallism)

दोनो धातुओ को मिलाकर मुद्रामान के रूप मे प्रयोग करने की विधि को मिश्रित धातुमान कहते हैं। इस प्रणाली मे सोने और चाँदी के अलग-अलग सिक्के नहीं चलते हैं, बल्कि दोनो धातुओ को मिलाकर ऐसी सलाखें (Bars) बनाई जाती हैं जो मूल्यमान का कार्य करती हैं। द्वि-धातुमान मे सबसे बडा दोष ग्रेशम के नियम के लागू होने के कारण पैदा होता है। इस दोष को दूर करने व द्वि-धातुमान के अनेक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रो० मार्शल ने १८८१ मे मिश्रित मान को अपनाने का सुझाव दिया था। उनका सुझाव था कि देश मे सोने और चाँदी के अलग-अलग सिक्के नही चलाये जाने चाहिएँ और देश की मुद्रा को सोने तथा चाँदी मे बदलने की सुविधा भी नही देनी चाहिए। मुद्रामान का कार्य करने के लिए *ऐसी सलाखों (Bars) का निर्माण करना चाहिए* जिनमे सोना और चाँदी एक निश्चित अनुपात मे मिलाया गया हो। देश की मुद्रा एक निश्चित दर पर इस

प्रकार की सलाखों (Bars) में परिवर्तनीय होनी चाहिए। इस प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमे ग्रेशम के नियम के लागू होने का भय बिल्कुल समाप्त हो जाता है। क्योकि सोने और चाँदी की मिश्रित सलाखे मुद्रामान का कार्य करती है इसलिए सोने और चाँदी के मूल्यो मे होने वाले अनुपातिक परिवर्तनो का इस मान पर कोई प्रभाव नही पडता है और ग्रेशम का नियम लागू नही हो पाता है। इसके साथ-साथ इस प्रणाली मे द्वि-धातुमान के सब गुण पाये जाते है। इन सब गुणो के होते हुए भी इस प्रकार का मुद्रामान कभी किसी देश मे नही अपनाया गया है और इसका महत्व केवल एक सैद्धान्तिक विचार के रूप मे ही है। व्यवहारिक दृष्टि से इस प्रकार का मुद्रामान सम्भव नही है।

ग्रेशम का नियम
(Gresham's Law)

किसी देश मे जब दो प्रकार की मुद्रायें एक साथ चलती है तो अच्छी मुद्रा चलन से गायब हो जाने की प्रवृत्ति रखती है और केवल बुरी मुद्रा ही चलन मे रहती है। ग्रेशम का नियम इसी प्रवृत्ति की ओर सकेत करता है। यह तो नही कहा जा सकता कि **टॉमस ग्रेशम** ने ही इस प्रवृत्ति का सबसे पहले पता लगाया किन्तु यह नियम उनके नाम से ही जाना जाता है। प्राचीन आर्थिक विचारो मे भी इस प्रवृत्ति की ओर सकेत किया गया है किन्तु उसे एक नियम का रूप देने का कार्य **टामस ग्रेशम** के द्वारा ही किया गया। इसीलिए यह नियम उनके नाम से प्रसिद्ध है। इङ्गलैंड की महारानी एलिजाबेथ प्रथम के शासन काल मे बहुत से पुराने तथा कम वजन के सिक्के चलन मे थे क्योकि उनसे पहले ट्यूडर शासको के द्वारा बहुत से निकृष्ट सिक्के चलन मे डाल दिये गये थे। महारानी एलिजाबेथ ने देश की मुद्रा मे सुधार करना चाहा और इस उद्देश्य से बहुत से नये तथा पूरे वजन के सिक्के चलन मे डाले गये। उनका विचार था कि नई और अच्छी मुद्रा के चलन मे आने से लोग केवल उसका ही प्रयोग करेगे और निकृष्ट सिक्के सरकारी कोष मे वापस आ जायेंगे किन्तु परिणाम इसके विपरीत हुआ। जैसे ही नये सिक्के चलन मे डाले जाते थे वैसे ही वे गायब हो जाते थे और पुराने तथा निकृष्ट सिक्के ही चलन मे रहते थे। नई मुद्रा को चलन मे रखने का यह प्रयत्न कई बार किया गया किन्तु प्रत्येक बार उसमे असफलता ही मिली। महारानी को इस बात से बडी निराशा हुई और उन्होने इस असफलता का कारण जानना चाहा। **सर टामस ग्रेशम** जो उस समय के एक बहुत बडे व्यापारी तथा महारानी के आर्थिक सलाहकार थे, उनके सामने यह समस्या रक्खी गई। उन्होने यह बतलाया कि ऐसा होना बिल्कुल स्वाभाविक है क्योकि "बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देने की प्रवृत्ति रखती है, किन्तु अच्छी मुद्रा बुरी मुद्रा को चलन से बाहर नही निकाल सकती है।"[7]

7 "Bad money drives out good money but good money cannot drive out bad."
—*Thomas Gresham.*

ग्रेशम के नियम के अनुसार, "अन्य बातें समान रहने पर जब किसी देश में दो (या अधिक) प्रकार की मुद्रायें एक ही समय में चलती हैं तो बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देती है।"[८] यदि किसी देश में अच्छी और बुरी मुद्रायें एक साथ चलती हैं और यदि दोनों ही असीमित विधिग्राह्य हैं तो बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देने की प्रवृत्ति रखती है। आरम्भ में इस नियम की व्याख्या केवल एक धातुमान के दृष्टिकोण से ही की गई थी किन्तु बाद के अर्थशास्त्रियों ने नियम का विस्तार करके उसे द्वि-धातुमान तथा पत्र मुद्रामान के सम्बन्ध में भी लागू किया है। प्रो० मार्शल ने इस नियम की व्याख्या इस प्रकार की है—"यदि हीन मुद्रा परिमाण में सीमित नहीं है, तो वह अच्छी मुद्रा को प्रचलन से बाहर निकाल देती है।"[९]

इस नियम के सम्बन्ध में हमें अच्छी और बुरी मुद्रा का भेद भली प्रकार समझ लेना चाहिए। बुरी मुद्रा का अभिप्राय हमेशा खोटे तथा कटे हुए सिक्कों से नहीं है, बल्कि बुरी मुद्रा का अर्थ उन मुद्राओं से होता है जिनका धातु मूल्य हल्का और सस्ता हो। एक धातुमान (Monometallism) में पुराने, घिसे हुए तथा कम वजन के सिक्के ही बुरी मुद्रा होते हैं, किन्तु द्वि-धातुमान में बुरी मुद्रा वह होती है जो घटिया और सस्ती धातु की बनी हो। यदि पत्र मुद्रा और धातु मुद्रा एक साथ चलती हैं तो पत्र मुद्रा बुरी तथा धातु मुद्रा अच्छी मुद्रा होगी। यह स्मरण रहे कि ग्रेशम के नियम में अच्छी और बुरी मुद्रा शब्द का प्रयोग सापेक्षिक रूप में किया जाता है। एक मुद्रा दूसरी मुद्रा की अपेक्षा अच्छी या बुरी हो सकती है। यदि ऐसा हो तो केवल बुरी मुद्रा ही चलन में रहती है और अच्छी मुद्रा चलन से बाहर हो जाती है।

अच्छी मुद्रा चलन से बाहर क्यों हो जाती है ?

ग्रेशम के नियम के लागू होने की दशा में अच्छी मुद्रा के चलन से बाहर निकल जाने के निम्नलिखित कारण बतलाये गये हैं—

(१) अच्छी मुद्रा का संग्रह (Hoarding of Good Money)—लोगों में यह सामान्य प्रवृत्ति पाई जाती है कि वे केवल नये और पूरे वजन के सिक्कों का ही संग्रह करते हैं क्योंकि ऐसा करने में उन्हें लाभ रहता है। पुरानी और बुरी मुद्रा को लोग जमा के रूप में नहीं रखना चाहते हैं और उसे केवल चलन में ही रखा जाता है। इस प्रकार चलन में डाली जाने वाली नई और अच्छी मुद्रा का कुछ भाग लोगों

---

8 *"Other things being equal, when in a country two (or more) kinds of money circulate at the same time, bad money drives good money out of circulation."*

9 "An inferior currency, if not limited in quantity, will drive out the superior currency." —*Alfred Marshall :* Money, Currency and Credit.

के द्वारा जमा कर लिया जाता है और उसे तिजोरियो मे बन्द करके अथवा जमीन मे गाढ कर रख दिया जाता है।

(२) अच्छे सिक्कों को पिघला देना (Melting of Good Coins)—जो लोग सिक्को को पिघला कर उनमे से धातु प्राप्त करना चाहते हैं, वे केवल नये और पूरे वजन के सिक्को को ही पिघलाते है, क्योंकि ऐसा करने से उन्हे अधिक धातु प्राप्त होती है। पिघलाने के लिए घिसे हुए और कम वजन के सिक्को को नही चुना जाता है। अच्छी मुद्रा की काफी बडी मात्रा चलन से इसलिए गायब हो जाती है क्योकि उसे सर्राफो तथा अन्य लोगो के द्वारा पिघला डाला जाता है।

(३) अच्छे सिक्कों का निर्यात (Export of Good Coins)— व्यापारियो के द्वारा अच्छे और पूरे वजन के सिक्को का विदेशी भुगतान निबटाने के लिए निर्यात कर दिया जाता है। क्योकि एक देश के सिक्के दूसरे देश मे मुद्रा के रूप मे स्वीकार नही किये जाते हैं और उन्हे तोलकर धातुओ के रूप मे लिया जाता है, इसलिए व्यापारियो को नये और पूरे वजन के सिक्को को बाहर भेजने मे लाभ रहता है।

बुरी मुद्रा चलन मे क्यो रहती है ?

बुरी मुद्रा चलन मे इसलिए रहती है क्योकि विनिमय का कार्य करने के लिए अच्छी और बुरी मुद्रा मे किसी प्रकार का भेद नही किया जाता है। बुरी मुद्रा भी विनिमय का कार्य उतनी ही अच्छी प्रकार से करती है जितनी की अच्छी मुद्रा। इसलिए लोग बुरी मुद्रा को विनिमय का कार्य करने के लिए बराबर प्रयोग करते रहते हैं और वह चलन से बाहर नही होती है। इसका दूसरा कारण लोगो की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है जिसके आधीन वे अच्छी मुद्रा को अपने पास रखते है और बुरी मुद्रा को भुगतानो मे देते है। अच्छी और नई मुद्रा को लोगो के द्वारा रोक लिया जाता है और केवल बुरी मुद्रा ही चलन मे रह जाती है। व्यापारी लोग भी बुरी मुद्रा को चलन मे रखने मे सहायता देते हैं क्योकि वे अपने ग्राहको को प्रसन्न रखने के लिए ऐसी बुरी मुद्रा को स्वीकार कर लेते है जिसे वे आगे चला सके। इन्ही सब कारणो से बुरी मुद्रा चलन मे रहने की प्रवृत्ति रखती है।

नियम का क्षेत्र (Scope of the Law)—

यद्यपि ग्रेशम के नियम की व्याख्या एक धातुमान तथा द्वि-धातुमान के सम्बन्ध मे ही की जाती है किन्तु कुछ परिस्थितियो मे यह नियम पत्र मुद्रामान मे भी कार्यशील हो सकता हैं। नियम का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न प्रकार के मुद्रामानो के सम्बन्ध मे उसका अध्ययन किया जाये।

एक धातुमान मे नियम (Law under Monometallism)—

एक धातुमान प्रणाली मे यह नियम दो दशाओ मे लागू होता है। **(अ) यदि देश में केवल प्रमाणिक मुद्रा ही चलती हो**—ऐसी दशा मे जो सिक्के पुराने हो गए

हैं और घिस जाने अथवा कट जाने के कारण उनका वजन कम हो गया है, वे बुरी मुद्रा होने के कारण चलन मे रहने की प्रवृत्ति रखेंगे और नये तथा पूरे वजन के सिक्के लोगो के द्वारा जमा कर लिए जायेंगे अथवा उन्हे गला दिया जायेगा। (ब) यदि देश मे प्रमाणिक और सांकेतिक सिक्के एक साथ चलते हों। ऐसी दशा मे सांकेतिक सिक्के ही चलन मे रहेंगे क्योंकि उनका धात्विक मूल्य प्रमाणिक सिक्कों की अपेक्षा कम होता है। प्रमाणिक सिक्के अधिक धात्विक मूल्य होने के कारण गला दिये जायेंगे अथवा लोग उन्हे अपने पास रोक लेंगे। इस प्रकार दोनो ही दशाओं मे ग्रेशम का नियम कार्यशील होगा। भारतवर्ष मे भी इसी प्रकार की स्थिति तब पैदा हुई जब महारानी विक्टोरिया और जार्ज पंचम के दो प्रकार के रुपये चलन मे थे। लोगो ने विक्टोरिया के रुपयो मे अधिक चांदी होने के कारण उन्हे गला डाला और केवल जार्ज पंचम के घटिया रुपये ही चलन मे रह गये।

द्वि-धातुमान में ग्रेशम का नियम—

द्वि-धातुमान मे ग्रेशम के नियम के लागू होने की तीव्र प्रवृत्ति पाई जाती है और वह द्वि-धातुमान की असफलता का मुख्य कारण बतलाया जाता है। जब भी दोनो मे से किसी एक धातु का बाजारी मूल्य टकसाली मूल्य की अपेक्षा अधिक हो जाता है तो उस धातु के सिक्के चलन से गायब हो जाते हैं। द्वि-धातुमान मे सोने और चांदी के सिक्के एक साथ चलाये जाते है, और उनका विनियम अनुपात सरकार के द्वारा निश्चित कर दिया जाता है, जिसे टकसाली अनुपात (Mint Ratio) कहते हैं। इसी प्रकार सोने और चांदी का एक बाजारी अनुपात (Market Ratio) होता है, जिसके अनुसार सोना और चांदी बाजार मे एक दूसरे के साथ बदले जाते हैं। जब तक बाजारी अनुपात टकसाली अनुपात के बराबर होता है तो ग्रेशम का नियम लागू नही होता है, किन्तु जैसे ही इन दोनो में अन्तर आ जाता है वैसे ही नियम कार्यशील होने लगता है। टकसाली अनुपात प्राय निश्चित रहता है किन्तु बाजारी अनुपात सोने और चांदी की मांग और पूर्ति मे परिवर्तन होने के साथ बदलता रहता है। यह सम्भव हो सकता है कि बाजार मे एक धातु के मूल्य में दूसरी धातु की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ परिवर्तन हो जायें। ऐसी दशा में एक धातु टकसाल पर सस्ती और बाजार में महगी हो जाती है। जिस धातु का बाजारी मूल्य टकसाली मूल्य की अपेक्षा अधिक होता है उसके सिक्के अच्छी मुद्रा होने के कारण चलन से गायब हो जाते हैं और जो धातु बाजार में सस्ती होती है, उसके सिक्के बुरी मुद्रा होने के कारण चलन में रहते है।

उदाहरणार्थ यदि किसी देश मे सोने और चांदी की सरकारी दर (Mint Ratio) १ . १६ निश्चित की गई है तो कोई भी टकसाल मे १६ चांदी के सिक्कों के बदले मे सोने का सिक्का प्राप्त कर सकता है। यदि सोने और चांदी का बाजारी अनुपात भी १ १६ है तो ग्रेशम का नियम कार्यशील नही होगा, किन्तु यदि सोने

का बाजारी मूल्य चाँदी की अपेक्षा अधिक बढ जाता है और बाजारी अनुपात (Market Ratio) बदलकर १ : १७ हो जाता है तो यह नियम काम करने लगेगा। अब लोगों के लिए सोने के सिक्कों को पिघलाना लाभदायक हो गया है। वे १६ चाँदी के सिक्कों के बदले मे एक सोने का सिक्का टकसाल से लाकर उसे बाजार मे १७ चाँदी के सिक्कों के बदले मे बेचकर लाभ प्राप्त कर सकते है। इस प्रकार सोने के समस्त सिक्के पिघला दिये जायेंगे और केवल चाँदी के सिक्के ही चलन मे रह जायेंगे। भारतवर्ष मे जब सोने और चाँदी के सिक्के एक साथ चलन मे डाले गये तो सोने के सिक्के चलन मे डालते ही गायब हो गये। ब्रिटिश सरकार ने समझा कि भारतवासी सोने की मुद्रा पसन्द नही करते है किन्तु सोने के गायब हो जाने का वास्तविक कारण ग्रेशम के नियम का कार्यशील होना था।

जब धातु और पत्र मुद्रा का चलन साथ-साथ हो—

जब देश मे धातु मुद्रा तथा पत्र मुद्रा एक साथ चलती हैं, तो धातु के सिक्के चलन से बाहर हो जाने की प्रवृत्ति रखते हैं। धातु मुद्रा पत्र मुद्रा की अपेक्षा अच्छी मुद्रा समझी जाती है क्योंकि उसका वस्तु के रूप मे भी कुछ मूल्य होता है किन्तु पत्र मुद्रा का वास्तविक मूल्य शून्य होता है। लोग धातु मुद्रा को जमा करने की प्रवृत्ति रखेंगे तथा उसे धातु निकालने के लिए गलाया भी जा सकता है। ऐसी स्थिति मे पत्र मुद्रा धातु मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देती है। प्राय ऐसा तब होता है जब धातु मुद्रा का बाजारी मूल्य काफी अधिक बढ जाता है।

पत्र मुद्रामान के नियम—

पत्र मुद्रामान की स्थिति मे भी ग्रेशम का नियम लागू हो सकता है। यदि देश मे प्रतिनिधि पत्र मुद्रा तथा परिवर्तनीय पत्र मुद्रायें साथ-साथ चलती है तो प्रतिनिधि पत्र मुद्रा श्रेष्ठ होने के कारण चलन से बाहर हो सकती है। जब परिवर्तनीय पत्र मुद्रायें एक साथ चलती है तो लोग परिवर्तनीय मुद्रा को जमा कर सकते है और केवल अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा चलन मे रह सकती है। एक ही प्रकार की पत्र मुद्रा चलन मे होने पर लोग गन्दे तथा फटे नोटो को चलन मे रखने की प्रवृत्ति रखते है और नये तथा साफ नोटो को जमा किया जा सकता है। किन्तु पत्र मुद्रामान मे ग्रेशम के नियम का लागू होना अधिकाश रूप से काल्पनिक है। वास्तव में इस नियम का महत्व केवल धातुमान मे ही है और पत्र मुद्रामान की व्यवस्था के अन्तर्गत यह नियम कोई विशेष बाधा उत्पन्न नही करता है।

नियम की सीमायें—

यद्यपि प्रत्येक प्रकार के मुद्रामान मे ग्रेशम का नियम लागू होने की प्रवृत्ति रखता है किन्तु इस नियम के कुछ अपवाद भी हैं। प्रो० मार्शल ने इस नियम की परिभाषा करते समय उसकी सीमाओं की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। उनके अनुसार यदि बुरी मुद्रा का चलन सीमित होता है तो ऐसी दशा मे नियम के

कार्यशील होने की प्रवृत्ति बहुत कम हो जाती है। सामान्यत. निम्नलिखित दशाओं में ग्रेशम का नियम कार्यशील नहीं होता है—

(१) जब मुद्रा की कुल मात्रा आवश्यकता से कम हो—यदि मुद्रा की कुल मात्रा, अच्छी और बुरी मुद्रा को मिलाकर, देश की व्यापार तथा व्यवसायिक आवश्यकता से कम रह जाती है तो ऐसी दशा में यह नियम कार्यशील नहीं होगा। वास्तव में प्रत्येक देश के लिए विनिमय के कार्य को ठीक प्रकार चलाने के लिए मुद्रा की एक न्यूनतम मात्रा आवश्यक होती है। यदि मुद्रा की कुल मात्रा इस आवश्यक मात्रा से कम रह जाती है तो विनिमय कार्य में भारी असुविधा होने लगती है और ऐसी दशा में लोग अच्छी मुद्रा का संचय नहीं करेंगे। दोनों प्रकार की मुद्राओं का विनिमय कार्य करने के लिए प्रयोग किया जायेगा और ग्रेशम का नियम लागू नहीं हो सकेगा। इसीलिए मार्शल ने कहा है कि ग्रेशम का नियम तब लागू होता है जब निकृष्ट मुद्रा असीमित मात्रा में चलाई जाती है।

(२) जब लोग बुरी मुद्रा का बहिष्कार करने लगें—यदि सब लोग मिलकर बुरी मुद्रा को न स्वीकार करने का निश्चय कर लेते हैं तो ग्रेशम का नियम कार्यशील नहीं होगा। यदि बुरी मुद्रा इतनी निकृष्ट हो गई है अथवा उसका मूल्य इतना अधिक गिर गया है कि लोग उसे अपनी वस्तुओं तथा सेवाओं के बदलने में स्वीकार नहीं करते हैं तो ऐसी दशा में बुरी मुद्रा स्वयं चलन से बाहर हो जायगी और ग्रेशम का नियम कार्यशील नहीं हो सकेगा।

(३) जब विभिन्न मुद्राओं का कार्य-क्षेत्र अलग-अलग हो—यदि देश में चलने वाली प्रमाणिक तथा सांकेतिक मुद्राओं का कार्य-क्षेत्र अलग-अलग निश्चित कर दिया जाता है और वे भिन्न-भिन्न प्रकार की मांग को पूरा करती हैं, तो यह नियम कार्यशील नहीं होगा और दोनों प्रकार की मुद्राएँ चलन में रहेंगी। ऐसी दशा में सांकेतिक सिक्के बुरी मुद्रा होते हुए भी प्रमाणिक सिक्कों को चलन से बाहर नहीं निकाल सकेंगे।

(४) बैंकिंग का पर्याप्त विकास हो जाने की दशा में—बैंकों का विकास तथा साख मुद्रा का प्रयोग भी ग्रेशम के नियम को कार्यशील होने से रोकता रहता है। जब लोग अपने धन को बैंकों में जमा रखने के अभ्यस्त हो जाते हैं और अधिकांश भुगतान चैकों के द्वारा निबटाये जाने लगते हैं तो ऐसी दशा में लोगों के द्वारा अच्छी मुद्रा के संग्रह किये जाने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। इस प्रकार की व्यवस्था में भुगतानों को निबटाने के लिए बैंक मुद्रा का प्रयोग किया जाता है और बैंक मुद्रा में अच्छी और बुरी मुद्रा का भेद नहीं किया जा सकता है। इसी कारण वर्तमान समाज में इस नियम के कार्यशील होने की समस्या लगभग समाप्त हो गई है।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय द्वि-धातुमान की दशा में—यदि द्वि-धातुमान को संसार के अधिकांश देशों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रामान के रूप में अपना लिया जाता है

और सभी देशों में सोने व चांदी का विनिमय अनुपात एक रखा जाता है तो ऐसी दशा मे क्षतिपूरक प्रभाव (Compensatory Action) के कारण ग्रेशम के नियम के कार्यशील होने की सम्भावना बहुत कम रह जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय द्वि-धातुमान की स्थिति मे क्षतिपूरक शक्तियाँ टकसाली अनुपात (Mint Ratio) तथा बाजारी अनुपात (Market Ratio) में समानता स्थापित करके ग्रेशम के नियम की प्रवृत्तियों को अत्यन्त कमजोर कर देती है।

अन्य प्रकार के मुद्रामान
(Other Types of Monetary Standard)

एक धातुमान तथा द्वि-धातुमान के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के मुद्रामान भी हो सकते है। यद्यपि व्यवहारिक दृष्टि से इस प्रकार के मुद्रामान अधिक महत्वपूर्ण नही है किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से उनका अध्ययन आवश्यक है। इनमे से कुछ मुद्रामान इस प्रकार हैं—

(१) बहु-धातुमान (Multimetallism)—बहु-धातुमान उस मुद्रा प्रणाली को कहते हैं जिसमे कई धातुयें एक साथ मूल्यमान का कार्य करती हैं। इस प्रकार के धातुमान मे विभिन्न प्रकार की धातुओ के सिक्के असीमित विधिग्राह्य मुद्रा के रूप मे चलाये जाते है, उनका स्वतन्त्र मुद्रण किया जाता है तथा उनमे से प्रत्येक धातु के सिक्कों का विनिमय अनुपात अन्य धातुओं के सिक्को के साथ निश्चित होता है। प्रत्येक धातु के सिक्के प्रमाणिक मुद्रा होते हैं और ऋणदाता को किसी भी धातु के सिक्को में ऋण चुकाने का अधिकार होता है। व्यवहारिक दृष्टि से इस मुद्रामान मे अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। विभिन्न धातुओ के मूल्यो मे तुलनात्मक परिवर्तन हो जाने के कारण उनके विनिमय अनुपातों को बनाये रखना असम्भव हो जाता है और ऐसी दशा मे इस प्रकार का मुद्रामान टूट जाता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के सिक्को के एक साथ चलन मे होने से भुगतानो को निवटाने मे काफी असुविधा हो सकती है। इन्ही कारणो से बहु-धातुमान को कभी भी किसी देश के द्वारा नही अपनाया गया है।

(२) समानान्तर मान (Parallel Standard)—इस प्रकार के मुद्रामान मे द्वि-धातुमान की सभी विशेषतायें पाई जाती है किन्तु दोनो धातुओं का विनिमय अनुपात सरकार के द्वारा निश्चित नही किया जाता है और उसे निश्चित होने के लिए बाजारी शक्तियों पर छोड दिया जाता है। समानान्तर मुद्रामान मे दो धातुओ के सिक्के प्रमाणिक मुद्रा के रूप मे चलते हैं और वे असीमित विधिग्राह्य होते हैं किन्तु उनका आपसी विनिमय अनुपात सरकार निश्चित नही करती है। जब सोने व चाँदी की मुद्राओ को स्थाई रूप से चलन मे रखना आवश्यक समझा जाता है तो दोनो प्रकार के सिक्को का विनिमय अनुपात बाजारी शक्तियों पर छोड दिया जाता है और सरकार उन्हे प्रचलित दैनिक दर पर स्वीकार करती है। इस प्रकार का

मुद्रा मान सन् १६६३ मे इगलैंड मे अपनाया गया था किन्तु विशेष असुविधाओं के कारण उसे छोड दिया गया। इस मुद्रामान मे व्यापारियो को भुगतान निबटाने मे बहुत कठिनाई होती है क्योंकि उन्हे अस्थाई बाजारी मूल्य वाले सिक्को मे अपने हिसाब को निबटाना होता है।

(३) **सूचीबद्ध अथवा सूचक अक मान** (Tabular or Index Number Standerd)—इस प्रकार के मुद्रामान का सुझाव प्रो० फिशर (Fisher) के द्वारा दिया गया था। उनके अनुसार यह आवश्यक है कि मूल्य-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो के साथ-साथ मुद्रा के मूल्य मे भी परिवर्तन किये जाये। मुद्रा के मूल्य को सामान्य सूचक अक के साथ सम्बन्धित कर दिया जाता है और सूचक अक के बढने तथा घटने पर मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन किये जाते है। इस उद्देश्य के लिए एक आधार वर्ष चुन लिया जाता है और इस वर्ष के मूल्यो के आधार पर सूचक अक बनाने जाते है। सूचक अक मे होने वाले परिवर्तनो के अनुसार भविष्य मे मुद्रा का मूल्य निश्चित किया जाता है। सूचक अक के बढने पर सरकार अपनी सोने की दर को उसी अनुपात मे कम कर देती है जिसके कारण कम सोना मुद्रा बनाने के लिए प्रस्तुत किया जाता है, मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है और मुद्रा सकुचन के कारण मुद्रा का मूल्य गिरने नही पाता है। इस प्रकार सूचक अक मे कोई भी परिवर्तन होने पर मुद्रा के मूल्य को उसके अनुसार ठीक कर लिया जाता है।

इस प्रकार के मुद्रामान मे मुद्रा के मूल्य तथा सामान्य मूल्य-स्तर मे स्थिरता स्थापित की जा सकती है और यह इस प्रणाली का सबसे बडा लाभ है। किन्तु व्यवहारिक रूप मे यह प्रणाली बहुत दोषपूर्ण है—सर्वप्रथम तो सही सूचक अक बनाना ही सम्भव नही होता है। सूचक अको के द्वारा मूल्य-स्तर के परिवर्तनो को ठीक प्रकार से न नाप सकने के कारण इस प्रकार के मुद्रामान पर अधिक विश्वास नही किया जा सकता है। द्वितीय इस उद्देश्य के लिए सरकार को बार-बार सूचक अक बनाने पडते है तथा उनके अनुसार मुद्रा के मूल्य को बदलना होता है जो बहुत असुविधापूर्ण है। तृतीय, निर्देशाक सदैव मूल्य-स्तर की भूतकालीन स्थिति को बतलाते है और उनके आधार पर मुद्रा के वर्तमान अथवा भविष्य के मूल्य मे स्थिरता लाने का प्रयत्न अधिक सफल नही हो सकता है। इन कठिनाइयो के कारण ही सूचक अक मुद्रामान किसी भी देश मे नही अपनाया गया।

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'जब अच्छे और बुरे सिक्के एक साथ प्रचलन में होते हैं और दोनों में से किसी से भी ऋण का भुगतान किया जा सकता है, तो अच्छे सिक्कों को लोग या तो गला लेते हैं और या ऋणों को चुकाने अथवा लाभ प्राप्त करने के लिए देश से बाहर भेज देते हैं और इस प्रकार केवल बुरे सिक्के ही चलन में रह जाते हैं।' ऊपर लिखित नियम की विवेचना कीजिए।
(आगरा बी० ए० १९५७)

(२) द्वि-धातुमान के क्षतिपूरक कार्य पर एक नोट लिखिये।
(आगरा बी० काम १९५६ स, गोरखपुर बी० काम १९५९)

(३) द्वि-धातुमान की मुख्य विशेषतायें बताइये। मूल्य द्वि-धातुमान में अधिक स्थिर रहते हैं अथवा एक धातुमान में? (आगरा बी० काम १९५५)

(४) मुद्रा सम्बन्धी ग्रेशम के नियम की आलोचनापूर्ण विवेचना कीजिए। भारतीय चलन प्रणाली के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कीजिए।
(राजस्थान बी० काम १९५६)

(५) एक धातुमान तथा द्वि-धातुमान में अन्तर कीजिए।
(राजस्थान बी० ए० १९५६)

(६) द्वि-धातुमान चलन पद्धति की व्याख्या कीजिए एवं उसके गुण और दोष बताइये। (विक्रम बी० ए० १९५९, आगरा बी० काम १९५९ स)

(७) द्वि-धातुमान और एक धातुमान की विशेषताओं की विवेचना कीजिए और बताइये कि क्या द्वि-धातुमान एक धातुमान की अपेक्षा मूल्य-स्तर को स्थाई रखता है। (आगरा बी० काम १९६१)

(८) द्वि-धातुमान की विशेषताओं पर प्रकाश डालिये और इसके गुण-दोष बताइये। (गोरखपुर बी० काम १९५९)

(९) द्वि-धातुमान का क्या अर्थ है? इसमें ग्रेशम का नियम किस प्रकार कार्यशील होता है? (सागर बी० काम १९५९)

(१०) ग्रेशम के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। क्या इस सिद्धान्त के कुछ अपवाद हैं? (जबलपुर बी० काम १९५८)

५

स्वर्णमान

GOLD STANDARD

एक धातुमान (Monometallism) के दो प्रचलित रूप रहे हैं—स्वर्णमान (Gold Standard) तथा रजतमान (Silver Standard) इन दोनों में से स्वर्णमान का अध्ययन अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि बहुत लम्बे समय तक संसार के प्रमुख देशों में स्वर्णमान की व्यवस्था रही है। यद्यपि एक समय ऐसा था जब चाँदी को प्रमुख मुद्रा धातु समझा जाता था। किन्तु यह स्थिति अधिक समय तक न रह सकी और स्वर्णमान का विकास होने पर रजतमान लगभग समाप्त हो गया। काफी प्राचीन समय से सोने का प्रयोग मुद्रा के रूप में होता आया है। सोना ही एक ऐसी वस्तु है जिसे प्रत्येक देश तथा काल में आम लोगों के द्वारा स्वीकार किया जाता रहा है। इस सामान्य स्वीकृति के कारण ही स्वर्ण मुद्रा का प्रयोग निरन्तर बढ़ता गया। आरम्भ में केवल कुछ एक धनी देशों ने उसे अपनाया किन्तु धीरे-धीरे स्वर्णमान का क्षेत्र विस्तृत होता गया और अन्य देशों ने भी उसे अपना लिया। २०वीं शताब्दी के आरम्भ में स्वर्णमान ने संसार के प्रमुख मुद्रामान का स्थान ले लिया। केवल कुछ एक देशों को छोड़ कर (चीन, भारत, स्पेन आदि) अन्य सभी देशों में स्वर्णमान प्रचलित था और इन देशों ने अपनी मुद्रा को सोने के साथ सम्बन्धित किया हुआ था।

स्वर्णमान की परिभाषा (Definition of Gold Standard)—

स्वर्णमान का अभिप्राय उस मुद्रामान से होता है जिसमें या तो सोने के सिक्के चलाये जाते हैं अथवा देश की मुद्रा को सोने में परिवर्तनीय रखा जाता है। इस प्रकार के मुद्रामान में सोना मूल्यमान का कार्य करता है और सब प्रकार के मूल्य उसके द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। देश की मुद्रा की इकाई की क्रय-शक्ति को सोने की एक निश्चित मात्रा के मूल्य के बराबर कर दिया जाता है। वास्तविक मुद्रा या तो एक निश्चित वजन और शुद्धता वाले सोने की बनी होती है अथवा उसे एक निश्चित दर पर सोने में परिवर्तनशील रखने की सुविधा दी जाती है।

स्वर्णमान का मुख्य उद्देश्य मुद्रा के मूल्य को सोने के साथ सम्बन्धित करके उसे स्थिर रखना होता है। विभिन्न मुद्रा शास्त्रियों के द्वारा स्वर्णमान की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई हैं। कुछ परिभाषाओं मे स्वर्णमान की व्याख्या संकुचित अर्थ मे की गई है किन्तु अधिकांश परिभाषायें उसके विस्तृत रूप पर आधारित है। हैबरलर (Haberler) ने स्वर्णमान की परिभाषा संकुचित अर्थ में की है। उनके अनुसार "स्वर्णमान संकीर्ण अर्थ मे ऐसी मुद्रा प्रणाली है जिसमे प्रमाणिक स्वरूप वाले सोने के सिक्के अथवा स्वर्ण पत्र चलाये जाते हैं और उनके पीछे शत प्रतिशत सोना रखा जाता है।"[1] स्वर्णमान की यह परिभाषा अत्यन्त संकुचित है क्योंकि प्रत्येक प्रकार के स्वर्णमान मे स्वर्ण मुद्रा का चलन अथवा मुद्रा के पीछे १००% स्वर्ण कोष का होना अनिवार्य नही है। राबर्टसन, कौलबोर्न तथा कैमरर आदि अर्थशास्त्रियो ने स्वर्णमान की परिभाषा अधिक विस्तृत अर्थ मे की है। राबर्टसन (Robertson) के अनुसार "स्वर्णमान वह अवस्था है जिसमे एक देश अपनी मुद्रा की इकाई के मूल्य को और सोने के निश्चित वजन के मूल्य को एक दूसरे के बराबर बनाये रखता है।"[2] कौलबोर्न (Coulborn) ने स्वर्णमान की परिभाषा इस प्रकार की है—"स्वर्णमान वह व्यवस्था है जिसमे किसी देश की मुद्रा की मुख्य इकाई एक निश्चित प्रकार के सोने की निश्चित मात्रा के साथ बदली जा सकती है।"[3] कैमरर (Kemerrar) के अनुसार "स्वर्णमान वह मुद्रा प्रणाली है जिसमे मूल्य की इकाई, जिसके द्वारा कीमतें, मजदूरी तथा ऋणो को व्यक्त किया जाता है और चुकाया जाता है, स्वतन्त्र स्वर्ण बाजार मे सोने की एक निश्चित मात्रा के मूल्य के बराबर हो।"[4] इन परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक देश स्वर्णमान पर तब होता है जब उस देश की मुद्रा इकाई का मूल्य सोने की एक निश्चित मात्रा के मूल्य के बराबर रखा जाता हो और वहाँ की सरकार देश की मुद्रा को एक निश्चित दर पर सोने अथवा सोने के सिक्को मे बदलने की जिम्मेदारी लेती हो।

---

1 "A gold standard, "in narrower sense signifies monetary system under which gold coins of standard specifications of gold certificates with 100% gold backing form the circulating medium." —*Haberler*

2 "Gold Standard is a state of affairs, in which a country keeps the value of its monetary unit and the value of a defined weight of gold at an equality with one another." —*Robertson D. H.* : Money, P. 64.

3 "The Gold Standard is that arrangement whereby the chief piece of money of a country is exchangeable with a fixed quantity of gold of a specific quality." —*W. A. L. Coulborn* : A Discussion of Money, P. 117.

4 "Gold Standard is a money system where the unit of value in which prices, wages and debts are customarily expressed and paid, consist of the value of a fixed quantity of gold in a free gold market."

—*Kemerrer* : Gold and Gold Standard, P. 135-136.

स्वर्णमान की विशेषतायें (Features of Gold Standard)—

पूर्ण स्वर्णमान की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(१) देश की मुद्रा इकाई का सोने के साथ निश्चित सम्बन्ध होता है— प्रत्येक स्वर्णमान वाले देश को अपनी प्रमाणित मुद्रा का मूल्य सोने के रूप में व्यक्त करना होता है। मुद्रा का मूल्य सोने की एक निश्चित मात्रा के मूल्य के बराबर रक्खा जाता है। इसके लिए देश में या तो निश्चित वजन और शुद्धता वाले सोने के सिक्के चलाये जाते हैं या देश की मुद्रा को निश्चित दर पर सोने में परिवर्तनीय रक्खा जाता है। मुद्रा इकाई के मूल्य को सोने के साथ सम्बन्धित रखना स्वर्णमान का आधार माना जाता है। हॉट्रे (Hawtrey) के अनुसार "स्वर्णमान का आधार सोने के मूल्य को निश्चित करके मुद्रा इकाई के मूल्य को सोने के मूल्य के साथ बाँध देना है।"[५]

(२) निश्चित दरों पर सरकार सोने को बेचने और खरीदने का काम करती है—स्वर्णमान में सरकार को निश्चित दरों पर अपरिमित मात्रा में सोने को बेचने तथा खरीदने की व्यवस्था करनी होती है। ऐसा इसलिए किया जाता है जिससे कि सोने के भाव में स्थिरता बनी रहे और वह सरकारी भाव से ऊपर या नीचे न जा सके।

(३) सोने का स्वतन्त्र आयात तथा निर्यात किया जाता है—स्वर्णमान वाले देशों में सोने के आयात तथा निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता है। किसी भी मात्रा में सोना देश से बाहर भेजा जा सकता है अथवा बाहर से देश में मगाया जा सकता है। सोने का स्वतन्त्र आयात तथा निर्यात होने के कारण विभिन्न देशों में सोने के भाव के एक होने की प्रवृत्ति रहती है।

स्वर्णमान के कार्य (Functions of Gold Standard)—

स्वर्णमान का सर्वप्रथम कार्य **मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करना** है।[६] प्रत्येक प्रकार के स्वर्णमान में मुद्रा को सोने के साथ सम्बन्धित रक्खा जाता है और इस सम्बन्ध के द्वारा मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित किया जाता है। आन्तरिक क्षेत्र में स्वर्णमान मुद्रा की मात्रा को स्वर्ण कोषों की मात्रा के साथ सम्बन्धित रखना है और सोने की मात्रा के घटने-बढ़ने पर मुद्रा की मात्रा में भी अनुपातिक परिवर्तन कर दिये जाते हैं। प्रत्येक देश में मुद्रा सम्बन्धी कुछ ऐसे नियम होते है जिनके अनुसार पत्र मुद्रा स्वर्ण कोष के आधार पर जारी की जाती है। पत्र मुद्रा के

5 "The foundation of the Gold Standard is the tying of the value of the monetary unit to the value of gold by fixing of the price of gold"

—*Hawtrey*.

6 "The modern gold standard serves two functions which can be clearly distinguished. In the first place it is method of controlling the volume of currency." —*Crowther, Geoffrey*. An Outline of Money, P. 231.

पीछे रक्खे जाने वाले स्वर्ण कोष का अनुपात भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न हो सकता है किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करके अत्यधिक निकासी को रोकना होता है। जब तक मुद्रा का सम्बन्ध सोने के साथ होता है उसका अनावश्यक विस्तार नही किया जा सकता है। क्योंकि सोने की पूर्ति में सामयिक (Seasonal) परिवर्तन नही होते है, इसलिए मुद्रा व साख की मात्रा सीमित हो जाती है और मुद्रा के आन्तरिक मूल्य में स्थिरता स्थापित की जा सकती है। आन्तरिक दृष्टि से मुद्रा के मूल्य में स्थिरता स्थापित करना स्वर्णमान का एक प्रमुख तथा महत्वपूर्ण कार्य है।

स्वर्णमान का दूसरा कार्य **विदेशी विनिमय दरो को स्थिर रखना** है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए देश में सोने के मूल्य को निश्चित सीमाओं के भीतर रक्खा जाता है और सोने का आयात तथा निर्यात स्वतन्त्र रखा जाता है। प्रत्येक स्वर्णमान वाले देश की सरकार एक निश्चित दर पर असीमित मात्रा में सोना खरीदने के लिए तैयार रहती है और सोने की माग होने पर किसी भी सीमा तक सोना बेचने को तैयार रहती है। सरकार के बाजार में सोने के इतने बड़े क्रेता तथा विक्रेता के रूप में प्रस्तुत होने के कारण सोने के भाव प्राय निश्चित रहते है और वे कभी भी सरकारी दरों से ऊपर या नीचे नहीं जाते है। इसी प्रकार अन्य देशों में भी सोने के भाव को सरकारी दरों से अधिक या कम नहीं होने दिया जाता है। सोने के स्वतन्त्र आयात और निर्यात के द्वारा विभिन्न देशों में सोने के भाव में समता स्थापित की जाती है। इस प्रकार स्वर्णमान वाले देशों में सोने के भावो को नियन्त्रित करके विदेशी विनिमय दरो को स्थिर रक्खा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वर्णमान के विदेशी विनिमय स्थिर रखने के कार्य को इतना अधिक महत्वपूर्ण माना जाता कि कुछ एक अर्थशास्त्रियों ने तो स्वर्णमान को विदेशी विनिमय दरो को स्थिर रखने का साधन माना है।[7]

स्वर्णमान के यह दोनो कार्य एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न है और उनका अलग-अलग अध्ययन किया जा सकता है। कुछ अर्थशास्त्रियो ने अध्ययन की सुविधा के लिए स्वर्णमान के दो रूप माने है—(१) आन्तरिक स्वर्णमान (Domestic Gold Standard) और (२) अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान (International Gold Standard)। यद्यपि अधिकतर देशों में स्वर्णमान यह दोनो कार्य एक साथ करता है किन्तु फिर भी उसके इन दोनों पक्षो को पृथक किया जा सकता है। स्वर्णमान का मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करने का कार्य उसके विदेशी विनिमय को स्थिर रखने के कार्य से बिल्कुल भिन्न है। यह सम्भव हो सकता है कि एक देश आन्तरिक क्षेत्र में अपनी मुद्रा को नियन्त्रित करने के लिए स्वर्ण कोष के साथ उसकी मात्रा को

7 "The gold standard can best be regarded as a device for maintaining the stability of the exchange rates."

—*Crowther* : An Outline of Money, P. 277.

सम्बन्धित रखे किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे स्वर्णमान को त्याग दे। सन् १६३१ मे इंगलैंड मे ऐसा ही किया गया। सरकार ने सोने को निश्चित दरो पर खरीदना और बेचना बन्द कर दिया किन्तु पत्र-मुद्रा के पीछे एक निश्चित अनुपात मे स्वर्णकोष रखने की व्यवस्था को जारी रक्खा गया। यह भी सम्भव हो सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे स्वर्णमान को बनाये रखा जाय और आन्तरिक क्षेत्र मे उसे छोड़ दिया जाय। इन्ही कारणो से स्वर्णमान के आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय पक्षो का अध्ययन अलग-अलग किया जा सकता है। स्वर्णमान के आन्तरिक मूल्य-स्तर को स्थिर रखने का कार्य उसके आन्तरिक पक्ष से सम्बन्धित है और विदेशी विनिमय दरो को स्थिर रखना उसके अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष को बतलाता है। आन्तरिक स्वर्णमान मुख्यतः मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करके उसके मूल्य को स्थिर रखने का कार्य करता है। इसके दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का सम्बन्ध मुद्रा के विदेशी मूल्य से है और वह विदेशी विनिमय दरो को स्थिर रखने का प्रयत्न करता है।

स्वर्णमान का इतिहास (History of Gold Standard)—

सर्वप्रथम इगलैंड के द्वारा १८१६ मे स्वर्णमान को अपनाया गया। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक अन्य देशो ने भी द्वि-धातुमान को त्याग कर उसके स्थान पर स्वर्णमान को अपना लिया। फ्रास ने १८६५ मे तथा जर्मनी ने १८७१ मे इस प्रकार के मुद्रामान को अपनाया। सन् १६०० के पश्चात् अमेरिका मे भी स्वर्णमान को अपना लिया गया। बीसवी शताब्दी के आरम्भ मे स्वर्णमान ससार का प्रमुख मुद्रामान बन गया और सभी महत्वपूर्ण देशो ने अपनी मुद्रा को सोने के साथ सम्बन्धित कर दिया। सन् १६१४ मे प्रथम महायुद्ध आरम्भ होने तक स्वर्णमान का यह महत्वपूर्ण स्थान बना रहा और वह बिना किसी कठिनाई के चलता रहा। आन्तरिक मूल्य स्तर तथा विदेशी विनिमय दरें प्राय स्थिर रहती थी। स्वर्णमान के नियमो का पालन किया जाता था और विभिन्न देशो मे मौद्रिक सहयोग था। सन् १६१४ से पूर्व स्वर्णमान वाले देशो मे सोने की मुद्रा चलाई जाती थी और सोना मूल्यवान तथा विनिमय के माध्यम का कार्य करता था। सोने का आयात तथा निर्यात स्वतन्त्र रक्खा जाता था और स्वर्ण कोषो की मात्रा मे परिवर्तन होने पर उसी अनुपात मे मुद्रा की मात्रा मे भी परिवर्तित कर दिया जाता था। किन्तु यह स्थिति अधिक समय तक न रह सकी, युद्धकालीन दशाओ मे स्वर्णमान का चलन असम्भव हो गया।

स्वर्णमान का स्थगित किया जाना (Suspension of the Gold Standard)—प्रथम महायुद्ध आरम्भ होने पर स्वर्णमान की सफलता की दशायें एक-एक करके समाप्त होने लगी। विभिन्न देशो मे सोने के सिक्कों का मुद्रण बन्द कर दिया गया, सोने के आयात तथा निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये और प्रत्येक देश सोने को सचय करने का प्रयत्न करने लगा। विभिन्न देशो मे मौद्रिक सहयोग समाप्त हो गया। प्रत्येक देश मे युद्ध की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए स्वर्ण कोष को

ध्यान में रक्खे बिना भारी मात्रा में पत्र-मुद्रा जारी की जाने लगी। स्वर्णमान के होते हुए मुद्रा का इतना विस्तार सम्भव न था। इसलिए सभी देशो के द्वारा स्वर्णमान छोड़ दिया गया।

स्वर्णमान का पुनर्स्थापन (Restoration of Gold Standard)—प्रथम महायुद्ध के पश्चात् स्वर्णमान फिर से स्थापित करने का प्रश्न उत्पन्न हुआ। विदेशी विनिमय दरो मे भारी परिवर्तन हो रहे थे जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार रुक गया था। विदेशी विनिमय दरो मे स्थिरता लाने के लिए फिर से स्वर्णमान को स्थापित करने की आवश्यकता अनुभव हुई। सन् १९२० मे ब्रुसेल्स (Brussels) के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन मे तथा १९२२ के जेनेवा (Geneva) सम्मेलन मे यह निश्चय किया गया कि स्वर्णमान को फिर से स्थापित किया जाय। प्रत्येक देश को अपने बजट को सतुलित करने तथा अपनी मुद्रा के स्वर्ण मूल्य को निश्चित करने की सलाह दी गई। युद्ध काल मे इतनी अधिक पत्र मुद्रा जारी की जा चुकी थी कि अब विभिन्न देशो के लिए अपनी समस्त पत्र-मुद्रा के पीछे १००% स्वर्णकोष रखकर फिर से स्वर्ण चलन मान अपनाना सम्भव न था। इसलिए उसके स्थान पर स्वर्ण धातुमान को अपनाया गया। सर्वप्रथम इगलैंड ने सन् १९२५ मे स्वर्ण धातुमान को अपनाया। सन् १९२७ मे भारतवर्ष में तथा १९२८ मे फ्रास मे इसी प्रकार का स्वर्णमान स्थापित किया गया। धीरे-धीरे अमेरिका को छोडकर अन्य सब देशो ने स्वर्ण धातुमान अपना लिया। अमेरिका मे स्वर्ण चलन मान को ही बनाये रक्खा गया।

स्वर्णमान का पतन (Decline of Gold Standard)—युद्धोत्तर काल मे स्वर्णमान को चलाने मे विशेष कठिनाई उत्पन्न हुई। विभिन्न देशो के बीच पुराना मौद्रिक सहयोग समाप्त हो चुका था और प्रत्येक देश सोने का सग्रह करने के लिए प्रयत्नशील था। विदेशी व्यापार की स्वतन्त्रता समाप्त हो चुकी थी। ऐसी दशाओं मे स्वर्णमान का चलना असम्भव हो गया और सन् १९३० के पश्चात् स्वर्णमान हमेशा के लिए समाप्त कर दिया गया। एक-एक करके विभिन्न देशों की मुद्राओं का सम्बन्ध सोने के साथ टूट गया। सन् १९३० मे आरम्भ होने वाली ससार की भारी आर्थिक मन्दी स्वर्णमान के लिए घातक सिद्ध हुई और उसे सदैव के लिए छोड दिया गया। सितम्बर १९३१ मे इगलैंड ने स्वर्णमान को छोड़ दिया। मार्च १९३३ मे फ्रास के द्वारा तथा सितम्बर १९३६ मे अमेरिका के द्वारा स्वर्णमान को त्याग दिया गया। इनके साथ अन्य देशो ने भी स्वर्णमान को छोडकर उसके स्थान पर पत्र मुद्रामान को अपना लिया।

स्वर्णमान के विभिन्न रूप
(Types of Gold Standard)

स्वर्णमान मुख्यतः तीन प्रकार का हो सकता है—

(अ) स्वर्ण चलन मान (Gold Currency Standard)।

(ब) स्वर्ण धातुमान (Gold Bullion Standard)।
(स) स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard)।

(अ) स्वर्ण चलन मान (Gold Currency Standard)—

स्वर्ण चलन मान या पूर्ण स्वर्णमान Full Gold Standard) एक ऐसी मुद्रा प्रणाली को कहते है जिसमे चलने वाली समस्त मुद्रा सोने की होती है या वह नोटो के साथ बराबर चलती है।[८] प्रथम महायुद्ध से पूर्व इगलैंड, अमेरिका, फ्रास, जर्मनी तथ योरप के अन्य देशो मे स्वर्ण चलन मान प्रचलित था। अमेरिका मे तो १९३३ तक इस प्रकार के मुद्रामान का प्रयोग किया जाता रहा। स्वर्णमान वाले देशो मे एक निश्चित वजन तथा शुद्धता वाले सोने के सिक्के चलाये जाते थे। सोना मूल्यमान का कार्य करता था और उसकी स्वतन्त्र ढलाई की जाती थी। चलन मे रहने वाली पत्र-मुद्रा का मूल्य भी सोने के द्वारा निश्चित होता था और उसे सोने मे पूर्णतया परिवर्तनशील रक्खा जाता था। स्वर्ण चलन मान की निम्नलिखित मुख्य विशेषतायें बतलाई जाती है—

(१) प्रमाणिक सिक्के का मूल्य सोने की एक निश्चित मात्रा के बराबर घोषित कर दिया जाता है—निश्चित वजन तथा शुद्धता वाले सोने के सिक्को को चलन मे रक्खा जाता है। जब कोई देश स्वर्णमान को अपनाता है तो सर्वप्रथम उसे अपनी मुद्रा इकाई मे पाई जाने वाली सोने की मात्रा निश्चित करनी होती है और इस प्रकार मुद्रा के मूल्य को सोने के साथ सम्बन्धित कर दिया जाता है। इगलैंड मे १९१४ से पहले सोने का सौवरेन (Sovereign) चलाया जाता था जिसका वजन १२३ २७४४७ ग्रेन होता था और शुद्धता ११/१२ होती थी। इस प्रकार एक सौवरेन मे ११३ ००१६ ग्रेन शुद्ध सोना रहता था। अमेरिकन स्वर्ण डालर मे १९३२ से पूर्व ९/१० शुद्धता वाला २५ ८ ग्रेन सोना होता था। इसी प्रकार अन्य स्वर्णमान वाले देशो की प्रमाणिक मुद्रा मे पाई जाने वाली सोने की मात्रा निश्चित होती थी। देश मे चलने वाली अन्य प्रकार की मुद्राओ को निश्चित दर पर सोने मे परिवर्तनशील रक्खा जाता था।

(२) सरकार निश्चित दर पर सोना बेचने और खरीदने के लिए बाध्य होती है—सोने की स्वतन्त्र ढलाई की जाती है और कोई भी व्यक्ति सोने के बदले मे टकसाल मे किसी भी सीमा तक सोने के सिक्के प्राप्त कर सकता है। सोना बेचने और खरीदने की सरकारी दरो मे मामूली अन्तर हो सकता है। इगलैंड मे सरकार ३ पौंड १७ शि० ९ पैंस प्रति औंस के हिसाब से सोना खरीदती थी और ३ पौंड १७ शिलिंग १०½ पैंस प्रति औंस की दर पर बेचती थी। इन नियत दरो पर सरकार किसी भी सीमा तक सोना बेचने और खरीदने का काम करती थी जिसका

8 'A currency system in which gold coins either form the whole circulation or else circulate equally with notes is known as the 'full gold standard.' —*Crowther, Geoffrey*: An Outline of Money, P. 279.

परिणाम यह होता था कि बाजार में सोने का भाव इन दरों से अधिक या कम नहीं हो सकता था। इस प्रकार एक निर्धारित मूल्य पर सोने के क्रय-विक्रय के द्वारा सरकार प्रमाणिक सिक्के के अंकित मूल्य और आन्तरिक मूल्य में समानता स्थापित करती थी।

(३) सोने का स्वतन्त्र आयात और निर्यात—स्वर्णमान की सफलता के लिए स्वतन्त्र स्वर्ण बाजार का होना अनिवार्य है। विभिन्न देशों के बीच सोने के आने-जाने पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। सोने के स्वतन्त्र आयात और निर्यात के कारण विभिन्न देशों में सोने का मूल्य एक होने की प्रवृत्ति रखेगा। कैन्ट (Kent) के अनुसार "इस सम्बन्ध में सोने के आयात और निर्यात की स्वतन्त्रता एक विशेष महत्व रखती है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सोने के स्वतन्त्र आने-जाने के कारण समस्त संसार में उसका मूल्य समान हो जाता है।"[9] जिस देश में सोने का मूल्य अधिक होगा वहाँ पर अन्य देशों से सोना आने-जाने लगेगा और सोने का भाव गिरकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आ जायगा। सोने के स्वतन्त्र आयात और निर्यात के द्वारा विभिन्न देशों में मूल्य स्तर में भी समानता बनी रहती है। यदि किसी देश का मूल्य-स्तर अन्य देशों की अपेक्षा ऊँचा हो जाता है तो उस देश में आयात की मात्रा बढ़ जायेगी और विदेशी भुगतानों के लिए सोना देश से बाहर जाने लगेगा। सोने की मात्रा कम हो जाने के कारण मुद्रा की मात्रा घट जायगी और मूल्य-स्तर गिर जायगा।

स्वर्ण चलन मान के लाभ
(Advantages of Gold Currency Standard)—

स्वर्ण चलन मान के इतना अधिक प्रचलित होने का मुख्य कारण उससे प्राप्त होने वाले बहुत से लाभ हैं। स्वर्णमान के समर्थकों के अनुसार एक देश इस प्रकार के मुद्रामान से निम्नलिखित लाभ प्राप्त कर सकता है—

(१) स्वर्णमान अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यमान स्थापित करता है—स्वर्ण चलन मान का एक बड़ा लाभ यह है कि एक देश में चलने वाली स्वर्ण मुद्रा अन्य देशों में भी स्वीकार कर ली जाती है जिससे विदेशी भुगतानों में विशेष सुविधा होती है। सोना क्योंकि सब देशों में स्वीकार किया जाता है इसलिए स्वर्ण मुद्रा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का काम करती है जिसके कारण विदेशी व्यापार के विस्तार तथा पूँजी के आयात और निर्यात के लिए उपयुक्त सुविधायें पैदा होती हैं। केवल स्वर्णमान ही एक ऐसा मुद्रामान है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रामान के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

---

9 'In this regard, the freedom to import export gold is of special importance, since the free flow of gold accross the international boundries makes for a uniformity in its value throughout the world.'

—*Kent, Raymond P*: Money and Banking P. 29.

(२) मूल्य-स्तर में स्थिरता—स्वर्णमान के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क यह दिया जाता था कि इस प्रकार के मुद्रामान में आन्तरिक मूल्य-स्तर प्रायः स्थिर रहता है और मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तन बहुत कम हो जाते हैं। स्वर्णमान मुद्रा के अनुचित विस्तार को रोकता है और मुद्रा प्रसार की सम्भावना को कम करता है। कैन्ट (Kent) के अनुसार, "वह लम्बे समय में मूल्य-स्तर की सामान्य स्थिरता को सम्भव करता है।"[10] देश में मुद्रा की मात्रा सोने की मात्रा पर निर्भर रहती है और सोने की मात्रा में बहुत कम परिवर्तन होते हैं। अतः मुद्रा की मात्रा निश्चित रहती है। सोने की पूर्ति लगभग निश्चित रहने के कारण उसके मूल्य में सामयिक परिवर्तन (Seasonal fluctuations) नहीं होते हैं जिसके कारण उसके साथ सम्बन्धित मुद्रा की क्रय-शक्ति भी निश्चित रहती है।

(३) विदेशी विनिमय दरों में स्थिरता—यदि संसार के अधिकांश देशों के द्वारा स्वर्णमान को अपनाया जाता है तो विदेशी विनिमय दरों में होने वाले परिवर्तन बहुत कम हो जाते हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् स्वर्णमान को स्थगित कर देने के कारण जो विनिमय दरों में भारी परिवर्तन हुए, वे इस बात का प्रमाण थे कि स्वर्णमान की अनुपस्थिति में विनिमय दरों की स्थिरता को नहीं बनाये रखा जा सकता है। स्वर्णमान वाले देशों के बीच विनिमय दरें प्रायः निश्चित रहती हैं और उनमें होने वाले परिवर्तन स्वर्ण बिन्दुओं (Gold Points) के बीच में ही सीमित रहते हैं। क्योंकि प्रत्येक देश की मुद्रा एक निश्चित दर पर सोने में परिवर्तनशील होती है इसलिए विभिन्न देशों की मुद्रायें भी आपस में निश्चित दरों पर ही बदली जाती हैं। विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता से व्यापार की जोखिम कम हो जाती है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार होता है तथा विभिन्न देशों के बीच पूँजी के आयात और निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है।

(४) स्वयं संचालकता (Automatic Working)—स्वर्ण चलन मान का एक विशेष गुण उसकी स्वयं संचालकता है। स्वर्णमान एक स्वयं-संचालित मुद्रामान है। इस प्रकार के मुद्रामान में किसी प्रकार के मौद्रिक प्रबन्ध की आवश्यकता नहीं पड़ती है और सरकारी हस्तक्षेप बिल्कुल नहीं होता है। मुद्रा की माँग और पूर्ति में अपने आप सन्तुलन बनता रहता है। जब लोगों को अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है तो वे अधिक सोना टकसाल पर सिक्के बनवाने के लिए ले जाते हैं और इस प्रकार मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है। मुद्रा की आवश्यकता कम हो जाने पर लोग मुद्रा को पिघला कर सोना निकाल लेते हैं। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा आवश्यकता के अनुसार अपने आप घटती-बढ़ती रहती है। विभिन्न देशों के बीच भुगतान सन्तुलन (Balance of Payment) भी स्वयं सन्तुलित हो जाता है। यदि किसी देश का

---

10 "It makes possible a reasonable degree of stability in the price level over a long period of time."

—*Kent, Raymond P*: Money and Banking, P. 22.

भुगतान सन्तुलन विपक्ष मे होता है तो वहाँ से सोना बाहर जाने लगता है जिसके कारण मूल्य-स्तर गिर जाता है, निर्यात बढता है, आयात कम हो जाता है और भुगतान सन्तुलन ठीक हो जाता है।

(५) जनता में विश्वास पैदा करता है (Inspires Public Confidence)—स्वर्णमान जनता मे मुद्रा के प्रति विश्वास पैदा करता है। इस प्रकार के मुद्रामान मे सोने की मुद्रा चलाई जाती है जो स्वय मूल्यवान होती है। केन्ट (Kent) के अनुसार, 'स्वर्णमान मुद्रा प्रणाली मे इसलिए विश्वास स्थापित करता है क्योंकि सोने को सभी देशो में पसन्द किये जाने के कारण उसका मौद्रिक प्रयोग के अतिरिक्त आन्तरिक मूल्य भी होता है।"[11] सोने की मुद्रा को लोग आसानी से स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि उसका आन्तरिक मूल्य अंकित मूल्य के बराबर रक्खा जाता है। इस प्रकार की मुद्रा मे जनता का विश्वास इसलिए बना रहता है क्योंकि सोने को अन्य प्रयोगों मे भी लाया जा सकता है। यदि सोने के सिक्को का मुद्रा के रूप में चलना स्थगित हो जाये तो उन्हे सोने के रूप मे काम मे लाया जा सकता है। इसके विपरीत पत्र मुद्रा मे यह बात नही पाई जाती है क्योंकि उसका आन्तरिक मूल्य कुछ नही होता है और यदि इस प्रकार की मुद्रा का विमुद्रीकरण हो जाये तो उसका मूल्य समाप्त हो जाता है। स्वर्ण मुद्रा मे जनता का अधिक विश्वास होने का एक कारण यह भी है कि स्वर्ण मुद्रा की मात्रा स्वर्णकोष की मात्रा के ऊपर निर्भर होती है। सोने की मात्रा मे वृद्धि किये बिना मुद्रा की मात्रा को नही बढाया जा सकता है और इस प्रकार अत्यधिक निकासी का भय समाप्त हो जाता है। स्वर्णमान मे लोगो का विश्वास केवल स्वर्ण मुद्रा के प्रति ही नही होता अपितु देश मे चलने वाली पत्र मुद्रा तथा अन्य प्रकार की मुद्राओ में भी उनका विश्वास बना रहता है क्योंकि इस प्रकार की समस्त मुद्रायें सोने की मुद्रा मे परिवर्तनीय होती हैं।

स्वर्ण चलन मान के दोष
(Defects of Gold Currency Standard)—

प्रथम महायुद्ध काल मे स्वर्ण चलन मान को बनाने रखने मे विशेष कठिनाइयो का सामना करना पडा जिसके कारण बहुत से देशो ने इसे त्याग दिया। स्वर्णमान में कुछ दोष अनुभव किये गये और उसकी आलोचना की जाने लगी। *आलोचकों के अनुसार स्वर्ण चलन मान में निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं*—

(१) कीमतों में स्थिरता नहीं रहती है—स्वर्णमान मे मूल्य-स्तर स्थिर नही रहता है और समय-समय पर मुद्रा का मूल्य बदलता रहता है। यदि सोने का उत्पादन निरन्तर बढता है अथवा कम होता है तो मुद्रा प्रसार तथा मुद्रा सकुचन की

---

11 'The gold standard promotes confidence in the monetary system, it is claimed, because gold, being universally desirable, has value in itself aside from its monetary use.' —*Kent, Raymond P*: Money & Banking, P. 21.

स्थिति पैदा हो सकती है। स्वर्ण चलन मान मे मुद्रा की मात्रा सोने की मात्रा के ऊपर निर्भर रहती है। खानो से सोना अधिक मात्रा मे निकलने पर मुद्रा की मात्रा बढती है और उसका मूल्य गिर जाता है। इसी प्रकार सोने का उत्पादन कम होने पर, मुद्रा की मात्रा घट जाती है और उसका मूल्य बढ जाता है। समाज मे सोने की मात्रा स्थिर न रहने के कारण, मुद्रा की मात्रा बदलती रहती है जिसके परिणामस्वरूप सामान्य मूल्य-स्तर तथा मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन होते हैं। स्वर्ण चलन मान की इस कठिनाई की ओर सकेत करते हुये क्राउथर ने कहा है कि मुद्रा को सोने के साथ सम्बन्धित करके भी उसकी मात्रा मे होने वाले परिवर्तनो से उसे अनिवार्य रूप से नही बचाया जा सकता है।[12] ससार का मौद्रिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि स्वर्ण के साथ सम्बन्धित मुद्रा की मात्रा मे भी स्थिरता स्थापित करना सम्भव नही होता है। सन् १८४६ से लेकर १८७४ तक मूल्यो मे इसलिए वृद्धि हो रही थी क्योंकि सोने की नई खानो का पता लग जाने से ससार मे सोने का उत्पादन बढ गया था। १८७४ से लेकर १८९६ तक सोने का उत्पादन कम हो जाने के कारण वस्तुओ के मूल्य गिर रहे थे।

इस प्रकार स्वर्णमान मे मुद्रा का मूल्य प्राकृतिक शक्तियो पर निर्भर हो जाता है। मुद्रा का मूल्य सोने के मूल्य के साथ बध जाता है और सोने के मूल्य के घटने-बढने के साथ घटता-बढता है। सोने के मूल्य के बदलने के बहुत से कारण हो सकते हैं जैसे खानो से अधिक या कम मात्रा मे सोने का निकलना, नई खानो का पता लगना अथवा पुरानी खानो का बन्द हो जाना, सोना निकालने की विधि मे परिवर्तन हो जाना तथा सोने की माग का घट बढ जाना। स्वर्णमान वाले देशो का यह अनुभव रहा है कि मुद्रा के मूल्य को सोने के साथ बांधने से उसमे अधिक उतार-चढाव आते हैं।

(२) स्वर्णमान केवल अनुकूल परिस्थिति मे ही ठीक प्रकार चल सकता है—सोने के साथ मुद्रा की मात्रा को सम्बन्धित करने से मुद्रा प्रणाली बेलोचदार हो जाती है और आवश्यकता पडने पर मुद्रा की मात्रा को नही बढाया जा सकता है। युद्ध अथवा अन्य राष्ट्रीय सकट काल मे जब मुद्रा की अधिक आवश्यकता होती है तो स्वर्णमान के नियमो का उल्लघन किये बिना मुद्रा की मात्रा को बढाना सम्भव नही होता है और स्वर्णमान की स्वय-सचालकता समाप्त हो जाती है। विभिन्न देश अपने निजी हित मे स्वर्णमान के नियमो का उल्लघन करने लगते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय असहयोग के कारण स्वर्णमान का चलना असम्भव हो जाता है। जब कोई सकट काल आता है तो स्वर्णमान के प्रति जनता का विश्वास भी समाप्त हो जाता है। इसीलिए स्वर्णमान को अनुकूल परिस्थिति मित्र (Fair Weather Friend) कहा

12 'There is thus no warrant for believing that to tie the currency to gold will be to secure it from arbitrary fluctuations in volume.'
—*Crowther* - An Outline of Money, P. 288.

जाता है। सामान्य परिस्थितियों मे स्वर्णमान ठीक प्रकार चलता रहता है किन्तु आर्थिक संकट काल मे वह हमारा साथ छोड देता है। क्राउथर (Crowther) के अनुसार, "स्वर्णमान की व्यवस्था केवल सामान्य स्थिति के लिए है। वह तब ही काम करती है जब अन्य बातें समान रहती है।"[१३] प्रो० कैन्ट (Kent) ने भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है। उनके अनुसार, "स्वर्णमान समृद्धि, अच्छी मजदूरी तथा पूर्ण रोजगार की सामान्य स्थिति मे ही आन्तरिक मुद्रा व्यवस्था की स्थिरता मे विश्वास पैदा करता है।"[१४]

(३) विदेशी विनिमय की स्थिरता को बनाये रखने के लिए मूल्य-स्तर की स्थिरता को त्याग दिया जाता है—स्वर्णमान मे मौद्रिक नीति (Monetary Policy) के अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया जाता है और आन्तरिक स्थिरता को भुला दिया जाता है। स्वर्णमान मे विदेशी विनिमय दरें तो स्थिर रहती हैं किन्तु इस स्थिरता को प्राप्त करने के लिए मूल्य-स्तर की स्थिरता को खोना पडता है। जब यह समस्या पैदा होती है कि विदेशी विनिमय की स्थिरता अथवा मूल्य-स्तर की स्थिरता मे से किसे प्राप्त किया जाय तो प्राय. विदेशी विनिमय की स्थिरता को अधिक महत्व दिया जाता है और विनिमय दरो को स्थिर बनाये रखने के लिए मूल्य-स्तर को घटने-बढने दिया जाता है। आन्तरिक मूल्य-स्तर को देश के हित मे न रखकर अन्य देशो के मूल्य के अनुकूल रखने का प्रयत्न किया जाता है जिसके कारण आन्तरिक स्थिरता बिल्कुल समाप्त हो जाती है।

(४) स्वर्णमान राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को सीमित करता है—स्वर्णमान को सफलतापूर्वक चलाने के लिए प्रत्येक देश को स्वर्णमान के नियमो का पालन करना पडता है। स्वर्णमान वाले सभी देशों को एक साथ चलना होता है, इसलिए इन देशो को मौद्रिक मामलो मे अपनी स्वतन्त्रता को त्यागना पडता है। कोई भी देश अपनी स्वतन्त्र मौद्रिक नीति का निर्माण नही कर सकता है। जैसा अन्य देश करते हैं वैसा ही उसे भी करना होता है चाहे इस प्रकार की नीति उसके आर्थिक हितो के प्रतिकूल ही क्यो न हो।

(५) स्वर्णमान में सोने का अपव्यय होता है—स्वर्णमान मे सिक्के बनाने के लिए अथवा सुरक्षित कोष मे रखने के लिए बहुत बडी मात्रा मे सोने की आवश्यकता होती है। स्वर्ण मुद्रा को चलन मे रखने से सरकार को प्रतिवर्ष सिक्कों की घिसावट

---

13 'The gold standard mechanism must therefore be regarded as one for normal times, as working only if other things are equal.'

—*Crowther*. An Outline of Money, P 303.

14 'A gold standard, say the critics, promotes confidence in the stability of an internal monetary system only in times of "normalcy"—of prosperity, good wages and full employment.'

—*Kent, Raymond P*: Money and Banking, P. 24.

के कारण काफी हानि उठानी पड़ती है। इस प्रकार स्वर्णमान में सोने का बहुत अधिक अपव्यय होता है जो बिल्कुल अनावश्यक है क्योंकि हमें केवल विनिमय के माध्यम की आवश्यकता है, यह अनिवार्य नहीं कि वह सोने का ही बना हो।

(६) *मूल्य-स्तर तथा विदेशी विनिमय की स्थिरता के लिए स्वर्णमान अनिवार्य नहीं है*—बहुत समय तक स्वर्णमान को विदेशी विनिमय तथा मूल्य-स्तर की स्थिरता स्थापित करने का एकमात्र साधन माना जाता था किन्तु स्वर्णमान के कुछ आलोचकों ने इस गलत धारणा का विरोध किया है। उन्होंने बतलाया कि उपरोक्त प्रकार की स्थिरता को स्थापित करने के लिए प्रबन्धित मुद्रामान (Managed Currency Standard) स्वर्णमान की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है क्योंकि उसमें अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग अधिक सफल हो सकता है। इसके अतिरिक्त अब यह भी अनुभव किया जाने लगा कि कीमतों की स्थिरता अथवा विदेशी विनिमय की स्थिरता स्वयं कोई अच्छी बात नहीं है। मूल्य-स्तर में लोच का होना अनिवार्य है जिससे आवश्यकता पड़ने पर कीमतों को घटाया-बढ़ाया जा सके। इसी प्रकार विदेशी विनिमय की स्थिरता भी दोषपूर्ण हो सकती है यदि वह देश की आर्थिक प्रगति में बाधक होती है। प्रो० कैन्स (Keynes) जो स्वर्णमान के पक्ष में थे, उन्होंने भी युद्ध से पूर्व वाले स्वर्णमान का विरोध किया है। उन्होंने कहा, "मैं स्वर्णमान को युद्ध से पहले वाले ढंग पर अपनाये जाने की नीति को अस्वीकार करता हूँ। मैं कीमतों, साख और रोजगार की स्थिरता को सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझता हूँ। मुझे इस बात का बिल्कुल विश्वास नहीं है कि पुराने ढंग का स्वर्णमान कभी भी वैसी स्थिरता ला सकेगा, जो यह लाया करता था।" उनका विचार था कि पुराने ढंग का स्वर्णमान देशों की आर्थिक प्रगति के रास्ते में रुकावट है। इसीलिए उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग तथा प्रबन्धित मुद्रामान पर विशेष जोर दिया।

(ब) स्वर्ण धातुमान (Gold Bullion Standard)—

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अपनाये जाने वाले स्वर्णमान का मुख्य रूप स्वर्ण धातुमान था। युद्ध-काल में सभी देशों में स्वर्ण-मुद्रा चलन से हटा ली गई और स्वर्णमान को स्थगित कर दिया गया। युद्ध के पश्चात् विदेशी विनिमय की स्थिरता को बनाये रखने के लिए फिर से स्वर्णमान को अपनाने की आवश्यकता हुई किन्तु पुराने ढङ्ग का स्वर्णमान अपनाना अब सम्भव न था। विभिन्न देशों में पत्र मुद्रा का इतना अधिक विस्तार हो चुका था कि इन देशों के द्वारा अपनी समस्त पत्र मुद्रा के पीछे १००% स्वर्ण कोष रखकर फिर से स्वर्ण चलन मान का स्थापित किया जाना असम्भव था। स्वर्णमान के एक संशोधित रूप को स्वीकार किया गया और उन सब देशों ने, जिनके पास पर्याप्त स्वर्ण कोष थे, स्वर्ण धातुमान को अपना लिया। स्वर्ण धातुमान अधिक सुविधापूर्ण इसलिए था क्योंकि इसमें बहुत अधिक स्वर्ण कोषों की आवश्यकता नहीं होती थी और स्वर्णमान के सब लाभ प्राप्त हो जाते थे। सन्

१९२५ में इङ्गलैंड ने तथा उसके पश्चात् अन्य यूरोपीय देशों ने स्वर्ण धातुमान को अपना लिया। भारतवर्ष में सन् १९२७ में इसी प्रकार का स्वर्णमान स्थापित किया गया।

स्वर्ण धातुमान की विशेषतायें
(Features of Gold Bullion Standard)—

स्वर्ण धातुमान स्वर्ण चलन मान का ही एक संशोधित रूप है। इस प्रकार के स्वर्णमान में स्वर्ण चलन मान की अपेक्षा कम मात्रा में सोने की आवश्यकता होती है। स्वर्ण धातुमान की कुछ मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं—(i) **सोने का मुद्रण बन्द कर दिया जाता है और वह केवल सुरक्षित कोषों में रक्खा जाता है।** स्वर्ण धातुमान में सोना केवल मूल्यमान का कार्य करता है, विनिमय के माध्यम के रूप में उसका प्रयोग नहीं किया जाता है। स्वर्ण चलन मान की भाँति इस मुद्रा-मान में सोने के सिक्के नहीं चलाये जाते हैं किन्तु सब प्रकार की मुद्राओं का मूल्य सोने में ही आँका जाता है। मुद्रा की इकाई को सोने की एक निश्चित मात्रा के मूल्य के बराबर घोषित कर दिया जाता है और मुद्रा के इस स्वर्ण मूल्य को स्थिर रक्खा जाता है। देश में वास्तविक मुद्रा के रूप में कागज के नोट, चाँदी के सिक्के तथा अन्य सांकेतिक सिक्के चलाये जाते हैं जिन्हें निश्चित दरों पर सोने की सलाखों में परिवर्तनीय रक्खा जाता है। देश में चलने वाली पत्र मुद्रा का परिवर्तन सोने के सिक्कों में न होकर, सोने की सलाखों में होता है, इसीलिए इसे स्वर्ण धातुमान कहा जाता है।

(ii) **स्वर्ण धातुमान में सरकार एक निश्चित दर पर असीमित मात्रा में सोना खरीदने के लिए तैयार रहती है और मांग होने पर किसी भी मात्रा में सोना** बेचने की व्यवस्था करती है। क्राउथर (Crowther) ने स्वर्ण धातुमान की परिभाषा इस प्रकार की है—"जब सोने के सिक्के चलन में नहीं होते हैं किन्तु निश्चित दर पर तथा असीमित मात्रा में मुद्रा के बदले में सोना देने की केन्द्रीय बैंक की वैधानिक जिम्मेदारी होती है तो उसे स्वर्ण धातुमान कहा जाता है क्योंकि मुद्रा सोने के सिक्कों में परिवर्तित नहीं होती है और उसे स्वर्ण धातु में बदला जा सकता है।"[१५] सरकार स्वर्ण कोष के रूप में निश्चित वजन और शुद्धता वाली सोने की सलाखें रखती है और देश की मुद्रा को सोने की इन सलाखों में निश्चित दर पर परिवर्तनीय रक्खा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार होता है कि वह अपनी मुद्रा के

---

15 "When gold coins do not circulate, but the Central Bank is nevertheless under legal obligation to buy and sell gold in exchange for currency at a fixed rate and in unlimited amounts (sometimes with a minimum amount fixed but never a maximum) it is known as the 'gold bullion standard', as the currency is then convertible not into gold coins but into gold bullion."

—*Crowther*: An Outline of Money, P. 279 and 280

बदले में जब चाहे सोने की सलाखें प्राप्त कर सकता है। सोने को बेचने और खरीदने की दरें सरकार द्वारा निश्चित कर दी जाती हैं और सरकार इन दरों पर किसी भी मात्रा में सोना बेचने और खरीदने की व्यवस्था करती है। इसका प्रभाव यह होता है कि बाजार में सोने का भाव सरकारी दरों से ऊपर या नीचे नहीं जा सकता है। इङ्गलैंड में कागज के नोटों को ४०० औंस वाली सोने की सलाखों में ३ पौंड १७ शिलिंग १०½ पेंस प्रति औंस के हिसाब से बदला जा सकता था। सरकार की सोना खरीदने की दर ३ पौंड १७ शिलिंग ९ पेंस प्रति औंस थी। भारतवर्ष में जब स्वर्ण धातुमान अपनाया गया तो देश में चलने वाली पत्र मुद्रा को ४० तोले वाली सोने की सलाखों में २१ रु० ७ आने १० पाई प्रति तोला के हिसाब से परिवर्तनीय कर दिया गया। इस प्रकार वास्तविक मुद्रा को सोने में परिवर्तनीय करके मुद्रा के स्वर्ण मूल्य को निश्चित रखा जाता है।

(iii) विभिन्न देशों में सोने के मूल्य में समानता लाने के लिए **सोने का आयात और निर्यात स्वतन्त्र रखा जाता है।** सोने के आने-जाने पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता है और इस प्रकार सोने का स्वतन्त्र बाजार स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है। विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता के लिए सोने के स्वतन्त्र बाजार (Free Gold Market) का होना अनिवार्य है। सोने का स्वतन्त्र आयात और निर्यात होने से विभिन्न देशों में सोने का भाव एक होने की प्रवृत्ति रखता है।

स्वर्ण धातुमान के लाभ
(Advantages of Gold Bullion Standard)—

स्वर्ण चलन मान को छोड़कर स्वर्ण धातुमान के अपनाये जाने का मुख्य कारण उससे प्राप्त होने वाले कुछ विशेष लाभ है। इस प्रकार के स्वर्णमान में स्वर्ण चलन मान से प्राप्त होने वाले लाभों के अतिरिक्त कुछ अन्य लाभ भी प्राप्त होते हैं। इसलिए कुछ लेखकों ने स्वर्ण धातुमान को स्वर्ण चलन मान की अपेक्षा अच्छा मुद्रामान माना है। स्वर्ण धातुमान से प्राप्त होने वाले कुछ विशेष लाभ इस प्रकार हैं—

(१) सोने के प्रयोग में बचत—मितव्ययिता (Economy) की दृष्टि से स्वर्ण धातुमान को स्वर्ण चलन मान की अपेक्षा अच्छा मुद्रामान कहा जा सकता है। इस मुद्रामान में सोने के सिक्के नहीं चलते हैं और केवल कागजी मुद्रा अथवा घटिया धातु के सिक्के ही चलाये जाते हैं, इसलिए सोने के प्रयोग में बहुत बचत हो जाती है। सोने के सिक्कों का मुद्रण व्यय बच जाता है और स्वर्ण मुद्रा को चलन में रखने के कारण होने वाली हानि से भी सरकार बच जाती है। स्वर्ण धातुमान को चलाने के लिए कम मात्रा में सोने की आवश्यकता होती है और मुद्रा के कामों से बचे हुए सोने को अन्य प्रयोगों में लाया जा सकता है।

(२) देश में स्वर्ण कोषों का केन्द्रीकरण हो जाता है—स्वर्ण चलन मान में जो सोना सिक्कों के रूप में व्यक्तियों के कोषों में रहता है, स्वर्ण धातुमान में

वही सोना एक स्थान पर सरकारी कोष में इकट्ठा हो जाता है। सोने के व्यक्तियो के पास स्वर्ण मुद्रा के रूप मे रहने से कोई विशेष लाभ नही है और उसे केवल व्यक्तिगत हितो के लिए ही काम मे लाया जा सकता है किन्तु स्वर्ण कोषो के केन्द्रीय बैंक के पास इकट्ठा हो जाने से देश में आर्थिक दृढता बढती है और आपत्ति काल मे इन स्वर्ण कोषो का प्रयोग राष्ट्रीय हित मे किया जा सकता है। विदेशी विनिमय दरो की स्थिरता के लिए सोने के प्रचलन मे रहने की अपेक्षा मुद्रा सचालक के पास सुरक्षित निधि के रूप में रहना अधिक उपयोगी होता है। साधारण परिस्थिति मे जनता नोट अथवा अन्य प्रकार के साकेतिक सिक्को का ही प्रयोग करती है और केवल असाधारण परिस्थिति मे ही उन्हे सोने मे बदलवाया जाता है, इसलिए स्वर्ण मुद्रा को चलन मे रखने मे कोई विशेष लाभ नही होता है। किन्तु यदि सोना सरकारी कोषो मे केन्द्रित रहता है तो उसके कारण जनता का विश्वास भी मुद्रा मे बना रहता है और आवश्यकता पडने पर उसे अन्य प्रयोगो मे भी लाया जा सकता है।

(३) **मुद्रा प्रणाली लोचदार होती है**—स्वर्ण चलन मान की अपेक्षा स्वर्ण धातुमान मे मुद्रा प्रणाली अधिक लोचदार रहती है। इस प्रणाली मे न तो स्वर्ण मुद्रा चलाई जाती है और न नोटो के पीछे शत प्रतिशत स्वर्ण कोष ही रखा जाता है, इसलिए मुद्रा की मात्रा को घटाना-बढाना कुछ आसान हो जाता है क्योकि सब मुद्रा एक साथ सोने मे परिवर्तनशीलता के लिए नही आती है इसलिए सरकार स्वर्ण कोषो की मात्रा से कुछ अधिक मात्रा मे पत्र मुद्रा जारी कर सकती है। मुद्रा की मात्रा सोने की मात्रा से प्रभावित तो होती है किन्तु वह बिल्कुल उस पर निर्भर नही रहती है। आवश्यकता पडने पर मुद्रा की मात्रा को थोडा बढाया जा सकता है किन्तु बहुत अधिक परिवर्तन करना सम्भव नही होता है क्योकि पत्र मुद्रा को सोने मे बदलने की सरकार की जिम्मेदारी होती है।

(४) **कम स्वर्ण कोष वाले देश भी इसे अपना सकते हैं**—स्वर्ण चलन मान को अपनाने के लिए बहुत अधिक मात्रा मे स्वर्ण कोष की आवश्यकता होती है और केवल धनी देश ही उसे अपना सकते है। किन्तु स्वर्ण धातुमान को स्थापित करने के लिए कम मात्रा मे स्वर्ण कोषो की आवश्यकता होती है इसलिए वे देश जिनके पास बहुत अधिक सोना नही है स्वर्ण धातुमान को अपना सकते हैं। इसलिए स्वर्ण चलन मान की अपेक्षा स्वर्ण धातुमान के अपनाये जाने की सम्भावना काफी अधिक हो जाती है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् स्वर्ण कोषो की कमी के कारण अधिकाश देश स्वर्ण चलन मान को स्थापित न कर सके किन्तु स्वर्ण धातुमान को स्थापित करना उनके लिए सम्भव था।

(५) **स्वर्ण धातुमान में स्वय-संचालकता का गुण रहता है**—स्वर्ण चलन मान की भांति ही स्वर्ण धातुमान भी एक स्वय-सचालित मान (Automatic

Standard) है और यदि स्वर्णमान के नियमों का पालन किया जाय तो मुद्रा की माग और पूर्ति अपने आप सतुलित होती रहती है। जब मुद्रा की पूर्ति उसकी माग की अपेक्षा अधिक हो जाती है तो लोग अधिक मात्रा मे मुद्रा सोने मे बदलने के लिए प्रस्तुत करते है और सरकार के पास स्वर्ण कोष घट जाता है जिसके कारण मुद्रा की पूर्ति कम होकर उसकी माग के समीप आ जाती है। इसी प्रकार मुद्रा की माग अधिक हो जाने पर लोग अधिक सोना बेचते हैं, सरकारी स्वर्ण कोष बढ जाता है और मुद्रा का विस्तार हो। लगता है।

(६) **विनिमय की दरों की स्थिरता**—स्वर्ण धातुमान मे विदेशी विनिमय दरो मे होने वाले परिवर्तन बहुत कम हो जाते हैं और यह परिवर्तन केवल स्वर्ण बिन्दुओ (gold points) के बीच मे ही सीमित रहते है। सोने के स्वतन्त्र आयात और निर्यात के द्वारा इस प्रकार के स्वर्ण मान मे भी विनिमय दरो की स्थिरता को बनाये रखा जा सकता है। विदेशी विनिमय की स्थिरता को प्राप्त करने के लिए ही प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इस प्रकार के स्वर्णमान को स्थापित करने का निश्चय किया गया।

स्वर्ण धातुमान के दोष
(Disadvantages of Gold Bullion Standard)—

(१) **स्वर्णमान की स्वयं-संचालकता कम हो जाती है**—स्वर्ण धातुमान मे स्वर्ण चलन मान की अपेक्षा कम स्वय-सचालकता होती है। इस प्रकार के मुद्रामान मे सरकारी हस्तक्षेप बढ जाता है और सरकार मौद्रिक प्रबन्ध के द्वारा मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करती है। सोने की स्वतन्त्र ढलाई न होने के कारण स्वर्णमान की स्वय-सचालकता बहुत कम रह जाती है। स्वर्ण धातुमान मे मुद्रा की माग और पूर्ति अपने आप सतुलित नहीं होती है बल्कि सरकार के द्वारा मुद्रा की मात्रा को निश्चित किया जाता है और सरकार ही उसमे परिवर्तन करने का निश्चय करती है। इस प्रकार स्वर्णमान की स्वय-सचालकता मे प्राप्त होने वाले लाभ स्वर्ण धातुमान मे नहीं मिलते हैं।

(२) **मुद्रा प्रणाली मे जनता का विश्वास कम हो जाता है**—स्वर्ण मुद्रा प्रचलन मे न होने के कारण स्वर्ण धातुमान मे जनता का विश्वास कम होता है। जनता को ऐसी मुद्रा का प्रयोग करना होता है जिसे प्रत्यक्ष रूप से स्वर्ण मुद्रा मे नही बदला जा सकता है इसलिए साधारण लोग इस मुद्रामान को स्वर्ण चलन मान की अपेक्षा कम अच्छा समझते हैं। यद्यपि पत्र मुद्रा को सोने की सलाखो मे बदला जा सकता है किन्तु इस परिवर्तनशीलता से साधारण व्यक्ति को कोई लाभ नही होता है क्योंकि सरकार एक निश्चित मात्रा से कम मे सोना नहीं बेचती है। साधारणतया लोगो के पास इतना रुपया नहीं होता है कि वे ४०० औंस अथवा ४० तोले वाली

सोने की सलाखें सरकार से खरीद सकें। इन लोगों के लिए स्वर्ण धातुमान पत्र मुद्रामान की भाँति ही होता है।

(३) अनुकूल परिस्थितियों में स्वर्ण धातुमान सफलतापूर्वक चल सकता है—स्वर्ण चलन मान की भाँति यह मुद्रामान भी अनुकूल परिस्थितियों का मित्र (Fair Weather Friend) है। सकट काल मे इसे बनाये रखना काफी कठिन हो जाता है। युद्ध-काल अथवा अन्य प्रकार के सकट-काल मे जब पत्र मुद्रा का अधिक विस्तार किया जाता है तो स्वर्ण कोषो की कमी के कारण स्वर्ण धातुमान टूट जाता है। अल्प विकसित देशों के लिए भी इस प्रकार का मुद्रामान उपयुक्त नही है क्योंकि स्वर्ण धातुमान मे आर्थिक विकास के लिए हीनार्थ प्रबन्ध (Deficit Financing) के द्वारा मुद्रा की मात्रा को बढाना सम्भव नहीं होता है।

(४) यह मुद्रामान अधिक मितव्ययितापूर्ण नहीं है—स्वर्ण धातुमान मे पत्र मुद्रा को सोने मे परिवर्तनीय रखने के लिए सरकार को बहुत बडी मात्रा मे स्वर्ण कोष रखना पडता है। इस प्रकार के स्वर्ण कोषो मे बन्द सोने का कोई अन्य प्रयोग नही किया जा सकता है। अतः स्वर्ण धातुमान मे भी सोने का काफी अपव्यय होता है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के स्वर्णमान का प्रबन्ध करने के लिए सरकार को बहुत व्यय करना पडता है। इन्ही कारणो से स्वर्ण धातुमान मितव्ययिता की दृष्टि से अच्छा मुद्रामान नही है।

(स) स्वर्ण विनिमय मान Gold Exchange Standard)—

स्वर्ण विनिमय मान ससार के उन देशो के द्वारा अपनाया गया था जिनके पास स्वर्ण धातुमान स्थापित करने के लिए भी पर्याप्त मात्रा मे स्वर्ण कोष नहीं थे। इस प्रकार के स्वर्णमान मे न तो सोने की मुद्रा चलाई जाती है और न देश मे चलने वाली मुद्रा को सोने मे बदला जा सकता है। केवल विदेशी भुगतानो के लिए सरकार निश्चित दरो पर सोना अथवा सोने पर आधारित विदेशी मुद्रा देने के लिए बाध्य होती है। क्राउथर (Crowther) के अनुसार "स्वर्ण विनिमय मान के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक की वैधानिक जिम्मेदारी मुद्रा को सोने मे बदलने की नही होनी है बल्कि किसी अन्य ऐसी मुद्रा मे बदलने की होती है जो स्वय सोने मे परिवर्तनीय होती है।"[१६] स्वर्ण विनिमय मान को स्थापित करने के लिए बहुत कम सोने की आवश्यकता होती है और इसीलिए यह मुद्रामान निर्धन देशो के लिए अधिक उपयुक्त समझा जाता है।

स्वर्ण विनिमय मान सर्वप्रथम हॉलैंड (Holland) मे सन् १८७७ मे स्थापित किया गया था। सन् १८९२ मे रूस के द्वारा इसे अपनाया गया और १९०७–०८

16. "A third form is the 'gold exchange standard,' under which the legal obligation resting upon the Central Bank is to redeem the currency not in gold itself but in some other currency which is itself convertible into gold."
—*Crowther* : An Outline of Money, P. 280.

मे लिन्डसे (A. M. Lindsay) योजना मे अन्तर्गत भारतवर्ष मे इस प्रकार का मुद्रामान स्थापित कर दिया गया। प्रथम महायुद्ध से पूर्व कुछ अन्य पूर्वी देशो मे भी स्वर्ण विनिमय मान का विकास हो चुका था किन्तु इसका प्रयोग केवल कुछ देशो तक ही सीमित था। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् स्वर्ण विनिमय मान अधिक प्रचलित हो गया और जो देश सोने की कमी के कारण स्वर्ण धातुमान को नही अपना सकते थे, उन्होने स्वर्ण विनिमय मान को अपना लिया। जेनेवा सम्मेलन (Geneva Conference) मे छोटे और निर्धन देशो के द्वारा स्वर्ण विनिमय मान को अपनाये जाने का सुझाव दिया गया। यह डर था कि यदि ससार के सब देश स्वर्ण धातुमान को अपनाते है तो ससार म सोने की कुल मात्रा मौद्रिक आवश्यकताओ को पूरा नही कर सकेगी। जेनेवा सम्मेलन की सिफारिशो के अनुसार बहुत से देशो ने, जो स्वर्णमान के लाभ प्राप्त करना चाहते थे किन्तु उसके खर्च को उठाने की क्षमता उनम नही थी, स्वर्ण विनिमय मान को अपना लिया। भारतवर्ष के अतिरिक्त डेनमार्क, चिली, पोलैंड, जर्मनी, इक्वेडर, बोलीविया, पैनामा, मैक्सिको, आस्ट्रेलिया, तथा फिलिप्पाइन्स आदि देशो मे स्वर्ण विनिमय मान किसी न किसी रूप मे अपनाया गया था।

स्वर्ण विनिमय मान की विशेषतायें
(Features of Gold Exchange Standard)—

यद्यपि स्वर्ण विनिमय मान वाले देशो को स्वर्णमान के अधिकाश लाभ मिल जाते है किन्तु स्वर्ण विनिमय मान की कार्य प्रणाली अन्य दोनो प्रकार के स्वर्णमानो से भिन्न है। इस प्रकार के स्वर्णमान की प्रमुख विशेषताये इस प्रकार है—

(i) स्वर्ण विनिमय मान मे न तो सोने की मुद्रा चलाई जाती है और न देश की मुद्रा को सोने मे परिवर्तनीय रक्खा जाता है। केवल विदेशी भुगतानो को निबटाने के लिए मुद्रा के बदले मे सोना अथवा विदेशी विनिमय प्राप्त किया जा सकता है। देश मे केवल अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा तथा घटिया धातु के सांकेतिक सिक्के चलाये जाते है। विदेशी विनिमय के लिए देश की मुद्रा के मूल्य को सोने की निश्चित मात्रा के बराबर रक्खा जाता है। मुद्रा के स्वर्ण मूल्य को बनाये रखने लिए सरकार निश्चित दर पर किसी भी सीमा तक विदेशी विनिमय को बेचने की जिम्मेदारी लेती है। भारतवर्ष मे प्रथम महायुद्ध से पूर्व रुपये के विदेशी मूल्य को १ शिलिंग ४ पेंस के बराबर निश्चित कर दिया गया था और सरकार इस दर पर किसी भी सीमा तक सोना अथवा स्टर्लिंग लन्दन मे उपलब्ध करती थी।

(ii) स्वर्ण विनिमय मान अपनाने वाला देश अपनी मुद्रा एक निश्चित दर पर किसी ऐसे देश की मुद्रा के साथ सम्बन्धित कर देता है जो स्वर्णमान पर हो। इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने पर स्वर्ण विनिमय मान वाले देश को भी स्वर्णमान के लाभ प्राप्त हो जाते है। उसकी मुद्रा का विदेशी मूल्य निश्चित रहता

है क्योकि उसे निश्चित दर पर स्वर्णमान वाली मुद्रा के साथ बाँध दिया गया है। इस लाभ को प्राप्त करने के लिए बहुत से देशो ने अपनी मुद्राओ को इगलैंड के पौंड स्टर्लिंग के साथ सम्बन्धित किया हुआ था और इस प्रकार इन देशो मे स्टर्लिंग विनिमय मान (Sterling Exchange Standard) स्थापित हो गया था। कुछ अन्य देशो की मुद्रायें अमेरिका के डॉलर के साथ सम्बन्धित थी और इन देशों मे डॉलर विनिमय मान (Dollar Exchange Standard) प्रचलित था।

(iii) **मुद्रा का विदेशी मूल्य निश्चित रखने के लिए स्वर्ण विनिमय मान वाले देश को विदेशो में स्वर्ण कोष रखना होता है।** जिस देश की मुद्रा के साथ वह अपनी मुद्रा को सम्बन्धित करता है उस देश मे विदेशी विनिमय कोष रखना अनिवार्य होता है। यदि मुद्रा के विदेशी मूल्य मे गिरावट आती है तो इस कोष मे से सोना निकाल कर घाटे को पूरा किया जाता है। अपने देश मे भी सरकार एक कोष रखती है जिसमे विदेशी विनिमय अथवा विदेशी मुद्रायें रक्खी जाती है। भारतवर्ष मे जब स्वर्ण विनिमय मान था तो सरकार लन्दन मे विदेशी विनिमय कोष (Foreign Exchange Reserve) रखती थी। उसके साथ एक मुद्रा कोष भारत मे भी रहता था।

स्वर्ण विनिमय मान के लाभ
(Advantages of Gold Exchange Standard)—

स्वर्ण विनिमय मान से प्राप्त होने वाले लाभ निम्नलिखित हैं—

(१) विदेशी विनिमय दरें स्थिर रहती हैं—इस प्रकार के स्वर्णमान का एक मुख्य लाभ विदेशी विनिमय की स्थिरता है। सरकार विनिमय दरो के घटने और बढने की अधिकतर तथा न्यूनतम सीमायें निश्चित कर देती है और इन सीमाओ के भीतर ही विनिमय दरो को रक्खा जाता है। सरकार निश्चित दरो पर विदेशी विनिमय को बेचकर और खरीदकर विनिमय दरो मे होने वाले परिवर्तनो को रोकती है और उन्हे स्थिर रक्खा जाता है।

(२) सोने के प्रयोग में बहुत अधिक बचत होती है—विभिन्न प्रकार के स्वर्णमानो मे विनिमय मान सबसे सस्ती मुद्रा प्रणाली है क्योकि इसमे सोने का प्रयोग बहुत कम होता है। प्रो० कैन्ट (Kent) के अनुसार "स्वर्ण विनिमय मान का विशेष लाभ सोने की माग को कम करना तथा उसके प्रयोग मे बचत करना था।"[१७] कम मात्रा मे स्वर्ण कोष रखकर ही इस प्रकार के स्वर्णमान को स्थापित किया जा सकता है। सोने की मुद्रा चलन मे न होने के कारण ढलाई व्यय तथा सोने के सिक्को की घिसावट के कारण होने वाली हानि से सरकार बच जाती है। इस प्रकार के

17 *"The gold exchange standard, therefore, was held to be particularly advantageous in reducing the demand for gold and in providing an "economy" in its use."*

—*Kent, Raymond P*: Money & Banking, P. 35.

स्वर्णमान मे सोने का बहुत कम खर्च होता है और बचे हुए सोने को अन्य प्रयोग मे लाया जा सकता है।

(३) मुद्रा प्रणाली अधिक लोचदार हो जाती है—स्वर्ण विनिमय मान मे मुद्रा की मात्रा सोने पर आश्रित नही होती है और उसे आवश्यकता के अनुसार घटाया-बढाया जा सकता है जिसके कारण मुद्रा प्रणाली काफी लोचदार हो जाती है। क्योकि आन्तरिक कामो के लिए मुद्रा के बदले मे सोना देने के लिए सरकार बाध्य नही होती है इसलिए मुद्रा का विस्तार आसानी से किया जा सकता है।

(४) निर्धन देशों के द्वारा अपनाया जा सकता है—निर्धन देशो के लिए स्वर्ण कोष की कमी के कारण स्वर्ण धातुमान अथवा स्वर्ण चलन मान को अपनाना सम्भव नही होता है किन्तु ऐसे देश स्वर्ण विनिमय मान को आसानी से अपना सकते है। अत स्वर्ण विनिमय मान के द्वारा निर्धन देश भी स्वर्णमान के लाभ प्राप्त कर सकते है और उनकी मुद्रा का विदेशी मूल्य स्थिर रक्खा जा सकता है।

स्वर्ण विनिमय मान के दोष

(Defects of Gold Exchange Standard)—

(१) स्वर्णमान की स्वय सचालकता समाप्त हो जाती है—इस प्रकार के मुद्रामान मे [मुद्रा विस्तार तथा सकुचन अपने आप नही होता है बल्कि उसे सरकार के द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। मुद्रा की मात्रा पर सरकारी नियन्त्रण रहता है और मौद्रिक प्रबन्ध के द्वारा सरकार मुद्रा की मात्रा को आवश्यकता के अनुसार घटाती-बढाती रहती है। इस प्रकार के मुद्रामान मे सरकारी हस्तक्षेप अधिक होता है और स्वर्णमान की स्वय सचालकता का गुण समाप्त हो जाता है।

(२) यह प्रणाली अधिक मितव्ययितापूर्ण (Economical) नहीं है—स्वर्ण विनिमय मान को चलाने के लिए बहुत काफी सोना विदेशो मे जमा रखना पडता है जिसे देश के औद्योगिक विकास के लिए काम मे नही लाया जा सकता है। विदेशो मे जमा सोने का प्रयोग देश के हित मे करना सम्भव नही होता है। देश मे भी विभिन्न प्रकार के कोष रखे जाते हैं जिससे इस मान को चलाने का खर्च बहुत बढ जाता है।

(३) असामान्य काल मे इस प्रकार के स्वर्णमान का चलना कठिन हो जाता है—सामान्य काल मे तो यह मान ठीक प्रकार चलता रहता है किन्तु सकट-काल मे जब मुद्रा का विस्तार किया जाता है तो स्वर्णकोष विदेशी विनिमय की माग को पूरा करने के लिए अपर्याप्त हो जाते हैं और ऐसी दशा मे स्वर्ण विनिमय मान टूट जाता है। लोच का अभाव होने के कारण इस प्रकार के स्वर्णमान में मुद्रा को पर्याप्त मात्रा मे बढाना सम्भव नही होता है।

(४) इस प्रकार के मुद्रामान में एक देश दूसरे देश के ऊपर निर्भर हो जाता है—स्वर्ण विनिमय मान की सफलता आधार-देश मे स्वर्णमान के ठीक प्रकार चलने पर निर्भर होती है। जब तक आधार देश की मुद्रा स्वर्णमान पर होती है तो उसके साथ सम्बन्धित मुद्रा भी स्वर्णमान पर रहती है किन्तु जैसे ही आधार देश (Planet Country) स्वर्णमान छोडता है स्वर्ण विनिमय मान वाले देश की मुद्रा का सम्बन्ध भी सोने के साथ टूट जाता है। सन् १९३१ मे भारतवर्ष को स्वर्णमान इसलिए छोडना पडा क्योकि इगलैंड के पौंड का सम्बन्ध सोने के साथ टूट चुका था।

(५) आधार देश (Planet Country) की मुद्रा प्रणाली असुरक्षित हो जाती है—यदि किसी देश की मुद्रा के साथ बहुत स्वर्ण विनिमय मान वाले देश अपनी मुद्राओं को सम्बन्धित कर लेते है तो ऐसी दशा मे आधार देश की मुद्रा के लिए खतरा पैदा हो सकता है। आधार देश के पास भी स्वर्ण कोष सीमित मात्रा मे होता है और इस सीमित कोष की सहायता से वह सभी सम्बन्धित देशो की सोने की आवश्यकता को पूरा करता है। यदि किसी समय सम्बन्धित देशो की सोने की माग इतनी अधिक हो जाती है कि उसे आधार देश अपने स्वर्ण कोष से पूरा नही कर सकता है तो ऐसी दशा मे उसकी अपनी मुद्रा प्रणाली सकट मे पड जाती है।

(६) जनता का विश्वास कम होता है—देश मे चलने वाली मुद्रा का आन्तरिक कामो के लिए सोने मे परिवर्तनीय न होना, मुद्रा मे जनता के विश्वास को कम करता है। इस प्रकार के स्वर्णमान की कार्य प्रणाली इतनी जटिल है कि साधारण व्यक्ति उसे नही समझ सकता है और इसलिए भी उसका विश्वास मुद्रा मे कम रहता है। सामान्य व्यक्ति के लिए इस प्रकार का स्वर्णमान पत्र मुद्रामान से अच्छा नही है क्योकि उसे ऐसी पत्र मुद्रा का प्रयोग करना होता है जिसे सोने मे नही बदला जा सकता है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के स्वर्णमान के अतिरिक्त स्वर्णमान के दो और रूप भी बतलाये जाते हैं—(१) स्वर्ण निधिमान (Gold Reserve Standard) तथा (२) स्वर्ण समता मान (Gold Parity Standard)। यद्यपि इन दोनो प्रणालियो को पूर्णतया स्वर्णमान नही कहा जा सकता है किन्तु इसमे स्वर्णमान की कुछ विशेषतायें अवश्य पाई जाती है। इन प्रणालियो को स्वर्णमान का आंशिक रूप कहा जा सकता है।

स्वर्ण निधिमान (Gold Reserve Standard)—

स्वर्णमान के पतन के पश्चात् इगलैंड, फ्रास, बेल्जियम, हॉलैंड, स्विटजरलैंड तथा अमरीका के द्वारा इस प्रकार की मुद्रा व्यवस्था को अपनाया गया। अपनी मुद्रा के विदेशी मूल्य को स्थिर रखने के लिए इन देशो मे विनिमय समानिकरण कोष (Exchange Equalisation Fund) स्थापित कर दिये गये जो मौद्रिक कामो के

लिए आपस मे सोने का आयात तथा निर्यात कर सकते थे। सर्वप्रथम इगलैंड में सन् १६३२ मे विनिमय दर मे स्थिरता बनाये रखने के लिए विनिमय समानिकरण कोष स्थापित किया गया। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने १६३४ मे तथा फ्रास ने १६३६ मे इस प्रकार के कोषों की स्थापना की। सन् १६३६ मे इगलैंड, अमेरिका तथा फ्रास के बीच एक त्रिपक्षीय मौद्रिक समझौता (Tripartite Monetary Agreement) किया गया जिसके द्वारा इन देशो मे स्वर्ण निधिमान की स्थापना हुई। कुछ समय पश्चात् बेल्जियम, हॉलैंड तथा स्विटजरलैंड भी इस समझौते मे सम्मिलित हो गये। प्रत्येक देश अपने विनिमय समानिकरण कोष की सहायता से अपनी मुद्रा के विदेशी मूल्य को स्थिर रखने की व्यवस्था करता था। इस कोष मे देश की मुद्रा की काफी मात्रा रखी जाती थी, जिससे वह विदेशी मुद्रा को खरीदता था। इसके अतिरिक्त कोष मे पर्याप्त मात्रा मे सोना भी होता था। इन कोषों का उद्देश्य विदेशी दरो मे होने वाले परिवर्तनो को कम करना था। विदेशी विनिमय की स्थिरता प्राप्त करने के लिए ये कोष विदेशी मुद्रा को बेचने और खरीदने का काम करते थे। जब किसी देश मे विदेशी मुद्रा की माग बढ जाने के कारण उसका मूल्य बढने लगता था तो उस देश का विनिमय समानिकरण कोष विदेशी विनिमय को बेचने लगता था जिससे विनिमय दर मे होने वाली वृद्धि रुक जाती थी। इसी प्रकार यदि किसी मुद्रा की पूर्ति अधिक होने के कारण उसका मूल्य गिरने लगता था तो यह कोष उस मुद्रा को खरीदकर उसके मूल्य को गिरने से रोकता था। इस प्रकार इन कोषो के द्वारा विदेशी विनिमय की स्थिरता को प्राप्त किया जाता था।

इन कोषो मे एक आपसी समझौते के द्वारा यह निश्चय हो गया था कि वे एक दूसरे की मुद्रा देकर उसके बदले मे सोना प्राप्त कर सकते हैं। जब किसी देश के कोष के पास दूसरे देश की मुद्रा बहुत अधिक मात्रा मे जमा हो जाती थी तो वह कोष उस देश के केन्द्रीय बैंक से मुद्रा देकर सोना प्राप्त कर सकता था। इस प्रकार इन देशो के बीच एक कोष से दूसरे कोष मे सोने का हस्तातरण होता रहता था। किन्तु सोने का यह आयात व निर्यात केवल सरकारी खातो मे ही हो सकता था और मौद्रिक कार्यों के लिए ही ऐसा करना सम्भव था। व्यक्तिगत व्यापार क्षेत्र मे सोने का स्वतन्त्र आयात तथा निर्यात नही किया जा सकता था। विभिन्न देशो मे सोने का सीमित आयात तथा निर्यात होने की सुविधा के कारण ही इस प्रणाली को स्वर्ण निधिमान कहा गया है। इस प्रकार की व्यवस्था को स्वर्णमान तो नही कहा जा सकता है किन्तु इसमे स्वर्णमान के कुछ गुण अवश्य पाये जाते हैं।

इस प्रकार की मुद्रा व्यवस्था की सबसे बडी विशेषता यह थी कि आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था मे अथवा सूद की दरो मे किसी प्रकार का परिवर्तन किये बिना ही विदेशी विनिमय की अधिकतम स्थिरता प्राप्त की जा सकती थी। यद्यपि स्वर्ण निधिमान के लिए विदेशी विनिमय मे होने वाले परिवर्तनो को एक प्रतिशत के भीतर

सीमित रखना सम्भव न था, जैसा कि स्वर्णमान में होता था किन्तु विनिमय दरों में होने वाले बड़े परिवर्तनों को रोका जा सकता था। विनिमय समानिकरण कोषों की क्रियाओं को बिल्कुल गुप्त रक्खा जाता था और बाजार में यह पता नहीं होता था कि कब और कितनी मात्रा में कोष कौनसी मुद्रा को बेच अथवा खरीद रहा है। इस प्रकार की गुप्त व्यवस्था ने इस प्रणाली की कार्यक्षमता को बढ़ाने में बड़ी सहायता दी। इस प्रकार की व्यवस्था सन् १९३९ तक सफलतापूर्वक चलती रही किन्तु युद्ध आरम्भ होते ही टूट गई और विभिन्न देशों को विदेशी विनिमय की स्थिरता प्राप्त करने के लिए विनिमय नियन्त्रण का सीधा तरीका अपनाना पड़ा।

स्वर्ण समता मान (Gold Parity Standard)—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) की स्थापना के पश्चात् विभिन्न देशों में एक नई मौद्रिक व्यवस्था स्थापित की गई है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य देशों को अपनी मुद्रा का स्वर्ण मूल्य निश्चित करना होता है और विनिमय दरों को इन स्वर्ण मूल्यों के बराबर रक्खा जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि विदेशी विनिमय दरें स्थिर रहती हैं। कुछ लेखकों के अनुसार इस प्रकार की मौद्रिक व्यवस्था भी एक प्रकार का स्वर्णमान ही है। क्योंकि विनिमय दरों में और मुद्रा के स्वर्ण-मूल्य में समता रक्खी जाती है इसलिए इस प्रकार के मुद्रामान को स्वर्ण समता मान कहा गया है। स्वर्ण समता मान में न तो सोने के सिक्के चलाये जाते हैं और न मुद्रा को सोने में परिवर्तनशील रक्खा जाता है। केवल सरकार को मुद्रा के विदेशी मूल्य को सोने की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखना होता है। यद्यपि इस प्रकार के मुद्रामान में स्वर्णमान का कुछ अंश पाया जाता है किन्तु इसे स्वर्णमान कहना बहुत ठीक नहीं है क्योंकि इस मौद्रिक व्यवस्था में विभिन्न मुद्राओं के स्वर्ण मूल्य बिल्कुल निश्चित नहीं होते हैं बल्कि आवश्यकता पड़ने पर उनमें परिवर्तन किये जा सकते हैं। विभिन्न देशों के बीच सोने का स्वतन्त्र आयात तथा निर्यात भी नहीं होता है। केवल सुविधा की दृष्टि से मुद्राओं के मूल्य को सोने में निश्चित कर दिया जाता है। इन्हीं सब कारणों से इस प्रणाली को यदि पत्र मुद्रामान का विशेष रूप कहा जाय तो अधिक ठीक होगा।

इस प्रकार की मुद्रा व्यवस्था को स्वर्णमान कहना कहाँ तक उचित होगा, इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में काफी मतभेद रहा है। लार्ड केन्स (Lord Keynes) ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष योजना को स्वर्णमान मानने से इन्कार किया है। उनके अनुसार वर्तमान व्यवस्था को स्वर्णमान नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उसके अन्तर्गत विदेशी विनिमय दरों को सदैव के लिए निश्चत नहीं किया जाता है बल्कि उनमें आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है। यद्यपि केन्स (Keynes) के द्वारा दिये गये तर्क काफी महत्वपूर्ण हैं किन्तु फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा

कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष योजना मे सोने को काफी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। प्रो० हाम (Halm) ने इस बात को विशेष महत्व दिया है। उनके अनुसार—"कोष के स्वर्ण सम्बन्धी नियम केवल दिखावा नही है। कोष की सबसे तरल सम्पत्ति के रूप मे तथा सदस्य देशो की मुद्राओं के सामान्य आधार के रूप मे सोना वास्तव मे एक महत्वपूर्ण कार्य करता है।"[18] वर्तमान मुद्रा व्यवस्था मे स्वर्णमान का इतना महत्वपूर्ण स्थान होते हुए भी उसे स्वर्णमान कहना अधिक उचित नही होगा। केवल यही कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष योजना के अन्तर्गत एक ऐसा मुद्रामान स्थापित कर दिया गया है जिसमे स्वर्णमान के दोष काफी सीमा तक दूर हो गये है किन्तु सदस्य देश स्वर्णमान के कुछ लाभ अवश्य प्राप्त कर सकते है।

स्वर्णमान के नियम (Rules of the Gold Standard)—

स्वर्णमान के सफलतापूर्वक चलने के लिए कुछ नियमो का पालन करना अनिवार्य है। जिस प्रकार किसी भी खेल को खेलने के लिए प्रत्येक खिलाड़ी को उस खेल के नियमों का पालन करना होता है, उसी प्रकार स्वर्णमान को चलाने के लिए प्रत्येक देश को स्वर्णमान के नियमों का पालन करना होता है। जब तक स्वर्णमान वाले देश इन नियमो का पालन करते हैं, स्वर्णमान ठीक प्रकार चलता रहता है किन्तु यदि कोई भी देश इनका उल्लघन करता है तो स्वर्णमान की स्वय सचालकता समाप्त हो जाती है और उसका चलना कठिन हो जाता है। स्वर्णमान के नियमो के महत्व को बतलाते हुए क्राउथर (Crowther) ने लिखा है कि "स्वर्णमान एक ईर्ष्यालु देवता है। यह तभी कार्य करता है जब उसकी एकमात्र साधना की जाती है।"[19] स्वर्णमान की सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि कहां तक देश का केन्द्रीय बैंक उसके प्रति वफादार रहता है, अर्थात् वह किस सीमा तक स्वर्णमान के आधारभूत नियमो का पालन करता है। स्वर्णमान के मुख्य नियम निम्नलिखित हैं—

(१) स्वर्ण कोषो मे परिवर्तन के साथ-साथ मुद्रा और साख की मात्रा मे परिवर्तन।

(२) स्वर्ण कोषो के बदलने पर विभिन्न प्रकार के मूल्यो मे आवश्यक परिवर्तन।

(३) स्वतन्त्र व्यापार की नीति का पालन करना।

(१) स्वर्ण कोषों मे परिवर्तन होने पर मुद्रा तथा साख की मात्रा मे परिवर्तन करना—स्वर्णमान वाले देशो को बाहर से सोने का आयात होने पर साख का

18 "The Fund's gold provisions are not just window dressing. Gold plays a really important role as the Fund's most liquid asset and as a common anchorage for the member currencies." —*Halm.*

19 "Gold Standard is a jealous God. It will work provided it is given exclusive devotion." —*Crowther* : An Outline of Money, P. 306.

विस्तार करना चाहिए और देश से सोना बाहर जाने पर उसी अनुपात में साख की मात्रा कम कर देनी चाहिए। क्राउथर (Crowther) के अनुसार यह नियम स्वर्णमान का आधारभूत नियम कहा जा सकता है और इसके पालन करने पर ही स्वर्णमान की सफलता निर्भर होती है। उनके अनुसार "स्वर्णमान का स्वर्ण नियम है—सोने के देश मे आने पर साख का विस्तार करो और उसके बाहर जाने पर साख का सकुचन करो।"[20] इस नियम का पालन करने से ही स्वर्णमान एक स्वय संचालित मुद्रामान के रूप मे स्थापित किया जा सकता है। सोने के स्वतन्त्र आयात और निर्यात के द्वारा स्वर्णमान विभिन्न देशो मे सोने का समान वितरण करता है तथा उनके मूल्य-स्तर मे समानता लाता है। जब किसी देश मे सोने का अधिक आयात होने के कारण स्वर्णकोष की मात्रा बढ जाती है तो वहाँ पर साख का विस्तार किया जाता है जिसके कारण उस देश का मूल्य-स्तर ऊँचा उठ जाता है। अन्य देशो की अपेक्षा वस्तुओ का मूल्य ऊँचा होने के कारण उस देश का आयात अधिक और निर्यात कम हो जाता है भुगतान सन्तुलन (Balance of Payment) उस देश के विपक्ष मे हो जाता है और सोना देश से बाहर जाने लगता है। सोने का निर्यात होने के कारण देश मे सोने की मात्रा कम हो जाती है, साख की मात्रा घट जाती है और मूल्य-स्तर गिर कर सामान्य स्तर पर आ जाता है। इस प्रकार स्वर्णमान वाले देशो मे स्वर्ण कोष की मात्रा के बढने पर साख का विस्तार होना चाहिए और उसके घटने पर साख की मात्रा स्वय कम हो जानी चाहिए।

(२) स्वर्ण कोषों के बदलने पर विभिन्न प्रकार के मूल्यों में आवश्यक परिवर्तन—स्वर्णमान वाले देशो को अपने स्वर्ण कोषो मे परिवर्तन होने पर मूल्य-स्तर तथा मजदूरी की दरो मे परिवर्तन होने देना चाहिए। देश मे स्वर्ण का आयात होने पर मूल्य-स्तर बढ जाना चाहिए तथा उसके निर्यात किये जाने की दशा मे वह घट जाना चाहिए। हाम (Halm) के अनुसार "जब सोने के आयात तथा निर्यात के मौद्रिक दबाव पडते हैं तो मूल्य-स्तर उसी प्रकार बढना तथा घटता है जिस प्रकार नहर के सचित पानी का स्तर।"[21] स्वर्णमान वाले देशो की अर्थ-व्यवस्था इतनी लोचपूर्ण होनी चाहिए कि सोना बाहर से आने पर विभिन्न प्रकार के मूल्यो को तुरन्त बढाया जा सके और सोने के बाहर जाने पर उन्हे कम किया जा सके। यदि इस प्रकार के परिवर्तन नही होने दिये जाते है तो स्वर्णमान की स्वय-सचालकता समाप्त हो जाती है और विभिन्न देशो के मूल्य-स्तरो मे समानता स्थापित नही की जा सकेगी। प्रथम महायुद्ध से पूर्व स्वर्णमान के इस नियम का पूरी तरह से पालन किया जाता था किन्तु युद्ध के पश्चात् विभिन्न देशो ने नियम का उल्लघन करना

---

20 "Thus the golden rule of the gold standard is : expand credit when gold is coming in; contract credit when gold is going out."
—*Crowther* : 'An Outline of Money', P. 304.

21 "When the monetary pressures of gold movements are exerted, the price levels are supposed to rise or fall like water in the lock." —*Halm.*

आरम्भ कर दिया जिसके कारण स्वर्णमान का चलना कठिन हो गया। अमरीका मे सोना भारी मात्रा में आ रहा था किन्तु उसे जमा कर लिया गया और उसके अनुपात मे साख का विस्तार नही किया गया। इस प्रकार स्वर्णकोषो के बढ़ने का प्रभाव मूल्य-स्तर पर नही पड़ने दिया जाता था। इगलैंड मे भी सोने के बढते हुए कोषो को पूरी तरह मूल्यो पर प्रभाव नहीं डालने दिया जाता था। इन देशो के द्वारा स्वर्णमान के आधारभूत नियम का उल्लघन किये जाने के कारण स्वर्णमान ठीक प्रकार से न चल सका।

(३) स्वतन्त्र व्यापार की नीति का पालन करना—उपर्युक्त आधारभूत नियमो के ठीक प्रकार क्रियशील होने के लिए स्वर्णमान वाले देशो को स्वतन्त्र व्यापार की नीति का पालन करना चाहिए। किसी भी देश को वस्तुओ के आयात और निर्यात पर नियन्त्रण नही लगाना चाहिए। स्वतन्त्र व्यापार के द्वारा ही स्वर्णमान विभिन्न देशो के व्यापार सतुलन (Balance of Trade) को ठीक रख सकता है तथा इन देशो मे सोने का समान वितरण सम्भव हो सकेगा। स्वर्णमान को ठीक प्रकार से चलाने के लिए विभिन्न देशो मे सोने का आयात तथा निर्यात भी स्वतन्त्र होना चाहिए। यदि कुछ देश अपने उद्योग-धन्धो को सरक्षण देने के लिए अथवा आर्थिक राष्ट्रीयवाद के अन्तर्गत विदेशी व्यापार पर नियन्त्रण लगाते हैं तो ऐसी दशा मे स्वर्णमान ठीक प्रकार से नही चल सकेगा। स्वतन्त्र व्यापार की अनुपस्थिति मे स्वर्णमान व्यापार सतुलन (Balance of Trade) की त्रुटियो को ठीक नही कर सकेगा और विभिन्न देशो के मूल्य-स्तर मे इतना अधिक अन्तर हो जायगा कि उसे सोने के आयात और निर्यात के द्वारा भी ठीक नही किया जा सकेगा। इस प्रकार भुगतान सन्तुलन (Balance of Payment) को ठीक रखने के लिए तथा विभिन्न देशो के मूल्य-स्तर मे समानता लाने के लिए, स्वतन्त्र व्यापार की नीति का होना अनिवार्य है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान
(International Gold Standard)

स्वर्णमान का अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष उसके आन्तरिक पक्ष की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। आन्तरिक मुद्रा व्यवस्था के आधार के रूप मे सोने का अधिक महत्व नही रहा है। उसका प्रमुख महत्व अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यमान तथा विनिमय के माध्यम के रूप मे रहा है।[२२] अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का मुख्य उद्देश्य विदेशी विनिमय दरो मे स्थिरता स्थापित करना होता है। क्राउथर (Crowther) के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का सम्बन्ध मुद्रा के विदेशी मूल्य से तथा विदेशी विनिमय की

22 'The principal significance of gold has been not its use as a basis for the domestic monetary systems of nations but rather its employment as an international standard of value and medium of exchange'

—*Kent, Raymond* Money & Banking P. 37.

स्थिरता स्थापित करने की समस्या से है।"[२३] अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि किसी देश की मुद्रा के आन्तरिक मूल्य को स्थिर रखने के लिए उसकी मुद्रा का सोने पर आधारित होना आवश्यक नहीं है। किन्तु विभिन्न देशों की मुद्राओं से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तथा उनके विदेशी मूल्य को स्थिर रखने के लिए, मुद्राओं का सोने के साथ सम्बन्धित होना आवश्यक है। इसीलिए स्वर्णमान का प्रमुख महत्व अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रामान के रूप में रहा है। विभिन्न देशों में सोने के भुगतानों को निबटाने के माध्यम तथा मूल्यमान के रूप में स्वीकार किए जाने के कारण स्वर्णमान अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रामान के रूप में विशेष उपयुक्त रहा है। आन्तरिक मुद्रामान के रूप में स्वर्णमान का महत्व तब तक ही था जब तक लोग या तो सोने की मुद्रा चाहते थे अथवा अपनी मुद्रा को सोने में परिवर्तनीय रखना पसन्द करते थे। किन्तु यह स्थिति प्रथम महायुद्ध के पश्चात् समाप्त हो गई थी। अब लोगों का विश्वास पत्र मुद्रा में स्थापित हो चुका था और मुद्रा के रूप में सोने का प्रयोग अनावश्यक समझा जाने लगा था। सोने को मुद्राओं के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को नियन्त्रित करने का काम सौंप दिया गया। ऐसी दशाओं में आन्तरिक स्वर्णमान का पतन स्वाभाविक था किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रामान के रूप में उसका महत्व बराबर बना रहा। क्राउथर (Crowther) ने आन्तरिक स्वर्णमान के पतन तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के महत्व के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है—"आन्तरिक स्वर्णमान वास्तव में अपनी प्राकृतिक मृत्यु को प्राप्त हो रहा है और सोने का अधिकाधिक रूप से मुद्राओं के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को नियन्त्रित करने का काम रह गया है।"[२४] अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सोने का महत्व विशेषतया उसकी सर्वमान्यता के कारण है। पत्र मुद्रा को देश में स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया जा सकता है किन्तु विदेशी भुगतानों को निबटाने के लिए वह उपयोगी नहीं है और हमें इस प्रकार के भुगतानों को निबटाने के लिए स्वर्ण अथवा स्वर्ण पर आधारित मुद्रा की आवश्यकता होती है। इसीलिए जबतक सम्भव हो सका स्वर्णमान को बनाये रखने का प्रयत्न किया गया। प्रथम महायुद्ध काल में स्वर्णमान को स्थगित कर दिया गया किन्तु युद्ध के पश्चात् विदेशी विनिमय की स्थिरता को स्थापित करने के लिए विभिन्न देशों के द्वारा फिर से अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान को अपना लिया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के लाभ

(Advantages of International Gold Standard)—

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान से प्राप्त होने वाले कुछ विशेष लाभ निम्न प्रकार है—

23 'This international gold standard is concerned with the external value of the currency and with the problem of maintaining the stability of the foreign exchanges.
—*Crowther* : An Outline of Money, P. 297.

24 'The domestic gold standard, in fact, is dying a natural death, and gold is increasingly being left to its task of regulating the international relationships of currencies.'
—*Crowther* : An Outline of Money, P. 296.

(१) सोना अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के माध्यम तथा मूल्यमान का कार्य करता है—विभिन्न देशों में सोने के निःसकोच स्वीकार किए जाने के कारण स्वर्ण मुद्रा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का कार्य करती है। केन्ट (Kent) के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का सबसे प्रत्यक्ष लाभ सोने का समस्त संसार में विनिमय के माध्यम तथा मूल्यमान के रूप में निःसकोच स्वीकार किया जाना है"।[25] स्वर्ण मुद्रा ही एक ऐसी मुद्रा है जिसे राष्ट्रीय सीमाओं से बाहर भी स्वीकृति प्राप्त होती है। उसके द्वारा विदेशी भुगतानों को आसानी से निबटाया जा सकता है जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार होता है तथा विभिन्न देशों के बीच पूँजी का आयात व निर्यात सुविधापूर्वक किया जा सकता है। स्वर्णमान वाले देशों के पास सोने के रूप में एक ऐसी क्रय-शक्ति होती है जिसे सब देशों में स्वीकार किया जाता है तथा जिसके द्वारा विभिन्न देशों में वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्यों को नापा जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यमान होने के कारण सोने के द्वारा विभिन्न देशों में स्थित वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्यों की तुलना की जा सकती है।[26]

(२) विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का सबसे महत्वपूर्ण कार्य विदेशी विनिमय की स्थिरता स्थापित करना है। अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की व्यवस्था में विदेशी विनिमय दरें प्रायः स्थिर रहती थीं और उनमें बहुत कम परिवर्तन होते थे। विदेशी विनिमय दरों में होने वाले परिवर्तन केवल स्वर्णमान बिन्दुओं (Gold Points) की संकुचित सीमाओं के भीतर ही रहते थे। केन्ट (Kent) के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से, स्वर्णमान का सबसे प्रमुख लाभ विदेशी विनिमय दरों में लगभग पूर्ण स्थिरता को सम्भव करना है।"[27] विदेशी विनिमय की स्थिरता के कारण व्यापारिक जोखिम बहुत कम हो जाती है और विदेशी व्यापार के विस्तार के लिए उपयुक्त दशायें उत्पन्न होती हैं। विदेशी विनिमय की स्थिरता अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का स्वाभाविक गुण है जिसे प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार के विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती है। किन्तु विदेशी विनिमय की स्थिरता को स्थापित करने के लिए मुद्रा सोने में स्वतन्त्र रूप से परिवर्तनीय होनी चाहिए। क्राउथर

25 'The most obvious advantage of the international gold standard is found in the unlimited acceptability of gold throughout the world as a medium of exchange and a standard of value.'

—*Kent, Raymond* Money and Banking, P. 38.

26 'In serving as an international standard of value, gold makes possible the precise comparison of the worth of goods located in different countries.'

—*Kent, Raymond* Money and Banking, P. 38.

27 "From the international point of view the pre-eminent advantage of the gold standard lies in the fact that it makes possible almost perfect degree of stability in foreign exchange rates."

—*Kent, Raymond* Money and Banking, P. 38.

(Crowther) के अनुसार "मुद्रा की सोने में और सोने की मुद्रा में स्वतन्त्र परिवर्तनशीलता के बिना स्वर्णमान विदेशी विनिमय की स्थिरता स्थापित करने की गारन्टी नही दे सकता है।"[२८]

(३) विभिन्न देशों के मूल्य-स्तरों में समानता—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान विभिन्न देशो के मूल्य स्तरो मे समानता स्थापित करता है। स्वर्णमान की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत किसी भी देश का मूल्य-स्तर अन्य देशो के मूल्य-स्तरो की अपेक्षा ऊँचा या नीचा नही रह सकता है। इस प्रकार की असमानता सोने के स्वतन्त्र आयात तथा निर्यात के द्वारा स्वय समाप्त हो जाती है। केन्ट (Kent) के अनुसार विभिन्न देशो के बीच सोने का प्रवाह मूल्य-स्तरो को इस प्रकार घटाता-बढाता है कि वे स्वर्णमान वाले समस्त देशो मे एक सतुलन की स्थिति मे आ जाते है।"[२९] जब किसी देश का मूल्य-स्तर दूसरे देशो से ऊँचा हो जाता है, तो उस देश के निर्यात तथा आयात अधिक होने के कारण सोना देश से बाहर जाने लगता है। देश मे स्वर्ण कोष कम हो जाते है, मुद्रा संकुचन होना है तथा मूल्य-स्तर गिर कर सामान्य स्तर पर आ जाता है। इसके विपरीत यदि किसी देश का मूल्य-स्तर अन्य देशो की अपेक्षा कम होता है तो उस देश मे बाहर से सोना आने के कारण मुद्रा विस्तार होता है और मूल्य-स्तर बढ जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के दोष
(Disadvantages of International Gold Standard)—

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान से पैदा होने वाले कुछ दोष इस प्रकार है—

(१) विदेशी विनिमय की स्थिरता को बनाये रखने के लिए मूल्य-स्तर की स्थिरता को त्यागना पड़ता है—यद्यपि स्वर्णमान वाले देशो मे विदेशी विनिमय दरे स्थिर रहती है। किन्तु इन्हे स्थिर रखने के लिए इन देशो को अपने मूल्य-स्तर मे समय-समय पर परिवर्तन करने होते है, जिनका इनकी आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पडता है। यदि एक देश मे मूल्य-स्तर गिरता है और यदि दूसरे देश के साथ उसकी विनिमय दर को नही बदला जा सकता है तो ऐसी दशा मे दूसरे देश को अनिवार्य रूप से अपने मूल्य-स्तर को कम करना होगा चाहे उसकी अर्थ-व्यवस्था पर इसका कितना भी बुरा प्रभाव क्यों न हो। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान मे विदेशी विनिमय की स्थिरता पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया जाता है और उसे प्राप्त करने के लिए मूल्य-स्तर की स्थिरता को त्याग दिया जाता है। वर्तमान

28 "Without free covertability of money into gold, and to gold into money, the gold standard cannot guarantee stability of exchange rates."
—*Crowther*: An Outline of Money, P. 299.

29 'The flow of gold from country to country causes price levels to rise and fall in such manner that they are brought in equilibrium among all the nations which maintain gold standard.'
—*Kent, Raymond*: Money and Banking, P. 40.

अर्थशास्त्रियों के अनुसार आन्तरिक आर्थिक स्थिरता को त्याग दिया जाता है। वर्तमान अर्थशास्त्रियों के अनुसार आन्तरिक आर्थिक स्थिरता विदेशी विनिमय की स्थिरता से अधिक महत्वपूर्ण है और आवश्यकता पड़ने पर एक देश को अपनी आन्तरिक स्थिरता को बनाये रखने के लिए विदेशी विनिमय दरों में परिवर्तन कर लेना चाहिए।

(२) सोने के आयात और निर्यात के द्वारा एक देश की आर्थिक बुराइयाँ दूसरे देशों में पहुँच जाती हैं—प्रो० केन्ट (Kent) के अनुसार सोना एक अत्यन्त प्रभावशाली वाहक का कार्य करता है जिसके द्वारा कुछ देशों में अनुभव किये जाने वाले आर्थिक सकट तुरन्त दूसरे देशों में भी पहुँच जाते हैं।"[30] *सोने का स्वतन्त्र आयात व निर्यात होने की दशा में कोई भी देश अपनी अर्थ-व्यवस्था को दूसरे देशों के बुरे प्रभावों से नहीं बचा सकता है।* यदि किसी देश में कोई आर्थिक आपत्ति आती है तो सोने के आयात तथा निर्यात के द्वारा उसके बुरे परिणाम अन्य देशों में भी पहुँच जाते हैं। ऐसी दशाओं में कोई भी देश अपनी निजी तथा स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था का निर्माण नहीं कर सकता है। प्रत्येक देश की अर्थ-व्यवस्था दूसरे देशों की अर्थ-व्यवस्था के साथ सम्बन्धित हो जाती है। इसके बुरे परिणाम १९३० की आर्थिक मन्दी काल में स्पष्ट रूप से अनुभव किये गये जबकि अमेरिका में आरम्भ होने वाली भारी आर्थिक मन्दी सोने के प्रवाह के द्वारा स्वर्णमान वाले सभी देशों में फैल गई।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की सफलता की दशायें
(Requisites of International Gold Standard)—

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के सफलतापूर्वक चलने के लिए विशेष प्रकार के वातावरण की आवश्यकता होती है। प्रथम महायुद्ध से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान बहुत अच्छी प्रकार से चलता रहा क्योंकि उस समय वे सब दशायें मौजूद थीं जो स्वर्णमान की सफलता के लिए अनिवार्य हैं। युद्ध के पश्चात् इनमें से बहुत सी दशाओं के न होने के कारण स्वर्णमान केवल कठिनाई के साथ ही चल सका और अन्त में टूट गया। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के ठीक प्रकार से चलने के लिए निम्न-लिखित दशाओं का होना अनिवार्य है—

(१) प्रत्येक देश में *किसी न किसी प्रकार का स्वर्णमान होना चाहिए*— अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान को स्थापित करने के लिए संसार के अधिकांश देशों में किसी न किसी प्रकार का स्वर्णमान होना आवश्यक है। यदि बहुत से देशों ने पत्र मुद्रामान या किसी अन्य प्रकार के मुद्रामान को अपनाया हुआ है और केवल कुछ एक देशों में ही स्वर्णमान है तो ऐसी दशा में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान सफलतापूर्वक नहीं चल सकता है। अपनी मुद्रा व्यवस्था को सोने के साथ सम्बन्धित करने वाले देशों की

30 'Gold serves, as it were a highly efficient conductor through which the economic shocks felt in particular countries are quickly passed on to other countries.' —*Kent, Raymond* Money and Banking, P. 42.

संख्या जितनी अधिक होती है, उतना ही सोना अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यमान तथा विनिमय के माध्यम के रूप मे अधिक उपयोगी होता है। यद्यपि विभिन्न देशो को इस बात की स्वतन्त्रता होती है कि वे जिस प्रकार का स्वर्णमान चाहें अपने देश मे स्थापित करें किन्तु फिर भी अधिकाश देशो के द्वारा स्वर्ण मुद्रामान अथवा स्वर्ण धातुमान का अपनाया जाना अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की सफलता के लिए एक आवश्यक दशा है।

(२) पर्याप्त मात्रा में स्वर्ण कोषों का होना तथा विभिन्न देशो में उनका समान वितरण—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान को चलाने के लिए संसार मे सोना इतनी मात्रा मे होना चाहिए जिससे कि विभिन्न देशो की मौद्रिक आवश्यकताओ को पूरा किया जा सके। सोने की कमी की दशाओ मे स्वर्णमान को नही चलाया जा सकता है। संसार मे स्वर्ण कोषो के पर्याप्त मात्रा मे होने के साथ-साथ उनका विभिन्न देशो मे समान वितरण भी होना चाहिए। यदि कुछ एक देशो मे तो सोना बहुत अधिक है किन्तु अन्य देशो मे सोने की कमी है तो स्वर्णमान नही चल सकेगा।

(३) स्वतन्त्र व्यापार की नीति का अपनाया जाना—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की सफलता के लिए विभिन्न देशो को स्वतन्त्र व्यापार की नीति को अपनाना चाहिए। इन देशो को वस्तुओ के आने-जाने पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही लगाना चाहिए। स्वतन्त्र व्यापार के द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान मे भुगतान संतुलन (Balance of Payment) को ठीक रक्खा जा सकता है। यदि विदेशी व्यापार पर नियन्त्रण लगाये जाते हैं तो स्वर्णमान की स्वय-सचालकता समाप्त हो जाती है।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों की मात्रा को कम से कम रक्खा जाये—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान को ठीक प्रकार चलाने के लिए विदेशी ऋणो की मात्रा को कम से कम रखना चाहिए। यदि किसी देश मे विदेशी ऋणो की मात्रा बहुत अधिक बढ जाती है तो उसकी निर्यात का बहुत बडा भाग ऋणो के भुगतान मे अथवा उन पर दिये जाने वाले सूद के रूप मे व्यय हो जायेगा और वह देश स्वर्ण कोषो का निर्माण नही कर सकेगा। यदि किसी कारण उसकी निर्यातो की माग गिर जाती है तो ऐसी दशा मे उसे स्वर्ण कोष से सोना निकाल कर निर्यात करना होगा और वह अपने यहाँ स्वर्णमान को नही बनाये रख सकेगा।

(५) स्वर्णमान वाले देशों की अर्थ-व्यवस्था लोचदार होनी चाहिए—स्वर्णमान के नियमो का पालन करने के लिए विभिन्न देशो की अर्थ-व्यवस्था इतनी लोचपूर्ण होनी चाहिए कि बाहर से सोना आने पर मूल्यो तथा मजदूरी की दरो को बढाया जा सके और सोना बाहर जाने पर उन्हे कम किया जा सके। यदि मूल्य-स्तर तथा मजदूरी की दरों को सोने के आयात व निर्यात के अनुसार घटने-बढने नहीं दिया जाता है तो अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान नही चल सकेगा।

(६) राजनैतिक स्थिरता (Political Stability)—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की सफलता के लिए राजनैतिक स्थिरता का होना अनिवार्य है। विभिन्न देशों के आपसी सम्बन्ध अच्छे होने चाहिएँ तथा उनमें सहयोग की भावना होनी चाहिए। व्यक्तिगत देशों में राजनैतिक आन्दोलन तथा स्थानीय झगड़े नहीं होने चाहिएँ।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का पतन और उसके कारण

(Causes of the Breakdown of International Gold Standard)—

प्रथम महायुद्ध काल में कुछ विशेष कठिनाइयों के कारण स्वर्णमान स्थगित कर दिया गया किन्तु युद्ध के पश्चात् विदेशी विनिमय की स्थिरता प्राप्त करने के लिए उसे फिर से एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रामान के रूप में स्थापित किया गया। सन् १९२९ तक संसार के लगभग सब देशों ने किसी न किसी रूप में स्वर्णमान को अपना लिया था किन्तु युद्ध के पश्चात् का स्वर्णमान अधिक सफलतापूर्वक न चल सका और १९३१ में *उसका पतन आरम्भ हो गया।* सितम्बर १९३१ में इगलैंड ने स्वर्णमान को छोड़ दिया। सन् १९३३ में अमेरिका के डालर का सम्बन्ध सोने के साथ टूट गया और १९३६ तक सब देशों ने स्वर्णमान को सदैव के लिए त्याग दिया। स्वर्णमान के इस पतन के निम्नलिखित कारण थे—

(१) आर्थिक राष्ट्रीयता का विकास (Development of Economic Nationalism)—प्रथम महायुद्ध के कारण बहुत से देशों में आर्थिक राष्ट्रीयता का जन्म हुआ और इन देशों ने आत्म-निर्भरता प्राप्त करने के लिए निजी स्वार्थ की नीति को अपना लिया। *युद्ध के कारण पैदा होने वाली कठिनाइयों को* दूर करने के लिए तथा आर्थिक राष्ट्रीयता की भावना के पैदा हो जाने के कारण प्रत्येक देश अपने औद्योगिक विकास के लिए प्रयत्नशील था। सभी देशों ने स्वतन्त्र व्यापार की नीति को छोड़कर उसके स्थान पर संरक्षण की नीति को अपना लिया था। अपने उद्योगों को संरक्षण देने के लिए इन देशों में विदेशी व्यापार पर विभिन्न प्रकार के नियन्त्रण लगाये गये। आयात नियन्त्रण, अभ्यंश प्रणाली (Quota System) तथा निर्यात शुल्क आदि स्वर्णमान वाले देशों की व्यापारिक नीति का मुख्य अंग बन गये थे। मुख्यतः फ्रांस, इंगलैंड और अमेरिका ने संरक्षण की नीति को अपनाकर स्वर्णमान के नियम का उल्लंघन किया। स्वतन्त्र व्यापार न होने के कारण विभिन्न देशों के मूल्य-स्तर में इतना अधिक अन्तर हो गया कि उसे सोने के आयात तथा निर्यात के द्वारा भी ठीक नहीं किया जा सकता था। प्रो० कोल (G D H Cole) ने स्वर्णमान की प्रकृति के बारे में ठीक ही लिखा है—"स्वर्णमान आवश्यक रूप में एक स्वतन्त्र मान है। इसमें आर्थिक प्रबन्ध की उन विधियों का, जिनका उद्देश्य विदेशी विनिमय सम्बन्धी सौदों पर रोक लगाना होता है, कोई स्थान नहीं है।"[31]

31 'The gold standard is essentially a laissez faire standard It rules out such methods of economic management as involve restrictions on exchange transactions'

—*G. D H Cole*: Money Its Present & Future, P. 231.

(२) स्वर्णमान के उद्देश्यों को पूर्णरूप से स्वीकार न किया जाना—प्रथम महायुद्ध से पूर्व स्वर्णमान वाले देश विदेशी विनिमय की स्थिरता स्थापित करना अपना प्रमुख कर्त्तव्य समझते थे किन्तु युद्ध के पश्चात् स्थिति इससे भिन्न थी और ससार के अधिकाश देश स्वर्णमान के इस प्रमुख उद्देश्य के प्रति उदासीन हो गये थे। ससार के मुद्रा अधिकारी अब पूर्णरूप से स्वर्णमान के उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयत्न नही कर रहे थे। क्राउथर (Crowther) के अनुसार, "विदेशी विनिमय के स्थान पर मूल्यो की स्थिरता प्राप्त करना मुद्रा अधिकारियो का प्रमुख कर्त्तव्य समझा जाता था।"[32] स्वर्णमान के प्रमुख उद्देश्य के प्रति इस प्रकार की उदासीनता ने अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की सफलता की सम्भावना को कम कर दिया।

(३) स्वर्णमान के नियमों का परित्याग—युद्ध के पश्चात् बहुत से देशों ने स्वर्णमान के आधारभूत नियमो का उल्लघन करना आरम्भ कर दिया जिसके कारण स्वर्णमान की स्वय-सचालकता समाप्त हो गई थी। क्राउथर ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि "युद्ध उपरान्त स्वर्णमान के पतन का तीसरा कारण यह था कि केन्द्रीय बैंक अपनी विभाजित निष्ठा तथा व्यावहारिक कठिनाइयो के आभास के कारण, स्वर्ण नियम का पालन करने मे असमर्थ रहे।"[33] सबसे पहले फ्रास और इगलैंड ने स्वर्णमान के नियमो का उल्लघन किया और विदेशी आयातो तथा सोने के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। इगलैंड तथा अमेरिका मे मूल्य-स्तर एव रोजगार की स्थिरता पर अधिक जोर दिया जाने लगा और इन देशो मे सोना अधिक मात्रा मे आने पर भी साख का विस्तार नही किया गया तथा विदेशो से आने वाले सोने को आसचित कोषो (Hoards) के रूप मे जमा कर लिया गया। इस प्रकार स्वर्ण कोषो का प्रभाव मूल्य-स्तर पर नही पडने दिया जाता था।

(४) स्वर्ण कोषों का असमान वितरण—युद्ध के कारण विभिन्न देशो मे सोने का वितरण बहुत असमान हो गया था और कुछ बडे देशो के पास सोने की भारी कमी थी। कुछ देशों के पास (जैसे अमेरिका और फ्रास) सोना बहुत अधिक मात्रा मे जमा हो गया था जबकि इगलैंड व जर्मनी मे सोने की बहुत कमी थी। अमेरिका तथा फ्रास ने युद्ध मे हारने वाले देशो को लडाई के जुर्माने सोने के रूप मे भुगतान करने के लिए बाध्य किया जिसके कारण इन देशो के पास ससार का ८०% सोना जमा हो गया और जर्मनी तथा पूर्वी योरुप के देशो मे सोने की इतनी अधिक कमी हो गई कि वे स्वर्णमान को बनाये रखने मे सफल न हो सके।

---

32 'To seek for stability of prices, rather than of exchanges was the primary duty of the monetary authorities'

—*Crowther* : An Outline of Money, P 316.

33 'The third reason for the downfall of the postwar gold standard was that the Central Banks, torn by the divided loyalties and aware of great technical difficulties, failed to observe the golden rule'

—*Crowther* : An Outline of Money, P. 319.

(५) बहुत से देशों के द्वारा स्वर्ण विनिमय मान का अपनाया जाना—युद्ध के पश्चात् लगभग सभी देशो ने स्वर्ण मुद्रामान को त्याग दिया और उसके स्थान पर स्वर्ण धातुमान अथवा स्वर्ण विनिमय मान को अपना लिया गया। अधिकांश देशो के द्वारा स्वर्ण विनिमय मान अपनाये जाने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान कमजोर हो गया। इन देशो के बीच सोने के आयात तथा निर्यात की आवश्यकता समाप्त हो गई और अधिक सरकारी हस्तक्षेप के कारण स्वर्णमान न चल सका।

(६) आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था मे लोच का अभाव—युद्ध के कारण बहुत से देशो की अर्थ-व्यवस्थाओ मे दृढता आ गई थी और लोच के अभाव के कारण इन देशो मे मूल्य स्तर तथा मजदूरी की दरो को स्वर्ण कोषो मे होने वाले परिवर्तनो के अनुसार घटाना-बढाना सम्भव न था। व्यापारिक सघो, बडी-बडी कार्पोरेशन तथा मजदूर सघो के स्थापित हो जाने के कारण मूल्यों तथा मजदूरी की दरो मे परिवर्तन करना कठिन हो गया था। ऐसी दशाओं मे सोने का आयात तथा निर्यात देश की अर्थ-व्यवस्था पर अपना पूरा प्रभाव नही डाल पाते थे।

(७) अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों की मात्रा मे वृद्धि—युद्ध के कारण विदेशी ऋणो *की मात्रा बहुत अधिक बढ गई थी जिसके कारण स्वर्णमान के सुविधापूर्वक चलने मे* कठिनाई होने लगी। लडाई के जुर्मानो का भुगतान करने के लिए तथा युद्ध सम्बन्धी ऋणो की किश्तें देने के लिए ऋणी देशो से सोना निकलकर अमेरिका और फ्रास मे जमा हो रहा था, जहां पर पहले से ही बहुत अधिक सोना था। सोने के इस *अनावश्यक हस्तान्तरण के कारण स्वर्णमान ठीक प्रकार से न चल सका।* क्राउथर ने इस कठिनाई की ओर सकेत करते हुए कहा है कि, "जब अन्तर्राष्ट्रीय ऋणो की मात्रा बहुत अधिक बढ जाती है, जैसा की युद्ध उपरात काल मे था तो स्वर्णमान का कार्य उसी सीमा तक अधिक कठिन हो जाता है।"[३४]

(८) शरणार्थी पूंजी के भयकर परिणाम (Havoc caused by Refugee Capital)—प्रथम महायुद्ध से पूर्व विभिन्न देशो मे पूंजी का अल्पकालीन विनियोग किया जाता था। किन्तु युद्ध काल मे तथा युद्ध के पश्चात् विभिन्न देशो ने विदेशी पूंजी पर नियन्त्रण लगा दिये और पूंजी की वापसी तथा उस पर दिये जाने वाले ब्याज का भुगतान स्थगित कर दिया गया जिसके कारण काफी बेचैनी फैल गई और पूंजी कुछ देशो से हटकर अधिक सुरक्षित देशो मे जाने लगी। पूंजी का यह आवागमन इतना शीघ्र तथा आकस्मिक था कि बहुत से देश इसके भयकर परिणामो से न बच सके। सन् १९३१ मे फ्रास के द्वारा भारी मात्रा मे अपनी पूंजी का इगलैंड से हटाया जाना, इगलैंड मे स्वर्णमान के टूटने का प्रमुख कारण था।

---

34 'When international indebtedness is large as it was in the postwar era the task of the gold standard is to that extent more difficult of accomplishment.' —*Crowther* An Outline of Money, P 319.

(९) राजनैतिक स्थिरता का अभाव—यद्यपि युद्ध समाप्त हो चुका था किन्तु युद्ध का वातावरण अभी बना हुआ था। विभिन्न देशो मे आपसी विश्वास न होने के कारण एक प्रकार का तनाव रहता था और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अभाव था। राजनैतिक आन्दोलन, घरेलू झगडो तथा सरकारो के स्थिर न होने के कारण इन देशो की मौद्रिक व्यवस्था सुरक्षित न थी। मुद्रा मे जनता का विश्वास न होना, बैंको पर रुपये की अधिक माग तथा देश से भारी मात्रा मे पूँजी का भागना, उस समय की स्वाभाविक घटनाये थी। इन कठिनाइयो के कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान ठीक प्रकार से न चल सका।

(१०) महान् आर्थिक मन्दी के बुरे प्रभाव (Evils of Great Economic Depression)—सन् १९२९ मे महान् आर्थिक मन्दी के कारण ऐसी दशाये पैदा हो गई जिनके परिणामस्वरूप स्वर्णमान को अनिवार्य रूप से स्थगित कर देना पडा। सबसे पहले अमेरिका की वाल स्ट्रीट (Wall Street) से यह सकट आरम्भ हुआ और स्वर्णमान होने के कारण सब देशो मे शीघ्रता के साथ फैल गया। कीमतें तथा मजदूरी की दरे गिरने लगी और अति-उत्पादन तथा बेरोजगारी की दशायें पैदा हो गईं। बैंको पर मुद्रा की परिवर्तनशीलता के लिए इतनी अधिक माग की गई वे उसे पूरा न कर सके और बहुत से बैंक इस कारण फेल हो गये। इन देशो को अपनी मुद्रा की परिवर्तनशीलता को स्थगित करना पडा और स्वर्णमान टूट गया।

स्वर्णमान के पतन के पश्चात्
(After the Decline of Gold Standard)—

सन् १९३१ मे स्वर्णमान के पतन के पश्चात् विभिन्न देशो मे पत्र मुद्रा प्रणाली को अपना लिया गया जिसके कारण विदेशी विनिमय की स्थिरता को बनाये रखना कठिन हो गया। स्टर्लिङ्ग (Sterling) तथा अन्य मुद्राओं का मूल्य सोने के सम्बन्ध मे तेजी के साथ गिरने लगा जिसके कारण बहुत सी आर्थिक कठिनाइयां पैदा हो गई। कुछ देशो ने अपनी मुद्रा के विदेशी मूल्य का स्थिर रखने के लिए विनिमय समानीकरण कोषो (Exchange Equalisation Funds) को स्थापित किया और कृत्रिम तरीको से विदेशी विनिमय मे होने वाले परिवर्तनो को रोका गया। यह व्यवस्था केवल कुछ वर्षों तक ही चल सकी और युद्ध की असामान्य दशाओ मे टूट गई। द्वितीय विश्व-युद्ध छिड जाने पर सभी देशो मे काफी बडी मात्रा मे अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा जारी कर दी गई जिसके कारण विदेशी विनिमय की स्थिरता प्राप्त करना कठिन हो गया और इन देशो के मूल्य-स्तरो मे भी काफी परिवर्तन होने लगे। इन कठिनाइयो को दूर करने के लिए विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक योजनायें बनाई गई। इस समय सबसे बडा प्रश्न यह था कि क्या स्वर्णमान को फिर से स्थापित किया जा सकता है अथवा किसी अन्य प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रामान का विकास किया जाय? सयुक्त राष्ट्र सघ के सभी देश इस बात पर लगभग सहमत थे

कि किसी ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रामान को स्थापित किया जाय जिसमें पुराने स्वर्णमान के कुछ गुण हों और वह उसकी अपेक्षा अधिक लोचपूर्ण हो।

उस समय की प्रचलित दशाओं में प्राचीन प्रकार के स्वर्णमान को पुनः स्थापित करना असम्भव था क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की सफलता के लिए अनिवार्य दशायें लगभग समाप्त हो चुकी थी। यह बात निःसंदेह स्वीकार की जाती थी कि भविष्य का मुद्रामान किसी प्रकार का पत्र मुद्रामान ही हो सकता है चाहे उसमें विदेशी विनिमय की स्थिरता प्राप्त करने के लिए स्वर्णमान का कुछ अंश सम्मिलित रहे। प्रो० केन्स (Keynes) तथा कैसल (Cassel) का दृढ़ विश्वास था कि नियन्त्रित पत्र मुद्रामान (Managed Paper Currency System) ही भविष्य में स्थापित किया जा सकता है क्योंकि मूल्य की अस्थिरता के कारण सोने ने वर्तमान क्षेत्रों में अपना महत्व नष्ट कर दिया था। क्राऊथर (Crowther) ने भी वर्तमान राष्ट्रीय तथा स्वार्थी व्यापारिक प्रणाली के युग में किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-व्यवस्था की स्थापना करना असम्भव बतलाया है।[35] आज की सरकारें न तो दृढ़ विदेशी विनिमय दरों में विश्वास रखती हैं और न वे स्वर्ण कोषों में परिवर्तन होने पर मुद्रा का विस्तार अथवा संकुचन करने को तैयार हैं। शीत युद्ध-नीति (Cold War Policy) के कारण राजनैतिक अस्थिरता की दशायें उत्पन्न हो गई है और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की सम्भावना पहले की अपेक्षा बहुत कम रह गई है। प्रो० हॉम (Prof. Halm) ने ठीक ही कहा है कि इन दशाओं में स्वर्णमान के समर्थक चाहे कितना भी उसे स्थापित करने का प्रयत्न करें किन्तु प्राचीन रूप में स्वर्णमान का स्थापित किया जाना सम्भव नहीं है।[36] इन्हीं सब कारणों से स्वर्णमान के पतन के पश्चात् विभिन्न देशों के द्वारा नियन्त्रित पत्र मुद्रा प्रणाली (Managed Paper Standard) स्थापित की गई। किन्तु विदेशी विनिमय की स्थिरता प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की आवश्यकता थी जिसे प्राप्त करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M. F.) की योजना के अन्तर्गत एक नई मुद्रा प्रणाली का जन्म हुआ। कुछ लेखकों ने इसे स्वर्ण समता मान (Gold Parity Standard) कहा है क्योंकि इस योजना के अन्तर्गत सदस्य देशों को अपनी मुद्रा का स्वर्ण मूल्य निश्चित करना होता है। यद्यपि इस स्वर्ण मूल्य में आवश्यकता पड़ने पर परिवर्तन किये जा सकते है, किन्तु सामान्यतः इन देशों को अपनी विनिमय दरें अपनी मुद्राओं के स्वर्ण मूल्यों के

---

35 "It is impossible to have an international financial system alongside a commercial system that is fiercely and jealously national."

—*Crowther* : An Outline of Money, P. 319.

36 "No matter how badly some friends of gold standard want it reintroduced, they must see that the case for it in its orthodox form is hopeless when some of the major countries *refuse to be* into the *strait jacket* of gold."

—*Halm* : Monetary Theory, P. 207.

अनुसार निश्चित करनी होती है। इस प्रकार इस योजना में स्वर्ण का महत्वपूर्ण स्थान रक्खा गया है और सोना अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों को निश्चित करने के साधन के रूप मे प्रयोग किया जाता है। यद्यपि इस नई मुद्रा व्यवस्था को पूर्णतया स्वर्णमान नही कहा जा सकता है किन्तु इसमे स्वर्णमान का कुछ अंश अवश्य मौजूद है।

रजतमान
(Silver Standard)

एक धातुमान (Monometallic Standard) या तो सोने पर आधारित हो सकता है या चाँदी पर। उन्नीसवी शताब्दी से पूर्व मुद्रा धातु के रूप मे चाँदी का प्रयोग अधिक किया जाता था, उन्नीसवी शताब्दी मे सोना और चाँदी दोनो ही मुद्रा धातु का कार्य करती थी; किन्तु इस शताब्दी के अन्त तक इन धातुओ का प्रयोग धीरे-धीरे कम होने लगा। यद्यपि स्वर्णमान की भाँति रजतमान अधिक महत्वपूर्ण नही रहा है किन्तु फिर भी कुछ देशों मे चाँदी काफी समय तक मूल्यमान का कार्य करती रही है। सैद्धान्तिक रूप से रजतमान भी तीन प्रकार का हो सकता है किन्तु व्यवहार में केवल रजत मुद्रामान (Silver Currency Standard) ही अपनाया गया है। इस प्रकार के मुद्रामान मे चाँदी मूल्यमान का काम करती है और निश्चित वजन तथा शुद्धता वाले चाँदी के प्रमाणिक सिक्के देश मे चलाये जाते है। चाँदी के सिक्को का स्वतन्त्र मुद्रण किया जाता है और वे असीमित विधिग्राह्य मुद्रा होते है। देश मे चलने वाली अन्य प्रकार की मुद्रायें निश्चित दरों पर चाँदी के सिक्को मे परिवर्तनीय रक्खी जाती है। चीन की मुद्रा प्रणाली दीर्घ काल तक रजतमान पर आधारित रही है। भारतवर्ष मे रजतमान सन् १८३५ से १८९३ तक रहा जिसके अन्तर्गत चाँदी का रुपया देश की प्रमाणिक मुद्रा था जिसका भार १८० ग्रेन होता था और उसमे ११/१२ भाग शुद्ध चाँदी होती थी। चाँदी की मुद्रा की स्वतन्त्र ढलाई की जाती थी। सन् १८७४ तक भारत मे रजतमान ठीक प्रकार चलता रहा किन्तु इसके उपरान्त मैक्सिको मे चाँदी की नई खानो का पता लग जाने के कारण चाँदी के भाव गिरने लगे और भारत सरकार को चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण बन्द करना पड़ा। सन् १८९३ मे भारतवर्ष के द्वारा रजतमान को त्याग दिया गया क्योंकि चाँदी के भाव मे अधिक परिवर्तन होने के कारण रजतमान मुद्रा व्यवस्था मे स्थिरता स्थापित करने मे असमर्थ था। चीन मे रजतमान सन् १९३५ तक चलता रहा और उसके उपरान्त इसे त्याग दिया गया।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से रजतमान और स्वर्णमान की कार्य-प्रणाली मे कोई विशेष अन्तर नही है। रजतमान के द्वारा भी उन लाभो को प्राप्त किया जा सकता है जो स्वर्णमान मे उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त, रजतमान निर्धन देशो के लिए अधिक उपयुक्त है क्योंकि चाँदी का मूल्य सोने की अपेक्षा बहुत कम होता है।

किन्तु अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि चांदी के मूल्य मे अपेक्षाकृत कम स्थिरता रहने के कारण रजतमान मुद्रा के मूल्य मे उतनी स्थिरता स्थापित नही कर सकता है, जितनी कि स्वर्णमान के द्वारा स्थापित की जा सकती सकती है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) स्वर्ण विनिमय मान की कार्य-प्रणाली की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये। इस कार्य-प्रणाली मे Council Bill तथा Reverse Councils के महत्व पर प्रकाश डालें। (आगरा बी० ए० १६६०)

(२) स्वर्णमान क्या है ? स्पष्ट कीजिये। अन्य मानों की अपेक्षा यह किस प्रकार उत्तम है। उदाहरण सहित समझाइये। (आगरा बी० ए० १६५८ स)

(३) "स्वर्णमान की सफलता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि स्वर्णमान के नियमों का कड़ाई से पालन किया जाय।" इस कथन की व्याख्या कीजिये। (आगरा बी० ए० १६५६)

(४) स्वर्णमान ने किस प्रकार कार्य किया, इसकी विवेचना करिये। इसकी असफलता के कारण बताइये। (आगरा बी० काम० १६५६)

(५) स्वर्णमान से आप क्या समझते हैं ? वह किन दशाओ मे अच्छी प्रकार काम कर सकता है ? (राजस्थान बी० ए० १६५८)

(६) स्वर्णमान के कार्यों पर प्रकाश डालिये। क्या प्रबन्धित पत्र चलन मान इससे अच्छा है ? कारण दीजिये। (राजस्थान बी० काम० १६५८)

(७) स्वर्णमान के कार्य-सचालन एवं उसके पतन के कारणों पर प्रकाश डालिये। (राजस्थान बी० काम० १६५८)

(८) क्या बिना स्वर्ण करेंसी के स्वर्णमान स्थापित किया जा सकता है ? कारण सहित बताइये और ऐसे मान के गुण-दोषों पर प्रकाश डालिये। (सागर बी० ए० १६५८)

(६) मौद्रिक क्षेत्र मे स्वर्ण की वर्तमान स्थिति क्या है ? क्या स्वर्णमान पुनः लौटाया जा सकता है ? (बिहार बी० ए० १६५६)

(१०) स्वर्णमान के संचालन मे किन-किन नियमों का पालन करना आवश्यक है ? यह बताइये कि इन नियमों का पालन न करने से किस प्रकार सन् १६३१ मे स्वर्णमान टूट गया ? (विक्रम बी० काम० १६६०)

(११) स्वर्णमान की प्रमुख विशेषतायें बताइये। उन कारणों की व्याख्या कीजिये जिनसे सन् १६२५ के पश्चात् यह मान टूट गया। (बिहार बी० काम० १६६०)

(१२) आपके विचार से स्वर्णमान की सफलता के लिए क्या दशायें आवश्यक हैं ? विभिन्न देशों के द्वारा स्वर्णमान को क्यों त्याग दिया गया। (राजस्थान बी० ए० १६५७)

६

पत्र मुद्रा तथा पत्र मुद्रामान

PAPER MONEY AND PAPER STANDARD

पत्र मुद्रा का प्रयोग बहुत प्राचीन समय से होता आया है। इतिहासकारो का मत है कि सर्वप्रथम चीन मे पत्र मुद्रा का प्रयोग आरम्भ हुआ। ६वी शताब्दी मे चीन के सम्राट हेसेनट्ङ्ग (Hsientung) के राज्य-काल मे पत्र मुद्रा जारी किये जाने के ऐतिहासिक उदाहरण मिलते हैं। उस समय से लेकर १७वी शताब्दी तक वहाँ पर पत्र मुद्रा का प्रयोग किया जाता रहा। चीन के पश्चात् जापान तथा पर्शिया (Persia) मे पत्र मुद्रा का कार्य किया जाने लगा। कुछ विद्वानो का मत है कि बैबीलोन, एसीरिया तथा प्राचीन भारतीय सभ्यता के युग मे भी किसी न किसी रूप मे पत्र मुद्रा का प्रयोग किया जाता था किन्तु प्राचीन समय मे प्रयोग की जाने वाली पत्र मुद्रा वर्तमान कागजी नोटो से बिल्कुल भिन्न होती थी। वर्तमान प्रकार की पत्र मुद्रा का प्रयोग सबसे पहले यूरोप मे हुआ। १८वी शताब्दी मे इगलैंड मे पत्र मुद्रा काफी प्रचलित थी। धीरे-धीरे वहाँ से पत्र मुद्रा का प्रयोग अन्य यूरोपीय देशों मे फैल गया। प्रथम महायुद्ध काल मे कागजी नोटो के चलन को विशेष प्रोत्साहन मिला। इस समय यूरोप के देशों मे लडाई के खर्च को पूरा करने के लिए अधिक मुद्रा की आवश्यकता थी जिसे नोट छाप कर पूरा किया गया। सन् १६३१ मे स्वर्णमान के पतन के पश्चात् पत्र मुद्रा का प्रयोग निरन्तर बढता गया और आज वह ससार की एकमात्र मुद्रा बन गई है।

पत्र मुद्रा का प्रयोग मुख्यतया धातु मुद्रा की कठिनाइयो को दूर करने के लिए किया गया। जिस जमाने मे सोने और चाँदी के सिक्के चलाये जाते थे उस समय चाँदी और सोने की खानो का विशेष महत्व था। सोने की नई खानो के मालूम हो जाने पर सोने की मात्रा के बढ जाने के कारण मुद्रा का विस्तार होता था तथा सोने का उत्पादन कम हो जाने पर मुद्रा की मात्रा को अनिवार्य रूप से कम करना पडता था। अतः धातु मुद्रामान के युग में मुद्रा की मात्रा बहुमूल्य धातुओं की अनिश्चित पूर्ति पर निर्भर रहती थी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए बहुत समय से किसी ऐसी वस्तु की खोज की जा रही थी जो सोने के स्थान

पर मुद्रा का कार्य कर सके और मुद्रा वस्तु के लिए प्रकृति पर हमारी निर्भरता को कम किया जा सके। पत्र मुद्रा के रूप में एक ऐसी मुद्रा को प्राप्त कर लिया गया जिसकी मात्रा को घटाना-बढ़ाना मनुष्य के हाथ में था और इस प्रकार प्रकृति के ऊपर निर्भरता को कम कर दिया गया। इसके अतिरिक्त समाज की विनिमय के लिए बढ़ती हुई मुद्रा की मांग को पूरा करने के लिए भी पत्र मुद्रा की आवश्यकता थी। आर्थिक प्रगति के साथ मुद्रा की आवश्यकता तेजी के साथ बढ़ रही थी जिसे सोने की सीमित पूर्ति के द्वारा पूरा करना असम्भव था। मुद्रा की इस बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए पत्र मुद्रा का प्रयोग अनिवार्य था। सोना और चांदी जैसी बहुमूल्य धातुओं को बचत करने के लिए भी पत्र मुद्रा को अपनाने की आवश्यकता पड़ी। धात्विक मुद्रा बहुत कीमती होती थी, उनके स्थान पर किसी सस्ती मुद्रा की आवश्यकता थी। उपरोक्त कठिनाइयों को दूर करने के लिए पत्र मुद्रा का विकास किया गया और उसका प्रचलन होने लगा।

पत्र मुद्रा का विकास (Evolution of Paper Money)—

पत्र मुद्रा का विकास तथा उसका प्रयोग संसार के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी। पत्र मुद्रा ने समाज को धातु मुद्रा प्रणाली की कठिनाइयों से ही मुक्त नहीं किया बल्कि आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त दशायें पैदा करने में बड़ी सहायता दी है। आजकल तो यह माना जाने लगा है कि पत्र मुद्रा स्वयं आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण साधन बन सकती है। इस उपयोगी पत्र मुद्रा का विकास कोई आकस्मिक घटना नहीं थी बल्कि धीरे-धीरे विभिन्न अवस्थाओं में से होकर वर्तमान पत्र मुद्रा का विकास हुआ। पत्र मुद्रा की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन करके ही हम उसके विकास को समझ सकते हैं। पत्र मुद्रा के विकास के सम्बन्ध में मुख्यतया चार अवस्थायें बतलाई जाती हैं।

(१) लिखित पत्रों की अवस्था—सर्वप्रथम पत्र मुद्रा का उदय लिखित पत्रों के रूप में हुआ जो स्वयं मुद्रा नहीं थे किन्तु मुद्रा के स्थान पर उनका प्रयोग किया जाता था। धातु मुद्रा की चोरी हो जाने के भय से लोग अपनी मुद्रा को सुरक्षित रखने के लिए किसी विश्वसनीय सर्राफ अथवा बैंकर के पास जमा कर देते थे जो उसके बदले में उन्हें उसी रकम का लिखित पत्र दे देता था। विशेषकर व्यापारी जब दूसरे शहरों से सामान लेने जाते थे तो वे नकद रुपया अपने साथ न ले जाकर केवल इन लिखित पत्रों को ले जाते थे जो इस बात का प्रमाण होते थे कि उन पर लिखित रकम बैंकर के पास जमा है और वहाँ से उसे प्राप्त किया जा सकता है। इन लिखित पत्रों के खो जाने पर किसी को हानि नहीं उठानी पड़ती थी।

(२) बैंक नोटों की अवस्था—धीरे-धीरे इन लिखित पत्रों ने बैंक नोटों का रूप धारण कर लिया। इन सर्राफों ने देखा कि उनके लिखित पत्रों में से बहुत कम नकदी में बदलने के लिए आते हैं। उनका प्रयोग केवल मुद्रा के स्थान पर ही नहीं

किया जाता है बल्कि वे स्वयं मुद्रा का कार्य करने लगे है। अब ये प्रमाण-पत्र किसी व्यक्ति विशेष के नाम मे न लिखे जाकर वाहक (Bearer) के नाम मे लिखे जाने लगे और निश्चित तथा सुविधापूर्ण रकम के होते थे। इस प्रकार लिखित पत्रो ने बैंक नोटों का रूप ले लिया। जो व्यक्ति जितनी मुद्रा बैंकर के पास जमा करता था उसे उतने ही मूल्य के बैंक नोट दिये जाते थे जिन्हे वह विभिन्न व्यक्तियो को सुविधापूर्वक हस्तातरित कर सकता था।

(३) अनुपातिक कोष रखने की अवस्था—यह बैंक नोट इतने अधिक प्रचलित हो गये कि लोग उन्हे बहुत कम धात्विक मुद्रा मे बदलने के लिए लाते थे। बैंक नोट बहुत लम्बे समय तक चलन मे रहते थे और भुगतान निपटाने मे एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास जाते रहते थे। बैंकर्स ने जब यह देखा कि उनके प्रोनोट ही मुद्रा का कार्य करने लगे है तो उन्होने अपने पास जमा रकम से अधिक मात्रा मे नोट जारी करने आरम्भ कर दिये। इस प्रकार नोटो के पीछे अनुपातिक कोष रखने की प्रणाली का जन्म हुआ। इस युग मे अधिकाश नोट बैंक के द्वारा जारी किये जाते थे।

(४) अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा की अवस्था—धीरे-धीरे पत्र मुद्रा जारी करने का कार्य केन्द्रीय बैंको ने लिया। सरकारो के शक्तिशाली हो जाने के कारण पत्र मुद्रा मे जनता का विश्वास बढता गया और पत्र मुद्रा की परिवर्तनशीलता की समस्या लगभग समाप्त हो गई। अब नोटो के पीछे अनुपातिक कोष रखना भी अनावश्यक समझा जाने लगा और अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा जारी की जाने लगी।

पत्र मुद्रा के लाभ (Advantages of Paper Money)—

यद्यपि पत्र मुद्रा प्रणाली दोषरहित नही है किन्तु फिर भी उसे धातु मुद्रा प्रणाली की अपेक्षा अधिक अच्छा समझा जाता है। पत्र मुद्रा के प्रयोग से कुछ ऐसे लाभ प्राप्त होते है जो धातु मुद्रा के युग मे नही मिलते थे। इनमे से मुख्य-मुख्य लाभ निम्नलिखित है—

(१) बहुमूल्य धातुओं के प्रयोग में बचत—पत्र मुद्रा के प्रयोग से धातु मुद्रा की आवश्यकता बहुत कम हो जाती है और सिक्को के बनाने मे प्रयोग किये जाने वाले सोने व चाँदी की बचत होती है। इस प्रकार बचे हुए सोने व चाँदी का प्रयोग औद्योगिक तथा कलात्मक कामो के लिए किया जा सकता है। सोने और चाँदी के उत्पादन मे लगे हुए श्रम व पूँजी को अन्य कामो मे लगाया जा सकता है। एडम स्मिथ ने पत्र मुद्रा की तुलना आकाश मार्ग से की है जिसके नीचे की भूमि का प्रयोग भी किया जा सकता है और उस पर अन्न आदि उत्पन्न करके मनुष्य की आवश्यकताओ को भी पूरा किया जा सकता है।[1]

---

1 *Adam Smith* : Wealth of Nations, P. 317.

(२) **पत्र मुद्रा अधिक मितव्ययितापूर्ण है**—धातु मुद्रा की अपेक्षा पत्र मुद्रा का उत्पादन व्यय बहुत कम आता है। सरकार को पत्र मुद्रा के पीछे उसके मूल्य के बराबर धातु कोष भी नही रखना पडता है और काफी मात्रा मे नोट बिना किसी धातु कोष के ही चलाये जाते हैं। इस प्रकार सरकार बहुत बडी मात्रा मे सोना प्राप्त करने तथा उसे मौद्रिक कोष के रूप मे रखने के व्यय से बच जाती है। जिस देश मे अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा प्रयोग की जाती है, वहाँ इस प्रकार की बचत बहुत अधिक मात्रा मे प्राप्त की जा सकती है।

(३) **सिक्कों की घिसावट के कारण होने वाली हानि बच जाती है**—धातु मुद्रा प्रणाली मे सरकार को प्रति वर्ष सिक्को के घिस जाने तथा कट जाने के कारण काफी हानि उठानी पडती थी किन्तु पत्र मुद्रा प्रणाली मे इस प्रकार की हानि बहुत कम हो जाती है। कागजी नोट धातु मुद्रा का स्थान ले लेते हैं और चलन मे सिक्को की मात्रा बहुत कम रह जाती है। इस प्रकार सिक्को की घिसावट के कारण होने वाली हानि से सरकार बच जाती है।

(४) **पत्र मुद्रा अधिक सुविधापूर्ण है**—पत्र मुद्रा के द्वारा बडे-बडे भुगतानो को आसानी से निबटाया जा सकता है क्योकि उसे गिनने मे तथा उसका हिसाब लगाने मे बडी सुविधा रहती है। पत्र मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने मे भी बडी सुविधा होती है क्योकि मूल्य के अनुपात मे उसका भार बहुत कम होता है और उसमे वहनीयता का गुण बहुत अधिक पाया जाता है। धातु मुद्रा को अधिक भार के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने मे बडी असुविधा होती थी किन्तु कागज के नोटो के रूप मे कितनी भी मुद्रा को बिना किसी कठिनाई के एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाया जा सकता है।

(५) **पत्र मुद्रा देश की मुद्रा प्रणाली मे लोच का गुण पैदा करती है**—पत्र मुद्रा की मात्रा को आवश्यकता के अनुसार घटाया-बढाया जा सकता है जिसके कारण मुद्रा की माग और पूर्ति मे समन्वय स्थापित करने की सम्भावना बढ जाती है। बहुमूल्य धातुओ की पूर्ति सीमित होने के कारण धातु मुद्रा का विस्तार करना सम्भव नही होता था जिसके कारण मुद्रा सकुचन की स्थिति बनी रहती थी, किन्तु पत्र मुद्रा मे इस प्रकार की कोई समस्या नही होती है। लोच का गुण होने के कारण पत्र मुद्रा की मात्रा को आसानी से नियन्त्रित किया जा सकता है तथा उसकी माग और पूर्ति मे सन्तुलन बनाये रक्खा जा सकता है। अत उचित मौद्रिक प्रबन्ध के द्वारा पत्र मुद्रा के मूल्य मे अधिक स्थिरता स्थापित की जा सकती है।

(६) **बुरे समय में पत्र मुद्रा सरकार को सहायता करती है**—सकट काल मे जब अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है तो सरकार अधिक मात्रा मे नोट छाप कर अतिरिक्त आय प्राप्त कर सकती है। युद्ध आदि के व्यय को पूरा करने के लिए नई पत्र मुद्रा का प्रयोग लगभग सभी देशो मे किया गया है। अधिक नोट छाप कर

सरकार जनता से भारी मात्रा में अप्रत्यक्ष ऋण ले सकती है जिस पर उन्हें किसी प्रकार का ब्याज नही देना होता है। इस प्रकार पत्र मुद्रा मुसीबत के समय मे सरकार की बड़ी सहायता करती है। आपत्ति काल मे कागज के अधिक नोट छाप कर सरकार अपने देश को सकट से बचा सकती है।

(७) पत्र मुद्रा आर्थिक विकास में सहायता करती है—पत्र मुद्रा को आजकल देश मे पूर्ण रोजगार तथा अत्यधिक उत्पादन प्राप्त करने का महत्वपूर्ण साधन माना जाने लगा है। उसके द्वारा उत्पत्ति के साधनो का पूर्ण उपयोग करने मे बड़ी सहायता मिलती है। श्रीमती रोबिनसन (Mrs. Robinson) के अनुसार स्वर्णमान की प्रवृत्ति मुद्रा सकुचन की ओर होती है जिसके कारण देश मे बेरोजगारी रहती है तथा उत्पत्ति के साधनों का पूर्ण उपयोग नही हो पाता है। पत्र मुद्रा का प्रयोग होने के कारण मुद्रा की कमी की समस्या लगभग दूर हो गई है और प्रत्येक देश अपनी मुद्रा का प्रबन्ध इस प्रकार कर सकता है कि देश के आर्थिक साधनो का पूर्ण उपयोग किया जा सके और पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त किया जा सके। पत्र मुद्रा समाज को केवल मुद्रा सकुचन की बुराई से ही मुक्त नही करती है बल्कि वह आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त दशायें भी पैदा करती है। विशेषकर अल्प-विकसित देशो मे पत्र मुद्रा पूँजी के निर्माण तथा आर्थिक प्रगति का महत्वपूर्ण साधन बन सकती है। हीनार्थ-प्रबन्ध (Deficit Financing) के द्वारा विकासशील देश अपने अविकसित साधनो को प्रयोग मे लाकर आर्थिक विकास की गति को तेज कर सकते हैं।

पत्र मुद्रा के दोष (Disadvantages of Paper Money)—

यद्यपि पत्र मुद्रा धातु मुद्रा की अपेक्षा अधिक अच्छी मानी जाती है और लगभग सभी देशो ने पत्र मुद्रामान को अपना लिया है किन्तु फिर भी उसे दोष-रहित नही कहा जा सकता है। यदि इसका सही प्रबन्ध न किया जाय तो वह समाज में बहुत सी बुराइयों को उत्पन्न कर सकती है। पत्र मुद्रा के प्रयोग से निम्नलिखित दोष उत्पन्न हो सकते है—

(१) अत्यधिक निकासी का भय—पत्र मुद्रा प्रणाली का सबसे बड़ा दोष अत्यधिक निकासी के कारण पैदा होता है। पत्र मुद्रा की मात्रा सरकार की इच्छा के ऊपर निर्भर रहती है जिसके कारण आवश्यकता से अधिक मात्रा मे नोट जारी करने की सम्भावना बहुत अधिक बढ जाती है। प्रतिनिधि पत्र मुद्रा काल मे इस प्रकार का भय बिल्कुल नही था; परिवर्तनशील पत्र मुद्रा प्रणाली मे अत्यधिक निकासी की जा सकती है किन्तु बहुत कम मात्रा मे। अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा प्रणाली मे अत्यधिक निकासी का भय बहुत अधिक बढ गया है क्योंकि इस प्रणाली मे मुद्रा का निर्गमन किसी भी मात्रा मे किया जा सकता है। वर्तमान पत्र मुद्रा प्रणाली मे मुद्रा प्रसार

का भय हर समय बना रहता है और केवल उचित मौद्रिक प्रबन्ध के द्वारा ही इस प्रवृत्ति को रोका जा सकता है।

(२) **पत्र मुद्रा का मूल्य अधिक अनिश्चित तथा अस्थिर होता है**—स्वर्णमान मे मुद्रा का मूल्य सोने की मात्रा पर आधारित होने के कारण बहुत कम बदलता था किन्तु पत्र मुद्रा का मूल्य उसकी मात्रा पर निर्भर होता है जिसके कारण वह बहुत अधिक बदलता रहता है। क्योंकि पत्र मुद्रा की मात्रा मे सरकार की इच्छा के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं इसलिए मुद्रा के मूल्य मे स्थिरता नही रहती है और वह समय-समय पर बदलता रहता है। मुद्रा के मूल्य मे होने वाले परिवर्तनो के कारण मूल्य-स्तर बदलता है तथा समाज मे अन्य आर्थिक बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। मुद्रा के मूल्य की इस अनिश्चितता का देश की अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पडता है और व्यापार तथा उत्पादन अनियमित हो जाते है।

(३) **विदेशी विनिमय दरें स्थिर नहीं रहती हैं**—पत्र मुद्रामान मे विदेशी विनिमय दरो मे अधिक परिवर्तन होते हैं और विदेशी विनिमय की स्थिरता प्राप्त करना कठिन हो जाता है। स्वर्णमान मे विदेशी विनिमय दरो मे बहुत कम परिवर्तन होते थे और इन परिवर्तनो की सीमाये निश्चित होती थी किन्तु पत्र मुद्रामान मे विदेशी विनिमय दरें अधिक बदलती है और उनमे होने वाले परिवर्तनो की कोई सीमा नही होती है। विदेशी विनिमय की इस अनिश्चितता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है और विभिन्न देशो के बीच पूँजी के आवागमन मे रुकावट पैदा होती है।

(४) **पत्र मुद्रा का चलन क्षेत्र सीमित होता है**—कागजी मुद्रा का चलन क्षेत्र राष्ट्रीय होता है और उसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के रूप मे प्रयोग नही किया जा सकता है। एक देश की पत्र मुद्रा उस देश की सीमाओ के भीतर ही विधिग्राह्य होती है और विदेशियो के द्वारा उसे स्वीकार नही किया जाता है। पत्र मुद्रा का सीमित चलन होने के कारण विदेशी भुगतानो मे विशेष कठिनाई होती है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार मे रुकावट पडती है। धातु मुद्रा का प्रयोग विदेशी भुगतानो को निबटाने के लिए भी किया जा सकता था किन्तु पत्र मुद्रा मे यह गुण नही पाया जाता है।

(५) **पत्र मुद्रा का कुछ भी निहित मूल्य नहीं होता है**—पत्र मुद्रा का वस्तु के रूप मे कोई मूल्य नही होता है और वह तब तक ही मूल्यवान रहती है जब तक उसे मुद्रा के रूप मे स्वीकार किया जाता है। यदि कागज के नोटो का विमुद्रिकरण (**Demonetisation**) कर दिया जाय तो पदार्थ के रूप मे उनका कुछ भी मूल्य नही होगा और वे कागज के टुकड़े मात्र रह जायेगे। पत्र मुद्रा मे कोई निहित मूल्य न होने के कारण इस प्रकार की मुद्रा मे जनता का विश्वास देर से बनता है।

(६) पत्र मुद्रा व्यापार-चक्रों को जन्म देती है तथा सट्टे (Speculation) को प्रोत्साहित करती है—पत्र मुद्रा पर आर्थिक जीवन को अनियमित करने का आरोप लगाया जाता है। पूँजीवादी देशो मे व्यापार-चक्रों (Trade Cycles) के आने का महत्वपूर्ण कारण पत्र मुद्रा तथा साख मुद्रा की अत्यधिक निकासी का होना बतलाया जाता है। पत्र मुद्रा समाज मे सभी प्रकार की सट्टेबाजी को प्रोत्साहित करती है। कुछ लेखको ने पत्र मुद्रा के इस दोष को एक भयकर बीमारी बतलाया है। कोई बडी से बडी बीमारी किसी व्यक्ति को जितना कष्ट दे सकती है, पत्र मुद्रा के कारण समाज को उससे अधिक कष्ट होता है। कुछ अर्थशास्त्रियो ने इसी कारण पत्र मुद्रा को सामाजिक धोखा (Social Fraud) कहा है।

(७) सरकार को अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने का अवसर प्रदान करती है—सरकारे प्राय पत्र मुद्रा जारी करने की शक्ति का दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति रखती हैं। पत्र मुद्रा का अत्यधिक विस्तार करके सरकार जितनी मात्रा मे चाहे अतिरिक्त आमदनी प्राप्त कर सकती है किन्तु इस प्रकार के अनावश्यक मुद्रा प्रसार के भयकर परिणाम हो सकते है। विशेषतया युद्ध काल मे सरकार की प्रवृत्ति बहुत अधिक मात्रा मे पत्र मुद्रा जारी करने की होती है। प्रथम महायुद्ध मे जर्मनी का भयकर मुद्रा प्रसार इसी प्रवृति का परिणाम था। पत्र मुद्रा सरकार के हाथो मे असीमित मात्रा मे मुद्रा जारी करने की शक्ति दे देती है जिसका किसी भी समय दुरुपयोग किया जा सकता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि सरकार को पत्र मुद्रा पर प्रभावशाली नियन्त्रण करने से पूर्व स्वय अपने पर नियन्त्रण करना चाहिए।

पत्र मुद्रा के उचित प्रबन्ध की आवश्यकता
(Proper Management of Paper Money)—

वर्तमान समाज पत्र मुद्रा प्रणाली पर आधारित है और हमने पत्र मुद्रा को अपने आर्थिक जीवन को नियन्त्रित करने का काम सौंप दिया है। हमारी आर्थिक प्रगति बहुत कुछ पत्र मुद्रा के सही व्यवहार पर निर्भर है। पत्र मुद्रा का सही प्रबन्ध न होने के कारण आर्थिक जीवन अनियमित हो जाता है और आर्थिक विकास तेजी के साथ नही हो पाता है। यद्यपि पत्र मुद्रा को सभी देशो ने अपना लिया है किन्तु उसके दोषो को दूर करने मे अभी तक पूरी सफलता नही मिली है। आज भी समाज में पत्र मुद्रा के दुरुपयोग के कारण बहुत सी बुराइयाँ पैदा होती है। पत्र मुद्रा के सही प्रबन्ध के द्वारा ही हम इन दोषो को दूर कर सकते हैं और पत्र मुद्रा को समाज के लिए अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है।

पत्र मुद्रा स्वयं कोई बुरी वस्तु नही है। उसमे दोष इसलिए पैदा होते हैं क्योंकि हम उसका ठीक प्रबन्ध नही कर पाते है। यदि पत्र मुद्रा का उचित प्रबन्ध किया जाय तथा उसके साथ साख की मात्रा को भी नियन्त्रित रक्खा जाय तो समाज

पत्र मुद्रा प्रणाली के दोषों से बच सकता है। पत्र मुद्रा का सबसे बड़ा दोष अत्यधिक निकासी के कारण पैदा होता है जिसे मुद्रा की मात्रा को आवश्यकता के अनुसार नियन्त्रित करके बहुत सीमा तक दूर किया जा सकता है। वर्तमान समाज में मुद्रा सम्बन्धी दोषों को दूर करने का एकमात्र उपाय पत्र मुद्रा का सही प्रबन्ध करना है। मुद्रा के प्रबन्ध की जिम्मेदारी सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक पर आती है। सरकार को चाहिए कि वह पत्र मुद्रा का प्रबन्ध इस प्रकार करे कि देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति को बनाये रक्खा जा सके और आर्थिक स्थिरता भी प्राप्त की जा सके। इसके लिए अनिवार्य है कि सरकार मुद्रा की मात्रा में आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन करके मुद्रा की माग और पूर्ति में सन्तुलन बनाये रक्खे। इस प्रकार उचित प्रबन्ध के द्वारा पत्र मुद्रा को समाज के लिए अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है विशेषतया अल्प-विकसित देशों में जहाँ पर पत्र मुद्रा का प्रयोग आर्थिक प्रगति के लिए किया जा रहा है, उचित मौद्रिक प्रबन्ध की आवश्यकता और भी अधिक है।

पत्र मुद्रामान (Paper Standard)—

इस प्रकार के मुद्रामान को प्रबन्धित पत्र चलन मान *(Managed Paper* **Currency Standard)** भी कहा जा सकता है क्योंकि पत्र मुद्रामान प्रकृति से ही प्रबन्धित मुद्रामान है। इस प्रकार के मुद्रामान में स्वयं सचालकता का गुण नहीं पाया जाता और सरकार मौद्रिक प्रबन्ध के द्वारा मुद्रा की माग व पूर्ति को सन्तुलित करती है। पत्र मुद्रामान में देश की प्रमुख मुद्रा कागज की बनी होती है और उसे सामान्यतः सोने अथवा चाँदी में परिवर्तनीय नहीं रक्खा जाता है। पत्र मुद्रा का मूल्य सोने अथवा चाँदी के द्वारा नियन्त्रित नहीं किया जाता है बल्कि मौद्रिक प्रबन्ध के द्वारा उसे स्थिर रखने का प्रयत्न किया जाता है। विदेशी बाजारों में मुद्रा का मूल्य उसकी क्रय-शक्ति के आधार पर निश्चित किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा की स्थापना से पूर्व विदेशी भुगतानों के लिए कुछ स्वर्ण कोष रक्खा जाता था किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष योजना के अन्तर्गत स्वर्ण कोषों का महत्व बहुत कम रह गया है। विदेशी विनिमय की स्थिरता प्राप्त करने के लिए प्रत्येक सदस्य देश अपनी मुद्रा के स्वर्ण मूल्य (Gold Parity) को निश्चित करके अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को सूचित करता है और फिर उस देश का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपनी मुद्रा के विदेशी मूल्य को सामान्य दशाओं में उसी स्तर पर स्थिर रक्खे किन्तु असामान्य परिस्थिति में वह अपनी मुद्रा की स्वर्ण समता (Gold Parity) को बदल सकता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वर्तमान पत्र मुद्रामान के अन्तर्गत मुद्रा का आन्तरिक मूल्य सोने के द्वारा नियन्त्रित नहीं किया जाता है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसके मूल्य को सोने की एक निश्चित मात्रा के मूल्य के बराबर रक्खा जाता है। प्रबन्धित पत्र मुद्रामान (Managed Paper Currency Standard) की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) पत्र मुद्रा देश की प्रधान मुद्रा होती है—पत्र मुद्रामान में पत्र मुद्रा देश की प्रमुख तथा अपरिमित विधिग्राह्य मुद्रा होती है। इस प्रकार के मुद्रामान में किसी भी धातु को मुद्रा का आधार नहीं बनाया जाता है। प्रमुख मुद्रा की सहायता के लिए घटिया तथा कम मूल्य वाली धातु के सिक्के चलाये जाते हैं किन्तु उनका कोई विशेष महत्व नहीं होता है। अधिकांश भुगतान पत्र मुद्रा के द्वारा ही निबटाये जाते हैं। पत्र मुद्रा का निर्गमन सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक के द्वारा किया जाता है। नोटों के पीछे किसी प्रकार का स्वर्ण कोष रखना अनिवार्य नहीं होता है किन्तु कुछ देशों में मुद्रा कोष के रूप में सोना रखा जाता है।

(२) पत्र मुद्रा का मूल्य सोने अथवा चांदी के मूल्य पर निर्भर नहीं होता है—पत्र मुद्रामान में मुद्रा का मूल्य स्वतन्त्र रूप से निश्चित होता है और वह मुद्रा की क्रय-शक्ति में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार बदलता रहता है। मुद्रा के मूल्य को स्थिर रखने के लिए उसे सोने के साथ सम्बन्धित नहीं किया जाता है। सामान्यतः पत्र मुद्रा सोने में अपरिवर्तनीय होती है। पत्र मुद्रा का मूल्य सोने अथवा चाँदी के द्वारा नियमित नहीं किया जाता है बल्कि उसे मौद्रिक प्रबन्ध के द्वारा स्थिर रखने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार मुद्रामान में मुद्रा का सम्बन्ध सोने के साथ बिल्कुल टूट जाता है।

(३) पत्र मुद्रामान एक प्रबन्धित मुद्रामान है—पत्र मुद्रामान स्वर्णमान की भाँति स्वय सचालित (Automatic) नहीं होता है। सरकारी नियन्त्रण एव प्रबन्ध इस मुद्रामान की प्रमुख विशेषता है। सरकार मौद्रिक प्रबन्ध के द्वारा मुद्रा की माग व पूर्ति मे सतुलन स्थापित करती है और उसके मूल्य मे स्थिरता स्थापित की जाती है। माग के बढ जाने पर मुद्रा अधिकारी अधिक मात्रा मे मुद्रा जारी करता है और माग कम होने पर मुद्रा की मात्रा कम कर दी जाती है। सरकारी हस्तक्षेप तथा नियन्त्रण अधिक होने के कारण इस मुद्रामान को प्रबन्धित मुद्रामान कहा जाता है।

(४) विदेशी भुगतानों के लिए स्वर्ण कोष आवश्यक नहीं है—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष स्थापित हो जाने के पश्चात् अब व्यक्तिगत देशो को विदेशी भुगतानो को निबटाने के लिए किसी प्रकार के स्वर्ण कोष नही रखने पडते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो के लिए अब सोने का महत्व लगभग समाप्त होता जा रहा है।

पत्र मुद्रामान के लाभ—

प्रबन्धित पत्र मुद्रामान से निम्नलिखित लाभ होते हैं—

(१) उत्पत्ति के साधनों का पूर्ण उपयोग—पत्र मुद्रामान मे मुद्रा की मात्रा को बढा कर उत्पत्ति के बेकार साधनो को काम मे लाया जा सकता है जिससे देश मे धन का उत्पादन बढता है। स्वर्णमान के युग मे प्राय. मुद्रा की कमी रहती थी जिसके कारण उत्पत्ति के बहुत से साधन बेकार पड़े रहते थे। यह दोष पत्र मुद्रामान

से बिल्कुल दूर हो गया है क्योंकि प्रत्येक देश अपनी आवश्यकता के अनुसार मुद्रा जारी कर सकता है। पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि समाज में कुछ मुद्रा प्रसार की स्थिति बनी रहे और पत्र मुद्रामान में इस प्रकार की प्रवृत्ति प्राय रहती है इसलिए उसे पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने के लिए अधिक अनुकूल कहा जा सकता है।

(२) मूल्य-स्तर में अधिक स्थिरता सम्भव है—पत्र मुद्रामान में मुद्रा की मात्रा को आवश्यकता के अनुसार घटाना-बढाना सम्भव होता है जिसके कारण मुद्रा की माग व पूर्ति में अधिक सतुलन स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार का सतुलन स्वर्णमान मे स्थापित करना सम्भव नही था। पत्र मुद्रामान मे सरकार उचित मौद्रिक प्रबन्ध के द्वारा मुद्रा के मूल्य मे अधिक स्थिरता स्थापित कर सकती है।

(३) मौद्रिक प्रबन्ध की स्वतन्त्रता—पत्र मुद्रामान मे सरकार को मुद्रा का प्रबन्ध करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। पत्र मुद्रा के पीछे न तो किसी प्रकार का स्वर्ण कोष रखा जाता है और न ही उसे सोने में परिवर्तनीय रखा जाता है जिसके कारण मुद्रा अधिकारी मौद्रिक प्रबन्ध अधिक स्वतन्त्रता के साथ कर सकता है। सरकार अपनी इच्छा के अनुसार मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन कर सकती है और इस सम्बन्ध मे वह अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों से भी मुक्त होती है।

(४) लोच का गुण—पत्र मुद्रामान में इतनी अधिक लोच पाई जाती है कि आपत्ति काल मे मुद्रा की मात्रा में कितनी भी वृद्धि की जा सकती है। इस प्रकार पत्र मुद्रामान स्वर्णमान की भांति अनुकूल परिस्थिति का मित्र नही है बल्कि वह बुरे समय में भी सरकार की सहायता करता है। युद्ध व्यय पूरा करने के लिए अथवा आर्थिक विकास के लिए अधिक मुद्रा की व्यवस्था करने मे पत्र मुद्रामान काफी सहायक होता है।

पत्र मुद्रामान के दोष—

(१) अत्यधिक निकासी का भय—पत्र मुद्रामान की व्यवस्था मे सरकारो की प्रवृत्ति आवश्यकता से अधिक पत्र मुद्रा जारी करने की होती है जिसके कारण देश में भयंकर मुद्रा प्रसार हो सकता है। प्राय: देखा गया है कि युद्ध के अवसर पर सरकार अतिरिक्त आमदनी प्राप्त करने के लिए बहुत अधिक मात्रा मे पत्र मुद्रा चलन मे डाल देती है जिसका देश की अर्थ-व्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। अभी तक का अनुभव यही बतलाता है कि पत्र मुद्रा पर अधिक प्रभावशाली नियन्त्रण करना सम्भव नहीं हो सका है और सरकारो की प्रवृत्ति प्रायः अधिक मात्रा मे पत्र मुद्रा को जारी करने की होती है।

(२) विदेशी विनिमय की स्थिरता प्राप्त करना कठिन होता है—विदेशी विनिमय की स्थिरता के दृष्टिकोण से पत्र मुद्रामान को अच्छा मुद्रामान नहीं कहा

जा सकता है। पत्र मुद्रामान की विदेशी विनिमय दरें बहुत अधिक बदलती रहती हैं, जिसके कारण विदेशी व्यापार का विस्तार सम्भव नही हो पाता है। अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वर्णमान की दशाओ मे विदेशी विनिमय दरें अधिक स्थिर रहती थी किन्तु जब से स्वर्णमान को छोड़कर पत्र मुद्रामान को अपनाया गया है तब से विदेशी विनिमय दरो मे होने वाले परिवर्तनो की सम्भावना बहुत बढ गई है और विदेशी विनिमय की स्थिरता प्राप्त करने के लिए विशेष प्रबन्ध तथा नियन्त्रण की आवश्यकता होती है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में कठिनाई—पत्र मुद्रामान किसी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यमान अथवा विनिमय माध्यम प्रदान नही करता है। इस मुद्रामान मे चलने वाली पत्र मुद्रा को विदेशों में स्वीकार नही किया जाता है जिसके कारण विदेशी भुगतानो मे कठिनाई होती है तथा विभिन्न देशो मे मुद्राओं मे ठीक-ठीक सम्बन्ध स्थापित करना अत्यन्त कठिन होता है। इन कठिनाइयो को दूर करने के लिए विदेशी विनिमय सम्बन्धी विशेष व्यवस्था स्थापित करनी होती है।

(४) विश्वास का अभाव—पत्र मुद्रामान मे मुद्रा का सम्बन्ध सोने व चाँदी के साथ न होने के कारण, इस प्रकार की मुद्रा मे जनता का विश्वास देर से बनता है। पत्र मुद्रा प्रणाली के जटिल होने के कारण भी इस प्रकार के विश्वास का अभाव रहता है।

प्रादिष्ट मान (Fiat Standard)—

अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रामान तथा प्रादिष्ट मान मे कोई विशेष अन्तर नही है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि प्रादिष्ट मुद्रा सकटकालीन स्थिति का परिणाम होती है किन्तु अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा के विषय मे ऐसा अनिवार्य रूप से नही कहा जा सकता है। अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा किस स्थिति मे चलाई गई है, इसके आधार पर ही प्रादिष्ट मुद्रा को सामान्य पत्र मुद्रा से अलग किया जा सकता है। यदि अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा सकट काल मे चलाई जाती है तो वह प्रादिष्ट मुद्रा हो जाती है क्योकि उसकी स्वीकृति कानूनी दबाव के कारण होती है। वर्तमान अर्थशास्त्रियो के अनुसार प्रादिष्ट मान सरकार की स्थाई नीति के परिणामस्वरूप भी अपनाया जा सकता है।

प्रो० केन्ट (Kent) ने प्रादिष्ट मुद्रा की तीन मुख्य विशेषतायें बतलाई है—(i) इस प्रकार की मुद्रा का कोई निहित मूल्य नही होता है अर्थात् प्रादिष्ट मुद्रा का वस्तु मूल्य कुछ नही होता है। इस प्रकार की मुद्रा प्राय. कागज की बनी होती है जिसका वस्तु मूल्य बहुत मामूली होता है। (ii) प्रादिष्ट मुद्रा को किसी ऐसी वस्तु मे नही बदला जा सकता है जिसका मूल्य मुद्रा की एक निश्चित मात्रा के बराबर हो। इस प्रकार की मुद्रा अपरिवर्तनीय होती है और उसे सोने या अन्य मूल्यवान धातुओ मे नही बदला जा सकता है। (iii) इस मुद्रा की क्रय-शक्ति को

सोने अथवा किसी अन्य वस्तु के मूल्य के बराबर नहीं रखा जाता है। प्रादिष्ट प्रमाणिक मुद्रा का मूल्य स्वतन्त्र रूप से निश्चित किया जाता है।

प्रादिष्ट मान के पक्ष में तर्क—वर्तमान समय में अधिकाश मुद्रा शास्त्री इस बात से सहमत होते जा रहे हैं कि प्रादिष्ट मुद्रा का प्रयोग अस्थाई तथा सकटकालीन न होकर, स्थायी सरकारी नीति का भाग हो सकता है। प्रादिष्ट मुद्रामान के समर्थक प्रायः वे ही लोग हैं जो धात्विक मुद्रामान की आलोचना करते हैं, इसलिए धातुमान के विपक्ष मे दिये जाने वाले तर्कों का प्रयोग प्रादिष्ट मान के पक्ष मे किया जाता है। प्रादिष्ट मान के समर्थकों का कहना है कि समाज मे मुद्रा की आवश्यकता ऐसी बातो पर निर्भर होती है जैसे व्यापार की मात्रा, उद्योगो की व्यवस्था, यातायात व संदेशवाहन के साधनो का विकास, बैंकिंग प्रणाली तथा साख व साख पत्रो का विकास। इनमे से कोई भी स्वर्ण कोषो की मात्रा के ऊपर निर्भर नहीं है अतः स्वर्ण कोषो पर आधारित मुद्रा प्रणाली आर्थिक वास्तविकताओ से बहुत दूर हो जाती है। यदि उत्पत्ति के साधनो को काम मे लाने के लिए मुद्रा की अधिक पूर्ति की आवश्यकता होती है तो अतिरिक्त मुद्रा की निकासी अवश्य की जानी चाहिए, चाहे उपलब्ध स्वर्ण कोषो के आधार पर इस प्रकार का विस्तार करना सम्भव हो अथवा नहीं। इसी प्रकार यदि मुद्रा की पूर्ति माग से अधिक है तो उसे अनिवार्य रूप से कम किया जाना चाहिए, चाहे स्वर्ण कोष कितना भी अधिक क्यो न हो। इसलिए प्रादिष्ट मान के समर्थक मौद्रिक प्रबन्ध को धातुमान की स्वय सचालकता से कही अच्छा समझते हैं। प्रादिष्ट मान इसलिए अच्छा है क्योंकि उसमे देश की सरकार को स्वतन्त्रतापूर्वक मुद्रा का प्रबन्ध करने का अवसर मिलता है। इस प्रकार के प्रबन्ध के द्वारा मुद्रा की माग व पूर्ति मे अच्छा सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रादिष्ट मान के अन्तर्गत अच्छे प्रकार की बैंकिंग सुविधायें मिल सकती हैं तथा इस प्रकार का मुद्रामान आर्थिक अव्यवस्था को जन्म देने के स्थान पर आर्थिक विकास मे सहायता देता है।

प्रादिष्ट मान के विपक्ष मे—इस सम्बन्ध मे प्रादिष्ट मान की दो प्रकार की आलोचनायें दी जाती रही हैं—(1) यदि सब देशों के द्वारा **प्रादिष्ट मान अपना लिया जाये तो विदेशी व्यापार मे काफी अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है।** क्योंकि प्रादिष्ट मुद्रा का सम्बन्ध बहुमूल्य धातुओ से बिल्कुल नहीं होता है, इसीलिए वह अन्य देशो की मुद्रा व्यवस्थाओं के साथ सीधा सम्बन्धित नहीं होती है। घरेलू मुद्रा इकाई के मूल्य में और विदेशी मुद्राओ के मूल्यो मे कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं होता है। इसलिए विभिन्न देशो की विदेशी विनिमय दरें किसी भी सीमा तक स्वतन्त्रता-पूर्वक बदल सकती हैं। इसका प्रभाव यद्यपि नकद भुगतान वाले वर्तमान सौदों पर नहीं पडता है, किन्तु स्थगित भुगतानो वाले दीर्घकालीन सौदो पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पडता है।

(ii) प्रादिष्ट मुद्रा की अत्यधिक निकासी का भय निरन्तर बना रहता है। धातु मुद्रामान के विपक्ष मे चाहे जो कुछ भी कहा जाय किन्तु उसमे एक गुण अवश्य था कि वह मुद्रा की निकासी की अधिकतम सीमा निश्चित कर देता था जो अत्यधिक निकासी की प्रवृत्ति के लिए एक बहुत बड़ी रुकावट होती थी किन्तु प्रादिष्ट मुद्रामान मे इस प्रकार की कोई भी रुकावट नही होती है। जब भी सरकार का व्यय उसकी सामान्य आय से बढ जाता है तो नई मुद्रा जारी करके इस घाटे को आसानी से पूरा किया जा सकता है, जिसके कारण देश मे मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इस दृष्टि से प्रादिष्ट मुद्रामान को एक सुरक्षित मुद्रामान नही कहा जा सकता है।

पत्र मुद्रा का निर्गमन कौन करे
(Who Should Issue Paper Money)

पत्र मुद्रा के सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह रहा है कि नोटों की निकासी का अधिकार किसको प्राप्त होना चाहिए। यद्यपि धात्विक मुद्रा को जारी करना सरकार का विशेष अधिकार समझा जाता रहा है किन्तु पत्र मुद्रा की निकासी प्राय बैंको के द्वारा ही की जाती है। पत्र मुद्रा का विकास ही बैंको के द्वारा लिखित प्रामिसरी नोटो (Promissory Notes) के रूप मे हुआ था और आरम्भ से ही नोट निकासी का अधिकार विभिन्न बैंको अथवा देश के केन्द्रीय बैंक के पास रहा है। नोट सरकार के द्वारा जारी किये जाये अथवा बैंको के द्वारा, इस सम्बन्ध मे मुद्रा अर्थशास्त्री एकमत नही है। कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार नोट जारी करने का एकाधिकार सरकार के पास रहना चाहिए। इसके विपरीत बहुत से मुद्रा अर्थशास्त्री यह अधिकार बैंको को देना चाहते है। दोनो विचारधाराओ के पक्ष तथा विपक्ष मे काफी कुछ कहा जा सकता है। अनुभव के आधार पर अधिकाश अर्थशास्त्री इस बात से सहमत है कि नोट जारी करने का अधिकार चाहे किसी भी सस्था के पास क्यों न हो, उस पर सरकारी नियन्त्रण अनिवार्य रूप से किया जाना चाहिए।

सरकार द्वारा पत्र मुद्रा का निर्गमन
(Note Issue by the Government)—

सरकार को नोट निर्गमन का एकाधिकार देने के पक्ष मे निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं—

(१) अधिक विश्वास—सरकार के द्वारा जारी की गई पत्र मुद्रा मे जनता का विश्वास अधिक होता है। सरकार की साख अन्य किसी भी सस्था की अपेक्षा अधिक होती है, जिसके कारण सरकारी नोटो को बैंक नोटो की अपेक्षा अधिक स्वीकृति प्राप्त होती है और उसे लोग नि.सकोच स्वीकार कर लेते है। बैंको के द्वारा जारी की जाने वाली अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा मे जनता का विश्वास देर से

बनता है किन्तु सरकार के द्वारा जारी की जाने वाली अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा को भी लोग आसानी से स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि उन्हे बैंक की अपेक्षा सरकार मे अधिक विश्वास होता है। वास्तव मे यह तर्क अधिक प्रभावशाली नही है क्योंकि अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि केन्द्रीय बैंक के द्वारा निर्गमित पत्र मुद्रा मे भी जनता का उतना ही विश्वास रहता है जितना कि सरकार द्वारा निर्गमित पत्र मुद्रा मे।

(२) मुद्रा प्रणाली का उचित प्रबन्ध—सरकार बैंको की अपेक्षा पत्र मुद्रा प्रणाली का अधिक अच्छा प्रबन्ध कर सकती है। सरकार ही व्यापार तथा उत्पादन के हितो को भली प्रकार समझ सकती है तथा उनकी माग के अनुसार नोट जारी करती है, जिसके कारण अत्यधिक निकासी का भय बहुत कम हो जाता है। सरकार अधिक साधन होने के कारण बडे-बडे विशेषज्ञ रख सकती है जो विभिन्न प्रकार की मौद्रिक समस्याओ को सुलझाने मे सहायता देते हैं। कोई भी व्यक्तिगत बैंक ऐसा नही कर सकता है। सरकार अपनी वैधानिक शक्ति के द्वारा साख की मात्रा पर भी अधिक अच्छा नियन्त्रण कर सकती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि पत्र मुद्रा के निर्गमन तथा नियन्त्रण का कार्य व्यक्तिगत सस्थाओ को नही देना चाहिए।

(३) नोट निर्गमन से प्राप्त लाभ का उपयोग सार्वजनिक हित में होता है—नोट निर्गमन के परिणामस्वरूप भारी लाभ प्राप्त होता है, जिसका प्रयोग सार्वजनिक हितो के लिए किया जाना चाहिए। ऐसा तब ही हो सकता है जबकि नोट जारी करने का काम सरकार के द्वारा किया जाता हो। यदि व्यक्तिगत बैंको के द्वारा नोट जारी किये जाते है तो उनसे प्राप्त होने वाले लाभ को सार्वजनिक हित के लिए व्यय नही किया जाता है। इसलिए आवश्यक है कि नोट निर्गमन सरकार के द्वारा ही किया जाना चाहिए।

(४) मुद्रा नीति के निर्माण मे सरकार का काफी हस्तक्षेप रहता है—देश की मौद्रिक नीति प्राय सरकार के द्वारा ही निर्मित की जाती है। यदि पत्र मुद्रा की निकासी व्यक्तिगत बैंको के द्वारा भी की जाती है तब भी मुद्रा नीति का निर्माण सरकार करती है और इन बैंको को मुद्रा का प्रबन्ध सरकारी आदेशो के अनुसार करना पडता है। ऐसी दशा मे सरकार यदि स्वय मुद्रा निर्गमन के कार्य को करे तो वह मुद्रा नीति का नियन्त्रण अधिक प्रभावशाली ढग से कर सकेगी।

(५) सरकार की मौद्रिक नीति राष्ट्र के हित में होती है—नोट जारी करने का काम राष्ट्रीय महत्व का कार्य है, इसलिए समाज के हित मे यह कार्य सरकार के द्वारा ही किया जाना चाहिए। सरकार राष्ट्रीय हितो को अधिक अच्छी प्रकार समझ सकती है और अपनी मौद्रिक नीति को उनके अनुकूल बना सकती है। नोट निर्गमन का कार्य किसी भी ऐसी सस्था पर नहीं छोडा जाना चाहिए, जो

व्यक्तिगत हितों मे मौद्रिक नीति को चलाने का प्रयत्न करे। इस खतरे से वचने के लिए यह श्रावश्यक है कि नोट जारी करने का काम सरकार स्वय करे।

सरकार के द्वारा नोट जारी किये जाने के विपक्ष मे निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं—

(१) सरकारी विभागों का व्यापार तथा उद्योगो के साथ सीधा सम्बन्ध नही होता है, जिसके कारण सरकार समाज मे मुद्रा की माग का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगा पाती है। इसका परिणाम यह होता है कि सरकार द्वारा निर्गमित नोटों की मात्रा व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुकूल नही रहती है जो देश के आर्थिक जीवन मे भारी असन्तुलन पैदा कर सकती है।

(२) सरकार के द्वारा नोटो की निकासी उचित मौद्रिक नीति से इतना प्रभावित नही होती है जितना कि वह राजनैतिक उद्देश्यो तथा सरकार की वित्तीय आवश्यकताओ से प्रभावित होती है। जब भी सरकार को अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है तो मौद्रिक नीति के सिद्धान्तो का उल्लघन करके भी मुद्रा का विस्तार किया जाता है जिसके भयकर परिणाम हो सकते हैं।

(३) सरकारी व्यवस्था प्रकृति से ही धीरे चलने वाली होती है। जिसके कारण सभी विभागो मे कार्य सुस्ती के साथ होता है। मुद्रा के प्रबन्ध के सम्बन्ध मे तनिक भी देरी देश के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि सरकार मौद्रिक प्रबन्ध के लिए उचित सस्था नही है।

(४) सरकारी कर्मचारी जो राजनैतिक समस्याओ को सफलता के साथ हल कर लेते है, वित्तीय तथा मौद्रिक समस्याओ को सुलझाने मे इतने कार्यकुशल नही होते हैं। इन लोगो के हाथो मे मौद्रिक प्रबन्ध का कार्य देना देश के आर्थिक हित मे नही है। मौद्रिक प्रबन्ध तथा मौद्रिक समस्याओ को सुलझाने के लिए हमे विशेषज्ञो की आवश्यकता होती है जो अपनी विशेष शिक्षा तथा अनुभव के द्वारा यह कार्य अधिक कुशलता के साथ कर सकते है।

(५) सरकार के द्वारा नोट जारी करने मे मुद्रा प्रसार का भय निरन्तर बना रहता है। अपने बजट के घाटे को पूरा करने के लिए सरकार नोट जारी करने के अधिकार का दुरुपयोग कर सकती है। अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सरकारो मे नोटो की अत्यधिक निकासी करने की प्रवृत्ति बहुत अधिक पाई जाती है। अतः सरकार द्वारा नोटो की निकासी सुरक्षा की दृष्टि से ठीक नही है।

बैंक द्वारा नोट निर्गमन के पक्ष में तर्क

(Arguments in Favour of Note Issue by the Bank)—

वर्तमान विचारधारा के अनुसार नोट जारी करने का काम बैंक के द्वारा किया जाना चाहिए क्योंकि बैंक सरकार की अपेक्षा पत्र मुद्रा का अच्छा प्रबन्ध कर

सकता है। यह विचारधारा काफी प्रभावशाली रही है और इसीलिए अधिकांश देशो मे नोट निर्गमन का कार्य बैंक करते है। सरकार के द्वारा नोट निकासी से उत्पन्न होने वाले विभिन्न दोषो को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि नोट जारी करने का अधिकार बैंक को दिया जाय। बैंक के द्वारा निर्गमन के पक्ष मे निम्नलिखित तर्क दिये जाते है—

(१) अधिक लोच (Greater Elasticity)—बैंक के द्वारा नोट जारी करने मे मुद्रा प्रणाली अधिक लोचदार रहती है। यदि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बिलो (Commercial Bills) तथा पत्र प्रतिभूतियो की आड पर नोट जारी करता है तो वह उन्हे आवश्यकता के अनुसार आसानी से घटा-बढा सकता है। बैंको का व्यापार तथा उद्योगो से सीधा सम्पर्क रहता है जिसके कारण वे मुद्रा की आवश्यकता का सही अनुमान लगा सकते है और उसके अनुसार नोटो की मात्रा को घटाया-बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार बैंक के द्वारा नोट निर्गमन होने से मुद्रा की माग व पूर्ति मे अधिक अच्छा समन्वय हो सकता है।

(२) बैंक पत्र मुद्रा का अधिक अच्छा प्रबन्ध करता है (Better Monetary Management)— सरकार पत्र मुद्रा का इतना अच्छा प्रबन्ध नही कर सकती है जितना की बैंक के द्वारा किया जा सकता है। बैंक विशेष रूप मे मौद्रिक सस्था होने के कारण मौद्रिक नीति तथा मुद्रा सम्बन्धी समस्याओ का अच्छा ज्ञान रखती है और अपने विशेषज्ञो की सलाह से वह उचित मौद्रिक नीति का अनुसरण कर सकती है। सरकार की अपेक्षा वह अधिक सतर्क होने के कारण मुद्रा समस्याओ को सुलझाने के लिए तुरत कदम उठाती है। इन्ही कारणो से बैंक सरकार की अपेक्षा पत्र मुद्रा का अधिक अच्छा प्रबन्ध कर सकता है।

(३) बैंक की मौद्रिक नीति का आधार अधिक स्वस्थ होना है (Healthy Basis of the Monetary Policy)—बैंक की मौद्रिक नीति राजनैतिक कारणो से प्रभावित नही होती है और उसका आधार स्वस्थ आर्थिक विचारो पर रहता है जिसके कारण बैंक अधिक अच्छी मौद्रिक नीति का निर्माण कर सकता है मौद्रिक नीति का निर्माण करते समय बैंक का एकमात्र उद्देश्य देश मे आर्थिक स्थिरता कायम करना होता है, अन्य उद्देश्य उसके लिए कोई विशेष महत्व नही रखते हैं। सरकार की मौद्रिक नीति पर राजनैतिक दलो का प्रभाव पड सकता है तथा उसका प्रयोग अल्पकालीन एव अनावश्यक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किया जा सकता है। बैंक के द्वारा नोट निर्गमन किये जाने पर इस प्रकार का कोई भय नही रहता है।

(४) बैंकिंग के नियमों का पालन—बैंकिंग पत्र मुद्रा का निर्गमन करते समय बैंकिंग के नियमो का पूर्ण रूप से पालन करता है जबकि सरकार आवश्यकता पडने पर इन नियमो का उल्लघन भी कर सकती है। अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सरकारें अपने नोटो की परिवर्तनशीलता को बनाये रखने मे असमर्थ

रही हैं। आपत्ति काल में सरकार की प्रवृत्ति नोटों की अधिक निकासी करके अपने अतिरिक्त व्यय को करने की होती है जिसके कारण मुद्रा प्रसार का भय बराबर बना रहता है बैंक के द्वारा नोटों की निकासी किये जाने पर यह खतरा बहुत कम हो जाता है क्योंकि बैंक कभी भी बैंकिंग सिद्धान्तो का उल्लघन करके नोटों का विस्तार करना पसन्द नही करता है। अतः बैंक के द्वारा नोटो का निर्गमन होने पर मुद्रा प्रसार का भय काफी कम हो जाता है।

(५) जनता का विश्वास (Public Confidence)—बैंक के द्वारा जारी किये जाने वाले नोटो मे भी जनता का विश्वास उतना ही रहता है जितना की सरकार द्वारा निर्गमित नोटो मे होता है। जनता के विश्वास की दृष्टि से बैंक नोट सरकारी नोटों की अपेक्षा निम्न श्रेणी के नहीं होते है। यदि नोटो का निर्गमन एक सुदृढ एवं सुव्यवस्थित बैंक के द्वारा किया जाता है जो नोटो के पीछे पर्याप्त कोष रखता है, तो इस प्रकार के नोटो मे जनता का विश्वास काफी रहता है।

(६) नोट निर्गमन से प्राप्त होने वाला लाभ सरकार को हस्तांतरित किया जा सकता है—सरकार द्वारा नोट निर्गमन के पक्ष मे प्राय. यह तर्क दिया जाता है कि सरकार नोटो की निकासी से प्राप्त होने वाले लाभ को सार्वजनिक हित मे व्यय करती है किन्तु यह तर्क अधिक महत्वपूर्ण नही है क्योंकि यह सम्भव हो सकता है कि नोट जारी करने का काम तो बैंक करे किन्तु उससे प्राप्त होने वाला लाभ सरकार को हस्तातरित कर दिया जाय। ऐसा करने से पत्र मुद्रा का अच्छा प्रबन्ध भी हो सकता है और नोट निर्गमन से प्राप्त लाभ को जन हित मे खर्च किया जा सकता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नोट जारी करने का अधिकार बैंक को ही दिया जाना चाहिए। सरकार की अपेक्षा बैंक नोट निर्गमन की जिम्मेदारी को अधिक अच्छी प्रकार उठा सकता है। व्यापार, उद्योग तथा करदाताओ के हित मे यही है कि सरकार नोट जारी करने के अधिकार को बैंक के पक्ष मे छोड दे। बैंक के द्वारा नोट निर्गमन होने से ही एक अच्छी मौद्रिक नीति का निर्माण हो सकता है तथा पत्र मुद्रा का अच्छा प्रबन्ध किया जा सकता है एवं समाज को अत्यधिक निकासी के भय से बचाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सरकार एक ऐसी जिम्मेदारी से बच जाती है जिसके लिए वह विशेष योग्यता नही रखती है और जो उसकी प्रकृति के अनुकूल भी नही है।

एक अथवा अनेक बैंकों द्वारा पत्र मुद्रा का निर्गमन
(Single versus Multiple Note Issue)—

यह निश्चय करने के पश्चात् कि नोटो का निर्गमन बैंक के द्वारा किया जाना चाहिए, एक प्रश्न और उत्पन्न होता है कि यह कार्य किसी एक बैंक के द्वारा किया जाय अथवा देश के अनेक बैंको को नोट निर्गमन का अधिकार दे दिया जाय।

आरम्भ मे अधिकांश देशो मे नोटो की निकासी का अधिकार अनेक बैंको को दिया गया किन्तु यह प्रयोग अधिक सफल न हो सका और धीरे-धीरे अनेक बैंको के द्वारा नोट निर्गमन की नीति को त्याग कर केवल केन्द्रीय बैंक के द्वारा नोट निर्गमन की नीति को स्वीकार कर लिया गया। अनेक बैंको को नोट निर्गमन का अधिकार देने से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो गये थे। विभिन्न बैंको के नोट जारी करने से पत्र मुद्रा मे एकरूपता नही रहती थी और अलग-अलग प्रकार के बैंक नोट चलन मे रहते थे जिसके कारण भुगतानो के लेन-देन मे काफी असुविधा होती थी। इसके अतिरिक्त नोट जारी करने वाले बैंको से आपसी प्रतियोगिता रहती थी कि जनता किस बैंक के नोटो की अधिक मांग करती है। इस प्रकार की प्रतियोगिता जनहित के विरुद्ध थी। अनेक बैंको के द्वारा नोट जारी किये जाने पर मितव्ययिता का अभाव भी रहता था क्योकि प्रत्येक बैंक अपने नोटो की परिवर्तनशीलता को बनाये रखने लिए पर्याप्त मात्रा मे कोष रखता था। इस प्रणाली का एक और दोष यह था कि प्रत्येक बंक की नोट निकासी के सम्बन्ध मे अलग-अलग नीति रहती थी जिसके कारण देश मे एक मौद्रिक नीति का विकास नही हो सकता था। इन सब दोषो के कारण ही अनेक बैंको के द्वारा नोट जारी करने की नीति को त्याग दिया गया और प्रत्येक देश मे केन्द्रीय बैंक को नोट जारी करने का एकाधिकार दे दिया गया। एक बैंक के द्वारा नोट निकासी की नीति के पक्ष मे निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं—

(१) **पत्र मुद्रा में एकरूपता**—नोट देश की प्रमुख मुद्रा होने के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि चलन मे रहने वाली समस्त मुद्रा एक ही प्रकार की हो। यह तब ही सम्भव हो सकता है जब की देश मे नोटो का निर्गमन केवल एक बैंक के द्वारा किया जाय। यदि अनेक बैंको के द्वारा नोट जारी किये जाते है तो विभिन्न बैंक नोटो की आकृति तथा आकार अलग-अलग होगा जिसके कारण वास्तविक तथा जाली नोटो मे भेद करना कठिन हो जाता और जनता को काफी असुविधा होती है। पत्र मुद्रा मे एकरूपता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि नोट निर्गमन का अधिकार केवल केन्द्रीय बैंक को ही दिया जाय।

(२) **मुद्रा प्रणाली को नियन्त्रित करने की सुविधा**—एक बैंक को नोट निर्गमन का अधिकार देने से सरकार के लिए मुद्रा प्रणाली पर नियन्त्रण करना आसान हो जाता है। विभिन्न बैंको के द्वारा नोट जारी किये जाने की व्यवस्था मे सरकार मुद्रा की मात्रा तथा मुद्रा नीति पर उचित नियन्त्रण नही कर सकती है। एक बैंक के द्वारा नोटो की निकासी किये जाने की दशा में मुद्रा प्रणाली पर सरकार का नियन्त्रण अधिक व्यापक तथा प्रभावशाली होता है।

(३) **मुद्रा कोषों का केन्द्रीयकरण**—एक बैंक के द्वारा नोटो का निर्गमन करने से एक बड़ा लाभ यह होता है कि समस्त देश का धात्विक कोष एक बैंक के

पास इक्ट्ठा हो जाता है जो इस केन्द्रित कोष का प्रयोग अधिक प्रभावशाली ढंग से कर सकता है। इसके अतिरिक्त धात्विक कोष रखने में काफी मितव्ययिता भी होती है यदि विभिन्न बैंकों के द्वारा नोट जारी किये जाते है तो उनमे से प्रत्येक बैंक अपना अलग कोष रखता है जिससे बहुमूल्य धातुओ का अपव्यय होता है। केन्द्रीय बैंक के द्वारा नोट जारी करने पर केवल एक ही कोष रखा जाता है जो काफी मितव्ययितापूर्ण होता है।

(४) पत्र मुद्रा में अधिक विश्वास—केन्द्रीय बैंक के द्वारा नोट जारी किये जाने पर इस पत्र मुद्रा का पृथक अस्तित्व हो जाता है। केन्द्रीय बैंक एक प्रतिष्ठित संस्था होने के कारण उसके नोटो मे जनता का विश्वास अधिक रहता है। केन्द्रीय बैंक की यह प्रतिष्ठा संकट काल मे पत्र मुद्रा की रक्षा करती है।

(५) आर्थिक स्थिरता—केन्द्रीय बैंक के द्वारा नोट निर्गमन किये जाने की दशा मे मुद्रा की मांग व पूर्ति मे अधिक अच्छा सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है जिससे देश मे आर्थिक स्थिरता बनी रहती है। अनेक बैंको के द्वारा नोट जारी किये जाने पर मुद्रा की पूर्ति को नियन्त्रित करना काफी कठिन हो जाता है और उसे मुद्रा की मांग के बराबर करना सम्भव नही होता है। व्यक्तिगत बैंक अपने लाभ के उद्देश्य से नोटो का निर्गमन करते थे और प्रायः आवश्यकता से अधिक नोट जारी कर देते थे, किन्तु केन्द्रीय बैंक मुनाफा बनाने वाली संस्था न होने के कारण ऐसा नही कर सकता है और उसकी मुद्रा नीति का उद्देश्य आर्थिक स्थिरता कायम करना होता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नोट निर्गमन का कार्य एक बैंक के द्वारा ही किया जाना चाहिए। इस कार्य को करने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त संस्था केन्द्रीय बैंक है क्योंकि उसे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का ज्ञान होता है तथा वह लाभ के उद्देश्य से चलने वाली संस्था नही होती है। संसार के अधिकाश देशों मे यह कार्य केन्द्रीय बैंक ही कर रहा है और अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि अन्य किसी भी संस्था की अपेक्षा केन्द्रीय बैंक नोट निर्गमन के कार्य को अधिक अच्छी प्रकार कर सकता है।

नोट निर्गमन के सिद्धान्त
(Principles of Note Issue)

इगलैंड मे नोटो की निकासी के सम्बन्ध मे दो विपरीत विचारधारायें रही हैं। इन विचारधाराओ के मानने वालो ने नोट निर्गमन के दो अलग-अलग सिद्धान्त बतलाये हैं। दोनों ही के समर्थक अपने-अपने सिद्धान्तो को पत्र मुद्रा जारी करने का उचित आधार मानते है। यह सिद्धान्त इस प्रकार है—

(१) चलन सिद्धान्त (Currency Principle)
(२) बैंकिंग सिद्धान्त (Banking Principle)

(१) चलन सिद्धान्त (Currency Principle)—

इस सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार पत्र मुद्रा इसलिए चलाई जाती है क्योंकि वह सोने के सिक्कों की अपेक्षा सस्ती होती है। कागजी नोट बहुमूल्य सिक्कों के सस्ते स्थानापन्न (Substitute) का कार्य करते हैं। बहुमूल्य धातुओं को चलन में न रखकर उन्हें कोषों के रूप में रक्खा जाता है और उनके स्थान पर पत्र मुद्रा का प्रयोग होता है। कागजी नोट कोष में रक्खी हुई मुद्रा का एक प्रकार से प्रतिनिधित्व करते हैं। पत्र मुद्रा में जनता का विश्वास बनाये रखने के लिए उन्हें सोने में पूर्णतया परिवर्तनशील रखना चाहिए। इस परिवर्तनशीलता को बनाये रखने के लिए मुद्रा नियन्त्रक को नोटों के पीछे १००% सोना अनिवार्य रूप से रखना चाहिए। ऐसा करने से ही पत्र मुद्रा प्रणाली को सुरक्षित रक्खा जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार पत्र मुद्रा की मात्रा स्वर्ण कोष की मात्रा के द्वारा नियन्त्रित की जानी चाहिए। नोट चलाने वाली सत्ता के पास जितना सोना हो उसे उतनी ही मात्रा में नोट चलाने चाहिएं। देश के अन्दर सोने की मात्रा के घटने-बढ़ने पर नोटों की मात्रा भी उसी अनुपात में घटती-बढ़ती रहनी चाहिए। देश में सोना बाहर से आने पर अथवा देश से बाहर सोना जाने पर पत्र मुद्रा की मात्रा में अपने आप परिवर्तन होने रहने चाहिएं। इस प्रकार नोटों की मात्रा सरकार की इच्छा पर निर्भर न होकर स्वर्ण-कोषों की मात्रा के ऊपर आधारित हो जाती है। इस सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा प्रणाली एक प्रकार से स्वयं संचालित हो जाती है। देश में बाहर से सोना आने पर स्वर्ण कोष बढ़ जाता है और पत्र मुद्रा का विस्तार होता है। देश से सोना बाहर जाने पर स्वर्ण कोष कम हो जाता है और मुद्रा संकुचन होना है। यह सिद्धान्त केवल प्रतिनिधि पत्र मुद्रा जारी किये जाने के पक्ष में है जिसके कारण देश में मुद्रा प्रसार का भय बहुत कम हो जाता है।

चलन सिद्धान्त के गुण (Merits of Currency Principle)—

(१) **सुरक्षा**—इस सिद्धान्त के आधार पर नोट जारी करने से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि मुद्रा प्रणाली बिल्कुल सुरक्षित हो जाती है। क्योंकि नोटों की मात्रा स्वर्ण कोष पर आधारित होती है इसलिए अत्यधिक निकासी का भय बिल्कुल नहीं रहता है। समस्त पत्र मुद्रा के पीछे १००% सोने की आड़ रखनी पड़ती है जिसके कारण सरकार के लिए अधिक पत्र मुद्रा जारी करना सम्भव नहीं होता है।

(२) **जनता का विश्वास**—इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली में जनता का विश्वास बहुत अधिक होता है क्योंकि नोटों को कभी भी सोने में बदला जा सकता है। नोटों के पीछे शत प्रतिशत स्वर्ण कोष रक्खा जाता है इसलिए समस्त पत्र मुद्रा पूर्णतया सोने में परिवर्तनीय रहती है।

चलन सिद्धान्त के दोष (Demerits of the Currency Principle)—

उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी चलन सिद्धान्त में कुछ दोष पाये जाते हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(१) साख के प्रयोग की उपेक्षा—इस सिद्धान्त ने सारा का अर्थ भली प्रकार नहीं समझाया है। धातु मुद्रा के स्थान पर साख का प्रयोग बड़ी अच्छी प्रकार से किया जा सकता है किन्तु यह सिद्धान्त साख के प्रयोग को कोई महत्व नहीं देता है।

(२) मुद्रा प्रणाली में लोच का अभाव—इस सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा प्रणाली मे लोच का अभाव रहता है। मुद्रा की मात्रा के स्वर्ण कोष के साथ सम्बन्धित होने के कारण आवश्यकता पड़ने पर मुद्रा की मात्रा को घटाना-बढ़ाना सम्भव नही होता है। इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली सकट काल मे प्रायः टूट जाने की प्रवृत्ति रखती है। यह सिद्धान्त सुरक्षा प्राप्त करने के लिए मुद्रा प्रणाली के लोच के गुण को त्याग देता है।

(३) मितव्ययिता का अभाव—इस सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा प्रणाली मे सोने और चाँदी का बहुत अपव्यय होता है क्योंकि समस्त पत्र मुद्रा के पीछे शत प्रतिशत धात्विक कोष रखना अनिवार्य होता है। मितव्ययिता की दृष्टि से चलन सिद्धान्त को एक अच्छा मुद्रा सिद्धान्त नही कहा जा सकता है।

(२) बैंकिंग सिद्धान्त (Banking Principle)—

यह सिद्धान्त चलन सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील है। इस सिद्धान्त के मानने वालो के अनुसार पत्र मुद्रा बैंकों के द्वारा जारी की जाने वाली एक प्रकार की साख है। यह सिद्धान्त मुद्रा प्रणाली के लोचदार होने पर अधिक जोर देता है। इस सिद्धान्त के अनुसार पत्र मुद्रा की मात्रा स्वर्ण कोष के ऊपर आधारित नही होनी चाहिए और नोटो की पूर्ति उनकी माग के अनुसार घटती-बढ़ती रहनी चाहिए। बैंको को यह अधिकार होना चाहिए कि वे आवश्यकता के अनुसार जितनी मात्रा मे चाहे पत्र मुद्रा जारी कर सकें किन्तु यह मुद्रा माँग किये जाने पर धातु मुद्रा मे परिवर्तनीय होनी चाहिए। बैंकिंग सिद्धान्त के अनुसार नोटो की परिवर्तनशीलता *को बनाये रखने के लिए उनके पीछे पूरे मूल्य का धात्विक कोष रखना अनिवार्य* नही है। अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सब नोट एक साथ परिवर्तनशीलता के लिए नहीं आते हैं इसलिए नोटो के पीछे केवल अनुपातिक कोष रखकर ही काम चलाया जा सकता है। जारी किये गये नोटो का बहुत कम प्रतिशत ही धात्विक सिक्कों मे बदलने के लिए आता है, इसलिए यदि उचित मात्रा मे सोना रक्खा जाय तो नोटों की परिवर्तनशीलता को बनाये रक्खा जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रचलित नोटो की कीमत का केवल एक भाग ही सोने अथवा

चाँदी के रूप में रखा जाना चाहिए। पत्र मुद्रा के पीछे १००% धात्विक कोष रखना आवश्यक नहीं है। मुद्रा प्रणाली में लोच का गुण बनाये रखने के लिए मुद्रा अधिकारी को नोटों की मात्रा को घटाने-बढ़ाने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। वर्तमान समय में अधिकांश देशों के द्वारा बैंकिंग सिद्धान्त के आधार पर ही पत्र मुद्रा का निर्गमन किया जाता है। चलन सिद्धान्त वर्तमान स्थिति में अव्यवहारिक प्रतीत होता है।

बैंकिंग सिद्धान्त के गुण (Merits of the Banking Principle)—

(१) अधिक लोच—इस सिद्धान्त पर आधारित पत्र मुद्रा प्रणाली अधिक लोचदार होती है। मुद्रा की मात्रा धात्विक कोष की मात्रा पर निर्भर नहीं रहती है इसलिए उसे आसानी से घटाया-बढ़ाया जा सकता है। मुद्रा अधिकारी के लिए औद्योगिक एवं व्यवसायिक आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन करना सम्भव होता है। इसीलिए यह सिद्धान्त वर्तमान समाज की आवश्यकताओं के अधिक अनुकूल है।

(२) सोने व चाँदी की बचत—इस प्रकार की पत्र मुद्रा प्रणाली अधिक मितव्ययितापूर्ण होती है क्योंकि बैंकिंग सिद्धान्त के अनुसार पत्र मुद्रा के पीछे अधिक मात्रा में सोना या चाँदी सुरक्षित कोष के रूप में रखना आवश्यक नहीं है। केवल अनुपातिक कोष रख कर ही काम चल जाता है जिसके कारण बहुमूल्य धातुओं की बहुत बचत होती है।

बैंकिंग सिद्धान्त के दोष (Demerits of the Banking Principle)—

बैंकिंग सिद्धान्त पर आधारित पत्र मुद्रा प्रणाली में निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं—

(१) सुरक्षा का अभाव—इस सिद्धान्त के अनुसार नोट जारी करने से मुद्रा प्रणाली में सुरक्षा का अभाव रहता है। नोटों की मात्रा सुरक्षित कोष से नियन्त्रित न होने के कारण किसी भी समय नोटों की अत्यधिक निकासी (Over issue) की जा सकती है जिससे देश में मुद्रा प्रसार का भय बना रहता है।

(२) जनता के विश्वास की कमी—पत्र मुद्रा के पीछे शत प्रतिशत धात्विक कोष न रहने के कारण इस प्रकार की मुद्रा में जनता का विश्वास कम रहता है। इसके अतिरिक्त मुद्रा प्रसार का भय भी मुद्रा में जनता के विश्वास को कम करता है।

दोनों सिद्धान्तों में कौन अच्छा है ?—

उपरोक्त दोनों सिद्धान्त हमारे सामने दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। एक मुद्रा प्रणाली की सुरक्षा पर जोर देता है तो दूसरा उसके लोचदार होने को

अधिक आवश्यक समझता है। दोनों ही विचारधाराओं में कुछ गुण तथा दोष पाये जाते है। यह कहना कठिन है कि दोनो मे से कौनसा सिद्धान्त अधिक उपयुक्त है। दोनो ही मुद्रा प्रणाली के दो महत्वपूर्ण गुणो पर प्रकाश डालते है। किन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि चलन सिद्धान्त की अपेक्षा बैंकिंग सिद्धान्त अधिक प्रगतिशील तथा व्यवहारिक है और इसलिए उसे आजकल अधिक मान्यता प्रदान की जाती है। चलन सिद्धान्त के आधार पर नोट जारी करना सैद्धान्तिक दृष्टि से ठीक हो सकता है किन्तु इसमे व्यवहारिकता का गुण नही पाया जाता है। कोई भी देश आजकल अपने नोटो के पीछे १००% सुरक्षित निधि नही रख सकता है। चलन सिद्धान्त के आधार पर नोट जारी करने से मुद्रा प्रणाली मे लोच का अभाव रहेगा और आवश्यकता के अनुसार मुद्रा पर्याप्त मात्रा मे नही मिल सकेगी। आधुनिक युग मे स्वर्ण कोषो की कमी के कारण चलन सिद्धान्त के अनुसार पत्र मुद्रा जारी करना सम्भव नही है। इसीलिए अधिकाश देशो ने अपनी मुद्रा प्रणाली का निर्माण बैंकिंग सिद्धान्त के आधार पर किया हुआ है। यद्यपि पत्र मुद्रा प्रणाली का लोचदार होना अनिवार्य है किन्तु उसका सुरक्षित होना भी आवश्यक है जिससे कि मुद्रा के मूल्य मे होने वाले अनावश्यक परिवर्तनो को रोका जा सके और मौद्रिक स्थिरता प्राप्त की जा सके। एक अच्छी मुद्रा प्रणाली वही है जिसमे सुरक्षा व लोच दोनो ही गुण पाये जाते हो। समुचित नियन्त्रण के द्वारा बैंकिंग सिद्धान्त पर आधारित पत्र मुद्रा प्रणाली मे यह दोनो गुण प्राप्त किये जा सकते है। इसीलिए अधिकाश देशो मे पत्र मुद्रा जारी करने का आधार बैंकिंग सिद्धान्त को ही बनाया गया है।

नोट निर्गमन की विधियाँ
(Methods of Note Issue)

नोट निर्गमन को नियमित करने के लिए विभिन्न देशों के द्वारा विभिन्न विधियो का प्रयोग किया गया है। इनमे से कुछ प्रमुख पद्धतियाँ इस प्रकार है—

(१) निश्चित विश्वासाश्रित प्रणाली (Fixed Fiduciary System)
(२) अधिकतम विश्वासाश्रित प्रणाली (Maximum Fiduciary System)
(३) अनुपातिक निधि प्रणाली (Proportional Reserve System)
(४) आंशिक अनुपात प्रणाली (Percentage Reserve System)
(५) साधारण निधि प्रणाली (Simple Deposit System)
(६) न्यूनतम निधि प्रणाली (Minimum Reserve System)
(७) कोषागार विपत्र निधि प्रणाली (Bonds Deposit System)

(१) निश्चित विश्वासाश्रित प्रणाली (Fixed Fiduciary System)—

इस प्रणाली मे जारी की जाने वाली पत्र मुद्रा का एक निश्चित भाग विश्वासाश्रित (Fiduciary) होता है जिसके पीछे किसी प्रकार का धात्विक कोष

नही रखा जाता है। इसके अतिरिक्त जारी की जाने वाली समस्त पत्र मुद्रा के पीछे शत प्रतिशत (१००%) स्वर्ण कोष रक्खा जाता है। केन्द्रीय बैंक को एक निश्चित सीमा तक बिना किसी धात्विक कोष के रक्खे हुए पत्र मुद्रा जारी करने का अधिकार होता है। नोट निर्गमन के इस-भाग को विश्वासाश्रित निर्गमन (Fiduciary Issue) कहा जाता है और इन नोटो के पीछे केवल सरकारी प्रतिभूतियाँ (Securities) रक्खी जाती हैं। इस मात्रा से अधिक जितने भी नोट जारी किये जाते हैं उनके पीछे मुद्रा अधिकारी को १००% मूल्य का स्वर्ण कोष रखना होता है। आवश्यकता पड़ने पर विश्वासाश्रित निर्गमन की मात्रा को सरकार की आज्ञा से बढाया जा सकता है। इस प्रणाली का मुख्य उद्देश्य पत्र मुद्रा को परिवर्तनशील बनाये रखने के लिए पर्याप्त मात्रा मे स्वर्ण कोष की व्यवस्था करना है।

सबसे पहले इस प्रणाली का प्रारम्भ इगलैंड मे सन् १८४४ के बैंक चार्टर एक्ट के अधीन किया गया। इस एक्ट के अन्तर्गत बैंक ऑफ इगलैंड को १·४ करोड पौंड के नोट सरकारी प्रतिभूतियो के आधार पर जारी करने का आदेश दे दिया गया। इस मात्रा से अधिक जारी किये जाने वाले नोटों के पीछे बैंक को उनके मूल्य के बराबर सोना सुरक्षित निधि के रूप मे रखना होता था। विश्वासाश्रित निर्गमन की मात्रा को दो साल के लिए ट्रेजरी (Treasury) की अनुमति से बढाया जा सकता था किन्तु दो साल से अधिक के लिए ससद (Parliament) की आज्ञा लेनी आवश्यक थी। इगलैंड मे विश्वासाश्रित निर्गमन की यह सीमा देश की आवश्यकता के अनुसार बदलती रही है। सन् १९२८ मे इसे बढा कर २६ करोड पौंड कर दिया गया और १९३९ मे यह सीमा ३० करोड पौड थी। सन् १९४२ मे युद्ध की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विश्वासाश्रित निर्गमन की मात्रा ९५ करोड पौंड कर दी गई किन्तु युद्ध के पश्चात् १९५० मे उसे घटा कर केवल १३ करोड पौंड रक्खा गया। इगलैंड के अतिरिक्त नार्वे और जापान मे भी इस पद्धति का प्रयोग किया गया है। सन् १८६१ से लेकर १९२० तक भारतवर्ष में भी इसी प्रकार की व्यवस्था थी। प्रथम महायुद्ध के अवसर पर भारतीय सरकार २० करोड रुपये के नोट सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर चला सकती थी।

गुण (Merits)—**(१) नोटो की परिवर्तनशीलता**—इस प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ पत्र मुद्रा को सोने मे परिवर्तनशील बनाये रखना है। यद्यपि कुछ नोटो के पीछे धात्विक कोष बिल्कुल नही होता है किन्तु फिर भी उन्हे माग करने पर सोने मे बदला जा सकता है। अधिकाश नोटो के पीछे शतप्रतिशत स्वर्ण कोष रहता है जिसके कारण समस्त मुद्रा सोने मे परिवर्तनीय हो जाती है। नोटो के सोने मे परिवर्तनीय होने के कारण मुद्रा प्रणाली मे सुरक्षा का गुण उत्पन्न हो जाता है।

(२) अत्यधिक निकासी पर नियन्त्रण—इस प्रणाली मे पत्र मुद्रा को बहुत अधिक मात्रा मे जारी नही किया जा सकता है क्योकि सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक

को जारी किये जाने वाले अधिकांश नोटो के पीछे शतप्रतिशत मूल्य का स्वर्ण कोष रखना पडता है। इस प्रकार अत्यधिक निकासी का भय लगभग समाप्त हो जाता है।

(३) जनता का विश्वास—इस प्रणाली के आधार पर जारी की जाने वाली पत्र मुद्रा मे जनता का विश्वास बहुत अधिक होता है। समस्त पत्र मुद्रा सोने मे परिवर्तनीय होती है जिसके कारण लोग उसे स्वर्ण मुद्रा की भाँति ही अच्छा समझते है।

दोष (Demerits)–(१) लोच का अभाव—नोटों की मात्रा को स्वर्ण कोषो के साथ सम्बन्धित कर दिये जाने के कारण मुद्रा प्रणाली बेलोचदार हो जाती है और आवश्यकता पडने पर पर्याप्त मात्रा मे नई मुद्रा जारी करना सम्भव नही होता है क्योकि ऐसा करने के लिए नोटो के पीछे शतप्रतिशत स्वर्ण कोष रखना अनिवार्य होता है।

(२) सोने व चाँदी का अपव्यय—इस प्रणाली मे सोने व चाँदी को बहुत अधिक मात्रा मे मुद्रा कोष के रूप मे बन्द करके रखना होता है जिसका कोई अन्य प्रयोग नही किया जा सकता है। यदि विश्वासाश्रित निर्गमन की मात्रा कम रखी जाती है तो सोने का बहुत अधिक अपव्यय होता है। अतः यह प्रणाली केवल उन देशों मे ही सफल हो सकती है जिनके पास सोना अधिक मात्रा में हो अथवा जिनकी साख व्यवस्था काफी विकसित हो। इगलैंड मे इस प्रणाली की सफलता का यही कारण था किन्तु भारत में इन दशाओं के न होने के कारण इसे छोड देना पडा।

(२) अधिकतम विश्वासाश्रित प्रणाली

(Maximum Fiduciary System)—

इस प्रणाली के अन्तर्गत देश मे नोट निर्गमन की एक अधिकतम सीमा सरकार के द्वारा निश्चित कर दी जाती है। इस निर्धारित सीमा तक नोट बिना किसी धातु कोष के चलाये जा सकते है किन्तु इससे अधिक मात्रा मे नोट बिल्कुल नही जारी किये जा सकते है। निश्चित अधिकतम सीमा के भीतर केन्द्रीय बैंक को नोट जारी करने की पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाती है और वह नोटो की मात्रा को आवश्यकता के अनुसार घटा-बढा सकता है। नोटो की मात्रा और स्वर्ण कोष मे किसी प्रकार का सम्बन्ध नही रखा जाता है। देश मे जारी की जाने वाली समस्त पत्र मुद्रा विश्वासाश्रित होती है और उसके पीछे किसी प्रकार का धात्विक कोष रखना अनिवार्य नही होता है। किन्तु निश्चित अधिकतम सीमा से ऊपर नोट नही चलाये जा सकते है चाहे केन्द्रीय बैंक के पास उसके पीछे रखने के लिए कितना भी सोना क्यो न हो। नोट निर्गमन की अधिकतम सीमा देश मे व्यापार तथा उद्योग की सामान्य आवश्यकताओ से कुछ ऊँची निर्धारित की जाती है। यह अधिकतम सीमा बिल्कुल निश्चित नही होती है और आवश्यकता पडने पर उसे सरकार के द्वारा बढाया जा सकता है। यदि व्यापार और उद्योग का विस्तार होने के कारण मुद्रा

की आवश्यकता बढ़ती है तो सरकार उसी के अनुसार विश्वासाश्रित निर्गमन की अधिकतम सीमा को भी बढ़ाती रहती है और इस प्रकार मुद्रा प्रणाली को लोचदार बनाये रक्खा जाता है। इस प्रकार की नोट निर्गमन प्रणाली फ्रांस में सन् १९२८ तक चलती रही जिसके पश्चात् वहाँ पर अनुपातिक कोष प्रणाली को अपना लिया गया। इंगलैंड में भी मैकमिलन समिति (Macmillan Committee) के द्वारा इस प्रणाली के अपनाये जाने की सिफारिश की गई थी।

गुण (Merits)—**(१) सुरक्षा**—इस प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें अत्यधिक निकासी का भय बहुत कम हो जाता है। सरकार देश की आवश्यकताओं के अनुसार ही नोट निर्गमन की अधिकतम सीमा निश्चित करती है और इस अधिकतम सीमा तक ही नोट जारी किये जा सकते हैं। ऐसी दशा में पत्र मुद्रा की अत्यधिक निकासी नहीं हो सकती है और मुद्रा प्रसार का भय लगभग समाप्त हो जाता है।

(२) लोच का गुण—सुरक्षा के साथ-साथ इस प्रणाली में लोच का गुण भी पाया जाता है क्योंकि मुद्रा की मात्रा स्वर्ण कोषों के साथ सम्बन्धित नहीं होती है। इस प्रणाली में अधिकतम सीमा के भीतर नोटों की मात्रा को आवश्यकता के अनुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर सरकार नोट निर्गमन की अधिकतम सीमा को भी बढ़ा सकती है।

(३) सोने व चाँदी के प्रयोग में बचत—इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली काफी मितव्ययितापूर्ण होती है क्योंकि उसमें बहुमूल्य धातुओं का अपव्यय नहीं होता है। इस पद्धति में सोने को आवश्यक कोषों के रूप में बन्द करके नहीं रखना होता है जिसके कारण सोने व चाँदी के प्रयोग में काफी बचत हो जाती है।

दोष (Demerits)—**(१) सरकार द्वारा दुरुपयोग की सम्भावना**—यदि सरकार केवल अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए नोट निर्गमन की अधिकतम सीमा को बार-बार बढ़ाती रहती है तो मुद्रा प्रसार की दशायें उत्पन्न हो जाती है और मुद्रा प्रणाली की सुरक्षा समाप्त हो जाती है। अन आपत्ति काल में सरकार के द्वारा इस प्रणाली का दुरुपयोग किया जा सकता है। इस प्रणाली से लाभ उठाने के लिए आवश्यक है कि सरकार अपने ऊपर नियन्त्रण रक्खे।

(२) लोच का अभाव—यदि आवश्यकता पड़ने पर नोट निर्गमन की अधिकतम सीमा को नहीं बढ़ाया जाता है तो मुद्रा प्रणाली में लोच का अभाव हो जाता है और मुद्रा की माँग तथा पूर्ति में सन्तुलन स्थापित करना असम्भव होता है।

(३) अधिकतम सीमा का ठीक प्रकार निश्चित न किया जाना—इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष नोट निर्गमन की अधिकतम सीमा निश्चित करने के सम्बन्ध में उत्पन्न होता है। प्रायः अधिकतम सीमा को निर्धारित करते समय व्यापार तथा उद्योग की आवश्यकताओं को ध्यान में नहीं रक्खा जाता है और उसे मनमाने

ढंग से निश्चित कर लिया जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि यह सीमा आवश्यकता की अपेक्षा या तो बहुत ऊँची निश्चित हो जाती है या बहुत नीची रह जाती है।

(३) अनुपातिक निधि प्रणाली (Proportional Reserve System)—

नोट निर्गमन की यह प्रणाली सबसे अधिक प्रचलित रही है। प्रो० केन्स (Keynes) के अनुसार, 'वर्तमान समय मे इसका सबसे अधिक प्रचलन है।'[2] ससार के सभी बडे-बड़े देशो के केन्द्रीय बैंको ने इस प्रणाली को नोट निर्गमन का आधार बनाया हुआ है। सर्वप्रथम इस प्रणाली को सन् १९२८ मे अमेरिका, फ्रास तथा जर्मनी के द्वारा अपनाया गया किन्तु इसके पश्चात् लगभग सभी देशो ने इसे अपना लिया। भारतवर्ष मे हिल्टन-यग कमीशन (Hilton Young Commission) की सिफारिशो के आधार पर अनुपातिक कोष प्रणाली को अपनाया गया था और द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ होने तक रिजर्व बैंक इस पद्धति के अनुसार नोट निर्गमन का कार्य करता था।

इस प्रणाली के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक को जारी की जाने वाली पत्र मुद्रा का एक निश्चित प्रतिशत धात्विक कोष के रूप मे रखना होता है तथा शेष अरक्षित नोटो के पीछे सरकारी प्रतिभूतियाँ और अन्य प्रकार के ऋण-पत्र रक्खे जाते है। किसी भी समय धात्विक कोष की मात्रा इस निश्चित अनुपात से नीचे नही गिरनी चाहिए। स्वर्ण निधि का अनुपात सरकार द्वारा निश्चित किया जाता है और आवश्यकता पडने पर इसे घटाया-बढाया भी जा सकता है। धात्विक कोष का अनुपात प्राय २५ से लेकर ४० प्रतिशत तक होता है। अमेरिका मे ४०% स्वर्ण कोष रखकर पत्र मुद्रा जारी करने की प्रथा रही है। बैंक ऑफ फ्रास के द्वारा पत्र मुद्रा के पीछे ३५% सुरक्षित कोष रखा जाता है तथा रूस मे यह अनुपात २५% रहा है। भारतवर्ष मे अप्रैल १९३८ तक ४०% सुरक्षित कोष रखकर नोट जारी किये जाते थे।

गुण (Merits)—(१) अत्यधिक लोच—इस प्रणाली मे लोच का गुण बहुत अधिक पाया जाता है क्योंकि नोटो की मात्रा को स्वर्ण कोष मे होने वाली वृद्धि की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ बढाया जा सकता है। स्वर्ण कोष मे थोडी सी वृद्धि होने पर उससे कई गुना मात्रा मे पत्र मुद्रा जारी की जा सकती है। उदाहरणार्थ यदि पत्र मुद्रा के पीछे ४०% सुरक्षित निधि रखने का नियम है तो स्वर्ण कोष मे १०० रुपये के मूल्य का अधिक सोना आ जाने पर २५० रुपये की नई पत्र मुद्रा जारी की जा सकेगी। इस प्रणाली मे मुद्रा का विस्तार करना बहुत आसान रहता है और आवश्यकता पडने पर मुद्रा की मात्रा को बढाया जा सकता है।

(२) परिवर्तनशीलता—इस प्रणाली मे पत्र मुद्रा की परिवर्तनशीलता को बनाये रखा जा सकता है। यदि सरकार धात्विक कोष का अनुपात सोच-समझ कर

2 'It is the most fashionable system at the present time.' —Keynes.

निश्चित करती है और उसे पूर्णरूप से बनाये रक्खा जा सकता है तो ऐसी दशा मे समस्त पत्र मुद्रा परिवर्तनशील बनी रहती है।

दोष (Demerits)—इस प्रणाली मे अनेक दोष भी पाये जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य सब प्रणालियो के दोष इसमे इकट्ठे हो गये है। प्रो० केन्स ने अनुपातिक कोष प्रणाली की कड़ी आलोचना की है। उनके अनुसार इस प्रणाली का कोई उचित आधार नही है। इस प्रणाली मे सोने का बहुत अधिक अपव्यय होता है क्योकि एक बडी मात्रा मे सोना मौद्रिक कोष के रूप मे बन्द करके रखना होता है जिसका कोई अन्य प्रयोग नही किया जा सकता है। इस प्रणाली के कुछ मुख्य दोष निम्नलिखित है—

(१) सुरक्षा का अभाव—इस प्रणाली मे पत्र मुद्रा का विस्तार करने के लिए बहुत कम धात्विक कोष रखना पडता है जिसके कारण मुद्रा विस्तार आसानी से किया जा सकता है। सरकार किसी भी समय अधिक आय प्राप्त करने के लिए मुद्रा विस्तार कर सकती है। आवश्यकता पडने पर सरकार धात्विक कोष के अनुपात को भी कम कर सकती है।

(२) मितव्ययिता का अभाव—मितव्ययिता की दृष्टि से भी यह प्रणाली अच्छी नहीं है क्योंकि एक बडी मात्रा मे सोना व चाँदी धात्विक कोष के रूप में बन्द करके रखना होता है जिसका अन्य कोई उपयोग नही किया जा सकता है।

(३) मुद्रा सकुचन मे कठिनाई—इस प्रणाली मे लोच अधिक होने के कारण मुद्रा सकुचन के समय मे बडी कठिनाई होती है। यदि देश मे किसी कारण स्वर्ण कोष की मात्रा कम होने लगती है तो बहुत बडी मात्रा मे पत्र मुद्रा को नष्ट करना पडता है। ४०% सुरक्षित कोष रखने की स्थिति मे, स्वर्ण कोष मे १०० रु० के मूल्य का सोना कम हो जाने पर २५० रु० के नोट चलन से हटाने होगे।

(४) आंशिक अनुपात प्रणाली (Percentage Reserve System)—

यह प्रणाली अनुपातिक कोष प्रणाली का एक संशोधित रूप है। इस प्रणाली मे नोट निर्गमन के एक निश्चित अनुपात मे सुरक्षित कोष रखा जाता है किन्तु इस सुरक्षित निधि का कुछ भाग सोने और चाँदी के रूप मे रहता है और कुछ विदेशी विनिमय के रूप मे रक्खा जाता है। इस प्रणाली का प्रयोग मुख्यत द्वितीय विश्व-युद्ध काल मे किया गया और बहुत से देशो ने सोने व चाँदी के पर्याप्त मात्रा मे न होने के कारण, पत्र मुद्रा के पीछे रक्खे जाने वाले अनुपातिक कोष का एक अश विदेशी विनिमय के रूप मे रखना आरम्भ कर दिया। इस प्रणाली मे केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार दे दिया जाता है कि वह नोटो के पीछे रक्खे जाने वाले सुरक्षित कोष का एक निश्चित अनुपात विदेशी मुद्राओ, विदेशी प्रतिभूतियो तथा विदेशी बैंको मे जमा रकम के रूप मे रख सकता है। भारतवर्ष मे इस प्रणाली को द्वितीय विश्व-युद्ध काल मे अपनाया गया और रिजर्व बैंक को यह अधिकार दे दिया गया

कि वह नोटों के पीछे रखी जाने वाली ४०% सुरक्षित निधि का ६०% स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप मे रख सकता है तथा शेष ४०% धात्विक कोष के रूप मे होना चाहिए किन्तु किसी भी समय सुरक्षित कोष मे ४० करोड रुपये से कम मूल्य का सोना नही रहना चाहिए। स्वर्ण कोष का मूल्य निर्धारित करने के लिए सोने की कीमत २१ रु० ३ आने १० पाई प्रति तोला निश्चित की गई।

गुण व दोष (Merits & Demerits)—इस प्रणाली का एक विशेष लाभ यह है कि इसमे सोने व चाँदी के प्रयोग मे बहुत अधिक बचत हो जाती है और बहुत कम मात्रा मे धात्विक कोष रखकर अधिक नोट चलाये जा सकते है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली मे लोच का गुण भी अधिक पाया जाता है और आवश्यकता पड़ने पर नोटो की मात्रा को आसानी से बढाया जा सकता है। किन्तु इस प्रणाली मे अनुपातिक कोष प्रणाली के सब दोष पाये जाते हैं। यह प्रणाली मुख्यतया उन देशो के लिए उपयुक्त है जिनके पास सोना व चाँदी की मात्रा सीमित हो और जो विदेशी मुद्रा के द्वारा अपनी मुद्रा मे विश्वास बनाये रखना चाहते हो।

(५) साधारण निधि प्रणाली (Simple Deposit System)—

इस प्रणाली मे केन्द्रीय बैंक को जारी की जाने वाली समस्त पत्र मुद्रा के मूल्य के बराबर सोना व चाँदी धात्विक कोष के रूप मे रखना पडता है। सम्पूर्ण पत्र मुद्रा प्रतिनिधि पत्र मुद्रा होती है और उसके पीछे १००% धात्विक कोष रहता है। समस्त पत्र मुद्रा को धात्विक मुद्रा अथवा सोने व चाँदी मे बदला जा सकता है।

सुरक्षा की दृष्टि से यह प्रणाली सर्वोत्तम है क्योकि अत्यधिक निकासी की सम्भावना लगभग समाप्त हो जाती है। इस प्रकार की पत्र मुद्रा मे जनता का विश्वास अधिक रहता है क्योंकि उसे किसी भी समय सोने या चाँदी मे बदला जा सकता है। किन्तु इस प्रणाली मे लोच का अभाव रहता है और आवश्यकता पडने पर पत्र मुद्रा का विस्तार करना सम्भव नही होता है। मितव्ययिता की दृष्टि से भी यह प्रणाली अच्छी नही है क्योकि इसे कार्य रूप मे लाने के लिए बहुत बडी मात्रा मे स्वर्ण कोषो की आवश्यकता पडती है। इस प्रणाली को आधुनिक तथा प्रगतिशील प्रणाली भी नही कहा जा सकता है क्योंकि इसमे साख मुद्रा के प्रयोग पर कोई ध्यान नही दिया जाता है।

(६) न्यूनतम विधि प्रणाली (Minimum Reserve System)—

नोट जारी करने की यह प्रणाली अधिक प्रगतिशील मानी जाती है और वर्तमान समय मे इसका प्रयोग बढता जा रहा है। इस प्रणाली मे नोटो की मात्रा और स्वर्ण कोष की मात्रा मे किसी प्रकार का सम्बन्ध नही रहता है और केवल एक न्यूनतम धात्विक कोष पत्र मुद्रा के पीछे रखा जाता है। धात्विक निधि की न्यूनतम मात्रा सरकार द्वारा निश्चित कर दी जाती है और केन्द्रीय बैंक का यह कर्त्तव्य होता है कि वह कभी भी धात्विक कोष की मात्रा को इस न्यूनतम सीमा से नीचे न गिरने

है। केन्द्रीय बैंक के लिए इस न्यूनतम मात्रा मे स्वर्ण कोष रखना अनिवार्य होता है। नोट जारी करने के सम्बन्ध मे बैंक को पूरी स्वतन्त्रता होती है और वह उन्हे आवश्यकता के अनुसार घटा-बढा सकता है। न्यूनतम मात्रा मे धात्विक कोष रख कर बैंक कितनी भी मात्रा मे नोट जारी कर सकता है। धात्विक निधि को रखने का उद्देश्य नोटो की मात्रा को नियन्त्रित करना नही होता है बल्कि कोष मे सोना इसलिए रखखा जाता है कि आवश्यकता पड़ने पर भुगतान सतुलन (Balance of Payment) के घाटे को पूरा करने के लिए उसका प्रयोग किया जा सके तथा मुद्रा के प्रति जनता के विश्वास को बनाये रखखा जा सके।

इस प्रणाली मे लोच का गुण बहुत अधिक मात्रा मे पाया जाता है और धात्विक कोष मे किसी प्रकार की वृद्धि किये बिना ही अधिक पत्र मुद्रा जारी की जा सक्ती है। केन्द्रीय बैंक के लिए व्यापार तथा उद्योग की मुद्रा की बढती हुई माग को पूरा करना आसान होता है। यह प्रणाली मितव्ययिता की दृष्टि से भी बहुत अच्छी है क्योकि इसमे बहुत अधिक सोना कोष मे नही रखना पड़ता है। यह प्रणाली केवल प्रगतिशील समाज के लिए ही उपयुक्त है और समृद्धि (Prosperity) काल मे तो इसे ठीक प्रकार से चलाया जा सकता है किन्तु सकट काल मे इसे बनाये रखना कठिन हो जाता है।

भारतवर्ष मे आजकल इसी प्रणाली के आधार पर नोट चलाये जाते हैं। द्वितीय पचवर्षीय योजना-काल मे आर्थिक विकास के लिए अधिक मात्रा मे विदेशी विनिमय को मुक्त करने के लिए सरकार ने आशिक अनुपातिक निधि प्रणाली को त्याग दिया और उसके स्थान पर न्यूनतम कोष प्रणाली को अपना लिया गया। पत्र मुद्रा के पीछे रक्खे जाने वाले सुरक्षित कोष की न्यूनतम सीमा सरकार द्वारा निश्चित कर दी गई। सन् १६५७ मे रिजर्व बैंक एक्ट मे एक सशोधन के द्वारा पत्र मुद्रा कोष की न्यूनतम मात्रा ५१५ करोड रुपया निश्चित की गई किन्तु २५ अक्तूबर १६५७ को इस न्यूनतम सीमा को घटा कर २०० करोड रुपया कर दिया गया जिसमे सोना और विदेशी प्रतिभूतियाँ दोनो ही सम्मिलित हैं। इस कोष मे ११५ करोड रुपये का सोना तथा ८५ करोड रुपये की स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ रहेंगी। रिजर्व बैंक इस न्यूनतम मात्रा मे सुरक्षित कोष रखकर आवश्यकता के अनुसार कितनी भी पत्र मुद्रा जारी कर सकता है।

(७) कोषागार विपत्र निधि प्रणाली (Bonus Deposit System)—

इस प्रणाली मे नोटो के पीछे किसी प्रकार का धात्विक कोष नही रक्खा जाता है और केवल सरकारी बॉण्डस (Bonds) तथा कोषागार-विपत्रो (Treasury Bills) के आधार पर नई पत्र मुद्रा जारी की जाती है। यह कोषागार-विपत्र सरकार के अल्पकालीन प्रतिज्ञा-पत्र होते हैं जो केन्द्रीय बैंक को दे दिये जाते है और वह उन्हे प्रतिभूतियाँ मानकर इनके आधार पर पत्र मुद्रा जारी करता है। जब

सरकार नोटों की मात्रा में वृद्धि करना चाहती है तो उसे पहले कोषागार-विपत्रों की मात्रा में वृद्धि करनी होती है और तब केन्द्रीय बैंक इन विपत्रों के आधार पर नई मुद्रा जारी करता है। इस प्रणाली में नोटों की मात्रा सरकारी कोषागार-विपत्रों की मात्रा के ऊपर निर्भर होती है। इस प्रणाली में अत्यधिक निकासी का भय कम हो जाता है क्योंकि अधिक मात्रा में नोट जारी करने के लिए बैंक को अधिक मात्रा में कोषागार-विपत्रों तथा अन्य प्रकार की सरकारी प्रतिभूतियों को खरीदना पड़ता है। यदि बैंक इन्हें बहुत अधिक मात्रा में खरीदता है तो इनका मूल्य बढ़ जाने के कारण इन पर प्राप्त होने वाला ब्याज कम हो जाता है और बैंक को नुकसान होता है। इस प्रकार अधिक नोट जारी करना बैंक के लिए लाभपूर्ण नहीं होता है। यद्यपि इस प्रणाली में मुद्रा प्रसार की सम्भावना बहुत कम हो जाती है किन्तु लोच का अभाव होने के कारण विशेष कठिनाई होती है और आवश्यकता के अनुसार नोटों की मात्रा को बढ़ाना सम्भव नहीं होता है। भारतवर्ष में नोट जारी करने की इस पद्धति को सन् १८०२ में अपनाया गया था किन्तु सन् १८०५ में सरकारी प्रतिभूतियों का मूल्य बहुत अधिक गिर जाने के कारण सरकार को बहुत हानि उठानी पड़ी। अमेरिका में भी सन् १९१३ में इस प्रणाली को अपनाया गया और कुछ समय तक इन पद्धति के आधार पर नोट जारी किये जाते रहे।

नोट निकासी का सही सिद्धान्त (Right Principle of Note Issue)—

नोट निर्गमन की विभिन्न प्रणालियों का अध्ययन करने के पश्चात् यह जानना आवश्यक है कि इनमें से किस प्रणाली के आधार पर नोट जारी किये जाने चाहिएँ? उपर्युक्त सभी प्रणालियों में कुछ लाभ और दोष हैं और उनमें से किसी को भी पूर्णतया उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है। यदि करेंसी सिद्धान्त (Currency Principle) के अनुसार नोट जारी किये जाते हैं तो मुद्रा प्रणाली में सुरक्षा रहती है किन्तु लोच के अभाव के कारण मुद्रा को आवश्यकता के अनुसार बढ़ाना सम्भव नहीं होता है। बैंकिंग सिद्धान्त (Banking Principle) के आधार पर नोट जारी करने से मुद्रा प्रणाली लोचदार तो हो जाती है किन्तु उसमें सुरक्षा का अभाव रहता है। एक अच्छी नोट निर्गमन प्रणाली में लोच और सुरक्षा दोनों ही पर्याप्त मात्रा में पाये जाने चाहिएँ। समाज की मुद्रा के लिए बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए पत्र मुद्रा प्रणाली का लोचदार होना आवश्यक है। मुद्रा में जनता का विश्वास बनाये रखने के लिए नोटों का परिवर्तनीय होना भी अनिवार्य है। इनके अतिरिक्त पत्र मुद्रा प्रणाली में मितव्ययिता (Economy) का गुण भी होना चाहिए जिससे बहुमूल्य धातुओं के प्रयोग में बचत की जा सके और इन्हें अन्य प्रयोगों में लाया जा सके। इस प्रकार एक अच्छी पत्र मुद्रा प्रणाली में लोच (Elasticity), सुरक्षा (Security) और मितव्ययिता (Economy) के गुणों का

होना अनिवार्य है। किसी भी नोट निर्गमन पद्धति को, जो पत्र मुद्रा प्रणाली में इन गुणों को पैदा कर सकती हो, नोट निर्गमन की अच्छी पद्धति कहा जा सकता है। उपर्युक्त पद्धतियों में से कोई भी इन दशाओं को पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं करती है। इन प्रणालियों में सुधार के द्वारा ही एक अच्छी नोट निर्गमन प्रणाली का विकास किया जा सकता है।

एक अच्छी नोट निर्गमन प्रणाली के सम्बन्ध में दो मुख्य प्रश्न पैदा होते हैं—(१) नोटों की मात्रा में और सुरक्षित कोष की मात्रा में किसी प्रकार का सम्बन्ध होना चाहिए अथवा नहीं ? (२) नोटों के पीछे कितनी मात्रा में सुरक्षित कोष रक्खा जाय ? वर्तमान विचारधारा के अनुसार नोट निर्गमन का सुरक्षित कोष की मात्रा के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। एक अच्छी नोट निर्गमन प्रणाली में केन्द्रीय बैंक को नोटों की मात्रा में आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। नोटों की मात्रा को स्वर्ण कोष के अनुसार नियन्त्रित न करके, उसे मुद्रा की आवश्यकता के अनुसार घटाते-बढ़ाते रहना चाहिए। इस प्रकार पत्र मुद्रा को स्वर्ण कोष के प्रतिबन्ध से मुक्त करके मुद्रा प्रणाली को लोचदार बनाये रक्खा जा सकता है तथा बहुमूल्य धातुओं के प्रयोग में बचत की जा सकती है। अत्यधिक निकासी के भय से बचने के लिए सरकार को नोट निर्गमन की अधिकतम सीमा निश्चित कर देनी चाहिए जिससे अधिक मात्रा में नोट जारी नहीं किये जाने चाहिएँ। यह अधिकतम सीमा व्यापार तथा उद्योग की सामान्य आवश्यकता से कुछ ऊँची निश्चित करनी चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर इसे बढ़ाना सम्भव होना चाहिए। ऐसा करने से मुद्रा प्रणाली में सुरक्षा का गुण पैदा किया जा सकेगा। जनता का विश्वास मुद्रा में बनाये रखने के लिए पत्र मुद्रा के पीछे एक न्यूनतम मात्रा में स्वर्ण कोष का होना भी अनिवार्य है। सरकार के द्वारा स्वर्ण कोष की न्यूनतम मात्रा निश्चित कर देनी चाहिए और केन्द्रीय बैंक के लिए इस न्यूनतम मात्रा में स्वर्ण कोष रखना अनिवार्य होना चाहिए। किसी भी समय स्वर्ण कोष की मात्रा न्यूनतम सीमा से नीचे नहीं गिरनी चाहिए। इस न्यूनतम कोष के द्वारा मुद्रा में जनता का विश्वास बनाये रक्खा जा सकेगा तथा आवश्यकता पड़ने पर सोने का प्रयोग विदेशी भुगतानों को निबटाने के लिए भी किया जा सकेगा।

अच्छी मुद्रा प्रणाली के गुण

(Essentials of a Good Monetary System)—

विभिन्न प्रकार के मुद्रामानों का अध्ययन करने के पश्चात् यह प्रश्न पैदा होता है कि इनमें से कौन सा मुद्रामान अपनाया जाय ? प्रत्येक देश को ऐसा मुद्रामान अपनाना चाहिए जिसमें अच्छे मुद्रामान के सभी गुण पाये जाते हों। अर्थशास्त्रियों के अनुसार एक अच्छे मुद्रामान में निम्नलिखित गुण पाये जाने चाहिएँ—

(१) आन्तरिक स्थिरता (Internal Stability)—मुद्रामान ऐसा होना चाहिए जो मुद्रा के आन्तरिक मूल्य मे स्थिरता स्थापित कर सके। मूल्य-स्तर मे जल्दी-जल्दी परिवर्तन नहीं होने चाहिएँ जिससे मुद्रा के मूल्य को वस्तुओं और सेवाओं के सम्बन्ध मे स्थिर रक्खा जा सके। एक अच्छा मुद्रामान देश मे मूल्य-स्तर की स्थिरता स्थापित करके, उत्पत्ति, उपभोग तथा विनिमय सम्बन्धी क्रियाओं को सरलतापूर्वक चलाने मे सहायता देता है। आन्तरिक स्थिरता के दृष्टिकोण से स्वर्णमान को अच्छा मुद्रामान कहा जा सकता है किन्तु उचित मौद्रिक प्रबन्ध के द्वारा पत्र मुद्रामान मे भी इस गुण को पैदा किया जा सकता है।

(२) विदेशी विनिमय की स्थिरता (Foreign Exchange Stability)—मुद्रामान ऐसा होना चाहिए जो विदेशी विनिमय की स्थिरता बनाये रख सके। मुद्रा के विदेशी मूल्य में बहुत अधिक परिवर्तन नही होने चाहिएँ। विदेशी विनिमय की स्थिरता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार के लिए बहुत आवश्यक है। एक अच्छा मुद्रामान वही होता है जिसमे विदेशी विनिमय दरो मे बहुत कम परिवर्तन होते हो। पत्र मुद्रामान की अपेक्षा स्वर्णमान मे विदेशी विनिमय दरें अधिक स्थिर रहती थी, इसलिए विदेशी विनिमय की स्थिरता की दृष्टि से स्वर्णमान एक अच्छा मुद्रामान है।

(३) मुद्रा प्रणाली लोचदार होनी चाहिए (Elasticity)—एक अच्छी मुद्रा प्रणाली मे लोच का गुण पाया जाना चाहिए। मुद्रा प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिसमे मुद्रा की मात्रा को आवश्यकता के अनुसार घटाया-बढाया जा सके। लोच के अभाव के कारण समाज मे मुद्रा की मात्रा को व्यापार तथा उद्योग की आवश्यकता के अनुसार घटाना-बढाना सम्भव नही हो सकेगा। इसलिए एक अच्छी मुद्रा प्रणाली मे लोच का गुण होना आवश्यक है। स्वर्णमान की अपेक्षा पत्र मुद्रामान मे लोच का गुण अधिक पाया जाता है।

(४) मितव्ययिता (Economy)—एक अच्छी मुद्रा प्रणाली मे मितव्ययिता का गुण भी पाया जाना चाहिए। मुद्रा प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिसमे बहुमूल्य धातुओं का दुरुपयोग न होता हो और उनकी अधिक से अधिक बचत की जा सके। आजकल उसी मुद्रा प्रणाली को अच्छा माना जाता है, जिसमे सोने व चाँदी का कम से कम प्रयोग किया जाता हो। मितव्ययिता की दृष्टि से पत्र मुद्रामान स्वर्णमान की अपेक्षा अधिक अच्छा है।

(५) सरलता (Simplicity)—मुद्रामान इतना साधारण होना चाहिए कि उसे सामान्य व्यक्ति भी आसानी से समझ सके। उसे समझने के लिए किसी प्रकार के विशेष ज्ञान की आवश्यकता नही होनी चाहिए। मुद्रा प्रणाली के जटिल होने से उसका प्रबन्ध करने का व्यय बढ जाता है तथा इस प्रकार की प्रणाली मे जनता का विश्वास भी देर से बनता है। इसीलिए एक अच्छी मुद्रा प्रणाली मे सरलता का

गुण होना आवश्यक है। पत्र मुद्रामान की अपेक्षा स्वर्णमान अधिक सरल है, इसीलिए लोग सामान्यत उसे अधिक पसन्द करते हैं और उसमे जनता का विश्वास भी अधिक रहता है।

(६) जनता का विश्वास (Public Confidence)—एक अच्छी मुद्रा प्रणाली वही है जो मुद्रा मे जनता के विश्वास को बनाये रख सके। यदि जनता का विश्वास मुद्रा मे नही रहता है, तो वह मुद्रा प्रणाली अधिक समय तक नही चल सकेगी। किसी भी मुद्रामान की सफलता के लिए उसमे जनता का विश्वास होना अनिवार्य है। जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिए मुद्रा प्रणाली अधिक सैद्धान्तिक नही होनी चाहिए, बल्कि उसमे व्यावहारिकता अधिक होनी चाहिए। स्वर्णमान एक अच्छा मुद्रामान है क्योकि उसमे जनता का विश्वास आसानी से बन जाता है। पत्र मुद्रा को धात्विक मुद्रा मे परिवर्तनीय रख कर, पत्र मुद्रामान मे भी जनता के विश्वास को बनाये रक्खा जा सकता है।

उपर्युक्त विशेषताओ के आधार पर स्वर्णमान अधिक उपयुक्त मुद्रामान प्रतीत होता है, किन्तु आज स्वर्णमान की प्रतिष्ठा बहुत कम हो गई है। उसमे पाये जाने वाले कुछ आधारभूत दोषो के कारण वर्तमान समाज मे उसे सफलतापूर्वक नही चलाया जा सकता है। कुछ एक देशो मे पत्र मुद्रा के सफलतापूर्वक चलाये जाने के कारण, प्रबन्धित मुद्रामान को स्वर्णमान की अपेक्षा अधिक अच्छा समझा जाने लगा है। किन्तु अभी भी कुछ लोगो का विचार है कि प्रबन्धित पत्र मुद्रामान मे राजनीतिज्ञो तथा मुद्रा अधिकारियो के हाथो मे बहुत अधिक शक्ति रहती है जिसका वे दुरुपयोग कर सकते है।

भविष्य मे कौनसा मुद्रामान ससार का प्रमुख मुद्रामान रहेगा, इस बात का जवाब देना आसान नही है। किन्तु एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि पुराने ढग के स्वर्णमान के फिर से अपनाये जाने की कोई सम्भावना नही है। भविष्य मे ससार के अधिकाश देशो के द्वारा किसी न किसी प्रकार का प्रबन्धित पत्र मुद्रामान ही अपनाया जायगा। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) के द्वारा एक नये मुद्रामान का विकास किया गया है, जिसमे स्वर्णमान के कुछ गुण पाये जाते है किन्तु उसके दोषो से वह मुक्त है तथा उसमे लोच व मितव्ययिता भी पाई जाती है। इसी प्रकार का मुद्रामान वर्तमान स्थिति मे सबसे उपयुक्त प्रतीत होता है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) प्रबन्धित मुद्रामान से आप क्या समझते हैं ? उसके लाभ और दोषों का वर्णन कीजिये । (आगरा बी० ए० १९५६)

(२) नोट निर्गमन की विभिन्न विधियां क्या हैं ? उनके लाभ तथा दोष बतलाइये । नोट निर्गमन की सही पद्धति क्या होनी चाहिए ? (आगरा बी० ए० १९५६)

(३) नोट निर्गमन की विभिन्न रीतियाँ बताइये । इनमें से आप किसे अच्छी समझते हैं ? कारण बताइये । (आगरा बी० ए० १९६० स)

(४) नोट निर्गमन के करेन्सी सिद्धान्त बनाम बैंकिंग सिद्धान्त पर एक टिप्पणी लिखिये । (आगरा बी० ए० १९५४)

(५) पत्र मुद्रा के संचालन को नियन्त्रित करने के विभिन्न उपायों (Methods) का आलोचनात्मक वर्णन कीजिये । इनमें से किसे हमारे देश में अपनाया है और क्यों ? (आगरा बी० काम १९५९ स)

(६) बहुत से बैंकों द्वारा नोट निर्गमन प्रणाली पर नोट लिखिये । (आगरा बी० काम १९५९)

(७) नोट निर्गमन के करेन्सी सिद्धान्त एवं बैंकिंग सिद्धान्त में अन्तर समझाइये । (आगरा बी० काम १९५७)

(८) सरकार द्वारा नोट निर्गमन और बैंक द्वारा नोट निर्गमन के सापेक्षिक लाभों को बतलाइये । (सागर बी० काम १९५९)

(९) पत्र मुद्रा की अनुपातिक पद्धति स्पष्ट कीजिये । भारत के दृष्टिकोण से इस पद्धति के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए । (नागपुर बी० ए० १९६०)

(१०) किसी देश में नोटों के निर्गमन पर नियन्त्रण रखने वाले सिद्धान्तों का विवरण दीजिये । भारत की नोट निर्गमन प्रणाली का आलोचनात्मक विवरण दीजिये । (सागर बी० ए० १९५९)

(११) पत्र मुद्रा के निर्गमन का नियमन करने वाली विभिन्न पद्धतियों के गुण-दोषों की विवेचना कीजिये । भारत के रिजर्व बैंक द्वारा नोट निर्गमन की कौनसी प्रणाली अपनाई गई है । (इलाहाबाद बी० ए०)

(१२) एक अच्छी मुद्रा प्रणाली की विशेषतायें बतलाइये । भारतीय मुद्रा प्रणाली में ये विशेषतायें कहां तक पाई जाती हैं ? (आगरा बी० काम १९५७)

७

मुद्रा का मूल्य और उसका निर्धारण

VALUE OF MONEY AND ITS DETERMINATION

मुद्रा के मूल्य का अध्ययन मौद्रिक अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण विषय है। मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तन हमारे आर्थिक जीवन को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। अत इस बात की खोज करना स्वाभाविक है कि मुद्रा का मूल्य कैसे निर्धारित होता है तथा वह क्यों बदलता है और इन परिवर्तनों का समाज के आर्थिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है ? इन समस्याओं का अध्ययन करने से पूर्व हमें मुद्रा के मूल्य के अर्थ को भली-भाँति समझ लेना चाहिए। मुद्रा के मूल्य से अभिप्राय उसकी क्रय-शक्ति (Purchasing Power) से होता है। मुद्रा की एक इकाई के बदले में जितनी वस्तुये तथा सेवाये प्राप्त होती हैं, वही उसका मूल्य है। रॉबर्टसन (Robertson) के अनुसार "मुद्रा के मूल्य से हमारा अभिप्राय वस्तुओं की उस मात्रा में होता है जो सामान्य रूप से मुद्रा की एक इकाई के बदले में प्राप्त होती हैं।"[1] मुद्रा के मूल्य को प्रत्यक्ष रूप से नहीं जाना जा सकता है। उसे जानने के लिए हमें यह पता लगाना होता है कि उसके बदले में वस्तुओं तथा सेवाओं की कितनी मात्रा प्राप्त होती है। यदि मुद्रा के बदले में अधिक वस्तुयें तथा सेवाये प्राप्त की जा सकती हैं तो मुद्रा का मूल्य अधिक होता है और यदि उसके बदले में मिलने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा कम होती है तो मुद्रा का मूल्य भी कम होता है। इस प्रकार मुद्रा का मूल्य उसकी क्रय-शक्ति पर निर्भर होता है। जॉर्ज हॉम (Halm) के अनुसार—"मुद्रा का मूल्य विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं की उस मात्रा पर निर्भर होता है जो मुद्रा की एक इकाई के द्वारा खरीदी

---

1 "By the value of money . .. . we mean the amount of things in general which will be given in exchange for a unit of money."
—*Robertson, D. H : Money, P. 17.*

जा सकती है। अतः वह इन वस्तुओं तथा सेवाओ के मूल्य पर आधारित होता है।"[2]

मुद्रा स्वयं कोई मूल्यवान वस्तु नही है। उसका महत्व तो उसके द्वारा किये जाने वाले कार्यों के कारण होता है। क्राउथर (Crowther) के अनुसार—"मुद्रा स्वयं बेकार हो सकती है, उसका मूल्य केवल इसलिए होता है क्योंकि उसे विनिमय मे स्वीकार किया जाता है।"[3] हम मुद्रा की माग इसलिए नही करते कि वह स्वय कोई उपयोगी वस्तु है बल्कि इसलिए करते है कि उसके बदले मे हमे उपयोगी वस्तुये तथा सेवायें मिल सकती हैं। अतः मुद्रा की उपयोगिता मुख्यत. उसके विनिमय के माध्यम के रूप मे स्वीकार किये जाने के कारण होती है। जार्ज हॉम (Halm) ने इस बात पर विशेष जोर दिया है कि मुद्रा का कोई उपयोग मूल्य (value in exchange) नही होता है। उनके अनुसार "यदि विनिमय का माध्यम कोई उपभोग अथवा उत्पादन सम्बन्धी वस्तु है तो उसका उपयोग मूल्य (value in exchange) अवश्य होता है किन्तु जब वह मुद्रा का कार्य करती है तो उसका यह गुण समाप्त हो जाता है या उस समय उसका कोई महत्व नही रहता है क्योंकि मुद्रा के रूप मे वह मानव आवश्यकताओ को प्रत्यक्ष रूप से सन्तुष्ट नही करती है।"[4] अतः यह कहा जा सकता है कि मुद्रा स्वय उपयोगी नही होती है, उसका मूल्य उसके बदले मे प्राप्त होने वाली वस्तुओ तथा सेवाओ के कारण होता है। मुद्रा की अन्य वस्तुओ तथा सेवाओ को प्राप्त करने की शक्ति को उसकी क्रय-शक्ति कहा जाता है और मुद्रा का मूल्य इसी क्रय-शक्ति पर निर्भर होता है। मुद्रा की एक इकाई का मूल्य वस्तुओं तथा सेवाओ की उस मात्रा के बराबर होता है जो उसके बदले मे किसी समय विशेष पर प्राप्त की जा सकती है। अतः मुद्रा के मूल्य को उसकी क्रय-शक्ति के द्वारा जाना जा सकता है। मुद्रा की क्रय-शक्ति के घटने-बढने पर उसका मूल्य भी बदल जाता है।

मुद्रा के मूल्य को हम अन्य वस्तुओ तथा सेवाओ के मूल्य की भाँति नही नाप सकते है। वस्तुओ तथा सेवाओ के मूल्यो को नापने मे हमे कोई विशेष कठिनाई नहीं होती है क्योंकि मुद्रा के रूप मे मूल्य नापने की एक सामान्य इकाई उपलब्ध

---

2 "The value of money depends on the amount of different goods and services which can be purchased with a unit of money and therefore, on the prices of these goods and services."

—*Halm, George N* Economics of Money and Banking, P. 67.

3 "Money in itself may be quite useless . . . . its only value arises out of its acceptability in exchange."

—*Crowther, Geoffrey*: An Outline of Money, P. 83.

4 "If the medium of exchange is a commodity (a consumer's or producer's good), it does of course have value in use. But it looses this quality or, at least, this quality is not relevant for the time during which it is used as money. For as money it does not directly satisfy human wants."

—*Halm*: Monetary Theory, P. 14.

होती है। किन्तु मुद्रा के मूल्य को नापने के लिए इस प्रकार की कोई सामान्य इकाई हमारे पास नहीं है। सभी वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य को मुद्रा के द्वारा बतलाया जाता है किन्तु मुद्रा के मूल्य को हम मुद्रा के रूप में नहीं बतला सकते है।[5] प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसके बदले में प्राप्त होने वाली मुद्रा के बराबर होता है। किसी वस्तु के बदले में जितनी अधिक मुद्रा प्राप्त हो सकती है, वह उतनी ही अधिक मूल्यवान होती है। किन्तु ऐसी कोई एक वस्तु नहीं है जिसके द्वारा मुद्रा के मूल्य को नापा जा सके। इसलिए मुद्रा के मूल्य को हम उसके बदले में प्राप्त होने वाली सभी वस्तुओं तथा सेवाओं के द्वारा बतलाते है। मुद्रा की क्रय-शक्ति को सामान्य मूल्य-स्तर (General Price Level) के द्वारा जाना जा सकता है। मुद्रा के मूल्य को किसी एक वस्तु अथवा सेवा के रूप में व्यक्त नहीं किया जा सकता है बल्कि उसे हम विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के सामान्य मूल्य-स्तर के द्वारा व्यक्त करते है। लार्ड केन्ज (Lord Keynes) के अनुसार "मुद्रा की क्रय-शक्ति किसी विशेष स्थिति में वस्तुओं तथा सेवाओं की उस मात्रा पर आधारित होती है जो मुद्रा की एक इकाई के द्वारा खरीदी जा सकती है इसलिए उसे एक ऐसी सम्पूर्ण वस्तु (composite commodity) के मूल्य के द्वारा नापा जा सकता है जिसमे अनेक प्रकार की वस्तुयें तथा सेवायें अपने महत्व के अनुपात में सम्मिलित हों।"[6] प्रो० सैलिगमैन (Seligman) ने मुद्रा के मूल्य के विचार को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'मुद्रा का मूल्य मुद्रा की क्रय शक्ति होती है और इसे वस्तुओं के सामान्य मूल्य-स्तर से जाना जा सकता है। जब तक मुद्रा के मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं होता है तब तक वस्तुओं के सामान्य मूल्य-स्तर में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता है।" मुद्रा का मूल्य सामान्य मूल्य-स्तर से विपरीत दिशा में बदलता है। सामान्य मूल्य स्तर के बढ़ जाने पर मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है और उसके कम हो जाने पर बढ़ जाता है। प्रो० इविङ्ग फिशर (Irving Fisher) ने मुद्रा की क्रय-शक्ति और मूल्य-स्तर के सम्बन्ध को इस प्रकार व्यक्त किया है—"मुद्रा की क्रय-शक्ति मूल्य-स्तर से विपरीत होती है और इसीलिए मुद्रा की क्रय-शक्ति का अध्ययन तथा मूल्य-स्तर का अध्ययन एक ही बात है।"[7]

---

5 "But a difficulty arises from the fact that we are in the habit, for the sake of convenience, of expressing the value of bread or cloth in terms of money, whereas obviously we cannot express the value of money in terms of itself" —*Robertson*, Money, P. 17.

6 "Since the purchasing power of money in a given context depends upon the quantity of goods and services which a unit of money will purchase, it follows that it can be measured by the price of a composite commodity made up of various individual goods and services in proportion corresponding to their importance as objects of expenditure" —*J M Keynes* A Treatise on Money, vol. I.

7 "The purchasing power of money is the reciprocal of the level of prices, so that study of the purchasing power of money is identical with the study of price levels." —*Irving Fisher* The Purchasing Power of Money, P. 14.

मुद्रा का मूल्य निर्धारण—

मुद्रा के मूल्य निर्धारण का प्रश्न मौद्रिक अर्थशास्त्र का आधारभूत प्रश्न रहा है। सामाजिक न्याय की दृष्टि से यह आवश्यक है कि मुद्रा के मूल्य मे जल्दी-जल्दी परिवर्तन न हो और वह स्थिर बना रहे। मुद्रा के मूल्य मे होने वाले परिवर्तन सामाजिक अन्याय तथा अन्य प्रकार की आर्थिक बुराइयो को जन्म देते हैं। इसीलिए मुद्रा के मूल्य को स्थिर रखने की समस्या पैदा होती है। मुद्रा के मूल्य मे स्थिरता लाने के लिए हमे यह जानना आवश्यक है कि मुद्रा का मूल्य किन शक्तियो के द्वारा निर्धारित होता है और वह क्यो बदलता है। प्राचीन समय से ही अर्थशास्त्री उन कारणो की खोज मे रहे है जो मुद्रा के मूल्य को प्रभावित करते है और उसमे परिवर्तन लाने के लिए जिम्मेदार हैं। मुद्रा के मूल्य-निर्धारण सम्बन्धी कई सिद्धान्त दिये गये है किन्तु उनमे सबसे प्राचीन तथा अधिक प्रचलित मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त रहा है। यह सिद्धान्त माग और पूर्ति के सिद्धान्त का ही एक विशेष रूप है। यद्यपि आधुनिक समय मे परिमाण सिद्धान्त मे महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं किन्तु आज तक भी वह मुद्रा के मूल्य-निर्धारण का आधार माना जाता है।

मुद्रा का मूल्य भी अन्य वस्तुओ की भाँति माग और पूर्ति की शक्तियो के द्वारा निर्धारित होता है। यदि विस्तृत दृष्टिकोण से देखा जाय तो मुद्रा भी एक प्रकार की वस्तु ही है। किसी समय विशेष पर उसकी भी एक निश्चित माग व पूर्ति हुआ करती है और माग व पूर्ति के साम्य के द्वारा ही उसका मूल्य निश्चित होता है रोबर्टसन (Robertson) के अनुसार "अनेक आर्थिक वस्तुओ मे से मुद्रा भी एक है। उसका मूल्य प्रारम्भिक रूप से ठीक उन्ही दो शक्तियो अर्थात् उसकी माग की दशाओ तथा उसकी उपलब्ध मात्रा के द्वारा निश्चित होता है जो अन्य वस्तुओं के मूल्य को निश्चित करती है।"[8] मूल्य का सामान्य सिद्धान्त हमे यह बतलाता है कि किसी वस्तु या सेवा का मूल्य उसकी माग व पूर्ति की शक्तियो के द्वारा निश्चित होता है। जिस बिन्दु पर माग और पूर्ति की शक्तियां साम्य की दशा मे होती है वही पर उस वस्तु का मूल्य निर्धारित हो जाता है। किसी वस्तु की माग अथवा पूर्ति मे परिवर्तन होने पर उसके मूल्य मे भी परिवर्तन आते है—माग के बढ जाने पर उसके मूल्य की बढने की प्रवृत्ति होती है और पूर्ति के बढने पर घटने की। मूल्य के इस सामान्य सिद्धान्त को मुद्रा के मूल्य निर्धारण के लिए भी प्रयोग किया जा सकता है। मुद्रा के मूल्य निर्धारण के लिए हमे किसी पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता नही है, अन्य वस्तुओ के मूल्य की भाँति माग और पूर्ति

8 "Money is only one of many economic things. Its value therefore is primarily determined by exactly the same two factors as determine the value of any other thing, namely, the conditions of demand for it, and the quantity of it available" —*Robertson, D H*: Money, P. 28.

की शक्तियां ही उसके मूल्य को निश्चित करती हैं और वह माग और पूर्ति मे परिवर्तन होने के कारण ही बदलता है। यदि मुद्रा की पूर्ति मे कोई परिवर्तन न हो तो उसकी माग बढ जाने पर उसका मूल्य बढ जाता है और कम होने पर घट जाता है। इसी प्रकार यदि मुद्रा की माग निश्चित रहे तो उसकी पूर्ति मे वृद्धि होने पर उसका मूल्य घट जाता है और कमी होने पर बढ जाता है। क्राउथर (Crowther) के अनुसार, "मुद्रा की माग मे वृद्धि होने पर, यदि उसकी पूर्ति मे कोई वृद्धि नही होती है, तो उसका मूल्य बढ जायगा और सामान्य मूल्य-स्तर गिर जायगा। इसी प्रकार मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होने पर, यदि उसकी माग मे वृद्धि नही होती है, तो उसका मूल्य भी गिर जायगा और सामान्य मूल्य स्तर मे वृद्धि हो जायगी।"[9]

यद्यपि मुद्रा का मूल्य उसकी माग व पूर्ति के द्वारा निर्धारित होता है किन्तु मुद्रा की माग व पूर्ति की कुछ अपनी विशेषताये है जो उसे अन्य वस्तुओ से पृथक् कर देती है और जिनके कारण मुद्रा के मूल्य-निर्धारण के सिद्धान्त मे हमे इन विशेषताओ को ध्यान मे रखते हुए ही उसकी माग व पूर्ति का विश्लेषण करना होता है। मुद्रा के मूल्य-निर्धारण को भली प्रकार समझने के लिए हमे मुद्रा की माग व पूर्ति के विषय मे आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।

मुद्रा की माग—

मुद्रा की माग अन्य वस्तुओ की माग से बिल्कुल भिन्न होती है, किसी वस्तु की माग हम इसलिए करते है क्योकि उसके *प्रत्यक्ष प्रयोग के द्वारा हम* अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सकते हैं, किन्तु मुद्रा के सम्बन्ध मे यह बात ठीक नही बैठती है। मुद्रा की माग हम इसलिए नही करते है कि वह स्वय कोई उपयोगी वस्तु है बल्कि उसकी माग इसलिए की जाती है कि उसके द्वारा हम अन्य उपयोगी वस्तुयें तथा सेवायें प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार मुद्रा की उपयोगिता हमारे लिए प्रत्यक्ष न होकर केवल परोक्ष है। मुद्रा का प्रत्यक्ष प्रयोग नही किया जा सकता है, वह तो केवल विनिमय के माध्यम के रूप मे प्रयोग की जाती है। मुद्रा की माग एक प्रकार की उत्पादित माग (Derived Demand) है जो वस्तुओ तथा सेवाओ का विनिमय करने की आवश्यकता के कारण पैदा होती है। मुद्रा की माग तब ही होती है जब हमे उसके द्वारा कुछ विनिमय करना होता है। अतः किसी समय विशेष मे मुद्रा की माग समाज मे किये जाने वाले विनिमय की मात्रा (Volume of

---

9 "An increase in the demand for money, unaccompanied by any increase in the supply of money, will lead to an enhancement of its value—that is, to a fall in the general price level. Similarly an increase in the supply of money, without an increase in the demand for it, will lead to a fall in its value—that is, a rise in the general price level."

—*Crowther*: An Outline of Money, P. 109

Exchange) पर निर्भर होती है। यदि अधिक विनिमय किया जाता है तो मुद्रा की माग अधिक होती है और यदि किये जाने वाले विनिमय की मात्रा कम होती है तो मुद्रा की माग कम हो जाती है। विनिमय की मात्रा बाजार मे बिक्री के लिए आने वाली वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा के ऊपर निर्भर होती है। मुद्रा के द्वारा विनिमय की जाने वाली वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा देश के उत्पादन स्तर पर निर्भर रहती है। यदि उत्पादन अधिक मात्रा मे होता है तो विनिमय की मात्रा अधिक होती है और मुद्रा की माग बढ जाती है। उत्पादन की मात्रा कम होने पर विनिमय की मात्रा कम हो जाने के कारण मुद्रा की माग गिर जाती है। किसी निश्चित समय मे मुद्रा की माग का अनुमान लगाते समय हमे उन वस्तुओ तथा सेवाओ को सम्मिलित नही करना चाहिए जो उत्पादको द्वारा स्वय प्रयोग मे लाई जाती है क्योंकि वे मुद्रा की माग उत्पन्न नही करती है। किसी समय विशेष पर मुद्रा की माग वस्तुओ और सेवाओ के उत्पादन की उस मात्रा पर निर्भर होती है जो बाजार मे बिकने के लिए आती है। इस प्रकार मुद्रा की माग उसके द्वारा किये जाने वाले व्यापारिक सौदो की मात्रा (Volume of Trade Transactions) के द्वारा निश्चित होती है। व्यापारिक सौदो की मात्रा के बढ जाने पर मुद्रा की माग बढ जाती है और उनके कम होन पर घट जाती है।

मुद्रा की माग की उपरोक्त धारणा को, जो इरविंग फिशर (Fisher) के द्वारा दी गई है, मार्शल, पीगू, राबर्टसन, हाटरे आदि अर्थशास्त्रियो ने दोषपूर्ण माना है। इन अर्थशास्त्रियो के अनुसार मुद्रा की माग विनिमय के माध्यम के लिए नही की जाती है बल्कि उसे तरल रूप मे रखने के लिए की जाती है। किसी समय-विशेष पर मुद्रा की माग समाज मे नकदी की कुल माग के बराबर होती है जो लोगो की तरलता पसदगी (Liquidity Preference) पर निर्भर रहती है। आधुनिक अर्थशास्त्रियो के अनुसार मुद्रा की माग व्यापारिक सौदो की मात्रा पर निर्भर नही है बल्कि वह इस बात पर निर्भर होती है कि जनता व विभिन्न सस्थायें अपना काम चलाने के लिए कितनी नकद मुद्रा की माग करते है। मुद्रा की माग का आधुनिक विचार इस बात पर आधारित है कि मुद्रा केवल विनिमय के माध्यम का कार्य ही नही करती है बल्कि उसे धन सचय के साधन के रूप मे भी प्रयोग किया जाता है। लोग मुद्रा की माग केवल व्यापारिक सौदो को निबटाने के लिए अर्थात् मुद्रा को खर्च करने के लिए ही नही करते है बल्कि वे भविष्य के लिए धन जमा करने के लिए भी उसकी माग करते है। विभिन्न उद्देश्यो के आधीन धन को तरल रूप मे रखने के लिए लोगो को जो मुद्रा की आवश्यकता होती है वही मुद्रा की माग है।

मुद्रा की पूर्ति—

मुद्रा की पूर्ति से अभिप्राय किसी समय विशेष मुद्रा की उस कुल मात्रा से होता है जो वस्तुओ तथा सेवाओ का विनिमय करने के लिए उपलब्ध होती है।

मुद्रा की वह मात्रा जो चलन में नहीं रहती है और जिसे लोग सचय (Hoard) कर लेते है वह मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित नहीं करती है। किसी एक क्षण पर मुद्रा की पूर्ति चलन में रहने वाली कुल मुद्रा की मात्रा के बराबर होती है। चलन में रहने वाली मुद्रा की मात्रा प्राय तीन प्रकार की मुद्राओं से मिल कर बनती है—(i) धात्विक मुद्रा की मात्रा (ii) पत्र मुद्रा की मात्रा तथा (iii) बैंक मुद्रा की वह मात्रा जिसे चैक (Cheque) के द्वारा निकाला जा सकता है। इन तीनों का योग चलन में मुद्रा की कुल मात्रा को निश्चित करता है। किसी एक क्षण पर मुद्रा की पूर्ति चलन में मुद्रा की कुल मात्रा के बराबर होती है किन्तु किसी समय विशेष में मुद्रा की पूर्ति को जानने के लिए हम उसके चलन वेग (Velocity of Circulation) को भी सम्मिलित करना होता है। मुद्रा की कुल पूर्ति, चलन में मुद्रा की मात्रा तथा मुद्रा के चलन वेग से मिल कर बनती है। उदाहरणार्थ यदि हम एक वर्ष में मुद्रा की कुल पूर्ति को जानना चाहते हैं तो हमें समाज में प्रयोग की जाने वाली समस्त मुद्रा की मात्रा तथा उस काल में मुद्रा के औसत चलन वेग का पता लगाना पड़ेगा और दोनों को गुणा करके इस काल में मुद्रा की कुल पूर्ति को जाना जा सकता है।

मुद्रा का चलन वेग—

मुद्रा इकाई जिस गति के साथ विनिमय के सौदों को निबटाने के लिए एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास जाती है, उस मुद्रा का चलन वेग कहते है। यदि एक निश्चित समय में मुद्रा इकाई १५ बार विनिमय का कार्य करने के लिए हस्तान्तरित की जाती है तो मुद्रा का चलन वेग १५ हो जाता है। किन्तु मुद्रा की पूर्ति को निकालते समय हम मुद्रा की प्रत्येक इकाई के चलन वेग को नहीं लेते है बल्कि मुद्रा के औसत चलन वेग (Average velocity of circulation of Money) का प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक बार जब मुद्रा चलती है तो वह उतना ही काम कर लेती है जितना कि मुद्रा की एक नई इकाई के द्वारा किया जा सकता है। यदि एक रुपया दिन भर में दस बार विनिमय के सौदों को निबटाता है तो वह अकेला रुपया दस रुपये के बराबर काम करता है और मुद्रा की पूर्ति को निकालते समय हम उसे एक रुपया न गिन कर दस रुपये गिनना चाहिए। सिक्का व कागज के नोटों के चलन वेग के अतिरिक्त साख मुद्रा का चलन वेग भी मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित करता है।

चलन वेग की अधिकता के कारण एक मामूली मूल्य का सिक्का भी बहुत अधिक मूल्य के विनिमय के सौदों को निबटा सकता है। राबर्टसन (Robertson) ने अपनी पुस्तक में एक मनोरंजक कहानी के द्वारा मुद्रा के चलन वेग के इस महत्व को स्पष्ट किया है। डर्बी की घुड़दौड़ के अवसर पर बॉब (Bob) और जो (Joe) दो मित्रों ने कुछ व्यापार करके लाभ पैदा करने का निश्चय किया। उन्होंने एक

बीयर (Beer) शराब का पीपा बाजार से खरीदा और उसे लेकर घुडदौड के मैदान की ओर चल पडे। उनका विचार था कि वे वहाँ पर ६ पैंस प्रति गिलास के हिसाब से बीयर बेचेंगे और जो लाभ होगा उसे आधा-आधा बाट लेंगे। गर्मी सख्त होने के कारण रास्ते में बॉब (Bob) को बहुत प्यास लगी। उसकी जेब में ३ पैंस का एक सिक्का बाकी था। उसने एक गिलास बीयर लेकर पी ली और जो (Joe) को उसके हिस्से के बदले मे वह ३ पैंस का सिक्का दे दिया। कुछ आगे चलने पर जो (Joe) को भी प्यास लगी और उसने वही ३ पैंस का सिक्का बॉब (Bob) को देकर एक गिलास बीयर पी ली। कुछ समय बाद फिर बॉब (Bob) को प्यास लगी और उसने वही तीन पैंस देकर एक और गिलास बीयर का पी लिया। इस प्रकार वह ३ पैंस का अकेला सिक्का बार-बार हस्तान्तरित होता रहा और दौड के मैदान तक पहुँचते-पहुँचते बीयर का पीपा खाली हो गया और ३ पैंस का सिक्का विनिमय का इतना अधिक कार्य करने के पश्चात् वापिस बॉब (Bob) की जेब में पहुँच गया। इस कहानी के द्वारा राबर्टसन (Robertson) ने यह स्पष्ट किया है कि चलन वेग के कारण ही तीन पैंस के मामूली सिक्के ने इतने अधिक मूल्य के विनिमय के सौदो को निबटा लिया। मुद्रा के चलन वेग का महत्व का इससे अधिक रोचक उदाहरण नही हो सकता है।

मुद्रा के चलन वेग को निर्धारित करने वाले तत्व
(Factors Determining the Velocity of Money)—

समाज मे मुद्रा का चलन वेग बदलता रहता है। जिसके कारण मुद्रा की पूर्ति मे भी परिवर्तन होता है। कभी मुद्रा विनिमय के सौदो को निबटाने के लिए तेजी के साथ चलने लगती हैं और उसका चलन वेग बढ जाता है और कभी उसके धीमा चलने के कारण चलन वेग कम हो जाता है। मुद्रा का चलन वेग अधिक होने पर उसकी पूर्ति बढ जाती है और चलन वेग कम होने पर पूर्ति कम हो जाती है। मुद्रा के चलन वेग को प्रभावित करने वाले अनेक तत्व है जिनमे से प्रमुख इस प्रकार है—

(१) समाज मे मुद्रा की मात्रा—मुद्रा का चलन वेग स्वय उसकी मात्रा पर निर्भर होता है। यदि किसी समय समाज मे चलने वाली कुल मुद्रा की मात्रा लोगो की आवश्यकता से कम होती है तो प्रत्येक व्यक्ति मुद्रा से अधिक से अधिक काम लेने का प्रयत्न करता है और मुद्रा को विनिमय के सौदो को निबटाने के लिए जल्दी-जल्दी चलना पडता है जिसके कारण उसका चलन वेग बढ जाता है। ऐसी स्थिति मे लोग मुद्रा का सग्रह भी कम करते है और अधिकाश मुद्रा सक्रिय रूप से चलन मे रहती है जिसका प्रभाव भी चलन वेग मे वृद्धि करने का होता है। इसके विपरीत यदि चलन मे मुद्रा की मात्रा लोगों की आवश्यकता से अधिक होती है तो मुद्रा धीरे-धीरे

विनिमय का कार्य करती है और उसका चलन वेग कम हो जाता है। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा के साथ-साथ उसका चलन वेग भी बदलता है।

(२) *बैंक तथा अन्य साख संस्थाओं का विकास*—देश मे बैंको तथा अन्य प्रकार की साख संस्थाओ के विकास का भी मुद्रा के चलन वेग पर प्रभाव पड़ता है। इन संस्थाओ के अधिक विकसित होने पर उधार लेने व देने तथा व्यय करने की सुविधायें बढ़ जाती है जिसके कारण मुद्रा का अधिक हस्तान्तरण होता है और मुद्रा के चलन वेग मे वृद्धि हो जाती है। यदि बैंक तथा साख संस्थाओ का पर्याप्त विकास नही हुआ है तो मुद्रा का चलन वेग कम रहता है।

(३) जनता की उपभोग तथा बचत सम्बन्धी आदतें—लोगो की बचत व *उपभोग सम्बन्धी आदतें भी मुद्रा के चलन वेग को प्रभावित करती हैं। यदि लोग* अधिक रुपया बचाते हैं और कम खर्च करते है तो मुद्रा का चलन वेग कम होता है और यदि उनमे व्यय करने की आदत अधिक है और बचत कम की जाती है तो मुद्रा के विश्राम का समय कम हो जाता है और उसका चलन वेग बढ़ जाता है। केन्स (Keynes) के अनुसार उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to Consume) अधिक होने की दशा मे मुद्रा का चलन वेग अधिक होता है। इसके विपरीत बचत की प्रवृत्ति (Propensity to Save) बढ़ने पर चलन वेग कम हो जाता है।

(४) *समाज मे भुगतान निबटाने के तरीके—समाज मे विभिन्न भुगतान* किस प्रकार निबटाये जाते हैं, इसका भी मुद्रा की चलन गति पर प्रभाव पड़ता है। यदि अधिकांश सौदो का भुगतान जल्दी तथा नकद रूप मे किया जाता है तो मुद्रा का चलन वेग अधिक होता है और यदि सौदो का भुगतान नकद रूप मे नही होता है अथवा देर से किया जाता है तो मुद्रा का चलन वेग कम रहता है। श्रमिको को भुगतान कितनी अवधि के पश्चात् किया जाता है, इसका प्रभाव भी मुद्रा के चलन वेग पर पड़ता है। मजदूरी भुगतान की अवधि जितनी लम्बी होगी उतनी ही अधिक नकद मुद्रा मजदूर अपनी दैनिक आवश्यकताओ के लिये रखेंगे, जिसके कारण मुद्रा का चलन वेग कम हो जायगा। मजदूरी का भुगतान दैनिक अथवा साप्ताहिक होने *की दशा मे मुद्रा का चलन वेग अधिक होगा।*

(५) मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने की सुविधायें—यदि यातायात व सन्देश वाहन के साधन इतने विकसित हैं कि रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने मे बहुत कम समय लगता है तो मुद्रा का चलन वेग अधिक होता है क्योकि वह बहुत कम समय के लिए निष्क्रिय रहती है। इसके अतिरिक्त यातायात व सन्देशवाहन के साधनो के विकसित होने मे विनिमय का क्षेत्र विस्तृत होता है और वस्तुओं का क्रय-विक्रय अधिक होने के कारण मुद्रा का चलन वेग बढ़ *जाता है।*

(६) देश की आर्थिक उन्नति—देश की आर्थिक उन्नति का भी मुद्रा के चलन वेग पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। एक उन्नत समाज मे आर्थिक क्रियायें तेजी

के साथ चलती है और मुद्रा के द्वारा किये जाने वाले सौदों की संख्या बहुत अधिक बढ जाती है जिसके कारण मुद्रा को तेजी के साथ कार्य करना पडता है और उसका चलन वेग बढ जाता है। इसके विपरीत कम उन्नत समाज मे मुद्रा को कम काम करना पडता है इसलिए उसका चलन वेग कम होता है।

(७) लोगों की तरलता पसन्दगी (Liquidity Preference)—जब लोगो की तरलता पसन्दगी अधिक होती है तो वे अपने पास अधिक मात्रा मे नकद रुपया रखते हैं जिसके कारण मुद्रा का चलन वेग कम हो जाता है। तरलता पसन्दगी कम होने की दशा मे मुद्रा का चलन वेग बढ जाता है।

(८) आय, व्यय तथा कीमतों सम्बन्धी भावी अनुमान—भविष्य मे कीमतो की प्रवृत्ति वर्तमान व्यापार की दशाओ को प्रभावित करती है जिसके कारण मुद्रा के चलन वेग मे भी परिवर्तन होता है। यदि भविष्य मे कीमतो के बढने की आशा होती है तो वस्तुओ का क्रय-विक्रय अधिक तेजी के साथ होने लगता है जिसके कारण मुद्रा का चलन वेग बढ जाता है। यदि भविष्य के बारे मे लोगो के अनुमान निराशापूर्ण होते हैं तो व्यापारिक सौदो की मात्रा घटती है और मुद्रा का चलन वेग कम हो जाता है।

(९) जनता में नकद माल खरीदने की आदत—यदि लोगो मे नकदी के बदले मे माल खरीदने की आदत होती है तो वे जल्दी-जल्दी भुगतान निबटाते हैं और मुद्रा का चलन वेग बढ जाता है। इसके विपरीत यदि वस्तुओ को साख के आधार पर खरीदा जाता है तो उनका भुगतान देर से होता है और मुद्रा का चलन वेग कम हो जाता है।

मुद्रा के चलन वेग मे वृद्धि होने का ठीक वही प्रभाव पडता है जो मुद्रा की मात्रा के बढने का होता है। चलन वेग के बढने पर मुद्रा की पूर्ति बढ जाती है और कम होने पर घट जाती है। इस प्रकार मुद्रा की कुल पूर्ति उसकी मात्रा तथा चलन वेग दोनो पर आधारित होती है। जबकि अन्य वस्तुओ की पूर्ति को केवल उनकी मात्रा मे वृद्धि करके ही बढाया जा सकता है मुद्रा की पूर्ति उसके चलन वेग मे वृद्धि होने के कारण भी बढ सकती है। यह मुद्रा की पूर्ति की एक ऐसी विशेषता है जो उसे अन्य वस्तुओ से भिन्न करती है। मुद्रा के परिमाण को उसके चलन वेग से गुणा कर देने पर हमे मुद्रा की कुल पूर्ति मालूम हो जाती है अर्थात् मुद्रा की कुल पूर्ति = मुद्रा का परिमाण × मुद्रा का चलन वेग (Total supply of Money = Quantity of Money × Velocity of Money) यदि मुद्रा के परिमाण को 'म' (M) से व्यक्त करे और मुद्रा के चलन वेग को 'व' (V) से, तो मुद्रा की पूर्ति 'म व' (MV) के बराबर होती है।

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त—

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त काफी प्राचीन है किन्तु समय-समय पर अर्थ-शास्त्रियो के द्वारा इसमे संशोधन किये जाते रहे हैं जिसके कारण सिद्धान्त का

वर्तमान रूप उसके प्राचीन रूप से भिन्न हो गया है। परिमाण सिद्धान्त का निर्माण सर्वप्रथम किसने किया, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। किन्तु कुछ लोगो का विचार है कि १६ वी शताब्दी मे एक इटैलियन लेखक दवनजैत्ती (Davanzatti) के द्वारा यह सिद्धान्त सर्वप्रथम प्रस्तुत किया गया। उसके पश्चात् लॉक (Locke) व ह्यूम (Hume) ने इसका विकास किया तथा मिल (Mill) के द्वारा इस सिद्धान्त मे महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। वर्तमान युग मे फिशर (Fisher) और कैमरर (Kemmerer) ने परिमाण सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या की है।

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त माग और पूर्ति के सिद्धान्त का ही एक विशेष रूप है। यद्यपि इस सिद्धान्त के समर्थकों ने यह माना है कि मुद्रा का मूल्य भी अन्य वस्तुओं की भाँति उसकी माग और पूर्ति के द्वारा निश्चित होता है किन्तु उनका विचार है कि मुद्रा की माग निश्चित रहने के कारण मुद्रा का मूल्य केवल उसकी पूर्ति पर आधारित हो जाता है। मुद्रा की माग एक निश्चित समय मे स्थिर रहती है और उसमे कोई परिवर्तन नही होते है। माग निष्क्रिय रहने के कारण मुद्रा के मूल्य को किसी प्रकार भी प्रभावित नहीं करती है और वह केवल मुद्रा की पूर्ति पर निर्भर रहता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार मुद्रा का मूल्य उसके परिमाण के द्वारा निर्धारित होता है। इसीलिए इस सिद्धान्त को मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त कहा जाता है।

यह सिद्धान्त मुद्रा की मात्रा तथा उसके मूल्य मे सम्बन्ध स्थापित करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा का मूल्य उसके परिमाण पर निर्भर होता है। यदि अन्य बात समान रहे तो मुद्रा के परिमाण के बढ जाने पर उसका मूल्य उसी अनुपात मे गिर जाता है और कम होने पर उसी अनुपात मे बढ जाता है। इस प्रकार मुद्रा के मूल्य मे तथा उसके परिमाण मे विपरीत एव अनुपातिक सम्बन्ध है। सिद्धान्त यह भी बतलाता है कि मुद्रा की मात्रा तथा मूल्य स्तर मे सीधा सम्बन्ध है। अन्य बाते समान रहने पर, मुद्रा के परिमाण के बढ जाने पर मूल्य-स्तर बढ जाता है और कम होने पर घट जाता है। उदाहरणार्थ यदि समाज मे १०० रु० प्रचलन मे हैं और विनिमय की जाने वाली वस्तुओं की संख्या भी १०० है तो प्रत्येक वस्तु का मूल्य १ रुपया होगा। किन्तु यदि वस्तुओं की संख्या वही रहती और प्रचलन मे रुपये की मात्रा बढ कर २०० रु० हो जाती है तो अब प्रत्येक वस्तु का मूल्य बढ कर २ रु० हो जायगा। इसी प्रकार यदि प्रचलन मे रुपये की मात्रा को घटा कर ५० रु० कर दिया जाय तो प्रत्येक वस्तु का मूल्य गिर कर आठ आने रह जायगा। यह इस बात को स्पष्ट करता है कि मुद्रा की मात्रा और मूल्य-स्तर मे सीधा एव अनुपातिक सम्बन्ध है।

परिमाण सिद्धान्त हमें बतलाता है कि मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होने पर यदि बेची जाने वाली वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा मे कोई वृद्धि नहीं होती है तो

मूल्य-स्तर बढ़ जाता है और मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है। इसके विपरीत मुद्रा की मात्रा के कम होने पर मूल्य-स्तर गिर जाता है और मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है। मुद्रा की मात्रा में और मूल्य-स्तर में केवल सीधा सम्बन्ध ही नहीं है बल्कि यह सम्बन्ध अनुपातिक भी है। जिस अनुपात में मुद्रा की मात्रा बढ़ती-घटती है ठीक उसी अनुपात में मूल्य-स्तर भी बढ़ता-घटता है। यदि माग निश्चित रहे और मुद्रा की पूर्ति दुगनी हो जाय तो मूल्य-स्तर भी दुगना हो जायगा और मुद्रा का मूल्य आधा रह जायगा। इसके विपरीत मुद्रा की पूर्ति के आधा रह जाने पर मूल्य-स्तर आधा हो जाता है और मुद्रा का मूल्य दुगना हो जायगा। जॉन स्टुअर्ट मिल (J S. Mill) ने सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है—'अन्य बातें समान रहने पर मुद्रा का मूल्य अपने परिमाण से उलटी दिशा में बदलता है, परिमाण की प्रत्येक वृद्धि मूल्य को उसी अनुपात में कम कर देती है और प्रत्येक कमी उसे ठीक उसी अनुपात में बढ़ा देती है।"[9] प्रो० टॉसिग (Taussig) ने इसी सिद्धान्त को इस प्रकार बतलाया है—"अन्य बातें समान रहने पर यदि मुद्रा की मात्रा को दुगना कर दिया जाये तो वस्तुओं के मूल्य पहले की अपेक्षा दुगने हो जायेंगे और मुद्रा का मूल्य आधा, और यदि मुद्रा के परिमाण को आधा कर कर दिया जाये तो वस्तुओं के मूल्य पहले से आधे रह जायेंगे और मुद्रा का मूल्य दुगना हो जायेगा।"[10] विक्सैल मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं 'मुद्रा का मूल्य अथवा उसकी क्रय-शक्ति उसके परिमाण से विपरीत अनुपात में बदलती है। जिससे कि मुद्रा के परिमाण की प्रत्येक वृद्धि अथवा कमी, अन्य बातें समान रहने पर अन्य वस्तुओं के रूप में उसकी क्रय-शक्ति में अनुपातिक कमी अथवा वृद्धि करेगी और इस प्रकार वस्तुओं की कीमतों में भी उतनी ही वृद्धि अथवा कमी होगी।"[11] राबर्टसन के अनुसार "मुद्रा की माग की दशाएँ निश्चित रहने पर उसका मूल्य उसकी उपलब्ध मात्रा से विपरीत दिशा में बदलता है। दूसरे शब्दों में सामान्य मूल्य-स्तर मुद्रा की उपलब्ध मात्रा के सीधे

9 "The value of money, other things being the same varies inversely as its quantity, every increase of quantity lowers the value and every diminition raising it in a ratio exactly equivalent "

—*J S Mill* Political Economy, vol II, 1862, P 15.

10 "Double the quantity of money and, other things being equal, prices will be twice as high as before and the value of money one half. Halve the quantity of money and, other things being equal, prices will be half of what they were before and the value of money double." —*Taussig*.

11. "The value or purchasing power of money varies in inverse proportion to its quantity, so that an increase or decrease in the quantity of money, other things being equal, will cause a proportionate decrease or increase in its purchasing power in terms of other goods, and thus a corresponding increase or decrease in all commodity prices "

—*Knut Wicksell*,: Lectures on Political Economy, vol, II, P. 141.

अनुपात में बदलता है।"[१२] उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर दो बातें स्पष्ट हो जाती है—प्रथम, मुद्रा की मात्रा और उसके मूल्य में विपरीत एव अनुपातिक सम्बन्ध है। द्वितीय, मुद्रा की मात्रा और सामान्य मूल्य-स्तर में प्रत्यक्ष एव अनुपातिक सम्बन्ध होता है।

परिमाण सिद्धान्त का समीकरण

आरम्भ में ही अर्थशास्त्रियो ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को समझाने के लिए गणित विधि का प्रयोग किया है। मुद्रा के परिमाण तथा मूल्य-स्तर के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए समीकरण का प्रयोग किया गया है। परिमाण सिद्धान्त के सम्बन्ध मे दिये जाने वाले समीकरण में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। प्राचीन अर्थशास्त्रियों के द्वारा दिया जाने वाला समीकरण इस प्रकार था, $P=M/T$। इस समीकरण म M किसी समय-विशेष पर चलन मे मुद्रा की मात्रा को बतलाता है तथा T बाजार में बिक्री के लिए आने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं को सूचित करता है और P सामान्य मूल्य-स्तर के लिए प्रयोग किया गया है। प्राचीन अर्थशास्त्री मुद्रा की पूर्ति का अर्थ देश मे चलन की कुल मात्रा से लगाते थे और मुद्रा के चलन वेग को उसमे सम्मिलित नहीं करते थे। मुद्रा की मात्रा मे भी केवल धात्विक मुद्रा की मात्रा को ही सम्मिलित किया जाता था और साख मुद्रा को सम्मिलित नहीं किया जाता था।

प्रो० मिल (Mill) तथा कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो ने सिद्धान्त के उपरोक्त रूप को दोषपूर्ण बतलाया और उसमें महत्वपूर्ण संशोधन किये। इन लोगों का मत था कि मुद्रा की पूर्ति केवल उसकी मात्रा के द्वारा ही निश्चित नहीं होती है बल्कि उस पर मुद्रा के चलन वेग का भी प्रभाव पडता है। इनके अनुसार किसी समय मे मुद्रा की पूर्ति उसकी मात्रा तथा चलन वेग को गुणा करके निकाली जा सकती है। मिल (Mill) के द्वारा दिया गया समीकरण निम्नलिखित है—

कव=मच अथवा $PT=MV$

या $\text{क}=\frac{\text{मच}}{\text{व}}$ अथवा $P=\frac{MV}{T}$

इस समीकरण में—

म (M)=मुद्रा की चलन में कुल मात्रा

च (V) =मुद्रा का चलन वेग

व (T) =व्यापारिक सौदों की कुल मात्रा

क (P) =सामान्य मूल्य-स्तर

---

12 *"Given the conditions of demand for money, its value varies inversely as the quantity available or in other words the general level of prices varies directly as the quantity available."*

—*D. H. Robertson*: Money P. 32.

ऊपर दिये गये समीकरण में च (V) और व (T) को निश्चित मान लिया गया है अर्थात् न तो मुद्रा के चलन वेग में कोई परिवर्तन होता है और न मुद्रा की माग ही बदलती है। ऐसी दशा में सामान्य मूल्य-स्तर मुद्रा के परिमाण पर निर्भर होता है। परिमाण के बढने पर यह बढ जाता है और घटने पर कम हो जाता है।

फिशर का समीकरण

अमेरिका के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो० इरविंग फिशर ने उपरोक्त समीकरण को दोषपूर्ण बतलाया है क्योंकि इस समीकरण में मुद्रा की पूर्ति में साख मुद्रा को सम्मिलित नही किया गया है। उनके अनुसार यह समीकरण एक सभ्य तथा विकसित समाज के लिए अनुपयुक्त है। वर्तमान समाज मे विनिमय का कार्य करने के लिए नकद मुद्रा के साथ साख मुद्रा का प्रयोग भी किया जाता है। आर्थिक उन्नति के साथ साख मुद्रा का प्रयोग निरन्तर बढता जा रहा है और कुछ एक देशो मे तो साख मुद्रा नकद मुद्रा से भी अधिक महत्वपूर्ण हो गई है। ऐसी दशा मे मुद्रा की पूर्ति मे साख मुद्रा और उसके चलन वेग को सम्मिलित करना आवश्यक है। प्रो० फिशर का विचार है की कुल पूर्ति को हम केवल नकद मुद्रा की मात्रा और उसके चलन वेग के द्वारा नही जान सकते है बल्कि उसमे साख मुद्रा और उसका चलन वेग भी सम्मिलित होना चाहिए। उपरोक्त सिद्धान्त मे सशोधन करने के पश्चात् डा० फिशर ने निम्नलिखित समीकरण दिया है—

कव=मच+सचा अथवा $PT = MV + M'V'$ अथवा कव=मच+सचा

$$\therefore \quad \text{क} = \frac{\text{मच} + \text{सचा}}{\text{व}} \quad \text{अथवा} \quad = P\frac{MV + M'V'}{T} \quad \text{अथवा} \quad \text{क} = \frac{\text{मच} + \text{सचा}}{\text{व}}$$

इस समीकरण में क (P) = सामान्य मूल्य-स्तर
म (M) = नकद मुद्रा की मात्रा
च (V) = नकद मुद्रा का चलन वेग
स ('M) = साख मुद्रा की पूर्ति
चा (V') = साख मुद्रा का चलन वेग
व (T) = व्यापारिक सौदो की मात्रा

प्रो० फिशर के अनुसार अल्पकाल मे च, चा (V, V') तथा व (T) स्थिर रहते है तथा म (M) और स (M') की मात्रा मे एक निश्चित सम्बन्ध होता है जिसके कारण मूल्य-स्तर क (P) केवल नकद मुद्रा की मात्रा म (M) से ही प्रभावित होता है। मुद्रा का चलन वेग च (V) और चा (V') इसलिए नही बदलता है क्योंकि वह लोगो की आदतो तथा उनके व्यापार करने के तरीको पर निर्भर होता है जिनमे अल्पकाल के कोई परिवर्तन नही होता है। व्यापारिक सौदो की मात्रा व (T) इसलिए स्थिर रहती है क्योंकि अल्पकाल मे न तो जनसख्या बदलती है और न उत्पत्ति की मात्रा मे कोई परिवर्तन होता है जिसके कारण प्रति व्यक्ति उत्पादन निश्चित रहता

है। उत्पत्ति के तरीके तथा लोगों की उपभोग सम्बन्धी आदतें भी प्रायः स्थिर रहती हैं। इन कारणों से मुद्रा की माग निश्चित रहती है और उसकी पूर्ति मे होने वाले परिवर्तनों के कारण ही मूल्य-स्तर बदलता है। म (M) और स (M') मे निश्चित सम्बन्ध इसलिए रहता है क्योंकि बैंकों को साख मुद्रा का निर्माण करने के लिए एक निश्चित मात्रा मे नकद मुद्रा उसके पीछे रखनी होती है। उपरोक्त विश्लेषण के द्वारा प्रो० फिशर ने दो निर्णय निकाले हैं (१) मूल्य-स्तर इसलिए बदलता है क्योंकि मुद्रा की मात्रा बदलती है—किसी अन्य कारण से नहीं। (२) मूल्य स्तर में परिवर्तन ठीक उसी अनुपात मे होते है जिस अनुपात मे मुद्रा की मात्रा बदलती है। इस प्रकार प्रो० फिशर ने बतलाया कि सामान्य मूल्य-स्तर क (P) और मुद्रा के परिमाण म (M) मे सीधा तथा अनुपातिक सम्बन्ध होता है।

परिमाण सिद्धान्त की आलोचनाएँ

प्रो० फिशर के परिमाण सिद्धान्त की वर्तमान अर्थशास्त्रियों के द्वारा कडी आलोचना की गई है। कुछ लोगों ने तो यहा तक कहा है कि 'अपनी मान्यताओं के होते हुए, परिमाण सिद्धान्त एक बेकार का सत्य है।"[13] सिद्धान्त की मुख्य आलोचनायें निम्नलिखित है—

(१) यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि अन्य बातें समान रहती हैं किन्तु वास्तव मे अन्य बातें समान नहीं रहती हैं। सिद्धान्त की अधिकाश मान्यतायें अवास्तविक है जिनके कारण उसका व्यवहारिक महत्व बहुत कम रह जाता है। परिमाण सिद्धान्त मे यह मान लिया गया है कि मुद्रा की माग व (T) निश्चित रहती है और उस पर मूल्य-स्तर क (P) का कोई प्रभाव नहीं पडता है। किन्तु वास्तविक जीवन मे मुद्रा की माग निश्चित नहीं रहती है और उसमे परिवर्तन आते रहते हैं। देश मे उत्पत्ति की मात्रा बदलती रहती है तथा लोगों की उपभोग सम्बन्धी आदतों मे भी परिवर्तन होते हैं। उत्पादन रीतियों मे वैज्ञानिक सुधार हो सकते हैं तथा बेकार साधनों को प्रयोग मे लाया जा सकता है। इन सब कारणों मे मुद्रा की माग मे परिवर्तन होते रहते है। केवल पूर्ण रोजगार बिन्दु (Full Employment Point) पर ही वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा स्थिर रहती है और वह भी केवल थोडे समय के लिए। इसके अतिरिक्त व्यापारिक सौदों की मात्रा व (T), मुद्रा की मात्रा म (M) तथा मूल्य-स्तर क (P) मे होने वाले परिवर्तनों से भी प्रभावित होती है और उसे उनसे स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता है। मूल्य-स्तर क (P) के बढने पर व्यापारिक सौदों की मात्रा व (T) बढ जाती है और कम होने पर घट जाती है। इसी प्रकार मुद्रा के चलन वेग च (V) और चा (V') को न तो निश्चित ही माना जा सकता और न वह म (M) मुद्रा की मात्रा तथा क (P) मूल्य-स्तर

13 "With the qualifications, 'other things remaining the same' it is a useless truism."

से स्वतन्त्र ही होता है मूल्य-स्तर के ऊँचे होने पर अधिक व्यापारिक क्रियायें होने के कारण मुद्रा का चलन वेग बढ़ जाता है और उसे जल्दी-जल्दी सौदों को निबटाना पड़ता है। इसके दूसरी ओर मुद्रा संकुचन की स्थिति मे व्यापारिक क्रियाये कम होने के कारण मुद्रा का चलन वेग घट जाता है। इसके अतिरिक्त कई अन्य कारणों से भी मुद्रा के चलन वेग मे परिवर्तन हो सकते है।

प्रो० फिशर की यह मान्यता भी गलत है कि नकद मुद्रा म (M) और साख मुद्रा स (M') की मात्रा मे एक निश्चित सम्बन्ध होता है। यद्यपि बैंक साख जारी करते समय उसके पीछे एक निश्चित अनुपात मे नकद मुद्रा कोष के रूप मे रखते है किन्तु वे इस नकद कोष के अनुपात मे परिवर्तन करके नकद रुपये की मात्रा मे कोई वृद्धि हुए बिना ही साख की मात्रा को बढा सकते है। इस प्रकार नकद रुपये म (M) की मात्रा मे और साख मुद्रा स (M') की मात्रा में कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं रहता है। उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परिमाण सिद्धान्त जिन बातों को स्थिर मानता है वे वास्तविक जीवन मे स्थिर नहीं रहती है।

(२) मुद्रा की मात्रा के बदलने पर मूल्य-स्तर में अनुपातिक परिवर्तन नहीं होते है। प्रो० फिशर के अनुसार मूल्य-स्तर ठीक उसी अनुपात मे बदलता है जिस अनुपात मे मुद्रा की मात्रा बदलती है, किन्तु वास्तव मे ऐसा नही होता है। यह तो ठीक है कि मुद्रा की मात्रा बदलने पर मूल्य-स्तर बदलता है किन्तु यह कहना ठीक नही है कि वह उसी अनुपात मे बदलता है जिस अनुपात मे मुद्रा की मात्रा घटती-बढती है। यह हो सकता है कि मूल्य-स्तर मे होने वाले परिवर्तन मुद्रा की मात्रा मे होने वाले परिवर्तनो से कम या अधिक अनुपात मे हो। इसीलिए यह कहा जाता है कि 'मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त यदि एक प्रवृत्ति की ओर सकेत करता है तो वह ठीक है, किन्तु यदि वह हमारे सामने गणित का एक निश्चित सूत्र रखना चाहता है तो उसका महत्त्व समाप्त हो जाता है।' केवल विशेष दशाओं मे ही यह सम्भव होता है कि मुद्रा की मात्रा के दुगना होने पर मूल्य-स्तर भी दुगना हो जाय और आधा होने पर मूल्य-स्तर आधा रह जाय। यदि देश मे बेकार साधन है अथवा देश वस्तु विनिमय के स्थान पर मुद्रा प्रणाली को अपना रहा है तो ऐसी दशा में मुद्रा की मात्रा के बढाये जाने पर मूल्य-स्तर बहुत कम बढेगा या बिल्कुल नही, क्योंकि नई मुद्रा का प्रयोग बेकार साधन, को काम मे लाने के लिए किया जा सकता है। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा और मूल्य-स्तर मे अनुपातिक सम्बन्ध नही होता है।

(३) मूल्य-स्तर में होने वाले परिवर्तनों का एकमात्र कारण मुद्रा की मात्रा का बदलना नहीं है। परिमाण सिद्धान्त के अनुसार मूल्य-स्तर के घटने-बढने का एकमात्र कारण मुद्रा की मात्रा मे कमी या वृद्धि होना है। यह तो ठीक है कि मुद्रा की मात्रा मूल्य-स्तर पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है किन्तु वह उसके बदलने का

एकमात्र कारण नहीं है। मूल्य-स्तर अन्य कारणों से भी बदल सकता है। मूल्य-स्तर पर प्रभाव डालने वाले बहुत से कारण हैं और उनमें से मुद्रा की मात्रा केवल एक है। आय, व्यय, बचत, विनियोग आदि का प्रभाव भी मूल्य-स्तर पर होता है। यदि मूल्य-स्तर केवल मुद्रा की मात्रा पर आधारित होता तो मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करके अवसाद (Depression) को रोकना सम्भव होना चाहिए। किन्तु अनुभव बिल्कुल इसके विपरीत रहा है और यह देखा गया है कि अवसाद काल में मूल्य-स्तर मुद्रा की मात्रा में किसी विशेष कमी के न होते हुए भी गिरने लगता है और मुद्रा की मात्रा के बढ़ाने पर भी मूल्य-स्तर में वृद्धि नहीं होती है। वास्तव में यह सिद्धान्त मूल्य-स्तर में होने वाले उन परिवर्तनों को समझाने में असफल है जो व्यापार चक्रों के कारण पैदा होते हैं।

(४) परिमाण सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की मात्रा का बढ़ना कारण है और मूल्य-स्तर का बढ़ना उसका परिणाम किन्तु सदैव ऐसा नहीं होता है। कभी-कभी मूल्य-स्तर के बढ़ने के कारण भी मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो सकती है। ऊँची कीमतें व्यापारिक आशावाद को जन्म देती हैं, जिसके कारण व्यवसायी अधिक मुनाफा प्राप्त करने के लिए व्यापार तथा उद्योग का विस्तार करते हैं और नया विनियोग करने के लिए बैंकों से रुपये की माँग करते है। बैंक अपने ग्राहकों की इस माँग को पूरा करने के लिए नई साख का निर्माण करते हैं और इस प्रकार मुद्रा की मात्रा चलन में बढ़ जाती है। ऐसी दशा में मूल्य-स्तर का बढ़ना कारण हो जाता है और मुद्रा की मात्रा का बढ़ना उसका परिणाम। किन्तु आलोचकों का यह तर्क बहुत अधिक ठीक नहीं है क्योंकि प्रायः यह देखा गया है कि पहले मुद्रा की मात्रा बढ़ती है और उसके पश्चात् मूल्य-स्तर में वृद्धि होती है।

(५) यह सिद्धान्त इस बात को बताने में असमर्थ है कि मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तन किस प्रकार मूल्य-स्तर पर अपना प्रभाव डालते हैं। सिद्धान्त हमें केवल इतना बतलाता है कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने पर मूल्य-स्तर बदल जाता है किन्तु यह सब कैसे होता है, इसका उत्तर नहीं देता है। डा० हेयक (Hayek) तथा हाट्रे (Hawtrey) का मत है कि मुद्रा परिमाण के परिवर्तन मूल्य-स्तर पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव नहीं डालते हैं। उनका प्रभाव सर्वप्रथम ब्याज की दर के ऊपर होता है और फिर ब्याज की दरों में परिवर्तन उत्पादन में पूँजी के विनियोग को प्रभावित करते हैं और अन्त में उनका प्रभाव मूल्य-स्तर तथा उत्पत्ति की मात्रा पर पड़ता है। परिमाण सिद्धान्त के इसी दोष को बतलाते हुए विहटेकर (Whittaker) ने कहा है कि "परिमाण सिद्धान्त मूल्य-स्तर की कार्य विधि की व्याख्या के रूप में प्रशंसनीय है किन्तु कारणों की व्याख्या के सम्बन्ध में इसमें भयंकर दोष पाये जाते हैं।"[१४] श्रीमती जॉन राबिनसन (Joan Robinson) के

14 'The quantity theory is admirable as an elucidation of the mechanism involved in the price level, but as an explanation of causation, it has serious shortcoming.' —*Whittaker.*

अनुसार यह सिद्धान्त इसलिए दोषपूर्ण है क्योंकि वह मुद्रा सिद्धान्त को ब्याज के सिद्धान्त से पृथक करने का प्रयत्न करता है और मुद्रा की मात्रा के ब्याज की दरो पर होने वाले प्रभावो को नही बतलाता है।

(६) प्रो० केन्स (Keynes) के अनुसार परिमाण सिद्धान्त मुद्रा की क्रय-शक्ति को नहीं नापता है और केवल नकद सौदो के औसत मूल्य को बतलाता है। इस सिद्धान्त मे जिन व्यापारिक सौदो को लेकर हम मुद्रा के मूल्य को निश्चित करते हैं उनमे से अधिकाश औद्योगिक, व्यापारिक तथा वित्तीय सौदे होते है जबकि मुद्रा की क्रय-शक्ति उपभोग के लिए खरीदी जाने वाली वस्तुओ तथा सेवाओ के सौदो पर निर्भर होती है। इस प्रकार प्रो० फिशर का समीकरण मुद्रा की क्रय-शक्ति को नापने मे बिल्कुल असमर्थ है। वह केवल मुद्रा के द्वारा किये जाने वाले विभिन्न सौदो के औसत मूल्य को बतलाता है। प्रो० केन्स के अनुसार परिमाण सिद्धान्त केवल नकद सौदो का माप (Cash Transaction Standard) प्रस्तुत करता है।

(७) सिद्धान्त केवल दीर्घकालीन प्रवृत्ति को बतलाता है। प्रो० केन्स (Keynes) ने परिमाण सिद्धान्त को इसलिए भी दोषपूर्ण बतलाया है क्योकि वह मूल्य-स्तर मे होने वाले दीर्घकालीन परिवर्तनो के विषय मे तो बतलाता है किन्तु यह नही बतलाता कि अल्पकाल मे मूल्य-स्तर क्यो बदलता है। मुद्रा के मूल्य मे होने वाले अल्पकालीन परिवर्तन हमारे आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव डालते है, इसलिए उनके विषय मे जानना अधिक आवश्यक है। इस दृष्टि से सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्व बहुत कम हो जाता क्योकि वह मूल्य-स्तर के अल्पकालीन परिवर्तनो का कोई विश्लेषण नही करता है। प्रो० केन्स के अनुसार दीर्घकालीन अध्ययन का कोई लाभ नही है क्योंकि 'दीर्घकाल मे तो हम सब मर जायेंगे।' अल्पकाल मे मूल्य-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो के विषय मे जानना अधिक आवश्यक है किन्तु परिमाण सिद्धान्त इस विषय में कुछ नही बतलाता है।

(८) इस सिद्धान्त में मुद्रा की पूर्ति पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया है। यद्यपि यह सिद्धान्त माग और पूर्ति के सिद्धान्त का ही एक विशेष रूप है किन्तु इसमे मुद्रा की माग को निश्चित मानकर, उसके मूल्य-स्तर पर होने वाले प्रभावो को भुला दिया गया है और मूल्य-स्तर को केवल मुद्रा के परिमाण पर आधारित कर दिया गया। वास्तव मे मुद्रा की माग और पूर्ति दोनो ही उसके मूल्य को प्रभावित करती है और उनमे से किसी एक के आधार पर मुद्रा के मूल्य का विश्लेषण करना उचित नही है। मुद्रा की माग भी मूल्य-स्तर पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है और किसी भी सम्पूर्ण मौद्रिक सिद्धान्त को माग और पूर्ति की दोनो शक्तियो का विश्लेषण करके मुद्रा के मूल्य निर्धारण को समझाना चाहिए। प्रो० हेयक (Hayek) के अनुसार परिमाण सिद्धान्त ने बिना किसी उचित कारणो के ही मुद्रा सिद्धान्तों मे एक केन्द्रीय स्थान प्राप्त कर लिया है और इस दृष्टिकोण से वह अर्थशास्त्र की प्रगति मे बाधा है। उनके विचार मे "इस सिद्धान्त का एक बहुत

हानिकारक प्रभाव यह है कि उसने मुद्रा के सिद्धान्त को सामान्य आर्थिक सिद्धान्त से अलग कर दिया है।"

(६) व्यापार चक्रों के कारण मूल्य-स्तर में होने वाले परिवर्तनों को इस सिद्धान्त के द्वारा नहीं समझा जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मूल्य-स्तर के घटने-बढने का एकमात्र कारण मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होना है किन्तु समृद्धि (Prosperity) अथवा अवसाद (Depression) काल में मूल्य-स्तर, मुद्रा की मात्रा में कोई परिवर्तन हुए बिना ही बदलता है। मूल्य-स्तर में इस प्रकार का परिवर्तन क्यों होता है, इसका जवाब परिमाण सिद्धान्त नहीं देता है। क्राउथर (Crowther) ने *परिमाण सिद्धान्त के इस दोष की ओर संकेत करते हुए कहा है कि* "परिमाण सिद्धान्त व्यापार चक्र के कारणों को बतलाने में असमर्थ है। उनके अनुसार सामान्य लम्बे काल में मुद्रा का परिमाण मूल्य-स्तर पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है किन्तु व्यापार चक्र के अल्प काल में वह मूल्य-स्तर के परिवर्तनों को नियन्त्रित कर भी सकता है और नहीं भी।"[१५]

परिमाण सिद्धान्त का महत्व—

उपरोक्त आलोचनाओं के देखने से पता चलता है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त काफी दोषपूर्ण है। *वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त को अवास्तविक* तथा असन्तोषजनक बतलाया है। प्रो० हेयक (Hayek) तो इसे सिद्धान्त मानने में भी इन्कार करते हैं और अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों में इसे कोई महत्व नहीं देते हैं। प्रो० केन्स (Keynes) के अनुसार यह सिद्धान्त काल्पनिक तथा अधूरा है क्योंकि यह केवल मौद्रिक सौदों के औसत मूल्य को ही बतलाता है और मुद्रा की सामान्य क्रय-शक्ति के विषय में हमें ठीक ठीक ज्ञान नहीं देता है। किन्तु इन सब दोषों के होते हुए भी परिमाण सिद्धान्त में सत्य का अंश पाया जाता है और उसे हम बेकार का सिद्धान्त नहीं कह सकते हैं। डा० फिशर का यह सिद्धान्त आजकल पूर्ण रूप से नहीं माना जाता है किन्तु फिर भी इस सिद्धान्त का महत्व है क्योंकि इसमें सामान्य मूल्य-स्तर पर प्रभाव डालने वाले सभी कारणों को एक जगह इकट्ठा कर दिया गया है। परिमाण सिद्धान्त आज भी मुद्रा के मूल्य निर्धारण का आधार माना जाता है। यद्यपि यह सिद्धान्त गणितात्मक दृष्टि से बहुत अधिक सही नहीं है किन्तु एक प्रवृत्ति के द्योतक के रूप में यह काफी महत्वपूर्ण है।

परिमाण सिद्धान्त इस सत्य को बतलाता है कि मुद्रा की मात्रा के बढने पर मूल्य-स्तर में वृद्धि होती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब भी मुद्रा की मात्रा को बहुत अधिक बढाया गया है तो मूल्य-स्तर में भी वृद्धि हुई है। सन्

15 "the quantity of money in existence seems to be the dominant influence on the price level on the average of long periods But in the short period of the trade cycle, it may or may not control the movements of prices." —*Crowther* An Outline of Money, P 117.

१९१४–१८ के युद्ध काल में जर्मनी में कागजी मुद्रा का अत्यधिक प्रसार होने के कारण वस्तुओं के मूल्यों में बहुत अधिक वृद्धि हुई। द्वितीय विश्व-युद्ध काल में भारतवर्ष तथा अन्य देशों में मूल्य-स्तर के तेजी से बढ़ने का मुख्य कारण कागजी नोटों का अधिक मात्रा में जारी किया जाना था। व्यावहारिक दृष्टि से भी सिद्धान्त काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि वह मुद्रा की अत्यधिक निकासी के भय की ओर संकेत करता है और मौद्रिक अधिकारियों के लिए एक प्रकार के खतरे के निशान का कार्य करता है। परिमाण सिद्धान्त वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य को स्थिर रखने में सहायता देता है और कीमतों को नियन्त्रित रखने का एक अच्छा उपाय बतलाता है। मूल्य-स्तर पर नियन्त्रण करने के लिए इस सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता है। मुद्रा की मात्रा को घटाकर मूल्य-स्तर को बढ़ने से रोका जाता है तथा उसे बढ़ाकर मूल्य-स्तर को ऊँचा उठाया जाता है। रॉबर्टसन (Robertson) ने परिमाण सिद्धान्त के महत्व को बतलाते हुए कहा है—"मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा के मूल्य को समझने के लिए एक विचित्र सत्य है। यह एक ऐसा सत्य है जिसका समझना वास्तविक जीवन में मुद्रा की मात्रा और वस्तुओं की कीमत के सम्पर्क को समझने के लिए आवश्यक है।"

सिद्धांत का वर्तमान रूप—केम्ब्रिज समीकरण (Cambridge Equation)—

केम्ब्रिज स्कूल के अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का निर्माण एक नये दृष्टिकोण से किया है। इन लोगों के द्वारा दिये गए सिद्धान्त को 'नकद जमा परिमाण' (cash balance type of quantity theory) कहते हैं। इस सिद्धान्त के मुख्य निर्माता मार्शल, पीगू, हॉटरे तथा रॉबर्टसन आदि हैं। केम्ब्रिज समीकरण (Cambridge Equation) इंगलैंड तथा यूरोप में अधिक प्रचलित रहा है, किन्तु अमेरिका में फिशर के सिद्धान्त को अधिक माना जाता है।

मुद्रा की माग के सम्बन्ध में केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों का विचार प्रो० फिशर से बिल्कुल भिन्न है। फिशर के अनुसार मुद्रा की माग केवल विनिमय के माध्यम का कार्य करने के लिए की जाती है। मुद्रा केवल एक रेलवे टिकट के समान है, जिसकी माग उसे इक्ट्ठा करने के लिए नहीं की जाती है, बल्कि एक निश्चित स्थान तक पहुँचने के लिए की जाती है। इसके दूसरी ओर केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा की माग क्रय-शक्ति को सचय करने के साधन के रूप में भी की जाती है। मुद्रा केवल रेल के टिकट की तरह ही प्रयोग नहीं की जाती है, बल्कि लोग उसे नकद रूप में अपने पास रखना चाहते हैं। इस प्रकार मुद्रा की माग इस बात पर निर्भर होती है कि लोग अपने पास कितना नकद रुपया रखना चाहते हैं। केम्ब्रिज स्कूल के अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा की माग क्रय-विक्रय के लिए आने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा पर निर्भर नहीं होती है, बल्कि वह लोगों की तरलता पसन्दगी (Liquidity Preference) पर निर्भर होती है। इसी विचारधारा

को लेकर कैम्ब्रिज समीकरण (Cambridge Equation) का निर्माण किया गया है।

केम्ब्रिज स्कूल (Cambridge school) के अर्थशास्त्रियों के अनुसार किसी एक निश्चित समय पर मुद्रा का मूल्य नक्द रुपये की माग तथा पूर्ति के द्वारा निश्चित होता है। मुद्रा की माग विनिमय की जाने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा पर निर्भर नही होती है, बल्कि वह इस बात पर निर्भर होती है कि कितने लम्बे समय के सौदो को मुद्रा के द्वारा निबटाया जाता है। जितने अधिक लम्बे समय के सौदों को निबटाना होता है, उतनी ही अधिक मात्रा में नक्द मुद्रा की माग की जाती है। *यदि बहुत थोडे समय के व्यापारिक सौदो को निबटाना है तो* नक्दी (cash) की माग बहुत कम होती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने पास उतनी नक्द मुद्रा रखता है जो एक निश्चित काल मे उसकी आवश्यकता की वस्तुओ तथा सेवाओ को खरीदने के लिए पर्याप्त हो। यदि लोगो मे लम्बे समय के लिए अपनी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए नक्द मुद्रा रखने की आदत है तो मुद्रा की अधिक माग की जायेगी और यदि कम समय की आवश्यकता के लिए नक्दी रखी जाती है तो मुद्रा की माग कम होती है। इस प्रकार मुद्रा की माग लोगो के द्वारा *की जाने वाली नक्दी (cash) की माग पर आधारित होती है। मुद्रा की माग* वस्तुओ की उस मात्रा पर निर्भर नही होती है जिनको मुद्रा के बदले मे बेचा जाता है बल्कि वह लोगो की नक्द मुद्रा रखने की इच्छा *तथा योग्यता पर* निर्भर होती है। किसी निश्चित समय मे लोग अपने पास जितनी नक्द मुद्रा रखना चाहते है, वही मुद्रा की माग है।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय का कुछ भाग नक्द रूप मे रखना चाहता है, जिससे वह दुबारा आय प्राप्त होने तक अपने खर्च को चला सके तथा विभिन्न प्रकार के भुगतानो को निबटा सके। रॉबर्टसन के अनुसार—"प्रत्येक व्यक्ति अपने पास कुछ नक्द मुद्रा रखना चाहता है, जिससे कि वह अपने दैनिक जीवन के व्यवसायिक कार्यों को सुविधापूर्वक कर सके तथा आकस्मिक आपत्ति काल मे उसका सहारा ले सके।"[१६] इसी प्रकार उत्पादको तथा व्यापारियो को भी अपने व्यवसाय के चालू खर्चे को पूरा करने के लिए अपने पास पर्याप्त मात्रा मे नक्द मुद्रा रखनी होती है। समाज मे सब लोगो की नक्दी (cash) की माग मिलकर मुद्रा की कुल माग को बनाती है। किसी समाज मे प्राप्त होने वाली कुल आय का केवल कुछ भाग ही नक्दी के रूप मे रक्खा जाता है और शेष का विनियोग कर दिया जाता है। आय को नक्द रूप मे रखने से व्यवसाय मे बड़ी सुविधा होती है तथा निजी

16 "It will be readily granted that the ordinary person likes to keep ready to his hand a little pool of money, partly for the sake of convenience in conducting the ordinary business of life and partly as a margin to fall back on in unforseen contingencies." —*D. H. Robertson*: Money, P-34.

खर्चों को आसानी से निबटाया जा सकता है। किन्तु नकद मुद्रा अपने पास रखने से कुछ हानि भी होती है, क्योंकि नकद रूप में रक्खी हुई मुद्रा से किसी प्रकार की आय प्राप्त नहीं होती है। बहुत अधिक मात्रा में नकद मुद्रा अपने पास रखने से ब्याज की हानि उठानी पड़ती है और बहुत कम मात्रा में रखने से असुविधा होती है। लोगों के द्वारा माग की जाने वाली नक्दी (cash) की मात्रा न तो बहुत अधिक होनी चाहिए और न बहुत कम। वह ठीक आवश्यकता के अनुसार होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति नकदी को पास रखने से प्राप्त होने वाले लाभ तथा हानियों की तुलना करने के पश्चात् यह निश्चय करता है कि कुल आय का कितना भाग नकद रूप में रक्खा जाये।

समाज में नकद मुद्रा की माग आय प्राप्त होने की अवधि, वस्तुओं के मूल्य तथा व्यापार की दशाओं पर निर्भर होती है। आय प्राप्त होने तथा उसके व्यय किये जाने के बीच जितना अधिक लम्बा समय होता है, उतनी ही अधिक मुद्रा की माग की जाती है। इसके विपरीत यदि लोगों को जल्दी-जल्दी आय प्राप्त होती है, तो वे कम नकद मुद्रा की माग करेंगे। वस्तुओं के मूल्य अधिक होने पर नक्दी (cash) की माग बढ़ती जाती है, क्योंकि लोगों को अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अधिक मुद्रा की जरूरत होती है। मूल्य-स्तर नीचा होने पर नकदी की माग घट जाती है। व्यापार की दशाओं का भी नक्दी की माग पर प्रभाव पड़ता है। समृद्धि काल (Prosperity phase) में नकद मुद्रा की माग कम हो जाती है, क्योंकि उसका व्यापार में विनियोग करके अधिक लाभ प्राप्त कर सकते है। ऐसे समय में लोग अपने पास कम मुद्रा रखते है और विनियोग अधिक किया जाता है। मन्दी काल (Depression) में लाभपूर्ण विनियोग की सम्भावना कम होने के कारण लोग अपने पास अधिक नकद मुद्रा रखते हैं और मुद्रा की माग बढ़ जाती है। इनके अतिरिक्त जनसंख्या का आकार तथा भुगतान निबटाने के तरीकों का भी मुद्रा की माग पर प्रभाव पड़ता है। जनसंख्या बढ़ने पर मुद्रा की माग बढ़ती है और कम होने पर घटती है। यदि अधिकांश सौदों का भुगतान नकद रूप में किया जाता है तो नक्दी (cash) की माग भी अधिक होती है, किन्तु यदि भुगतानों को निबटाने के लिए साख का अधिक प्रयोग किया जाता है तो नकद मुद्रा की माग कम हो जाती है।

किसी निश्चित समय पर जो रकम लोग अपने पास नकद रूप में रखना चाहते है, वह मुद्रा की माग है। मुद्रा की पूर्ति से अभिप्राय नक्दी की पूर्ति (Supply of cash) से है जो सिक्कों की मात्रा, कागज के नोटों तथा बैंकों की जमा से मिलकर बनती है। मुद्रा की पूर्ति सरकार तथा केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति पर आधारित होती है और इसमें बहुत कम परिवर्तन होते है। किन्तु मुद्रा की माग समय-समय पर बदलती रहती है, जिसके कारण मुद्रा का मूल्य बदलता

है। केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने अपने इस सिद्धान्त को निम्नलिखित समीकरण के द्वारा समझाया है—

$$क = \frac{म}{अ\ र} \quad अथवा \quad P = \frac{M}{KR}$$

क (P) = मूल्य-स्तर (Price level)

म (M) = मुद्रा की मात्रा (Quantity of Money)

र (R) = समाज की वार्षिक वास्तविक आय (Real Income)

अ (K) = आय का वह अनुपात जो नकद रूप में रखा जाता है (Percentage of Income kept in the form of cash)

इस समीकरण में अ र (KR) मुद्रा की कुल मात्रा म (M) के मूल्य के बराबर है, इसलिए मुद्रा की प्रत्येक इकाई का मूल्य $\frac{KR}{M}$ अथवा $\frac{अ\ र}{म}$ के बराबर होता है और मूल्य-स्तर क (P) के बराबर होता है $\frac{म}{अ\ र}$ अथवा $\frac{M}{KR}$।

केम्ब्रिज विचारधारा तथा फिशर की विचारधारा का अन्तर—

केम्ब्रिज सिद्धान्त फिशर के सिद्धान्त से कई बातों में अधिक अच्छा है। फिशर के सिद्धान्त में माग की शक्तियों को निश्चित मान लिया गया है, किन्तु केम्ब्रिज समीकरण मुद्रा की माग को परिवर्तनशील मानकर चलता है और मुद्रा के मूल्य पर उसके प्रभावों का विश्लेषण करता है। फिशर का सिद्धान्त केवल मुद्रा के दीर्घकालीन मूल्य के विषय में ही बतलाता है, किन्तु केम्ब्रिज समीकरण अल्प काल में मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों को बताता है और इस दृष्टि से इस सिद्धान्त का व्यवहारिक महत्व अधिक है। फिशर का सिद्धान्त मुद्रा की कुल मात्रा पर आधारित है जो देश में व्यापार के लिए आवश्यक है, किन्तु केम्ब्रिज विचारधारा उस नक्दी पर आधारित है जिसकी माग किसी समय विशेष पर की जाती है।

इन सब गुणों के होते हुए भी केम्ब्रिज समीकरण में सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें साख मुद्रा की मात्रा को सम्मिलित नहीं किया गया है। इस दोष को दूर करने के लिए प्रो० केन्स (Keynes) तथा प्रो० पीगू (Pigou) ने इस समीकरण में कुछ संशोधन किये हैं। प्रो० केन्स (Keynes) ने निम्नलिखित समीकरण प्रस्तुत किया है—

$$न = क\ (अ + र\ आ) \quad अथवा \quad n = p\ (k + r\ k')$$

न (n) = नक्द मुद्रा की कुल मात्रा

क (p) = सामान्य मूल्य-स्तर

अ (k)=उपभोग की वे इकाइयां (Consumption units) जिनके लिए चलन के रूप में क्रय-शक्ति को संचित किया जाता है।

आ (k')=उपभोग की वे इकाइयां जिनके लिए साख मुद्रा मे क्रय शक्ति का संचय किया जाता है (बैंक जमा का वह भाग जिसे चैंक के द्वारा निकाला जा सकता है)।

र (r)=बैंक के नकद कोष तथा जमा रकम का अनुपात।

केन्स (Keynes) के समीकरण का मुख्य गुण यह है कि उसमे साख मुद्रा को भी एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है और मूल्य-स्तर पर उसके होने वाले प्रभाव का विश्लेषण किया गया है।

प्रो० पीगू ने परिमाण सिद्धान्त के सम्बन्ध मे निम्नलिखित समीकरण दिया है—

$$\text{क}=\frac{\text{अ र}}{\text{म}}\{\text{स}+\text{ह}(१-\text{स})\} \text{ अथवा } P=\frac{KR}{M}\{c+h(1-c)\}$$

इस समीकरण मे P, K, R तथा M का अर्थ वही है, जो केम्ब्रिज समीकरण मे है। स (c) नकदी के उस भाग को बतलाता है, जो जनता विधिग्राह्य मुद्रा के रूप में अपने पास रखना चाहती है तथा ह (h) बैंको द्वारा जमा किये हुए निक्षेपो का विधिग्राह्य भाग है। इस समीकरण मे भी साख मुद्रा के महत्व को स्वीकार कर लिया गया है।

केम्ब्रिज समीकरण की आलोचनायें
(Criticisms of the Cambridge Equation)—

यद्यपि केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियो के द्वारा दिया गया मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त फिशर (Fisher) के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक अच्छा है क्योंकि वह बहुत सी उन बातो का जवाब देता है जिनके बारे मे फिशर का सिद्धान्त कुछ नही बतलाता है किन्तु फिर भी केम्ब्रिज समीकरण को मुद्रा के मूल्य का सन्तोषजनक सिद्धान्त नही माना जा सकता है। उसमे अनेक दोष पाये जाते है जिनके आधार पर इस सिद्धान्त की आलोचना की गई है। कुछ प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार हैं—

(१) इस सिद्धान्त मे उन उद्देश्यो का विश्लेषण नही किया गया है जिनके कारण लोग मुद्रा को अपने पास जमा कर लेते है। विशेषतया केम्ब्रिज सिद्धान्त सट्टे के कारण उत्पन्न होने वाली मुद्रा की माग (Speculative Demand) को भुला देता है जो नक्द मुद्रा की माग को निश्चित करने वाला एक महत्वपूर्ण तत्व है। सट्टे के कारण उत्पन्न होने वाली मुद्रा की माग को महत्वपूर्ण स्थान न देने के

कारण यह सिद्धान्त भी मुद्रा सिद्धान्त को ब्याज के सिद्धान्त के साथ सम्बन्धित करने में सफल नहीं हो सका है।

(२) यह सिद्धान्त मुद्रा की मात्रा पर आवश्यकता से अधिक जोर देता है जिससे यह प्रतीत होने लगता है कि मुद्रा की मात्रा ही समाज में आर्थिक परिवर्तन का एकमात्र अथवा सबसे प्रमुख कारण है। इस प्रकार का विचार अन्य प्रकार की गलत धारणायें उत्पन्न कर सकता है। विशेषतया अल्पकाल में मूल्यों तथा उत्पादन में होने वाले परिवर्तनों के सम्बन्ध में काफी भ्रम उत्पन्न हो जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त अपने आधुनिक रूप में भी केवल औसत मूल्य-स्तर के दीर्घकालीन परिवर्तनों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अल्पकालीन तथा व्यापार-चक्रों के कारण उत्पन्न होने वाले भारी परिवर्तनों के लिए किसी अन्य सिद्धान्त की खोज करना आवश्यक है।[17]

(३) यह सिद्धान्त कीमत-स्तर को आवश्यकता से अधिक महत्व देता है जिससे कि यह प्रतीत होने लगता है कि किसी अर्थ-व्यवस्था के लिए कीमतों में होने वाले परिवर्तन सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। इस गलत धारणा के आधार पर सिद्धान्त यह निर्णय प्रस्तुत करता है कि व्यापारिक क्रियाओं के सामान्य स्तर में होने वाले समस्त परिवर्तन कीमत-स्तर में होने वाले परिवर्तनों का परिणाम है। दूसरे शब्दों में सिद्धान्त हमें इस अवास्तविक परिणाम पर ले जाता है कि कीमतों के परिवर्तन व्यापार-चक्रों को जन्म देते हैं। वास्तव में, व्यापार-चक्रों के कारण कीमत स्तर बदलता है।

(४) केम्ब्रिज दृष्टिकोण एक ऐसा उपयुक्त मुद्रा सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं करता है जिसके द्वारा अर्थ-व्यवस्था में कीमतों के प्रावैगिक व्यवहार को समझा जा सके। अतः यह कहा जा सकता है कि केम्ब्रिज समीकरण भी स्थिर दशाओं का ही विश्लेषण करता है।

(५) यह सिद्धान्त मुद्रा की माग की लोच को इकाई के बराबर मानता है किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री इस प्रकार की मान्यता से सहमत नहीं है। आधुनिक विचार के अनुसार मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने पर मुद्रा के द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं की मात्रा में भी परिवर्तन होता है। अतः मुद्रा की माग-लोच इकाई (Unity) के बराबर केवल स्थिर (Static) दशा में ही हो सकती है, प्रावैगिक (Dynamic) दशा में नहीं।

---

17 "The Quantity Theory might be relegated to the position of explaining the longer secular movements in the average price level, while some other explanation was sought for the shorter and more violent swings of the trade cycle." —*Crowther*, An Outline of Money, P. 123.

बचत और विनियोग सिद्धान्त (Saving and Investment Theory)
अथवा
आय तथा व्यय सिद्धान्त (Income and Expenditure Theory)

इन दोषो के कारण मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को मुद्रा के मूल्य-निर्धारण का उचित सिद्धान्त नही माना जा सकता है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के मूल्य का विश्लेषण समाज मे प्राप्त होने वाली आय तथा उसके व्यय के आधार पर किया है। इन लोगो के द्वारा एक नये मुद्रा सिद्धान्त का निर्माण किया गया है जिसे आय सिद्धान्त (Income Theory) या बचत और विनियोग का सिद्धान्त कहा जाता है। इस सिद्धान्त के मुख्य निर्माता लार्ड केन्स (Lord Keynes) है किन्तु हेयक (Hayak), क्राउथर (Crowther) तथा हेबरलर (Haberler) ने भी इस सिद्धान्त पर महत्वपूर्ण कार्य किया है। आय सिद्धान्त के महत्व को बतलाते हुए क्राउथर ने लिखा है—"मुद्रा का मूल्य वास्तव मे आयो के कुल योग का परिणाम है, मुद्रा की मात्रा का नही। हमे कुल आय मे होने वाले परिवर्तनो के कारणों की खोज करनी चाहिए।"[१८]

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के विभिन्न रूपो से असन्तुष्ट होकर केन्स (Keynes) ने यह विचार प्रस्तुत किया कि कीमतो तथा उत्पादन-स्तर मे परिवर्तन आय-स्तर (Level of Income) मे होने वाले परिवर्तनो के कारण होते हैं। आय-स्तर में परिवर्तन लाने के लिए अनेक कारण जिम्मेदार हैं जैसे बचत तथा विनियोग के स्तर मे परिवर्तन, लाभ की आशा, व्यय, मुद्रा का सग्रह तथा साख व मुद्रा का विस्तार इत्यादि। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी निश्चित काल मे मुद्रा का मूल्य समाज मे प्राप्त होने वाली द्राव्यिक आय (Money Income) और लोगो के द्वारा उसकी व्यय की जाने वाली मात्रा तथा बाजार मे बिक्री के लिए प्रस्तुत की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा पर निर्भर होता है। मुद्रा का मूल्य आय प्राप्त करने वालो के इस निर्णय पर निर्भर होता है कि वे अपनी आय का कौन सा भाग वस्तुये खरीदने के लिए प्रस्तुत करते हैं। यदि वस्तुये खरीदने के लिए प्रस्तुत की जाने वाली मात्रा घट जाती है, किन्तु वस्तुओ की मात्रा यथा स्थिर रहती है तो उपभोग सम्बन्धी तथा पूँजीगत वस्तुओ के मूल्य गिर जायेंगे और मुद्रा का मूल्य बढ जायगा। इसी प्रकार यदि वस्तुओ पर व्यय की जाने वाली आय यथा स्थिर रहती है किन्तु वस्तुओं की मात्रा बढ जाती है, तो सामान्य मूल्य-स्तर गिरने लगेगा। इसके विपरीत यदि व्यय की जाने वाली आय की मात्रा बढती है और वस्तुओ की मात्रा यथा स्थिर रहती है तो सामान्य मूल्य-स्तर बढ जायगा और मुद्रा का मूल्य गिर जायगा।

---

18 "The value of money infact, is a consequence of the total of incomes rather than of the quantity of money. It is the causes of fluctuations in the total incomes of which we must go in search"

—*Crowther*: An Outline of Money, P. 12′.

इस प्रकार मुद्रा का मूल्य व्यय की जाने वाली आय की मात्रा के बदलने पर तथा वस्तुओं की मात्रा में परिवर्तन होने पर बदलता रहता है।

आय का कौन सा भाग वस्तुओं पर व्यय करने के लिए प्रस्तुत किया जायगा, यह लोगों की विनियोग तथा बचत सम्बन्धी आदतों पर निर्भर होता है। यदि लोग अपनी आय का अधिक भाग बचाने का निश्चय करते हैं तो वस्तुओं पर कम व्यय किया जायगा और यदि कम बचाते हैं तो व्यय अधिक होगा। अधिक बचत आय की व्यय की जाने वाली मात्रा को कम करती है, वस्तुओं की माग गिर जाती है तथा उनका मूल्य कम होने लगता है और मन्दी की दशायें पैदा हो जाती हैं। अधिक विनियोग आय की व्यय की जाने वाली मात्रा को बढाता है, वस्तुओं की माग बढती है और उनके मूल्य बढने लगते हैं। इस बात को अधिक अच्छी प्रकार समझने के लिए हमें समस्त आर्थिक व्यवस्था को एक प्रकार का प्रवाह-चक्र (circular flow) समझ लेना चाहिए जिसमें मुद्रा बराबर एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास जाती रहती है और प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा किया जाने वाला व्यय दूसरे व्यक्ति की आय होती है। जब कोई बचत की जाती है तो मुद्रा इस आय-चक्र (Income stream) में से निकाल ली जाती है और विनियोग (Investment) करने से मुद्रा इस प्रवाह में डाली जाती है। यदि किसी समय बचत की मात्रा विनियोग से अधिक है तो वह इस बात को बतलाता है कि प्रवाह में से बहुत अधिक मुद्रा निकाल ली गई है और उतनी मात्रा में उसे वापस नहीं लौटाया गया है जिसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति की आय कम हो जाती है। यदि विनियोग (Investment) बचत (Savings) की अपेक्षा अधिक होता है तो आय तथा व्यय का प्रवाह निरन्तर बढता चला जाता है और वस्तुओं के लिए अधिक मुद्रा प्रस्तुत की जाने लगती है।

प्रो० केन्स (Keynes) के अनुसार किसी भी समाज में बचत तथा विनियोग की मात्रा अनिवार्य रूप से एक दूसरे के बराबर होनी चाहिए। यदि बचत विनियोग की अपेक्षा अधिक होती है तो माग कम होने के कारण वस्तुओं के मूल्य नीचे गिरने लगते हैं और मुद्रा का मूल्य बढ जाता है। इसके विपरीत विनियोग की बचत से अधिक होने की दशा में वस्तुओं के मूल्य ऊपर उठते हैं और मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है। सन्तुलन की स्थिति वह होती है जिसमें बचत और विनियोग दोनों एक दूसरे के बराबर हों। इस सत्य को स्पष्ट करने के लिए केन्स ने निम्नलिखित समीकरण प्रस्तुत किया है—

आ=उ+वि अथवा $Y=C+I$

∵ आ=उ+ब अथवा $Y=C+S$

∴ वि=ब अथवा $I=S$

इस समीकरण मे आ (Y) कुल आय को सूचित करता है, उ (C) उपभोग को; वि (I) विनियोग तथा ब (S) बचत को । समाज मे प्राप्त होने वाली आय दो प्रकार की आयो का योग होती है—उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन से प्राप्त आय तथा विनियोग की वस्तुओ के उत्पादन से प्राप्त आय। इसलिए आ (Y)=उ (C)+वि (I) । अब हम जानते है कि प्राप्त होने वाली आय को या तो व्यय किया जा सकता है या उसे बचाया जा सकता है । अर्थात् आ (Y)= उ (C)+व (S) । उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि विनियोग और बचत एक दूसरे के बराबर होने चाहिएँ अर्थात्

वि (I)=व (S)

इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा का मूल्य मौद्रिक आय तथा वास्तविक आय के सम्बन्ध के द्वारा निर्धारित होता है । मौद्रिक आय की मात्रा तथा इसका प्रवाह कुल मुद्रा की मात्रा तथा आय की भ्रमण-गति (Income Velocity) पर निर्भर होता है । मुद्रा की कुल मात्रा मौद्रिक तथा बैंकिंग प्रणाली पर आधारित होती है तथा आय की भ्रमण-गति उत्पादको की लाभ सम्बन्धी आशा, उत्पादन के समय तथा लोगो के अपनी आय को व्यय करने के निर्णयो के द्वारा प्रभावित होती है। वास्तविक आय पर भी विभिन्न बातो का प्रभाव पडता है जैसे देश मे साधनो की मात्रा तथा आर्थिक उन्नति की अवस्था इत्यादि । यद्यपि बचत की मात्रा विनियोग के बराबर होनी चाहिए किन्तु किसी निश्चित समय मे यह आवश्यक नहीं कि कुल बचत की मात्रा, कुल विनियोग की मात्रा के बराबर ही हो । यदि लोग अपनी आय का कुछ भाग उपभोग अथवा विनियोग मे न लगा कर अपने पास संग्रह (Hoarding) कर लेते है तो ऐसी दशा मे बचत की मात्रा विनियोग से अधिक हो जायगी जिसके परिणामस्वरूप मूल्य गिरने लगते है । इसके विपरीत यदि बैंको के द्वारा साख का विस्तार किये जाने से विनियोग की मात्रा बचत से अधिक हो जाती है तो मूल्य-स्तर बढने लगता है । इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा के मूल्य के बदलने का कारण मुद्रा की मात्रा का बदलना नही है बल्कि बचत तथा विनियोग के अनुपात मे परिवर्तन होने के कारण मुद्रा का मूल्य बदला करता है। बचत और विनियोग पर ब्याज की दर का प्रभाव भी पड़ता है इसलिए ब्याज की दर भी मुद्रा के मूल्य पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है ।

आय तथा व्यय सिद्धान्त के गुण

(Merits of Income and Expenditure Theory)—

द्रव्य का आय तथा व्यय सिद्धान्त यद्यपि सर्वथा दोष रहित नही है किन्तु फिर भी वह परिमाण सिद्धान्त से निश्चित रूप से उत्तम है । इस सिद्धान्त के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं—

(१) यह सिद्धान्त व्यवहारिक क्षेत्र में आर्थिक नीतियों का अच्छा पथ-प्रदर्शन कर सकता है। प्राचीन सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की मात्रा में होने वाली प्रत्येक वृद्धि को मुद्रा-प्रसार तथा मूल्य वृद्धि का कारण समझा जाता था। वर्तमान सिद्धान्त इस भ्रम को दूर करता है। केन्स (Keynes) का सिद्धान्त हमें यह बतलाता है कि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के कारण मुद्रा-प्रसार का भय केवल पूर्ण रोजगार की स्थिति के पश्चात् ही उत्पन्न होता है। जब तक देश में बेकार साधन मौजूद होते हैं तब तक मुद्रा की मात्रा में होने वाली वृद्धि रोजगार को बढाती है, कीमतों को नहीं। किन्तु पूर्ण रोजगार की स्थिति पहुँच जाने के पश्चात् मुद्रा की मात्रा में होने वाली प्रत्येक वृद्धि मुद्रा-प्रसार को उत्पन्न करती है। इस प्रकार का विश्लेषण वास्तविकता के अधिक समीप प्रतीत होता है। अत यह सिद्धान्त एक ऐसा आधार प्रस्तुत करता है जिस पर आर्थिक क्रियाओं तथा रोजगार को ऊँचे स्तर पर बनाये रखने की सार्वजनिक नीति का निर्माण किया जा सकता है।

(२) बचत तथा विनियोग सिद्धान्त इसलिए भी श्रेष्ठ है क्योंकि वह ऐसी बहुत सी बातों का जवाब देता है जिनके बारे में मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त कुछ नहीं बतलाता है। यह सिद्धान्त इस बात का जवाब देता है कि मुद्रा की मात्रा को कम करने से समृद्धि काल (Prosperity Phase) में मूल्य-स्तर को बढने से रोकना क्यों सम्भव होता है और अवसाद काल (Depression Phase) में मुद्रा की मात्रा को बढाने पर मूल्य-स्तर क्यों नहीं बढता है। प्रो० क्राउथर ने व्यापार-चक्रों के विश्लेषण के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त के महत्व को बतलाते हुए कहा है—"यह इस विचित्र तत्व को समझाता है कि अवसाद काल में कभी-कभी जब नई मुद्रा का निर्माण किया जाता है तो उसका विनियोग की मात्रा पर कोई प्रभाव क्यों नहीं पड़ता है और जब विनियोग बचत से अधिक हो जाता है तो इसके विपरीत प्रभाव क्यों काम करने लगते हैं।"[19]

(३) बचत और विनियोग सिद्धान्त मुद्रा के चलन वेग (Velocity of Circulation of Money) के विचार को पूर्णतया समझने में सहायता करता है। यह सिद्धान्त इस बात को बतलाता है कि मुद्रा के चलन वेग पर व्यापार चक्रों का क्या प्रभाव पड़ता है। जब बचत की मात्रा विनियोग से अधिक होती है तो लोग अधिक मुद्रा अपने पास रखते हैं और मुद्रा का चलन वेग कम हो जाता है। इसके विपरीत विनियोग के बचत से अधिक होने की दशा में मुद्रा का चलन वेग बढ जाता है।

---

19 "This explains the puzzling phenomenon that when money is created at the bottom of a depression, it sometimes has no effect on the volume of investment . when investment exceeds savings the contrary influences come into play."

—*Crowther* : An Outline of Money (1942), P. 358.

(४) यह विश्लेषण मुद्रा सिद्धान्त का अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तो के साथ एकीकरण करता है। मुद्रा का प्राचीन सिद्धान्त मुद्रा को तटस्थ (Neutral) मानकर उसके मूल्य का विश्लेषण करता है किन्तु केन्स (Keynes) के सिद्धान्त मे यह दोष नही है। आय व्यय सिद्धान्त के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मुद्रा का प्रभाव समाज मे उत्पादन, रोजगार तथा अन्य आर्थिक क्रियाओ पर पडता है। इस प्रकार मुद्रा सिद्धान्त मूल्य सिद्धान्त तथा उत्पत्ति सिद्धान्त के साथ सम्बन्धित हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस विश्लेषण के द्वारा मुद्रा सिद्धान्त को ब्याज के सिद्धान्त के साथ भी सम्बन्धित कर दिया गया है क्योकि यह सिद्धान्त ब्याज की दरो के मुद्रा के मूल्य पर पडने वाले प्रभावो को भी बतलाता है।

यद्यपि मुद्रा के मूल्य के अल्पकालीन परिवर्तनो के विश्लेषण के रूप मे बचत तथा विनियोग सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ है किन्तु फिर भी मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का अपना महत्व है। दोनो ही सिद्धान्त अपने-अपने स्थान पर काफी महत्वपूर्ण है। बचत और विनियोग सिद्धान्त मूल्य-स्तर के अल्पकालीन परिवर्तनो के विषय मे बतलाता है और मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मूल्य-स्तर की दीर्घकालीन प्रवृत्तियो का विश्लेषण करता है। दोनों मे से कोई भी एक दूसरे का स्थान नही ले सकता है। मूल्य-स्तर के परिवर्तनो को पूर्ण रूप से समझने के लिए हमे दोनो सिद्धान्तो की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध मे प्रो० क्राउथर (Crowther) ने ठीक ही कहा है—"मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त सागर के सामान्य स्तर का विश्लेषण करता है और बचत तथा विनियोग सिद्धान्त ज्वार भाटे की तीव्रता को बतलाता है।"[२०]

परीक्षा-प्रश्न

(१) द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) को संक्षेप मे समझाइये और उसकी सीमायें बताइये। (आगरा बी० ए० १९६४)

(२) बतलाइये द्रव्य के मूल्य को निश्चित करने मे मांग और पूर्ति के नियम किस प्रकार लागू होते हैं ? (आगरा बी० ए० १९६३)

(३) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये। (आगरा बी० ए० १९६२)

(४) मुद्रा की मात्रा तथा देश के सामान्य मूल्य-स्तर के बीच के सम्बन्धों का स्पष्टीकरण कीजिये। (आगरा बी० ए० १९६१)

---

20 "The Quantity Theory of Money explains, as it were the average level of the sea, the Savings and Investment theory explains the violence of the tides." —*Crowther* · An Outline of Money, P. 147.

(५) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। वह कहाँ तक मूल्यों के घटने-बढ़ने के कारणों को ठीक-ठीक समझा पाता है।
(आगरा बी० काम १९५८, १९६२)

(६) 'मुद्रा मात्रा सिद्धान्त' की आलोचना करिये। आधुनिक वर्षों में क्या परिवर्तन हो गये हैं? (राजस्थान बी० ए० १९५९)

(७) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिये, जैसा कि लार्ड केन्स ने प्रस्तुत किया था। यह सिद्धान्त फिशर के दृष्टिकोण की तुलना में किस प्रकार श्रेष्ठ है? (राजस्थान बी० काम १९५९)

(८) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए। किसी देश के मूल्य-स्तर पर मुद्रा के परिमाण के अतिरिक्त अन्य किन बातों का प्रभाव पड़ता है? (सागर बी० ए० १९५९)

(९) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। मुद्रा की चलन गति (Velocity of Circulation) के कौन-कौन से मुख्य कारण हैं? (सागर बी० काम १९५७)

(१०) 'वास्तव में मुद्रा मूल्य सब आयों (Total Incomes) का ही परिणाम है, न कि मुद्रा की मात्रा (Quantity of Money) का।' (क्राउथर) व्याख्या कीजिए। (सागर बी० काम १९५५)

(११) मुद्रा की मात्रा तथा देश के सामान्य मूल्य-स्तर की बीच के सम्बन्ध की स्पष्ट व्याख्या कीजिए। (विक्रम बी० ए० १९६०)

(१२) मुद्रा की चलन गति से आप क्या समझते हैं? इसे निर्धारित करने वाले तत्वों का विवेचन करिये। (पटना बी० ए० १९५७)

(१३) "आधुनिक विचारधारा की प्रवृत्ति यह है कि यह मुद्रा की मात्रा को मुद्रा मूल्य का निर्धारण करने वाला घटक नहीं मानता।" विवेचना कीजिये।
(बिहार बी० काम १९५९)

(१४) "मुद्रा अनेक आर्थिक वस्तुओं मे से एक है; अतः इसका मूल्य उन्हीं दो शक्तियों द्वारा मुख्यत. निर्धारित होता है जो कि अन्य वस्तुओं के मूल्य को निर्धारित करती है।" (रावर्टसन) इस कथन की विवेचना कीजिये।
(गोरखपुर बी० ए० १९५९ Part I)

८

मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-संकुचन

INFLATION AND DEFLATION

मुद्रा का क्रय-शक्ति का समय-समय पर बदलते रहना पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का सबसे बडा दोष है। इन देशों के आर्थिक जीवन मे एक निश्चित क्रम के अनुसार समृद्धि (Prosperity) तथा मन्दी (Depression) के काल आते रहते है, जिनके कारण मूल्य-स्तर मे परिवर्तन होते है और मुद्रा की क्रय-शक्ति बदल जाती है। मुद्रा के मूल्य का बदलना केवल सामाजिक अन्याय (Social Injustice) को ही जन्म नही देता है बल्कि उत्पत्ति की मात्रा तथा रोजगार की स्थिति पर भी उसका बहुत बुरा प्रभाव पडता है। किसी भी समाज के दीर्घकालीन हित मे यही होता है कि वह मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-सकुचन की स्थिति से अपने आप को बचाये रक्खे जिससे उसका आर्थिक जीवन नियमित गति से चल सके। किन्तु इस सम्बन्ध मे सबसे बडी कठिनाई यह होती है कि मूल्य-स्तर मे होने वाले इन परिवर्तनो को आसानी से नहीं रोका जा सकता है। अत प्रत्येक देश को उनके बुरे परिणामो को सहना पडता है। यद्यपि अर्थशास्त्रियो ने मूल्य-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो को रोकने के कुछ उपाय खोज निकाले है और पहले की अपेक्षा अब उन्हे रोकना अधिक सम्भव हो गया है किन्तु फिर भी पूर्णतया सफल उपाय अभी तक मालूम नही हो सके हैं। मुद्रा-प्रसार व मुद्रा-सकुचन पर नियन्त्रण करना तथा आर्थिक जीवन मे स्थिरता लाना वर्तमान अर्थशास्त्र की एक मुख्य समस्या है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह जानना आवश्यक है कि मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-संकुचन के काल क्यो आते है और उन्हे किस प्रकार रोका जा सकता है।

मुद्रा-प्रसार का अर्थ— .

मुद्रा-प्रसार की वास्तविक प्रकृति के बारे मे काफी मतभेद पाया जाता है। लगभग प्रत्येक अर्थशास्त्री ने मुद्रा-प्रसार की अपनी अलग परिभाषा दी है किन्तु इन मे से कुछ एक परिभाषाओ का अध्ययन करने से हम मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-संकुचन

के सही अर्थ को समझ सकते हैं। प्राचीन अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा का उसके पीछे रक्खे जाने वाले धात्विक कोष के अनुपात से अधिक मात्रा में विस्तार किया जाना, मुद्रा-प्रसार होता था। किन्तु धीरे-धीरे धात्विक कोषों का महत्व कम होने लगा और स्वर्णमान के पतन के पश्चात् बिल्कुल समाप्त हो गया। इसके साथ ही मुद्रा-प्रसार की परिभाषा में भी परिवर्तन किये गये।

वर्तमान अर्थशास्त्रियों के अनुसार उत्पत्ति की मात्रा के अनुपात से अधिक मात्रा में मुद्रा का विस्तार किया जाना मुद्रा-प्रसार है। जब भी मुद्रा की पूर्ति उसकी माग की अपेक्षा तेजी के साथ बढती है तो वस्तुओं के मूल्य बढने लगते हैं और मुद्रा का मूल्य गिर जाता है। इसके दूसरी ओर जब मुद्रा की पूर्ति को, उसकी माग में किसी प्रकार की कमी किये बिना, घटाया जाता है तो सामान्य मूल्य-स्तर गिर जाता है और मुद्रा का मूल्य अधिक होता है। क्राउथर (Crowther) के अनुसार "मुद्रा-प्रसार वह स्थिति है जिसमे मुद्रा का मूल्य गिर रहा हो अर्थात् मूल्य-स्तर बढ रहा हो और मुद्रा-सकुचन वह स्थिति हो जाती है जिसमे मुद्रा का मूल्य बढ रहा हो अथवा वस्तुओ के मूल्य गिर रहे हो।"[1] मुद्रा-प्रसार तब होता है जब मुद्रा की मात्रा को इतना अधिक बढाया जाय कि मूल्य-स्तर बढने लगे और मुद्रा का मूल्य गिर जाय। इसमे बिल्कुल विपरीत स्थिति को मुद्रा-सकुचन कहते हैं। क्राउथर (Crowther) की यह परिभाषा बहुत ठीक नहीं है क्योकि इसमे मूल्य-स्तर का बढना मुद्रा-प्रसार का सूचक माना गया है। मूल्यों मे होने वाली प्रत्येक वृद्धि को मुद्रा-प्रसार नहीं कहा जा सकता है। केवल एक विशेष स्थिति मे जब मूल्य-स्तर बढ़ता है तो उसे मुद्रा-प्रसार कहते हैं। अवसाद काल (Depression) के पश्चात् जब धीरे-धीरे मूल्य बढते हैं तो उसे मुद्रा-प्रसार नहीं कहा जा सकता है। मुद्रा-प्रसार तब ही होता है जब मुद्रा की मात्रा को इतना अधिक बढा दिया जाय कि वह व्यापार तथा उद्योग की आवश्यकता से अधिक हो जाय। ऐसी दशा मे जो मूल्य स्तर बढता है केवल उसे ही मुद्रा-प्रसार कहते है। किसी अन्य कारण से मूल्य-स्तर का बढना मुद्रा-प्रसार नहीं होता है। उदाहरणार्थ भारतवर्ष मे द्वितीय विश्व-युद्ध काल मे मुद्रा की मात्रा को इतना अधिक बढाया गया कि उसकी मात्रा आवश्यकता से बहुत अधिक हो गई। युद्ध से पूर्व सितम्बर १९३९ मे केवल १७२ करोड रुपये की मुद्रा चलन मे थी किन्तु युद्ध के पश्चात् मई १९५१ मे इसकी मात्रा बढ कर १३०० करोड रुपया हो गई। देश मे वस्तुओ तथा सेवाओं के उत्पादन को इस अनुपात मे नहीं बढाया जा सका, जिसका परिणाम यह हुआ कि मूल्य-स्तर बढकर पहले की अपेक्षा कई गुणा हो गया और मुद्रा की क्रय-शक्ति बहुत कम हो गई। ऐसी स्थिति को मुद्रा-प्रसार कहते हैं।

1 "Inflation is a state in which the value of money is falling, *i.e.* prices are rising and deflation becomes a state in which the value of money is rising *i.e.* prices are falling." —*Crowther* : An Outline of Money, P 107.

कैमरर (Kemmerer) ने मुद्रा-प्रसार की परिभाषा अधिक वैज्ञानिक ढङ्ग से की है। उनके अनुसार यदि मुद्रा की मात्रा अधिक हो और वस्तुओं की मात्रा उत्पादन घटने के कारण कम हो जाय तो इस स्थिति को मुद्रा-प्रसार कहा जाता है। कैमरर ने मुद्रा-प्रसार की परिभाषा इस प्रकार की है—"मुद्रा-प्रसार तब हुआ करता है जब मुद्रा तथा चैक्स (cheques) के द्वारा प्रचलित बैंक जमा की पूर्ति विनिमय के माध्यम की कुल माग से इस प्रकार बढ जाय कि सामान्य मूल्य-स्तर बढने लगे।"[2] यह परिभाषा मुद्रा-प्रसार की व्याख्या मुद्रा की माग तथा पूर्ति की सापेक्षिक मात्राओं के आधार पर करती है। मुद्रा की पूर्ति का उसकी माग की अपेक्षा अधिक बढ जाना मुद्रा-प्रसार है और उसकी पूर्ति का माग से कम रह जाना मुद्रा-सकुचन की स्थिति को पैदा करता है। इस परिभाषा के अनुसार मुद्रा की पूर्ति मे होने वाली प्रत्येक वृद्धि मुद्रा-प्रसार नहीं है। यदि मुद्रा की माग के बढ जाने पर मुद्रा की पूर्ति को बढाया जाता है तो सामान्य मूल्य-स्तर मे कोई वृद्धि नही होगी और मुद्रा की पूर्ति मे होने वाली इस प्रकार की वृद्धि को हम मुद्रा-प्रसार नही कह सकते है। उदाहरणार्थ यदि किसी समाज मे जनसंख्या मे वृद्धि होने के कारण या आर्थिक विकास के कारण मुद्रा की अधिक माग की जाने लगती है और इस बढी हुई माग को पूरा करने के लिए अधिक मात्रा मे मुद्रा जारी की जाती है तो ऐसी स्थिति मे मुद्रा की माग तथा पूर्ति मे किसी प्रकार का असन्तुलन पैदा नही होता है इसलिए हम इसे मुद्रा-प्रसार न कह कर मुद्रा-विस्तार (Expansion of Currency) कहते हैं। मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा-सकुचन मुद्रा की माग तथा उसकी पूर्ति के बीच असन्तुलन की दशा को बताता है। मुद्रा की पूर्ति का उसकी माग की अपेक्षा अधिक हो जाना मुद्रा-प्रसार तथा पूर्ति का माग की अपेक्षा कम रह जाना मुद्रा-सकुचन कहलाता है। यद्यपि कैमरर (Kemmerer) की परिभाषा सैद्धान्तिक दृष्टि से ठीक मानी जा सकती है किन्तु इसमे कुछ व्यवहारिक कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं। मुद्रा की पूर्ति कब उसकी माग से अधिक है इस बात को जानने का कोई उचित तरीका हमारे पास नही है, क्योकि मुद्रा की माग तथा उसके चलन वेग का सही अनुमान लगाना सम्भव नही है। यदि सामान्य मूल्य-स्तर की वृद्धि को मुद्रा-प्रसार का सूचक माना जाय तो परिभाषा दोषपूर्ण हो जाती है क्योकि मूल्य-स्तर मे होने वाली प्रत्येक वृद्धि को मुद्रा-प्रसार नही कहा जा सकता है। केवल मूल्य-स्तर का बढना इस बात का प्रमाण नही माना जा सकता है कि देश मे मुद्रा की पूर्ति व्यवसाय की आवश्यकता से अधिक हो गई है। कुछ अन्य कारणो से भी मूल्य-स्तर मे वृद्धि हो सकती है।

---

2 'Inflation is said to occur "whenever the supply of money and bank deposits circulating through cheques, so called 'deposit currency' increases relatively to the demand for media of exchange in such a way as to bring about a general rise in the price level." —*Kemmerer*.

प्रो० पीगू (Pigou) के द्वारा दी गई मुद्रा-प्रसार की परिभाषा अन्य परिभाषाओं की अपेक्षा अधिक अच्छी मानी जाती है। उनके अनुसार "मुद्रा-प्रसार की स्थिति तब पैदा होती है जबकि मौद्रिक आय (Money Income) धन उपार्जन की क्रियाओं (Income Earning Activity) से अधिक तेजी के साथ बढ़ती है।"[3] अर्थात् मुद्रा-प्रसार तब होता है जब किसी समाज की मौद्रिक आय उसकी वास्तविक आय (Real Income) से अधिक तेजी के साथ बढ़ने लगती है। जब किसी देश में मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाया जाता है तो उसके कारण लोगों की मौद्रिक आय में वृद्धि होती है और वे अधिक वस्तुओं की माँग करने लगते हैं। इस बढ़ी हुई माँग को पूरा करने के लिए उत्पादक अधिक मात्रा में वस्तुयें पैदा करते हैं। उत्पत्ति के साधनों का अधिकाधिक उपयोग होने लगता है और धीरे-धीरे वह समाज पूर्ण रोजगार (Full Employment) के स्तर पर पहुँच जाता है। जब तक पूर्ण रोजगार बिन्दु नहीं पहुँचता है तब तक समाज की मौद्रिक आय तथा वास्तविक आय दोनों ही बढ़ती हैं किन्तु पूर्ण रोजगार पर पहुँचने के पश्चात् उत्पादन में वृद्धि करना सम्भव नहीं होता है। मौद्रिक आय तो बढ़ती है किन्तु आय उपार्जन की क्रियाओं को नहीं बढ़ाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यदि मुद्रा की पूर्ति को और अधिक बढ़ाया जाता है तो मूल्य-स्तर बढ़ने लगता है और मुद्रा-प्रसार की स्थिति पैदा हो जाती है। प्रो० पीगू (Pigou) के अनुसार मूल्य-स्तर की वृद्धि मुद्रा-प्रसार का आवश्यक लक्षण है। जब मौद्रिक आय के वास्तविक आय से तेजी से साथ बढ़ने के कारण मूल्य-स्तर बढ़ता है तो उसे मुद्रा-प्रसार कहा जाता है।

हॉट्रे (Hawtrey) के अनुसार 'मुद्रा-प्रसार आर्थिक जीवन की वह दशा है जिसमें मुद्रा का अत्यधिक निर्गमन हो।'[4] कॉलबर्न (Coulborn) ने मुद्रा-प्रसार उस स्थिति को बतलाया है जब बहुत सी मुद्रा बहुत कम वस्तुओं का पीछा कर रही हो। उनके अनुसार "मुद्रा प्रसार माँग के पूर्ति से अधिक हो जाने के कारण उत्पन्न होता है।"[5] पॉल एन्जिग (Paul Einzig) ने मुद्रा-प्रसार को असन्तुलन की स्थिति बतलाया है। उन्होंने मुद्रा-प्रसार की परिभाषा इस प्रकार की है— "मुद्रा-प्रसार असन्तुलन की वह स्थिति है जिसमें क्रय-शक्ति का विस्तार कीमत-स्तर में वृद्धि करने की प्रवृत्ति रखता है या वह उसका परिणाम होता है।"[6]

---

3 "Inflation exists when Money Income is expanding more than in proportion to income Earning Activity."

—*A. C. Pigou*. Types of War Inflation, Economic Journal Dec, 1941, P 409.

4 Hawtrey associates inflation with 'the issue of too much currency'

5 "Inflation arises from demand outrunning supply."

—*W. A. L. Coulborn*: A Discussion of Money, P 156

6 Inflation is "a state of disequilibrium in which an expansion of *purchasing power tends to cause, or is the effect of, an increase of price level.*"

—*Paul Einzig*

मुद्रा-प्रसार पर केन्स (Keynes) के विचार—

उपर्युक्त परिभाषाओं में से अधिकांश मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त पर आधारित है किन्तु लार्ड केन्स (Lord Keynes) ने मुद्रा-प्रसार की व्याख्या पूर्ण रोजगार के दृष्टिकोण से की है। उनके अनुसार मुद्रा-प्रसार सप्रभाव माग (Effective Demand) की अधिकता के कारण उत्पन्न होता है और वास्तविक मुद्रा-प्रसार की स्थिति पूर्ण रोजगार बिन्दु के पश्चात् ही आरम्भ होती है। यद्यपि केन्स पूर्ण रोजगार से पूर्व कीमतो के बढने से इन्कार नही करते है किन्तु उन्होंने इस प्रकार की मूल्य-वृद्धि को अर्ध-मुद्रा-प्रसार (Semi-Inflation) की स्थिति कहा है। उनके अनुसार 'जब तक बेरोजगारी होती है, रोजगार उसी अनुपात मे बढता है जिस अनुपात मे मुद्रा की मात्रा को बढाया जाता है किन्तु जब पूर्ण रोजगार की स्थिति होती है तो कीमतें उसी अनुपात मे बदलती है जिसमे मुद्रा की मात्रा बदलती है।"[७] यदि पूर्ण रोजगार से पूर्व मुद्रा की पूर्ति को बढाया जाता है तो उसका कुछ प्रभाव तो उत्पत्ति की मात्रा मे वृद्धि करेगा और कुछ उत्पादन-लागत तथा मूल्यो को बढायेगा जिसके कारण अर्ध-मुद्रा-प्रसार (Semi-inflation) की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। केन्स के अनुसार पूर्ण रोजगार से पूर्व भी मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करने पर मूल्य-स्तर बढ सकता है और मुद्रा-प्रसार की स्थिति पैदा हो सकती है। ऐसा तब होता है जब नई मुद्रा का प्रयोग उत्पादन बढाने तथा बेकार साधनो का प्रयोग करने के लिए नही किया जाता है और उसे वर्तमान वस्तुओं तथा सेवाओं पर ही व्यय कर दिया जाता है। देश मे उचित प्रकार के श्रमिकों का न मिलना, पूँजी की कमी, मशीनो का उपलब्ध न होना तथा उत्पादन सम्बन्धी अन्य बाधाओं के कारण उत्पादन को बढाने मे कठिनाई हो सकती है। ऐसी दशा मे कीमतें बढेंगी और अर्ध-मुद्रा-प्रसार उत्पन्न हो जायगा। जब किसी देश मे पूर्ण रोजगार की स्थिति पहुँच जाती है और बेकार साधन समाप्त हो जाते है तो ऐसी दशा मे मुद्रा की मात्रा मे होने वाली प्रत्येक वृद्धि शुद्ध मुद्रा-प्रसार (Pure Inflation) को पैदा करती है। अतः केन्स के अनुसार पूर्ण रोजगार से पूर्व हमे मुद्रा-प्रसार का भय बहुत कम होता है क्योंकि जब तक बेकार मानवीय तथा भौतिक साधन होते है तब तक मुद्रा की वृद्धि रोजगार को बढाती है। मुद्रा-प्रसार का वास्तविक भय पूर्ण रोजगार के पश्चात् आरम्भ होता है। लार्ड केन्स के इस विचार को आगे दिये गये चित्र के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

चित्र मे A B रेखा पूर्ण रोजगार के स्तर को तथा O पूर्ण रोजगार बिन्दु को दिखलाता है। चित्र के देखने से स्पष्ट है कि यद्यपि कीमत-स्तर का बढ़ना

---

7 'So long as there is unemployment, *employment* will change in the same proportion as the quantity of money, and when there is full employment, *prices* will change in the same proportion as the quantity of money."

—*Keynes.*
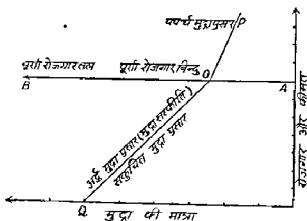
O बिन्दु के पहुँचने से पहले ही प्रारम्भ हो जाता है किन्तु उसे शुद्ध मुद्रा-प्रसार नही कहा जाता है बल्कि वह अर्ध-मुद्रा-प्रसार (Semi-inflation) की स्थिति है। जब तक पूर्ण रोजगार का स्तर नही पहुँचता है तब तक मुद्रा की मात्रा मे होने वाली वृद्धि रोजगार को बढाती है और केवल पूर्ण रोजगार-स्तर पहुँचने के पश्चात् ही मुद्रा की वृद्धि वास्तविक अथवा शुद्ध मुद्रा-प्रसार उत्पन्न करती है जैसा कि O P रेखा से विदित है।

मुद्रा-प्रसार के विभिन्न रूप—

मुद्रा-प्रसार को रोकने के उपायो को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए विभिन्न प्रकार के मुद्रा-प्रसार में भेद करना आवश्यक है। अर्थशास्त्रियो ने मुद्रा-प्रसार के विभिन्न रूप बतलाये हैं और उनमे से प्रत्येक को रोकने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के उपाय हो सकते हैं। किसी देश मे मुद्रा-प्रसार को रोकने की नीति का निर्माण करने मे पूर्व यह जानना आवश्यक है कि मुद्रा-प्रसार किस प्रकार का है और उसे रोकने के लिए कौन से उपाय अधिक उपयुक्त हो सकते हैं। प्रो० केन्स के अनुसार मुद्रा-प्रसार तीन प्रकार का हो सकता है—

(१) वस्तु मुद्रा-प्रसार (Commodity Inflation)
(२) चलन मुद्रा-प्रसार (Currency Inflation)
(३) लाभ मुद्रा-प्रसार (Profit Inflation)

एक साधारण प्रकार के मुद्रा-प्रसार को जब वस्तुओ के मूल्य बढ रहे हों, वस्तु मुद्रा-प्रसार (Commodity Inflation) कहते हैं। चलन मुद्रा-प्रसार (Currency Inflation) तब होता है जब सरकार किसी आर्थिक सकट को दूर करने के लिए अथवा युद्ध आदि के व्यय को पूरा करने के लिए अधिक मात्रा मे पत्र मुद्रा जारी करती है। मुद्रा की मात्रा के बढने के कारण वस्तुओ के मूल्य बढने लगते हैं और मुद्रा-प्रसार की दशायें पैदा हो जाती है। इस प्रकार की स्थिति सरकार

स्वयं पैदा करती है। युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार इस प्रकार का ही मुद्रा-प्रसार था। लाभ-मुद्रा-प्रसार (Profit Inflation) तब होता है जब उत्पादन-लागतो के गिरने के कारण उत्पादको के लाभ अधिक तेजी के साथ बढने लगते है। जब उत्पादन-व्यय घट रहा हो किन्तु सरकार कृत्रिम उपायो से वस्तुओं के मूल्यो को स्थिर बनाये रक्खे और उन्हे नीचे न गिरने दे तो ऐसी स्थिति मे उत्पादको को बहुत अधिक लाभ होने लगते है। इस लाभ का अधिकाश भाग उत्पादको द्वारा स्वय रक्खा जाता है और उसे अन्य साधनो मे नही बाँटा जाता है, इसलिए केन्स (Keynes) ने इसे लाभ-मुद्रा-प्रसार (Profit Inflation) कहा है।

प्रो० पीगू (Pigou) ने दो प्रकार के मुद्रा-प्रसार मे भेद किया है—

(i) पूर्ण मुद्रा-प्रसार (Full Inflation) तथा (ii) आशिक मुद्रा-प्रसार (Partial Inflation)। उनके अनुसार पूर्ण रोजगार की स्थिति पर पहुँचने के पश्चात् यदि उत्पत्ति की अपेक्षा मौद्रिक आय अधिक तेजी के साथ बढती है तो वस्तुओ के मूल्य बढने लगते है। वस्तुओ के मूल्यो मे इस प्रकार की वृद्धि को पूर्ण मुद्रा-प्रसार (Full Inflation कहते है। किन्तु पूर्ण रोजगार की स्थिति पर पहुँचने से पहले यदि मौद्रिक आय वास्तविक आय से तेजी के साथ बढती है तो इस प्रकार की स्थिति को आशिक मुद्रा-प्रसार (Partial Inflation) कहते है।

हीनार्थ प्रोत्साहित मुद्रा-प्रसार (Deficit Induced Inflation)—

सरकार की हीनार्थ प्रबन्ध (Deficit financing) की नीति के कारण सामान्य मूल्य-स्तर मे जो वृद्धि होती है उसे हीनार्थ प्रोत्साहित मुद्रा-प्रसार कहते है। जब सरकार का व्यय किन्ही असामान्य कारणो से बढ जाता है और सरकार अपने बजट के घाटे को करो अथवा सार्वजनिक ऋणो के द्वारा पूरा करने मे असमर्थ होती तो उसे नई मुद्रा का निर्माण करने के लिए बाध्य होना पडता है। मुद्रा की मात्रा मे इस प्रकार की वृद्धि से कीमतें बढने लगती है और मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार का मुद्रा-प्रसार प्राय युद्ध-व्यय को पूरा करने अथवा आर्थिक विकास के लिए साधन प्राप्त करने का परिणाम होता है। वर्तमान समय मे अधिकाश देशो मे इसी प्रकार का मुद्रा-प्रसार देखने को मिलता है।

मजदूरी प्रोत्साहित मुद्रा-प्रसार (Wage Induced Inflation)—जो मुद्रा-प्रसार मजदूरी की दरो के तेजी के साथ बढने के कारण उत्पन्न होता है उसे मजदूरी प्रोत्साहित मुद्रा-प्रसार कहा जाता है। यदि सरकार को श्रम सघो के दबाव के कारण मजदूरी की दरो मे निरन्तर वृद्धि करनी पडती है किन्तु उत्पादन उसी अनुपात मे नही बढता है तो वस्तुओ के मूल्य बढने लगते हैं और मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार के मुद्रा-प्रसार को मजदूरी प्रोत्साहित मुद्रा-प्रसार (Wages Induced Inflation) कहते है।

खुला मुद्रा-प्रसार (Open Inflation) **तथा दबा हुआ मुद्रा-प्रसार** (Suppressed Inflation)—यदि सरकार बढते हुए मूल्यों पर किसी प्रकार का

नियन्त्रण नहीं लगाती है और मुद्रा-प्रसार को स्वतन्त्रतापूर्वक बढ़ने देती है तो इस प्रकार के मुद्रा प्रसार को खुला मुद्रा-प्रसार (Open Inflation) कहते हैं। खुले मुद्रा-प्रसार (Open Inflation) के नियन्त्रण से बाहर निकल जाने का बहुत अधिक भय रहता है। इसीलिए आजकल इस प्रकार के मुद्रा-प्रसार को अर्थ-व्यवस्था का भयकर रोग माना जाता है। यदि मुद्रा-प्रसार को नियमित रखने के लिए विभिन्न प्रकार के आर्थिक नियन्त्रणों का प्रयोग नहीं किया जाता है तो मुद्रा-प्रसार बहुत जल्दी एक विषम चक्र (Vicious circle) का रूप धारण कर लेता है। यदि मूल्यों को बिना किसी रुकावट के बढ़ने दिया जाता है तो एक समय ऐसा आ जाता है जबकि मूल्य इतने अधिक बढ़ गये होते हैं कि मूल्य-स्तर, मजदूरी की दरें तथा उत्पादन लागतें एक दूसरे का पीछा करने लगती हैं जिसके परिणामस्वरूप इन सबमे निरन्तर वृद्धि होती जाती है। एक के बढ़ने के कारण दूसरे मे वृद्धि होती है। इसके विपरीत यदि आर्थिक नियन्त्रणों के द्वारा वस्तुओं के मूल्यो मे होने वाली वृद्धि को रोका जाता है और मुद्रा-प्रसार को दबाकर रक्खा जाता है तो उसे दबाया हुआ मुद्रा प्रसार (Suppressed Inflation) कहते हैं। आजकल इस प्रकार के मुद्रा-प्रसार के उदाहरण बहुत मिलते हैं। विशेषतया युद्ध काल मे सरकार ऊँची कीमतों के बुरे प्रभावो से जनता को बचाने के लिए मूल्य नियन्त्रण तथा राशनिंग की नीति को अपनाती है जिसके द्वारा मुद्रा-प्रसार प्रवृत्ति को दबा कर रक्खा जाता है।

घिसटता हुआ मुद्रा-प्रसार, चलता हुआ मुद्रा-प्रसार तथा भागता हुआ मुद्रा-प्रसार (Creeping Inflation, Walking Inflation & Galloping Inflation)—मुद्रा-प्रसार की तीव्रता के आधार पर इस प्रकार का वर्गीकरण किया जा सकता है। यदि सरकार मुद्रा-प्रसार पर कोई नियन्त्रण नहीं लगाती है और उसे बढ़ने देती है तो वह भयकर रूप धारण कर लेता है। बढ़ता हुआ मुद्रा-प्रसार इन अवस्थाओं मे गुजरता है और सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर देता है। प्रारम्भ में खुला मुद्रा-प्रसार (Open Inflation) मध्यम श्रेणी का होता है और कीमतें धीरे-धीरे बढ़ती हैं। कीमतों मे इस प्रकार की वृद्धि को घिसटता हुआ मुद्रा-प्रसार (Creeping Inflation) कहते हैं। समय के साथ-साथ कीमतों की वृद्धि मे कुछ तीव्रता आ जाती है और घिसटता हुआ मुद्रा-प्रसार (Creeping Inflation) चलते हुए मुद्रा-प्रसार (Walking Inflation) को स्थान दे देता है। यदि फिर भी सरकार कीमतो को रोकने के लिए कुछ नहीं करती है तो कीमतें अत्यधिक तेजी के साथ बढ़ने लगती हैं और भागते हुए मुद्रा-प्रसार (Galloping Inflation) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि मुद्रा-प्रसार को बिना किसी रुकावट के बढ़ने दिया जाता है तो एक समय ऐसा आ जाता है कि कीमतें, मजदूरी की दरें या उत्पादन लागतें एक दूसरे का पीछा करने लगती हैं और एक प्रकार का विषम चक्र बन जाता है जिसे तोड़ना अत्यन्त कठिन होता है। इस प्रकार के

मुद्रा-प्रसार को अर्थशास्त्रियों ने अत्यधिक मुद्रा-प्रसार अथवा भागता हुआ मुद्रा-प्रसार (Hyper Inflation or Galloping Inflation) कहा है। इस प्रकार के मुद्रा-प्रसार पर नियन्त्रण करना बहुत कठिन होता है और वह स्वयं शक्तिशाली होता जाता है। बहुत जल्दी ही वह भयंकर रूप धारण कर लेता है और जनता का विश्वास मुद्रा में से उठ जाता है।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी में होने वाला मुद्रा-प्रसार इसी प्रकार का था। कीमतों में होने वाली वृद्धि का अनुमान इस उदाहरण से लगाया जा सकता है—दो भाइयों ने उत्तराधिकार में समान धन राशि प्राप्त की। एक ने अपने रुपये को बैंक में जमा करके बैंक बैलेंस बढ़ाया। दूसरा भाई शराबी था, उसने अपनी धनराशि को शराब पर व्यय कर डाला किन्तु शराब की खाली बोतलें वह जमा करता गया। जब जर्मनी में अत्यधिक मुद्रा-प्रसार हुआ तो शराबी ने अपनी खाली बोतलों को बेचकर उससे अधिक धन-राशि प्राप्त कर ली जितनी उसके भाई की बैंक में जमा थी। उस समय जर्मनी में इतना अधिक मुद्रा-प्रसार था कि वहाँ लोग कहा करते थे कि "पहले हम दुकानों पर जाते समय रुपया अपनी जेबों में ले जाते थे और खाने का सामान टोकरियों में लाते थे किन्तु अब रुपया टोकरियों में ले जाते हैं और खाने का सामान जेबों में ले आते हैं।"[१]

मुद्रा-प्रसार के कारण—

मुद्रा-प्रसार के दोषों से समाज को मुक्त करने के उपायों पर विचार करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि किन कारणों से समाज में मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न होती है। अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा-प्रसार को जन्म देने वाले दो प्रकार के कारण हो सकते हैं—(अ) नैसर्गिक कारण (Natural Causes) तथा (ब) कृत्रिम कारण (Artificial Causes)।

(अ) नैसर्गिक कारण (Natural Causes)—

कभी-कभी मुद्रा-प्रसार ऐसे प्राकृतिक कारणों से भी पैदा हो सकता है जैसे खानों से निकलने वाली बहुमूल्य धातुओं के उत्पादन में आकस्मिक वृद्धि हो जाना, नई सोने व चांदी की खानों का मालूम होना तथा इन धातुओं का अधिक मात्रा में आयात किया जाना। इस प्रकार के कारणों पर सरकार का कोई नियन्त्रण नहीं होता है इसीलिए इन्हें नैसर्गिक कारण कहा गया है। धात्विक मुद्रा काल में मुद्रा-प्रसार इन्हीं कारणों से पैदा होते थे। जब भी किसी देश में किसी भी कारण से मुद्रा धातु की पूर्ति बढ़ती थी तो चलन में मुद्रा की मात्रा का बढ़ना स्वाभाविक होता था और अत्यधिक मुद्रा हो जाने के कारण वस्तुओं के मूल्य बढ़ने लगते थे

---

1 "We used to go to the stores with money in our pockets and came back with food in our baskets. Now we go with money in baskets and return with food in our pockets." —Quoted by *P. Samualson* : Economics, P. 283.

और मुद्रा-प्रसार की स्थिति पैदा हो जाती थी। सन् १८९६ से लेकर १९११ तक मूल्यों के बढ़ने का मुख्य कारण बहुमूल्य धातुओं के उत्पादन में वृद्धि होना था। इस काल में दक्षिणी अफ्रीका में सोने की नई खानों का पता लगने के कारण सोने का उत्पादन तेजी के साथ बढ़ रहा था।

(ब) कृत्रिम कारण (Artificial Causes)—

मुद्रा-प्रसार को जन्म देने वाले ये वे कारण हैं जिन पर सरकार का अधिकार होता है। इन कारणों से पैदा होने वाला मुद्रा-प्रसार एक प्रकार का ऐच्छिक मुद्रा-प्रसार (Deliberate Inflation) होता है। वर्तमान समाज में अधिकांश मुद्रा-प्रसार कृत्रिम कारणों से ही पैदा होते हैं। कृत्रिम कारणों में प्रमुख निम्न-लिखित हैं—

(१) हीनार्थ प्रबन्ध (Deficit Financing)—सरकार के द्वारा घाटे का बजट बनाकर हीनार्थ प्रबन्ध करना वर्तमान समय में मुद्रा-प्रसार का प्रमुख कारण बन गया है। पिछले ५० वर्षों में उत्पन्न होने वाले मुद्रा-प्रसार मुख्यतया सरकार की हीनार्थ प्रबन्ध की नीति के कारण ही पैदा हुए। हीनार्थ प्रबन्ध की नीति के अन्तर्गत सरकार घाटे के बजट बनाती है और अपनी सामान्य आय से अधिक व्यय करती है। बजट के घाटे को पूरा करने के लिए सरकार अधिक करारोपण तथा सार्वजनिक ऋणों के द्वारा अपनी आय को बढ़ाने का प्रयत्न करती है। किन्तु इन साधनों से सरकार की आय में पर्याप्त वृद्धि करना सम्भव नहीं होता है। नये तथा अधिक करों को जनता पसन्द नहीं करती है। बहुत अधिक मात्रा में सार्वजनिक ऋण लेना सम्भव नहीं होता है और उसके लिए सरकार को काफी व्यय करना होता है। ऐसी स्थिति में सबसे आसान तथा सस्ता तरीका नई पत्र मुद्रा छापकर अतिरिक्त आय प्राप्त करना होता है। सरकार केन्द्रीय बैंक से ऋण लेती है और केन्द्रीय बैंक इस माग को पूरा करने के लिए अधिक पत्र मुद्रा जारी करता है। नई मुद्रा जारी होने के कारण वस्तुओं के मूल्य बढ़ने लगते हैं और मुद्रा-प्रसार की स्थिति पैदा हो जाती है।

सरकार के द्वारा हीनार्थ प्रबन्ध (Deficit Financing) की नीति के अपनाने के विभिन्न उद्देश्य हो सकते हैं। प्राय किसी बड़े युद्ध के व्यय को पूरा करने के लिए सरकार के द्वारा हीनार्थ प्रबन्ध की नीति को अपनाया जाता है। युद्ध के कारण सरकार को बहुत अधिक खर्च करना होता है जिसे आय के सामान्य साधनों से पूरा नहीं किया जा सकता है। ऐसे अवसर पर सरकार को नई मुद्रा जारी करके इस अतिरिक्त व्यय को पूरा करना पड़ता है आजकल बहुत से अल्प-विकसित देश अपनी विकास योजनाओं के व्यय को पूरा करने के लिए भी हीनार्थ प्रबन्ध की नीति को अपना रहे हैं। युद्ध-व्यय को पूरा करने के लिए किया जाने वाला हीनार्थ प्रबन्ध काफी खतरनाक हो सकता है क्योंकि उसके फलस्वरूप उत्पत्ति की

मात्रा में बहुत कम वृद्धि होती है किन्तु आर्थिक विकास के लिए किया जाने वाला हीनार्थ प्रबन्ध इतना भयंकर नही होता है क्योकि उसमे पैदा होने वाला मुद्रा-प्रसार कुछ समय पश्चात् अपने आप ठीक हो जाता है ।

(२) सरकार की मुद्रा विस्तार की नीति—(Policy of Monetary Expansion)—सरकार की मुद्रा विस्तार की नीति के कारण भी देश में मुद्रा-प्रसार की दशाये पैदा हो सकती है । कुछ विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सरकार मुद्रा-विस्तार की नीति को अपना सकती है। जैसे देश को अवसाद (Depression) से बाहर निकालने के लिए अथवा आर्थिक विकास के लिए उपलब्ध साधन जुटाने के लिए । यदि देश में अवसाद (Depression) की स्थिति के कारण मूल्य बहुत नीचे है और आर्थिक क्रियायें बहुत धीमी गति से चल रही हैं तो ऐसी दशा मे सरकार आर्थिक उत्थान (Economic Recovery) के लिए मुद्रा तथा साख का विस्तार करने की नीति को अपनाती है । बैंक दर कम कर दी जाती है और सरकार तथा बैंको के द्वारा अधिक मुद्रा व साख का निर्माण किया जाता है । । यदि उत्पादन की मात्रा उतनी तेजी के साथ नही बढ पाती है तो वस्तुओं के मूल्य बढने लगते है और मुद्रा-प्रसार की स्थिति पैदा हो जाती है । आजकल सरकारें आर्थिक विकास के लिए भी मुद्रा-विस्तार की नीति को अपनाती हैं जिसके कारण अस्थायी (temporary) मुद्रा-प्रसार पैदा हो जाता है ।

(३) मुद्रा के चलन वेग में वृद्धि (Increased Velocity of Money)—मुद्रा-प्रसार प्रायः मुद्रा की अत्यधिक निकासी के कारण पैदा होता है किन्तु कभी-कभी मुद्रा की मात्रा में किसी प्रकार की वृद्धि के बिना भी मुद्रा-प्रसार की स्थिति पैदा हो सकती है । ऐसा तब होता है जब मुद्रा की मात्रा मे तो कोई विशेष वृद्धि नही होती है किन्तु उसका चलन वेग बढ जाता है । लोगो मे उपभोग करने की प्रवृत्ति (Propensity to Consume) के बढ जाने के कारण या पूंजी की सीमान्त उत्पादनशीलता में वृद्धि होने पर अथवा लोगों की तरलता पसन्दगी (Liquidity Preference) कम हो जाने के कारण यदि मुद्रा का चलन वेग बढ जाता है तो उसके परिणामस्वरूप भी मुद्रा-प्रसार की दशायें पैदा हो सकती है । आजकल साख मुद्रा के चलन वेग मे वृद्धि होना मुद्रा-प्रसार का एक महत्वपूर्ण कारण माना जाता है । समृद्धि काल मे साख मुद्रा का चलन वेग अधिक होने के कारण ही मूल्य-स्तर मे निरन्तर वृद्धि हुआ करती हैं ।

उत्पत्ति की मात्रा में कमी होना—

वस्तुओं की पूर्ति का पर्याप्त मात्रा मे न होना भी मुद्रा प्रसार का एक महत्वपूर्ण कारण हो सकता है । यदि किसी समाज मे उत्पत्ति की मात्रा स्थिर रहती है अथवा वह उस अनुपात मे नही बढती है जिस अनुपात मे उसकी माग बढ रही है तो ऐसी दशा मे वस्तुओं की कमी के कारण मुद्रा-प्रसार की स्थिति पैदा हो

जाती है। यह भी सम्भव हो सकता है कि उत्पत्ति की मात्रा गिरने के कारण वस्तुओं की पूर्ति कम हो जाय। उत्पत्ति के गिरने अथवा उसमे आवश्यकतानुसार वृद्धि न होने के कई कारण हो सकते हैं, जैसे— (i) उत्पत्ति के साधनो की दुर्लभता (ii) औद्योगिक झगडे (iii) विशिष्ट प्रकार के श्रम का न मिलना (iv) सरकार की दोषपूर्ण औद्योगिक नीति तथा (v) प्राकृतिक आपत्तियाँ। इन सब कारणो से उत्पादन-स्तर मे गिरावट आ सकती है और मुद्रा-प्रसार की दशायें पैदा हो सकती हैं।

मुद्रा-सकुचन (Deflation)—

मुद्रा-सकुचन कीमतो के गिरने की स्थिति होती है। कीमतो मे यह गिरावट सप्रभाविक माग (Effective Demand) के कम होने के कारण आती है। जब चलन मे मुद्रा अथवा साख की मात्रा कम हो जाती है, तो लोगो की आमदनी गिरती है और वे वस्तुओं की कम माग करने लगते हैं, जिसके कारण सप्रभाविक माग गिरती है और कीमते कम होने लगती हैं। प्रो॰ पीगू के अनुसार जब समाज की वास्तविक आय उसकी मौद्रिक आय की अपेक्षा तेजी के साथ बढने लगती है, तो मुद्रा-सकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह स्थिति या तो मुद्रा की मात्रा कम हो जाने के कारण उत्पन्न होती है या वस्तुओं का उत्पादन बढ जाने का परिणाम होती है। मुद्रा-सकुचन की स्थिति मे वस्तुओं की अधिकता होती है, बेरोजगारी फैलती है, उत्पादन की प्रवृत्ति गिरने की होती है, विनियोग कम होता है, बचत बढती है और कीमते गिरती जाती है। कीमतो मे होने वाली प्रत्येक गिरावट को मुद्रा-सकुचन नहीं कहा जा सकता है। जब सप्रभाविक माग (Effective Demand) के कम होने के कारण कीमते गिरती हैं, तो उस स्थिति को मुद्रा-सकुचन कहते हैं।

मुद्रा-संस्फीति (Reflation) तथा मुद्रा-अपस्फीति (Disinflation)

मुद्रा-सस्फीति (Reflation)—

मुद्रा-प्रसार से मिलती-जुलती एक और स्थिति भी हो सकती है, जिसे मुद्रा-सस्फीति कहा जाता है। दोनों में ही मूल्य-स्तर बढता है, किन्तु दोनों के उद्देश्य तथा प्रभाव अलग-अलग होते है। मुद्रा-सस्फीति (Reflation) तथा मुद्रा-स्फीति (Inflation) से बिल्कुल भिन्न होती है। मुद्रा-सस्फीति (Reflation) उस दशा को कहते हैं जब देश को मन्दी से बाहर निकालने के लिए वहाँ की सरकार ऐच्छिक मुद्रा-प्रसार करती है।[9] किसी भी देश को अवसाद (Depression) से बाहर निकालने के लिए समाज में अधिक मौद्रिक आय का होना आवश्यक है। मन्दी की दशाओं को दूर करने के लिए सरकार मुद्रा-प्रसार की नीति को अपनाती है, जिसके कारण वस्तुओं के मूल्य ऊपर उठने लगते है और आर्थिक उत्थान (Economic

9 "Reflation is inflation deliberately undertaken to relieve depression."
—G. D. H. Cole.

recovery) आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार की मुद्रा विस्तार की नीति को सस्फीति कहते है।

मुद्रा-स्फीति (Inflation) देश के लिए घातक होती है और उसे आर्थिक जीवन का भयंकर रोग माना जाता है किन्तु सस्फीति (Reflation) देश के हित में होती है, क्योंकि वह मन्दी की दशाओं को दूर करने में सहायता देती है। मुद्रा-सस्फीति निर्णयात्मक होती है किन्तु मुद्रा-स्फीति राष्ट्र की आर्थिक उन्नति में बाधाये पैदा करती है। मुद्रा-स्फीति की दशा में वस्तुओं के मूल्य तेजी के साथ बढ़ते है और वे एक दूषित चक्र का रूप धारण कर लेते है किन्तु मुद्रा-सस्फीति में मूल्य धीरे-धीरे तथा नियमित गति से बढ़ते है। साधारण शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जब किसी देश को बेकार पूँजी तथा वृत्तिहीन श्रमिकों को काम में लाने के लिए मुद्रा-प्रसार किया जाता है, तो उसे मुद्रा-सस्फीति कहते है किन्तु यदि साधनों का पूर्ण उपयोग होने पर मुद्रा-प्रसार किया जाता है तो उसे मुद्रा-स्फीति कहा जायेगा।

मुद्रा-अपस्फीति (Disinflation)—

जब किसी देश में अत्यधिक मुद्रा-प्रसार की स्थिति पैदा हो जाती है और वस्तुओं के मूल्य बहुत तेजी के साथ बढ़ने लगते है, तो सरकार मुद्रा-अपस्फीति (Disinflation) की नीति के द्वारा देश के मूल्य-स्तर पर मुद्रा-प्रसार के दबाव को कम करने का प्रयत्न करती है। मुद्रा-प्रसार की दशाये पैदा हो जाने पर सरकार के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह मुद्रा विस्तार को रोकने तथा साख व मुद्रा की मात्रा को कम करने का प्रयत्न करे। विभिन्न प्रकार के आर्थिक नियन्त्रणों (Economic control) के द्वारा साख व मुद्रा की मात्रा को सीमित करके सरकार मूल्य-स्तर को बढ़ने से रोकती है। मुद्रा-स्फीति के दोषों को दूर करने के लिए जो नीति अपनाई जाती है, उसे मुद्रा-अपस्फीति (Disinflation) कहते है। इसके अन्तर्गत वे सब उपाय तथा क्रियाये आ जाती है, जो मुद्रा-स्फीति के वेग को कम करने के लिए की जाती है। जिस प्रकार अवसाद (Depression) को रोकने के लिए अपनाई जाने वाली मुद्रा विस्तार की नीति को सस्फीति (Reflation) कहते है, ठीक उसी प्रकार मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए अपनाई जाने वाली मुद्रा-संकुचन की नीति को अपस्फीति (Disinflation) कहते है। मुद्रा-अपस्फीति की नीति के द्वारा मूल्यों को बढ़ने से रोका जाता है और उन्हे धीरे-धीरे गिरने दिया जाता है, जो देश के हित में होता है।

पूर्ण रोजगार-स्तर के द्वारा मुद्रा-सस्फीति तथा मुद्रा-अपस्फीति को अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। प्रो० ब्रज नारायण ने इन स्थितियों में इस प्रकार भेद दिया है—"हम कह सकते है कि आदर्श सन्तुलन बिन्दु तक मुद्रा-सस्फीति (Reflation) की स्थिति होती है और उसके पश्चात् मुद्रा-प्रसार

(Inflation) की ओर यदि हम आदर्श बिन्दु से ऊपर जाते हैं तो वहाँ वापिस लौटने के लिए मुद्रा-अपस्फीति (Disinflation) करनी आवश्यक होगी और यदि हम विपरीत दिशा में नीचे की ओर जाते हैं, तो इसे मुद्रा-सकुचन (Deflation) कहा जाता है।"[10] कीमतों को बढ़ने तथा गिरने की इन सब व्यवस्थाओं को नीचे दिये गए चित्र के द्वारा समझा जा सकता है—
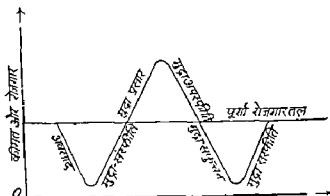
मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-सकुचन के प्रभाव
(Effects of Inflation and Deflation)—

मुद्रा के मूल्य परिवर्तन के भयंकर आर्थिक व सामाजिक परिणाम हो सकते हैं। जब मुद्रा का मूल्य बदलता है तो समाज में उत्पत्ति की मात्रा तथा विभिन्न वर्गों को प्राप्त होने वाली आय में परिवर्तन होता है, जिसके कारण रोजगार की मात्रा भी बदल जाती है। मुद्रा-प्रसार को तो आर्थिक जीवन का क्षय रोग कहा गया है, जो धीरे-धीरे समाज की आर्थिक शक्ति को कमजोर कर देता है और एक सीमा के पश्चात् अर्थ-व्यवस्था की प्रगति बिल्कुल रुक जाती है। मुद्रा-सकुचन के परिणाम इससे भी भयंकर होते हैं, जिनके कारण उत्पत्ति व रोजगार की मात्रा तथा समाज की वास्तविक आय बराबर गिरती चली जाती है। यदि मुद्रा को अपने कार्यों को ठीक प्रकार करना है, तो उसके मूल्य में पर्याप्त स्थिरता का होना आवश्यक है। मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तन आर्थिक क्रियाओं के भली प्रकार चलने में रुकावट पैदा करते हैं। उनके कारण समाज में कुछ लोगों को अनुचित लाभ होते हैं तथा दूसरों को अनावश्यक हानि उठानी पड़ती है। यदि मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों का सब लोगों पर समान प्रभाव पड़ता, तो उनके

---

10 "We might say, that it is *reflation* upto the point of optimum equilibrium, and *inflation* after that and that if you go over the optimum, you have got to have *disinflation* to get back there, and if you go beyond in a dowoward direction then it is *deflation*."

—*Prof Brij Narain* Money and Banking, P-14 & 14.

कारण समाज मे किसी प्रकार की असुविधा न होती। किन्तु मुद्रा के मूल्य परिवर्तन विभिन्न लोगो को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करते हैं। कुछ लोगो को उनसे लाभ होता है और कुछ को हानि उठानी पडती है। मुद्रा के मूल्य परिवर्तन के आर्थिक प्रभावो को अध्ययन के लिए निम्नलिखित दो भागों मे बांटा जा सकता है—

(अ) उत्पत्ति की मात्रा तथा रोजगार पर प्रभाव (Effects on Production and Employment)।

(ब) धन के वितरण पर प्रभाव (Effects on the Distribution of Wealth)।

(अ) उत्पत्ति की मात्रा तथा रोजगार पर प्रभाव—मूल्य-स्तर मे होने वाले परिवर्तन समाज मे रोजगार की मात्रा तथा वास्तविक धन के उत्पादन पर गहरा प्रभाव डालते है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे उत्पत्ति की मात्रा लाभ की आशा पर निर्भर होती है। जब लाभ की आशा अधिक होती है तो व्यवसायी अधिक जोखिम उठाने के लिए तैयार रहते हैं और अधिक विनियोग करते है, जिससे उत्पादन व रोजगार दोनो मे वृद्धि होती है। किन्तु जब लाभ की आशा कम होती है तो उत्पादन व रोजगार दोनों ही कम हो जाते है। अधिक लाभ के समय मे समाज की वास्तविक आय अधिकतम होती है किन्तु यदि लाभ की आशा नही है अथवा हानि की सम्भावना है, तो ऐसी दशा मे समाज की वास्तविक आय गिरने लगती है और काफी कम हो जाती है।

पूर्ण रोजगार का बिन्दु पहुँच जाने के पश्चात् मुद्रा-प्रसार का प्रभाव उत्पादन पर लगभग नहीं के बराबर होता है, क्योंकि बेकार साधन न होने के कारण उत्पादन की मात्रा को बढाना सम्भव नही होता है। किन्तु पूर्ण रोजगार से पूर्व होने वाला मुद्रा-प्रसार उत्पादन को बढाने का प्रभाव रखता है। मुद्रा-प्रसार के समय मे वस्तुओ के मूल्य अधिक होने के कारण उत्पादक वर्ग को अधिक लाभ होने लगता है क्योकि उत्पादन लागतें उस अनुपात मे नही बढती है, जिस अनुपात मे मूल्य बढते है। अधिक लाभ होने के कारण उत्पादको को नये-नये उद्योगो को स्थापित करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है, जिससे उत्पत्ति की मात्रा तथा रोजगार दोनो ही बढते है। इसीलिए मुद्रा-प्रसार का समय उत्पत्ति तथा रोजगार की दृष्टि से अच्छा होता है। लोगो की आय बढती है तथा उन्हे अधिक रोजगार मिलता है। किन्तु यह समृद्धि (Prosperity) अस्थायी होती है और इसके पश्चात् मन्दी (Depression) का आना अनिवार्य होता है। मुद्रा-प्रसार मे लोग इतने अधिक आशावादी हो जाते है कि वे निरन्तर विनियोग को बढाते चले जाते हैं और एक समय के पश्चात् आर्थिक ढांचा अपने ही भार के कारण टूट जाता है। मुद्रा-प्रसार के कारण रहन-सहन का व्यय इतना अधिक बढ जाता है कि श्रमिक वर्ग असतुष्ट हो जाता है, जिसका उत्पादन पर बुरा प्रभाव पडता है।

मन्दी काल (Depression) तो उत्पादन व रोजगार दोनो के लिए ही बुरा होता है। वस्तुओ के मूल्य कम होने के कारण लाभ कम हो जाते है, उत्पादक विनियोग की हुई पूँजी को निकालने लगते हैं। उत्पत्ति का विस्तार रुक जाता है, कारखाने बन्द होने लगते हैं, उत्पादन गिरता है और रोजगार की मात्रा कम हो जाती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मुद्रा-प्रसार के समय मे उत्पादन व रोजगार दोनो बढ़ते हैं और समाज की वास्तविक आय अधिकतम होती है, किन्तु मुद्रा-सकुचन के समय मे उत्पादन कम हो जाता है और बेरोजगारी बढ़ जाती है तथा समाज की वास्तविक आय बहुत कम हो जाती है।

(ब) धन के वितरण पर प्रभाव—मुद्रा के मूल्य परिवर्तन के प्रभाव केवल उत्पत्ति व रोजगार तक ही सीमित नही रहते है, बल्कि वे समाज म धन के वितरण पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। मुद्रा की क्रय-शक्ति का बदलना समाज मे धन का पुनर्वितरण करता है, क्योकि कुछ वस्तुओ के मूल्य अन्य वस्तुओ के मूल्यों की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ बदलते है। उन लोगो को अधिक लाभ होता है जिनकी वस्तुओ के मूल्य तेजी के साथ बदलते है, किन्तु जिनकी वस्तुओ के मूल्य कम बदलते है उन्हे हानि उठानी पडती है। समाज मे धन का वितरण इसलिए भी बदल जाता है क्योकि ऋणो का भुगतान मुद्रा के रूप मे किया जाता है, जिसका मूल्य बदलता रहता है। मूल्यो के बदलने पर समाज मे धन का वितरण किस प्रकार बदलता है, इसे जानने के लिए हमे विभिन्न वर्गों पर मुद्रा-प्रसार व मुद्रा-सकुचन के प्रभावो का अध्ययन करना चाहिए।

(१) मूल्य परिवर्तन और उत्पादक वर्ग (Price Changes and Producers)—मुद्रा-प्रसार के कारण जनता के पास अधिक क्रय-शक्ति हो जाती है और वे अधिक मात्रा मे वस्तुओ की माग करने लगते है। वस्तुओ के उत्पादन को उतनी तेजी के साथ बढाना सम्भव नही होता है और वस्तुओ के मूल्य तेजी के साथ बढने लगते हैं। बढते हुए मूल्य व्यापारियो के लाभ को बढाते है और उन्हे अधिक व्यवसाय करने के लिए प्रोत्साहित करते है। अचानक वे देखते हैं कि उनके माल के स्टॉक का मूल्य निरन्तर बढ रहा है, क्योकि वस्तुओ की माग अधिक होने के कारण वे उन्हे अधिक मूल्य पर बेच सकते हैं। मुद्रा प्रसार के समय मे उत्पादक वर्ग भी बहुत अधिक लाभ पैदा करता है क्योकि वस्तुओ की कीमते तो अधिक होती हैं, किन्तु उनका उत्पादन व्यय उस अनुपात म नही बढता है। कच्चा माल पहले से ही सस्ते भाव पर खरीदा हुआ होता है, मजदूरी की दरो मे कोई विशेष वृद्धि नही होती है। पूँजी पर दिया जाने वाला ब्याज व भूमि का लगान तथा अन्य प्रकार के स्थायी खर्चे लगभग स्थिर रहते है। इस प्रकार उत्पादन लागतें मूल्यो मे होने वाली वृद्धि की अपेक्षा कम तेजी के साथ बढती हैं। जिसके कारण लाभ की दर ऊँची हो जाती है और उत्पादक ऊँची लाभ की दर मे फायदा उठाने के लिए

उत्पादन बढाते है। चारो ओर एक प्रकार का व्यवसायिक आशावाद (Business optimism) फैल जाता है। किसानो को और भी अधिक लाभ होता है, क्योंकि कृषि सम्बन्धी वस्तुओ के मूल्य अन्य प्रकार की वस्तुओ की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ बढते है। इस प्रकार मुद्रा-प्रसार के कारण धन का वितरण उत्पादको के पक्ष मे हो जाता है।

मुद्रा-सकुचन का समय उत्पादकों के लिए आपत्ति का समय होता है। उनके लाभ कम हो जाते है तथा उनकी आय गिरने लगती है। मुद्रा-सकुचन के समय मे मूल्य उत्पादन लागत की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ गिरते है, जिसके कारण उत्पादकों को हानि उठानी पडती है। व्यवसायी वर्ग मे एक प्रकार की निराशा फैल जाती है और उत्पादन कम होने लगता है। मूल्य कम होने के कारण उत्पादको के लाभ समाप्त हो जाते है और वे मजदूरी की दरो को घटाते है तथा श्रमिको को काम से निकालने लगते हैं, जिसके कारण बेरोजगारी फैलती है। कृषको को और अधिक कठिनाई उठानी पडती है, क्योंकि उनकी वस्तुओ के मूल्य बहुत तेजी के साथ गिरते है।

(२) **विनियोगी वर्ग (Investors)**—विनियोगी वर्ग से अभिप्राय उन लोगो से है जो व्यवसाय तथा उद्योग मे अपनी पूँजी लगाकर आय प्राप्त करते है। यह लोग वास्तव मे जोखिम उठाने वाले होते हैं और साहसी का कार्य करते है। इस वर्ग को दो भागो मे बाटा जा सकता है—(i) वे, जिन्हे निश्चित आय प्राप्त होती है तथा (ii) वे, जिनकी आय परिवर्तनशील होती है। निश्चित आय वाले विनियोगी वे होते है, जिन्हे एक निश्चित दर पर अपनी पूँजी पर ब्याज अथवा आय प्राप्त होती है। इन्हे व्यवसाय मे होने वाले लाभ तथा हानि से कोई सम्बन्ध नही होता है। मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियो मे ऋण-पत्र अधिकारी (Debenture holders) इसी प्रकार के विनियोगी होते हैं। निश्चित आय वाले विनियोगियो को मुद्रा-स्फीति काल मे हानि होती है, क्योंकि इनकी विनियोग से होने वाली आय तो निश्चित रहती है, किन्तु वस्तुओ के मूल्य ऊँचा होने के कारण प्राप्त होने वाली आय की क्रय-शक्ति बहुत कम हो जाती है। बहुत अधिक मुद्रा-प्रसार लोगों की बचत करने की शक्ति को कम करता है तथा मुद्रा मे विश्वास कम हो जाने के कारण बचत करने की इच्छा को भी कम करता है। इसके दूसरी ओर परिवर्तनशील आय वाले विनियोगियों को मुद्रा-प्रसार मे लाभ होता है, क्योंकि वे उद्योग के लाभ तथा हानि मे हिस्सेदार होते हैं। व्यवसाय को यदि अधिक लाभ होता है तो इन लोगो को प्राप्त होने वाला लाभअश (Dividend) भी लगभग उसी अनुपात मे बढ जाता है। मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियो के साधारण हिस्सेदार (Ordinary Shareholders) इसी प्रकार के विनियोगी होते है। मुद्रा-प्रसार का समय व्यवसायिक समृद्धि का काल होता है। ऊँचे मूल्यो के कारण व्यवसाय मे बहुत अधिक लाभ प्राप्त होते हैं और परिवर्तनशील आय वाले विनियोगियो की आय

तेजी के साथ बढ़ने लगती है। इस प्रकार अधिकांश विनियोगियों को मुद्रा-प्रसार काल में काफी लाभ होते हैं।

मुद्रा-संकुचन का विनियोगी वर्ग के ऊपर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। केवल निश्चित आय वाले कुछ विनियोगियों को छोड़कर शेष सभी विनियोगियों की आय कम हो जाती है। व्यवसाय तथा उद्योगों में हानि होने के कारण इन लोगों को भी हानि होने लगती है। निश्चित आय वाले विनियोगियों को लाभ रहता है क्योंकि उनकी आय तो यथास्थिर रहती है किन्तु मूल्य-स्तर कम होने के कारण उस आय की क्रय-शक्ति अधिक हो जाती है। इस काल में लोगों को बचत करने का प्रोत्साहन मिलता है किन्तु आय का सामान्य स्तर कम होने के कारण लोगों की बचत करने की क्षमता कम हो जाती है।

(३) **श्रमिक तथा निश्चित आय वाला वर्ग (Labour & Fixed Income Groups)**—मुद्रा-प्रसार काल में श्रमिकों को हानि उठानी पड़ती है क्योंकि मजदूरी की दरें न तो मूल्यों के साथ बढ़ती हैं और न वे उस अनुपात में बढ़ती हैं जिस अनुपात में मूल्य-स्तर बढ़ता है। यह देखा गया है कि 'मजदूरी की दरें सबसे बाद में बढ़ती हैं', जिसके कारण मजदूरी हमेशा कीमतों से पीछे रह जाती है। यद्यपि श्रम संघ श्रमिकों की मजदूरी में कुछ वृद्धि करा लेते हैं किन्तु मजदूरी में वृद्धि उतनी तेजी के साथ नहीं होती है जितनी तेजी के साथ मूल्य बढ़ते हैं। इसलिए श्रमिक वर्ग को नुकसान उठाना पड़ता है। एक ओर तो श्रमिकों की आय में पर्याप्त वृद्धि नहीं होती है और दूसरी ओर मूल्यों के बढ़ने के कारण उनका रहन-सहन का खर्च (Cost of Living) निरन्तर बढ़ता जाता है। ऐसी दशा में श्रमिकों के लिए अपने आवश्यक व्यय को पूरा करना भी सम्भव नहीं होता है। वे या तो पहली बचत को निकाल कर व्यय करने लगते हैं या उन्हें ऋण लेना पड़ता है। बढ़ते हुए मूल्यों के *कारण श्रमिकों का रहन-सहन का स्तर गिरने लगता है। मुद्रा-प्रसार से श्रमिकों* को लाभ भी होता है। रोजगार की मात्रा अधिक होने के कारण बेरोजगारी समाप्त हो जाती है और सभी श्रमिकों को काम मिल जाता है। श्रम परिवारों की मौद्रिक आय बढ़ती है क्योंकि परिवार के सभी सदस्यों को काम मिल जाता है।

निश्चित आय वाले वर्ग को भी मुद्रा-प्रसार के कारण बहुत हानि उठानी पड़ती है। सरकारी कर्मचारी, मकान मालिक तथा भूमिपति इसी वर्ग में आते हैं। इन लोगों की आय में तो किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती है किन्तु रहन-सहन का खर्च निरन्तर बढ़ता रहता है, जिसके कारण निश्चित आय वाला वर्ग बहुत परेशानी में रहता है। मध्यम वर्ग तो लगभग बिल्कुल समाप्त हो जाता है। यद्यपि श्रमिकों तथा सरकारी कर्मचारियों को कुछ महगाई का भत्ता दिया जाता है किन्तु वह मूल्य-स्तर की वृद्धि की तुलना में बहुत कम होता है।

मुद्रा-संकुचन काल में श्रमिक वर्ग को लाभ रहता है क्योंकि मजदूरी की दरें उतनी तेजी के साथ नहीं गिरती हैं जितनी तेजी से वस्तुओं के मूल्य गिरते हैं,

निश्चित आय वाले लोगो के लिए भी यह समय बहुत अच्छा होता है। इस वर्ग के लोगो की आय तो निश्चित रहती है किन्तु मूल्य गिरने के कारण रहन-सहन का व्यय कम हो जाता है। इन लोगो की बचत करने की क्षमता बढ जाती है तथा इनके रहन-सहन के स्तर मे वृद्धि होती है। रोजगार की दृष्टि से श्रमिको को मुद्रा सकुचन काल मे हानि रहती है क्योकि रोजगार की मात्रा कम होने के कारण इन लोगो को कम काम मिलता है। श्रम परिवारो के बहुत से सदस्य बेकार हो जाते है जिसके कारण पारिवारिक आय मे कमी हो जाती है। इस प्रकार मुद्रा-सकुचन काल मे भी श्रमिको की मुद्रा की क्रय-शक्ति के बढ जाने से कोई विशेष लाभ नहीं हो पाता है क्योकि उनमे बहुत से बेकार हो जाते है।

(४) उपभोक्ता वर्ग (Consumers)—उपभोक्ताओ पर मुद्रा-प्रसार का बुरा प्रभाव पडता है। विशेषकर निश्चित आय वाले उपभोक्ताओ को तो बहुत कठिनाई उठानी पडती है। इन लोगो की आय की अपेक्षा वस्तुओ के मूल्य अधिक तेजी के साथ बढते है। वस्तुये और सेवाये दुर्लभ हो जाती है और उनके मूल्य मे तेजी के साथ वृद्धि होती है। बढते हुए मूल्य उपभोक्ताओ के लिए अच्छे नही होते है। जो आय उन्हे प्राप्त होती है उससे वे अपने आवश्यक खर्चो को भी पूरा नहीं कर पाते है और उनका रहन-सहन का स्तर गिरने लगता है। वे ऋण लेकर अथवा अपनी बचत को खर्च करते है, इस प्रकार मुद्रा-प्रसार धन के वितरण को उपभोक्ताओ के विपक्ष मे तथा उत्पादको के पक्ष मे कर देता है।

मुद्रा-सकुचन का काल उपभोक्ताओ के लिए अच्छा होता है क्योकि उन्हे कम मूल्य पर वस्तुये प्राप्त होने लगती है। मूल्यो के गिरने के कारण वे अपनी आय से अधिक मात्रा मे वस्तुयें खरीद सकते हैं। उनका रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो जाता है तथा वे कुछ बचत भी कर लेते है। किन्तु परिवर्तनशील आय वाले उपभोक्ताओ को कठिनाई होती है क्योकि बेरोजगारी तथा उत्पादन कम होने के कारण उनकी आय काफी गिर जाती है।

(५) ऋणी तथा ऋणदाता (Debtors & Creditors)—वर्तमान समाज मे लगभग प्रत्येक व्यक्ति या तो ऋणी होता है या ऋणदाता और उनमे से प्रत्येक दशा मे मूल्य परिवर्तनो का उस पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पडता है। मुद्रा-प्रसार काल मे ऋणी को लाभ रहता है और ऋणदाता को हानि उठानी पडती है। इसके दूसरी ओर मुद्रा-सकुचन काल मे ऋणी को बहुत नुकसान होता है और ऋणदाताओ को लाभ रहता है। मुद्रा-प्रसार काल मे मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो जाने के कारण ऋणो का भार कम हो जाता है और ऋणी वर्ग को अपने ऋणो का भुगतान करने के लिए कम क्रय-शक्ति का त्याग करना पडता है। ऋणी अपने ऋणो का भुगतान मुद्रा मे करते है जिसकी क्रय-शक्ति ऋण लिए जाने के समय की अपेक्षा बहुत कम रह जाती है। मुद्रा के रूप मे तो वे उतना ही लौटाते है किन्तु क्रय-शक्ति के रूप मे

कम लौटाया जाता है। ऋणदाताओं को हानि रहती है क्योंकि उन्हें दिये गये ऋणों के बदले में कम क्रय-शक्ति वापस मिलती है। उदाहरणार्थ यदि १९३९ में उधार लिए गये १००) रु० को १९५० में लौटाया जाता है जबकि वस्तुओं के मूल्य १९३९ की अपेक्षा चार गुणा बढ़ चुके थे। मुद्रा की क्रय शक्ति कम हो जाने के कारण १९५० में १००) रु० केवल उतना सामान खरीदते थे जितना १९३९ में २५) रु० के द्वारा खरीदा जा सकता था। इस प्रकार १९५० में ऋणी १००) रु० के ऋण को लौटाने में केवल २५) रु० की क्रय-शक्ति ही वापिस लौटाता है जिसके कारण ऋणी को लाभ होता है और ऋणदाता को हानि।

इसकी दूसरी ओर जब वस्तुओं के मूल्य गिरते है तो ऋणी-वर्ग को हानि रहती है और ऋणदाताओं को लाभ होता है। ऋणी अपने ऋणों को चुकाने के लिए उतनी ही मुद्रा वापस देते हुए अधिक क्रय-शक्ति हस्तान्तरित करते है। मन्दी काल (Depression) में ऋणों का भार बहुत अधिक बढ़ जाता है और ऋणी वर्ग को बहुत अधिक कष्ट होता है। इसीलिए सरकार अवसाद काल में इन लोगों के ऋणों की मात्रा को कम करके तथा अन्य तरीकों से इनकी सहायता करती है। ऋणदाताओं को मन्दी काल में लाभ रहता है क्योंकि उन्हें ऋणों के बदले में अधिक क्रय शक्ति वापस मिलती है।

(६) सरकार व कर दाता (Govt and Tax Payers)—मूल्य परिवर्तनों का करदाताओं तथा सरकार पर भी प्रभाव पड़ता है। बढ़ते हुए मूल्यों के समय में करदाताओं को लाभ रहता है क्योंकि वह कर (Tax) मुद्रा के रूप में देना है जिसका मूल्य पहले की अपेक्षा काफी कम होता है। यद्यपि करदाताओं को कुछ अधिक कर देने होते हैं किन्तु वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप में वे सरकार को कम देते है। मुद्रा-प्रसार काल में करों का भार कम हो जाता है और करदाताओं को कर देने में कम त्याग करना पड़ता है। इसके दूसरी ओर सरकार को हानि रहती है क्योंकि उन्हें करों के रूप में कम क्रय-शक्ति प्राप्त होती है। मुद्रा के रूप में तो उन्हें उतने ही कर प्राप्त होते हैं किन्तु वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप में कम मिलता है। क्रय-शक्ति कम होने के कारण, प्राप्त होने वाली आय बाजार से कम सामान खरीद पाती है और सरकार को अपना व्यय पूरा करने के लिए अधिक कर लगाने होते है।

मुद्रा-संकुचन काल में करदाताओं को हानि रहती है और सरकार को लाभ रहता है। करदाताओं को कर में उतना ही रुपया देना होता है जितना कि वे पहले दे रहे थे किन्तु अब वे वस्तुओं के रूप में अधिक देते है। सरकार को लाभ होता है क्योंकि मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाने के कारण अब उन्हें वस्तुओं के रूप में अधिक कर प्राप्त होते हैं।

मूल्य परिवर्तन के सामाजिक प्रभाव—

अभी तक हमने मूल्य परिवर्तनो के आर्थिक प्रभावो पर विचार किया है। मुद्रा-प्रसार व मुद्रा-सकुचन के सामाजिक प्रभाव भी कुछ कम भयकर नही होते है। मूल्य परिवर्तन का समय सामाजिक अशाति तथा मुसीबत का समय होता है। जब वस्तुओ के मूल्य बढते है तो श्रमिक अपनी मजदूरी की दरो मे वृद्धि की माग करते है क्योकि मूल्य-स्तर के ऊँचा हो जाने के कारण उनका रहन-सहन का व्यय बढ जाता है। इसीलिए मुद्रा-स्फीति काल मे हडताले बहुत अधिक हुआ करती है और श्रमिक वर्ग असन्तुष्ट रहता है। श्रमिक मजदूरी बढाने की माग करते है किन्तु पूँजीपति मजदूरी को नही बढाना चाहते है जिसके कारण श्रमिको तथा पूँजीपति वर्ग मे सघर्ष होना है जो सामाजिक अशाति उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त मुद्रा-प्रसार के कारण समाज मे धन का वितरण अमीर लोगो के पक्ष मे तथा गरीब लोगो के विपक्ष मे हो जाता है जिसके कारण भी सामाजिक अशाति उत्पन्न होती है। मुद्रा-प्रसार के कारण अमीर उद्योगपति तथा पूँजीपति लाभ उठाते है और गरीब तथा मध्यम श्रेणी के लोगो की आय कम होती जाती है। धन के वितरण की बढती हुई असमानताये वर्ग सघर्ष की तीव्रता को बढाती है। आर्थिक व सामाजिक दोषो के साथ-साथ मुद्रा-प्रसार लोगो का नैतिक पतन भी करता है। समाज मे धन का वितरण अन्यायपूर्ण हो जाने के कारण लोगो का विश्वास सरकार तथा नैतिकता के प्रति उठ जाता है। जल्दी अमीर होने की प्रवृति के कारण व्यवसायिक नैतिकता अत्यधिक निम्न स्तर पर होती है। जर्मनी तथा फास के उदाहरण इस बात को स्पष्ट करते हैं कि वहाँ मुद्रा-प्रसार काल मे किस प्रकार लोगो का नैतिक पतन हुआ।

मुद्रा-सकुचन के कारण जब मूल्य गिरते हैं तो उत्पादक मजदूरी की दरो मे कमी करना चाहते है तथा मजदूरो को काम से हटाते है। श्रमिक इसका विरोध करते है और मजदूरी की दरो मे कमी नही होने देते जिसके कारण सामाजिक सघर्ष उत्पन्न होता है। मन्दी काल मे मिल मालिको की ओर से ताला बन्दी (Lock out) होती है जिसके कारण उत्पादन गिरता है तथा श्रमिको को कष्ट उठाने पडते है। इस प्रकार मूल्य परिवर्तनो के सामाजिक प्रभाव भी उतने ही बुरे होते है जितने की आर्थिक प्रभाव।

मुद्रा-स्फीति तथा विस्फीति दोनो बुरी है—

अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुद्रा-स्फीति (Inflation) तथा मुद्रा-विस्फीति (Deflation) दोनो ही हानिकारक तथा अनावश्यक है। दोनो का ही समाज पर बुरा प्रभाव पडता है और दोनो को रोकना आवश्यक है किन्तु इन दोनो मे से मुद्रा-स्फीति कम खराब है तथा विस्फीति अधिक बुरी है। प्रो० केन्स (Keynes) के अनुसार—"मुद्रा-प्रसार अनुचित है तथा मुद्रा-संकुचन अव्यावहारिक

है। दोनो मे से सम्भवत. मुद्रा-सकुचन अधिक बुरा है।"[११] प्रो० सेलिगमैन के अनुसार "बढ़ते हुए तथा गिरते हुए मूल्यो के कारण देश की अर्थ-व्यवस्था मे एक ऐसी अस्थिरता आ जाती है जिसके कारण कृषि, व्यापार तथा उद्योग की स्थिति डॉवाडोल हो जाती है और समाज के विभिन्न वर्गों को विषम अनुपात मे लाभ तथा हानि होती है। अत वस्तुओ के मूल्यो मे अस्थिरता नही रहनी चाहिए।" मुद्रा-प्रसार के कारण देश की उत्पादन व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पडता है। यद्यपि आरम्भ मे उत्पादन तथा रोजगार मे वृद्धि होती है और लोगो की मौद्रिक आय भी बढ़ती है किन्तु यह स्मृद्धि अस्थायी होती है क्योंकि इसे अधिक समय तक बनाये नही रक्खा जा सकता है। इस स्मृद्धि मे आने वाले अवसाद (Depression) के कीटाणु मौजूद होते हैं।

मुद्रा-स्फीति इसलिए अनुचित होती है क्योंकि वह समाज मे बनावटी सम्पन्नता पैदा करती है जो कुछ समय पश्चात् स्वय समाप्त हो जाती है। उसके कारण उत्पादन की क्रियाओ मे असामान्य वृद्धि होती है जिसे आर्थिक ढाँचा सम्भालने मे असमर्थ रहता है और जल्दी ही अवसाद की दशाये पैदा हो जाती है। समाज मे व्यवसायिक आशावाद के कारण अत्यधिक व्यापार, अत्यधिक उत्पादन तथा अत्यधिक विनियोग की दशायें पैदा हो जाती है। मुद्रा-प्रसार का बुरा प्रभाव केवल उत्पादन व्यवस्था तक ही सीमित नही रहता है बल्कि उसके कारण समाज मे धन का वितरण बदलकर व्यापारी तथा उत्पादक वर्ग के पक्ष मे हो जाता है और श्रमिको तथा निश्चित आय वालो के विपक्ष मे रहता है। प्रो० केन्स (Keynes) ने मुद्रा-प्रसार को अन्यायपूर्ण कहा है क्योंकि उसके कारण समाज मे धन के वितरण की असमानताये बढ़ जाती है क्योंकि वह एक अनिवार्य कर की भाँति गरीबो की आय को कम कर देता है तथा व्यवसायिक वर्ग की आय को बढ़ाता है। प्रो० सी० एन० वकील ने मुद्रा-प्रसार की तुलना एक डाकू से की है। उनके अनुसार दोनो ही हमारा धन लूटते हैं, अन्तर केवल इतना है कि डाकू दिखलाई देता है परन्तु मुद्रा-प्रसार अदृश्य रहता है, डाकू एक समय मे कुछ व्यक्तियो को ही लूटता है किन्तु मुद्रा-प्रसार समस्त राष्ट्र को लूटता है तथा डाकू पर मुकदमा चलाया जा सकता है किन्तु मुद्रा-प्रसार वैधानिक है।"[१२] इस प्रकार मुद्रा-प्रसार अनुचित भी है और अन्यायपूर्ण भी।

---

11 "Inflation is unjust, deflation is inexpedient of the two, deflation is worse." —*Keynes*

12 "*Inflation may be compared to a robber. Both deprive the victim* of some possession with the difference that robber is visible inflation is invisible; the robber's victim may be one or a few at a time, the victim of inflation is the whole nation, the robber may be dragged to a court of law, inflation is legal." —*C. N Vakil* Financial Burden of War on India.

प्रो० केन्स (Keynes) ने मुद्रा-संकुचन (Deflation) को इसलिए अनुपयुक्त कहा है क्योंकि समाज को उससे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। समाज का कोई भी वर्ग उससे स्थाई लाभ की आशा नहीं कर सकता है। मुद्रा-प्रसार तो कुछ विशेष दशाओं में समाज के लिए लाभपूर्ण भी हो सकता है किन्तु मुद्रा-संकुचन से हानि के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता है। देश में आर्थिक विकास के लिए अथवा युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था को चालू रखने के लिए मुद्रा-प्रसार का प्रयोग लाभपूर्ण हो सकता है किन्तु मुद्रा-संकुचन किसी भी दशा में समाज के लिए उपयोगी नहीं है। अत्यधिक मुद्रा-प्रसार की स्थिति पर नियन्त्रण करने में वह कुछ सहायता दे सकता है, किन्तु इसके अतिरिक्त उसका और कोई प्रयोग नहीं है। मुद्रा-संकुचन समाज में भयङ्कर आर्थिक बुराइयाँ पैदा करता है। उत्पादन तथा रोजगार की मात्रा के ऊपर उसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। वस्तुओं के मूल्यों के गिरने के कारण व्यापारिक निराशा पैदा होती है, उद्योग बन्द होने लगते हैं, उत्पादन कम हो जाता है तथा बेरोजगारी फैलती है। उत्पत्ति कम होने से तथा बेकारी के कारण लगभग सभी लोगों को बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है। विशेषकर उत्पादक वर्ग के ऊपर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है क्योंकि लाभ समाप्त हो जाने के कारण उनकी आय कम हो जाती है। अवसाद काल में समाज की वास्तविक आय भी गिर जाती है। इन्हीं सब कारणों से मुद्रा-संकुचन को अव्यवहारिक बतलाया गया है।

मुद्रा-प्रसार व मुद्रा-संकुचन दोनों ही आर्थिक व सामाजिक दृष्टि से बुरे हैं। मुद्रा-प्रसार बनावटी सम्पन्नता पैदा करता है तथा धन के वितरण की असमानताओं को बढ़ाता है। मुद्रा-संकुचन उत्पादन को कम करता है तथा बेकारी को बढ़ाता है। दोनों ही आर्थिक प्रगति के रास्ते में भारी बाधायें पैदा करते हैं। किन्तु दोनों की तुलना करने पर यह प्रतीत होता है कि दोनों में से मुद्रा-संकुचन अधिक बुरा है। क्योंकि वह उत्पादन को कम करके उन्नति की दशायें समाप्त कर देता है और बेकारी के कारण लोगों को असह्य कष्ट सहने पड़ते हैं। मुद्रा-संकुचन इसलिए भी अधिक बुरा है क्योंकि उस पर नियन्त्रण की सम्भावना बहुत कम है। मुद्रा-स्फीति को सफल आर्थिक नीति के द्वारा रोका जा सकता है किन्तु अवसाद (Depression) में फँसे हुए देश को निकालना बहुत कठिन होता है। प्रत्येक देश को ऐसी मौद्रिक नीति अपनानी चाहिए जिससे वह अपनी अर्थ-व्यवस्था को मुद्रा-प्रसार व मुद्रा-संकुचन दोनों ही से बचा सके। आर्थिक स्थिरता मौद्रिक नीति का प्रथम उद्देश्य होना चाहिए।

मुद्रा-प्रसार को रोकने के उपाय (Methods to Check Inflation)—

मुद्रा-प्रसार के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण अध्ययन उन उपायों की खोज करना है जिनके द्वारा समाज में मुद्रा-प्रसार के दोषों को दूर किया जा सकता है। सामाजिक न्याय की दृष्टि से मूल्यों में स्थिरता का होना अनिवार्य है। आर्थिक

विकास के लिए न तो मुद्रा-स्फीति और न विस्फीति ही अच्छी होती है। दोनो ही आर्थिक जीवन के भयकर रोग है और दोनों पर नियन्त्रण करके समाज को उनमे मुक्त करना आवश्यक है। उचित मौद्रिक नीति के द्वारा समाज को इन दोषो मे मुक्त किया जा सकता है। इसीलिए आजकल मौद्रिक प्रवन्ध (Monetary Management) का प्रथम उद्देश्य आर्थिक स्थिरता (Economic Stability) माना जाता है।

मुद्रा-प्रसार मुख्यत दो कारणो से पैदा होता है—अत्यधिक मुद्रा-विस्तार तथा उत्पादन का गिरना। इसलिए मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिए दो प्रकार के उपायो का प्रयोग किया जा सकता है—(अ) वे उपाय जिनके द्वारा मुद्रा के विस्तार को रोका जा सकता है तथा (ब) वे उपाय जिनके द्वारा उत्पादन मे वृद्धि की जा सकती है।

मुद्रा-विस्तार को रोकने के लिए निम्नलिखित उपायो का प्रयोग किया जा सकता है—

(i) मुद्रा व साख की मात्रा को कम करना—केन्द्रीय बैंक उचित मौद्रिक नीति के द्वारा देश मे मुद्रा व साख की मात्रा को बढने से रोक सकता है तथा उसे कम कर सकता है। बैंक-दर मे वृद्धि करके तथा खुले बाजार की क्रियाओ के द्वारा मुद्रा व साख की मात्रा को बढने से रोका जा सकता है किन्तु अल्प विकसित देशो मे उपयुक्त दशाये न होने के कारण बैंक-दर नीति तथा खुले बाजार की क्रियाये अधिक प्रभावशाली नही होती है। इन देशो मे बैंको के कोषो मे परिवर्तन करके तथा प्रत्यक्ष नियन्त्रण के द्वारा साख की मात्रा को नियन्त्रित किया जाना चाहिए। यदि मुद्रा-प्रसार भयकर रूप धारण कर लेता है तो उसे रोकने के लिए सरकार को कुछ अव्यवहारिक तरीकों का प्रयोग भी करना पडता है। किसी विशेष प्रकार की मुद्रा को चलन से हटा लेना तथा प्रचलित मुद्रा को रद्द करके उसके स्थान पर नई मुद्रा जारी करना और पुरानी मुद्रा के बदले मे नई मुद्रा कम मात्रा मे देना इसी प्रकार के कुछ उपाय है जिनका प्रयोग युद्ध आदि काल मे किया जाता है।

(ii) करों मे वृद्धि करना तथा नये कर लगाना—मुद्रा-स्फीति काल मे लोगो के पास अधिक मात्रा मे क्रय-शक्ति होती है जिसके कारण वे वस्तुओ की अधिक माग करते है और उनके मूल्य बढने लगते हैं। जनता के पास क्रय-शक्ति को कम करना मुद्रा प्रसार को रोकने का एक प्रभावशाली तरीका है। सरकार वर्तमान करो मे वृद्धि करके तथा नये कर लगा कर लोगो के पास से अतिरिक्त मुद्रा निकाल लेती है जिसके कारण उपभोक्ताओ के पास कम क्रय-शक्ति रह जाती है। जनता की आय कम होने से वस्तुओ तथा सेवाओ की माग कम हो जाती है और मुद्रा-प्रसार का दबाव कम होने लगता है।

(iii) अधिक मात्रा मे सार्वजनिक ऋण लेना—सरकार सार्वजनिक ऋण सम्बन्धी नीति मे परिवर्तन करके भी मुद्रा-प्रसार को बढने मे रोक सकती है।

अधिक मात्रा में जनता से ऋण लेकर सरकार लोगों की क्रय-शक्ति को कम कर सकती है। जब जनता के पास व्यय करने के लिए कम मुद्रा रह जाती है तो वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि रुक जाती है।

(iv) **आर्थिक नियन्त्रणों का प्रयोग**—सरकार विभिन्न प्रकार के आर्थिक नियन्त्रणों (Economic controls) के द्वारा वस्तुओं के मूल्यों को बढ़ने से रोक सकती है तथा अल्प पूर्ति वाली आवश्यक वस्तुओं के उचित बँटवारे का प्रबन्ध कर सकती है। इसके लिए मूल्य नियन्त्रण (Price control) तथा राशनिंग (Rationing) की नीति को अपनाया जाता है। लोगों की आय को कम करने के लिए सरकार लाभ अंश नियन्त्रण (Dividend control) भी कर सकती है। यदि देश में मजदूरी प्रोत्साहित मुद्रा-प्रसार (Wage Induced Inflation) है तो सरकार मजदूरी की दरों पर नियन्त्रण करके उसे रोक सकती है। इसके अतिरिक्त भविष्य में विनियोग की मात्रा को कम करने के लिए सरकार के द्वारा विनियोगों पर भी नियन्त्रण किया जा सकता है।

(v) **बचत को प्रोत्साहन देना**—मुद्रा-प्रसार को रोकने का एक और प्रभावशाली तरीका लोगों के द्वारा की जाने वाली बचत को बढ़ाना है। यदि लोग अपनी आय का अधिक भाग बचाने लगते हैं तो वे कम व्यय करेंगे और मुद्रा-स्फीति की प्रगति रुक जायगी। बचत बढ़ाने के लिए सरकार विभिन्न प्रकार के प्रोत्साहन दे सकती है और यदि आवश्यक हो तो अनिवार्य बचत योजना भी चालू की जा सकती है।

देश में वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति को बढ़ाना—मुद्रा-प्रसार को रोकने का सबसे प्रभावशाली तरीका देश में वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा में वृद्धि करना है। विशेषतया आवश्यक वस्तुओं जैसे खाना, कपड़ा, मकान इत्यादि के उत्पादन में वृद्धि होने का प्रभाव मूल्य-स्तर को कम करने का होता है। यदि देश में उत्पत्ति की मात्रा को भी उसी तेजी के साथ बढ़ाया जाता है जिस तेजी से मुद्रा की मात्रा बढ़ रही है, तो मुद्रा-प्रसार का भय समाप्त हो जाता है। वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति को बढ़ाने के लिए निम्नलिखित उपाय किये जा सकते है—

(i) **उद्योग-धन्धों तथा कृषि को प्रोत्साहन देना**—नये-नये उद्योग-धन्धे स्थापित किये जाने चाहिएँ तथा वर्तमान उद्योगों की कार्य-क्षमता में वृद्धि की जानी चाहिए जिससे अधिक मात्रा में वस्तुयें पैदा की जा सकें। कृषि उत्पादन को भी प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए जिससे अधिक मात्रा में अनाज तथा कच्चा माल उपलब्ध हो सके। इस प्रकार देश में वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति को बढ़ाकर मूल्य-स्तर को बढ़ने से रोका जा सकता है।

(ii) **वस्तुओं का अधिक मात्रा में आयात करना**—देश में वस्तुओं की पूर्ति को बढ़ाने के लिए विदेशों से अधिक वस्तुयें मँगानी चाहिएँ तथा देश से बाहर जाने वाली वस्तुओं की मात्रा को कम कर देना चाहिए। निर्यातों पर प्रतिबन्ध

लगाने चाहिएँ तथा आयातो को प्रोत्साहन देना चाहिए। ऐसा करने से देश मे वस्तुओं की पूर्ति बढ जायगी और वस्तुओ के मूल्य गिरने लगेंगे।

(iii) सरकार के द्वारा उत्पादन किया जाना—सरकार को उत्पादन बढाने मे प्रत्यक्ष भाग लेना चाहिए। जिन उद्योगो को निजी क्षेत्र मे स्थापित नहीं किया जा सकता उन्हे सरकार को स्वय स्थापित करना चाहिए। इसी प्रकार कृषि-क्षेत्र मे भी सरकारी खेती के द्वारा कृषि उपज को बढाने का प्रयत्न करना चाहिए।

मुद्रा-सकुचन को दूर करने के उपाय—

यद्यपि मुद्रा-प्रसार की अपेक्षा मुद्रा-सकुचन को रोकना अधिक कठिन होता है किन्तु फिर भी अर्थशास्त्रियों के द्वारा कुछ ऐसे उपायो की खोज कर ली गई है जिनके द्वारा समाज को मुद्रा-सकुचन की बुराइयों से मुक्त किया जा सकता है। यही कारण है कि आजकल मुद्रा-सकुचन का भय पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गया है। मुद्रा-सकुचन के उत्पन्न होने के मुख्य कारण मुद्रा की कमी अथवा वस्तुओं की अधिकता होती है इसलिए सरकार को ऐसे उपाय काम मे लाने चाहिएँ जिनके द्वारा मुद्रा व साख की मात्रा मे वृद्धि की जा सके तथा विभिन्न प्रकार के विनियोगों को प्रोत्साहित किया जा सके। मुद्रा-सकुचन को रोकने के लिए सरकार को देश मे मुद्रा व साख की मात्रा का विस्तार करना चाहिए तथा विभिन्न प्रकार के विनियोगों को प्रोत्साहन देना चाहिए। मुद्रा व साख को बढाने के लिए बैंक-दर को कम कर देना चाहिए तथा केन्द्रीय बैंक के द्वारा प्रतिभूतियो को खरीदा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य तरीको से भी बैंको को अधिक मात्रा मे साख का निर्माण करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। किन्तु अनुभव यह बतलाता है कि किसी देश को अवसाद काल से बाहर निकालने के लिए मौद्रिक उपाय अधिक सफल नही होते है। व्यवसायिक निराशावाद के कारण विनियोग की मात्रा मे वृद्धि करना सम्भव नही होता है। केवल सूद की दर को कम कर देने से विनियोग नही बढता है इसलिए लार्ड केन्स (Keynes) ने यह सुझाव दिया कि अर्थ-व्यवस्था में गति उत्पन्न करने के लिए सरकार को स्वय विनियोग करना चाहिए और सार्वजनिक हित के कामो को अपने हाथ मे लेना चाहिए। इस प्रकार सरकारी विनियोग के द्वारा मुद्रा-सकुचन को रोकने मे काफी सहायता मिल सकती है। सरकार को करो की मात्रा कम कर देनी चाहिए जिससे लोगो के पास अधिक क्रय-शक्ति बच सके और जिसके द्वारा वे वस्तुओं की अधिक माग करे। सार्वजनिक ऋणो की मात्रा भी कम कर देनी चाहिए। घाटे के बजट अवसाद को रोकने का एक महत्वपूर्ण तरीका है। सरकार को लोगों की आय मे वृद्धि करने के लिए तथा रोजगार को बढाने के लिए स्वय विनियोग करना चाहिए। नई निर्माण योजनाओ पर तथा जनहित कार्यो म अधिक व्यय किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त आयातों को कम करने तथा निर्यातो को प्रोत्साहन देने से भी अवसाद की दशाओं पर नियन्त्रण करने मे सहायता मिलती है।

मुद्रा-प्रसार तथा आर्थिक विकास—

आजकल अल्प विकसित देशों में मुद्रा-प्रसार को आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण साधन माना जाने लगा है। अल्प विकसित देशों में प्रायः पूँजी कम होने के कारण आर्थिक विकास की योजनाओं को कार्य रूप में लाना सम्भव नहीं होता है जिसके कारण इन देशों के बहुत से साधन बेकार पड़े रहते हैं। वर्तमान अर्थशास्त्रियों के अनुसार इन देशों में नियन्त्रित मुद्रा प्रसार की नीति को अपनाकर इन बेकार साधनों को काम में लाया जा सकता है। यदि नव निर्मित मुद्रा का प्रयोग बेकार साधनों को काम में लाने के लिए किया जाता है तो कुछ समय पश्चात् देश में उत्पादन बढ़ने लगता है और मुद्रा-प्रसार स्वयं ठीक हो जाता है। प्रो० लेविस (Lewis) के अनुसार 'आर्थिक विकास के लिए किया जाने वाला मुद्रा-प्रसार स्वयं ठीक होने वाला (Self-correcting) होता है जिससे इन देशों को किसी प्रकार का भय नहीं होना चाहिए।

यद्यपि सरकार के द्वारा जारी की जाने वाली नई मुद्रा स्वयं पूँजी नहीं होती है किन्तु वह पूँजी के निर्माण में सहायता दे सकती है क्योंकि उसके द्वारा बेकार साधनों को उत्पत्ति कार्य में लगाया जा सकता है। इस प्रकार देश में पूँजीगत वस्तुओं की मात्रा बढ़ जाती है और आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा होता है। कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा-प्रसार समाज में पूँजी के सचय में भी सहायता देता है क्योंकि उसके द्वारा देश में बचत की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। मुद्रा-प्रसार समाज में धन के वितरण को उन लोगों के पक्ष में करता है जिनमें बचत करने की आदत अधिक होती है। वस्तुओं के मूल्य कम होने के कारण सामान्य उपभोक्ताओं को अनिवार्य रूप से उपभोग कम करना पड़ता है। उत्पादक तथा व्यवसायिकों को 'अधिक लाभ मिलते हैं जिनका अधिक भाग वे बचाते हैं और इस प्रकार समाज में पूँजी का सचय अधिक होता है। किन्तु यह तब ही सम्भव होता है जब मुनाफा प्राप्त करने वाले वर्ग के व्यय को बढ़ने दिया जाय और उन्हें अतिरिक्त लाभ को बचाने के लिए प्रोत्साहन दिये जायें।

आर्थिक विकास के लिए मुद्रा-प्रसार का प्रयोग बड़ी सावधानी से किया जाना चाहिए क्योंकि अधिक मुद्रा-प्रसार आर्थिक विकास के आधार को समाप्त कर देता है। आर्थिक विकास के लिए मुद्रा-प्रसार को प्रयोग करते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए—

(१) मुद्रा की मात्रा को धीरे-धीरे तथा नियमित गति से बढ़ाना चाहिए।

(२) नवनिर्मित मुद्रा का प्रयोग केवल उत्पादक कार्यों में ही किया जाना चाहिए और उसे वर्तमान उपभोग पर व्यय नहीं करना चाहिए।

(३) नव-निर्मित मुद्रा को उत्पादन सम्बन्धी ऐसी योजनाओं में लगाना चाहिए जिनसे नया उत्पादन शीघ्र प्राप्त किया जा सके।

(४) विभिन्न प्रकार के आर्थिक नियन्त्रणों के द्वारा सरकार को आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों को बढ़ने से रोकना चाहिए।

(५) अनाज तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के भण्डार सरकार के पास काफी मात्रा में होने चाहिएँ जिससे कि वह इन वस्तुओं की कीमतों के बढ़ने की प्रवृति को रोक सके।

परीक्षा-प्रश्न

(१) मुद्रा-स्फीति किसे कहते हैं ? इसके प्रभावों की विवेचना कीजिये। इसे कैसे नियन्त्रित किया जा सकता है ? (आगरा बी० ए० १९६२)

(२) "मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण तथा असमतापूर्ण है और मुद्रा-विस्फीति अनुपयुक्त है।" इस कथन की विवेचना कीजिये।
(आगरा बी० ए० १९६१, विक्रम बी० ए० १९६०, जबलपुर बी० काम १९५८, गोरखपुर बी० काम १९५९)

(३) मुद्रा के मूल्य परिवर्तन से समाज पर क्या प्रभाव पड़ते हैं ? इस पर प्रकाश डालें। (आगरा बी० ए० १९६०)

(४) मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-सकुंचन में क्या अन्तर है ? स्पष्ट कीजिए। देश की आर्थिक उन्नति के लिए किन-किन परिस्थितियों में मुद्रा-प्रसार लाभदायक हो सकता है ? (आगरा बी० ए० १९५८)

(५) "मुद्रा के मूल्य परिवर्तनों का उत्पादन और वितरण पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है और यह परिवर्तन अधिक सामाजिक महत्व रखते हैं।" व्याख्या कीजिए। (आगरा बी० ए० १९५७)

(६) मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों का समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है ? (आगरा बी० काम १९६०)

(७) मुद्रा-स्फीति किसे कहते हैं ? किन परिस्थितियों में और किस सीमा तक इसे उचित माना जा सकता है ? (आगरा बी० काम० १९५९ स)

(८) ऐसा किस प्रकार हो सकता है कि सरकार अधिक मुद्रा की निकासी करके भी कीमतों की वृद्धि को रोक सके ? (राजस्थान बी० ए० १९६०)

(९) मुद्रा-प्रसार को करारोपण का सबसे बुरा रूप क्यों समझा जाता है ? स्पष्ट कीजिए। (बिहार बी० ए० १९५९)

(१०) मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन लाने वाले कारणों का उल्लेख कीजिए। इन परिवर्तनों को कम से कम करने के लिए आप क्या करेंगे ?
(बिहार बी० काम १९५९)

(११) "घाटे की अर्थ प्रबन्ध से मुद्रा-प्रसार होता है।" आप मुद्रा-प्रसार पर कैसे नियन्त्रण कर सकते हैं ? (पटना बी० ए० १९५७)

९

निर्देशांक

INDEX NUMBERS

मुद्रा के मूल्य में प्राय परिवर्तन होते रहते है। समाज मे वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतो के स्थिर न रहने के कारण, मुद्रा की क्रय-शक्ति मे परिवर्तन होते है और उसका मूल्य बदल जाता है। मुद्रा के मूल्य मे होने वाले इन परिवर्तनो का हमारे आर्थिक व सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव पडता है। उनके कारण देश मे उत्पत्ति की मात्रा, रोजगार का स्तर तथा धन का वितरण बदलता रहता है। देश मे वस्तुओ की कितनी मात्रा उत्पन्न की जायगी तथा किन-किन वस्तुओ का उत्पादन होगा और उत्पत्ति के विभिन्न साधनो को कितना रोजगार मिलेगा, यह सब कुछ मूल्य-स्तर की स्थिति पर निर्भर होता है। मूल्य-स्तर के बदलने पर धन का उत्पादन तथा वितरण दोनो ही बदलते हैं। पूँजीवादी समाज मे तो मूल्य-यन्त्र उत्पादन की प्रवृत्ति तथा मात्रा को निर्धारित करने वाली शक्ति होता है और वस्तुओ तथा सेवाओ के मूल्यो की प्रवृत्ति का अध्ययन किये बिना ऐसे समाज मे उत्पादन सम्बन्धी निर्णय करना असम्भव होता है। मुद्रा के मूल्य परिवर्तन के आर्थिक जीवन पर पडने वाले प्रभावो का सही-सही अनुमान लगाने के लिए हमे मुद्रा की क्रय-शक्ति को नापने की आवश्यकता पडती है। विभिन्न समय मे मुद्रा की क्रय-शक्ति का तुलनात्मक अध्ययन करके ही हम किसी देश की सही आर्थिक दशा को जान सकते है तथा आर्थिक क्रियाओ मे होने वाले परिवर्तनो का अनुमान लगा सकते है और उस देश के लिए उचित आर्थिक नीति का निर्माण किया जा सकता है। इस प्रकार मुद्रा के मूल्य को नापना तथा उसमे होने वाले परिवर्तनो का अध्ययन करना आर्थिक नियोजन तथा आर्थिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है।

मुद्रा का मूल्य उसकी क्रय-शक्ति पर आधारित होता है और सामान्य मूल्य-स्तर के बदलने पर बदलता रहता है। मूल्य-स्तर के बढ जाने पर मुद्रा का मूल्य घट जाता है और उसके घटने पर बढ जाता है। इसलिए मुद्रा के मूल्य को नापने

के लिए हमें सामान्य मूल्य-स्तर का अध्ययन करना होता है। सामान्य मूल्य-स्तर में होने वाले परिवर्तन ही मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों को सूचित करते हैं। मुद्रा के मूल्य को जानने के लिए हमें सामान्य मूल्य-स्तर ज्ञात होना चाहिए। किन्तु किसी भी समय पर मूल्य स्तर का जानना आसान नहीं है क्योंकि विभिन्न वस्तुओं के मूल्य विभिन्न दिशाओं में बदलते रहते हैं। सब वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्यों में एक साथ तथा एक ही दिशा में परिवर्तन नहीं होते हैं। जब कुछ वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य बढ़ते है तो अन्य कुछ वस्तुओं के मूल्य गिर सकते हैं और इस प्रकार यह परिवर्तन विविध दिशाओं में हुआ करते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य एक-सी तीव्रता के साथ नहीं बदलते हैं। कुछ वस्तुओं के मूल्य बहुत तेजी के साथ बदलते हैं और कुछ के कम तेजी के साथ। इन सब भिन्नताओं के कारण सामान्य मूल्य-स्तर को नापना काफी कठिन हो जाता है और उसका सही-सही माप सम्भव नहीं है। यद्यपि व्यक्तिगत कीमतों के परिवर्तन प्रति-विरोधी हो सकते हैं किन्तु फिर भी इस प्रकार के परिवर्तनों में एक सामान्य प्रवृत्ति का पता लगाया जा सकता है। इस प्रकार की सामान्य प्रवृत्ति के द्वारा ही मूल्य-स्तर को नापा जा सकता है। मूल्य परिवर्तनों की इस केन्द्रीय प्रवृत्ति को निर्देशाक के द्वारा नाप सकते हैं। अतः निर्देशाक मुद्रा के मूल्य परिवर्तनों को नापने का एक-मात्र साधन है। निर्देशाक जब बढ़ता है तो मुद्रा का मूल्य गिर जाता है और जब *गिरता है तो मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है।*

निर्देशाक मुद्रा के मूल्य का निरपेक्ष (Absolute) माप प्रस्तुत नहीं करते हैं। उनके द्वारा केवल मुद्रा के मूल्य में होने वाले सापेक्षिक परिवर्तनों (Relative changes) को नापा जा सकता है तथा विभिन्न समय के मूल्य-स्तर की तुलना की *जा सकती है। किसी निश्चित समय पर मूल्य-स्तर कितना है, इसे निर्देशाक के* द्वारा नहीं बतलाया जा सकता है किन्तु वह किसी दूसरे समय की अपेक्षा कितना बढ़ गया है अथवा कम हो गया है, इसे हम सूचक अंकों की सहायता से जान सकते हैं। मुद्रा के मूल्य का निरपेक्ष माप सम्भव नहीं है और न उसकी कोई आवश्यकता ही है क्योंकि हम केवल किसी निश्चित काल में मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों को ही जानना चाहते हैं। इन परिवर्तनों को निर्देशाकों के द्वारा नापा जा सकता है।

मुद्रा की क्रय-शक्ति को उन वस्तुओं के मूल्यों के द्वारा जाना जा सकता है जिन पर मुद्रा को सामान्यतः व्यय किया जाता है। किन्तु मुद्रा के बदले में खरीदी और बेची जाने वाली समस्त वस्तुओं के मूल्यों का अध्ययन करना सम्भव नहीं है। इसलिए उनमें से कुछ प्रतिनिधि वस्तुओं के मूल्यों का औसत निकाला जाता है। यह वस्तुयें ऐसी होनी चाहिएँ जिन पर लोग अपनी आय खर्च करते हों। जिन वस्तुओं तथा सेवाओं पर मुद्रा को खर्च किया जाता है उनके मूल्यों के औसत

(Average) को मूल्य-स्तर (Price level) कहा जाता है और एक से अधिक वर्षों के मूल्य-स्तरो के समूह (Series of Price levels) को निर्देशाक कहते है। जब विभिन्न समय के मूल्य-स्तरो को एक तालिका के रूप मे इस प्रकार रक्खा जाये कि वे वस्तुओ तथा सेवाओं के मूल्य मे होने वाले परिवर्तनो को सूचित कर सके तो उन्हे निर्देशाक कहते है। चैण्डलर (Chandler) के अनुसार "कीमतो का निर्देशाक आधार वर्ष की औसत कीमतो की ऊंचाई की तुलना मे किसी अन्य समय पर उनकी ऊँचाई को प्रकट करने वाली सख्या होता है।"[1] इस प्रकार निर्देशाक के द्वारा हम किसी समय के मूल्य-स्तर की तुलना आधार वर्ष के मूल्य-स्तर के साथ करके यह पता लगा सकते हैं कि वर्तमान समय मे कीमते आधार वर्ष की अपेक्षा कितनी बढ गई है अथवा कम हो गई है। निर्देशाक को विभिन्न प्रकार की वस्तुओ तथा सेवाओ के मूल्य परिवर्तनो को सूचित करने वाले सारयकी औसत (Statistical Average) कहा जाता है। उनके द्वारा मुद्रा के मूल्य मे होने वाले परिवर्तनो की तीव्रता का अनुमान लगाया जा सकता है।

निर्देशाक के प्रकार (Types of Index Numbers)—

निर्देशाक विभिन्न उद्देश्यो को लेकर बनाये जाते है। उनके द्वारा हम केवल मुद्रा की क्रय-शक्ति को ही नही नापते है बल्कि उनकी सहायता से आर्थिक जीवन की विभिन्न क्रियाओ को नापा जा सकता है। विभिन्न उद्देश्यो के लिए विभिन्न प्रकार के निर्देशाक का निर्माण किया जाता है जिनमे से निम्नलिखित मुरय है—

(१) सामान्य मूल्य निर्देशांक (General Price Index)—इन निर्देशाकों का निर्माण मुद्रा की क्रय-शक्ति मे होने वाले परिवर्तनो को नापने के लिए किया जाता है। इस प्रकार के निर्देशाको को बनाने के लिए उन वस्तुओ तथा सेवाओ को सम्मिलित किया जाता है जो लोगो के द्वारा सामान्यत. उपभोग की जाती है। विभिन्न वस्तुओ को उन पर व्यय की जाने वाली आय के अनुपात मे भार दिया जाता है। इनका निर्माण करते समय, उपभोग की जाने वाली समस्त वस्तुओ को सम्मिलित करना सम्भव नही होता है, इसलिए इन्हे केवल प्रतिनिधि वस्तुओ के आधार पर ही बनाया जाता है। इस प्रकार के निर्देशाक बनाते समय मुरयतया थोक मूल्यो का प्रयोग किया जाता है। इन्हे बनाना काफी कठिन होता है और इनकी उपयोगिता भी सीमित होती है क्योकि ये मुद्रा की क्रय-शक्ति मे होने वाले परिवर्तनो का सही अनुमान नही दे पाते है।

---

1 "An index number of prices is a figure showing the height of average prices at one time relative to their heights at some other time that is taken as base period."

—*L. V Chandler*: An Introduction to Monetary Theory, P. 10.

(२) श्रमिकों के जीवन-निर्वाह व्यय निर्देशांक (Working class cost of living Index Numbers)—यह निर्देशांक मजदूरों के रहन-सहन के व्यय में होने वाले परिवर्तनों को नापने के लिए बनाये जाते हैं। आजकल इस प्रकार के निर्देशांकों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। इनकी सहायता से हम श्रमिकों की आर्थिक स्थिति में होने वाले परिवर्तनों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। मुख्यत इनका प्रयोग मजदूरी की दरों को रहन-सहन के व्यय के बराबर करने के लिए किया जाता है। रहन-सहन व्यय निर्देशांक बनाने के लिए केवल उन्हीं वस्तुओं को लिया जाता है जिन पर श्रमिक वर्ग प्राय अपनी आय खर्च करता है। विभिन्न वस्तुओं को उनके महत्व के अनुसार भार दिया जाता है। वस्तुओं के दिये जाने वाले भार किसी विशेषज्ञ-मण्डल द्वारा निश्चित किये जाते हैं। इन्हें बनाते समय फुटकर मूल्यों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

(३) थोक कीमतों के निर्देशांक (Wholesale Price Index)—इस प्रकार के निर्देशांक वस्तुओं के थोक मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों को नापने के लिए बनाये जाते हैं। इन्हें बनाते समय कच्चे माल, अर्ध निर्मित वस्तुओं तथा तैयार माल के मूल्यों को सम्मिलित किया जाता है। विभिन्न वस्तुओं को देश की अर्थ-व्यवस्था में उनके तुलनात्मक महत्व के अनुसार भार दिया जाता है जो उत्पत्ति गणना (Production census) के आधार पर निश्चित किये जाते हैं। इन निर्देशांकों का प्रयोग भी मुद्रा की क्रय-शक्ति को नापने के लिए किया जाता है किन्तु इस कार्य के लिए वे पूर्णतया सतोषजनक नहीं होते हैं। वे केवल थोक मूल्यों के आधार पर बनाये जाते हैं जबकि उपभोक्ता अपनी वस्तुओं को फुटकर मूल्य पर खरीदते हैं, इस लिए वे उपभोक्ताओं के लिए मुद्रा की क्रय-शक्ति में होने वाले परिवर्तनों को नहीं बता सकते हैं।

(४) औद्योगिक निर्देशांक (Industrial Index Numbers)—इन निर्देशांकों का प्रयोग देश की औद्योगिक स्थिति तथा विभिन्न उद्योगों की प्रगति को जानने के लिए किया जाता है। प्राय विभिन्न उद्योगों की उत्पत्ति का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए उन्हें बनाया जाता है। सर्वप्रथम आधार वर्ष में भिन्न-भिन्न उद्योगों के उत्पादन सम्बन्धी आँकड़े इकट्ठे किये जाते हैं और फिर अन्य वर्षों की उत्पत्ति के आँकड़े इकट्ठा करते हैं। आधार वर्ष के उत्पादन को १०० मान कर अन्य वर्षों के उत्पादन की उसमें तुलना की जाती है। उत्पादन निर्देशांक में जितने प्रतिशत वृद्धि होती है उसी अनुपात में उस उद्योग का उत्पादन बढ़ा है।

उपरोक्त प्रकार के निर्देशांकों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के निर्देशांक भी होते हैं जैसे आय निर्देशांक, आर्थिक स्थिति के निर्देशांक, अन्तर्राष्ट्रीय निर्देशांक इत्यादि। वास्तव में निर्देशांकों का प्रयोग प्रत्येक आर्थिक घटना के तुलनात्मक परिवर्तनों को नापने के लिए किया जा सकता है।

निर्देशांकों की निर्माण विधि
(Method of Constructing Index Number)—

सामान्य कीमतो के निर्देशाको का निर्माण करते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान मे रखना होता है—

(१) आधार वर्ष का चुनाव (Selection of the Base Year)—सर्वप्रथम हमे एक ऐसे आधार वर्ष को निश्चित करना होता है जिसके साथ वर्तमान मूल्य-स्तर की तुलना की जाती है। निर्देशाक किस उद्देश्य के लिए बनाये जा रहे हैं इस बात को ध्यान मे रखकर ही आधार वर्ष का चुनाव करना चाहिए। आधार वर्ष सामान्य आर्थिक क्रियाओं का वर्ष होना चाहिए। वह वर्ष ऐसा होना चाहिए जिसमें वस्तुओं के मूल्य बहुत अधिक ऊँचे अथवा नीचे न हो। यह वर्ष युद्ध अथवा अन्य प्रकार की आर्थिक आपत्तियों का काल भी नहीं होना चाहिए। क्राऊथर (Crowther) ने आधार वर्ष के महत्व को इस प्रकार व्यक्त किया है—"निर्देशाको के आधार वर्ष, जिससे अन्य वर्षों की तुलना की जाती है, का वही महत्व है जो एक नक्शे मे स्वीकृत रेखा (Datum Line) का होता है जिसके द्वारा अन्य ऊँचाइयों को स्पष्ट किया जा सकता है।"[2] क्योंकि आधार वर्ष के मूल्य अन्य वर्षों के मूल्य परिवर्तनों की तुलना का आधार होते हैं इसलिए उसके चुनाव मे विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है। आधार वर्ष ऐसा होना चाहिए जिसमे आर्थिक क्रियायें सामान्य गति से चल रही हो। जहाँ तक सम्भव हो सके यह वर्ष मुद्रा-सकुचन (Deflation) के समाप्त होने के बाद तथा मुद्रा-प्रसार आरम्भ होने से पूर्व का वर्ष होना चाहिए। आजकल अधिकाश निर्देशाक बनाने के लिए १६३६ को आधार वर्ष माना जाता है क्योंकि वह वर्ष ऐसा वर्ष था जब अर्थ-व्यवस्था के ऊपर मन्दी का प्रभाव समाप्त हो चुका था और तेजी का प्रभाव आरम्भ नहीं हुआ था। युद्धोत्तर काल मे प्रायः १६५० को आधार वर्ष मान कर निर्देशाक बनाये जाते हैं।

(२) प्रतिनिधि वस्तुओं का चुनाव (Selection of Representative Commodities)—निर्देशाक बनाने के लिए हमे कुछ प्रतिनिधि वस्तुओं तथा सेवाओं को चुनना होता है। क्योंकि सब वस्तुओं के मूल्यों को लेकर निर्देशाक बनाना सम्भव नहीं है इसलिए कुछ ऐसी वस्तुओं तथा सेवाओं को चुन लिया जाता है जो मुद्रा की क्रय-शक्ति का प्रतिनिधित्व कर सके। इन वस्तुओं को चुनने से पूर्व हमे यह निश्चय करना होता है कि निर्देशाक किस वर्ग के लिए बनाये जा रहे हैं और उनका क्या उद्देश्य है। भिन्न-भिन्न वर्गों के लिए हमे भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिनिधि

---

2 "Any period will do, but it is necessary to have some base to which later prices can be compared just as every map-maker must have a datum-line to which he can refer altitudes"

—*Crowther*: An Outline of Money, P. 87.

वस्तुओं को चुनना होता है। जिस वर्ग के लिए निर्देशांक बनाये जाते हैं उस वर्ग के लोग जिन वस्तुओं पर अपनी आमदनी को प्रायः खर्च करते हों, उन्हीं वस्तुओं में से प्रतिनिधि वस्तुयें चुनी जानी चाहिएँ। उदाहरणार्थ यदि श्रमिक वर्ग के रहन-सहन के खर्च में होने वाले परिवर्तनों को नापने के लिए निर्देशांक बनाते हैं तो हमें केवल उन्हीं वस्तुओं को लेना चाहिए जो श्रमिकों के द्वारा प्रयोग की जाती हों। हमें मोटरकार, पैट्रोल तथा कीमती फर्नीचर आदि के मूल्यों को इनमें सम्मिलित नहीं करना चाहिए।

वस्तुओं के चुनाव सम्बन्धी समस्या यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती है। इस सम्बन्ध में हमें यह भी निश्चय करना होता है कि निर्देशांक बनाने के लिए कितनी प्रतिनिधि वस्तुएँ चुनी जायें? इस बारे में कोई निश्चित नियम नहीं हो सकता है किन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि अधिक वस्तुओं के आधार पर बनाये गये निर्देशांक अच्छे होते हैं किन्तु बहुत अधिक संख्या में वस्तुओं को लेने से किसी विशेष लाभ की आशा नहीं की जा सकती है। इस सम्बन्ध में प्रो० फिशर (Fisher) ने स्पष्ट रूप से लिखा है—'जब तक वस्तुओं की संख्या २० से अधिक न हो तब तक निर्देशांक कोई विशेष व्यावहारिक महत्व नहीं रखते हैं। यदि यह संख्या ५० तक हो तो और भी अच्छा है किन्तु ५० के पश्चात् वस्तुओं की संख्या अधिक करने से होने वाला लाभ मामूली होता है और २०० के पश्चात् तो संख्या बढ़ाने से कोई भी लाभ प्राप्त नहीं होता है।"[3] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि निर्देशांक बनाने के लिए वस्तुओं की संख्या न तो बहुत अधिक होनी चाहिए और न बहुत कम।

(३) वस्तुओं के मूल्यों को इकट्ठा करना (Collection of Prices)—प्रतिनिधि वस्तुओं के चुनाव के पश्चात् हम इनके मूल्यों को इकट्ठा करना होता है। आधार वर्ष तथा वर्तमान वर्ष में इन वस्तुओं की मूल्य-सूची तैयार की जाती है। मूल्यों को इकट्ठा करते समय यह सवाल पैदा होता है कि थोक मूल्यों (Wholesale Prices) को लेकर निर्देशांकों का निर्माण किया जाय अथवा फुटकर मूल्यों Retail Prices) का प्रयोग किया जाय। सामान्यतः निर्देशांकों को बनाते समय थोक मूल्यों का प्रयोग किया जाता है क्योंकि इस प्रकार की मूल्य सूची इकट्ठा करना आसान होता है। अधिकांश निर्देशांक थोक मूल्य के आधार पर ही बने होते हैं किन्तु इस प्रकार के निर्देशांक बहुत अच्छे नहीं होते हैं क्योंकि वे मुद्रा की

1 "Seldom are index numbers of much value unless they consist of more than 20 commodities, and 50 is much better. After 50, the improvement obtained from increasing the number of commodities is gradual and it is doubtful if the gain from increasing the number beyond 200 is ordinarily worth the extra trouble and expense."

—*Irving Fisher* The Making of Index, Numbers, P. 340.

क्रय-शक्ति के होने वाले परिवर्तनों का सही प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। फुटकर मूल्यों (Retail Prices) के आधार पर बनाये गये निर्देशांक अधिक अच्छे होते हैं किन्तु उन्हें बनाना बहुत कठिन होता है क्योंकि फुटकर मूल्यों का इकट्ठा करना आसान नहीं है। कौनसे मूल्यों को लेकर निर्देशांक बनाये जाये, यह इस बात पर निर्भर होता है कि वे किस उद्देश्य के लिए बनाये जा रहे हैं। मुद्रा के मूल्य परिवर्तनों को नापने वाले निर्देशांक बनाने समय थोक मूल्यों का प्रयोग किया जाता है। किन्तु रहन-सहन व्यय सम्बन्धी निर्देशांक (Cost of Living Index Numbers) बनाने के लिए फुटकर मूल्यों (Retail Prices) का प्रयोग किया जाना चाहिए।

(४) **औसत निकालना** (Averaging)—प्रतिनिधि वस्तुओं को इकट्ठा करने के पश्चात् उनका औसत निकाला जाता है। इस सम्बन्ध में यह समस्या पैदा होती है कि कौन-सी विधि से औसत निकाले जाये क्योंकि औसत कई प्रकार के होते हैं। अधिकांश निर्देशांक गणितात्मक औसत (Arithmetic Average) के आधार पर बनाये जाते हैं किन्तु कभी-कभी गुणोत्तर औसत (Geometric Average) का भी प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार अलग-अलग दशाओं में विभिन्न प्रकार के औसत का प्रयोग किया जाता है।

साधारण निर्देशांक की निर्माण विधि
(Construction of Simple Index Numbers)—

उपर्युक्त सब बातों को निश्चित करने के पश्चात् प्रत्येक प्रतिनिधि वस्तु के आधार वर्ष के मूल्यों को, प्रतिशत निकालने के लिए, १०० के बराबर कर लिया जाता है और उन सबको जोड़कर वस्तुओं की संख्या से भाग दे देते हैं। इस प्रकार आधार वर्ष के मूल्यों का गणितात्मक औसत (Arithmetic Average) आ जाता है जो आधार वर्ष का निर्देशांक होता है। आधार वर्ष का निर्देशांक प्रत्येक दशा में १०० आता है। इसके पश्चात् वर्तमान वर्ष के मूल्यों को लेकर उनके मूल्य-सम्बन्धी (Price Relatives) निकाले जाते हैं जो वस्तुओं के वर्तमान मूल्यों को आधार वर्ष के मूल्यों के प्रतिशत के रूप में व्यक्त करते हैं। मूल्य-सम्बन्धी निकालने की विधि इस प्रकार है—यदि सन् १९५० को आधार वर्ष माना जाता है और १९६४ के मूल्यों की उस वर्ष के मूल्यों के साथ तुलना करने के लिए निर्देशांक बनाने हैं तो प्रत्येक वस्तु के १९५० के मूल्य को १०० के बराबर मान लेते हैं और इन वस्तुओं के १९६४ के मूल्यों को उनके प्रतिशत के रूप में व्यक्त करते हैं। उदाहरणार्थ यदि १९५० में चावल का मूल्य ६०) रु० प्रति कुन्तल था तो उसे १०० के बराबर माना जाता है और १९६४ में उसका मूल्य १२०) रु० प्रति कुन्तल हो जाने पर उसे २०० के बराबर माना जाता है। इसे मूल्य-सम्बन्धी (Price Relatives) कहते हैं। इस विधि से सब वस्तुओं के वर्तमान मूल्यों को उनके आधार वर्ष के मूल्यों के साथ सम्बन्धित किया जाता है। इस प्रकार प्राप्त होने वाले सब वस्तुओं के मूल्य-

सम्बन्धियों (Price Relatives) को जोड़कर वस्तुओं की संख्या से भाग दे देते हैं और वर्तमान वर्ष का औसत मूल्य-स्तर अथवा निर्देशांक निकल आता है। वर्तमान वर्ष के निर्देशांक की आधार वर्ष के निर्देशांक के साथ, तुलना करने से हमें मूल्य-स्तर मे होने वाले प्रतिशत परिवर्तन का पता लग जाता है।

निर्देशांक बनाने की इस विधि को निम्नलिखित उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

साधारण निर्देशांक (Simple Index Numbers)

वस्तु संख्या	प्रतिनिधि कीमतें	आधार वर्ष सन् १९५०		सन् १९६४	
		कीमतें	कीमत सम्बन्धी	कीमतें	कीमत सम्बन्धी
१	गेहूँ	२५ रु० प्रति कुन्तल	१००	१०० रु० प्रति कुन्तल	४००
२	चावल	४० ,, ,,	१००	१२० ,, ,,	३००
३	दाल	३० ,, ,,	१००	९० ,, ,,	३००
४	कपड़ा	१ रु० प्रति मीटर	१००	२·५० रु० प्रति मीटर	२५०
५	ईंधन	३ रु० प्रति कुन्तल	१००	६ रु० प्रति कुन्तल	२००
६	दूध	४० पैसे प्रति लीटर	१००	६० पैसे प्रति लीटर	१५०
			६०० ÷ ६ = १००		१६०० ÷ ६ = २६६·७

कीमत परिवर्तन + १६६·७ प्रतिशत

उपर्युक्त तालिका से पता चलता है कि आधार वर्ष (१९५०) का निर्देशांक यदि १०० था तो वर्तमान वर्ष (१९६४) का निर्देशांक २६६·७ है जो इस बात को बतलाता है कि १९६० मे वस्तुओं का कीमत-स्तर १९५० के कीमत-स्तर की तुलना में १६६·७% बढ़ गया है और मुद्रा का मूल्य उसी अनुपात में कम हो गया है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि १९६४ का कीमत-स्तर १९५० की अपेक्षा ढाई गुना से कुछ अधिक हो गया है।

साधारण निर्देशांकों के दोष (Defects of Simple Index Numbers)—

साधारण निर्देशांक मुद्रा के मूल्य मे होने वाले परिवर्तनों को ठीक-ठीक नहीं बताते हैं और वे हमें धोखा दे सकते हैं। साधारण निर्देशांकों का सबसे बड़ा दोष यह है कि उन्हें बनाते समय प्रत्येक वस्तु को समान महत्व (Equal Importance) दिया जाता है। किन्तु वास्तव में उपभोग की जाने वाली प्रत्येक वस्तु व्यय की दृष्टि

से समान महत्व नही रखती है। कुछ वस्तुये अधिक महत्वपूर्ण होती है और कुछ कम। उपभोक्ता सब वस्तुओ पर समान व्यय नही करता है। कुछ वस्तुओ पर वह अपनी आय का अधिक भाग खर्च करता है और कुछ पर बहुत कम। जिन वस्तुओ पर आय का अधिक भाग खर्च होता है उनके मूल्य मे जरा सी वृद्धि होने पर उपभोक्ता के लिए मुद्रा की क्रय-शक्ति काफी कम हो जाती है क्योकि अब इन वस्तुओ पर उसे अपनी आय का बहुत अधिक भाग व्यय करना पडता है। इसके दूसरी ओर जिन वस्तुओ पर आय का कम भाग व्यय किया जाता है उनके मूल्य मे होने वाली वृद्धि उपभोक्ता पर कोई विशेष प्रभाव नही डालती है क्योकि उन पर किया जाने वाला व्यय बहुत कम रहता है। उदाहरणार्थ गेहूँ, चावल तथा कपडे जैसी आवश्यक वस्तुओ के मूल्य के मामूली परिवर्तन, चाकलेट तथा आइसक्रीम जैसी कम आवश्यक वस्तुओ के मूल्यो के बडे परिवर्तनो की अपेक्षा हमे कम प्रभावित करते है। साधारण निर्देशाक इस बात का ध्यान नही रखते है और उसमे आवश्यक तथा कम आवश्यक वस्तुओ के मूल्य परिवर्तनो को समान महत्व दिया जाता है। इसलिए साधारण निर्देशाक हमे मुद्रा के मूल्य परिवर्तनो का सही ज्ञान नही देते हैं। इस दोष को सभार निर्देशाको (Weighted Index Numbers) बना कर दूर किया जा सकता है।

सभार निर्देशाक (Weighted Index Numbers)—

यदि निर्देशाक बनाते समय प्रत्येक वस्तु को उसके महत्व के अनुसार भार (weight) दे दिया जाय तो इस विधि से अच्छे प्रकार के निर्देशाको का निर्माण किया जा सकता है। जब वस्तुओ तथा सेवाओ को उनके महत्व के अनुसार भार (weight) देकर निर्देशाक बनाये जाते हैं तो उन्हे सभार निर्देशाक (Weighted Index Numbers) कहते है। इस प्रकार के निर्देशाक मूल्य परिवर्तनो का अधिक अच्छा अनुमान दे सकते है। विभिन्न वस्तुओ को भार (weight) देते समय हमे यह देखना होता है कि कौनसी वस्तु पर उपभोक्ता अपनी आय का कितना भाग खर्च करता है। जिस वस्तु पर आय का जितना अधिक भाग व्यय किया जाता है वह उतनी ही अधिक महत्वपूर्ण होती है और उसे अधिक भार (weight) दिया जाता है। जिन वस्तुओ पर आय का कम भाग व्यय किया जाता है वे कम महत्वपूर्ण है और इसलिए उन्हे कम भार दिया जाता है। इस प्रकार विभिन्न वस्तुओ को उन पर किये जाने वाले व्यय के अनुपात मे भार (weight) दिया जाता है। उदाहरणार्थ गेहूँ तथा कपडे पर लोग सामान्यता अपनी आय का बहुत अधिक भाग व्यय करते है इसलिए निर्देशाक बनाते समय इनका अधिक महत्व होता है और इन्हे अधिक भार दिया जाता है। इसके दूसरी ओर तम्बाकू, चाय, नमक, चाकलेट आदि वस्तुओ पर आय का बहुत कम भाग व्यय किया जाता है इसलिए उन्हे कम भार (weight) दिया जाता है। सभार निर्देशाक (Weighted Index Numbers) आगे दी हुई विधि से बनाये जाते है।

सभार निर्देशांक बनाने के लिए प्रत्येक वस्तु के आधार वर्ष के मूल्य को १०० के बराबर मान लेते है और फिर उस वस्तु के लिए निश्चित भार (weight) से इसे गुणा कर देते है। इस प्रकार विभिन्न वस्तुओं के मूल्य प्रतिशत तथा उनके भार के जो गुणनफल आते हैं उन्हें जोडकर भार की कुल सख्या (total number of weights) मे भाग दे देते हैं और इस प्रकार आधार वर्ष का निर्देशांक १०० आ जाता है। इसके पश्चात् वर्तमान वर्ष के कीमत सम्बन्धी (price relatives) निकाल लिए जाते हैं और उनमे से प्रत्येक को उस वस्तु के भार (weight) से गुणा कर देते हैं। प्राप्त होने वाले मूल्य सम्बन्धियों तथा भार के गुणनफल (price relatives × weights) को जोड दिया जाता है और उसे भार की कुल सख्या total number of weights) मे भाग दे देते है जिससे वर्तमान वर्ष का निर्देशाक प्राप्त हो जाता है।

अगले पृष्ठ पर तालिका को देखने से पता चलता है कि १९६४ का सभार निर्देशांक ३१९.१३ जो इस बात का सूचक है कि *१९६४ का मूल्य-स्तर १९५०* की अपेक्षा २१९.१३ प्रतिशत बढ गया है जबकि साधारण निर्देशाक केवल १९९.७ प्रतिशत की ही वृद्धि दिखलाता है। यह असमानता इसलिए पाई जाती है क्योंकि व्यय की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण वस्तुओं का मूल्य कम महत्वपूर्ण वस्तुओं की अपेक्षा अधिक बढ गया है।

निर्देशांक बनाने की कठिनाइयाँ (Difficulties in the Construction of Index Numbers)—निर्देशांकों को बनाते समय कुछ व्यवहारिक कठिनाइयाँ आती हैं, जिन्हे दूर किये बिना सही निर्देशांकों का निर्माण करना सम्भव नही होता है। इनमे से प्रमुख कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं—

(१) आधार वर्ष को चुनने मे कठिनाई—आधार वर्ष का चुनाव करने समय हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि वह वर्ष एक सामान्य वर्ष हो और उसमे किसी प्रकार की असमान्य घटनाये न घटी हो। जहाँ तक सम्भव हो सके एक औसत दर्जे का साल ही आधार वर्ष के तौर पर लिया जाना चाहिए। यदि आधार वर्ष सामान्य वर्ष नही है तो ऐसी दशा मे निर्देशाक मूल्य-स्तर के उतार-चढाव को ठीक-ठीक सूचित नही कर सकेंगे। उदाहरणार्थ यदि हम आज के मूल्यों की तुलना युद्ध काल के ही किसी वर्ष से करते हैं तो हमे मालूम होगा कि मूल्य-स्तर मे कोई विशेष वृद्धि नही हुई है, किन्तु यदि उनकी तुलना युद्ध से पूर्व के किसी सामान्य वर्ष के साथ की जाये तो ज्ञात होगा *कि मूल्य-स्तर पहले की अपेक्षा काफी बढ गया है*। मुद्रा के मूल्यों मे होने वाले परिवर्तनों का सही-सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें ऐसा आधार वर्ष लेना *चाहिए जो न तो तेजी का वर्ष हो और न मन्दी का, बल्कि दोनों* के बीच मे पडता हो। इस प्रकार के आधार वर्ष का चुनाव काफी मुश्किल होता है। यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता है कि कौन-सा साल तेजी का है, अथवा मन्दी का है या सामान्य है।

सभार निर्देशांक (Weighted Index Numbers)

वस्तु संख्या	वस्तुएँ	भार	आधार वर्ष सन् १९५०		सन् १९५४	
			कीमते	भार युक्त कीमत सम्बन्धी	कीमतें	भार युक्त कीमत सम्बन्धी
१	गेहूँ	१०	२५ रु० प्रति कुन्तल	१००×१०=१०००	१०० रु० प्रति कुन्तल	४००×१०=४०००
२	चावल	५	४० रु० प्रति लीटर	१००× ५= ५००	१२० रु० प्रति कुन्तल	३००× ५=१५००
३	दाल	१	३० रु० प्रति कुन्तल	१००× १= १००	९० रु० प्रति कुन्तल	३००× १= ३००
४	कपडा	४	१ रु० प्रति मीटर	१००× ४= ४००	२·५० प्रति मीटर	२५०× ४=१०००
५	ईंधन	२	३ रु० प्रति कुन्तल	१००× २= २००	६ रु० प्रति कुन्तल	२००× २= ४००
६	दूध	१	४० पैसे प्रति लिटर	१००× १= १००	६० पैसे प्रति लिटर	१५०× १= १५०
		२३		२३००		७३५०
				२३००÷२३ =१००		७३५०÷२३ =३१९·१३

(२) प्रतिनिधि वस्तुओं के चुनाव की कठिनाई—निर्देशांकों की उपयोगिता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर होती है कि कौनसी वस्तुओं को लेकर उन्हें बनाया गया है। जहाँ तक वस्तुओं की संख्या का सम्बन्ध है इस विषय में कोई निश्चित नियम नहीं हो सकता है किन्तु अधिक वस्तुओं को सम्मिलित करके बनाये गये निर्देशांक मूल्य-स्तर का अच्छा प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से सम्मिलित की जाने वाली वस्तुओं की संख्या न तो बहुत अधिक होनी चाहिए और न बहुत कम। क्योंकि सब वस्तुओं को लेकर निर्देशांक नहीं बनाये जा सकते हैं इसलिए उनमें से प्रतिनिधि वस्तुओं का एक समूह चुन लिया जाता है और इन वस्तुओं के मूल्यों के आधार पर निर्देशांक बनाये जाते हैं। इस कार्य के लिए ऐसी वस्तुएँ चुनी जानी चाहिएँ जो किसी वर्ग विशेष के लिए मुद्रा की क्रय-शक्ति का प्रतिनिधित्व कर सकें।

प्रतिनिधि वस्तुओं का चुनाव काफी कठिन काम है क्योंकि विभिन्न लोग विभिन्न प्रकार की वस्तुओं पर अपनी आय खर्च करते हैं। एक वस्तु जो किसी एक वर्ग के लिए काफी महत्त्वपूर्ण होती है वही वस्तु दूसरे वर्ग के लिए महत्त्वहीन हो सकती है। उदाहरणार्थ मोटरकार तथा पैट्रोल के मूल्य में वृद्धि हो जाना अमीर वर्ग को काफी प्रभावित कर सकता है किन्तु श्रमिकों पर उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। एक ही वर्ग में भिन्न-भिन्न लोग अलग-अलग प्रकार की वस्तुओं पर अपना धन व्यय करते हैं। मांस तथा मछली के मूल्य में होने वाले परिवर्तन मांसाहारी श्रमिकों के लिए मुद्रा की क्रय-शक्ति को बदल देते हैं किन्तु शाकाहारी श्रमिकों पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। केवल यही नहीं बल्कि एक परिवार के विभिन्न सदस्य भी भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं का प्रयोग करते हैं। वास्तव में तो हमें प्रत्येक व्यक्ति अथवा परिवार के लिए अलग-अलग निर्देशांक बनाने चाहिएँ क्योंकि रुचि, रिवाज तथा परिवार के आकार में काफी भिन्नता पाई जाती है। वस्तुओं को चुनते समय इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि आधार वर्ष तथा वर्तमान वर्ष में एक ही प्रकार की वस्तुओं को लेकर निर्देशांक बनाये जायें। यदि इनमें भिन्नता रहती है तो निर्देशांकों का महत्त्व समाप्त हो जाता है।

(३) मूल्यों को इकट्ठा करने में कठिनाई—प्रतिनिधि वस्तुओं के मूल्यों को इकट्ठा करने में भी कई प्रकार की कठिनाइयाँ पैदा होती हैं। सर्वप्रथम यह निश्चित करना होता है कि कौन-से मूल्यों को लेकर निर्देशांक बनाये जायें। थोक मूल्यों के आधार पर बनाये गए निर्देशांक उनसे बिल्कुल भिन्न परिणाम देते हैं जो फुटकर मूल्यों के आधार पर बनाये गए निर्देशांकों से प्राप्त होते हैं। सामान्यतः निर्देशांकों को बनाने के लिए थोक मूल्यों (Wholesale Prices) का प्रयोग किया जाता है क्योंकि उन्हें आसानी से इकट्ठा किया जा सकता है। किन्तु अधिकांश उपभोक्ता वस्तुओं को फुटकर मूल्य पर ही खरीदते हैं, इसलिए थोक मूल्यों के आधार पर

बनाये गए निर्देशांक मुद्रा की क्रय-शक्ति को ठीक-ठीक नहीं माप सकते है। आजकल फुटकर मूल्यों के आधार पर निर्देशांक बनाने पर अधिक जोर दिया जाता है। कीमतों को इकट्ठा करने में भी हमे विशेष सावधानी रखनी चाहिए। यदि फुटकर मूल्य लिए जाते है तो सभी वस्तुओं के फुटकर मूल्य लिए जाने चाहिएँ। कुछ वस्तुओं की कीमतें थोक बाजार से और कुछ की फुटकर बाजार से नहीं लेनी चाहिएँ। इसके अतिरिक्त वस्तुओं की कीमतें किसी विश्वसनीय जगह अथवा संस्था से लेनी चाहिएँ।

(४) भार देने की कठिनाई (Difficulty in Giving Weights)—सभार निर्देशांकों को बनाते समय विभिन्न वस्तुओं को उनके महत्व के अनुसार भार देना काफी कठिन होता है। उपभोग में किसी भी वस्तु के महत्व को निश्चित करना आसान नहीं है। यह निर्णय करना बहुत कठिन है कि किस वस्तु को कितना भार (weights) दिया जाये। एक ही वस्तु एक वर्ग के लिए अधिक महत्वपूर्ण हो सकती है और दूसरे वर्ग के लिए कम महत्वपूर्ण। उदाहरणार्थ खाद्य सामग्री पर किया जाने वाला व्यय श्रमिक वर्ग के बजट (Budget) में अधिक महत्व रखता है और अमीर वर्ग के लिए कम। इस प्रकार एक ही वस्तु को अलग-अलग वर्गों के लिए अलग-अलग भार (weight) देना आवश्यक होगा। इसके अतिरिक्त वस्तुओं का महत्व निरन्तर बदलता रहता है। एक समय में जो वस्तुयें बहुत अधिक महत्वपूर्ण होती है, दूसरे समय में वे ही कम महत्वपूर्ण हो जाती हैं। इसलिए वस्तुओं को दिये जाने वाले भार (weights) में समय के अनुसार परिवर्तन करते रहना चाहिए। इन सब सावधानियों के होते हुए भी विभिन्न वस्तुओं को दिये जाने वाले भार केवल अनुमानजनक ही हो सकते हैं। यही कारण है कि सभार निर्देशांकों (Weighted Index Numbers) का प्रयोग कम किया जाता है।

(५) विभिन्न समय में विभिन्न प्रकार की वस्तुयें प्रयोग की जा सकती हैं—समय के साथ लोगों की उपभोग सम्बन्धी आदतों में परिवर्तन हो जाने के कारण निर्देशांकों का निर्माण करने में काफी कठिनाई होती है। निर्देशांक बनाते समय हमें आधार वर्ष तथा वर्तमान वर्ष में एक ही प्रकार की वस्तुओं को लेना चाहिए किन्तु कई बार ऐसा करना सम्भव नहीं होता है। जब तुलना का समय लम्बा होता है तो इस बीच में लोगों के उपभोग में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो सकते है। कुछ बिल्कुल नई वस्तुयें उपभोग की जाने लगती है तथा पुरानी वस्तुओं का उपभोग बन्द हो जाता है। एक ही परिवार जो पहले चाय के विषय में जानता भी नहीं था वही आज चाय का आदी हो सकता है। इसी प्रकार लोग शुद्ध घी के स्थान पर वेजिटेबिल घी का प्रयोग आरम्भ कर सकते हैं। ऐसी दशा में प्रथम काल में उपभोग की जाने वाली वस्तुओं के मूल्य का औसत वर्तमान काल में मुद्रा के मूल्य परिवर्तनों को सूचित नहीं कर सकेगा। इस कठिनाई को दूर करने के लिए प्रो० मार्शल ने शृङ्खलाकारी निर्देशांकों (Chain Index Numbers) के बनाने का सुझाव दिया

है। इस प्रकार के निर्देशांको मे प्रत्येक वर्ष के मूल्यो की तुलना उससे अगले वर्ष के मूल्यो के साथ की जाती है। इन निर्देशांको को केवल उन्ही वस्तुओ के आधार पर बनाया जाता है जो दोनो वर्षो मे प्रयोग की जाती हो। प्रयोग मे आने वाली नई वस्तुओ को सम्मिलित नही किया जाता है। उदाहरणार्थ शृङ्खलाकारी निर्देशांको (Chain Index Numbers) मे सन् १६०० के मूल्य-स्तर की तुलना १६०१ के मूल्य-स्तर के साथ की जाती है। इस तुलना के लिए केवल उन्ही वस्तुओ को लिया जाता है जो १६०० व १६०१ दोनो वर्षो मे प्रयोग की जाती हो। सन् १६०१ मे प्रयोग मे आने वाली नई वस्तुओ को छोड दिया जाता है। फिर इसी प्रकार १६०१ के मूल्य-स्तर की तुलना १६०२ के मूल्य-स्तर के साथ की जाती है। इस बार १६०१ मे प्रयोग मे आने वाली वस्तुओ को तो सम्मिलित कर लिया जाता है किन्तु १६०२ मे प्रयोग मे आने वाली नई वस्तुओ को छोड दिया जाता है। सन् १६०२ के मूल्य-स्तर की तुलना १६०३ के मूल्य-स्तर के साथ की जाती है और इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। शृङ्खलाकारी निर्देशांक साधारण निर्देशांको की अपेक्षा कुछ अच्छे अवश्य होते है किन्तु ये उपर्युक्त कठिनाई को बहुत अधिक सीमा तक दूर नही कर सकते है।

उपर्युक्त कठिनाइयो के अतिरिक्त निर्देशांक बनाते समय कुछ अन्य महत्वपूर्ण निर्णय भी करने होते है। निर्देशांको का सही होना बहुत कुछ इस बात पर निर्भर होता है कि मूल्यो का औसत निकालने के लिए कौनसी विधि का प्रयोग किया गया है। औसत कई प्रकार के होते है और उन्हे भिन्न-भिन्न रीतियो से निकाला जा सकता है। सामान्यतया निर्देशांक बनाते समय गणितात्मक औसत (Arithmetic Average) का प्रयोग किया जाता है क्योकि उसे निकालने का तरीका बहुत सरल है। किन्तु इस प्रकार से बनाये गए निर्देशांक बहुत सन्तोषजनक नही होते है क्योकि वे मूल्य-स्तर की कमी व वृद्धि को आवश्यकता से अधिक दिखलाने की प्रवृत्ति रखते हैं। इस दोष को ज्यामितिक औसत (Geometric Average) का प्रयोग करके दूर किया जा सकता है। किन्तु इस प्रकार से बनाये गए निर्देशांक मूल्य परिवर्तनो को आवश्यकता से कम दिखलाने की प्रवृत्ति रखते है। विभिन्न विशेषज्ञो ने विभिन्न प्रकार के औसत (Averages) का प्रयोग करने की सलाह दी है। निर्देशांक बनाते समय यह निर्णय करना होता है कि कौनसे औसत का प्रयोग किया जाना चाहिए।

निर्देशांको के प्रयोग (Uses of Index Numbers)—

निर्देशांक हमारे आर्थिक जीवन की विभिन्न क्रियाओं को नापने का मुख्य यन्त्र माने जाते है। किसी भी आधुनिक सरकार को आर्थिक नीति (Economic policy) के निर्माण मे वे बडी सहायता देते है। उनके बिना उचित आर्थिक नीति का निर्माण करना सम्भव नही है। निर्देशांको के द्वारा यह जाना जा सकता है

कि मुद्रा के मूल्य में कब और कितने परिवर्तन हुए हैं। उनकी सहायता से ही एक उचित मौद्रिक नीति का निर्माण किया जा सकता है। देश में उत्पादन सम्बन्धी प्रवृतियों का ज्ञान भी उनके द्वारा ही प्राप्त होता है। वे श्रमिकों के लिए उचित मजदूरी निर्धारण करने में सहायता देते हैं। उनके द्वारा ही देश में ठीक प्रकार की कर नीति (Tax Policy) का निर्माण किया जा सकता है। इस प्रकार निर्देशांक आज के आर्थिक जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आर्थिक नियोजन (Economic Planning) के लिए निर्देशांकों का प्रयोग अनिवार्य है। उनके बिना आर्थिक नियोजन तथा दीर्घकालीन आर्थिक नीति का निर्माण सम्भव नहीं है। मुख्यता निर्देशांकों के निम्नलिखित प्रयोग हो सकते हैं—

(१) मुद्रा की क्रय-शक्ति में होने वाले परिवर्तनों को नापना—सामान्य मूल्य स्तर में होने वाले परिवर्तनों को नापने के लिए निर्देशांकों का प्रयोग किया जाता है। उनके बढ़ने व घटने से मुद्रा की क्रय-शक्ति में होने वाले परिवर्तनों का अनुमान लगाया जा सकता है। निर्देशांकों के अध्ययन के द्वारा यह जाना जाता है कि मुद्रा की क्रय-शक्ति में कितना और किस दिशा में परिवर्तन हुआ है। जिस अनुपात में निर्देशांक में वृद्धि होती है ठीक उसी अनुपात में मुद्रा की क्रय शक्ति कम हो जाती है। इसके विपरीत यदि निर्देशांक घटता है तो मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है। मुद्रा की क्रय-शक्ति में होने वाले परिवर्तन समाज के आर्थिक जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। निर्देशांकों की सहायता से इन परिवर्तनों के विषय में जानकारी प्राप्त करके ही उचित मूल्य सम्बन्धी नीति का निर्माण किया जा सकता है।

(२) विभिन्न समय में किसी वर्ग विशेष की आर्थिक स्थिति की तुलना—रहन-सहन व्यय सम्बन्धी निर्देशांकों (Cost of Living Index Numbers) की तुलना करके समाज के किसी वर्ग के रहन-सहन में होने वाले परिवर्तनों का अनुमान लगाया जा सकता है। निर्देशांकों की तुलना के द्वारा यह जाना जा सकता है कि किसी निश्चित काल में श्रमिकों की आर्थिक स्थिति में क्या परिवर्तन हुआ है। यदि हमें केवल यह बतलाया जाता है कि श्रमिकों की मजदूरी सन् १९३९ की अपेक्षा दुगुनी हो गई है तो हम इसके आधार पर उनकी आर्थिक स्थिति के बारे में कोई सही अनुमान नहीं लगा सकते हैं। यद्यपि ऐसा लगता है कि श्रमिकों की आय दुगुनी हो जाने के कारण उनकी आर्थिक स्थिति पहले की अपेक्षा अच्छी है किन्तु इस बारे में सही-सही अनुमान लगाने के लिए हमें उनकी वास्तविक आय में होने वाले परिवर्तनों को देखना होगा। केवल मौद्रिक आय किसी वर्ग की आर्थिक स्थिति का सही सूचक नहीं हो सकती है। श्रमिकों की वास्तविक आय में होने वाले परिवर्तनों को निर्देशांकों के द्वारा जाना जा सकता है। यदि उसी काल में निर्देशांक १०० से बढ़कर ४०० हो जाता है तो श्रमिकों की आर्थिक स्थिति, मजदूरी दुगुना होने पर

भी पहले की अपेक्षा खराब हो गई है और उनका रहन-सहन का स्तर गिर गया है। किन्तु यदि निर्देशांक १०० से बढ़कर केवल १५० हुआ है तो श्रमिकों की आर्थिक स्थिति सुधरी है और उनका रहन-सहन का स्तर ऊंचा हो गया है। निर्देशांक ही हमें किसी वर्ग की वास्तविक आय में होने वाले परिवर्तनों को बतलाते हैं और वास्तविक आय ही किसी वर्ग की आर्थिक स्थिति को नापने का उचित आधार है। इसी प्रकार विभिन्न देशों में रहने वाले लोगों की आर्थिक स्थिति तथा रहन-सहन की तुलना करने के लिए भी निर्देशांकों का प्रयोग किया जा सकता है।

(३) मजदूरी की दरों को रहन-सहन व्यय के अनुसार करना—सामाजिक न्याय की दृष्टि से मजदूरी की दर और रहन-सहन व्यय साथ साथ चलने चाहिएँ किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता है। मजदूरी की दर रहन-सहन व्यय से प्राय: पीछे रह जाने की प्रवृत्ति रखती है। जब मूल्य-स्तर बढ़ता है तो मजदूरी उस तेजी के साथ नहीं बढ़ती है। इस असमानता को दूर करने के लिए मजदूरी में वृद्धि की जाती है अथवा महगाई भत्ता दिया जाता है। मजदूरी की दरों को कितना बढ़ाया जाय, यह हम निर्देशांकों की सहायता से जान सकते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से रहन-सहन व्यय निर्देशांक जिस अनुपात में बढ़ता है मजदूरी की दरों को उसी अनुपात में बढ़ा देना चाहिए और जब वह घटता है तो मजदूरी को उसी अनुपात में घटा देना चाहिए। यद्यपि व्यवहारिक जीवन में यह समता प्राप्त नहीं की जा सकती है किन्तु जहाँ तक सम्भव हो सके मजदूरी और रहन-सहन व्यय के अन्तर को कम से कम रखना चाहिए। ऐसा करने में निर्देशांक हमारी बहुत सहायता करते हैं।

(४) ऋणों के न्यायपूर्ण भुगतान करने का आधार—मूल्य-स्तर के बदलने के कारण या तो ऋणी अथवा ऋणदाता को हानि होती है किन्तु सामाजिक न्याय की दृष्टि से इन दोनों में से किसी भी वर्ग को लाभ अथवा हानि नहीं होनी चाहिए। यह तब सम्भव हो सकता है जब मूल्य-स्तर में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार ऋणों की मात्रा में भी परिवर्तन कर दिये जाये। यह निर्देशांकों की सहायता से किया जा सकता है। जिस अनुपात में निर्देशांक की वृद्धि होती है उसी अनुपात में ऋणों की मात्रा को बढ़ा देना चाहिए और जब निर्देशांक गिरता है तो ऋणों की मात्रा में भी कमी कर देनी चाहिए। उदाहरणार्थ यदि सन् १९३९ में १०० रु० का ऋण लिया गया था और उसका भुगतान १९६४ में किया जाता है जब निर्देशांक पहले की अपेक्षा बढ़कर पाँच गुणा हो गया है तो सामाजिक न्याय की दृष्टि से ऋणी को १०० रु० के स्थान पर ५०० रु० वापस लौटाने चाहिएँ। किन्तु वास्तविक जीवन में ऋणों की मात्रा में इस प्रकार के परिवर्तन करना सम्भव नहीं होता है।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय तुलना करने के लिए प्रयोग—निर्देशांकों की सहायता से विभिन्न प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय तुलनायें करना सम्भव है। विशेषतया यदि हम यह जानना चाहते हैं कि विभिन्न देशों की मुद्राओं की क्रय-शक्ति में किसी निश्चित काल

मे क्या परिवर्तन हुए है तो निर्देशाक हमारी बहुत सहायता कर सकते है। उदाहरणार्थ यदि यह मालूम करना है कि युद्धकाल मे इगलैंड के पौंड तथा भारतीय रुपये के मूल्य मे क्या परिवर्तन हुआ है तो इस काल मे इन देशो के निर्देशाको की तुलना करके यह जाना जा सकता है। यदि इस काल मे इगलैंड के निर्देशाक मे जितनी वृद्धि हुई है उसकी अपेक्षा भारतीय निर्देशाक अधिक बढा है तो वह इस बात को बतलाता है कि पौड की अपेक्षा रुपये का मूल्य अधिक गिरा है। इसी प्रकार विभिन्न देशो मे लोगो के रहन-सहन की तुलना करने के लिए भी निर्देशाको का प्रयोग किया जा सकता है।

(६) **देश के आर्थिक तथा औद्योगिक विकास का अनुमान लगाना**—उत्पादन सम्बन्धी निर्देशाको से हम यह जान सकते है कि किन-किन उद्योगो का उत्पादन बढ रहा है और कौन-कौन से उद्योगो का उत्पादन घट रहा है। इस प्रकार की जानकारी के आधार पर सरकार अपनी औद्योगिक नीति का निर्माण करती है। विदेशी व्यापार सम्बन्धी निर्देशाक हमे विदेशी व्यापार की स्थिति का ज्ञान कराते हैं। इसी प्रकार निर्देशाको की सहायता से देश मे पूँजी तथा विनियोग की मात्रा, व्यापारिक प्रवृत्तियो तथा लाभ व ब्याज सम्बन्धी प्रवृत्तियो का ज्ञान प्राप्त कर सकते है। प्रो० फिशर ने निर्देशाको की उपयोगिता को बतलाते हुए कहा है "वस्तुओ का कीमत-स्तर स्थाई रखने तथा व्यापार मे स्थिरता स्थापित करने के लिए निर्देशाक बहुत ही उपयोगी है। इनकी सहायता से आर्थिक, व्यापारिक तथा वित्त सम्बन्धी सभी समस्याओ को समझने मे आसानी होती है।"

निर्देशाको की सीमाये (Limitations of Index Numbers)—

यद्यपि निर्देशाको का प्रयोग आजकल बहुत अधिक होता है किन्तु फिर भी वे आर्थिक क्रियाओ का सही माप प्रस्तुत नही करते है। उनके बनाने मे चाहे कितनी भी सावधानी क्यो न बरती जाये किन्तु फिर भी हम उनके ऊपर बहुत अधिक निर्भर नही रह सकते है। निर्देशाको के सम्बन्ध मे निम्नलिखित सीमाओ को ध्यान मे रखना चाहिए।

(१) **निर्देशांक मुद्रा के मूल्य परिवर्तनों का बिल्कुल सही माप प्रस्तुत नहीं करते हैं**—मुद्रा की क्रय-शक्ति का सही माप असम्भव है। निर्देशाक बहुधा अनुमानजनक होते हैं क्योकि वे केवल सामान्य प्रवृत्ति की ओर सकेत करते हैं। राबर्टसन के अनुसार "मुद्रा के मूल्य परिवर्तनो को ठीक-ठीक नापना न तो सैद्धान्तिक दृष्टि से ही सम्भव है और न व्यवहार मे। इतना अवश्य है कि मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन होते है और काफी सावधानी बरती जाये तो प्रत्यक्ष उपयोग के लिए उसकी माप ठीक रीति से की जा सकती है।"[1] इसी प्रकार प्रो० मार्शल का विचार है कि,

[1] "The conclusion then is that neither in practice nor perhaps in theory is it possible to measure accurately changes in the value of money.

"क्रय-शक्ति का निश्चित माप केवल असम्भव ही नहीं है बल्कि अविचारणीय भी है।"[2] अत सूचक अंक मुद्रा की क्रय-शक्ति को ठीक-ठीक नहीं माप सकते है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय तुलना करना कठिन होता है—निर्देशांकों की सहायता से दो देशों के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की तुलना करना काफी कठिन है क्योंकि निर्देशांकों की निर्माण विधि, उनका आधार वर्ष तथा प्रतिनिधि वस्तुओं की सूची विभिन्न देशों मे भिन्न-भिन्न होती है। अन्तर्राष्ट्रीय तुलना के लिए एक ही आधार वर्ष तथा एक ही प्रकार की प्रतिनिधि वस्तुओं को लेकर एक ही विधि से बनाये गये निर्देशांक का प्रयोग किया जाना चाहिए। किन्तु व्यवहारिक जीवन में इस प्रकार के निर्देशांकों का निर्माण करना सम्भव नही होता है।

(३) विभिन्न समय में तुलना करना कठिन होता है—निर्देशांकों की सहायता से विभिन्न समय की आर्थिक दशाओं की तुलना करना इसलिए सम्भव नही होता है क्योंकि लोगों के द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं में परिवर्तन होता रहता है। कुछ महत्वपूर्ण वस्तुओं का उपभोग बन्द हो जाता है तथा कुछ बिल्कुल नई वस्तुयें उपभोग मे आ जाती है। ऐसी स्थिति में दोनों समय में एक ही प्रकार की वस्तुओं को लेकर तुलना करना सम्भव नहीं है।

(४) निर्देशांक केवल वर्ग विशेष के लिए ही मूल्य परिवर्तनों को माप सकते हैं—उनके द्वारा सामान्य मूल्य-स्तर का माप सम्भव नहीं है। एक वर्ग के लिए बनाये गये निर्देशांक दूसरे वर्ग के लिए बेकार होते है। जिस उद्देश्य के लिए निर्देशांक बनाये जाते है वे केवल उसी उद्देश्य के लिए काम मे आ सकते हैं उन्हें अन्य उपयोगो मे लाना सम्भव नही होता है। सम्पूर्ण समाज के लिए परिवर्तनो को नापने के लिए निर्देशांक नही बनाये जा सकते हैं।

(५) भार निर्धारण अवैज्ञानिक होता है—सभार निर्देशांक बनाने के लिए विभिन्न वस्तुओं को जो भार दिये जाते है वे प्राय काल्पनिक होते है। वस्तुओं को भार देने का कोई भी वैज्ञानिक तरीका अभी तक मालूम नही हो सका है जिसके कारण एक ही प्रकार की वस्तुओं को विभिन्न विशेषज्ञ अलग-अलग भार देने की प्रवृत्ति रखते है। भार निर्धारण अवैज्ञानिक होने के कारण इस प्रकार के निर्देशांकों की व्यवहारिक उपयोगिता बहुत कम हो जाती है। वस्तुओं को दिये जाने वाले भार मे भिन्नता हो जाने से निर्देशांक भिन्न-भिन्न परिणाम देते हैं। अत उनके आधार पर निकाले गये परिणाम अधिक विश्वसनीय नही हो सकते है।

Nevertheless there is no doubt that the value of money does change, and, if sufficient care is taken, measures accurate enough for some practical purposes can be found and used." —*Robertson, D H* Mony, P. 27

2 "A perfectly exact measure of purchasing power is not only unattainable but even unthinkable." —*Marshall*

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि निर्देशांक बहुत उपयोगी तथा आवश्यक है किन्तु फिर भी उनका प्रयोग सावधानी से किया जाना चाहिए अन्यथा वे हमे गलत निर्णयो पर ले जा सकते है। निर्देशांको का प्रयोग आँख बन्द करके नही किया जा सकता है किन्तु यदि उनका सही निर्माण किया जाता है और उनका प्रयोग सावधानी से होता है तो वे आर्थिक क्रियाओ को नापने का एक सुविधाजनक यन्त्र प्रस्तुत कर सकते हैं। यद्यपि उनके द्वारा आर्थिक क्रियाओ को बहुत सही-सही नही माप सकते हैं किन्तु किसी अन्य सही माप की अनुपस्थिति मे उनका प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। वे मुद्रा के मूल्य परिवर्तनो को नाप कर हमे मौद्रिक नीति (Monetary Policy) के निर्धारण मे सहायता दे सकते हैं। इस सम्बन्ध मे हाम (Halm) का विचार है कि "कीमत-स्तर और निर्देशांक जिनके द्वारा उसे सुविधापूर्ण ढग से व्यक्त किया जाता है, मुद्रा नीति के कुछ उद्देश्यो के लिए उपयोगी हो सकते हैं।"[3] मुद्रा नीति के अतिरिक्त वे हमे अन्य प्रकार की आर्थिक नीतियो जैसे जनसख्या, ऋण, उद्योग, कृषि तथा मूल्यो सम्बन्धी नीति के निर्माण मे भी सहायता देते है। एक नियोजित समाज (Planned Society) मे तो उनका महत्व और भी अधिक है। विभिन्न प्रकार के उत्पादन सम्बन्धी लक्ष्यो को निश्चित करने, कृषि तथा औद्योगिक वस्तुओ के मूल्यो मे समता स्थापित करने तथा अन्य प्रकार के सामाजिक व आर्थिक निर्णयो को लेने में वे हमे काफी सहायता दे सकते हैं। आज कोई भी समाज उनके बिना नियोजन नही कर सकता है। निर्देशांक हमारी आर्थिक क्रियाओ तथा प्रवृत्तियो को नापने का महत्वपूर्ण साधन बन गये है। उन्हे अधिक उपयोगी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उनका निर्माण अधिक वैज्ञानिक ढग से किया जाय और उनके निर्माण सम्बन्धी कठिनाइयो को यथासम्भव दूर कर दिया जाये।

3 'Price levels and index numbers by means of which they are conveniently expressed, can be useful for some purposes of monetary policy."
—*Halm* . Monetary Theory, P 95.

परीक्षा-प्रश्न

(१) निर्देशांक क्या है ? उसके क्या लाभ हैं ? सरल निर्देशांक की एक सारिणी बनाइये।
(आगरा बी० ए० १९६१)

(२) साधारण निर्देशांक क्या होते हैं और उन्हें किस प्रकार बनाया जाता है ? निर्देशांकों के प्रयोगों को बतलाइये।
(आगरा बी० ए० १९५४)

(३) एक साधारण निर्देशांक और समार निर्देशांक में अन्तर बतलाइये। निर्देशांकों का महत्व क्या है ?
(आगरा बी० कॉम १९६०)

(४) निर्देशांक बनाने के उद्देश्य तथा तरीके का वर्णन कीजिए। 'समार सूचक अंक' क्या होते हैं और उन्हें क्यों बनाया जाता है ?
(आगरा बी० कॉम १९५७)

(५) निर्देशांकों के लाभ क्या हैं ? निर्देशांक कैसे बनाये जाते हैं ?
(राजस्थान बी० ए० १९६०)

(६) सूचनाकों के बनाने में भार देने के उद्देश्यों एवं महत्व का विवेचन करिए। इसके निर्माण की विधि को भी समझाइये। (राजस्थान बी० कॉम १९५८)

(७) सूचनांक से आप क्या समझते हैं ? यह कैसे बनाये जाते हैं ? आर्थिक समस्याओं के अध्ययन में इनके उपयोगों पर प्रकाश डालिये।
(सागर बी० ए० १९५८)

(८) निर्देशांक किस प्रकार बनाये जाते हैं ? इनके निर्माण की कठिनाइयों को बताइये।
(सागर बी० कॉम १९५९)

(९) मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन किस प्रकार नापे जाते हैं। सूचनांक प्रणाली में क्या दोष हैं ? किसी सीमा तक इन्हें सुधारा जा सकता है ?

(१०) सूचनांक क्या होता है ? सरल सूचनांक की एक सारिणी बनाइये। ऐसी सारिणी बनाते समय किन नियमों को ध्यान में रखना चाहिए।
(विक्रम बी० ए० १९६०)

१०

भारतीय मुद्रा का इतिहास

HISTORY OF INDIAN CURRENCY

भारतीय मुद्रा की वर्तमान स्थिति को समझने के लिए उसके इतिहास का अध्ययन करना आवश्यक है। भारतवर्ष मे मुद्रा का प्रयोग काफी प्राचीन काल से होता आया है। प्राचीन हिन्दू राजाओं के काल मे ही धात्विक सिक्को का निर्माण तथा उनका प्रयोग आरम्भ हो गया था। मुगल काल मे धात्विक मुद्रा का प्रयोग काफी विस्तृत रूप से किया जाने लगा तथा सिक्को की निर्माण विधि मे बहुत सुधार किये गये किन्तु वर्तमान मुद्रा का इतिहास ब्रिटिश काल से ही आरम्भ होता है। अकबर के समय से उत्तरी भारत मे सोने की मोहर तथा चाँदी का रुपया चलता था और दोनो का वजन १७५ ग्रेन होता था। इनके अतिरिक्त ताँबे का सिक्का (दाम) भी चलन मे रहता था और सोने व चाँदी के सिक्के एक निश्चित दर पर 'दाम' के साथ बदले जाते थे। दक्षिण भारत मे स्वर्ण मुद्रा का अधिक प्रचलन न था क्योंकि वहाँ पर कभी भी मुगलो का पूर्ण शासन स्थापित नही हो सका। मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् समस्त देश मे बहुत से छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य बन गये जिन्होने अपने अलग-अलग सिक्के जारी कर दिये। इन सिक्को का वजन तथा शुद्धता बिल्कुल भिन्न होती थी। उस समय देश मे लगभग ९९४ प्रकार के विभिन्न वजन तथा शुद्धता वाले सोने व चाँदी के सिक्के चलन मे थे।

रजतमान (Silver Standard) १८३५–१८९८—

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सर्वप्रथम अपने आधीन क्षेत्रो मे चलने वाली मुद्राओ मे अनुरूपता लाने का प्रयत्न किया। सन् १८३५ मे पहला करसी अधिनियम पास किया गया जिसके अन्तर्गत भारतवर्ष मे रजतमान (Silver Standard) स्थापित कर दिया गया। कम्पनी ने निश्चित वजन तथा शुद्धता वाले चाँदी के रुपये चलन मे डाल दिये। सन् १८३५ मे १८० ग्रेन वजन तथा ११/१२ शुद्धता वाला चाँदी का रुपया समस्त भारत मे असीमित विधिग्राह्य घोषित कर दिया गया। चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण किया जाने लगा। चाँदी के रुपये के आन्तरिक मूल्य को उसके

सांकेतिक मूल्य (Face Value) के बराबर रक्खा जाता था। इस अधिनियम में आवश्यकता पड़ने पर सोने के सिक्कों को जारी करने की व्यवस्था भी की गई थी। सन् १८४१ में एक घोषणा के अनुसार सोने की मोहर को भुगतानों को निवटाने के लिए सरकारी खजानों में १५ १ के अनुपात में स्वीकार किया जाने लगा।

सन् १८७४ में चाँदी के स्वर्ण मूल्य के गिर जाने के कारण रजतमान के चलाने में विशेष कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गईं। चाँदी का उत्पादन बढ़ जाने तथा उसकी माग के कम हो जाने से चाँदी का मूल्य बहुत अधिक गिर गया। यूरोप के देशों के द्वारा चाँदी का विमुद्रण किये जाने के कारण भारतवर्ष में बहुत अधिक मात्रा में चाँदी आने लगी। विभिन्न क्षेत्रों से यह सुझाव रक्खा गया कि चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण बन्द कर दिया जाय किन्तु १८७८ तक सरकार ने इस प्रकार के सुझावों को मानने से इन्कार कर दिया। सन् १८७८ में सरकार ने यह सुझाव रक्खा कि स्वर्णमान को स्थापित करने के लिए कुछ निश्चित कदम उठाये जावे किन्तु सेक्रेट्री आफ स्टेट फॉर इण्डिया ने इस सुझाव को मानने से इन्कार कर दिया। चाँदी का मूल्य निरन्तर गिरता गया जिसके कारण भारतीय रुपये की स्थिति और अधिक खराब हो गई। सन् १८७३ से लेकर १८६३ तक चाँदी का मूल्य लगभग ४०% कम हो गया। इसका भारत की अर्थ-व्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। चलन में सिक्कों की मात्रा बढ़ जाने के कारण मूल्य-स्तर में वृद्धि होने लगी। भारतीय रुपये का विदेशी मूल्य गिर कर केवल १ शिलिंग ३ पैंस रह गया जिसका विदेशी व्यापार पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा।

सन् १८६२ में मुद्रा तथा विनिमय की स्थिति का अध्ययन करने के लिए सरकार ने हर्शेल कमेटी (Hershell Committee) नियुक्त की। इस कमेटी के सुझाव पर भारतीय सरकार ने १८६३ में एक अधिनियम के द्वारा चाँदी व सोने की स्वतन्त्र ढलाई बन्द कर दी यद्यपि सरकार स्वयं आवश्यकता के अनुसार चाँदी के रुपये जारी कर सकती थी। कमेटी ने यह सुझाव दिया कि रुपये की विदेशी विनिमय दर को १ शिलिंग ४ पैंस पर निश्चित कर दिया जाय और उसे चाँदी के मूल्य से स्वतन्त्र रक्खा जाय। भारतीय रुपये के विदेशी मूल्य को बढ़ाने के लिए चलन में मुद्रा की मात्रा को कम कर दिया गया, जिसके कारण देश में मुद्रा सकुचन की स्थिति पैदा हो गई। टकसाल पर सोने के बदले में १ शिलिंग ४ पैंस की दर पर चाँदी के रुपये देने की व्यवस्था की गई। सरकार ने करों तथा अन्य प्रकार के भुगतानों के रूप में सोने के सिक्कों को लेना आरम्भ कर दिया। यह सब कुछ भारतीय रुपये के विदेशी मूल्य में वृद्धि करने, विदेशी पूँजी को आकर्षित करने तथा लोगों को सोने के सिक्कों के प्रयोग से परिचित कराने के उद्देश्य से किया गया। इसके परिणामस्वरूप भारतीय रुपये का विदेशी मूल्य बढ़ गया और १८६८ में उसे सोने के साथ सम्बन्धित करना सम्भव हो सका।

स्वर्ण-विनिमय मान १८९८-१९२५—

सन् १८९८ में भारत सरकार ने पूर्ण स्वर्णमान स्थापित करने का प्रयत्न किया और इस सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए एक कमेटी सर हेनरी फाउलर (Sir Henry Fowler) की अध्यक्षता में नियुक्त की गई। इस कमेटी ने भारतवर्ष में स्वर्णमान स्थापित करने के उद्देश्य से निम्नलिखित सिफारिशें की—

(१) भारतीय टकसालों पर सोने के सोवरेन तथा अर्ध सोवरेन (Sovereigns and half sovereigns) की स्वतन्त्र ढलाई आरम्भ कर दी जाय तथा चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण बन्द कर दिया जाय।

(२) ब्रिटिश सोवरेन (Sovereign) को भारत में अपरिमित विधिग्राह्य घोषित कर देना चाहिए तथा सोवरेन की ढलाई और उसका प्रचलन इङ्गलैंड तथा भारत दोनों देशों में किया जाना चाहिए।

(३) रुपये की विदेशी विनिमय दर को १ शिलिंग ४ पैंस पर निश्चित कर दिया जाय।

(४) चाँदी का रुपया असीमित विधिग्राह्य रक्खा जा सकता है किन्तु वह केवल एक सांकेतिक (Token) सिक्के के रूप में ही चलाया जाय।

(५) सरकार को एक निश्चित दर पर सोने के बदले में रुपयों को देने की व्यवस्था को जारी रखना चाहिए किन्तु रुपयों के बदले में सोना देने के लिए सरकार को बाध्य नहीं होना चाहिए।

(६) चाँदी के मुद्रण में होने वाले लाभ को एक पृथक स्वर्ण-कोष में जमा कर दिया जाय जो एक विशेष निधि (Special Reserve) का कार्य करेगा।

(७) जब व्यापार सतुलन विपक्ष में हो तो सरकार को निर्यात करने के लिए सोने का प्रबन्ध करना चाहिए।

सरकार ने फाउलर कमेटी की सभी सिफारिशों को मान लिया और सितम्बर सन् १८९९ में सोवरेन को विधिग्राह्य मुद्रा घोषित कर दिया गया। उसके साथ चाँदी के रुपये को भी असीमित विधिग्राह्य रक्खा गया। सन् १९०० में रुपये के मुद्रण से प्राप्त होने वाले लाभ से स्वर्णमान कोष स्थापित किया गया। यद्यपि फाउलर कमेटी ने भारत में स्वर्ण मुद्रामान स्थापित करने की सिफारिश की थी किन्तु ब्रिटिश ट्रेजरी ने शाही टकसाल की शाखा भारत में स्थापित करने से इन्कार कर दिया जिसके कारण भारतवर्ष में केवल स्वर्ण विनिमय मान ही स्थापित हो सका। इस स्वर्ण विनिमय मान की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार थी—(i) देश में सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं था और केवल कागज के नोट तथा चाँदी की मुद्रा ही चलन में रक्खी गई। (ii) केवल विदेशी भुगतानों के लिए ही रुपया १ शिलिंग ४ पैंस की दर पर सोने में परिवर्तनीय था। (iii) स्वर्ण विनिमय मान को चलाने के लिए दो प्रकार के कोष रक्खे जाते थे। रुपये का कोष भारतवर्ष में रहता था

और स्टर्लिंग कोष इङ्गलैंड में। (iv) रुपये का अधिकतम स्वर्ण मूल्य १६$\frac{7}{8}$ पैंस तथा न्यूनतम मूल्य १५$\frac{29}{32}$ पैंस निश्चित कर दिया गया। (v) रुपया सांकेतिक सिक्का होते हुये भी मूल्य मान का कार्य करता था।

फाउलर कमेटी की सिफारिशों के आधार पर स्थापित स्वर्ण विनिमय मान की कड़ी आलोचना की गई क्योंकि इस मुद्रामान में रुपये के विदेशी मूल्य में तो स्थिरता स्थापित हो गई किन्तु कीमतों को स्थिर न रखा जा सका। इन आलोचनाओं पर विचार करने के लिए सरकार ने सन् १९१३ में चैम्बरलेन आयोग (Chamberlain Commission) नियुक्त किया जिसने १९१४ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। चैम्बरलेन आयोग की सिफारिशें इस प्रकार थी—

(i) इस आयोग ने भारत में स्वर्ण विनिमय मान को जारी रखने की सिफारिश की और यह बतलाया कि स्वर्ण मुद्रा भारत के लिए उपयुक्त नहीं है क्योंकि लोगों में उसे जमा करने की प्रवृत्ति बहुत अधिक पाई जाती है।

(ii) भारत में स्वर्ण मुद्रा ढालन के लिए किसी प्रथक टकसाल की आवश्यकता नहीं है किन्तु उसके सीमित मुद्रण का प्रबन्ध बम्बई टकसाल पर किया जा सकता है।

(iii) मुद्रा प्रणाली को अधिक लोचदार बनाने के लिए कमीशन ने नोटों के अरक्षित भाग (Fiduciary Issue) को बढ़ाने की सिफारिश की।

(iv) सरकार को १ शिलिंग ३$\frac{29}{32}$ पैंस प्रति रुपये के हिसाब से रिवर्स काउन्सिल बिल्स (Reverse Council Bills) को बेचने की गारन्टी देनी चाहिए।

सन् १९१४ में विश्व-युद्ध छिड़ जाने के कारण सरकार चैम्बरलेन आयोग की सिफारिशों को कार्य-रूप में नहीं ला सकी।

स्वर्ण विनिमय मान का पतन (१९१४-१८)

स्वर्ण विनिमय मान प्रथम युद्ध आरम्भ होने तक अच्छी प्रकार चलता रहा किन्तु १९१४-१८ के युद्ध काल में टूट गया। युद्ध के कारण लोगों का पत्र मुद्रा में से विश्वास उठने लगा और भारी मात्रा में नोट चाँदी के रुपयों में बदलने के लिए प्रस्तुत किए जाने लगे। लोगों ने चांदी तथा सोने के सिक्कों को भारी मात्रा में जमा करना आरम्भ कर दिया और पत्र मुद्रा के बदले में रुपये के सिक्कों तथा सोने की मांग बहुत अधिक बढ़ गई। ५ अगस्त १९१४ को सरकार ने प्राइवेट व्यक्ति को सोना देना बन्द कर दिया और इस प्रकार कुछ समय के लिए स्वर्णमान स्थगित कर दिया गया। कुछ ही समय पश्चात् मुद्रा में जनता का विश्वास फिर से स्थापित हो गया। वास्तविक कठिनाई १९१६ में आरम्भ हुई जिसके कारण स्वर्णमान बिल्कुल टूट गया। सरकार भारतीय रुपये की विदेशी विनिमय दर को स्थिर नहीं रख सकी क्योंकि व्यापार सन्तुलन पक्ष में होने के कारण भारतीय रुपयों की मांग बहुत अधिक बढ़ गई थी। भारतीय निर्यातों का भुगतान करने के लिए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट

फॉर इन्डिया को बहुत बडी मात्रा मे से काउन्सिल बिल्स (Council Bills) को बेचना पडा जिसके परिणामस्वरूप भारतवर्ष मे उसी अनुपात मे चांदी के मुद्रण को बढाया गया। चांदी की माग अधिक होने के कारण उसका मूल्य बाजार मे काफी तेजी के साथ बढ रहा था। चांदी का मूल्य जो १९१६ मे ४३ पैंस प्रति औंस था बढकर १९२० मे ८९ पैंस हो गया। अब लोगो के लिए चांदी के रुपयो को पिघला कर बेचना लाभपूर्ण हो गया था। सरकार को महंगे भाव पर चांदी खरीद कर १ शिलिंग ४ पैंस की दर पर रुपया बेचना बहुत कठिन हो गया। इस कठिनाई को दूर करने करने के लिए सरकार ने रुपये की विदेशी विनिमय दर को बढा कर १ शि० ५ पैंस कर दिया और इस प्रकार स्वर्णमान टूट गया।

बैबिंगटन स्मिथ कमेटी (Babington Smith Committee)—

युद्ध के पश्चात् भारतीय रुपये के विदेशी मूल्य मे बहुत अधिक परिवर्तन होने लगे। सरकार ने भारतीय मुद्रा प्रणाली की जांच करने के लिए सन् १९१९ मे बैबिंगटन स्मिथ कमेटी बैठाई। इस समिति ने भारत मे स्वर्णमान स्थापित करने तथा रुपये की विदेशी विनिमय दर २ शि० पर निश्चित करने की सिफारिश की। इसके अतिरिक्त बम्बई मे सावरेन तथा अर्ध सोवरेन की ढलाई के लिए एक टकसाल स्थापित करने तथा सोने के आयात व निर्यात पर से प्रतिबन्ध हटाने और व्यक्तिगत हिसाब मे चांदी का आयात करने की आज्ञा देने की सिफारिश भी की गई। सरकार ने कमेटी की सिफारिशो को मान लिया और फरवरी सन् १९२० मे सोवरेन (Sovereign) को विधिग्राह्य मुद्रा घोषित कर दिया गया। रुपये की विदेशी विनिमय दर को २ शि० पर स्थापित करने का पूरा प्रयत्न किया गया किन्तु उसमे सफलता न मिली। विदेशी विनिमय दर को स्वतन्त्र छोड दिया गया और वह १९२१ मे गिर कर १ शि० ३$\frac{1}{32}$ पैंस हो गई। इसका व्यापार पर बुरा प्रभाव पडा किन्तु सरकार ने इस सम्बन्ध मे कुछ भी नही किया। सरकार की चुप रहने की नीति की कडी आलोचना की गई।

हिल्टन यंग कमीशन (Hilton Young Commission)—

सरकार ने सन् १९२५ मे करंसी तथा विदेशी विनिमय की जाँच करने के लिए श्री हिल्टन यंग की अध्यक्षता मे एक आयोग नियुक्त किया। इस कमीशन के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार थे—(i) स्वर्ण विनिमय मान की कार्यप्रणाली की जांच करना तथा देश मे एक उचित मुद्रा प्रणाली स्थापित करने की योजना प्रस्तुत करना, (ii) रुपये की विदेशी विनिमय दर को निश्चित करने के सम्बन्ध मे सुझाव देना, (iii) चलन व बैंकिंग पद्धति मे समन्वय स्थापित करने की योजना प्रस्तुत करना तथा केंद्रीय बैंक को स्थापित करने के सम्बन्ध मे सुझाव देना। इस कमीशन ने भारत की मुद्रा प्रणाली की विस्तृत जांच करने के पश्चात् जुलाई सन् १९२६ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। सर्वप्रथम कमीशन ने भारत मे प्रचलित स्वर्ण विनिमय मान की कार्य-प्रणाली की जाँच की और उसमे निम्नलिखित दोषो को बतलाया—

(१) यह प्रणाली साधारण नहीं थी क्योंकि इसमें रुपये के मूल्य की स्थिरता का आधार सामान्य व्यक्ति नहीं समझ सकता है। इस प्रणाली में दो प्रकार की सांकेतिक मुद्रा (नोट तथा चाँदी का रुपया) चलती थी जिसके कारण मुद्रा प्रणाली काफी जटिल हो गई थी। उनमें से रजत मुद्रा के किसी भी समय चलन के बाहर निकल जाने का भय रहता था। साधारण व्यक्ति इस प्रणाली को नहीं समझ सकता था क्योंकि इसकी कार्य-विधि कौंसिल बिलो और रिवर्स कौंसिल बिलो के क्रय-विक्रय पर आधारित थी।

(२) इस प्रणाली में लोच का अभाव था और मुद्रा का विस्तार तथा संकुचन स्वयं नहीं होता था। इस मुद्रा प्रणाली में सरकारी हस्तक्षेप भी बहुत अधिक रहता था।

(३) सोने का स्वतन्त्र आयात व निर्यात न होने के कारण विनिमय दरों में अपने आप ठीक होने की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती थी।

(४) इस प्रणाली में अनावश्यक तौर पर दो प्रकार के कोष रखने पड़ते थे। पत्र मुद्रा कोष भारत में रक्खा जाता था और स्वर्णमान कोष लन्दन में रहता था जिसके कारण बहुत-सा सोना कोषों में बेकार पड़ा रहता था।

(५) इस प्रणाली को सफलतापूर्वक चलाने के लिए भारत को इङ्गलैंड पर निर्भर रहना पड़ता था क्योंकि रुपये का मूल्य सोने के साथ सम्बन्धित न होकर स्टर्लिंग के साथ सम्बन्धित था। इङ्गलैंड के आर्थिक परिवर्तनों का प्रभाव भारतीय मुद्रा की स्थिरता पर पड़ता था।

उपर्युक्त दोषों के कारण हिल्टन यंग कमीशन ने स्वर्ण विनिमय मान को भारत के लिए अनुपयुक्त बतलाया। कमीशन की राय में स्वर्ण मुद्रामान भी इस देश में स्थापित नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि इसे सफलतापूर्वक चलाने के लिए भारत में पर्याप्त मात्रा में सोना नहीं था तथा इस प्रणाली में सोने का बहुत अधिक अपव्यय होने की सम्भावना थी। आयोग का विश्वास था कि बिना सोने के सिक्के चलाये हुए भी स्वर्णमान स्थापित किया जा सकता है। कमीशन ने स्वर्ण विनिमय मान तथा स्वर्ण मुद्रामान की आलोचना करने के पश्चात् भारत में स्वर्ण धातुमान स्थापित करने का सुझाव दिया। हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशें निम्नलिखित थीं—

(१) कमीशन ने सुझाव दिया कि भारत में प्रचलित स्वर्ण विनिमय मान को समाप्त कर देना चाहिए और मुद्रा में जनता का विश्वास पैदा करने के लिए मुद्रा तथा सोने में वास्तविक और प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कमीशन ने इङ्गलैंड के नमूने पर भारत में स्वर्ण धातुमान (Gold Bullion Standard) स्थापित करने की सिफारिश की क्योंकि इस प्रणाली में सोने के सिक्कों का चलन न होते हुए भी मुद्रा का प्रत्यक्ष रूप में सोने के साथ

सम्बन्धित रक्खा जा सकता था। कमीशन के द्वारा प्रस्तावित स्वर्ण धातुमान की विशेषतायें निम्नलिखित थी—(i) सोने के सिक्के विधिग्राह्य मुद्रा नहीं रहेंगे और उन्हें चलन से हटा लिया जायेगा। चलन में केवल चाँदी का रुपया तथा कागज के नोट रहेंगे। (ii) मुद्रा के मूल्य में स्थिरता लाने के लिए पत्र मुद्रा को सोने में परिवर्तनशील रक्खा जायेगा। सरकार निश्चित दरों पर किसी भी सीमा तक ४०० औंस वाली सोने की सलाखों को बेचने व खरीदने का कार्य करेगी। (iii) देश में एक रुपये वाले नोट जारी किये जायेंगे जो पूर्णतया विधिग्राह्य होंगे किन्तु उन्हें चाँदी के रुपयों में नहीं बदला जा सकेगा।

(२) कमीशन ने यह सिफारिश की कि भारतीय रुपये की विदेशी विनिमय दर को १ शि० ६ पेंस पर स्थिर कर दिया जाये क्योंकि देश के लिए यही सबसे उपयुक्त दर है।

(३) स्वर्णमान कोष तथा पत्र मुद्रा कोष को मिलाकर एक कोष स्थापित किया जाना चाहिए, जिसमें ४० प्रतिशत स्वर्ण तथा स्वर्ण-प्रतिभूतियाँ रक्खी जायें और ६० प्रतिशत में भारतीय सरकार की रुपया प्रतिभूतियाँ तथा व्यापारिक बिल होने चाहिएं।

(४) मुद्रा का प्रबन्ध तथा नियन्त्रण एक केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया जाये। भारत में साख व मुद्रा सम्बन्धी नीति में सहयोग व समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से हिल्टन यंग कमीशन ने रिजर्व बैंक आफ इण्डिया को स्थापित करने की जोरदार सिफारिश की। रिजर्व बैंक सरकारी बैंक तथा बैंकों के बैंक का कार्य करेगा और उसे नोट जारी करने का एकाधिकार प्राप्त होगा। रुपये के विदेशी मूल्य को बनाये रखने की जिम्मेदारी भी इस केन्द्रीय बैंक की होगी और वह देश में एक उपयुक्त साख नीति का विकास करेगा।

(५) एक रुपये के नोट को फिर से जारी करना चाहिए और वह असीमित विधिग्राह्य होना चाहिए। बड़े मूल्य के नोट छोटे मूल्य के नोटों में अथवा चाँदी के रुपयों में परिवर्तनीय रक्खे जायें।

सरकार ने हिल्टन यंग कमीशन की सभी सिफारिशों को मान लिया और सन् १९२७ में एक करेंसी अधिनियम के द्वारा भारत में स्वर्ण धातुमान (Gold Bullion Standard) स्थापित कर दिया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत भारतीय रुपये का विदेशी मूल्य १ शि० ६ पेंस पर निश्चित कर दिया गया। सरकार ने २१ रु० ३ आ० १० पाई प्रति तोला के हिसाब से बम्बई टकसाल पर किसी भी सीमा तक ४० तोले से अधिक मात्रा में सोना खरीदना आरम्भ कर दिया। कागजी मुद्रा के बदले में लोग २१ रु० ३ आ० १० पाई प्रति तोला के हिसाब से सरकार से १०६५ तोला से अधिक मात्रा में सोने अथवा उसी मूल्य का स्टर्लिङ्ग लन्दन में तुरन्त भुगतान के लिए खरीद सकते थे। स्टर्लिङ्ग को बेचने की

दर १ शि० ५४६ पैंस प्रति रुपया निश्चित कर दी गई। सरकार ने सोवरेन तथा अर्द्ध सोवरेन को चलन से हटा लिया। इस एक्ट के अन्तर्गत भारत में स्वर्ण धातुमान के स्थान पर स्टर्लिङ्ग विनिमय मान ही स्थापित हो सका क्योंकि भारतीय रुपया सोने में परिवर्तनीय न होकर इंगलैंड के स्टर्लिङ्ग के साथ बदला जाता था। इस प्रकार १९२७ में कमीशन की महत्वपूर्ण सिफारिशों को कार्य-रूप में लाने का प्रयत्न किया गया किन्तु उसमें बहुत अधिक सफलता न मिल सकी। कमीशन ने जिस प्रकार के स्वर्णमान की आलोचना की थी, लगभग उसी प्रकार का स्वर्णमान फिर से स्थापित हो गया। देश में केन्द्रीय बैंक स्थापित करने के सम्बन्ध में भी एक बिल प्रस्तुत किया गया किन्तु भावी रिजर्व बैंक के संविधान के सम्बन्ध में इतना अधिक वाद-विवाद पैदा हो गया कि वह पास न हो सका। इस प्रकार कमीशन की रिजर्व बैंक सम्बन्धी सिफारिश को भी कार्य-रूप में नहीं लाया जा सका।

विनिमय दर सम्बन्धी वाद विवाद—

हिल्टन यंग कमीशन की स्वर्ण धातुमान तथा केन्द्रीय बैंक के स्थापन सम्बन्धी सुझावों का सहर्ष स्वागत किया गया किन्तु रुपये की विनिमय दर को १ शि० ६ पैंस पर निश्चित करने का कटा विरोध किया गया। कमीशन के एक सदस्य सर पुरुषोत्तम दास ठाकुरदास ने इस विनिमय दर की आलोचना की और यह बतलाया कि १ शि० ६ पैंस की दर भारत के आर्थिक हित में नहीं है। उनके अनुसार रुपये की विनिमय दर को १ शि० ४ पैंस पर निश्चित करना भारत के आर्थिक हित में होगा। किन्तु कमीशन के अधिकांश सदस्य इस मत से सहमत नहीं थे और उनके विचार में १ शि० ६ पैंस की दर अधिक उपयुक्त थी। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क दिये गए।

१ शिलिंग ६ पैंस दर के पक्ष में दिये जाने वाले तर्क—

भारत सरकार के वित्त सदस्य सर बासिल ब्लैकेट (Sir Basil Blackett) ने १ शि० ६ पैंस की विनिमय दर के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये—

(१) पिछले कई वर्षों से रुपये की विदेशी विनिमय दर १ शि० ६ पैंस पर स्थिर रही है जो इस बात का प्रमाण है कि यही दर प्राकृतिक है और इसे बनाये रखना ही देश के हित में है। देश की अर्थ व्यवस्था का इस दर पर समायोजन हो चुका है और वस्तुओं के मूल्य, मजदूरी तथा ब्याज की दरें इस विनिमय दर के अनुसार निश्चित हो चुकी है। विनिमय दर में किसी प्रकार का परिवर्तन करना सन्तुलन को भंग कर देगा और उसके परिणामस्वरूप मुद्रा बाजार में अनिश्चितता फैल जायेगी।

(२) इस दर पर भारतीय मूल्यों का संसार के मूल्यों के साथ काफी समायोजन हो चुका है। इसे बदलने का अभिप्राय होगा फिर से समायोजन स्थापित

करना जो काफी कष्टपूर्ण हो सकता है। रुपये की दर को १ शि० ४ पेंस करने का परिणाम यह होगा कि भारतीय कीमतें अन्य देशों की अपेक्षा नीची हो जायगी और उन्हें ऊँचा उठाने के लिए देश में मुद्रा प्रसार करना होगा।

(३) कमीशन के अनुसार १ शि० ४ पेंस की दर कृत्रिम होगी और उसे केवल मुद्रा प्रसार के द्वारा ही बनाये रक्खा जा सकेगा। कमीशन ने बताया कि विनिमय दर को १ शि० ४ पेंस करने पर मूल्य-स्तर को कम से कम १२½% ऊँचा करना होगा जिसके कारण श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी कम हो जायेगी और औद्योगिक अशांति फैलेगी।

(४) विदेशी विनिमय दर को १ शि० ६ पेंस से घटाकर १ शि० ४ पेंस करने का परिणाम यह होगा कि भारत की इंगलैंड को देनदारी बढ़ जायेगी। इसमें लगभग १२½% की वृद्धि होना स्वाभाविक है।

(५) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के बजट इस विनिमय दर के आधार पर बनाये जाते रहे हैं। इस दर को बदलने से सरकारी बजट का सन्तुलन बिगड़ जायेगा और सरकार को घाटा पूरा करने के लिए अधिक कर लगाने पड़ेंगे।

१ शिलिंग ४ पेंस के पक्ष में दिये जाने वाले तर्क—

उपर्युक्त सब बातों को ध्यान में रखते हुए हिल्टन यंग कमीशन ने विदेशी विनिमय दर को १ शि० ६ पेंस पर बनाये रखने के लिए जोर दिया। सरकारी वर्ग का विचार बिल्कुल कमीशन के पक्ष में था और उन्होंने विदेशी विनिमय दर को १ शि० ४ पेंस पर निश्चित करने का विरोध किया किन्तु गैर-सरकारी दृष्टिकोण इसके बिल्कुल विपरीत था। औद्योगिक तथा व्यापारिक वर्ग के लोगों ने १ शि० ४ पेंस की दर को अधिक वास्तविक तथा लाभपूर्ण बतलाया और १ शि० ६ पेंस की दर का विरोध किया। मुख्यत सर पुरुषोत्तम दास ठाकुरदास ने १ शि० ६ पेंस की दर के विरोध में निम्नलिखित तर्क रक्खे—

(१) १ शि० ६ पेंस की दर को प्राकृतिक दर नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इससे पहले काफी समय तक विनिमय दर १ शि० ४ पेंस ही रही है। केवल पिछले दो वर्षों से ही कुछ अच्छी फसलों के आधार पर १ शि० ६ पेंस की विनिमय दर को बनाये रखना सम्भव हो सका है इसलिए उसे वास्तविक दर नहीं कहा जा सकता है।

(२) १ शि० ६ पेंस की दर इतने कम समय तक प्रचलित रही है कि उसके साथ मूल्य-स्तर, मजदूरी तथा ब्याज की दरों का किसी प्रकार का सन्तुलन नहीं हुआ है। अत १ शि० ४ पेंस की दर को अपनाने पर किसी प्रकार का असन्तुलन पैदा होने का प्रश्न नहीं उठता है।

(३) यदि १ शि० ४ पेंस की दर स्थापित करने पर वस्तुओं के मूल्यों में १२½% की वृद्धि होना स्वाभाविक है तो यह इस बात का प्रमाण है कि सरकार

१ शि० ६ पेंस की दर को बनाये रखकर ब्रिटिश उद्योगों को १२% की सहायता देना चाहती है जिसके परिणामस्वरूप इगलैंड का तैयार माल भारत में १२½% कम मूल्यों पर बेचा जा सकेगा। ऐसी दशा में सरकार के द्वारा अपनाई जाने वाली सरक्षण की नीति बेकार हो जायगी।

(४) भारतवर्ष मुख्यत कृषि सम्बन्धी वस्तुओं का निर्यात करता है। इन वस्तुओं के विदेशी बाजार को बनाये रखने के लिए उन्हें कम मूल्यों पर बेचना आवश्यक है। १ शि० ४ पेंस की दर ऐसा करने में सहायक होगी।

(५) निर्यातों का मूल्य आयातों के मूल्य की अपेक्षा अधिक होने के कारण भारत का व्यापार सन्तुलन पक्ष में है किन्तु १ शि० ६ पेंस की ऊँची दर को स्थापित करने म यह व्यापार आधिक्य समाप्त हो जायगा और उसके स्थान पर व्यापार सन्तुलन में घाटा होने लगेगा जिसके कारण देश को सोने का निर्यात करना पडेगा।

(६) १ शि० ६ पेंस की दर कृत्रिम दर है और उसे बनाये रखने के लिए देश में मुद्रा सकुचन करना होगा जिसके कारण उत्पादन तथा आर्थिक उन्नति धीमी पड जायगी और श्रमिकों की मजदूरी पर इसका बुरा प्रभाव पडेगा।

(७) भविष्य में सोने का मूल्य गिर जाने के कारण भारतवर्ष के लिए १ शि० ६ पेंस की ऊँची दर को बनाये रखना सम्भव नहीं हो सकेगा।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर सर पुरुषोत्तम दास ठाकुरदास ने यह प्रदर्शित किया कि १ शि० ४ पेंस की विनिमय दर ही भारत के आर्थिक हितों के अनुकूल है और उसे ही स्थापित किया जाना चाहिए। समस्त व्यवसायिक वर्ग १ शि० ६ पेंस की दर के विरोध में था। किन्तु इस विरोध के होते हुए भी सरकार ने हिल्टन यग कमीशन की सिफारिशों को मान लिया और रुपये की विदेशी विनिमय दर को १ शि० ६ पेंस पर निश्चित कर दिया गया।

स्टर्लिङ्ग विनिमय मान (Sterling Exchange Standard) सन् १९३१ से सन् १९४७ तक—

सन् १९२७ के करेंसी अधिनियम के अन्तर्गत जिस स्वर्ण धातुमान को स्थापित करने का प्रयत्न किया गया, वह पूरी तरह से स्थापित नहीं हो सका। २१ सितम्बर सन् १९३१ को इगलैंड ने स्वर्णमान छोड दिया और स्टर्लिङ्ग का सम्बन्ध सोने से टूट गया। इसका प्रभाव भारतीय रुपये की स्थिति पर भी पडा। स्वर्णमान टूट जाने के कारण स्टर्लिङ्ग सोने में परिवर्तनशील नहीं रहा और उसका मूल्य गिरने लगा। भारतीय सरकार को यह निश्चय करना था कि रुपये को सोने में परिवर्तनशील रखा जाये अथवा स्टर्लिङ्ग में। सन् १९२७ के अधिनियम के अनुसार भारतीय रुपये को सोने में परिवर्तनशील कर दिया गया था किन्तु सरकार को यह छूट दी गई थी कि यदि वह चाहे तो रुपये के बदले में स्टर्लिङ्ग दे सकती

है। सन् १९३१ तक तो कोई समस्या पैदा न हुई क्योंकि स्टर्लिङ्ग सोने में परिवर्तनशील था किन्तु १९३१ में स्टर्लिङ्ग की सोने में परिवर्तनशीलता स्थगित हो जाने के कारण एक विचित्र समस्या उत्पन्न हो गई। इगलैंड के स्वर्णमान को छोड देने में भारतीय रुपये का सम्बन्ध सोने के साथ अपने आप टूट गया और इस प्रकार भारत में जो स्वर्ण धातुमान स्थापित करने का प्रयत्न किया गया वह सफल न हो सका और वास्तव में उसके स्थान पर स्टर्लिङ्ग विनिमय मान (Sterling Exchange Standard) ही स्थापित किया जा सका। २१ सितम्बर १९३१ को गवर्नर जनरल ने १९२७ के अधिनियम की उस धारा को स्थगित कर दिया जिसके अन्तर्गत सरकार रुपये के बदले में सोना अथवा स्टर्लिङ्ग देने के लिए बाध्य थी। किन्तु इसके साथ ही रुपये के मूल्य को १ शि० ६ पैंस पर बनाये रखने की घोषणा कर दी गई। २४ सितम्बर को एक सरकारी आदेश जारी किया गया जिसके अनुसार सरकार ने सीमित मात्रा में केवल प्रमाणित बैंकों को सोने के बदले में स्टर्लिङ्ग देने की जिम्मेदारी ली किन्तु यह केवल उचित व्यापारिक सौदों के लिए ही दिया जा सकता था।

स्टर्लिङ्ग विनिमय मान के पक्ष में तर्क
(Arguments in favour of Sterling Exchange Standard)—

भारत के रुपये को स्टर्लिङ्ग के साथ सम्बन्धित करने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये गए—

(१) इसके परिणामस्वरूप भारतीय रुपये की विदेशी विनिमय दर में स्थिरता स्थापित की जा सकेगी। स्टर्लिङ्ग में सम्बन्धित हो जाने पर रुपये के विदेशी मूल्य में अधिक परिवर्तन नहीं होंगे, जिससे विदेशी व्यापार का विस्तार होगा।

(२) इगलैंड में स्वर्णमान टूट जाने के कारण स्टर्लिङ्ग का अन्य स्वर्णमान वाले देशों की मुद्राओं के सम्बन्ध में अवमूल्यन हो गया था। यदि रुपये को स्टर्लिङ्ग के साथ सम्बन्धित रक्खा जाता है तो उसका भी अवमूल्यन उसी अनुपात में हो जाता है, जिससे भारत के विदेशी व्यापार को लाभ हो सकता।

(३) भारत का अधिकांश व्यापार स्टर्लिङ्ग देशों के साथ होता था तथा भारत सरकार को प्रति वर्ष बहुत बड़ी रकम गृह खर्चों के रूप में इगलैंड भेजनी पड़ती थी। इस दृष्टि से भी रुपये का स्टर्लिङ्ग के साथ सम्बन्ध आवश्यक था।

स्टर्लिङ्ग विनिमय मान के विपक्ष में तर्क
(Arguments against Sterling Exchange Standard)—

(१) रुपये का स्टर्लिंग के साथ सम्बन्धित रहना हमारे देश की राजनैतिक दासता का प्रतीक है। इसके द्वारा भारतीय अर्थ-व्यवस्था इगलैंड की अर्थ-व्यवस्था के साथ सम्बन्धित हो जायगी और स्टर्लिंग के मूल्य में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन

रुपये के मूल्य को अनिवार्य रूप से प्रभावित करेगा। इस प्रकार की आर्थिक आधीनता राष्ट्र के हित में नहीं है। अतः इस प्रकार के सम्बन्ध को जितनी जल्दी समाप्त कर दिया जाय उतना ही अच्छा होगा।

(२) स्टर्लिंग के साथ सम्बन्धित किये जाने के कारण भारतीय रुपये का मूल्य स्वर्णमान वाले देशों के साथ २०% कम हो जायगा और हमें अपने आयातों के लिए अधिक मूल्य देना पड़ेगा।

(३) भारत में स्टर्लिंग विनिमय मान स्थापित होने से रुपये का स्वर्ण मूल्य कम हो जायगा जिसके कारण भारत में सोने का भारी मात्रा में निर्यात किया जाने लगेगा।

(४) इस प्रकार का सम्बन्ध हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों के अनुसार नहीं था। कमीशन ने भारतीय मुद्रा व्यवस्था की पूर्ण जाँच करने के पश्चात् स्वर्ण पाट मान की स्थापना की सिफारिश की थी जो देश की अर्थ-व्यवस्था के अनुकूल था। हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों के विरुद्ध स्टर्लिंग विनिमय मान की स्थापना देश के हित में नहीं थी।

स्टर्लिङ्ग विनिमय मान के परिणाम
(Effects of Sterling Exchange Standard)—

(१) सोने का निर्यात—स्वर्णमान को छोड़ने का तुरन्त परिणाम यह हुआ कि रुपये के सम्बन्ध में सोने का मूल्य २१ रु० १३ आने ३ पाई प्रति तोला से बढ़कर २६ रु० २ आने प्रति तोला हो गया। सोने का मूल्य बढ़ जाने के कारण लोगों ने सोना बेचना आरम्भ कर दिया जिसे भारी मात्रा में विदेशों को निर्यात किया जाने लगा। अक्तूबर सन् १९३१ से लेकर मार्च १९३२ तक भारत से लगभग ५८ करोड़ रुपये का सोना विदेशों को भेजा गया। सन् १९४० तक निर्यात किये जाने वाले सोने का मूल्य लगभग ३०३ करोड़ रुपये था। सोने के इस निर्यात के यद्यपि कुछ और कारण भी थे किन्तु स्टर्लिंग के साथ रुपये का सम्बन्धित किया जाना प्रमुख था। सरकार ने सोने के इस भारी निर्यात को रोकने के लिए कुछ नहीं किया। भारतीय व्यापारियों ने सोने के अत्यधिक निर्यात की कड़ी आलोचना की और उसे रोकने के लिए सरकार से प्रार्थना की किन्तु सरकार ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

(२) विनिमय दर में स्थिरता—स्टर्लिंग विनिमय मान की स्थापना का एक परिणाम यह हुआ कि रुपये की विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पैंस पर बनाये रखा जा सका। भारत से सोने का भारी मात्रा में निर्यात हो जाने के कारण व्यापार सन्तुलन पक्ष में हो गया और स्टर्लिंग की माँग गिर गई। ऐसी दशा में सरकार के लिए रुपये के विदेशी मूल्य को १ शिलिंग ६ पैंस पर बनाये रखना आसान हो गया। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् उसकी यह वैधानिक जिम्मेदारी

कर दी गई कि वह १ शिलिंग ६ पैंस पर किसी भी सीमा तक रुपये के बदले में स्टर्लिङ्ग देगा। इस प्रकार रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिङ्ग के साथ दृढ कर दिया गया।

भारतीय चलन पद्धति का विकास हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों के अनुसार नहीं हुआ। यद्यपि सरकार ने कमीशन की सभी सिफारिशों को मान लिया और उन्हें कार्य-रूप में लाने का पूरा प्रयत्न किया किन्तु फिर भी कमीशन की सिफारिशों का वास्तविक उद्देश्य पूरा नहीं हो सका। सरकार ने १९२७ के अधिनियम के अन्तर्गत देश में स्वर्ण धातुमान स्थापित कर दिया। रुपये की विदेशी विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पैंस पर निश्चित कर दिया गया और उसे बनाये रखने के लिए सरकार ने भरसक प्रयत्न भी किया। यहाँ तक कि इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए देश से बहुत बड़ी मात्रा में सोना व चाँदी भी बाहर भेज दिया गया। सन् १९३५ में रिजर्व बैंक को स्थापित करके साख व मुद्रा के नियन्त्रण का कार्य भी एक संस्था को सौंप दिया गया।

यह सब कुछ होते हुए भी भारत में मुद्रा प्रणाली का विकास कमीशन की इच्छाओं के अनुसार न हो सका। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से स्वर्ण धातुमान (Gold Bullion Standard) स्थापित कर दिया गया था किन्तु कार्य-रूप में वह केवल स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard) ही था। कमीशन की सिफारिशों का उद्देश्य रुपये और सोने में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना था किन्तु यह सम्बन्ध कभी भी स्थापित न हो सका। भारतीय रुपया सोने के साथ स्टर्लिङ्ग के द्वारा सम्बन्धित था और इस प्रकार रुपये और सोने का सम्बन्ध प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष था। सन् १९३१ के पश्चात् इगलैंड के द्वारा स्वर्णमान को त्याग देने के कारण तो यह परोक्ष सम्बन्ध भी टूट गया और भारत में केवल स्टर्लिङ्ग विनिमय मान (Sterling Exchange Standard) ही रह गया। इस प्रकार भारतीय मुद्रा प्रणाली का विकास कमीशन की इच्छाओं के अनुसार नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त, कमीशन ने कभी भी यह सुझाव नहीं दिया था कि रुपये के मूल्य को किसी भी दशा में १ शिलिंग ६ पैंस ही रखा जाय। यहाँ तक कि स्टर्लिङ्ग का मूल्य ह्रास होने पर भी उसे न बदला जाय। किन्तु वास्तव में यही किया गया और सरकार ने स्टर्लिङ्ग का मूल्य कम हो जाने पर भी रुपये के विदेशी मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं किया जिसके भयकर आर्थिक परिणाम हुए।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना—

यद्यपि हिल्टन यग कमीशन ने रिजर्व बैंक को स्थापित करने की सिफारिश की किन्तु इस सिफारिश को कार्य-रूप में नहीं लाया जा सका और उस समय केन्द्रीय बैंक को स्थापित करने के प्रश्न को स्थगित कर दिया गया। सन् १९३१ में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (Central Banking Enquiry Committee) ने केन्द्रीय बैंक की स्थापना पर बहुत अधिक जोर दिया जिसके परिणामस्वरूप ६ अप्रैल

सन् १९३४ को रिजर्व बैंक एक्ट पास कर दिया गया और १ अप्रैल १९३५ को रिजर्व बैंक की स्थापना की गई। रिजर्व बैंक की स्थापना भारतीय मुद्रा के इतिहास मे एक महत्वपूर्ण घटना थी। भारतीय मुद्रा व साख दोनों का नियन्त्रण रिजर्व बैंक को सौंप दिया गया और उसे केन्द्रीय बैंक सम्बन्धी सभी कार्य दे दिये गये। रिजर्व बैंक की स्थापना के फलस्वरूप भारतीय मुद्रा प्रणाली मे कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए जो इस प्रकार हैं—

(१) नोट जारी करने का एकाधिकार रिजर्व बैंक को दे दिया गया और सरकार के द्वारा जारी किये जाने वाले नोटो का स्थान रिजर्व बैंक के नोटो ने ले लिया। धीरे-धीरे देश मे चलने वाली समस्त मुद्रा रिजर्व बैंक के द्वारा जारी की जाने लगी।

(२) रिजर्व बैंक की स्थापना हो जाने पर मुद्रा व साख का नियन्त्रण एक ही केन्द्रीय सस्था के हाथो मे आ गया क्योंकि नोट निर्गमन तथा साख नियन्त्रण का कार्य रिजर्व बैंक को सौप दिया गया। ऐसा करने से भारतीय मुद्रा प्रणाली का एक बड़ा दोष दूर हो गया।

(३) रुपये के विदेशी मूल्य को १ शिलिंग ६ पेंस पर स्थिर रखने का दायित्व रिजर्व बैंक को दे दिया गया जिसके लिए वह १ शिलिंग ६$\frac{3}{16}$ पेंस प्रति रुपये के हिसाब से किसी भी सीमा तक स्टर्लिंग बेचता था और १ शिलिंग ५$\frac{49}{64}$ पेंस प्रति रुपये के हिसाब से उसे खरीदने का कार्य करता था।

(४) रिजर्व बैंक की स्थापना का एक परिणाम यह हुआ कि देश मे रक्खे जाने वाले विभिन्न प्रकार के कोषो का केन्द्रीयकरण कर दिया गया। पत्र मुद्रा कोष तथा स्वर्णमान कोष मिला दिये गये तथा बैंकिंग व्यवस्था के समस्त कोष भी रिजर्व बैंक के पास केन्द्रित हो गये।

(५) इन कार्यो के अतिरिक्त रिजर्व बैंक को बैंको के बैंक तथा सरकारी बैंकर का काम भी सौंप दिया गया और इस प्रकार वह देश मे पूर्ण रूप से एक केन्द्रीय बैंक का कार्य करने लगा।

सन् १९३१–३९ के बीच विनिमय दर—

सन् १९३१ मे भारतीय रुपया स्टर्लिङ्ग के साथ १ शिलिंग ६ पेंस की दर पर सम्बन्धित था और सरकार ने इस विनिमय दर को किसी भी कीमत पर बनाये रखने का निश्चय किया। सन् १९३३–३४ तक भारत के विदेशी व्यापार मे काफी गिरावट आ गई थी जिसका रुपये के विनिमय दर पर बुरा प्रभाव पड़ा। अगस्त सन् १९३५ मे श्री मनु सूबेदार ने भारतीय रुपये की विनिमय दर मे परिवर्तन करने की माग की किन्तु भारतीय सरकार के वित्त सदस्य ने उसे मानने से इन्कार कर दिया और रुपये की दर को १ शिलिंग ६ पेंस पर स्थिर रखने का निश्चय किया गया। सन् १९३६ मे फिर स्थिति मे परिवर्तन हुआ। फ्रास तथा अन्य स्वर्णमान वाले देशो

ने अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर दिया था। भारत मे भी रुपये के अवमूल्यन की माँग की जाने लगी और अक्तूबर सन् १९३६ मे इस प्रश्न को विधान सभा मे उठाया गया किन्तु इस बार भी सरकार ने रुपये की विनिमय दर मे कोई भी परिवर्तन करने से इन्कार कर दिया। सन् १९३८ मे भारत का व्यापार सतुलन फिर विपक्ष मे जाने लगा और विनिमय दर कमजोर हो गई। इस बार भारतीय काग्रेस की वर्किंग कमेटी ने रुपये के अवमूल्यन की माग की। इस समिति का विचार था कि १ शिलिंग ६ पेंस की दर होने से भारतीय किसानो को बडी हानि उठानी पडी है और विदेशी आयातो को एक प्रकार का अनावश्यक लाभ प्राप्त होता है। समिति के अनुसार १ शिलिंग ६ पेंस की विनिमय दर को बनाये रखना सम्भव नही था। किन्तु सरकार ने इस समिति की प्रार्थना को भी अस्वीकार कर दिया क्योकि उसके द्वारा अवमूल्यन के पक्ष मे दिये जाने वाले तर्क अधिक दृढ नही थे। सन् १९३९ मे युद्ध आरम्भ हो जाने के कारण भारत के व्यापार सतुलन मे तेजी के साथ सुधार होने लगा और विनिमय दर सम्बन्धी वाद-विवाद का महत्व समाप्त हो गया।

परीक्षा प्रश्न

(१) १८३५ से १८९८ तक रजतमान को समझाइये।

(२) बैबिंगटन स्मिथ कमेटी के सुझावों पर प्रकाश डालिए।

(३) १९२५ से १९३९ तक भारतीय मुद्रा प्रणाली का वर्णन कीजिये।

(गोरखपुर व विक्रम बी० काम० १९५९)

११

भारतीय मुद्रा का इतिहास

HISTORY OF INDIAN CURRENCY

द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ होने के समय भारतवर्ष में स्टर्लिंग विनिमय मान (Sterling Exchange Standard) था। भारतीय रुपया स्टर्लिंग के साथ सम्बन्धित था और उसकी विदेशी विनिमय दर १ शिलिंग ६ पैंस पर निश्चित थी। रुपया देश का प्रामाणिक सिक्का होते हुए भी सांकेतिक था। उसे विदेशी भुगतानों के लिए निश्चित दर पर स्टर्लिंग में बदला जा सकता था। रुपये के सिक्कों, अठन्नी तथा नोटों को असीमित विधिग्राह्यता प्राप्त थी। विदेशी बाजार में रुपये का कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं था और वह स्टर्लिंग के माध्यम के द्वारा ही अन्य मुद्राओं के साथ बदला जा सकता था। व्यापार सन्तुलित पक्ष में होने के कारण भारतीय रुपये की माँग काफी थी और १ शिलिंग ६ पैंस की दर को सुविधापूर्वक बनाये रखा जा सकता था। किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी भारतीय मुद्रा प्रणाली दोषपूर्ण थी। उसका सबसे बड़ा दोष तो यह था कि वह स्टर्लिंग पर आधारित थी और रुपये का कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं था। इसके अतिरिक्त इस मुद्रा प्रणाली में लोच का भी अभाव था और किसी भी असामान्य परिस्थिति में उसका टूट जाना स्वाभाविक था।

द्वितीय विश्व-युद्ध का भारतीय मुद्रा पर प्रभाव
(Effects of II World War on Indian Currency)—

३ सितम्बर सन् १९३९ को द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हुआ जिसके कारण योरोप के लगभग सभी देश अपनी अर्थ-व्यवस्था को युद्धकालीन दशाओं के अनुकूल बनाने में लग गये। भारतवर्ष यद्यपि लड़ाई का केन्द्र नहीं था किन्तु फिर भी उसकी समस्त अर्थ-व्यवस्था पर युद्ध का गहरा प्रभाव पड़ा। साथी देशों को युद्ध जीतने के लिए भारत ने पूरी-पूरी सहायता दी। युद्ध के कारण हमारे देश में मुद्रा-प्रसार की स्थिति पैदा हो गई जिसका मुख्य कारण बहुत बड़ी मात्रा में नई मुद्रा का जारी किया जाना था। व्यापार और उत्पादन की मात्रा में भी वृद्धि हुई किन्तु वह मुद्रा

विस्तार की अपेक्षा कम थी जिसके कारण वस्तुओं के मूल्य तेजी के साथ बढ़ने लगे। सरकार ने मूल्यों को बढ़ने से रोकने के लिए तथा विदेशी विनिमय दर को स्थिर रखने के लिए विभिन्न प्रकार के नियन्त्रणों का प्रयोग किया। युद्ध काल भारतीय मुद्रा प्रणाली के लिए भी एक परीक्षा का समय था और उसे बहुत कठिनाइयों में से होकर गुजरना पड़ा। भारतीय मुद्रा प्रणाली ने युद्ध के दबाव को बहुत अच्छी प्रकार सहन किया और साधारणतया मुद्रा में जनता के विश्वास को बनाये रखा जा सका। यद्यपि कुछ समय के लिए युद्ध के कारण नोटों को सिक्कों में बदलने की माग काफी प्रबल हो गई थी किन्तु कुछ ही समय पश्चात् मुद्रा में जनता का विश्वास फिर से स्थापित हो गया। युद्ध काल में रुपये का मूल्य स्टर्लिंग के साथ तो स्थिर बना रहा किन्तु डालर (Dollar) तथा येन (Yen) आदि के सम्बन्ध में उसका मूल्य गिर गया। युद्ध के कारण भारतीय मुद्रा प्रणाली पर जो प्रभाव पड़े उनमें से निम्नलिखित प्रमुख है —

(१) मुद्रा व साख का विस्तार (Expansion of Currency & Credit)— द्वितीय विश्व-युद्ध काल में भारतवर्ष में मुद्रा की मात्रा में तेजी के साथ वृद्धि हुई। युद्ध की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सरकार को बहुत बड़ी मात्रा में नई पत्र मुद्रा जारी करनी पड़ी। भारत ने इंगलैंड को बहुत बड़ी मात्रा में वस्तुओं का निर्यात किया जिसका भुगतान तुरन्त नहीं किया गया और उनके बदले में हमें केवल स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ प्राप्त हुईं। सरकार ने इन स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के आधार पर नये नोट जारी कर दिये और इस प्रकार चलन में मुद्रा की मात्रा पहले की अपेक्षा कई गुणा हो गई जिसके परिणामस्वरूप वस्तुओं के मूल्य तेजी के साथ बढ़ने लगे और देश में मुद्रा-प्रसार की स्थिति पैदा हो गई। सन् १६३६ में पत्र मुद्रा की कुल मात्रा १८० करोड़ रुपये थी जो अक्तूबर १६४५ में बढ़कर ११५६·८५ करोड़ रुपये हो गई। इस प्रकार ६ वर्ष के इस समय में लगभग ६८० करोड़ रुपये की नई मुद्रा जारी की गई। इस काल में केवल नकद रुपये की मात्रा ही नहीं बढ़ी बल्कि साख की मात्रा में भी तेजी के साथ वृद्धि हुई और इसी काल में साख मुद्रा की मात्रा लगभग दुगुनी हो गई। मुद्रा व साख के इस विस्तार के कारण वस्तुओं के मूल्यों में तेजी के साथ वृद्धि होने लगी और मूल्य सूचक अंक (१६३६=१००) बढ़कर ८०० से भी अधिक हो गया।

(२) नोटों को रुपयों में बदलने की भारी मांग (Excessive Demand for conversion of Notes)—युद्ध आरम्भ होते ही जनता में एक प्रकार की बेचैनी फैल गई। लोगों ने अपने रुपए बैंकों से निकालने आरम्भ कर दिये, सरकारी प्रतिभूतियाँ बेची जाने लगी तथा डाकखाने के कैश सर्टिफिकेट बदले जाने लगे। इन सबका कारण था रुपये में जनता के विश्वास का कम हो जाना। सन् १६४० के मध्य में, योरोप में लड़ाई की स्थिति खराब हो जाने के कारण, लोगों ने बहुत बड़ी

मात्रा में नोटों के बदले में सिक्कों की माग करनी आरम्भ कर दी। सरकार ने रुपये में जनता के विश्वास को बनाये रखने के लिए काफी मात्रा में सिक्कों की माग को पूरा किया किन्तु यह माग निरन्तर बढती ही गई। सामान्यतः नोटों के बदले में रिजर्व बैंक से प्रति सप्ताह १ करोड रुपये के सिक्कों की माग की जाती थी किन्तु अब यह माग बढकर ४ से ५ करोड रुपया हो गई। सरकार के लिए चाँदी के सिक्कों की बढती हुई माग को पूरा करना सम्भव न हो सका और सरकार ने एक आदेश जारी कर दिया जिसके अन्तर्गत व्यक्तिगत तथा व्यवसायिक आवश्यकता से अधिक मात्रा मे सिक्को का जमा करना जुर्म करार दे दिया। नोटों को सिक्कों में बदलने पर प्रतिबन्ध चाँदी की कमी के कारण नही लगाया गया बल्कि इसलिए लगाया गया कि भारतीय टकसाले इतनी अधिक मात्रा मे सिक्के ढालने में असमर्थ थी। रुपयों की कमी को पूरा करने के लिए सरकार ने एक रुपये वाले नोट जारी कर दिये और उन्हें असीमित विधिग्राह्य घोषित कर दिया गया। २४ जून सन् १६४० को यह घोषणा कर दी गई कि एक रुपये का नोट एक रुपये के सिक्के के समान ही होगा और वह प्रत्येक कार्य के लिए प्रामाणिक सिक्का समझा जायगा। अन्य समस्त नोटों को एक रुपये के नोटों म परिवर्तनीय कर दिया गया। फरवरी सन् १६४३ को दो रुपये वाले नोटों का प्रकाशन भी आरम्भ कर दिया गया।

(३) भारतीय सिक्को मे चाँदी की मात्रा कम कर दी गई (Reduction in the silver content of the coins)—सरकार ने चादी की बचत करने के लिए रुपया, आठ आन तथा चार आने के सिक्को मे चादी की मात्रा को घटा दिया। सभी चादी के सिक्को की शुद्धता कम कर दी गई और उनमें घटिया धातु की मात्रा बढा दी गई। अप्रैल सन् १६४० मे सरकार ने चवन्नी व अठन्नी की शुद्धता को $\frac{11}{12}$ से घटा कर $\frac{1}{2}$ कर दिया। २३ दिसम्बर १६४० से रुपये की शुद्धता मे भी इसी प्रकार की कमी कर दी गई। कुछ समय पश्चात् निकिल (Nickle) तथा अन्य घटिया धातुओं के सिक्के चलन मे डाल दिये गये। यह सब कुछ इसलिए किया गया क्योंकि सरकार देश में चाँदी के सीमित स्टाक से अधिक से अधिक काम लेना चाहती थी।

(४) अधिक चाँदी वाले सिक्कों को चलन से हटा लिया गया—चाँदी के प्रयोग मे बचत करने के उद्देश्य से सरकार ने अधिक चाँदी वाले पुराने सिक्को को चलन से हटा लिया। ११ अक्तूबर सन् १६४० को एक सरकारी आदेश के द्वारा महारानी विक्टोरिया के रुपये, अठन्नी व चवन्नी के सिक्कों का विमुद्रीकरण कर दिया गया और उन्हें १ अप्रैल सन् १६४१ तक सरकार ने वापस माग लिया। इसी प्रकार ४ नवम्बर सन् १६४१ को एडवर्ड सप्तम के रुपये, अठन्नी व चवन्नी के सिक्को को बन्द कर दिया गया। १ नवम्बर सन् १६४३ को जार्ज पचम तथा जार्ज षष्ठम के $\frac{11}{12}$ शुद्धता वाले रुपये व अठन्नियों को भी चलन से हटा लिया गया और उनके स्थान पर $\frac{1}{2}$ शुद्धता वाले नये चाँदी के सिक्के जारी कर दिये गये।

(५) **रेजगारी की कमी**—युद्ध काल में व्यापारिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए छोटे मूल्य के सिक्कों की माग बहुत अधिक बढ गई। सरकारी टकसालो से इतनी बडी मात्रा मे रेजगारी जारी करना सम्भव न हो सका जिसके कारण देश भर मे रेजगारी की बहुत कमी हो गई और लोगो को काफी कठिनाई उठानी पडी। रेजगारी की इतनी अधिक कमी थी कि लोगो को डाकखाने के टिकट तथा अन्य प्रकार के कूपन रेजगारी के स्थान पर प्रयोग करने पडे। सरकार ने रेजगारी की इस कमी को दूर करने के लिए बडी मात्रा मे नई रेजगारी का टंकन आरम्भ कर दिया और कुछ ही समय मे रेजगारी की इस कमी को पूरा कर दिया गया। १७ अप्रैल सन् १९४३ को सरकार ने एक आदेश के द्वारा आवश्यकता से अधिक मात्रा मे रेजगारी इक्ट्ठा करना अपराध घोषित कर दिया। सन् १९४३ मे सरकार ने ३० ग्रेन-वजन वाला एक नया पैसा जारी किया तथा अन्य छोटे सिक्को मे भी धातुओं की मात्रा कम कर दी गई।

(६) **बड़े मूल्य वाले नोटों का विमुद्रीकरण**—सरकार ने चोर बाजारी तथा अन्य प्रकार से प्राप्त अवैधानिक आय को रोकने के लिए बड़े मूल्य वाले नोटो का विमुद्रीकरण कर दिया। सन् १९४६ मे ५०० रु०, १००० रु० तथा १०,००० रु० वाले नोटो का विमुद्रीकरण कर दिया गया। इन नोटो को छोटे नोटो मे तभी बदला जा सकता था जबकि उनका मालिक इस बात का काफी प्रमाण दे कि वह चोर-बाजार की आय नही है किन्तु सरकार को अपने इस उद्देश्य मे बहुत कम सफलता मिल सकी।

भारत में विदेशी विनिमय-नियन्त्रण—

विदेशी विनिमय नियन्त्रण की मुख्य विशेषता यह होती है कि सरकार निश्चित दरो पर विदेशी मुद्रा को बेचने व खरीदने के लिए हर समय तैयार रहती है। भारतवर्ष मे विदेशी विनिमय नियन्त्रण का कुछ अश सन् १८९३ से मौजूद था जिस समय रुपये को एक सांकेतिक सिक्का बनाया गया और उसके विदेशी मूल्य को १ शिलिंग ४ पैंस पर निश्चित कर दिया गया उस समय से सरकार कौंसिल बिल्स (Council Bills) तथा रिवर्स कौंसिल बिल्स (Reverse Council Bills) को बेचने व खरीदने की विधि के द्वारा रुपये के विदेशी मूल्य को १ शिलिंग ४ पैंस पर स्थिर रखती थी। कुछ समय पश्चात् रुपये की विदेशी दर को बढा कर १ शिलिंग ६ पैंस कर दिया गया। सन् १९३० के पश्चात् व्यापार सन्तुलन विपक्ष मे होने के कारण रुपये की विदेशी विनिमय दर को बनाये रखना कठिन हो गया और सोने के भारी निर्यात के द्वारा ही उसे बनाये रक्खा जा सका। सन् १९३८ मे स्थिति और अधिक खराब हो गई। सोने का निर्यात गिरने लगा और व्यापार सन्तुलन भी निरन्तर विपक्ष मे जा रहा था। किन्तु युद्ध आरम्भ होने पर स्थिति मे सुधार हुआ। भारत का व्यापार सन्तुलन पक्ष मे हो गया और स्टर्लिंग जमा होने लगा। अब

१ शिलिंग ६ पेंस की दर को बनाये रखना आसान था। रुपये की विनिमय दर स्टर्लिंग के साथ निश्चित थी किन्तु स्टर्लिंग का मूल्य डालर के साथ तेजी के साथ गिर रहा था। ब्रिटिश सरकार ने विदेशी विनिमय नियन्त्रण के द्वारा स्टर्लिंग के मूल्य को £1=$4 02 की दर पर निश्चित कर दिया।

इंगलैंड के साथ-साथ भारतवर्ष में भी द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ होने पर विदेशी विनिमय नियन्त्रण की नीति को अपना लिया गया। सन् १९३९ में भारतीय रक्षा कानून के अन्तर्गत गवर्नर जनरल को अग्रलिखित अधिकार दे दिये गये—

(i) विदेशी विनिमय के खरीदने पर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार।

(ii) विदेशी विनिमय को खरीदने का अधिकार।

(iii) प्रतिभूतियों के खरीदने तथा उनके निर्यात करने पर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार।

(iv) विदेशी प्रतिभूतियों को खरीदने का अधिकार।

गवर्नर जनरल ने विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी समस्त अधिकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को दे दिये। विनिमय नियन्त्रण को चलाने के लिए रिजर्व बैंक ने विदेशी विनिमय नियन्त्रण विभाग की स्थापना की और उसे विनिमय नियन्त्रण का कार्य सौंप दिया गया। भारतवर्ष में विनिमय नियन्त्रण के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रतिबन्ध लगाये गये—

(१) विदेशी विनिमय के सौदों पर प्रतिबन्ध—रिजर्व बैंक ने एक आदेश के द्वारा यह अनिवार्य कर दिया कि विदेशी विनिमय के सौदे केवल अधिकृत व्यापारियों के द्वारा ही किये जा सकेंगे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ विदेशी विनिमय बैंकों तथा मिश्रित पूंजी वाले बैंकों को लाइसेन्स (License) दे दिये गये। सामान्यतः ब्रिटिश साम्राज्य वाले देशों की मुद्राओं के बेचने तथा खरीदने पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रहता था किन्तु अल्प पूर्ति वाली मुद्रायें (Hard Currencies) वास्तविक व्यापारिक आवश्यकताओं के लिए तथा अनिवार्य व्यक्तिगत भुगतानों के लिए केवल सीमित मात्रा में ही दी जाती थीं। स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर किसी भी प्रकार का भुगतान करने के लिए रिजर्व बैंक की स्वीकृति लेनी होती थी। मार्च सन् १९४० में विनिमय नियन्त्रण और अधिक दृढ़ कर दिया गया और निर्यातों के बदले में प्राप्त अल्प-पूर्ति वाली मुद्राओं के प्रयोग पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। निर्यात नियन्त्रण की इस योजना के अन्तर्गत यह अनिवार्य कर दिया गया कि निर्यातों के बदले में प्राप्त होने वाले विदेशी विनिमय का प्रयोग रिजर्व बैंक की स्वीकृति प्राप्त ढंग से ही किया जा सकेगा। निर्यातों के बदले में प्राप्त होने वाले विदेशी विनिमय को रिजर्व बैंक को अनिवार्य रूप से बेचना होता था और उसके बदले में निश्चित दर पर देश की मुद्रा दे दी जाती थी। इस योजना के अन्तर्गत लोगों की डॉलर जमा तथा विदेशी प्रतिभूतियों को लेकर साम्राज्य डॉलर कोष

(Empire Dollar Pool) मे जमा कर दिया गया और उनके बदले मे रिजर्व बैंक ने भारतीय रुपये दे दिये। इस योजना का उद्देश्य यह था कि प्राप्त होने वाली विदेशी मुद्राओ को बाहर के देशो मे न रक्खा जा सके और उन्हे अनिवार्य रूप से भारत मे ले आया जाय।

(२) **प्रतिभूतियों के खरीदने तथा उनका निर्यात करने पर प्रतिबन्ध**—विदेशी विनिमय नियन्त्रण की योजना के अन्तर्गत विदेशियो से प्रतिभूतियाँ खरीदने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। कोई भी व्यक्ति रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना इस प्रकार की प्रतिभूतियो को नही खरीद सकता था। भारतवर्ष से प्रतिभूतियो के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। ऐसा करने के लिए रिजर्व बैंक की आज्ञा लेना आवश्यक था। केवल रिजर्व बैंक से लाइसेन्स प्राप्त व्यक्ति ही प्रतिभूतियो का निर्यात कर सकते थे जिसमें शर्त यह होती थी कि उनके बदले मे प्राप्त होने वाले विदेशी विनिमय को अनिवार्य रूप से सरकार को बेचना होगा। इस प्रकार के प्रतिबन्धो का उद्देश्य देश से पूँजी के निर्यात को रोकना तथा विदेशी विनिमय मे सट्टेबाजी कम करना था।

(३) **आयात नियन्त्रण (Import Control)**—विदेशी विनिमय नियन्त्रण को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए सरकार ने २० मई सन् १६४० से आयात नियन्त्रण की नीति को अपना लिया। विदेशी विनिमय का उचित प्रयोग करने के उद्देश्य से आयातो को लाइसेन्स करने की योजना अपनाई गई। इस योजना के अन्तर्गत स्टर्लिंग क्षेत्रो से बाहर वाले देशो से बिना लाइसेन्स के कोई भी समान नही मगाया जा सकता था। विदेशी विनिमय केवल लाइसेन्स प्राप्त निर्यातो के लिए ही दिया जाता था। सन् १६४० से उपभोग सम्बन्धी वस्तुओ का आयात केवल स्टर्लिंग क्षेत्र से ही हो सकता था। विलासिता की वस्तुओ के आयात पर कड़ा नियन्त्रण लगा दिया गया। आयात नियत्रण का मुख्य उद्देश्य अल्प पूर्ति वाली मुद्राओ का उचित प्रयोग करना तथा व्यापार सतुलन को विपक्ष मे होने से रोकना था।

(४) **सोने के निर्यात तथा आयात पर प्रतिबन्ध**—कोई भी व्यक्ति रिजर्व बैंक की आज्ञा प्राप्त किये बिना किसी भी रूप स सोना भारतवर्ष से बाहर नही ले जा सकता था। एक निश्चित मात्रा से अधिक आभूषणो को देश से बाहर नही ले जाया जा सकता था। सोने का आयात करने के लिए भी लाइसेन्स लेना होता था। स्टर्लिंग क्षेत्र से सोना मगाने की आज्ञा आसानी से मिल जाती थी किन्तु डालर प्रतिबन्धो का मुख्य उद्देश्य स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर वाले देशो से सोने के आयात को कम करना था।

(५) **मुद्रा के आयात तथा निर्यात पर प्रतिबन्ध**—सन् १६४० के पश्चात् कोई भी व्यक्ति रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना भारतीय मुद्रा देश से बाहर नहीं ले

जा सकता था। देश से बाहर सिक्कों तथा करेंसी नोटों को ले जाने के लिए रिजर्व बैंक से लाइसेन्स प्राप्त करना होता था। विदेशी मुद्राओं को देश मे लाने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। सितम्बर सन् १९४३ से भारतीय पत्र मुद्रा को छोड़कर अन्य सब प्रकार की मुद्राओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

युद्धोत्तर-काल मे विदेशी विनिमय-नियन्त्रण
(Foreign Exchange Control in the Post War Period)—

द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होने पर भारत की विदेशी विनिमय स्थिति काफी अच्छी थी किन्तु फिर भी विदेशी विनिमय नियन्त्रण को जारी रक्खा गया और उसके क्षेत्र को अधिक व्यापक कर दिया गया। इसका मुख्य कारण देश मे वस्तुओं के लिए बढती हुई माग तथा इङ्गलैंड की स्टर्लिंग मुक्त करने मे असमर्थता थी। कुछ ही समय पश्चात् भारत के भुगतान सन्तुलन मे घाटा होने लगा और यह आवश्यक हो गया कि विदेशी विनिमय सम्बन्धी सौदों पर अधिक से अधिक नियन्त्रण लगाये जायें। सन् १९४७ मे स्टर्लिंग क्षेत्र के साथ होने वाले सौदों को विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत ले आया गया और १९५१ में पाकिस्तान तथा अफगानिस्तान के साथ होने वाले सौदों को भी नियन्त्रित कर दिया गया।

सन् १९४७ के विनिमय नियमन अधिनियमन (Foreign Exchange Regulation Act, 1947) के अन्तर्गत भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को निम्नलिखित प्रकार के सौदों को नियन्त्रित करने का अधिकार दिया गया —(i) विदेशी विनिमय एवं विदेशी प्रतिभूतियों मे होने वाले सौदे। (ii) भारत से बाहर रहने वाले लोगों को किये जाने वाले भुगतान। (iii) करेंसी नोट सोना, बहुमूल्य धातुओं आदि का निर्यात। (iv) विदेशियों को प्रतिभूतियों का हस्तान्तरण। इस प्रकार के सौदे प्राय रिजर्व बैंक से लाइसेन्स प्राप्त बैंकों के द्वारा किये जाते हैं। अधिकृत व्यापारियों के अतिरिक्त अन्य लोगों के द्वारा किये जाने वाले विदेशी विनिमय के सौदों तथा भारतीय मुद्रा का विदेशी मुद्राओं के साथ रिजर्व बैंक की अधिकृत दरों के अतिरिक्त दरों पर बदले जाने को निश्चित रूप से वर्जित कर दिया गया है।

भारत मे नियोजन आरम्भ होने पर विदेशी विनिमय नियन्त्रण की प्रकृति तथा उद्देश्य दोनों ही बदल गये हैं। अब वह योजना सम्बन्धी प्रोग्राम को कार्यरूप मे लाने का एक साधन बन गया है। द्वितीय पचवर्षीय योजना काल मे हमारे देश ने लगभग समस्त स्टर्लिंग निधि को खर्च कर लिया है और हमारे विदेशी विनिमय कोष तेजी के साथ गिर रहे हैं। विकास के कामों के लिए देश ने काफी बड़ी मात्रा मे विदेशी ऋण लिए हुए हैं जिनके भुगतान सम्बन्धी उत्तरदायित्व को हमें उठाना है। हमे बहुत बडी मात्रा मे विकास सम्बन्धी आयातों का प्रबन्ध भी करना है। इन्हीं सब उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए विदेशी विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग किया

जाना है। ऐसी कठिन दशाओं में विनिमय नियंत्रण ही हमारे भुगतान सन्तुलन की स्थिति को ठीक रखने में सहायता कर सकता है। इसीलिए योजना काल में विदेशी विनिमय नियंत्रण का प्रयोग इस प्रकार किया जा रहा है जिससे कि विदेशी पूँजी के आने तथा विकास सम्बन्धी आयातों में किसी प्रकार की कमी न होने दी जाये और इसके साथ ही अनावश्यक आयातों को रोक कर भुगतान सन्तुलन पर दबाव को कम किया जाये।

साम्राज्य डालर कोष (Empire Dollar Pool)—

युद्ध से पूर्व लगभग सभी देश अपने विदेशी विनिमय कोषों को लन्दन में स्टर्लिंग के रूप में जमा रखते थे क्योंकि स्टर्लिंग सब देशों की मुद्राओं में पूर्णतया परिवर्तनशील था। कोई भी देश अपने स्टर्लिंग कोषों का प्रयोग जब चाहे कर सकता था क्योंकि स्टर्लिंग को अन्य देशों की मुद्राओं में बदलने की पूरी सुविधायें दी जाती थीं। किन्तु युद्ध आरम्भ होने पर यह स्थिति बदल गई और स्टर्लिंग की स्वतन्त्र परिवर्तनशीलता पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया; युद्ध के कारण डालर तथा कुछ अन्य देशों की मुद्राओं की भारी कमी हो गई और स्टर्लिंग को इन दुर्लभ मुद्राओं में बदलने में बड़ी कठिनाई होने लगी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए तथा दुर्लभ मुद्राओं का उचित प्रयोग करने के उद्देश्य से स्टर्लिंग क्षेत्र वाले देशों ने मिलकर सन् १९३९ में एक साम्राज्य डालर कोष की स्थापना की। इस डालर कोष में ब्रिटिश साम्राज्य वाले देशों का विदेशी विनिमय जमा रहता था और उन्हें आवश्यकतानुसार इस कोष में से दुर्लभ मुद्रायें व्यय के लिए दी जाती थीं। यद्यपि इस कोष में विभिन्न देशों की मुद्रायें जमा रहती थीं किन्तु इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण मुद्रा डालर थी। इसीलिए इसे डालर कोष के नाम से जाना जाता था। इस कोष का प्रबन्ध तथा संचालन बैंक ऑफ इङ्गलैंड और ब्रिटिश ट्रेजरी के द्वारा किया जाता था।

स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देशों ने अपने पास विदेशी विनिमय रखने के अधिकार को त्याग दिया और ये देश दुर्लभ मुद्राओं के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए तैयार हो गये। स्टर्लिंग क्षेत्र की तमाम विदेशी विनिमय आय साम्राज्य डालर कोष में जमा कर दी जाती थी और प्रत्येक सदस्य देश को इस कोष में से डालर निकालने का अधिकार रहता था। यद्यपि डालर के प्रयोग के सम्बन्ध में किसी प्रकार के कोटा (Quota) निश्चित नहीं किये गये थे किन्तु विभिन्न देशों ने आपस में यह निश्चित कर लिया था कि वे डालर निधि का अपव्यय नहीं करेंगे और उसके सर्वोत्तम प्रयोग में पूरा सहयोग देंगे। स्टर्लिंग देशों को जितना भी डालर प्राप्त होता था वे उसे साम्राज्य डालर कोष में जमा करके उसके बदले में स्टर्लिंग जमा (Sterling Balances) प्राप्त कर लेते थे। इस प्रकार समस्त स्टर्लिंग क्षेत्र का डालर इस कोष में जमा रहता था और प्रत्येक देश आवश्यकता पड़ने पर कोष में से डालर निकाल

कर व्यय कर सकता था। कोष में विदेशी विनिमय की मात्रा सीमित होने के कारण प्रत्येक देश केवल उतना ही डालर निकाल सकता था जितना कि उसके लिए बिल्कुल अनिवार्य होता था।

भारत भी साम्राज्य डालर कोष का सदस्य बन गया और १६३६ से लेकर १६४४ तक भारत ने इस कोष में अधिक डालर जमा किये और कम निकाले। इस काल में भारत के द्वारा कोष में ४०५ करोड रुपये का विदेशी विनिमय जमा किया गया और केवल २६१ करोड रुपये के मूल्य का विदेशी विनिमय निकाल कर व्यय किया गया। इस प्रकार हमने व्यय करने के पश्चात् लगभग ११४ करोड रुपये का विदेशी विनिमय दिया। यही कारण था कि भारतवर्ष की डालर कोष की सदस्यता की बडी आलोचना की गई। लोगों का विचार था कि यदि भारत डालर कोष का सदस्य नहीं होता तो हम अतिरिक्त डालर को देश के आर्थिक विकास के लिए प्रयोग कर सकते थे। किन्तु यह स्थिति बहुत थोडे समय तक ही रही और कुछ समय पश्चात् भारतवर्ष डालर कोष से उससे अधिक मात्रा में डालर निकालने लगा जितना कि वह उसमें जमा करता था। इसका मुख्य कारण अमेरिका के साथ भारत के व्यापार सन्तुलन का प्रतिकूल होना था। व्यापार सन्तुलन के घाटे को पूरा करने के लिए भारतवर्ष को बहुत अधिक मात्रा में डालर कोष से डालर निकालने पडे।

युद्ध के पश्चात् सदस्यों देशों के द्वारा साम्राज्य डालर कोष में से इतनी अधिक मात्रा में विदेशी विनिमय निकाला जाने लगा कि केन्द्रीय कोष बहुत तेजी के साथ गिरने लगा और कोष को डालर निकालने पर प्रतिबन्ध लगाना पडा। अतः यह निश्चित कर दिया गया कि कोई भी देश १६४८ के व्यय के ७५% से अधिक मात्रा में डालर का व्यय नहीं करेगा।

भारत की स्टर्लिङ्ग निधि (Sterling Balances)—

इङ्गलैंड में भारतवर्ष की स्टर्लिंग निधि का बहुत बडी मात्रा में जमा हो जाना एक महत्त्वपूर्ण युद्धकालीन घटना थी। युद्ध से पूर्व भी भारत का कुछ स्टर्लिंग इङ्गलैंड में जमा रहता था किन्तु उसकी मात्रा बहुत कम थी। युद्ध आरम्भ होने के समय भारत की स्टर्लिंग निधि लगभग ६८ करोड रुपये थी किन्तु १६४५–४६ में इसकी मात्रा बढकर १७३३ करोड रुपये हो गई। युद्ध से पूर्व भारत पर प्रायः इङ्गलैंड का ऋण रहता था किन्तु युद्धकाल में भारत के हिसाब में इतना अधिक स्टर्लिंग जमा हो गया कि उसने केवल अपने पुराने ऋणों का भुगतान ही नहीं कर दिया एवं एक बहुत बडी मात्रा में स्टर्लिंग ऋण इङ्गलैंड पर बाकी हो गया। रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट के अनुसार रिजर्व बैंक को स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के आधार पर नोट जारी करने का अधिकार था। युद्धकाल में ब्रिटिश सरकार ने इस व्यवस्था से पूरा-पूरा लाभ उठाया। इङ्गलैंड भारतवर्ष में जो भी सामान खरीदता था उसके बदले में ब्रिटिश सरकार स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ ही देती थी और रिजर्व बैंक

इन प्रतिभूतियों के आधार पर नये नोट जारी कर देना था जिनके द्वारा इन वस्तुओं के भुगतान को निबटाया जाता था। इस प्रकार भारत के हिसाब में स्टर्लिंग जमा बढ़ती गई। आरम्भ में तो सरकार ने ऋणों का भुगतान किया किन्तु इन ऋणों का भुगतान कर देने के पश्चात् हमारी स्टर्लिंग जमा इङ्गलैंड के ऊपर ऋण के रूप में वाजिब होती गई और भारतवर्ष, जो ऋणी था, युद्धकालीन दशाओं के कारण ऋणदाता बन गया।

पौण्ड पावने के जमा होने के कारण—युद्ध काल में भारत के पौण्ड-पावनों के जमा होने के निम्नलिखित कारण थे—

(i) इंगलैंड के साथ एक आर्थिक समझौते के अन्तर्गत भारतवर्ष की रक्षा सम्बन्धी व्यय को पूरा करने की जिम्मेदारी सीमित थी और इसमें अधिक जितनी भी मात्रा में सेनाओं आदि पर व्यय किया जाता था उसका भुगतान इङ्गलैंड के द्वारा किया जाता था। भारतीय सरकार ने साथी देशों की फौजों पर बहुत बड़ी मात्रा में व्यय किया जिसका अधिक भाग हमें इङ्गलैंड से स्टर्लिङ्ग जमा के रूप में प्राप्त हुआ और इस प्रकार हमारी स्टर्लिंग निधि में निरन्तर वृद्धि होती गई।

(ii) ब्रिटिश सरकार ने बहुत बड़ी मात्रा में भारत से खाद्य सामग्री तथा अन्य आवश्यक वस्तुएं खरीदीं जिनके लिए रिजर्व बैंक को स्टर्लिङ्ग के रूप में भुगतान मिलता था और वह भारतीय जनता को उनका भुगतान रुपये में करता था। युद्ध काल में इंगलैंड तथा अन्य साथी देशों के कारखाने युद्ध सामग्री का उत्पादन करने में लगे हुए थे, इसलिए उपभोग सम्बन्धी सामान के लिए उन्हें भारत पर निर्भर रहना पड़ता था। साथी फौजों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बहुत बड़ी मात्रा में उपभोग सम्बन्धी वस्तुयें इङ्गलैंड तथा अन्य यारोपियन देशों को भेजी जा रही थीं। इन वस्तुओं का भुगतान तुरन्त नहीं किया जाता था बल्कि उनके बदले में हमें स्टर्लिंग जमा प्राप्त होती थी।

(iii) युद्ध काल में भारत का व्यापार सतुलन इङ्गलैंड के साथ पक्ष में रहता था। भारत से इङ्गलैंड जाने वाले सामान की मात्रा बहुत अधिक बढ़ गई थी किन्तु जहाजों की कमी तथा सामान उपलब्ध न होने के कारण इङ्गलैंड से बहुत कम सामान भारत आता था। व्यापार सतुलन पक्ष में होने के कारण भारत को इंगलैंड से बहुत सा भुगतान लेना होता था। यह सब भुगतान स्टर्लिंग जमा के रूप में किया जाता था।

(iv) रिजर्व बैंक ने भारतवासियों से दुर्लभ मुद्रायें तथा डालर प्रतिभूतियों को रुपये के बदले में लेकर साम्राज्य डालर कोष में जमा कर दिया जिनके बदले में उसे स्टर्लिंग जमा प्राप्त हुई। अमेरिका ने भारतवर्ष में जो सामान खरीदा उसके बदले में प्राप्त होने वाले डालर को भी डालर कोष में जमा कर दिया गया और उसके बदले में हमें स्टर्लिंग दिया गया। इस प्रकार भारत को प्राप्त होने वाली समस्त

डालर आय को साम्राज्य डालर कोष मे रक्खा जाता था और ब्रिटिश सरकार उसके बदले मे हमे स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ देती थी।

(v) युद्ध काल मे भारतवर्ष मे अमेरिकन सेनायें काफी संख्या मे रहती थीं जिनके लिए भारत सरकार को बहुत बडी मात्रा मे व्यय करना पडता था। अमेरिकन सेनाओ पर किये जाने वाले इस व्यय के बदले मे भारत को जो डालर प्राप्त होता था वह सब साम्राज्य डालर कोष मे जमा कर लिया जाता था और उसके बदले मे हमे केवल स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ दी जाती थी।

उपरोक्त सब कारणो मे भारत के हिसाब मे बहुत बडी मात्रा मे स्टर्लिंग जमा होना गया। यह सब स्थगित भुगतानो का परिणाम था। इगलैंड ने हमारी वस्तुओ तथा सेवाओ के लिए तुरन्त भुगतान न करके यह वायदा किया कि यह सब भुगतान युद्ध के पश्चात् निबटा दिये जायेंगे। भारत की यह स्टर्लिंग जमा भारत-वासियो के त्याग तथा बलिदान का परिणाम थी। भारतीय कारखानो से दिन-रात इतना अधिक काम लिया गया कि उनकी मशीनें घिस कर बेकार हो गई। विदेशो को इतनी बडी मात्रा मे उपभोग सम्बन्धी वस्तुओ का निर्यात करने के लिए आन्तरिक उपभोग को कम करना पडा जिसके कारण लोगो को काफी कष्ट सहना पडा। भारतवर्ष मे वस्तुओ की इतनी कमी हो गई कि लोगों को मजबूर होकर अपने उपभोग को स्थगित करना पडा। स्टर्लिंग निधि के जमा होने के कारण भारत मे मुद्रा प्रसार की स्थिति पैदा हो गई जिसके बहुत बुरे परिणाम हुए। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हमारी स्टर्लिंग सम्पत्ति हमारे बलिदानो व कष्टो का प्रतीक थी। वह एक प्रकार का अनिवार्य ऋण था जो हमे इगलैंड को देना पडा।

भारत के पौंड पावनो की रकम युद्ध-काल मे किस तीव्र गति से बढी इसे नीचे दी गई तालिका के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। सन् १९३९ मे हमारे पौंड पावनो की रकम केवल ६४ करोड रु० के बराबर थी जो अप्रैल सन् १९४६ मे १७३३ करोड रुपये की अधिकतम सीमा पर थी। पौंड पावनो की प्रगति निम्न प्रकार थी—

वर्ष	पौंड पावनों की रकम करोड रुपयो मे
अगस्त १९३९	६४
१९३९—४०	९१
१९४०—४१	१६९
१९४१—४२	२११
१९४२—४३	३९४
१९४३—४४	७५५
१९४४—४५	११८२
१९४५—४६	१५४९
१९४६—४७	१६६२

पौंड पावनों का भुगतान (Utilization of Sterling Balances)—

पौंड पावनो के भुगतान सम्बन्धी बातचीत युद्ध-काल मे ही आरम्भ हो गई थी किन्तु इस सम्बन्ध मे कुछ निश्चय नही हो पाया था। युद्ध समाप्त होने पर इगलैड की ओर से यह सुझाव दिया गया कि पौंड पावनो को कम कर दिया जाय। यह कहा गया कि युद्ध सम्बन्धी जो व्यय ब्रिटिश सरकार ने किया है उसका बोझ अकेले इगलैंड पर नही पडना चाहिए क्योंकि शत्रु को परास्त करने मे भारत का हित भी उतना ही था जितना कि इगलैंड का। कुछ व्यक्तियो ने यह तर्क भी रक्खा कि भारतवर्ष ने अपनी वस्तुओ के लिए बहुत ऊँचे मूल्य लिए है जिसके कारण काफी अधिक मात्रा मे स्टर्लिंग जमा हो गया है। अतः भारत की स्टर्लिंग निधि को कम कर दिया जाय। यह भी कहा गया कि इतने बडे ऋण को चुकाना इगलैंड की क्षमता के बाहर है इसलिए उसमे कमी करना आवश्यक है। किन्तु भारत ने अपनी स्टर्लिंग निधि मे कमी किये जाने का विरोध किया और इन तर्कों का जवाब दिया गया। भारत की ओर से यह कहा गया कि इतना बडा ऋण भारत ने स्वेच्छा से नही दिया है बल्कि वह जबरदस्ती लिया गया है। अत उसमे कमी करने का प्रश्न ही पैदा नही होता। इसके अतिरिक्त भारत की स्टर्लिंग जमा के पीछे भारतवासियो के कष्ट तथा त्याग छिपे हुए है इसलिए उसे कम करना न्यायपूर्ण नही होगा। इसी प्रकार पौंड पावने के भुगतान के सम्बन्ध मे तर्क-वितर्क चलता रहा और ब्रिटिश सरकार किसी न किसी बहाने से इनके भुगतान को टालती रही। भारतवर्ष ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष मे भी पौंड पावनो के भुगतान के प्रश्न को उठाना चाहा किन्तु कोष ने इस मामले मे हस्तक्षेप करने से इन्कार कर दिया। अन्त मे इगलैंड ने यही निश्चय किया कि भारत की स्टर्लिंग जमा मे किसी प्रकार की कमी नही की जायगी किन्तु उसका भुगतान एकदम न होकर धीरे-धीरे किया जायेगा।

सन् १९४७ का समझौता—जनवरी सन् १९४७ को भारत और इगलैंड के बीच पौंड पावनो के भुगतान के सम्बन्ध मे एक समझौता किया गया किन्तु परिस्थिति परिवर्तन के कारण इस समझौते के अनुसार कार्य नही हो सका और १४ अगस्त १९४७ को एक नया समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत सीमित मात्रा मे स्टर्लिंग मुक्त करने की व्यवस्था की गई। इस समझौते के अनुसार पौंड पावनो को दो खातो मे जमा किया गया। खाता न० १ मे ६०५ करोड पौंड जमा किये गये जिनका प्रयोग किसी भी देश से माल मगाने के लिए किया जा सकता था। खाता नम्बर २ मे ११६ करोड पौंड जमा किये गये जिनका प्रयोग केवल पूँजीगत माल खरीदने के लिए किया जा सकता था। यह समझौता दिसम्बर १९४७ तक के लिए था किन्तु इसकी अवधि को ६ महीने और बढा दिया गया।

जुलाई सन् १९४८ का समझौता—पहले समझौते की अवधि समाप्त होने पर जुलाई १९४८ को एक नया समझौता किया गया। इस समझौते की मुख्य-मुख्य बातें अग्रलिखित थी—

(i) इगलैंड ने जो फौजी सामान तथा अन्य प्रकार की सम्पत्ति भारत में छोड़ी थी उसे सरकार ने अपने हाथ में ले लिया और उसके मावजे के रूप में ११३ करोड़ रु० का भुगतान इगलैंड को कर दिया गया। मावजे की यह रकम हमारी स्टर्लिंग जमा में से कम कर दी गई।

(ii) २२४ करोड़ रुपये की एक राशि भारत सरकार ने इगलैंड के पास जमा कर दी जिसमें से केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के अग्रेज अधिकारियों की पेंशन का भुगतान किया जा सके। २२४ करोड़ रुपये की यह रकम हमारी स्टर्लिङ्ग जमा में से कम कर दी गई।

(iii) इस समझौते में जून सन् १६५१ तक के तीन वर्षों में १०७ करोड़ रुपये के मूल्य के स्टर्लिंग को मुक्त करने की व्यवस्था की गई। पिछले समझौते में जो १११ करोड़ रुपये के स्टर्लिङ्ग को मुक्त करने की व्यवस्था की गई थी उसमें से केवल ४ करोड़ रुपये का ही सामान मगाया जा सका था। इस समझौते में शेष १०७ करोड़ रुपये की यह रकम भी खर्च की जा सकती थी। इस प्रकार १६४८ के समझौते के फलस्वरूप २१४ करोड़ रुपये के स्टर्लिङ्ग को मुक्त करने की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त पौंड पावनों में से १२६ करोड़ रुपया पाकिस्तान के हिस्से के रूप में निकाल दिया गया।

जुलाई सन् १६४६ का समझौता—इस समझौते की अवधि में दूसरा समझौता करने की आवश्यकता इसलिए हुई क्योंकि ब्रिटेन को डालर की भारी कमी अनुभव हो रही थी जिसके कारण १६४८ के समझौते को पूरी तरह से कार्य रूप में नहीं लाया जा सका। नये समझौते के अन्तर्गत १६४८–४६ के लिए ८१ करोड़ रुपये तथा १६४६–५० तथा १६५०–५१ के लिए ५ करोड़ रुपये प्रतिवर्ष का स्टर्लिङ्ग मिलना निश्चित हुआ। इसके अतिरिक्त जुलाई १६४६ से पूर्व जो आर्डर जा चुके थे उनके भुगतान के लिए भी ब्रिटिश सरकार ने स्टर्लिङ्ग देना स्वीकार कर लिया। भारतवर्ष की डालर की कमी पूरा करने के लिए केन्द्रीय कोष से १४ व १५ करोड़ डालर देने का अधिकार दे दिया गया।

मार्च सन् १६५१ में हमारी स्टर्लिङ्ग जमा ८८४ करोड़ रुपये रह गई थी। जुलाई सन् १६५१ में एक समझौते के अन्तर्गत इगलैंड ने ६ वर्ष के लिए प्रतिवर्ष ४७ करोड़ रुपये तक का स्टर्लिङ्ग प्रयोग करने की अनुमति दे दी।

सन् १६५२ का समझौता—फरवरी सन् १६५२ में पौंड पावनों के भुगतान के सम्बन्ध में एक और समझौता किया गया। अब भारतवर्ष की स्टर्लिंग जमा केवल ७६१ करोड़ रुपये रह गई थी। इस समझौते में सन् १६५७ तक प्रतिवर्ष ३५ करोड़ पौंड मुक्त करने की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त ३१ करोड़ पौंड की एक राशि खाता नम्बर १ में जमा कर दी गई, जिसका प्रयोग भारत केवल सकट काल में ही कर सकता था। प्रथम पचवर्षीय योजना में भारत सरकार ने

२६० करोड़ रुपये की स्टर्लिङ्ग जमा का प्रयोग करने का निश्चय किया था किन्तु उससे बहुत कम खर्च किया जा सका और जून सन् १९५४ में हमारी स्टर्लिङ्ग निधि ७२४ करोड़ रुपये थी। नवम्बर सन् १९५६ में यह जमा घटकर ५३६ करोड़ रुपये रह गई और मई सन् १९५७ में केवल ५०० करोड़ रुपये का स्टर्लिङ्ग शेष था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक हमारे देश ने लगभग समस्त स्टर्लिङ्ग जमा का प्रयोग कर डाला है।

युद्धोत्तर-काल में भारतीय रुपया—

युद्धोत्तर-काल में भारतीय रुपये की स्थिति तथा उसके मूल्य में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। युद्धोत्तर-काल की प्रमुख घटनाएँ इस प्रकार हैं—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता, रुपये का अवमूल्यन, सरकार की मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति तथा आर्थिक विकास के लिए हीनार्थ-प्रबन्ध की व्यवस्था।

भारत में स्वर्ण-समता मान (Gold Parity Standard in India)—

सन् १९४५ में विभिन्न राष्ट्रों के बीच वित्तीय मामलों में अधिक निकट सहयोग का युग आरम्भ हुआ, जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (International Bark of Reconstiuction & Development) की स्थापना हुई। मुद्रा कोष ने मार्च १९४७ में अपना कार्य आरम्भ किया। भारतवर्ष को मुद्रा कोष का सदस्य बनना चाहिए अथवा नहीं—इस विषय पर कुछ दिनों तक वाद-विवाद चलता रहा किन्तु अन्त में सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य होना स्वीकार कर लिया और मुद्रा कोष की ओर से भारत का कोटा ४० करोड़ डालर निश्चित कर दिया गया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता के साथ भारतवर्ष में एक नये मुद्रामान का आरम्भ हुआ। स्टर्लिङ्ग विनिमय मान का अन्त हो गया और उसके स्थान पर देश में स्वर्ण-समता मान (Gold Parity Standard) स्थापित कर दिया गया। अप्रैल सन् १९४७ को भारतीय रुपये और स्टर्लिङ्ग का वैधानिक सम्बन्ध टूट गया और रिजर्व बैंक की निश्चित दरों पर असीमित मात्रा में स्टर्लिङ्ग बेचने व खरीदने की जिम्मेदारी समाप्त कर दी गई। अब भारतीय रुपया एक स्वतन्त्र मुद्रा थी और उसका विदेशी मूल्य प्रत्यक्ष रूप से निश्चित होना था। रिजर्व बैंक को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सभी सदस्य देशों के साथ रुपये के मूल्य को बनाये रखना पड़ता था। इस प्रकार रुपये का सम्बन्ध अन्य मुद्राओं के साथ भी स्थापित हो गया। मुद्रा कोष की सदस्यता के कारण भारत सरकार को रुपये का स्वर्ण मूल्य घोषित करना पड़ा। भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को यह सूचित किया कि रुपये का मूल्य ०·००८६३५७ औंस शुद्ध सोने के बराबर होगा। रुपये का यह स्वर्ण मूल्य उस समय प्रचलित दर १ रुपया=१ शि० ६ पैंस के आधार पर निश्चित किया गया। रिजर्व बैंक इस दर को यथासम्भव

बनाये रखने का प्रयत्न करेगा किन्तु आवश्यकता पडने पर इसमे मुद्रा कोष की अनुमति से परिवर्तन भी किया जा सकता है। अत यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता के साथ भारत मे एक स्वतन्त्र मुद्रामान का जन्म हुआ।

परीक्षा प्रश्न

(१) भारतीय मुद्रा प्रणाली पर द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रभावों की विवेचना कीजिए। (सागर बी० काम १९५७, विक्रम बी० ए० १९५९, आगरा बी० काम १९५५, (१९५७ S)

(२) सन् १९२७ से भारतीय मुद्रा प्रणाली के इतिहास की प्रमुख घटनाओं का वर्णन कीजिए। (आगरा बी० ए० १९५७ S)

(३) गत महायुद्ध के काल में भारत सरकार ने मुद्रा एवं विनिमय के सम्बन्ध मे क्या कठिनाइयां अनुभव की थीं ? उसने परिस्थिति का किस प्रकार सामना किया ? (आगरा बी० काम १९५८)

(४) सन् १९२६ से भारतीय मुद्रा के इतिहास का वर्णन कीजिए। पिछले महायुद्ध मे किन कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ा ? (आगरा बी० काम १९५४)

(५) डालर कोष पर एक लघु टिप्पणी लिखिए। (राजस्थान बी० काम १९५६)

(६) भारत के पौंड पावनों पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए जो आपकी कापी के चार पृष्ठों से अधिक न हो। (राजस्थान १९५५)

(७) सन् १९२७–१९३९ के बीच भारतीय मुद्रा प्रणाली की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करिये। (आगरा बी० ए० १९६०)

(८) हिल्टन यग कमीशन की मुख्य सिफारिशों पर प्रकाश डालो। भारत सरकार द्वारा उन्हें किस सीमा तक कार्यान्वित किया गया था। (आगरा बी० ए० १९६३, विक्रम बी० काम १९५९, गोरखपुर बी० काम १९५९)

(९) सन् १९२६ मे हिल्टन यंग कमीशन ने रुपये का विनिमय मूल्य १ शि० ६ पेंस निर्धारित करने के समर्थन में जो तर्क दिये थे, वे लिखिये और उनकी आलोचना कीजिए। (नागपुर बी० ए० १९५७)

(१०) रिजर्व बेंक आफ इण्डिया की स्थापना से लेकर वर्तमान युग तक भारतीय चलन प्रणाली पर प्रकाश डालिये। (आगरा बी० काम १९५८)

(११) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता से भारतवर्ष में एक नये मुद्रामान का आरम्भ हुआ है। भारत की वर्तमान मुद्रा पद्धति का सतर्क परीक्षण कीजिए। (आगरा बी० ए० १९५६)

१२

भारतीय रुपये का अवमूल्यन

DEVALUATION OF THE INDIAN RUPEE

स्वर्णमान की व्यवस्था मे प्रतिकूल भुगतान सतुलन स्वर्ण के निर्यात के द्वारा स्वयं ठीक होने की प्रवृत्ति रखता है। किन्तु विनिमय दरो मे आधारभूत असतुलन हो जाने पर देश से इतनी बडी मात्रा मे सोना बाहर जाने लगता है कि वहाँ की अर्थ-व्यवस्था उसे सहन करने मे असमर्थ होती है। ऐसी दशा मे विदेशी विनिमय दर मे परिवर्तन करके सोने के अनावश्यक निर्यात को रोका जा सकता है तथा भुगतान सतुलन के घाटे को दूर किया जा सकता है। व्यापार सतुलन मे स्थाई असतुलन पैदा हो जाने की दशा मे देशो को अपनी मुद्रा के विदेशी मूल्य को कम करना पडता है। मुद्रा के विदेशी मूल्य मे इस प्रकार के परिवर्तन को अवमूल्यन कहते हैं। पत्र मुद्रामान मे भुगतान सतुलन की कठिनाइयो को दूर करने के लिए कभी-कभी देशो को अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करना पडता है।

अवमूल्यन का अर्थ (Meaning of Devaluation)—

किसी मुद्रा के स्वर्ण मूल्य मे कमी करने को अवमूल्यन कहा जाता है। प्रत्येक मुद्रा की स्वर्ण समता (Gold Parity) प्राय. निश्चित होती है किन्तु कभी-कभी भुगतान सतुलन के घाटे को ठीक करने के लिए इस स्वर्ण समता को कम करना अनिवार्य हो जाता है। जब कोई देश स्वेच्छा से अपनी मुद्रा के विदेशी मूल्य को गिरा देता है तो उसे मुद्रा का अवमूल्यन कहते है। जिस मुद्रा का अवमूल्यन किया जाता है उसका मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार मे कम हो जाता है और उसके बदले मे पहले की अपेक्षा कम मात्रा मे विदेशी विनिमय प्राप्त होने लगता है। सन् १९२८ में जब फ्रास मे स्वर्णमान को फिर से स्थापित किया गया तो फ्रैंक (Franc) की स्वर्ण समता पहले की अपेक्षा कम निश्चित की गई। इसी प्रकार सन् १९३१ मे इगलैंड मे स्वर्णमान के स्थगित किये जाने पर पौंड का स्वर्ण मूल्य गिर गया। सन् १९३४ मे अमेरिका ने सोने के सम्बन्ध मे डालर के मूल्य को कम कर दिया। सन् १९३६ मे फ्रास ने फिर अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया जो २५·२

और ३४ ३ प्रतिशत के बीच में था। सितम्बर १९४९ में इंगलैंड के द्वारा अपने पौंड के मूल्य को ३०.५ प्रतिशत कम कर दिया गया। इसके साथ ही भारत, पश्चिमी यूरोपीय देश, मिस्र व यूनान ने भी अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया।

अवमूल्यन के उद्देश्य (Objects of Devaluation)—

अवमूल्यन का प्रमुख उद्देश्य व्यापार सन्तुलन के घाटे को दूर करना होता है। यदि किसी देश का व्यापार सन्तुलन काफी लम्बे समय तक विपक्ष में चलता रहता है तो वह उस देश के स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय के कोषों को समाप्त कर सकता है। इस प्रकार की स्थिति किसी भी देश के लिए अच्छी नहीं होती है। व्यापार सतुलन में स्थाई घाटे की दशा उत्पन्न होने की दशा में सरकार विभिन्न प्रकार के तरीकों से व्यापार सतुलन को ठीक करने का प्रयत्न करती है। मुद्रा-संकुचन (Deflation) के द्वारा व्यापार सतुलन के घाटे को दूर करने में सफलता मिल सकती है किन्तु इस प्रकार की नीति के भयकर परिणाम हो सकते हैं। मुद्रा व साख की मात्रा का कम करने से मूल्य गिर जाते हैं और निर्यात बढ़ते हैं तथा आयात कम होते हैं जिसके परिणामस्वरूप भुगतान सतुलन ठीक हो जाता है। किन्तु कीमतों के कम होने से देश में बेरोजगारी फैल सकती है तथा उत्पादन कम होने लगता है। इसलिए कोई भी देश आजकल मुद्रा-सकुचन को पसन्द नहीं करता है। मुद्रा-सकुचन के द्वारा व्यापार सतुलन को ठीक करना तब उचित होता है जबकि व्यापार सतुलन का घाटा मुद्रा-प्रसार (Inflation) के कारण उत्पन्न हुआ हो। मुद्रा-सकुचन के अतिरिक्त व्यापार सतुलन के घाटे को ठीक करने के लिए विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग भी किया जा सकता है। किन्तु विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत आयातों पर कठोर प्रतिबंध लगाने होते हैं और उनकी मात्रा को बहुत अधिक कम करना होता है। ऐसा करना प्राय देशों के लिए सम्भव नहीं होता है। इसलिए ऐसी स्थिति में मुद्रा के अवमूल्यन के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं रह जाता है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश के निर्यात बढ़ते हैं तथा आयात कम हो जाते हैं क्योंकि मुद्रा का विदेशी मूल्य कम हो जाने से हमारी वस्तुएँ विदेशियों के लिए सस्ती हो जाती है और उनकी वस्तुएँ हमारे लिए महँगी हो जाती है। निर्यातों के बढ़ने तथा आयातों के कम होने से व्यापार सतुलन ठीक हो जाता है।

रुपये का अवमूल्यन—

अवमूल्यन से हमारा अभिप्राय किसी मुद्रा के विदेशी मूल्य को कम करने से होता है। मुद्रा अवमूल्यन विभिन्न उद्देश्यों से किया जा सकता है किन्तु सामान्यत उसका प्रयोग भुगतान सतुलन के घाटे को दूर करने के लिए किया जाता है। जब किसी देश को विदेशी व्यापार में बराबर घाटा होता जाता है तो वह देश अपनी मुद्रा के विदेशी मूल्य को कम करके अपनी निर्यातों को प्रोत्साहन देता है। अवमूल्यन करने वाले देश की वस्तुएं दूसरे देशों के लिए सस्ती हो जाती है जिसके कारण उन

देश से निर्यात बढ़ते हैं और व्यापार सतुलन का घाटा दूर हो जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् इंगलैंड तथा अन्य साम्राज्य देशों के सम्मुख डालर समस्या उपस्थित थी। संसार के अधिकांश देश अपनी आवश्यकताओं के लिए अमेरिका पर निर्भर थे और अमेरिका से सामान मगाने के लिए भारी मात्रा में डालर की माग की जा रही थी। ब्रिटिश साम्राज्य के सभी देशों को डालर की भारी कमी अनुभव हो रही थी। विशेषतया इंगलैंड की स्थिति बहुत खराब थी। अमेरिका के साथ इंगलैंड का भुगतान सन्तुलन बिगड़ता जा रहा था और उसमें निरन्तर घाटा रहता था। साम्राज्य देशों का डालर कोष बराबर गिरता जा रहा था। जून सन् १९४९ में इंगलैंड का डालर कोष घटकर केवल ४०६ मिलियन पौंड रह गया। प्रतिवर्ष भुगतान सतुलन में डालर का घाटा बढ़ता जाता था। सन् १९४९ में इस घाटे का अनुमान ६०० करोड रुपया प्रतिवर्ष लगाया गया। कुछ समय तक इंगलैंड भुगतान सतुलन के घाटे को अमेरिका से मिलने वाली सहायता तथा ऋणों के द्वारा पूरा करता रहा। भुगतान सन्तुलन को ठीक करने के लिए विभिन्न प्रकार के भुगतान सम्बन्धी समझौते किये गए तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक से ऋण भी लिये गए किन्तु ये अल्पकालीन उपाय बहुत अधिक सफल न हो सके और साम्राज्य देशों का डालर कोष निरन्तर गिरता गया। इस समस्या को स्थायी रूप से सुलझाने का एक ही उपाय था कि इंगलैंड से अमेरिका को होने वाले निर्यातों को बढ़ाया जाये। ऐसा करने के लिए ब्रिटिश वस्तुओं को अमेरिका के लिए सस्ता करना आवश्यक था। अतः इंगलैंड ने अपने भुगतान सतुलन के घाटे को दूर करने के लिए पौंड का अवमूल्यन करने का निश्चय किया।

१८ सितम्बर सन् १९४९ को इंगलैंड ने पौंड के अवमूल्यन की आकस्मिक घोषणा की और अमेरिकन डालर के सम्बन्ध में पौंड के मूल्य को ३०.५% कम कर दिया गया। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप पौंड का मूल्य ४.०३ डालर से घटकर २.८ डालर रह गया। पौंड के अवमूल्यन का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश वस्तुओं को विदेशियों के लिए सस्ती करना था जिससे निर्यातों को प्रोत्साहन दिया जा सके और भुगतान सतुलन के घाटे को दूर किया जा सके। यद्यपि यह अनुभव किया जा रहा था कि इंगलैंड पौंड डालर की इस ऊँची दर (£ 1=$4 03) को अधिक समय तक नहीं बनाये रख सकेगा और वित्तीय क्षेत्रों में पौंड के अवमूल्यन की आशा की जा रही थी किन्तु पौंड का इतना अधिक अवमूल्यन बिल्कुल आकस्मिक था। पाकिस्तान को छोड़कर ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य सभी देशों ने अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर दिया। पौंड के अवमूल्यन से ब्रिटेन को काफी लाभ हुआ और भुगतान सतुलन का घाटा समाप्त हो गया किन्तु यह लाभ अस्थायी था।

पौंड का अवमूल्यन हो जाने पर भारत के सामने यह प्रश्न था कि उसे अपने रुपये का अवमूल्यन करना चाहिए अथवा नहीं। उस समय भारत की स्थिति इंगलैंड जैसी ही थी और इसे भी भुगतान सतुलन विपक्ष में होने के कारण डालर का बहुत

घाटा रहता था। ऐसी स्थिति में रुपये का अवमूल्यन भारत के आर्थिक हितों के अनुकूल था। भारतीय सरकार ने स्टर्लिंग का अवमूल्यन होने के २४ घन्टों के अन्दर ही अपना निर्णय ले लिया और रुपये का भी उतना ही अवमूल्यन कर दिया गया जितना कि स्टर्लिंग का हुआ था। रुपये के डालर तथा स्वर्ण मूल्य को ३०.५% कम कर दिया गया। रुपये का डालर मूल्य ३०.२२५ सेन्ट (Cents) से घटकर २१ सेन्ट रह गया और उसका स्वर्ण मूल्य ०.२६८६०१ ग्राम से कम होकर ०.१८६६२१ ग्राम रह गया। अवमूल्यन का परिणाम यह हुआ कि भारतीय वस्तुओं के मूल्य अमेरिका के लिए कम हो गये और अमेरिकन चीजें भारत वालों के लिए महगी हो गईं।

रुपये का अवमूल्यन क्यों किया गया—

साधारण व्यक्ति यह समझता है कि रुपये स्टर्लिंग का प्राचीन सम्बन्ध होने के कारण पौंड का अवमूल्यन होने पर रुपये के विदेशी मूल्य को कम करना आवश्यक था। किन्तु वास्तव में वह बात नहीं थी और भारत ने रुपये का अवमूल्यन किसी दबाव के कारण नहीं किया। अवमूल्यन के समय भारतीय रुपया 'स्वतन्त्र मुद्रा थी और स्टर्लिंग के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। ऐसी दशा में रुपये का अवमूल्यन करना हमारे लिए अनिवार्य नहीं था। भारत की आर्थिक दशाओं को देखते हुए सरकार ने अपने स्वतन्त्र निर्णय के द्वारा ही रुपये के अवमूल्यन का निश्चय किया। यद्यपि उस समय भारत की आर्थिक दशायें ऐसी नहीं थीं जिनके कारण रुपये का अवमूल्यन आवश्यक हो किन्तु इगलैंड के पौंड का अवमूल्यन हो जाने से ऐसी दशायें उत्पन्न हो गई थीं जिनके कारण मजबूर होकर हमें भी रुपये का अवमूल्यन करना पड़ा। मुख्यत निम्नलिखित कारणों से रुपये के अवमूल्यन की आवश्यकता अनुभव की गई—

(१) स्टर्लिंग क्षेत्र के साथ अधिकांश व्यापार का होना—भारतवर्ष को अपने रुपये का अवमूल्यन इसलिए करना पड़ा क्योंकि भारत का ७५% व्यापार स्टर्लिंग क्षेत्र वाले देशों के साथ था। यदि रुपये का अवमूल्यन न किया जाता तो भारतीय सामान स्टर्लिंग देशों के लिए महगा हो जाता जिसके कारण बहुत सा विदेशी व्यापार समाप्त हो जाने का भय था। ऐसी दशा में रुपये का स्टर्लिंग के साथ सम्बन्ध अनिवार्य था।

(२) भुगतान सन्तुलन का विपक्ष में होना—हमारे व्यापार सन्तुलन का निरन्तर विपक्ष में रहना भी रुपये के अवमूल्यन का एक महत्वपूर्ण कारण था। व्यापार सन्तुलन को ठीक करने के लिए आवश्यक था कि आयातों को कम किया जाय और निर्यातों को प्रोत्साहन दिया जाय। सन् १९४९ के पश्चात् भारतवर्ष को भी डालर की भारी कमी अनुभव हो रही थी और डालर का घाटा निरन्तर बढ़ता जा रहा था। डालर के घाटे को पूरा करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से डालर

उधार लिए गये तथा स्टर्लिंग निधि को डालर में परिवर्तित कराने का प्रयत्न किया गया। डालर समस्या को सुलझाने के लिए यह आवश्यक हो गया था कि अमेरिका को निर्यात बढ़ाये जाये और वहाँ से होने वाली आयातों को कम किया जाय। रुपये के अवमूल्यन के द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति भली प्रकार से की जा सकती थी। अतः रुपये का अवमूल्यन करने का निश्चय किया गया।

(३) हमारे मूल्य-स्तर का ऊँचा होना—भारतवर्ष में मूल्य अपेक्षाकृत बहुत ऊँचे थे जिसके कारण हमारी वस्तुओं की माग बहुत कम रहती थी। हमारा मूल्य-स्तर इंगलैंड की अपेक्षा ऊँचा था और यदि हमने रुपये का अवमूल्यन स्टर्लिंग के बराबर न किया होता तो हमारा सूती कपड़ा तथा अन्य वस्तुये ब्रिटिश वस्तुओं के साथ विदेशी बाजारों में प्रतियोगिता न कर सकती। इसलिए रुपये का अवमूल्यन अपनी वस्तुओं के विदेशी बाजारों को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक था। पौंड के अवमूल्यन के पश्चात् भारतीय वस्तुये साम्राज्य देशों के लिए और अधिक महगी न हो जायें इसलिए भारतीय रुपये का भी स्टर्लिंग के बराबर ही अवमूल्यन कर दिया गया।

अवमूल्यन के आर्थिक परिणाम—

रुपये के अवमूल्यन का भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ा। जैसा अनुमान लगाया गया था उसके अनुसार ही भारत के भुगतान सन्तुलन में सुधार हुआ तथा विदेशी विनिमय की समस्या कुछ सीमा तक सुलझ गई किन्तु इसके साथ ही हमारी अर्थ-व्यवस्था पर अवमूल्यन के कुछ बुरे प्रभाव भी पड़े। हमारे देश की अर्थ-व्यवस्था पर अवमूल्यन के निम्नलिखित प्रभाव हुए—

(१) भुगतान सन्तुलन का घाटा दूर हो गया—अवमूल्यन के समय यह आशा की गई थी कि रुपये का विदेशी मूल्य कम हो जाने से भारत के भुगतान सन्तुलन में काफी सुधार हो जायगा और निर्यातों को प्रोत्साहन मिलेगा। वास्तव में ऐसा ही हुआ और रुपये के अवमूल्यन से हमारे व्यापार सन्तुलन में आश्चर्यजनक सुधार हुआ। अवमूल्यन से डालर क्षेत्र को होने वाली निर्यातों को प्रोत्साहन मिला क्योंकि अब डालर भारत में पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में सामान खरीद सकता था। इसके दूसरी ओर अमेरिकन वस्तुओं के मूल्य हमारे लिए ३०·५% बढ़ गये जिसके कारण अमेरिका से होने वाली आयात की मात्रा घट गई। निर्यातों के बढ़ने तथा आयातों में कमी हो जाने के कारण भारत के व्यापार सन्तुलन का घाटा दूर हो गया। सन् १९४८–४९ में भारत व्यापार के सन्तुलन में १८३·४५ करोड़ रुपये का घाटा था। यह घाटा १९४९–५० में घट कर ११८·२९ करोड़ रह गया और १९५०–५१ में केवल २२ करोड़ रुपये था। इसके पश्चात् कुछ समय के लिए व्यापार सन्तुलन भारत के पक्ष में हो गया किन्तु यह सुधार अस्थाई था और १९५१–५२ में फिर व्यापार सन्तुलन विपक्ष में जाने लगा। रुपये के अवमूल्यन से डालर समस्या

को सुलझाने में भी बड़ी सहायता मिली। डालर देशों के साथ व्यापार सन्तुलन में होने वाला घाटा बहुत कम हो गया। सन् १९४९ में हमें डालर देशों के साथ ५३ करोड़ रुपये का घाटा था। १९५० में यह सब घाटा दूर हो गया और डालर देशों के साथ हमारे व्यापार सन्तुलन में २९ करोड़ रुपये की बचत थी। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि व्यापार सन्तुलन में होने वाला यह सुधार केवल रुपये के अवमूल्यन के कारण हुआ किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारतवर्ष की स्थिति को सुधारने में अवमूल्यन का बहुत बड़ा हाथ था।

(२) आर्थिक विकास में बाधा—रुपये के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप अमेरिकन मशीनों तथा अन्य पूँजीगत वस्तुओं के मूल्य बढ़ गये और अब उन्हें बड़ी मात्रा में खरीदना भारत के लिए सम्भव नहीं था। अतः सरकार को बहुत सी विकास योजनाओं को स्थगित करना पड़ा जिसके कारण आर्थिक विकास की गति धीमी हो गई। अमेरिका से आने वाले अनाज का मूल्य भी बढ़ गया जिसके कारण भारतवर्ष में खाद्य सामग्री की कमी हो गई। खाद्य सामग्री की बढ़ती हुई कमी के कारण भी आर्थिक विकास में बाधा पड़ी। पाकिस्तान के रुपये का अवमूल्यन न होने के कारण वहां से आने वाले कच्चे सामान का मूल्य बढ़ गया और कच्चे माल की कमी के कारण हमारे जूट तथा कपड़ा उद्योग की प्रगति में बाधा पड़ी।

(४) भारत और पाकिस्तान के व्यापारिक सम्बन्धों पर बुरा प्रभाव—अवमूल्यन के कारण भारत का पाकिस्तान के साथ होने वाला व्यापार लगभग स्थगित हो गया और दोनों पड़ोसी देशों के सम्बन्ध बिगड़ने लगे। पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया जिसके कारण एक पाकिस्तानी रुपया भारत के १.४४ रुपये के बराबर हो गया। इस प्रकार पाकिस्तानी वस्तुओं के मूल्य हमारे लिए ४४ प्रतिशत बढ़ गये। भारत सरकार ने इस नई विनिमय दर को मानने से इन्कार कर दिया और उस पर विरोध प्रकट किया। इसके परिणामस्वरूप भारत पाकिस्तान व्यापार लगभग स्थगित हो गया। जूट तथा रुई के पाकिस्तान से पर्याप्त मात्रा में न आने के कारण भारतीय जूट तथा कपड़ा उद्योग कठिनाई में पड़ गये और कुछ मिलें तो कच्चा माल न मिलने के कारण बन्द हो गईं। सरकार ने मजबूर होकर पाकिस्तानी रुपये की नई विनिमय दर को स्वीकार कर लिया और एक व्यापारिक समझौता भी पाकिस्तान के साथ कर लिया गया।

(४) मूल्य में वृद्धि—रुपये के अवमूल्यन का एक बुरा प्रभाव यह हुआ कि हमारा मूल्य-स्तर जो पहले से ही काफी ऊँचा था उसमें और वृद्धि हो गई जिसके कारण जनता की कठिनाइयाँ बढ़ने लगीं। अवमूल्यन के समय मुद्रा-प्रसार के खतरे की ओर संकेत किया गया था किन्तु उस समय सरकार ने यह आश्वासन दिया था कि अवमूल्यन के कारण मूल्य-स्तर को नहीं बढ़ने दिया जायेगा किन्तु सरकार को इसमें सफलता न मिली और मूल्य-स्तर में पहले की अपेक्षा काफी वृद्धि हो गई।

अवमूल्यन के समय जो सूचक अंक ३८२ था वह १९५१ से बढ़कर ४५७ हो गया। मूल्य-स्तर की इस वृद्धि के कारण लोगों का रहन-सहन व्यय बढ़ गया और मध्यम श्रेणी के लोगों को विशेष कठिनाई उठानी पड़ी।

(५) डालर के सम्बन्ध में हमारी स्टलिंग जमा का मूल्य घट गया— अवमूल्यन के कारण हमारे पौंड पावनों का मूल्य, जहाँ तक उन्हें अमेरिका में प्रयोग करने का सम्बन्ध था ३०% कम हो गया। स्टर्लिंग का मूल्य कम हो जाने के कारण अब हम अपनी स्टर्लिंग जमा से अमेरिका में कम सामान खरीद सकते थे।

(६) सरकारी बजट के ऊपर प्रभाव— रुपये के अवमूल्यन का केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों के बजट पर भी प्रभाव पड़ा। सन् १९४९–५० में वित्तीय मन्त्री के अनुसार अवमूल्यन के कारण केन्द्रीय सरकार के व्यय में ६ करोड़ रुपये की वृद्धि होने का अनुमान था। अवमूल्यन के कारण सरकार के रक्षा सम्बन्धी तथा पूँजीगत व्यय में काफी वृद्धि हुई। अमेरिका से अनाज मंगाने पर भी सरकार को अब अधिक व्यय करना होता था।

रुपये के पुनर्मूल्यन का प्रश्न—

अवमूल्यन के पश्चात भारत की आर्थिक दशा खराब होने लगी और देश के सामने मुद्रा-प्रसार को रोकने की प्रमुख समस्या उपस्थित थी। सन् १९४९ में रुपये का अवमूल्यन हो जाने के कारण मूल्य-स्तर काफी ऊँचा हो गया था और मुद्रा-प्रसार एक भयंकर रूप धारण करता जा रहा था। भारत सरकार ने मूल्यों की वृद्धि को रोकने के लिए ५ अक्तूबर सन् १९४९ को एक योजना घोषित की किन्तु सरकार को इस सम्बन्ध में कोई विशेष सफलता न मिल सकी। उसी समय कुछ लोगों के द्वारा मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिए रुपये के पुनर्मूल्यन का सुझाव रक्खा गया। रुपये के पुनर्मूल्यन की चर्चा सितम्बर १९५० में आरम्भ हुई जब स्टर्लिंग के पुनर्मूल्यन की आशा भी की जा रही थी। डा० जान मथाई (Dr. John Mathai) पुनर्मूल्यन के मुख्य समर्थकों में से थे और उन्होंने सन् १९५१ में रुपये के पुनर्मूल्यन के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये—

पुनर्मूल्यन के पक्ष में तर्क—

(१) पुनर्मूल्यन के द्वारा मुद्रा-प्रसार को रोका जा सकेगा— रुपये के अवमूल्यन के कारण भारतवर्ष में जो मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो गई है उसके रोकने का एकमात्र उपाय रुपये का पुनर्मूल्यन करना था। पुनर्मूल्यन का प्रभाव यह होगा कि वस्तुओं के मूल्य कम होने लगेंगे और इस प्रकार मुद्रा-प्रसार के बढ़ते हुए खतरे को रोका जा सकेगा। डालर देशों से अधिक मात्रा में खाद्य सामग्री तथा अन्य वस्तुओं को मंगाया जा सकेगा जिसके कारण वस्तुओं की पूर्ति बढ़ जायगी और उनके मूल्य में होने वाली वृद्धि रुक जायगी। यद्यपि मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिए अन्य उपाय भी काम में लाये जा सकते हैं किन्तु इस प्रकार के उपाय भारतवर्ष में अधिक

सफल नहीं हुए हैं जो इस बात का प्रमाण है कि भारतीय मुद्रा-प्रसार अन्तर्राष्ट्रीय कारणों से पैदा हुआ है और केवल रुपये का पुनर्मूल्यन ही अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों के इस बुरे प्रभाव को रोक सकेगा।

(२) पुनर्मूल्यन डालर देशों से आने वाले कच्चे माल तथा पूँजीगत वस्तुओं के मूल्यों को कम कर देगा—अमेरिका तथा अन्य डालर देशों से अधिक मात्रा में पूँजीगत वस्तुयें मगाई जा सकेंगी जिससे देश के आर्थिक विकास में सहायता मिलेगी तथा स्थगित योजनाओं पर फिर से काम आरम्भ किया जा सकेगा। अधिक मात्रा में कच्ची सामग्री का आयात किया जा सकेगा जिससे हमारे उद्योग-धन्धों के विकास की दशायें उत्पन्न होंगी।

(३) भारतीय निर्यातों के लिए अधिक मूल्य मिल सकेगा—भारत से किये जाने वाले निर्यातों जैसे जूट, चाय, कपड़ा इत्यादि का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में स्थिर स्थान है और उन्हें अवमूल्यन के रूप में किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं है। अतः रुपये का पुनर्मूल्यन करके हम अपने निर्यातों के लिए अधिक मूल्य प्राप्त कर सकेंगे। इन वस्तुओं के मूल्य बढ़ने से हमारे निर्यातों पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि इनमें से अधिकांश की माग बेलोचदार है।

(४) पुनर्मूल्यन से अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भार कम हो जायेगा—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक से लिए गये डालर ऋणों का भार कम हो जायेगा और भारतवर्ष को इन ऋणों का भुगतान करने के लिए कम रुपये देने पड़ेंगे।

(५) भारत तथा पाकिस्तान के आर्थिक सम्बन्ध सुधर जायेंगे—अवमूल्यन के कारण जो भारत पाकिस्तान व्यापार स्थगित हो गया है उसे फिर से आरम्भ किया जा सकेगा। पुनर्मूल्यन करने से पाकिस्तानी वस्तुओं के मूल्य कम हो जायेंगे और उन्हें आसानी से मगाया जा सकेगा। व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होने से दोनों देशों के आर्थिक व राजनैतिक सम्बन्धों में भी सुधार होगा।

(६) रुपये का अवमूल्यन मुख्यतः भुगतान सतुलन की कठिनाइयों को दूर करने लिए किया गया था। अब व्यापार सतुलन देश के पक्ष में था और उसमें घाटे के स्थान पर बचत थी। ऐसी दशा में रुपये का पुनर्मूल्यन करके उससे मिलने वाले बहुत से लाभों को प्राप्त किया जा सकता है

पुनर्मूल्यन के विपक्ष में—

यद्यपि डा० मेथाई और उनके अनुयायियों का मत था कि मुद्रा-प्रसार तथा अवमूल्यन के अन्य बुरे प्रभावों को रोकने के लिए रुपये का पुनर्मूल्यन आवश्यक है किन्तु कुछ अन्य लोगों ने पुनर्मूल्यन का विरोध किया। मुख्यतः भूतपूर्व वित्त-मंत्री श्री देशमुख ने रुपये के पुनर्मूल्यन का विरोध किया। पुनर्मूल्यन के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते थे—

(१) पुनर्मूल्यन से भारत की निर्यातों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा—भारतवर्ष की निर्यातो की माग बेलोचदार नही है और उनके विदेशी बाजारो को बनाये रखने के लिए उन्हे सहायता की आवश्यकता है। यह सहायता अवमूल्यन के द्वारा ही दी जा सकती है। यद्यपि मैंगनीज और अभ्रक मे भारतवर्ष को एकाधिकार प्राप्त है किन्तु अन्य सभी वस्तुओ (जूट, चाय, कपडा इत्यादि) मे हमे काफी प्रतियोगिता का सामना करना पडता है। अमेरिका तथा अन्य देशो के द्वारा सामान जमा करने की नीति के त्याग दिये जाने के कारण हमारे निर्यातो को सहायता की और भी अधिक आवश्यक्ता थी।

(२) पुनर्मूल्यन से भुगतान सतुलन विपक्ष में हो जायेगा—रुपये का पुनर्मूल्यन करने से हमारे निर्यात कम होंगे और आयात बढ जायेंगे जिसके कारण व्यापार सतुलन हमारे विपक्ष मे हो जायेगा और देश अपनी डालर समस्या को नही सुलझा सकेगा। श्री देशमुख के अनुसार रुपये के मूल्य मे १५% की वृद्धि करने से हमारे भुगतान सतुलन का घाटा ५० करोड रुपये बढ जायेगा और ३०% की वृद्धि से भुगतान सतुलन के घाटे मे १३५ करोड रुपये की वृद्धि होने की सम्भावना थी। इस प्रकार रुपये का पुनर्मूल्यन भुगतान सतुलन को आवश्यक रूप से हमारे विपक्ष मे कर देगा।

(३) निर्यात करों से होने वाली आय कम हो जायेगी—पुनर्मूल्यन के परिणामस्वरूप निर्यात कम हो जायेगा और उन्हे प्रोत्साहित करने के लिए सरकार को निर्यात करो को हटाना पड़ेगा अथवा उन्हे कम करना पडेगा। ऐसा करने से निर्यात करो से होने वाली आय बहुत कम हो जायेगी।

(४) सस्ता आयात हमारे उद्योग-धन्धों पर बुरा प्रभाव डालेगा—पुनर्मूल्यन के परिणामस्वरूप विदेशो से आयात की जाने वाली वस्तुओ की मात्रा बढ जायेगी और हमारे उद्योग-धन्धो की वस्तुओ का सुरक्षित बाजार समाप्त हो जायेगा। इस प्रकार विदेशी प्रतियोगिता बढ जाने के कारण उद्योग-धन्धो को विशेष कठिनाई होगी और उनका विकास रुक जायेगा।

(५) रुपये के मूल्य को बार-बार बदलना ठीक नहीं है—यह भी कहा गया कि रुपये के लिए मूल्य मे स्थिरता लाने के लिए तथा विदेशियो का विश्वास उसमे बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि अल्पकालीन लाभ प्राप्त करने के लिए रुपये के मूल्य मे बार-बार परिवर्तन न किये जाये। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे देश की प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि रुपये के मूल्य सम्बन्धी जो भी नीति अपनाई जाये वह दीर्घकालीन होनी चाहिए।

(६) पुनर्मूल्यन से हमारी स्टर्लिंग जमा कम हो जायेगी—जिस अनुपात मे रुपये के मूल्य मे वृद्धि की जायेगी उसी अनुपात मे हमारे पौड पावने कम हो जायेंगे और हम उनसे कम मात्रा मे सामान खरीद सकेंगे।

क्या रुपये का और अधिक अवमूल्यन किया जाना चाहिए ?—

प्रथम पचवर्षीय योजना काल मे हमारे देश के भुगतान सतुलन की स्थिति काफी सुधर गई थी क्योकि योजना के पाँच वर्षों मे हमारे विदेशी विनिमय कोष मे केवल १५८ करोड रुपये की कमी हुई। इसका मुख्य कारण हमारे देश मे मानसून का अनुकूल होना तथा अमेरिका के द्वारा भारी मात्रा मे कच्चे माल का खरीदा जाना था। किन्तु दूसरी योजना के साथ हमारी विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयाँ आरम्भ हो गई। योजना के प्रथम पन्द्रह महीनो मे ही हमारे विदेशी विनिमय कोष मे २७८ करोड रुपये की कमी हुई और इसके अतिरिक्त हम ६५ करोड रुपया अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से उधार लेना पडा। योजना के शेष काल मे भी विदेशी विनिमय कोष तेजी के साथ गिरता गया और योजना के अन्त मे वह केवल २८० करोड रुपया रह गया। विदेशी विनिमय की इस समस्या को सुलझाने के लिए बहुत से सुझाव रक्खे गये और सरकार ने विदेशी विनिमय सम्बन्धी व्यय मे बचत करने के लिए बहुत कुछ किया।

विदेशी विनिमय की कमी को दूर करने लिए यह सुझाव भी दिया गया कि रुपये का और अधिक अवमूल्यन करना चाहिए जिससे हमारी निर्यातो को प्रोत्साहन मिले और आयातो मे कमी हो। लन्दन के कुछ आर्थिक क्षेत्रो का भी यही विचार था कि भारत को विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाई को दूर करने के लिए रुपये का अधिक अवमूल्यन कर देना चाहिए। भारतवर्ष मे प्रो० बी० आर० शिनोय (B R Shenoy) ने रुपये के अवमूल्यन का जोरदार समर्थन किया। उनके अनुसार रुपये का अवमूल्यन ही एक ऐसा उपाय था जो हमे विदेशी विनिमय सकट से बचा सकता है। इस सम्बन्ध मे उन्होने कई तर्क दिये जिनमे कुछ इस प्रकार हैं— (i) भारतीय रुपये का मूल्य अधिक है। सन् १९५६ के मध्य तक भारत मे रुपये की पूर्ति ७ गुणा से भी अधिक बढी है जबकि इङ्गलैंड मे यह वृद्धि केवल ३½ गुणा ही थी। इसके कारण रुपये का मूल्य पौंड के सम्बन्ध मे अधिक हो गया इसलिए इसे कम करना आवश्यक है। (ii) सन् १९३७ से लेकर १९५६ के मध्य तक हमारे औद्योगिक उत्पादन की १००% की वृद्धि हुई और कृषि उत्पादन मे २०% की, किन्तु हमारा निर्यात उस समय १९३७ के स्तर पर भी नही पहुँच सका था जो इस बात का प्रमाण है कि रुपये की विनिमय दर सतुलित विनिमय दर से बहुत दूर है और उसका हमारे निर्यातो के ऊपर बहुत बुरा प्रभाव पड रहा है। इसलिए उसमे परिवर्तन किया जाना चाहिए। (iii) रुपये के विदेशी मूल्य का अधिक होना सोने के आन्तरिक तथा बाहरी मूल्य मे भारी अन्तर होने मे भी प्रमाणित होता है।

उपरोक्त सब बातो के आधार पर प्रो० शिनोय ने रुपये के अवमूल्यन किये जाने पर जोर दिया किन्तु सरकार ने उसे मानने से इन्कार किया। भारतीय अर्थशास्त्रियों के अनुसार भी उस समय रुपये के अधिक अवमूल्यन की आवश्यकता नही थी। विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाई केवल अस्थाई थी और विकास योजनाओं

के कारण उत्पन्न हुई थी। अन्य तरीकों से उसे दूर किया जा सकता था और इसके लिए रुपये के मूल्य में परिवर्तन करना उपयुक्त नहीं। भारतीय प्रधान मंत्री ने भी कहा कि इस समय हमें अपनी योजनाओं की सफलता के लिए रुपये में विदेशियों के विश्वास को बनाए रखना है और उसे प्राप्त करने के लिए रुपये के मूल्य में जल्दी-जल्दी परिवर्तन नहीं किये जाने चाहिएँ। डा० वी० के० आर० वी० राव (Dr. V K. R. V. Rao) ने भी रुपये के अधिक अवमूल्यन के सुझाव का विरोध किया। उन्होंने कहा कि अवमूल्यन से किसी देश को तब ही लाभ हो सकता है जब उसकी निर्यातों की माग की लोच अधिक हो। किन्तु हमारे निर्यातों के मूल्य घट जाने पर उनकी माग में कोई विशेष वृद्धि की सम्भावना नहीं है, इसलिए अवमूल्यन से हमारे देश को कोई विशेष लाभ नहीं होगा। इसके विपरीत हमारी आयातों की माग प्राय बेलोचदार है। हम अधिकाश मशीनरी तथा कच्चा माल मगाते है जिनमें कोई कमी नहीं की जा सकती है। हमारा आयात योजनाओं की आवश्यकता के अनुसार निश्चित होता है और उन्हें कम नहीं किया जा सकता है। ऐसी दशा में अवमूल्यन हमारे योजना व्यय को बढा सकता है और उससे हमें कोई लाभ मिलने की सम्भावना नहीं है। अत रुपये का और अधिक अवमूल्यन देश के आर्थिक हितों में नहीं है।

परीक्षा प्रश्न

(१) सन् १९४९ में भारतीय रुपये का अवमूल्यन क्यों किया गया? देश के आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर इसका क्या असर पड़ा? इसका विवेचन कीजिए। (आगरा बी० ए० १९६२)

(२) सितम्बर १९४९ में किन कारणों से भारतीय रुपये का अवमूल्यन हुआ? इस अवमूल्यन से भारतीय आर्थिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा? (आगरा बी० ए० १९५९, नागपुर बी० ए० १९५६, इलाहाबाद बी० ए० १९५७, राजस्थान बी० काम० १९५६)

(३) रुपये की विनिमय दर किस प्रकार निर्धारित होती है? सितम्बर सन् १९४९ में रुपये का अवमूल्यन करना कहाँ तक उचित था। (राजस्थान बी० ए० १९५४)

(४) मुद्रा का अवमूल्यन क्या है? वर्तमान परिस्थिति में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के पक्ष एव विपक्ष में तर्क दीजिए। (सागर बी० काम० १९५८)

१३

भारतीय पत्र मुद्रा प्रणाली

INDIAN PAPER CURRENCY SYSTEM

पत्र मुद्रा का प्रयोग भारत में उन्नीसवीं शताब्दी से आरम्भ हुआ। उससे पूर्व हमारे देश में पूर्णतया धात्विक मुद्रा का प्रयोग होता था और लोग पत्र मुद्रा से बिल्कुल अपरिचित थे। सन् १८०६ में सर्वप्रथम बंगाल प्रैसीडेन्सी बैंक को नोट जारी करने का अधिकार दिया गया। इसके पश्चात् सन् १८४० में बैंक ऑफ बम्बई तथा सन् १८४३ में बैंक ऑफ मद्रास को भी नोट जारी करने का अधिकार दे दिया गया। इन बैंकों के द्वारा नोट जारी करने की एक अधिकतम सीमा निश्चित कर दी गई। यह तीनों प्रैसीडेन्सी बैंक अधिक से अधिक ५ करोड़ रुपये के नोटों को जारी कर सकते थे और उन्हें इन नोटों के पीछे ३३$\frac{1}{3}$% धातु-निधि के रूप में रखना पड़ता था। सन् १८६१ में सरकार ने प्रैसीडेन्सी बैंकों का नोट निर्गमन अधिकार समाप्त कर दिया और नोट जारी करने का काम स्वयं ले लिया।

पत्र चलन एक्ट १८६१ (Paper Currency Act 1861)—

पत्र चलन एक्ट १८६१ के अन्तर्गत सरकार ने समस्त भारत में पत्र मुद्रा जारी करने का एकाधिकार प्राप्त कर लिया। पत्र मुद्रा जारी करने के लिए देश को तीन क्षेत्रों में बाँट दिया गया और पत्र मुद्रा जारी करने के केन्द्र कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में स्थापित किये गये। प्रत्येक क्षेत्र में जारी की जाने वाली पत्र मुद्रा उसी क्षेत्र की सीमाओं के भीतर विधिग्राह्य होती थी। इस अधिनियम के अन्तर्गत भारत में इङ्गलैंड के नमूने पर *निश्चित अरक्षित पत्र मुद्रा प्रणाली (Fixed Fiduciary System)* स्थापित की गई। आरम्भ में अरक्षित नोटों की मात्रा ४ करोड़ रुपये निश्चित की गई किन्तु सन् १९१९ में युद्धकालीन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इसे बढ़ाकर २० करोड़ रुपया कर दिया गया।

निश्चित अरक्षित पत्र मुद्रा प्रणाली (Fixed Fiduciary System) भारत के लिए अधिक उपयुक्त न थी क्योंकि इसमें लोच का अभाव था। इस दोष को दूर करने के लिए सरकार अरक्षित चलन की मात्रा में समय-समय पर वृद्धि करती

रही। नोटों का सीमित चलन तथा अपने ही क्षेत्र में विधिग्राह्य होना इस प्रणाली का दूसरा बड़ा दोष था। इस दोष को दूर करने के लिए सरकार ने सर्वप्रथम सन् १६०३ में ५ रु० के नोट को समस्त भारत में विधिग्राह्य कर दिया। इसके पश्चात् समय-समय पर अन्य नोटों का भी चलन क्षेत्र व्यापक कर दिया गया। इस प्रणाली में स्वयं सचालकता का गुण भी नहीं पाया जाता था और इसकी सफलता अत्यधिक रूप से सरकार के प्रबन्ध पर आधारित थी। इन दोषों के होते हुए भी इस प्रणाली में सुरक्षा एवं परिवर्तनशीलता के गुण थे। सन् १६१३ में चैम्बरलेन कमीशन (Chamberlain Commission) ने भारत की पत्र मुद्रा प्रणाली में संशोधन करने के लिए महत्वपूर्ण सुझाव दिये। इन सुझावों का मुख्य उद्देश्य मुद्रा प्रणाली में लोच का गुण पैदा करना था। प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो जाने के कारण इस कमीशन के सुझावों को कार्य-रूप में नहीं लाया जा सका।

बेबिन्गटन स्मिथ कमेटी (Babington Smith Committee)—

युद्ध के पश्चात् बेबिंगटन स्मिथ कमेटी ने यह सुझाव दिया कि रक्षित कोष की मात्रा कुल चलन का ४० प्रतिशत होनी चाहिए। कमेटी ने यह भी सिफारिश की कि रक्षित कोष में अधिकांश प्रतिभूतियाँ अल्पकालीन होनी चाहिएँ तथा सरकारी प्रतिभूतियों की अधिकतम सीमा २० करोड़ रुपये होनी चाहिए। अरक्षित पत्र मुद्रा की मात्रा, जो उस समय १२० करोड़ रुपये थी, कुछ और समय तक बनाये रखने की अनुमति दे दी गई। कमेटी की समस्त सिफारिशों को मान लिया गया और उन्हें कार्य-रूप में लाने के लिए सन् १६२० में एक अधिनियम पास कर दिया गया। यद्यपि बेबिन्गटन स्मिथ कमेटी की सिफारिशों का उद्देश्य पत्र मुद्रा प्रणाली को लोचदार बनाना था किन्तु कमेटी ने इस बात पर आवश्यकता से अधिक जोर देकर धात्विक कोष की मात्रा को बहुत कम कर दिया जिसके परिणामस्वरूप पत्र मुद्रा में जनता का विश्वास किसी भी समय टूट सकता था।

हिल्टन यंग कमीशन, सन् १६२६
(Hilton Young Commission, 1926)—

कमीशन ने यह सिफारिश की कि नोट निर्गमन का अधिकार रिजर्व बैंक को दे दिया जाय, जिसकी स्थापना की उन्होंने सिफारिश की थी। नोटों को चाँदी के रुपयों में बदलने की वैधानिक जिम्मेदारी को समाप्त कर दिया जाय और उसके स्थान पर उन्हें करमी अधिकारी की इच्छानुसार सोने की सलाखों में बदलने की व्यवस्था की जाय। पत्र मुद्रा कोष और स्वर्णमान कोष मिला दिये जायें और इस नये कोष की प्रकृति सरकारी नियम के द्वारा निश्चित की जाय। हिल्टन यंग कमीशन ने नोट निर्गमन की अनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System) स्थापित करने की सिफारिश की। सुरक्षित कोष में सोने व सोने की प्रतिभूतियों का मूल्य कुल चलन का ४० प्रतिशत होना चाहिए। कमीशन ने एक

रुपये के नोट को फिर से जारी करने की सिफारिश भी की किन्तु उसे चाँदी के सिक्कों में परिवर्तनीय न रखा जाय।

सरकार ने कमीशन की सभी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और उन्हें कार्यरूप में लाने के लिए सन् १९२७ का करन्सी अधिनियम पास कर दिया गया। पत्र मुद्रा को सोने व स्टर्लिंग में परिवर्तनीय किया गया। सोने की कम से कम मात्रा जो पत्र मुद्रा के बदले में सरकार से प्राप्त की जा सकती थी, ४०० औंस निश्चित की गई। सितम्बर सन् १९३१ में भारतीय पत्र मुद्रा सोने के स्थान पर स्टर्लिङ्ग में परिवर्तनीय कर दी गई। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना सन् १९३४ तक न की जा सकी।

अनुपातिक कोष प्रणाली की स्थापना
(Proportional Reserve System)—

सन् १९३४ के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अन्तर्गत भारतवर्ष में अनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System) के आधार पर नोट निर्गमन की व्यवस्था की गई। नोट निर्गमन का एकमात्र अधिकार रिजर्व बैंक को दे दिया गया। रिजर्व बैंक के द्वारा प्रकाशित नोट समस्त देश में असीमित विधि-ग्राह्य होते थे और उनके पीछे सरकार की गारन्टी रहती थी। केवल १ रुपये तथा २ रुपये के नोट ही भारतीय वित्त विभाग (Indian Finance Department) के द्वारा जारी किये जाते थे। अन्य सब नोटों का प्रकाशन रिजर्व बैंक करता था। नोट निर्गमन की इस प्रणाली के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को जारी किये जाने वाले नोटों के पीछे ४०% सुरक्षित कोष रखना अनिवार्य होता था जिसमें सोना, सोने के सिक्के, विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा विदेशी मुद्रायें हो सकती थीं। सन् १९४८ के संशोधन से पूर्व विदेशी मुद्रा का अभिप्राय केवल स्टर्लिंग से होता था किन्तु इस संशोधन के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सभी सदस्य देशों की मुद्रायें उसमें सम्मिलित की जा सकती थी। इस ४०% सुरक्षित निधि में कम से कम ४० करोड़ रुपये के सोने के सिक्के अथवा सोना होना आवश्यक था। नोटों के शेष ६०% भाग के पीछे सरकारी प्रतिभूतियाँ स्वीकृत हुण्डियाँ, विनिमय बिल्स, प्रतिज्ञा-पत्र अथवा रुपये के सिक्के रक्खे जा सकते थे किन्तु इनमें सरकारी प्रतिभूतियों की मात्रा किसी भी समय पत्र मुद्रा चलन निधि का २५% अथवा ५० करोड़ रुपये की कीमत से अधिक नहीं होनी चाहिए। असाधारण परिस्थितियों में भारतीय राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति लेकर १०० करोड़ रुपये तक की सरकारी प्रतिभूतियाँ कोष में रक्खी जा सकती थी। इस प्रकार १९३४ के रिजर्व बैंक एक्ट के अन्तर्गत भारत में बैंकिंग सिद्धान्त (Banking Principle) पर आधारित अनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System) की स्थापना हुई। भारत में इस मुद्रा प्रणाली का

विकास अमेरिका के संघ निधि बैंक अधिनियम (Federal Reserve Bank Act) के अनुसार किया गया।

अनुपातिक कोष प्रणाली के गुण—

पत्र मुद्रा की इस प्रणाली में कुछ विशेष गुण होने के कारण ही उसे हमारे देश में अपनाया गया था। पूर्व प्रचलित निश्चित अरक्षित पत्र मुद्रा प्रणाली की अपेक्षा अनुपातिक कोष प्रणाली बहुत अच्छी थी और इससे प्राप्त होने वाले प्रमुख लाभ इस प्रकार थे—

(१) मुद्रा प्रणाली में अधिक लोच—अनुपातिक कोष प्रणाली को अपना लेने पर भारत की पत्र मुद्रा प्रणाली काफी लोचदार हो गई थी। विदेशी प्रतिभूतियों को सुरक्षित निधि के रूप में रक्खे जाने की व्यवस्था के कारण इस प्रणाली में लोच का गुण अधिक पाया जाता था। इस प्रणाली के अन्तर्गत स्वीकृत विनिमय बिल्स तथा प्रतिज्ञा-पत्रों की आड़ पर भी नोट जारी किये जा सकते थे जिसके कारण प्रणाली में और भी अधिक लोच उत्पन्न हो गई थी। आवश्यकता पड़ने पर नोटों की मात्रा को आसानी से घटाया-बढ़ाया जा सकता था जिसके कारण कृषि वस्तुओं की बिक्री के लिए सामयिक वित्त (Seasonal Finance) की व्यवस्था करना सम्भव था।

(२) अधिक मितव्ययितापूर्ण—यह प्रणाली काफी मितव्ययितापूर्ण भी थी क्योंकि बहुत अधिक मात्रा में सोने को कोष के रूप में बन्द करके नहीं रखना होता था। रक्षित कोष का काफी बड़ा भाग पत्र प्रतिभूतियों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों के रूप में हो सकता था जिसके कारण सोने के प्रयोग में बहुत बचत होती थी।

(३) कोषों का केन्द्रीयकरण—इस प्रणाली में देश की समस्त चलन निधि को एक ही कोष में एकत्रित कर दिया गया था जिसके कारण कई प्रकार के कोषों को रखने से होने वाला व्यय समाप्त हो गया था। इस प्रणाली से पूर्व देश में दो कोष रहते थे—पत्र मुद्रा कोष तथा स्वर्णमान कोष। किन्तु नई व्यवस्था के अन्तर्गत दोनों कोषों को मिलाकर एक मुद्रा कोष स्थापित किया गया।

(४) जनता का विश्वास—अधिक लोचदार होते हुए भी यह प्रणाली पत्र मुद्रा में जनता का विश्वास स्थापित कर सकती थी। नोटों के पीछे पर्याप्त मात्रा में सुरक्षित निधि का होना नोटों में जनता का विश्वास पैदा करता था।

(५) असाधारण परिस्थितियों के अनुकूल—सकटकालीन स्थिति में निधि सम्बन्धी छूट दिये जाने की व्यवस्था होने के कारण यह प्रणाली असाधारण परिस्थितियों में काम करने की क्षमता अधिक रखती थी। इसी प्रकार की व्यवस्था होने के कारण यह प्रणाली द्वितीय विश्व-युद्ध की परिस्थिति में भी ठीक काम करती रही।

अनुपातिक कोष प्रणाली के दोष—

उपर्युक्त सभी गुणों के होते हुए भी यह अनुपातिक कोष प्रणाली काफी दोषपूर्ण थी और उसमें सुधार की आवश्यकता थी। इस प्रणाली के प्रमुख दोष निम्न प्रकार थे—

(१) स्थाई मूल्यमान का अभाव—इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह था कि उसमें कोई निश्चित मूल्यमान नहीं था। रुपये का स्टर्लिङ्ग के साथ स्थायी सम्बन्ध होने के कारण स्टर्लिङ्ग के मूल्य का प्रत्येक परिवर्तन रुपये के मूल्य को भी प्रभावित करता था। रुपये के मूल्य की यह अस्थिरता देश के आर्थिक हित में नहीं थी। रुपये का विदेशी मूल्य पूर्णतया स्टर्लिङ्ग के मूल्य पर आधारित हो गया था जिसके कारण हमारी अर्थ-व्यवस्था पर इंगलैंड की अर्थ-व्यवस्था के बुरे प्रभाव पड़ सकते थे। आवश्यकता इस बात की थी कि भारतीय रुपया एक स्वतन्त्र मुद्रा हो और उसका मूल्य हमारे देश की आर्थिक स्थिति से ही प्रभावित होना चाहिए।

(२) मूल्य-स्तर की स्थिरता का अभाव—इस मुद्रा प्रणाली में आन्तरिक मूल्य स्तर की स्थिरता स्थापित करना भी सम्भव नहीं था क्योंकि इस प्रणाली का मुख्य उद्देश्य विदेशी विनिमय की स्थिरता स्थापित करना था। समय-समय पर अत्यधिक निकासी का भय लगा रहता था। मुद्रा प्रणाली की इस प्रवृत्ति के कारण ही द्वितीय युद्धोत्तर काल में मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हुई। इस प्रकार की अनिश्चित मुद्रा प्रणाली देश के आर्थिक हित में नहीं थी।

(३) स्वय सचालकता का अभाव—इस मुद्रा प्रणाली में स्वय सचालकता का अभाव था और सरकारी हस्तक्षेप बहुत अधिक होता था। व्यवसायिक आवश्यकताओं तथा विकासशील अर्थ-व्यवस्था के अनुसार मुद्रा की मात्रा स्वय घट-बढ़ नहीं सकती थी। इस प्रकार के परिवर्तन सरकार के द्वारा ही किये जा सकते थे।

(४) लोच का अभाव—अनुपातिक कोष प्रणाली में पर्याप्त लोच का गुण भी नहीं था क्योंकि इसमें रक्षित कोष सम्बन्धी शर्तें बहुत कड़ी थीं। आवश्यकता पड़ने पर नोटों की मात्रा में विस्तार नहीं किया जा सकता था। इसीलिए यह कहा गया है कि "इस प्रणाली में देश की समस्त प्रचलित मुद्रा तथा देश की आर्थिक आवश्यकता, उत्पादन-शक्ति और वितरण सम्बन्धी आवश्यकताओं के बीच किसी प्रकार का समन्वय नहीं रहता था। इस दृष्टिकोण से आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए यह प्रणाली बिल्कुल अनुपयुक्त थी।" एक प्रगतिशील अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं को इस प्रणाली के द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता था। अतः इस प्रणाली में सुधार की अत्यन्त आवश्यकता थी।

(५) परिवर्तनशीलता का अभाव—नोटों की परिवर्तनशीलता के सम्बन्ध में भी यह प्रणाली अधिक अच्छी नहीं थी क्योंकि भारतीय नोट केवल स्टर्लिङ्ग में बदले

जा सकते थे। स्टलिंग स्वयं सोने अथवा सोने की मुद्रा में परिवर्तनशील नहीं था इसलिए भारतीय पत्र मुद्रा भी अपरिवर्तनीय हो गई थी।

भारत की वर्तमान मुद्रा प्रणाली
(Present Monetary System in India)

द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् भारतीय मुद्रा-प्रणाली में महत्वपूर्ण सुधार हुए और सन् १९४५ में हमारे देश में एक नये मुद्रामान का आरम्भ हुआ। भारत की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M F) की सदस्यता के फलस्वरूप देश में स्टलिङ्ग विनिमय मान के स्थान पर अन्य देशों की भांति स्वर्ण समता मान (Gold Parity Standard) स्थापित कर दिया गया। भारतीय रुपये तथा स्टलिङ्ग का सम्बन्ध टूट गया और रुपया अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक स्वतन्त्र मुद्रा के रूप में कार्य करने लगा। भारतीय सरकार के द्वारा रुपये का स्वर्ण मूल्य निश्चित कर दिया गया और रिजर्व बैंक ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सहायता से रुपये के इस स्वर्ण मूल्य को बनाये रखने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। किसी भारी असन्तुलन की दशा में रुपये के इस स्वर्ण मूल्य में परिवर्तन किये जाने की व्यवस्था भी की गई। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता के साथ ही हमारे देश में एक स्वतन्त्र मुद्रामान का जन्म हुआ। भारतीय मुद्रा प्रणाली के निश्चित मूल्यमान के अभाव के दोष को दूर कर दिया गया और देश में एक निश्चित मूल्यमान स्थापित हो गया। इस नये मुद्रामान में लोच तथा स्थिरता दोनों ही गुण पाये जाते हैं। इस व्यवस्था के अन्तर्गत आवश्यकता के अनुसार नोटों का विस्तार किया जा सकता है और उसके साथ ही रिजर्व बैंक अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए मौद्रिक प्रबन्ध तथा अन्य प्रकार के नियन्त्रणों के द्वारा देश में मूल्य-स्तर की स्थिरता करने का प्रयत्न करता है। इस मुद्रामान में विदेशी मुद्रा दरों की स्थिरता को भी प्राप्त किया जा सकता है। नये मुद्रामान में एक ओर तो आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्थिरता जैसे स्वर्णमान के गुण पाये जाते हैं और दूसरी ओर यह स्वर्णमान के दोषों से मुक्त है।

न्यूनतम कोष प्रणाली की स्थापना (Minimum Reserve System)—

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय नोट निर्गमन प्रणाली में कुछ आधारभूत परिवर्तन किये गये। नोट निर्गमन प्रणाली को आर्थिक विकास की दशाओं के *अनुकूल बनाने के लिए सन् १९५६ में अनुपातिक कोष प्रणाली के स्थान पर न्यूनतम* कोष प्रणाली (Minimum Reserve System) को स्थापित किया गया। आनुपातिक कोष प्रणाली विभिन्न दोषों के कारण देश की आवश्यकता को पूरा करने के लिए अनुपयुक्त हो गई थी और उसमें सुधार की आवश्यकता थी। यह अनुभव किया गया कि इस प्रणाली में देश के विदेशी विनिमय साधनों का एक बहुत बड़ा भाग पत्र मुद्रा कोष के रूप में बेकार पड़ा रहता है जबकि देश को आर्थिक विकास के लिए विदेशी विनिमय की अत्यन्त आवश्यकता है। ऐसी दशा में सरकार ने भारत

में विदेशी विनिमय के अधिकांश भाग को प्रयोग के लिए मुक्त करना उचित समझा और सन् १९५६ में रिजर्व बैंक एक्ट में एक संशोधन के द्वारा मुद्रा के पीछे रक्खे जाने वाले विदेशी विनिमय की मात्रा को कम कर दिया गया। रिजर्व बैंक आफ इण्डिया (संशोधन) अधिनियम सन् १९५६ [Reserve Bank of India (Amendment) Act, 1956] के द्वारा भारत में नोट निर्गमन की प्रचलित अनुपातिक कोष प्रणाली को समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर न्यूनतम कोष प्रणाली की स्थापना की गई। पूर्व प्रचलित नोट निर्गमन प्रणाली में नोटों के पीछे ४०% सुरक्षित कोष रखना अनिवार्य होना था जिसमें २१ रुपये १३ आने १० पा० प्रति तोला के हिसाब से कम से कम ४० करोड़ रुपये के मूल्य का सोना होना आवश्यक था तथा कोष का शेष भाग विदेशी विनिमय के रूप में रक्खा जा सकता था। इस संशोधन के द्वारा उक्त व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर नोटों के पीछे रक्खे जाने वाली सुरक्षित निधि की न्यूनतम मात्रा निश्चित कर दी गई। संशोधित अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को नोटों के पीछे ४०० करोड़ रुपये के मूल्य की विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा ११५ करोड़ रुपये का सोना रखना अनिवार्य कर दिया गया। अब सोने का मूल्य ३५ डालर प्रति औंस (६२·५० रुपया प्रति तोला) के हिसाब से आंका जायगा। इस प्रकार कुल मिलाकर निर्गमन विभाग में ५१५ करोड़ रुपये का न्यूनतम कोष रखने की व्यवस्था की गई। नोटों के पीछे रक्खी जाने वाली विदेशी प्रतिभूतियों की न्यूनतम राशि को आवश्यकता पड़ने पर घटा कर ३०० करोड़ भी किया जा सकता था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल की विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिए ३१ अक्टूबर सन् १९५७ को एक आदेश के द्वारा पत्र मुद्रा के पीछे रक्खे जाने वाले न्यूनतम कोष की मात्रा ५१५ करोड़ रुपये से घटाकर केवल २०० करोड़ रुपये कर दी गई जिसमें ११५ करोड़ रुपये का सोना तथा शेष मूल्य की विदेशी प्रतिभूतियां रहेंगी।

वर्तमान निर्गमन प्रणाली के गुण
(Merits of the Present System of Note Issue)—

भारत की वर्तमान मुद्रा प्रणाली एक प्रगतिशील प्रणाली है। उसमें एक अच्छी मुद्रा प्रणाली के अधिकांश गुण पाये जाते हैं तथा वह देश के आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त है। इस प्रणाली के प्रमुख गुण इस प्रकार हैं—

(१) **अधिक लोचदार**—वर्तमान प्रणाली में लोच का गुण बहुत अधिक पाया जाता है क्योंकि न्यूनतम मात्रा में निधि रखकर ही रिजर्व बैंक जितनी मात्रा में चाहे नोट जारी कर सकता है। इस प्रणाली में नोटों की मात्रा तथा सुरक्षित निधि में कोई सम्बन्ध नहीं रहता है और केन्द्रीय बैंक आवश्यकता के अनुसार नोटों की मात्रा में वृद्धि कर सकता है। अधिक लोच का गुण होने के कारण ही यह प्रणाली प्रगतिशील समाज के लिए अधिक उपयुक्त है। एक प्रगतिशील समाज में मुद्रा की

आवश्यकता निरन्तर बढती रहती है जिसे इस प्रणाली के अन्तर्गत आसानी से पूरा किया जा सकता है।

(२) मितव्ययिता पूर्ण है—मितव्ययिता की दृष्टि से यह प्रणाली सर्वश्रेष्ठ कही जा सकती है क्योंकि इसके अन्तर्गत बहुत ही कम मात्रा में सुरक्षित कोष रखना आवश्यक होता है और बहुमूल्य धातुओं के अपव्यय की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। यह प्रणाली ऐसे देशों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है जिनके पास सोना तथा विदेशी विनिमय सीमित मात्रा में है। भारतवर्ष की स्थिति इसी प्रकार की है।

(३) विदेशी विनिमय की स्थिरता—देश में स्वर्ण समता मान होने के कारण इस प्रणाली के द्वारा विदेशी विनिमय दरों को स्थिर रक्खा जा सकता है। रिजर्व बैंक का यह उत्तरदायित्व है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सहायता से रुपये के विदेशी मूल्य को उसके स्वर्ण मूल्य (Gold Parity) के अनुसार बनाये रक्खे।

(४) मूल्य-स्तर की स्थिरता—उचित मौद्रिक प्रबन्ध के द्वारा मूल्य-स्तर की स्थिरता भी प्राप्त की जा सकती है। रिजर्व बैंक मौद्रिक प्रबन्ध तथा विभिन्न प्रकार के आर्थिक नियन्त्रणों के द्वारा कीमत स्तर को स्थिर रखने का प्रयत्न करता है। पिछले कुछ वर्षों में इस दिशा में अधिक सफलता नहीं मिल सकी है और कीमतों के निरन्तर बढने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

(५) जनता का विश्वास—इस प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा में जनता का विश्वास बना रहता है। यद्यपि पत्र मुद्रा की परिवर्तनशीलता की कोई गारन्टी नहीं होती है किन्तु फिर भी पत्र मुद्रा के पीछे न्यूनतम कोष होने के कारण मुद्रा में जनता का विश्वास स्थापित किया जा सकता है।

(६) आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त—यह प्रणाली आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त है। नोटों के विस्तार की सरलता के कारण इस प्रणाली में पत्र मुद्रा को आर्थिक विकास के साधन के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रणाली को अपनाकर ही देश के विदेशी विनिमय साधनों को आर्थिक विकास के कार्यों के लिए मुक्त किया जा सकता है।

वर्तमान प्रणाली के दोष (Demerits of the Present System)—

यद्यपि भारत की वर्तमान नोट निर्गमन प्रणाली में उपर्युक्त सभी गुण पाये जाते हैं और वह पूर्व प्रचलित अनुपातिक कोष प्रणाली से अच्छी है किन्तु फिर भी उसमें कुछ दोष अवश्य हैं जिनके कारण इस प्रणाली का प्रयोग बडी सावधानी के साथ किया जाना चाहिए। प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

(१) अत्यधिक निकासी का भय—वर्तमान नोट निर्गमन प्रणाली में अत्यधिक निकासी का भय बढ गया है। इस प्रणाली में न्यूनतम कोष रखने के पश्चात्

कितनी भी मात्रा में नोट जारी किये जा सकते हैं जिसके कारण किसी भी समय नोटों की मात्रा आवश्यकता से अधिक हो सकती है और देश में मुद्रा प्रसार की स्थिति पैदा होने का भय रहता है। इस प्रणाली की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि रिजर्व बैंक कहाँ तक मौद्रिक प्रबन्ध के द्वारा मुद्रा-प्रसार की शक्तियों पर नियन्त्रण कर सकता है। वर्तमान स्थिति में कुछ प्रतिकूल दशाओं के कारण रिजर्व बैंक को मूल्य-स्तर की स्थिरता को बनाये रखने में सफलता नहीं मिल रही है और कीमत-स्तर निरन्तर बढ़ रहा है।

(२) केवल अभिवृद्धि (Prosperity) काल के लिए उपयुक्त—एक प्रगतिशील अर्थ-व्यवस्था में इस प्रणाली की उपयोगिता अधिक होती है अन्यथा इससे लाभ की अपेक्षा हानि होने की सम्भावना अधिक रहती है। भारतवर्ष में इस प्रकार के खतरे की सम्भावना काफी समय तक नहीं है क्योंकि हमारी आर्थिक प्रगति का क्रम आने वाले वर्षों में और अधिक तीव्र होने की आशा है।

(३) न्यूनतम कोष के घटने की सम्भावना—इस प्रणाली में यह डर रहता है कि सरकार न्यूनतम कोष की मात्रा को बहुत अधिक कम करके मुद्रा प्रणाली की स्थिरता को समाप्त न कर दे। *न्यूनतम कोष के और अधिक कम करने से यह* प्रणाली असुरक्षित हो सकती है।

इन दोषों के होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि वर्तमान मुद्रा प्रणाली एक आदर्श मुद्रा प्रणाली के बहुत समीप है और वर्तमान दशाओं के अनुकूल है। यह प्रणाली आधुनिक मौद्रिक विचारधारा पर आधारित है और इसमें लोच तथा मितव्ययिता के दो बड़े गुण पाये जाते हैं। उचित मौद्रिक प्रबन्ध के द्वारा इससे पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता है।

नई मुद्रा प्रणाली तथा आर्थिक विकास—

आर्थिक विकास के लिए उस मुद्रा प्रणाली को अधिक उपयुक्त कहा जा सकता है जिसमें विकासशील अर्थ-व्यवस्था को बढ़ती हुई मुद्रा की माँग को पूरा करने के लिए पर्याप्त मात्रा में मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाया जा सके तथा उसके साथ-साथ अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा-प्रसार की शक्तियों को नियन्त्रित किया जा सके। अल्प विकसित देशों की प्राचीन मुद्रा प्रणालियाँ उनके आर्थिक विकास के रास्ते में रुकावट हैं। इन देशों में *आर्थिक प्रगति की रफ्तार को तेज करने के लिए आवश्यक है कि प्राचीन* मुद्रा प्रणालियों के स्थान पर प्रगतिशील मुद्रा प्रणाली की स्थापना की जाय जिसमें लोच तथा स्थिरता दोनों ही हों। भारत की वर्तमान मुद्रा प्रणाली आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उपयुक्त है क्योंकि इसमें बहुत बड़ी सुरक्षित निधि के बिना ही कितनी भी मात्रा में मुद्रा जारी की जा सकती है। अतः इस प्रणाली के अन्तर्गत आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त मौद्रिक साधन उपलब्ध किए जा सकते हैं। इस प्रणाली में नोटों की मात्रा तथा उसके पीछे रखी जाने वाली

सुरक्षित निधि मे किसी प्रकार का सम्बन्ध नही रहता है और रिजर्व बैंक एक न्यूनतम कोष रखने के पश्चात् आवश्यकतानुसार कितनी भी मात्रा मे पत्र मुद्रा जारी कर सकता है। इस प्रकार मुद्रा का विस्तार तथा संकुचन सुरक्षित निधि के अनुसार न होकर व्यापारिक तथा औद्योगिक आवश्यकताओं के अनुसार किया जाता है। ऐसी स्थिति मे मुद्रा की माग तथा पूर्ति मे सतुलन स्थापित करने की सम्भावना अधिक होती है।

आर्थिक स्थिरता की दृष्टि से भी वर्तमान मुद्रा प्रणाली उपयुक्त है क्योंकि आर्थिक विकास के साथ-साथ उत्पादन मे वृद्धि होने के कारण मुद्रा प्रसार की शक्तियाँ स्वय क्षीण होने की प्रवृत्ति रखती हैं। अधिक मुद्रा कुछ ही समय पश्चात् अधिक उत्पादन के साथ सतुलित हो जाती है और मुद्रा प्रसार केवल अस्थायी ही होता है। अन्तरिम काल मे मुद्रा प्रसार को रोकने के लिए मौद्रिक प्रबन्ध तथा अन्य प्रकार के नियन्त्रणो का प्रयोग किया जाता है। यह प्रणाली आर्थिक विकास के लिए इसलिए भी उपयुक्त है क्योकि इसमे देश के स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय कोष का प्रयोग विदेशो से पूँजीगत वस्तुयें मगाने के लिए किया जा सकता है। थोडी मात्रा मे सोना तथा विदेशी विनिमय सुरक्षित कोष के रूप मे रखकर शेष का प्रयोग आर्थिक विकास के लिए किया जाता है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली मे विदेशी विनिमय दरें स्थिर रहने के कारण भारतीय रुपये मे विदेशियो का विश्वास बना रहता है और हमे आर्थिक विकास लिए अधिक मात्रा मे ऋण तथा विदेशी पूंजी प्राप्त हो सकती है। आन्तरिक क्षेत्र मे भी रुपये मे जनता का विश्वास होने के कारण विकास के लिए अधिक मात्रा मे सार्वजनिक ऋण प्राप्त किये जा सकते है। इस प्रकार भारत की वर्तमान मुद्रा प्रणाली देश के आर्थिक विकास मे बडी सहायक हो सकती है किन्तु उसकी सफलता बहुत कुछ इस बात के ऊपर निर्भर है कि रिजर्व बैंक मौद्रिक प्रबन्ध के द्वारा कहाँ तक रुपये के आन्तरिक तथा विदेशी मूल्य मे स्थिरता स्थापित करने मे सफल होता है।

भारतीय मुद्रा प्रणाली की विशेषतायें
(Features of Indian Currency System)—

आज की भारतीय मुद्रा प्रणाली की कुछ प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार है—

(१) रुपया भारत की प्रमुख मुद्रा इकाई है जिसे १०० पैसो मे विभक्त किया हुआ है। १, २, ५, १०, २५ तथा ५० पैसे के दशमलव सिक्के चलाये जाते हैं। रुपया सांकेतिक सिक्का है और निकिल का बनाया जाता है जिसका वजन १८० ग्रेन के बराबर होता है। आठ आने, चार आने, दो आने तक, एक आने वाले पुराने सिक्के चलन से हटा लिए गये है और उनके स्थान पर केवल दशमलव सिक्के ही काम करते हैं।

(२) पत्र मुद्रा रिजर्व बैंक के द्वारा जारी की जाती है और इस समय २, ५, १०, १००, १,००० ५,०००, १०,००० के नोट चलन में है। भारतीय सरकार के एक रुपये वाले विशेष नोट जो जुलाई १९४० मे जारी किए गये थे अभी तक चलन मे है। रिजर्व बैंक के निकासी विभाग (Issue Department) मे जारी किये जाने वाले नोटो के पीछे सुरक्षित कोष रक्खा जाता है। सुरक्षित निधि की न्यूनतम मात्रा रिजर्व बैंक अधिनियम के अनुसार २०० करोड रुपये निश्चित की गई है जिसमे ११५ करोड रुपये का सोना अथवा सोने के सिक्के अनिवार्य रूप से रखने होते हैं।

विदेशी विनिमय के कामो के लिए रुपया १ शि० ६ पेंस के बराबर है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य होने के कारण भारत ने अपने रुपये की स्वर्ण समता दर ०·१८६६२ ग्रेन शुद्ध सोने अथवा २०·६४ सैन्ट (अमेरिकन) के बराबर घोषित की हुई है। भारत मे इस समय स्वर्ण समता मान है और रिजर्व बैंक की यह जिम्मेदारी है कि वह रुपये के विदेशी मूल्य को स्वर्ण समता दर के बराबर बनाये रक्खे।

डालर तथा दुर्लभ मुद्राओ की बचत एव भारी मात्रा मे पूंजी के निर्यात को रोकने के उद्देश्य से भारत ने विदेशी विनिमय नियन्त्रण की व्यवस्था को अपनाया हुआ है। विदेशी विनिमय सम्बन्धी सब सौदे रिजर्व बैंक द्वारा नियन्त्रित अधिकृत व्यापारियो के द्वारा किये जाते है। व्यक्तियो तथा फर्मों के द्वारा प्राप्त किया हुआ विदेशी विनिमय नियन्त्रित दरो पर रुपये के बदले मे रिजर्व बैंक को बेचना होता है। विदेशी विनिमय केवल अधिकृत व्यापारियो से रिजर्व बैंक के परमिट के द्वारा खरीदा जा सकता है। विदेशी विनिमय की माग तथा पूर्ति को नियमित करने के लिए विदेशी भुगतान सम्बन्धी समस्त सौदो को नियन्त्रित कर दिया गया है। आयात तथा निर्यात पर पूर्ण रूप से नियन्त्रण है। भारतीय नागरिको के द्वारा विदेशी प्रतिभूतियों के बेचने तथा खरीदने पर भी प्रतिबन्ध है। विदेशी प्रतिभूतियो का निर्यात वर्जित है।

भारत मे मुद्रा पूर्ति (Money Supply in India) —

देश मे मुद्रा पूर्ति चलन (Currency) एव बैंक जमा (Bank Deposits) से मिलकर बनती है। करन्सी के अन्तर्गत देश मे चलने वाले समस्त सिक्के तथा पत्र मुद्रा सम्मिलित हैं। बैंक जमा के अन्तर्गत बैंकों के चालू खातो मे जमा रकम (Demand Deposits) तथा रिजर्व बैंक के पास अन्य जमा को ही सम्मिलित किया जाता है। पिछले १५ वर्षो मे जनता के पास मुद्रा की पूर्ति मे तेजी के साथ वृद्धि हुई है जैसा कि अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका से स्पष्ट है।

जनता के पास मुद्रा की पूर्ति[1]
(Money Supply with the Public)

(करोड़ रुपये)

अन्त में	करंसी की मात्रा	बैंकों की जमा	कुल मुद्रा पूर्ति	परिवर्तन वृद्धि + कमी —
१९५१–५२	१२८५ ५	५६२ ७	१८४८ २	—१६०·०
१९५५–५६	१५७१ ०	६४५ ९	२२१६ ९	+२६२·२
१९५६–५७	१६२२ ७	७१९·२	२३४१ ९	+१२४·९
१९५७–५८	१६७४ १	७३९ १	२४१३ २	+ ७१·३
१९५८–५९	१७९२ ०	७३४ ०	२५२६ ०	+११२·९
१९५९–६०	१९२०·९	७८९ ४	२७२० २	+१९४·२
१९६०–६१	२०९८ १	७७०·६	२८६८ ६	+१९९·२
१९६१–६२	२२०१·२	८४४ ७	३०४५·८	+१७७·२
१९६२–६३	२३७९ ५	९३० ५	३३०९ ९	+२६४·२
१९६३–६४	२६०५ ६	११४६ ६	३७५२ १	+४४२·२
सित० १९६४	२५१५·३	१२०१ ५	३७१६ ७	— ४७·६

केवल सन् १९५१–५२ तथा १९५२–५३ के वर्षों को छोडकर मुद्रा व साख की मात्रा मे निरन्तर वृद्धि होती रही है। सन् १९६४ के अन्तिम महीनो मे करसी की मात्रा कुछ कम हुई है। ऊपर की तालिका को देखने से पता चलता है कि सन् १९५१–५२ मे मुद्रा की कुल पूर्ति १८४८ करोड रुपये थी जो १९६३–६४ मे बढकर ३७५२ करोड रुपये हो गई है। इससे स्पष्ट है कि पिछले १३ वर्षों मे *जनता के पास मुद्रा की पूर्ति दुगने से भी अधिक हो गई है।* इन वर्षों मे नकद मुद्रा की मात्रा लगभग १३२० करोड रुपये बढी है और साख मुद्रा की मात्रा मे ५८४ करोड रुपये की वृद्धि हुई है। अत इस काल मे मुद्रा की कुल मात्रा मे १९०४ करोड रुपये की वृद्धि हुई है। सबसे अधिक वृद्धि सन् १९६३–६४ मे हुई जबकि एक वर्ष मे ही मुद्रा की मात्रा ४४२ करोड रुपये बढ गई। प्रथम पचवर्षीय योजना काल मे मुद्रा की कुल मात्रा २३९ ४ करोड रुपये बढी, द्वितीय योजना काल मे ६५१·७ करोड रुपये तथा तीसरी योजना के प्रथम चार वर्षों मे यह वृद्धि ८८३·५ करोड रुपये की है। इन सब आंकडों के आधार पर कहा जा सकता है कि देश मे मुद्रा व साख की मात्रा बहुत तेजी के साथ बढ रही है जो काफी सीमा तक बढ़ते हुए मूल्य-स्तर के लिए जिम्मेदार है।

---

1 Reserve Bank of India Bulletin, October 1964. (Revised Series) P–1307.

परीक्षा प्रश्न

(१) भारत में सन् १९५६ में नोट जारी करने की विधि "अनुपातिक कोष प्रथा" (Proportional Reserve System) से बदल कर "निश्चित कोष प्रथा" (Minimum Reserve System) क्यों की गई ? भारत के चलार्थ पर इसका क्या प्रभाव पड़ा ? (आगरा बी० ए० १९५९)

(२) किसी देश में नोटों का निर्गमन करते समय किन बातों का पालन किया जाता है ? इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट के आदेशों का उल्लेख करो। (आगरा बी० ए० १९५६)

(३) पत्र मुद्रा के सचालन हेतु अपनाये जाने वाले उपायों की आलोचनापूर्ण विवेचना कीजिये। उनमें से हमारे देश ने किसको अपनाया है और क्यों ? (आगरा बी० काम १९५९ s)

(४) भारत की विश्वासाश्रित पत्र मुद्रा सचालन प्रणाली (Fiduciary Issue System) एवं न्यूनतम कोष पद्धति (Minimum Reserve System) की विशेषताओं का विवेचन करिये। उनकी पुष्टि के लिए अपनी युक्तियाँ दीजिये। (आगरा बी० काम १९५६)

(५) भारतीय वर्तमान नोट निर्गमन प्रणाली की व्याख्या कीजिये। इस प्रणाली के गुण-दोष बताइये। (आगरा बी० काम १९६१)

(६) नोट निर्गमन की एक आदर्श पद्धति की विशेषताएँ बताइये तथा यह भी समझाइये कि भारतीय पत्र मुद्रा प्रणाली उन्हें कहाँ तक सन्तुष्ट करती है ? (राजस्थान बी० काम १९५८)

१४

भारत में मुद्रा-प्रसार

INFLATION IN INDIA

द्वितीय विश्व-युद्ध काल मे तथा उसके पश्चात् मुद्रा-स्फीति भारतवर्ष की प्रमुख आर्थिक समस्या रही है। यद्यपि आरम्भ मे हमारे मूल्य-स्तर पर मुद्रा-स्फीति का प्रभाव बहुत कम था किन्तु धीरे-धीरे यह प्रभाव बढता गया और १९४८ के पश्चात् भयकर रूप धारण कर गया। कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि युद्धोत्तर काल मे मुद्रा-स्फीति हमारे देश मे तीसरी अवस्था मे पहुँच गई थी और उस समय मूल्य-स्तर मे वृद्धि मुद्रा की मात्रा की वृद्धि से कई गुणा हो रही थी। यद्यपि इस धारणा को बिलकुल सत्य नही माना जा सकता है किन्तु फिर भी यह कहना उचित होगा कि इस काल मे भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर मुद्रा-प्रसार का काफी अधिक प्रभाव था। सन् १९३९ मे भारतीय अर्थ-व्यवस्था के ऊपर मन्दी का प्रभाव था किन्तु युद्ध आरम्भ होते ही देश में आर्थिक समृद्धि का एक नया युग आरम्भ हुआ। वस्तुओं के मूल्य बढने लगे और उत्पादन तथा रोजगार की मात्रा मे भी वृद्धि होने लगी। आरम्भ मे कृषि वस्तुओ के मूल्यो मे होने वाली वृद्धि का स्वागत किया गया क्योकि किसानो की दशा को सुधारने मे उसने बडी सहायता दी। युद्ध के पहले कुछ महीनो में मूल्यो मे होने वाली वृद्धि ने हमारी अर्थ-व्यवस्था को मन्दी के प्रभाव से मुक्त कर दिया और आर्थिक विकास की नई शक्तियो को जन्म दिया किन्तु इसके पश्चात् हमारे मूल्य-स्तर मे इतनी तेजी के साथ वृद्धि हुई कि वह मुद्रा-स्फीति का रूप धारण कर गई। देश मे मुद्रा व साख की मात्रा बहुत तेजी के साथ बढने लगी जबकि वस्तुओं के उत्पादन में उसी अनुपात मे वृद्धि न की जा सकी। इसके परिणामस्वरूप देश मे बहुत-सी वस्तुओं की कमी हो गई और उनके मूल्य तेजी के साथ बढ़ने लगे। विशेषकर कृषि मूल्य अधिक तेजी के साथ बढ़ रहे थे।

भारतीय सरकार ने जुलाई सन् १९४२ तक इस बात को मानने से इन्कार किया कि भारतवर्ष मे मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो गई है। रिजर्व बैंक ने भी

मुद्रा-प्रसार की गम्भीरता को स्वीकार नहीं किया। सरकारी क्षेत्रों के अनुसार देश में मुद्रा की वृद्धि उसकी बढती हुई माग को पूरा करने के लिए की जा रही थी और इसीलिए उसे मुद्रा-प्रसार नही कहा जा सकता था। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि देश मे बेकार साधन काफी बडी मात्रा मे मौजूद हैं और ऐसी स्थिति में मुद्रा की मात्रा का बढना मुद्रा-प्रसार की दशाओ को पैदा नही कर सकता है। सरकारी अधिकारियो का यह भी कहना था कि यह स्थिति घाटे की अर्थ-व्यवस्थ (Deficit Financing) के कारण उत्पन्न नहीं हुई है, अत इसे मुद्रा-प्रसार नही कह जा सकता है। इन सब तर्कों के होते हुए भी वास्तविकता यह थी कि वस्तुओं के मूल्य बढ रहे थे और यह वृद्धि काफी तेजी के साथ हो रही थी। देश मे बेका साधन होते हुए भी उत्पादन मे कोई विशेष वृद्धि न हो सकी। मशीनों तथा अन्य पूंजीगत वस्तुओं की कमी, प्रशिक्षित श्रम के अभाव, सरकार की उदासीन औद्योगि नीति तथा असहयोग के कारण भारत का औद्योगिकरण युद्ध काल मे नहीं ह सका। द्वितीय विश्व युद्ध ने भारत के आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त अवसर त प्रदान किया किन्तु देश उससे लाभ न उठा सका और मुद्रा की वृद्धि के साथ-सा वस्तुओं के उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि न हुई। एक ओर मुद्रा की मात्रा सरकार के युद्धकालीन व्यय के कारण तेजी के साथ बढ रही थी और दूसरी ओर उत्पादन उ अनुपात मे नही बढ रहा था। ऐसी स्थिति मे मूल्य-स्तर का बढना तथा मुद्रा-प्रसा की दशाओं का उत्पन्न होना स्वाभाविक था।

भारत सरकार ने यद्यपि मुद्रा-प्रसार की स्थिति को स्वीकार नहीं किय किन्तु उस समय तक रुपये के मूल्य मे काफी गिरावट आ चुकी थी और भारती अर्थ-शास्त्रियो के अनुसार उस समय देश मे मुद्रा-प्रसार का युग आरम्भ हो गया था। सर्वप्रथम प्रो० सी० एन० वकील (C. N Vakil) ने अपनी पुस्तक The Falling Rupee मे जनता तथा सरकार का ध्यान गिरते हुए रुपये की ओर आकर्षित किया। १९४४ मे केन्द्रीय वित्त-मन्त्री ने भी यह मान लिया कि भारत में मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो गई है। किन्तु उसे रोकने के लिए १९४८ से पूर्व कोई महत्वपूर्ण कार्य नही किया गया। अगस्त सन् १९४५ में जब द्वितीय विश्व-युद्ध समाप्त हुआ तो थोक मूल्यों का सूचक अक बढ कर २४४·१ (१९३९=१००) हो चुका था। वह निरन्तर बढता गया और नवम्बर १९४६ मे २८९·८ हो गया। इसके पश्चात् एक वर्ष तक मूल्य लगभग स्थिर रहे। नवम्बर सन् १९४७ से मूल्य-स्तर ने फिर से बढना आरम्भ किया और दिसम्बर १९४७ मे सूचक अक ३११·६ तथा अगस्त १९४८ मे ३८३·० हो गया। इस प्रकार तेजी के साथ बढते हुए मूल्यों को रोकने के लिए सरकार ने अक्तूबर १९४८ मे अपनी मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति की घोषणा की।

युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति के कारण (Causes of War time Inflation)—

भारतवर्ष मे युद्धकालीन मुद्रा स्फीति के निम्नलिखित कारण थे —

(१) **मुद्रा की मात्रा में वृद्धि** – युद्ध काल मे मुद्रा की मात्रा मे तेजी के साथ विस्तार किया गया और चलन मे मुद्रा की मात्रा कई गुणा हो गई। अगस्त सन् १६३६ मे चलन मे नोटो की कुल मात्रा १७६ करोड रुपये से कुछ कम थी किन्तु मार्च १६४५ तक यह बढ कर १०८५ करोड रुपये हो गई। इस पांच वर्ष से कुछ अधिक समय मे लगभग ६०५ करोड रुपये की नई पत्र मुद्रा चलन मे डाली गई। इसके अतिरिक्त रुपये के सिक्को तथा रेजगारी की मात्रा मे भी तेजी के साथ वृद्धि हुई। इस काल मे बंको के द्वारा निर्मित साख की मात्रा भी काफी अधिक बढ गई और मार्च १६४५ तक लगभग ४६० करोड रुपये की नई साख का निर्माण किया गया। कुल मिला कर मार्च १६४५ तक सब प्रकार के विनिमय के माध्यम की मात्रा लगभग १५६५ करोड रुपये हो गई थी। केवल मुद्रा की मात्रा में ही वृद्धि नही हुई एव उसके चलन वेग मे भी काफी वृद्धि हुई। मुद्रा की मात्रा तथा उसके चलन वेग मे वृद्धि होने के कारण वस्तुओ के मूल्य तेजी के साथ बढने लगे। युद्ध काल मे नोटो की मात्रा तथा मूल्य-स्तर मे होने वाली वृद्धि नीचे दिये गये आँकडो से स्पष्ट है—

वर्ष	नोटों की संख्या (करोड़ रुपयों में)	आर्थिक सलाहकार का मूल्यांक (१६३६=१००)
१६३६	१८०	१००
१६४०	२३८	१३३
१६४१	२४५	११८
१६४२	३५३	१४५
१६४३	५६३	१६५
१६४४	८८२	२३२
१६४५	१,०३४	२५०

(२) **सरकारी व्यय में वृद्धि**—युद्ध के कारण भारत सरकार का रक्षा व्यय बहुत अधिक बढ गया था। यद्यपि भारतवर्ष लडाई का केन्द्र नही था किन्तु फिर भी भारतीय सरकार को ब्रिटिश तथा अन्य साथी देशो की फौजों के लिए भारतवर्ष मे काफी धन व्यय करना पडा। इस प्रकार के व्यय का कुछ भाग हमे ब्रिटिश सरकार से स्टर्लिंग जमा के रूप मे मिल जाता था किन्तु इस स्टर्लिंग जमा के बदले मे भारत सरकार को नई मुद्रा जारी करनी होती थी जिसके कारण मुद्रा-प्रसार की शक्तियाँ और अधिक तीव्र होती गईं। मार्च १६४५ तक भारत के लिए युद्ध का

प्रत्यक्ष व्यय लगभग २७०० और २६०० करोड रुपये के बीच मे था। इतने बडे व्यय को करो तथा सार्वजनिक ऋणो के द्वारा पूरा नही किया जा सकता था; अतः सरकार ने रिजर्व बैंक से ऋण लिया और रिजर्व बैंक ने इस भाग को पूरा करने के लिए नई मुद्रा का निर्माण किया।

(३) **भारत का इगलैंड को बड़ी मात्रा में वस्तु ऋण देना**—युद्ध काल में इंगलैंड तथा अन्य मित्र-राष्ट्रों ने भारतवर्ष से बहुत बडी मात्रा मे उपभोग सम्बन्धी वस्तुओ को खरीदा जिनका भुगतान युद्ध के पश्चात् किया जाना था। जो माल भारत से जाता था उसका तुरन्त भुगतान नही होता था बल्कि उसके बदले मे हमे स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ दी जाती थी जिनकी आड पर रिजर्व बैंक उत्पादको को भुगतान करने के लिए नई मुद्रा जारी करता था। इगलैंड ने भारत से बडी मात्रा मे वस्तु ऋण लेकर अपनी अर्थ-व्यवस्था को तो मुद्रा-प्रसार के खतरे से बचा लिया किन्तु भारत की अर्थ-व्यवस्था को भयकर मुद्रा-प्रसार की स्थिति मे डाल दिया। स्टर्लिंग प्रतिभूतियो के आधार पर किये जाने वाले मुद्रा विस्तार का अनुमान नीचे दिये गये आँकडो से लगाया जा सकता है—

वर्ष	पौण्ड पावनो की मात्रा करोड़ रुपये मे	प्रचलन मे नोट करोड़ रुपये मे
अगस्त १९३९	६४	१७६
१९३९–४०	६१	२०९
१९४०–४१	१९९	२४१
१९४१–४२	२११	३०७
१९४२–४३	३९४	५१३
१९४३–४४	७५५	७७७
१९४४–४५	११८२	९६६
१९४५–४६	१५४९	११६३
१९४६–४७	१६६२	१२२३

इस तालिका से स्पष्ट है कि युद्ध काल मे जैसे-जैसे पौण्ड पावनो की राशि बढ़ती गई, रिजर्व बैंक के द्वारा अधिक मात्रा मे मुद्रा जारी की जाती रही। अत. यह कहा जा सकता है कि युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार का एक प्रमुख कारण स्टर्लिंग निधि की आड पर नोटो का विस्तार किया जाना था।

(४) **व्यापार सन्तुलन का पक्ष मे होना**—युद्ध काल मे व्यापार सन्तुलन निरन्तर भारतवर्ष के पक्ष मे रहा। भारत से अधिकाधिक मात्रा मे निर्यात किया जा रहा था जबकि वस्तुओ की उपलब्धि न होने तथा जहाजो की कमी के कारण हमारे आयात बहुत कम हो गये थे। व्यापार सन्तुलन पक्ष मे होने के कारण हमे

स्टर्लिंग बहुत बडी मात्रा मे प्राप्त हो रहा था और इन स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के आधार पर सरकार अधिकाधिक मात्रा मे नई मुद्रा जारी करती गई जिसके परिणामस्वरूप हमारी अर्थ-व्यवस्था के ऊपर मुद्रा-प्रसार का दबाव बढता गया।

(५) वस्तुओं की दुर्लभता—युद्ध काल मे एक ओर तो वस्तुओ की कमी थी और दूसरी ओर लोगो के पास क्रय-शक्ति बहुत अधिक थी जिसके कारण वस्तुओ के मूल्य तेजी के साथ बढते जा रहे थे। वस्तुओ की दुर्लभता का मुख्य कारण उत्पत्ति मे तेजी के साथ वृद्धि न होना तथा बहुत बडी मात्रा मे आवश्यकता की वस्तुओ का निर्यात किया जाना था। सन् १९३९ से १९४५ तक कृषि उत्पादन मे केवल १५ प्रतिशत की वृद्धि हुई और औद्योगिक उत्पादन मे २५% की, जबकि इसी काल मे मुद्रा की मात्रा बढ कर कई गुणा हो गई। औद्योगिक उत्पादन मे तेजी के साथ वृद्धि न होने का कारण कच्ची सामग्री तथा मशीनो का अभाव था। कृषि उत्पादन कम होने के कारण देश मे खाद्य समस्या उत्पन्न हो गई। एक ओर तो अनाज कम पैदा हो रहा था और दूसरी ओर उसे युद्ध-क्षेत्रो को भेजा जा रहा था। विदेशों को काफी मात्रा मे सामान भेजे जाने के कारण भी देश मे वस्तुओ की कमी हो गई थी। इसके अतिरिक्त लगभग सभी प्रकार की वस्तुओ का आयात युद्धकालीन दशाओं के कारण स्थगित हो चुका था। इन्ही सब कारणो से देश मे सभी प्रकार के सामान की भारी कमी हो गई थी जो मूल्यो के बढने का मुख्य कारण था।

(६) सट्टे की प्रवृत्ति—वस्तुओ की पूर्ति अनिश्चित होने के कारण युद्धकाल मे लोगो मे सट्टे की प्रवृत्ति बहुत अधिक बढ गई थी। अधिक लाभ के उद्देश्य से व्यापारियो ने वस्तुओ का सग्रह करना आरम्भ कर दिया और इस प्रकार वस्तुओ की दुर्लभता को और भी अधिक बढा दिया गया। सट्टेबाजी की इस प्रवृत्ति ने भी वस्तुओं के मूल्यो को बढाने मे सहयोग दिया।

मुद्रा-स्फीति के प्रभाव (Effects of Inflation)—

युद्ध काल मे मुद्रा-स्फीति के कारण वस्तुओ के मूल्यो मे वृद्धि होने से व्यापारी तथा उद्योगपति वर्ग को काफी लाभ पहुँचा। वस्तुओ की माग बढ जाने तथा उनका आयात बन्द हो जाने के कारण कीमते तेजी के साथ बढ रही थी और इस वर्ग के लोगो के मुनाफे भी तेजी के साथ बढने लगे। अनाज के मूल्य ऊँचा होने के कारण किसानो को भी काफी लाभ हुआ। इन लोगो की आय बढ गई और लगभग सभी पुराने ऋणो को चुका दिया गया। औद्योगिक श्रमिको के वेतन मे कुछ वृद्धि हुई किन्तु तेजी के साथ बढने हुये रहन-सहन व्यय की तुलना मे यह वृद्धि अपर्याप्त थी। श्रमिको की वास्तविक मजदूरी पहले की अपेक्षा कम हो गई थी किन्तु उन्हे रोजगार अधिक मात्रा मे मिलने लगा। बेरोजगारी लगभग समाप्त हो गई। मध्यम वर्ग के लोगो को तथा मुख्यतः निश्चित आय वाले वर्ग को मुद्रा प्रसार के कारण विशेष कठिनाई अनुभव हुई। इस वर्ग के लोगो की आय प्रायः निश्चित थी

किन्तु रहन-सहन व्यय निरन्तर बढ़ता जा रहा था। ऐसी स्थिति में इन लोगों के लिए अपने आवश्यक व्यय को पूरा करना भी सम्भव नहीं था। युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति का उत्पत्ति के ऊपर अच्छा प्रभाव पड़ा और लगभग सभी वस्तुओं का उत्पादन अधिक मात्रा में किया जाने लगा किन्तु इस समृद्धि का लाभ समाज के केवल कुछ वर्गों को ही प्राप्त हो सका। मुद्रा-स्फीति के कारण देश में धन का वितरण और अधिक असमान हो गया। धनी वर्ग और अधिक धनी होने लगा तथा निर्धन वर्ग अधिक कठिनाइयों में फँस गया।

मुद्रा-स्फीति विरोधी उपाय (Anti Inflationary Measures)—

यद्यपि सन् १९४८ से पूर्व मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए एक सुव्यवस्थित सरकारी नीति का निर्माण नहीं किया जा सका किन्तु फिर भी तेजी के साथ बढ़ते हुये मूल्यों को रोकने के सरकार ने कुछ उपाय किये जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(१) मूल्य नियन्त्रण तथा राशनिंग—सरकार ने अनिवार्य वस्तुओं के मूल्यों को बढ़ने से रोकने के लिए तथा अल्प पूर्ति वाली वस्तुओं के उचित वितरण के उद्देश्य से मूल्य नियन्त्रण तथा राशनिंग की नीति को अपनाया। युद्ध आरम्भ होने ही सरकार ने ऐसे नियम बना दिये जिससे कि अनिवार्य वस्तुओं के मूल्यों में १०% से अधिक वृद्धि न हो सके। दिसम्बर सन् १९४२ से देश में अन्न के वितरण के लिए राशनिंग व्यवस्था लागू कर दी गई। कपड़ा तथा कुछ अन्य वस्तुओं के मूल्यों पर नियन्त्रण कर दिया गया। किन्तु सरकार की मूल्य नियन्त्रण तथा राशनिंग की नीति अधिक सफल न हो सकी। इसके परिणामस्वरूप देश में चोर-बाजारी तथा मुनाफाखोरी की बुराइयाँ पैदा हो गईं। इस नीति की असफलता का मुख्य कारण सरकारी कर्मचारियों में भ्रष्टाचार तथा उसे रोकने के लिए जनता का सहयोग प्राप्त न होना था।

(२) करों में वृद्धि—जनता के पास से अतिरिक्त क्रय-शक्ति को निकालने के लिए सरकार ने कुछ नये कर लगाये तथा वर्तमान करों को बढ़ा दिया गया। आय-कर के ऊपर २५% का अतिरिक्त कर (Surcharge) लगा दिया गया जिसे १९४२ में बढ़ा कर ३३⅓% कर दिया गया। सन् १९४२ में अधिक लाभ-कर (Excess Profit Tax) में भी वृद्धि की गई। कुछ नई वस्तुओं पर उत्पादन-कर लगा दिया गया। इस प्रकार करों के द्वारा सरकार जनता की अतिरिक्त क्रय-शक्ति को कम करने में सफल हो सकी और अर्थ-व्यवस्था पर मुद्रा-प्रसार के भार को कम किया जा सका।

(३) अधिक मात्रा में सार्वजनिक ऋण—जनता के पास अतिरिक्त क्रय-शक्ति को कम करने के लिए सरकार ने अधिक मात्रा में सार्वजनिक ऋण लिए।

डिफैंस सेविंग्स एकाउन्ट तथा नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट्स के द्वारा सरकार ने जनता से काफी मात्रा में ऋण लिया।

(४) सट्टेबाजी को बन्द करना—सरकार ने बहुत-सी वस्तुओं के भविष्य सम्बन्धी सौदे करने पर प्रतिबन्ध लगा दिये तथा सट्टेबाजी को बन्द करने के लिए प्रयत्न किया।

(५) बचत को प्रोत्साहन—अतिरिक्त आय को बाजार में पहुँचने से रोकने के लिए सरकार ने अल्प बचत को प्रोत्साहन देने की योजना चलाई। इस प्रकार की बचतों पर दिये जाने वाले व्याज को बढा दिया गया तथा इस सम्बन्ध में अन्य प्रकार की सुविधायें भी दी गईं।

(६) अधिक उत्पादन—सरकार ने उत्पादन को बढाने के लिए भरसक प्रयत्न किया। विशेषकर अनाज का उत्पादन बढाने के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' आरम्भ किया गया। औद्योगिक उत्पादन को बढाने के लिए भी सरकार ने अन्य प्रकार के प्रोत्साहन दिये। नये उद्योगों को ५ वर्ष के लिए आय-कर से मुक्त कर दिया गया।

उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त सरकार ने अपने व्यय को कम करके बजट को सन्तुलित करने तथा आयात सम्बन्धी नीति को ढीला करके वस्तुओं की पूर्ति को बढाने का प्रयत्न किया। किन्तु इन सब उपायों के द्वारा मुद्रा-स्फीति को रोकने में सरकार को अधिक सफलता न मिल सकी। इसका मुख्य कारण यह था कि सरकार अभी तक एक सुव्यवस्थित मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति का निर्माण नहीं कर सकी थी।

युद्धोत्तरकालीन मुद्रा-स्फीति तथा उसके कारण
(Post-war Inflation & its Causes)—

यद्यपि यह आशा की जाती थी कि युद्ध की दशायें समाप्त हो जाने के साथ-साथ मुद्रा-स्फीति की स्थिति का भी अन्त हो जायेगा किन्तु युद्धोत्तरकाल में भी मुद्रा-स्फीति का दबाव बराबर बना रहा और पहले से भी अधिक भयंकर रूप धारण कर गया। जिन कारणों से युद्धकालीन स्फीति पैदा हुई थी वे तो धीरे-धीरे समाप्त होने लगे किन्तु उनके स्थान पर कुछ नये कारण पैदा हो गये जिन्होंने मुद्रा-स्फीति को बनाये रखने में सहायता दी। मुद्रा-स्फीति धीरे-धीरे भयंकर रूप धारण कर गई और सामान्य मूल्य-स्तर तेजी के साथ बढने लगा। भारत सरकार के आर्थिक सलाहकार का थोक मूल्यों का निर्देशांक, जो अगस्त १९४५ में २४४·१ था, मार्च १९४८ में ४०२·४ हो गया। युद्धोत्तरकालीन मुद्रा-स्फीति के निम्नलिखित कारण थे—

(१) मुद्रा का विस्तार—जून सन् १९४६ के पश्चात् ब्रिटिश सरकार के भारत में सैनिक व्यय को पूरा करने के लिए नये नोटों को छापने का कार्य लगभग समाप्त हो चुका था। उसके पश्चात् भारतीय सरकार के घाटे को पूरा करने के

लिए हीनार्थ-प्रबन्धन (Deficit Financing) की नीति को अपनाया गया। अगस्त सन् १९४७ के पश्चात् *देश के विभाजन, शरणार्थियों को बसाने, काश्मीर युद्ध* तथा हैदराबाद में पुलिस कार्यवाही के कारण भारत सरकार का घाटा बहुत अधिक बढ़ गया था। इस बढ़े हुये खर्च को पूरा करने के लिए अधिक मात्रा में नोट चलाये गये और मार्च १९४८ में नोटों की मात्रा बढ़कर १३१६.६८ करोड़ रुपये हो गई। इस प्रकार युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति तो ब्रिटिश सरकार के घाटे के कारण पैदा हुई थी किन्तु युद्धोत्तरकालीन मुद्रा-स्फीति का मुख्य कारण भारत सरकार का घाटा था।

(२) घाटे के बजट (Deficit Budgets)—यद्यपि केन्द्रीय सरकार के रक्षा व्यय में काफी कमी हो गई थी किन्तु फिर भी केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के बजट असंतुलित थे। अनाज पर दी जाने वाली सहायता, शरणार्थियों पर किये जाने वाला व्यय तथा शासन प्रबन्ध सम्बन्धित व्यय में अधिक वृद्धि हो जाने के कारण केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के बजट निरन्तर घाटे में चल रहे थे। बजट के इस घाटे को पूरा करने के लिए सरकार को अधिक मात्रा में नई मुद्रा का निर्माण करना पड़ा जिसके कारण देश में मुद्रा-प्रसार का दबाव बढ़ता गया।

(३) मूल्य नियन्त्रण का हटा देना (Decontrol)—दिसम्बर सन् १९४७ में सरकार ने अनियन्त्रण की नीति को अपना लिया और अनाज तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं को मूल्य नियन्त्रण से मुक्त कर दिया गया तथा राशनिंग व्यवस्था को भी तोड़ दिया गया। बहुत से लोगों ने इसका विरोध किया किन्तु सरकार ने परिणामों को न सोचते हुये १० दिसम्बर १९४७ को अनाज के अनियन्त्रण की घोषणा कर दी। अनियन्त्रण होते ही अनाज के मूल्य तेजी के साथ बढ़ने लगे और मुद्रा-प्रसार की शक्तियाँ और अधिक प्रभावशाली हो गईं।

(४) उत्पादन में कमी—युद्धोत्तरकालीन मुद्रा-स्फीति का एक महत्वपूर्ण कारण वस्तुओं के उत्पादन का गिरना था। युद्ध के पश्चात् वस्तुओं की माग काफी बढ़ गई किन्तु कुछ कारणों से कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन गिरने लगा। सरकार की अनिश्चित औद्योगिक नीति, मशीनों की कमी, औद्योगिक झगड़े तथा मजदूरी में वृद्धि कुछ ऐसे कारण थे जिनकी वजह से औद्योगिक उत्पादन कम हो गया था।

(५) अनाज की कमी—युद्धोत्तर काल में खाद्य स्थिति बहुत चिन्ताजनक हो गई और विशेषकर विभाजन के पश्चात् तो खाद्य समस्या एक भयंकर रूप धारण कर गई। सन् १९४६ में पंजाब, मद्रास तथा बम्बई में वर्षा की कमी के कारण फसल खराब हो गई और सरकार ने लगभग ६० लाख टन अनाज की कमी का अनुमान लगाया। विभाजन के पश्चात् खाद्य स्थिति और अधिक खराब हो गई क्योंकि अनाज पैदा करने वाला बहुत-सा क्षेत्र पाकिस्तान में चला गया जबकि वहाँ से बहुत-सी जनसंख्या भारतवर्ष आ गई।

(६) देश का विभाजन—सन् १६४७ मे देश का विभाजन हो जाने से बहुत से शरणार्थी पाकिस्तान से भारतवर्ष मे आ गये। इसके विपरीत भारत से पाकिस्तान जाने वालो की सख्या बहुत कम थी। पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थी अपने साथ बहुत बडी मात्रा मे मुद्रा लाये जबकि वे वस्तुये जिन पर इस मुद्रा को खर्च किया जाना था, पाकिस्तान मे ही रह गईं। इस प्रकार देश मे क्रय-शक्ति तो बढी किन्तु उसके साथ वस्तुओ की मात्रा मे कोई वृद्धि नही हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि वस्तुओ के मूल्य और अधिक बढ गये।

(७) रुपये का अवमूल्यन—सन् १६४६ मे स्टर्लिंग का अवमूल्यन किये जाने पर रुपये का अवमूल्यन भी कर दिया गया। अवमूल्यन के कारण हमारी आयात बहुत कम हो गई तथा हमारे देश से अधिक मात्रा मे सामान बाहर जाने लगा। देश मे वस्तुओ की और अधिक कमी हो गई और उनके मूल्य बढने लगे।

सरकार की मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति
(Anti Inflationary Policy of the Government)—

युद्ध काल मे भारत सरकार ने मुद्रा-स्फीति को रोकने की ओर अधिक ध्यान नही दिया किन्तु युद्ध के पश्चात् स्थिति इतनी गम्भीर हो गई कि सरकार के लिए बढते हुए मूल्य-स्तर को रोकना आवश्यक हो गया। सन् १६४८ के मध्य मे सरकार ने कुछ प्रमुख अर्थशास्त्रियो से इस सम्बन्ध मे परामर्श किया और उनके द्वारा दिये गये सुझावो के आधार पर एक मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति का निर्माण किया गया। इस नीति की घोषणा अक्तूबर सन् १६४८ के प्रथम सप्ताह मे की गई। इस नीति के दो प्रमुख आधार थे—प्रथम, चलन मे मुद्रा की मात्रा को कम करना तथा द्वितीय, उत्पादन मे वृद्धि करना। इस नीति के अन्तर्गत सरकार ने मुद्रा-प्रसार को रोकने के निम्नलिखित उपाय किए—

(१) अनाज तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं पर फिर से मूल्य नियन्त्रण—वस्तुओ पर से मूल्य नियन्त्रण हटाने के कारण जो मूल्यो मे वृद्धि हो रही थी उसे रोकने के लिए मूल्य नियन्त्रण की नीति को दुबारा अपनाया गया। सरकार ने खाद्यान्नो के मूल्यो को एक निश्चित सीमा से आगे न बढने देने का निश्चय किया। अनाजो के अधिकतम मूल्य निश्चित कर दिये गये और इन वस्तुओ के मूल्यों को अधिक न बढने देने के उद्देश्य से अधिक मात्रा मे गेहूँ तथा अन्य प्रकार के अनाजो का आयात किया गया। इसके अतिरिक्त कुछ एक औद्योगिक वस्तुओ मे मूल्य तथा उनके वितरण पर भी नियन्त्रण कर दिया गया।

(२) सरकारी व्यय में कमी—बजट को संतुलित रखने के लिए सरकार ने अपनी आय को बढाने तथा व्यय को कम करने का प्रयत्न किया। फालतू कर्मचारियो को हटा दिया गया, शिक्षा व सामाजिक व्यय मे कमी की गई तथा रक्षा सम्बन्धी व्यय को भी कम करने का प्रयत्न किया गया। इस प्रकार मितव्ययिता की

नीति के द्वारा सरकारी बजट के घाटे को दूर कर दिया गया। इसके अतिरिक्त बजट के घाटे को पूरा करने के लिए कुछ नये कर लगाये गये। मुद्रा-स्फीति को दूर करने के लिए सरकार ने बचत वाले बजट बनाये। घाटे के बजटों के एक लम्बे समय के पश्चात् १९५१–५२ के बजट में ६१ ६१ करोड़ रुपये की बचत का अनुमान था। इस प्रकार कुछ समय के लिए सरकार ने हीनार्थ-प्रबन्धन की नीति का परित्याग कर दिया।

(३) प्रचलन में मुद्रा की मात्रा को कम करना—सरकार ने मुद्रा-स्फीति रोकने के लिए चलन में मुद्रा की मात्रा को कम करने का प्रयत्न किया। कुछ नये कर लगाये गये तथा वर्तमान करों में वृद्धि की गई। सरकार ने अपने व्यय को कम किया और तीन वर्ष के लिए जमींदारों के मुआवजे तथा अन्य प्रकार के भुगतानों को रोक दिया गया। ब्याज की ऊँची दर देकर सरकार ने अधिक मात्रा में सार्वजनिक ऋण प्राप्त किये। मुद्रा का अधिक विस्तार बन्द कर दिया गया। लोगों के पास लाभ के रूप में अधिक आय न जा सके, इस उद्देश्य से लाभांश नियन्त्रण कानून लागू कर दिया गया, जिसके अन्तर्गत कम्पनियों के द्वारा दिये जाने वाले लाभांश पर ६% की सीमा लगा दी गई।

(४) उत्पादन में वृद्धि—सरकार ने कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रोत्साहन दिये। अच्छे बीज, अधिक खाद तथा सिंचाई की सुविधाओं को बढ़ाकर 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' को सफल बनाने का प्रयत्न किया गया। अनाज के अतिरिक्त औद्योगिक कच्चे माल जैसे कपास, पटसन तथा गन्ने का उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न भी किया गया। उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने नये उद्योगों को तीन वर्ष के लिए आय-कर से छूट दे दी। निजी विनियोगों को प्रोत्साहन देने के लिए राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को १० वर्ष के लिए स्थगित कर दिया गया। उद्योग-धन्धों के लिए अधिक मात्रा में कच्चा माल तथा अर्धनिर्मित वस्तुयें आयात करने का प्रबन्ध किया गया।

(५) बचत को प्रोत्साहन—लोगों की अतिरिक्त आय को बाजार में न पहुँचने देने तथा औद्योगिक पूँजी को बढ़ाने के उद्देश्य से जनता के द्वारा अधिक मात्रा में बचत करने पर विशेष जोर दिया गया। अल्प बचत योजना का विस्तार किया गया तथा उसे एक आन्दोलन का रूप दे दिया गया। अगस्त सन् १९४९ में अनिवार्य बचत योजना को लागू कर दिया गया। ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक बचत इकट्ठा करने के लिए गाँव के डाकखानों में सेविंग्स बैंक खाते खोलने का प्रचार किया गया।

(६) मौद्रिक उपाय—मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए सरकार ने कुछ मुद्रा तथा बैंकिंग सम्बन्धी उपाय भी किए। सन् १९४९ में बैंकों के लिए अपनी जमा का २५% सरकारी प्रतिभूतियों में रखना अनिवार्य कर दिया गया। साख पर

नियन्त्रण करने के लिए नवम्बर सन् १९५१ में बैंक दर को ३% से बढ़ाकर ३½% कर दिया गया।

सरकार की मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति के परिणामस्वरूप वस्तुओं के मूल्यों में कुछ स्थिरता आई और कीमतों की वृद्धि की गति धीमी हो गई किन्तु इस नीति को स्थायी सफलता न मिल सकी और कुछ समय पश्चात् ही मूल्य-स्तर में वृद्धि फिर से आरम्भ हो गई। डा० ब्राइट सिंह के अनुसार सरकार की मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति इसलिए अधिक सफल न हो सकी क्योंकि सरकार ने अपनी कर, लोक ऋण तथा सार्वजनिक व्यय की नीति को मुद्रा-प्रसार पर नियन्त्रण पाने की दृष्टि से बनाने का प्रयास नहीं किया। जून सन् १९५० के पश्चात् कोरियन युद्ध (Korean War) की दशाओं के कारण मूल्य सूचक अंक तेजी से बढ़ने लगा और अप्रैल १९५१ में ४५७·५ हो गया। कोरियन युद्ध के पश्चात् भी कुछ अन्तर्राष्ट्रीय कारणों से मूल्य-स्तर के बढ़ने की प्रवृत्ति कुछ समय तक जारी रही।

१९५२ के मुद्रा-प्रसार विरोधी उपाय

सन् १९५२ में सरकार ने बढ़ते हुए मूल्यों को रोकने तथा मुद्रा-प्रसार पर नियन्त्रण करने के लिए कुछ उपाय किए जिनमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार थे—(i) सरकारी व्यय को कम से कम रखा जाय, (ii) आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति को बढ़ाना, (iii) प्रचलन में मुद्रा की मात्रा को कम करना। सरकार ने साख नियन्त्रण, अधिक कर लगाकर तथा बचत को प्रोत्साहन देकर चलन में मुद्रा की मात्रा को कम करने का प्रयत्न किया। प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों में काफी वृद्धि की गई तथा साख नियन्त्रण की नीति को अपनाया गया। सरकार की मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति को कुछ सफलता मिली किन्तु वह उतनी नहीं थी जितनी की आशा की गई थी। अधिक सफलता न मिलने का मुख्य कारण यह था कि सरकारी नीति में मौद्रिक कारणों पर अधिक जोर दिया गया था जबकि भारतीय मुद्रा-स्फीति मुख्यतः मौद्रिक कारणों से उत्पन्न नहीं हुई थी। इसके अतिरिक्त इस नीति में साख संकुचन तथा करों में वृद्धि करने पर अधिक जोर दिया गया जिसके कारण औद्योगिक उत्पादन गिरने लगा और अर्थ-व्यवस्था पर मुद्रा-स्फीति का दबाव बढ़ गया। मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति इसलिए भी असफल रही क्योंकि सरकार को घाटे की वित्त-व्यवस्था सम्बन्धी व्यय के लिए हीनार्थ-प्रबन्धन की नीति को अपनाना पड़ा।

किन्तु इन सब कमजोरियों के होते हुए भी मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति सफल रही और जुलाई सन् १९५२ में आर्थिक स्थिति में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ। युद्धोत्तर काल में प्रथम बार ऐसा लगा कि मुद्रा-स्फीति की दशायें समाप्त हो गई हैं। वस्तुओं के मूल्य गिरने की प्रवृत्ति दिखला रहे थे।

मई सन् १९५५ से मूल्यों ने फिर से बढ़ना आरम्भ कर दिया और थोक मूल्यों का सूचकांक जो मई सन् १९५५ में ३४२ था बढ़कर अक्तूबर १९५५ में

५५७·२ हो गया और जुलाई सन् १९५६ मे गिरकर ४०६ रह गया। अनाज के मूल्यो मे अन्य वस्तुओ की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई। इस मूल्य वृद्धि का मुख्य कारण सरकार की अनाज के मूल्य सम्बन्धी नीति थी जिसके अन्तर्गत गेहूँ, ज्वार, बाजरा तथा मक्का आदि के भावो को गिरने से रोका गया। इसके अतिरिक्त सरकार ने रुई, तेल के बीज तथा तेल, कॉफी आदि के निर्यात के कोटा मे वृद्धि कर दी, कुछ वस्तुओ पर निर्यात-कर कम कर दिये गये अथवा उन्हे हटा दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि देश मे वस्तुओ की पूर्ति कम हो गई। प्रथम तथा द्वितीय पचवर्षीय योजनाओ पर बहुत बडी मात्रा मे व्यय किये जाने के कारण मूल्य वृद्धि की यह प्रवृत्ति तीव्र हो गई और देश मे फिर से मुद्रा-स्फीति की दशायें उत्पन्न हो गई।

योजना काल में मुद्रा-प्रसार

(Inflationary Trends During the Plan Period)

भारतवर्ष मे वर्तमान मुद्रा-स्फीति का मुख्य कारण हमारी विकास योजनाओ पर किया जाने वाला पूँजीगत व्यय है। इस समय हमारे देश मे एक प्रकार का विकास सम्बन्धी मुद्रा-प्रसार है जो युद्धकालीन तथा युद्धोत्तरकालीन मुद्रा-स्फीति से बिल्कुल भिन्न है। इस प्रकार का मुद्रा-प्रसार प्राय: विकास की आरम्भिक अवस्था मे उत्पन्न हो जाया करता है। ऐसा मुद्रा-प्रसार स्वय ठीक होने की प्रवृत्ति रखता है क्योकि आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप उत्पादन मे होने वाली वृद्धि कुछ समय पश्चात् उसे अपने आप ठीक कर देती है। इस प्रकार का मुद्रा-प्रसार हमारे देश के लिए उतना खतरनाक नही है जितना कि युद्धकालीन तथा युद्धोत्तरकालीन मुद्रा-प्रसार था। यह मुद्रा-प्रसार हमारे आर्थिक विकास मे सहायक भी हो सकता है यदि उस पर उचित नियन्त्रण रखा जाय। किन्तु नियन्त्रण से बाहर हो जाने पर यह मुद्रा-प्रसार भी देश की अर्थ-व्यवस्था को काफी नुकसान पहुँचा सकता है। यदि कीमतो की प्रवृत्ति निरन्तर बढने की रहती है और वे काफी तेजी के साथ बढती है तो इस प्रकार की स्थिति आर्थिक विकास के लिए हानिप्रद हो सकती है। कीमतो की अत्यधिक वृद्धि योजना व्यय को बढा देती है तथा धन के वितरण की असमानताएँ उत्पन्न करती है। अत योजना काल मे कीमत-स्तर पर उचित नियन्त्रण रखना आवश्यक है। धीरे-धीरे बढता हुआ मूल्य-स्तर आर्थिक विकास मे सहायक हो सकता है किन्तु तेजी के साथ बढती हुई कीमते भयकर परिणाम पैदा कर सकती हैं।

प्रथम योजना काल मे मूल्य सम्बन्धी स्थिति सतोषजनक थी। आर्थिक विकास पर अधिक व्यय किये जाने पर भी मूल्य-स्तर मे कोई वृद्धि नही हुई और मूल्यो की प्रवृत्ति नीचे गिरने की थी। योजना काल मे सरकार के द्वारा अपनाये जाने वाले मुद्रा-प्रसार विरोधी उपायो के कारण मूल्य-स्तर की वृद्धि रुक गई थी

और वस्तुओं के मूल्य गिरने की प्रवृत्ति दिखला रहे थे। प्रथम योजना के अन्त में कीमतें उसके आरम्भ की अपेक्षा १३%नीची थी जबकि इसी काल मे जनता के पास मुद्रा की पूर्ति मे लगभग १०% की वृद्धि हुई। इस योजना पर २००० करोड रुपया व्यय किये जाने पर भी कीमत-स्तर गिरने की प्रवृत्ति दिखला रहा था। यह एक आश्चर्यजनक बात थी। ऐसा लगता था कि अब मुद्रा-प्रसार का खतरा समाप्त हो गया है। इसी आशावाद के कारण सरकार ने दूसरी योजना मे हीनार्थ-प्रबन्धन का लक्ष्य काफी ऊँचा निश्चित किया। जबकि प्रथम योजना काल मे केवल ४२० करोड़ रुपये का हीनार्थ-प्रबन्धन किया गया, दूसरी पचवर्षीय योजना के लिए यह लक्ष्य १२०० करोड रुपये रक्खा गया।

दूसरी योजना काल मे कीमतों की वृद्धि

(Price Rise During The Second Five Year Plan)—

द्वितीय पचवर्षीय योजना के आरम्भ होने के समय कीमतो मे काफी स्थिरता थी और उन पर मुद्रा-प्रसार का दबाव बहुत कम हो गया था। दूसरी योजना मे ४८०० करोड रुपये व्यय किए जाने का निश्चय किया गया। कीमतो की सतोषजनक स्थिति को देखकर सरकार ने द्वितीय पचवर्षीय योजना काल मे १२०० करोड रुपये का व्यय किए जाने का हीनार्थ-प्रबन्धन करने का निश्चय किया। उस समय सरकार का विश्वास था कि इतना अधिक हीनार्थ-प्रबन्धन होते हुए भी देश मे मुद्रा-प्रसार का खतरा पैदा होने की सम्भावना नही है किन्तु वास्तविक अनुभव इसके बिल्कुल विपरीत रहा और दूसरी योजना के प्रथम वर्ष मे ही कीमतो ने बढना आरम्भ कर दिया। अनाज की कीमतो मे बहुत तेजी के साथ वृद्धि हुई और मुद्रा-प्रसार का खतरा फिर से उत्पन्न हो गया। दिसम्बर सन् १९५६ मे स्थिति इतनी बिगड गई थी कि राष्ट्रीय विकास परिषद् (National Development Council) को बढते हुए मूल्यो के कारण पैदा होने वाली स्थिति पर विचार करना पडा। मुद्रा-प्रसार का बुरा प्रभाव योजना के ऊपर भी पडा और यह अनुमान किया गया कि ४८०० करोड रुपये के स्थान पर योजना को पूरा करने के लिए ५५०० करोड़ रुपये व्यय करने पडेंगे। योजना व्यय को निश्चित सीमा के भीतर रखने के लिए १९५७ मे योजना के लक्ष्यो को कम करने की बातचीत की जाने लगी। इस प्रकार द्वितीय पचवर्षीय योजना काल मे हमारे देश मे फिर से मुद्रा-प्रसार की दशायें उत्पन्न हो गई। सरकार ने मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिए कुछ उपाय भी किये किन्तु कीमत-स्तर निरन्तर बढता गया। द्वितीय पचवर्षीय योजना काल मे मूल्य-स्तर के बढने की प्रवृत्ति अगले पृष्ठ पर दी हुई तालिका मे विदित है।

उस तालिका को देखने से पता चलता है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल मे कीमत-स्तर निरन्तर बढता रहा है। यह वृद्धि सन् १९५८ के पश्चात् विशेष रूप से तेज हो गई है। दूसरी योजना के पाँच वर्षों मे मूल्य-स्तर में लगभग २५% की

सामान्य कीमतों का निर्देशांक
(आधार १९५२-५३=१००)

वर्ष	निर्देशांक
१९५५-५६	९२.५
१९५६-५७	१०५.३
१९५७-५८	१०८.४
१९५८-५९	११२.९
१९५९-६०	११७.१

वृद्धि हुई है। कीमत-स्तर में बढ़न की यह प्रवृत्ति तीसरी योजना काल में भी बराबर बनी रही है।

तीसरी योजना काल में कीमतों के बढ़ने की प्रवृत्ति
(Rising Trend of Prices During III Five Year Plan)—

तीसरी पंचवर्षीय योजना आरम्भ होने के समय अर्थ-व्यवस्था पर मुद्रा-प्रसार का दबाव काफी बढ़ गया था। इस योजना पर १०,४०० करोड़ रुपया खर्च करने की व्यवस्था की गई है। अर्थ-व्यवस्था में इतना अधिक विनियोग होने से तथा जनसंख्या के तेजी के साथ बढ़ने के कारण वस्तुओं की माँग में काफी वृद्धि हो गई है जबकि वस्तुओं की पूर्ति को इतनी अधिक मात्रा में नहीं बढ़ाया जा सका है। इसके परिणामस्वरूप कीमत स्तर की प्रवृत्ति बढ़ते रहने की रही है। योजना के अन्तिम दो वर्षों में तो कीमतें इतनी अधिक बढ़ी हैं कि मुद्रा-प्रसार एक भयंकर रूप धारण कर गया है। यद्यपि तीसरी योजना में घाटे की अर्थ-व्यवस्था (Deficit Financing) की मात्रा केवल ५५० करोड़ रुपये रक्खी गई है जो दूसरी योजना की तुलना में बहुत कम है किन्तु फिर भी कीमत-स्तर पर मुद्रा-प्रसार का दबाव निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। सितम्बर सन् १९६४ में कीमतें १९५९-६० की अपेक्षा लगभग ४२% ऊँची थी। पिछले पाँच वर्षों में कीमत-स्तर के बढ़ने की प्रवृत्ति अगले पृष्ठ पर दिये आँकड़ों से स्पष्ट है।

इस तालिका को देखने से पता चलता है कि कीमतों में सबसे अधिक वृद्धि सन् १९६३ के पश्चात् हुई और सन् १९६४ के अन्तिम महीने में तो कीमतों की वृद्धि सब सीमाओं को लाँघ गई है। वित्त मन्त्री श्री कृष्णमाचारी ने १९६५-६६ का बजट प्रस्तुत करने से पूर्व अपने आर्थिक सर्वेक्षण में बतलाया कि सन् १९६३-६४ में थोक मूल्यों में ९.१ प्रतिशत की वृद्धि हुई और वर्तमान वित्तीय वर्ष के पहले १० महीनों में १४ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

सामान्य कीमतों का निर्देशांक
(आधार १९५२-५३=१००)

वर्ष	निर्देशांक
१९५९-६०	११७·१
१९६०-६१	१२४·९
१९६१-६२	१२५·१
१९६२-६३	१२७·९
१९६३-६४	१३५·३
सितम्बर १९६४	१५८·८
नवम्बर १९६४	१५६·८

योजना कालीन मुद्रा-प्रसार के कारण
(Causes of Plan Period Inflation)—

(१) **अधिक मात्रा मे हीनार्थ-प्रबन्धन**—आर्थिक विकास की योजनाओ के लिए सरकार ने काफी बडी मात्रा मे हीनार्थ-प्रबन्धन किया है जिसका प्रभाव कीमत-स्तर मे वृद्धि करने का रहा है। विशेषतया दूसरी योजना काल मे बहुत बडी मात्रा मे हीनार्थ-प्रबन्धन किया गया जो वर्तमान मुद्रा-प्रसार के लिए मुख्यतया जिम्मेदार है। डा० कालडोर (Dr. Kaldor) ने सन् १९५६ मे यह बतलाया था कि भारत की अर्थ-व्यवस्था अधिक से अधिक १५० करोड रुपये वार्षिक अथवा ५ वर्षो मे ८०० करोड रुपये के हीनार्थ-प्रबन्धन के भार को उठा सकती है। किन्तु दूसरी योजना मे हीनार्थ-प्रबन्धन का लक्ष्य १२०० करोड रुपया रक्खा गया और वास्तव मे ९४८ करोड रुपये का हीनार्थ-प्रबन्धन इस काल मे किया गया जो बहुत अधिक था और जिसके कारण देश मे मुद्रा व साख की मात्रा तेजी के साथ बढी है। प्रचलन मे मुद्रा की मात्रा जो सन् १९५६ मे २१७८·७ करोड रुपये थी, सन् १९६१ मे बढ कर २८७३·७ करोड रुपये हो गई और नवम्बर सन् १९६४ मे यह मात्रा ३८४१·८६ करोड रुपये थी। मुद्रा की इस बढती हुई मात्रा ने कीमतो पर अत्यधिक दबाव पैदा कर दिया है जिसके कारण उनकी प्रवृत्ति तेजी के साथ बढ़ने की रही है।

(२) **जनसंख्या में तेजी के साथ वृद्धि**—योजना काल मे देश की जनसंख्या बहुत तेजी के साथ बढी है जिसके कारण उपभोग की वस्तुओ की माग बहुत बढ गई है। दूसरी और तीसरी योजना काल मे जनसख्या २% प्रतिवर्ष से भी अधिक दर से बढी है जिसके कारण विभिन्न प्रकार की वस्तुओ की माग मे उनकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ वृद्धि हुई है और वस्तुओ की इस कमी के कारण कीमते निरन्तर बढती रही है।

(३) कृषि वस्तुओं के उत्पादन में कमी—सन् १९५७–५८ तथा १९५९–६० में फसलें अच्छी नहीं थीं। सन् १९५९–६० में अनाज का उत्पादन पहले वर्ष की अपेक्षा ४० लाख टन कम था। रूई का उत्पादन १०% प्रतिशत कम था, जूट का १२% तथा तेल के बीजों का उत्पादन में ८% की कमी थी। सन् १९६१–६२ में अनाज का उत्पादन १९६०–६१ की अपेक्षा कुछ कम था तथा अन्य कृषि वस्तुओं की उपज में बहुत मामूली वृद्धि हुई। इस सबका प्रभाव कृषि वस्तुओं के मूल्यों को ऊँचा रखने का रहा है तथा सामान्य कीमत-स्तर पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ा।

(४) उपभोग सम्बन्धी वस्तुओं के उत्पादन में कम वृद्धि—योजना नीति के अन्तर्गत उपभोग सम्बन्धी वस्तुएँ बनाने वाले उद्योगों को विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया गया है जिसके कारण देश में उपभोग सम्बन्धी वस्तुओं की पूर्ति बहुत कम तेजी के साथ बढ़ी है। दूसरी तथा तीसरी योजना में पूँजीगत वस्तुओं के निर्माण पर अधिक जोर दिया गया है तथा कच्चे माल का उत्पादन बढ़ाया गया है। उपभोग सम्बन्धी वस्तुओं की कमी के कारण कीमतें निरन्तर बढ़ती रही हैं।

(५) अधिक निर्यात—सरकार की निर्यात प्रोत्साहन नीति के अन्तर्गत अधिक मात्रा में उपभोग की वस्तुएँ तथा कच्चा माल विदेशों को भेजा जा रहा है जिसके कारण देश में वस्तुओं की पूर्ति कम हो गई है। इसके विपरीत उपभोग की वस्तुओं का आयात बहुत कम कर दिया गया है।

(६) कीमतें स्थिर रखने में सरकार को असफलता—मूल्य-नियन्त्रण तथा नियमन के द्वारा सरकार कीमतों को स्थिर रखने में असफल रही है। अभी तक भी सरकार एक उचित मूल्य नीति का निर्माण नहीं कर सकी है। सरकार की इस असफलता से व्यापारी वर्ग ने खूब लाभ उठाया है और वस्तुओं का संग्रह, चोर-बाजारी तथा मुनाफाखोरी के कारण वस्तुओं के मूल्य बहुत अधिक ऊँचे उठ गये हैं।

मुद्रा-प्रसार विरोधी उपाय (Anti-Inflationary Measures)—

सरकार ने योजना कालीन मुद्रा-प्रसार पर नियन्त्रण करने के लिए विभिन्न प्रकार के उपाय किये हैं जिनमें मौद्रिक (Monetary) तथा अमौद्रिक (Non-Monetary) दोनों ही प्रकार के उपाय सम्मिलित हैं। यद्यपि कीमतों की वृद्धि रोकने में अधिक सफलता नहीं मिली है किन्तु फिर भी इस दिशा में सरकार ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिए सरकार ने निम्नलिखित उपाय किये हैं—

(१) साख पर नियन्त्रण—कीमतों को रोकने के लिए सरकार ने मुद्रा व साख की मात्रा को रोकने के विशेष प्रयत्न किये हैं। रिजर्व बैंक ने इस उद्देश्य के लिए साख के प्रयोग पर नियन्त्रण (Selective Credit Control) किया है। सन् १९५९–६० में रिजर्व बैंक ने सर्वप्रथम बैंकों के सुरक्षित कोष के अनुपात में

परिवर्तन करने की नीति का प्रयोग किया। मई सन् १६५७ मे बैंक-दर ३½ प्रतिशत से बढ़ा कर ४ प्रतिशत कर दी गई। सन् १६६३ मे बैंक दर मे फिर वृद्धि की गई और उसे ४½ प्रतिशत पर निश्चित कर दिया गया। सन् १६६४ मे कीमतो की तेजी के साथ बढने की प्रवृत्ति को रोकने के लिए रिजर्व बैंक ने अपनी साख नीति को और अधिक कडा करने का निश्चय किया और सितम्बर सन् १६६४ मे बैंक दर को बढा कर ५% कर दिया गया। इसके अतिरिक्त साख के विस्तार को रोकने के लिए और भी उपाय किये गये। रिजर्व बैंक की साख-विस्तार विरोधी नीति कीमतो की वृद्धि को रोकने मे अधिक सफल न हो सकी और कीमतें तेजी के साथ बढती गईं। कीमत-स्थिति से चिन्तित होकर रिजर्व बैंक ने १७ फरवरी सन् १६६५ को फिर बैंक दर मे वृद्धि की और उसे ६ प्रतिशत कर दिया गया। पिछले ४ महीनो मे बैंक दर मे दो बार वृद्धि होना इस बात का प्रमाण है कि देश मे मुद्रा-प्रसार की शक्तियां अधिक तीव्र हो गई है और उन्हे नियन्त्रित करना अनिवार्य है। रिजर्व बैंक ने कुछ अन्य उपाय भी किये है जिससे कि व्यापारिक बैंक अधिक मात्रा मे सस्ती साख का विस्तार न कर सके। बैंको का तरलता अनुपात (Liquidity Ratio) २८% से बढाकर ३०% कर दी गई है।

(२) **अधिक मात्रा में अनाज का आयात**—देश मे अनाज की कमी को पूरा करने के लिए तथा अनाज की कीमतो को नीचा रखने के उद्देश्य से सरकार ने काफी बडी मात्रा मे विदेशो से अनाज मंगाया है। सन् १६५८ मे ३१·७ लाख टन गेहूँ, चावल तथा अन्य प्रकार के अनाजों का आयात किया गया। सन् १६५६ मे आयात किये जाने वाले अनाज की मात्रा ३८·१ लाख टन थी। १३ नवम्बर सन् १६५६ को अमेरिका से गेहूँ, आटा तथा अन्य कृषि वस्तुएँ मँगाने के सम्बन्ध में समझौता किया गया। उसी वर्ष एक दूसरा समझौता १ ५ लाख टन चावल मगाने के लिए भी किया गया। कनाडा से २·७ लाख टन गेहूँ तथा बर्मा से १·५ लाख टन चावल मगाने का समझौता भी हुआ। सन् १६६० मे एक लाख टन चावल संयुक्त अरब गणराज्य से मंगाया गया। इस सब अनाज का प्रयोग कीमतो को स्थिर रखने के लिए किया जा रहा है।

(३) **कृषि उत्पादन के लक्ष्यों में वृद्धि**—दूसरी योजना काल मे सरकार ने कृषि वस्तुओ के उत्पादन लक्ष्यो को ऊँचा कर दिया और अधिक खाद, अच्छे बीज, औजार तथा अन्य सुविधाएँ देकर अधिक मात्रा मे अनाज पैदा करने का प्रयत्न किया गया। तीसरी योजना मे अनाज तथा अन्य आवश्यक वस्तुओ के उत्पादन लक्ष्य ऊँचे रखे गये हैं यद्यपि उन्हे प्राप्त नही किया जा सका है।

(४) **उचित मूल्य वाली दुकानें (Fair Price Shops)**—लोगों को सस्ते भाव पर अनाज तथा अन्य वस्तुयें बेचने के लिए सरकार के द्वारा शहरों मे तथा ग्रामीण क्षेत्रो मे उचित भाव वाली दुकानें खोली गई हैं। इसके अतिरिक्त सरकार ने काफी बड़ी संख्या मे उपभोक्ता सहकारी भण्डार भी स्थापित किये है।

(५) अनाज का सरकारी व्यापार—सन् १९५९ में सरकार ने अनाज का सरकारी व्यापार करने की नीति की घोषणा की। इस नीति के अन्तर्गत अनाज के थोक व्यापार को धीरे-धीरे सरकारी क्षेत्र में ले आया जायेगा। इस उद्देश्य के लिए अनाज व्यापार निगम (Foodgrains Trading Corporation) स्थापित कर दी गई है।

(६) कपड़ा तथा अन्य वस्तुओं के मूल्य पर नियन्त्रण—सरकार ने सामान्य लोगों के द्वारा प्रयोग किये जाने वाले कपड़े की कीमतों पर नियन्त्रण कर दिया है। कुछ अन्य आवश्यक वस्तुओं के मूल्य भी नियन्त्रित किये गये हैं।

(७) हीनार्थ-प्रबन्धन में कमी—मुद्रा-प्रसार की स्थिति को देखते हुए सरकार ने हीनार्थ-प्रबन्धन (Deficit financing) की मात्रा कम कर दी है। तीसरी योजना में केवल ५५० करोड रुपये का हीनार्थ-प्रबन्धन ही किया जाना है जो दूसरी योजना में किये गये हीनार्थ-प्रबन्धन का आधा है। इसके अतिरिक्त सरकार ने यह निश्चय किया है कि चौथी योजना में हीनार्थ-प्रबन्धन बिल्कुल नहीं किया जायेगा।

(८) अधिक करारोपण—उपभोग की मात्रा को कम रखने के लिए सरकार ने योजना काल में अधिक मात्रा में करारोपण किया है। केन्द्र तथा राज्य सरकारों ने बहुत से नये कर लगाये हैं तथा वर्तमान करों की दरें बढा दी गई हैं। सन् १९५५–५६ में सरकार की करों से कुल आमदनी ४८१ करोड रुपये थी जो सन् १९६३–६४ में बढ कर १२४९ करोड रुपये हो गई है। करों के द्वारा सरकार ने अपनी आमदनी को बढा कर लोगों के पास क्रय-शक्ति को कम करने का प्रयत्न किया है।

आर्थिक विकास के लिए हीनार्थ-प्रबन्धन
(Deficit Financing and Economic Development)—

हीनार्थ-प्रबन्धन से अभिप्राय उस व्यवस्था से होता है जिसमें सरकार घाटे के बजट बनाती है और बजट के इस घाटे को पूरा करने के लिए नई मुद्रा जारी की जाती है। अभी तक इस प्रकार की व्यवस्था का प्रयोग केवल सङ्कटकालीन स्थिति में ही किया जाता था, किन्तु अब अल्प विकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए भी इसका प्रयोग किया जाने लगा है। भारतवर्ष में हीनार्थ-प्रबन्धन का प्रयोग काफी समय से होता आया है। प्रथम महायुद्ध तथा द्वितीय विश्व-युद्ध काल में सैनिक-व्यय तथा अन्य प्रकार युद्धकालीन व्यय को पूरा करने के लिए हीनार्थ-प्रबन्धन किया गया। युद्धोत्तर काल में सरकार ने अपने बढे हुए शासन सम्बन्धी व्यय को पूरा करने के लिए हीनार्थ-प्रबन्धन का प्रयोग किया। आर्थिक विकास के लिए हीनार्थ-प्रबन्धन का प्रयोग भारतवर्ष में प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में किया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना पर लगभग २२४९ करोड रुपये का व्यय किया गया जिसका अधिकांश भाग करारोपण, व्यक्तिगत तथा सरकारी बचत और

सार्वजनिक ऋणों के द्वारा पूरा किया गया। इनके अतिरिक्त यह अनुमान लगाया गया कि १६५ करोड रुपया विदेशी सहायता तथा ४६० करोड रुपया हीनार्थ-प्रबन्धन से प्राप्त किया जा सकेगा। इस हीनार्थ-प्रबन्धन से किसी प्रकार के मुद्रा-प्रसार होने की सम्भावना नही थी क्योंकि लगभग २०० करोड रुपये की रकम पौंड पावनो से प्राप्त होने की आशा थी। प्रथम योजना मे केवल ४५० करोड का हीनार्थ प्रबन्धन ही किया जा सका। द्वितीय पचवर्षीय योजना पर सार्वजनिक क्षेत्र मे ४८०० करोड रुपये व्यय करने का अनुमान लगाया गया जिसे पूरा करने के लिए योजना के पाँच वर्षो मे १२०० करोड रुपये का हीनार्थ-प्रबन्धन करने की व्यवस्था की गई। इस योजना मे ४०० करोड रुपये का ऐसा व्यय था जिसके लिए साधन निश्चित नही किये जा सके थे और लोगो का अनुमान था कि इस व्यय को पूरा करने के लिए भी सरकार को हीनार्थ-प्रबन्धन का आश्रय लेना पड़ेगा। इस प्रकार कुछ लोगो के अनुमान के अनुसार दूसरी योजना मे १६०० करोड रुपये का हीनार्थ-प्रबन्धन करने की आवश्यकता पडने की सम्भावना थी। किन्तु सरकार के द्वारा हीनार्थ-प्रबन्धन की सीमा १२०० करोड रुपये ही निश्चित की गई। इसमे से लगभग २०० करोड रुपये की राशि पौंड पावनो से प्राप्त की जाने की सम्भावना थी और इस प्रकार केवल १००० करोड रुपये का हीनार्थ-प्रबन्धन ही मूल्यों पर मुद्रा-स्फीति का प्रभाव डाल सकता था। यद्यपि कुछ क्षेत्रो ने हीनार्थ-प्रबन्धन की इतनी अधिक मात्रा को खतरनाक बतलाया और उसका विरोध किया किन्तु सरकार अपने निर्णय पर स्थिर रही। सरकार का यह विश्वास था कि १२०० करोड रुपये का हीनार्थ-प्रबन्धन भारतीय अर्थ-व्यवस्था सहन कर लेगी और उसके परिणामस्वरूप मुद्रा-प्रसार का खतरा बहुत अधिक नही बढेगा। किन्तु वास्तविक घटनाये इसके बिल्कुल विपरीत हुईं और दूसरी योजना के प्रथम वर्ष मे ही वस्तुओ के मूल्यो ने बढना आरम्भ कर दिया और १९५६ तक हमारी अर्थ-व्यवस्था पर मुद्रा-प्रसार का दबाव इतना अधिक बढ गया कि सरकार को उसे रोकने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता पडी। अब यह अनुभव किया जाने लगा था कि द्वितीय योजना काल मे हीनार्थ-प्रबन्धन की मात्रा १२०० करोड रुपये से बढ जायेगी जिसके कारण देश की अर्थ-व्यवस्था पर मुद्रा-स्फीति के प्रभाव का बढना स्वाभाविक था। दूसरी योजना काल मे कुल मिलाकर ९४८ करोड रुपये का हीनार्थ-प्रबन्धन किया गया किन्तु इसके कारण अर्थ-व्यवस्था पर मुद्रा-प्रसार का दबाव बढ गया। इस स्थिति को ध्यान मे रखते हुए सरकार ने तीसरी योजना मे हीनार्थ-प्रबन्धन की मात्रा केवल ५५० करोड रुपये निश्चित की है और यह भी निश्चय किया है कि चौथी योजना मे हीनार्थ-प्रबन्धन नही किया जायेगा।

हीनार्थ-प्रबन्धन—इसके सम्बन्ध मे मुख्य समस्याये इस प्रकार हैं—(अ) क्या वर्तमान मात्रा मे किया जाने वाला हीनार्थ-प्रबन्धन देश की अर्थ-व्यवस्था पर मुद्रा प्रसार के दबाव को बढा देगा? (ब) हीनार्थ-प्रबन्धन के कारण मुद्रा-स्फीति के

बढने की सम्भावना है तो उसके विरोधी उपाय क्या होने चाहिएँ ? (स) वर्तमान स्थिति मे हीनार्थ-प्रबन्धन की सुरक्षित सीमा क्या होनी चाहिए ? योजना कमीशन के अनुसार भारतवर्ष मे वर्तमान हीनार्थ-प्रबन्धन की मात्रा अधिक नही है और यदि साख के विस्तार पर नियन्त्रण रक्खा जाये तो वह देश के आर्थिक विकास के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है। हीनार्थ-प्रबन्धन कहाँ तक मुद्रा-स्फीति के दबाव को बढायेगा, यह इस बात पर निर्भर है कि देश मे आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति को कितना बढाया जा सकता है। हीनार्थ-प्रबन्धन के दुष्परिणामो से बचने के लिए योजना कमीशन ने निम्नलिखित उपाय बतलाये हैं—

(i) मूल्यो पर मुद्रा-स्फीति के दबाव को कम करने के लिए देश मे अनाज का बहुत बड़ा भण्डार स्थापित किया जाना चाहिए। अनाज तथा आवश्यक वस्तुओ की इतनी बड़ी पूर्ति सरकार के हाथो मे होनी चाहिए कि वह आवश्यकता पडने पर उसे काम मे ला सके।

(ii) खाद्य-सामग्री तथा कपडे के मूल्यो को उचित स्तर पर बनाये रक्खा जाये क्योकि वे हमारी अर्थ-व्यवस्था मे महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

(iii) करारोपण तथा अन्य विधियो से लोगो के अत्यधिक उपभोग को रोका जाना चाहिए। हीनार्थ प्रबन्धन के द्वारा लोगो की आय तथा लाभो मे जो वृद्धि होती है उसका अधिकांश भाग करो के द्वारा निकाल लेना चाहिए।

(iv) आर्थिक नियन्त्रणो का प्रयोग किया जाना चाहिए। अल्प पूर्ति वाली वस्तुओ के उपभोग को एक निश्चित सीमा से आगे न बढने देने के लिए मूल्य नियन्त्रण तथा राशनिंग का प्रयोग किया जा सकता है; यद्यपि आर्थिक नियन्त्रणो को हमारे देश मे सीमित सफलता ही मिली है।

परीक्षा प्रश्न

(१) मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिए भारत सरकार ने क्या उपाय किया है? विवेचन कीजिए। (राजस्थान, बी० काम० १९५९)

(२) अपने देश मे द्वितीय विश्व-युद्ध के समय और उसके पश्चात् मुद्रा-स्फीति के कारणों का विवेचन कीजिए। राज्य द्वारा किये गये नियन्त्रण उपायों का वर्णन कीजिए। (आगरा, बी० काम० १९५६)

(३) मुद्रा-प्रसार किसे कहते हैं ? युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार के भारतीय कृषि पर प्रभावों का विश्लेषण कीजिए। (इलाहाबाद १९५४)

(४) मुद्रा-प्रसार क्या है ? उसके क्या कारण होते हैं ? किसी देश की अर्थ-व्यवस्था पर उसके क्या प्रभाव पड़ते हैं ? भारतीय दशाओं को ध्यान में रखते हुए विवेचना कीजिए। (राजस्थान, बी० काम० १९५४)

(५) 'हीनार्थ-प्रबन्धन मुद्रा-प्रसार उत्पन्न करता है।' इस वाक्य का परीक्षण कीजिए। मुद्रा-प्रसार को कैसे रोका जा सकता है ?

(पटना, बी० ए० १९५७)

१५

भारत में दाशमिक मुद्रा प्रणाली

DECIMAL CURRENCY SYSTEM IN INDIA

संसार के लगभग सभी आधुनिक देशो ने अपनी मुद्रा प्रणाली का निर्माण दाशमिक सिद्धान्त के आधार पर किया हुआ है। कुछ एक देशो मे तोल और नाप के लिए भी दशमलव प्रणाली को अपना लिया गया है। इस समय संसार के १४० देशो मे स्वतन्त्र मुद्रायें है जिनमे से १०५ ने दशमलव मुद्रा प्रणाली को अपनाया हुआ है। सर्वप्रथम अठारहवी शताब्दी के अन्त मे (सन् १७८६–१७९२) अमेरिका ने दशमलव प्रणाली को अपनाया और डॉलर को इकाई मान कर उसे १०० भागो मे बाँट दिया गया। सन् १७९९–१८०३ मे फ्रास तथा लैटिन मौद्रिक सघ के देशो ने भी दशमलव प्रणाली को अपना लिया। जर्मनी ने १८७३ मे तथा डेनमार्क, नॉर्वे और स्वीडन ने १८७५ मे दाशमिक प्रणाली को अपनाया। सन् १८७१ मे जापान ने तथा १८९७ मे रूस ने भी दाशमिक प्रणाली को अपना लिया। महत्वपूर्ण देशो मे केवल ब्रिटेन ही एक ऐसा देश है जिसने अभी तक दशमलव प्रणाली को नही अपनाया है। यद्यपि वहाँ पर भी इस प्रणाली की आवश्यकता अनुभव की गई किन्तु कुछ व्यवहारिक कठिनाइयो के कारण उसे नही अपनाया जा सका है। पिछले कुछ दिनों से इगलैंड मे भी मुद्रा के दशमलवीकरण की चर्चा आरम्भ हो गई है और इस प्रणाली को अपनाने के विषय मे विचार किया जा रहा है। भारतवर्ष दशमलवीकरण की दृष्टि से अन्य देशो की अपेक्षा बहुत पीछे रह गया है। शून्य (Zero) के विचार का जन्मदाता होते हुए भी वह बहुत अधिक समय तक दशमलव प्रणाली को नही अपना सका है। यद्यपि हमारे देश मे दाशमिक प्रणाली की आवश्यकता काफी लम्बे समय से अनुभव की जा रही थी किन्तु कुछ राजनैतिक कारणो से उसे स्थापित नही किया जा सका। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारतीय मुद्रा प्रणाली मे यह महत्वपूर्ण परिवर्तन किया जा सका है।

दाशमिक मुद्रा प्रणाली से अभिप्राय उस मुद्रा प्रणाली मे होता है जिसमे प्रत्येक मुद्रा इकाई अपने से ऊपर की इकाई का दसवा भाग होती है। इस मुद्रा प्रणाली मे एक मुद्रा इकाई को दस से गुणा करके अथवा भाग देकर दूसरी मुद्रा

इकाई को निकाला जा सकता है। उदाहरणार्थ यदि प्रामाणिक सिक्का १ है तो उसमे बडे सिक्के १०, १००, १००० आदि तथा छोटे सिक्के ·१, ·०१, ·००१ आदि हो सकते हैं। इस प्रणाली मे बीच के सिक्के नही होते हैं किन्तु इस सिद्धान्त का पालन पूर्णतया नही किया जाता है और दाशमिक मुद्रा प्रणाली वाले देशो ने उसमे आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन कर लिए है। सामान्यतः दाशमिक प्रणाली वाले देशो मे प्रामाणिक सिक्के को १०० भागो मे बांट दिया जाता है और सबसे छोटा सिक्का प्रामाणिक सिक्के का $\frac{1}{100}$ भाग होता है। इसके बीच मे सुविधानुसार विभिन्न मूल्यों के छोटे सिक्के चला लिए जाते हैं।

किसी भी देश के द्वारा दशमलव प्रणाली का अपनाया जाना एक महत्वपूर्ण आर्थिक तथा सामाजिक घटना है। दाशमिक प्रणाली अन्य प्रकार की मुद्रा प्रणालियो की अपेक्षा अधिक अच्छी मानी जाती है क्योकि वह एक साधारण तथा आधुनिक प्रणाली है। दाशमिक प्रणाली वाले देशो का अनुभव यह बतलाता है कि हिसाब-किताब की दृष्टि से यह प्रणाली बडी सरल है और प्रत्येक प्रगतिशील देश के लिए किसी न किसी अवस्था मे इस प्रणाली का अपनाया जाना आवश्यक हो जाता है क्योंकि आधुनिक अर्थ-व्यवस्था को चलाने मे वह बडी सहायता देती है।

भारत मे दशमलव प्रणाली की आवश्यकता—

वर्तमान व्यापार तथा वाणिज्य पद्धति काफी जटिल हो गई है और उसे भली प्रकार से चलाने के लिए विभिन्न मुद्रा इकाइयो का एक दूसरे मे आसानी से परिवर्तनीय होना अत्यन्त आवश्यक है। दाशमिक मुद्रा प्रणाली विभिन्न मुद्रा इकाइयो को एक दूसरे के साथ बदलने के कार्य को बहुत सरल कर देती है। दाशमिक मुद्रा प्रणाली आरम्भ होने से पूर्व भारत मे प्रचलित मुद्रा प्रणाली बहुत अधिक जटिल तथा असुविधाजनक थी। रुपये के प्रामाणिक सिक्के को १६ आनो मे बांटा हुआ था और एक आना ४ पैसो तथा १२ पाइयो में बँटा हुआ था। इस प्रकार पैसे का सिक्का प्रामाणिक सिक्के का $\frac{1}{64}$ होता था। इस प्रणाली मे हिसाब-किताब लगाने मे बडी कठिनाई होती थी और बहुत शक्ति तथा समय नष्ट होता था। मुद्रा प्रणाली मे सरलता लाने के लिए हमारे देश मे दाशमिक प्रणाली को अपनाने की आवश्यकता अनुभव हुई। इसके अतिरिक्त देश मे आर्थिक विकास का युग आरम्भ होने के साथ-साथ यह अनुभव किया गया कि हमारी मुद्रा प्रणाली भी आधुनिक तथा प्रगतिशील होनी चाहिए। वह ऐसी होनी चाहिए जिसके द्वारा जटिल तथा विकसित व्यापार एव औद्योगिक व्यवस्था को सरलतापूर्वक चलाया जा सके। मुख्यतया निम्नलिखित कारणो से भारतवर्ष में दाशमिक मुद्रा प्रणाली को अपनाने की आवश्यकता अनुभव की गई—

(अ) संसार के अधिकांश देशो मे काफी समय से दाशमिक मुद्रा प्रणाली का प्रयोग किया जा रहा था। केवल इगलैंड को छोड़कर लगभग सभी विकसित तथा

प्रगतिशील देशो मे दशमलव प्रणाली को अपना लिया गया है। भारतवर्ष भी अपनी मुद्रा प्रणाली का दशमलवीकरण करके इन देशो की सूची मे सम्मिलित हो सकता है तथा उनके साथ निकट आर्थिक सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

(ब) भारतवर्ष मे औद्योगीकरण का आरम्भ हो रहा है और १०–१५ वर्षो मे ही हमारी अर्थ-व्यवस्था इतनी जटिल हो जायेगी कि हमे हिसाब-किताब लगाने के लिए मशीनो का प्रयोग करना होगा। यदि हम इस समय दशमलव प्रणाली को अपना लेते है तो हमारी गणना प्रणाली बहुत अधिक सरल हो जायेगी और हम भविष्य की कठिनाइयो से बच सकेंगे।

(स) दाशमिक मुद्रा प्रणाली के साथ-साथ हमे अन्य प्रकार की नाप व तोल प्रणालियो का भी दाशमिक क्रम के आधार पर निर्माण करना होगा। यदि पहले मुद्रा प्रणाली का दशमलवीकरण कर दिया जाये तो उससे हमारे देश मे पूर्णतया दाशमिक प्रणाली को अपनाने मे आसानी होगी।

(द) दाशमिक मुद्रा प्रणाली बडी सरल तथा आधुनिक प्रणाली है और किसी भी प्रगतिशील देश के लिए उसे न अपनाना एक भारी भूल होगी। संसार के सभी सभ्य देशो मे गणित के चिन्ह दशमलवीय आधार पर बनाये गये हैं। ऐसी दशा मे नाप व तोल की कोई भी प्रणाली जिसका दशमलवीय आधार न हो, हमारे देश के लिए उपयुक्त नही है। दाशमिक प्रणाली बडी सरल तथा आधुनिक प्रणाली है और उसे अपनाना प्रत्येक प्रगतिशील देश के आर्थिक हितो मे है।

भारत मे दाशमिक प्रणाली का इतिहास—

उपरोक्त सभी कारणो से हमारे देश मे दशमलव प्रणाली को अपनाने की माग लगभग पिछले १०० वर्षो से की जा रही थी। सर्वप्रथम १८६७ मे सरकार ने यह निश्चय किया कि भारत मे धीरे-धीरे दशमलवीय सिक्को का चलन आरम्भ कर दिया जाय। सन् १८७० मे दाशमिक प्रणाली को अपनाने के सम्बन्ध मे एक निश्चित कदम उठाया गया और एक दाशमिक अधिनियम (Metric Act of 1870) भी पास कर दिया गया किन्तु कुछ विशेष कारणो से इस अधिनियम को कार्य-रूप मे नही लाया जा सका। इसके पश्चात् लगभग ७० वर्ष तक दाशमिक प्रणाली के सम्बन्ध मे कुछ भी नही किया गया। सन् १९४० मे भारतीय दाशमिक समिति (Indian Decimal Society) स्थापित की गई। इस संस्था ने भारत मे दाशमिक प्रणाली का प्रचार करने का कार्य आरम्भ किया और देश मे दाशमिक क्रम की स्थापना पर जोर दिया।

सन् १९४६ मे मुद्रा के दशमलवीकरण की एक योजना बनाई गई और उसे कार्य-रूप मे लाने के लिए केन्द्रीय विधान सभा मे एक बिल प्रस्तुत किया गया। इस योजना के अन्तर्गत भारतीय रुपये को १९२ पाई के स्थान पर १०० सैंट (cents) मे बाँटने का सुझाव रक्खा गया। रुपये के अतिरिक्त ५० और २५ सैंट

के सिक्के चलाने की भी व्यवस्था की गई। छोटे सिक्को के रूप मे १०, ५, २, १ तथा ½ सेंट के सिक्के होगे। किन्तु कुछ कारणो से यह बिल पास न हो सका और दाशमिक प्रणाली को अपनाने का काम फिर स्थगित कर दिया गया। सन् १९४९ मे भारतीय प्रतिमान सस्था (Indian Standard Institute) की एक विशेष समिति ने देश मे दाशमिक प्रणाली को अपनाने के सम्बन्धी समस्याओ की जाँच की। समिति ने दाशमिक प्रणाली को अपनाने की सिफारिश की किन्तु समिति के अनुसार यह काम धीरे-धीरे १० या १५ वर्षों मे किया जाना चाहिए। समिति का विचार था कि देश मे सर्वप्रथम दाशमिक मुद्रा प्रणाली जारी की जानी चाहिए और फिर धीरे-धीरे तोल, नाप तथा अन्य क्षेत्रो मे दाशमिक क्रम को स्थापित किया जाये।

भारतीय सिक्का (सशोधन) अधिनियम १९५५ [Indian Coinage (Amendment) Act 1956]—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् देश के सामने जो बहुत-सी आर्थिक तथा सामाजिक समस्याये थी उनमे से मुद्रा प्रणाली का दशमलवीकरण किया जाना एक महत्त्वपूर्ण समस्या थी। अब भारतीय मुद्रा प्रणाली के दशमलवीकरण की समस्या को और अधिक समय के लिए स्थगित करना सम्भव नहीं था अत भारत सरकार ने ससद के समक्ष सन् १९५५ मे दाशमिक प्रणाली को अपनाये जाने के सम्बन्ध मे एक बिल प्रस्तुत किया। सितम्बर सन् १९५५ मे इस बिल को भारतीय सिक्का (सशोधन) अधिनियम [Indian Currency (Amendment) Act 1955] के नाम से पास कर दिया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत ही हमारे देश मे दाशमिक मुद्रा प्रणाली को अपनाया गया है। इस अधिनियम की कुछ मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(१) नई मुद्रा प्रणाली मे भारत की प्रमुख मुद्रा इकाई रुपया ही रहेगी। रुपये को १०० सामान्य इकाइयों मे बाँटा जायेगा और प्रत्येक इकाई का नाम 'पैसा' रहेगा किन्तु कुछ समय के लिए, जब तक नये और पुराने सिक्के साथ-साथ चलेंगे, इसे 'नया पैसा' कहा जायगा। एक रुपया १०० नये पैसे के बराबर होगा।

(२) रुपये और नये पैसे के अतिरिक्त ५० और २५ नये पैसे के दो सिक्के और चलाये जायेंगे जो वर्तमान ८ आने तथा ४ आने के सिक्को के बराबर होगे। इनके अतिरिक्त १०, ५ व २ नये पैसे के सिक्के भी चलाये जायेंगे।

(३) १००, ५० और २५ नये पैसे के सिक्के शुद्ध गिलट के होंगे तथा १०, ५ और २ नये पैसे के सिक्के तांबे और गिलट के मिश्रण के होगे जिसमे ७५% ताबा और २५% गिलट होगी।

(४) वर्तमान दो आने, एक आने, दो पैसे और एक पैसे के सिक्के भी कुछ समय तक साथ-साथ चलते रहेंगे, किन्तु धीरे-धीरे उनका विमुद्रीकरण किया जायगा। तीन वर्ष के पश्चात् पुराने सिक्के चलन से बिलकुल निकल जायेंगे तथा

पूर्ण रूप से नई मुद्रा चालू हो जायेगी। आवश्यकता पड़ने पर इस अवधि को बढ़ाया भी जा सकता है।

(५) यह अधिनियम १ अप्रैल सन् १९५७ से देश भर मे लागू कर दिया जायगा।

भारत की नई सिक्का प्रणाली—

भारतीय सिक्का (सशोधन) अधिनियम १९५५ के अन्तर्गत समस्त भारत मे दाशमिक मुद्रा प्रणाली को अपना लिया गया है। भारत ने दाशमिक आधार पर अपने सिक्को का निर्माण करके मुद्रा प्रणाली मे एक महत्वपूर्ण तथा अत्यन्त आवश्यक परिवर्तन किया है जिसके परिणामस्वरूप अब हमारा देश उन प्रगतिशील देशो की सूची मे आ जाता है जिन्होने दाशमिक प्रणाली को अपनाया हुआ है। दाशमिक सिक्को के चलन से हमारी विकसित अर्थ-व्यवस्था के लिए एक उपयुक्त हिसाब-किताब की इकाई हमे मिल जाती है तथा धीरे-धीरे देश मे ऐसा वातवरण उत्पन्न हो जायगा जिससे नाप, तोल तथा अन्य क्षेत्रो मे भी दाशमिक क्रम को अपनाया जा सकेगा।

इस नई सिक्का प्रणाली मे भारत का प्रमाणिक सिक्का रुपया ही है किन्तु अब वह शुद्ध गिलट का बनाया जाता है। रुपये का विभाजन अब १६ आने अथवा १९२ पाई मे न होकर के १०० नये पैसे मे किया गया है। देश मे सबसे छोटा सिक्का 'नया पैसा' है जो रुपये का $\frac{१}{१००}$ भाग है। रुपये का $\frac{१}{२}$ तथा $\frac{१}{४}$ भाग वाले सिक्के अब आने व ४ आने न होकर ५० नये पैसे तथा २५ नये पैसे हो गये है। इनके अतिरिक्त १ , ५ और २ नये पैसे के सिक्के चलन मे डाल दिये गये है। आरम्भ मे केवल १, २, ५ व १० नये पैसे के सिक्के ही चलाये गये थे किन्तु कुछ समय पश्चात् ५० और २५ नये पैसे वाले सिक्के भी चालू कर दिये गये है। अब ३ पैसे का सिक्का भी चला दिया गया है।

भारतीय जनता को नई मुद्रा प्रणाली से परिचित करने तथा आकस्मिक परिवर्तन की कठिनाइयो से उन्हे बचाने के लिए सरकार ने तीन वर्ष की अवधि तक नये और पुराने दोनो प्रकार के सिक्को को चलन मे रखने का निश्चय किया है। पुराने सिक्के दाशमिक सिक्को मे निश्चित दरो पर परिवर्तनीय है। २ आने तथा उससे कम के पुराने सिक्को का तथा नये पैसो का पूरा-पूरा प्रतिमान नही होता है इसलिये वे निकटतम प्रतिमान के आधार पर बदले जाते है। इस अन्तरिम काल मे पुराने सिक्को को सरकारी मान्यता प्राप्त रहेगी और लेन-देन मे नये व पुराने दोनो प्रकार के सिक्को का प्रयोग किया जायेगा। कोई भी व्यक्ति नये, पुराने अथवा नये व पुराने सिक्को को मिलाकर भुगतान कर सकता है। धीरे-धीरे दो आने तथा एक आने व आध आने वाले सिक्कों को चलन से निकाल लिया जायेगा। इस बीच मे टकसालें पर्याप्त मात्रा मे नये सिक्को का निर्माण कर सकेगी और अन्तरिम अवधि के अन्त तक केवल दाशमिक सिक्के ही प्रचलन मे रह जायेंगे।

दाशमिक मुद्रा को धीरे-धीरे हिसाबी मुद्रा का कार्य भी सौंप दिया जायगा। १ अप्रैल सन् १९५७ से सब सरकारी दफ्तरों में हिसाब किताब रुपये, आने, पाई के स्थान पर रुपये और नये पैसों में रक्खा जाने लगा है। बैंकों में भी जमा रुपये तथा नये पैसों में प्राप्त की जाती है और उसे नये सिक्कों में ही निकाला जा सकता है। धीरे-धीरे अर्ध सरकारी संस्थाओं तथा बड़ी-बड़ी औद्योगिक व व्यापारिक संस्थाओं के द्वारा भी रुपये तथा नये पैसे को हिसाब-किताब की इकाई के रूप में अपनाया जा रहा है। इस प्रकार यह आशा है कि अन्तरिम काल के अन्त तक रुपये तथा नये पैसे को पूर्णतया हिसाबी मुद्रा के रूप में अपना लिया जायेगा।

दाशमिक मुद्रा प्रणाली की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति इस नई प्रणाली को समझे तथा उसके सुगमतापूर्वक चलने में सहयोग दे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये भारत सरकार ने नई मुद्रा प्रणाली के प्रचार पर बहुत जोर दिया है और जनवरी सन् १९५७ से दाशमिक प्रणाली का प्रचार समस्त देश में आरम्भ कर दिया गया है। शिक्षा मन्त्रालय के एक कार्यक्रम के अनुसार दाशमिक मुद्रा प्रणाली का पाठ्य-पुस्तकों में समावेश कर दिया गया है तथा विद्यालयों में इस विषय की शिक्षा दी जाने लगी है। इसके अतिरिक्त समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं, पोस्टर, फोल्डर, फिल्मों तथा रेडियो आदि के द्वारा सभी प्रमुख भाषाओं में दाशमिक प्रणाली का प्रचार किया जा रहा है, किन्तु ग्रामीण तथा अशिक्षित जनता में नई मुद्रा प्रणाली का प्रचार करने में विशेष कठिनाई अनुभव हो रही है।

दाशमिक मुद्रा प्रणाली के लाभ—

(i) यह एक आधुनिक मुद्रा प्रणाली है और संसार के अधिकांश देशों में अन्य प्रणालियों को हटा कर इसे अपना लिया गया है। संसार के लगभग सभी देशों में मुद्रा प्रणाली का निर्माण दाशमिक आधार पर किया जा चुका है। भारतवर्ष दाशमिक मुद्रा प्रणाली को अपनाकर उन देशों की सूची में सम्मिलित हो गया है जिन देशों में दाशमिक प्रणाली प्रचलित है।

(ii) यह प्रणाली बहुत सरल तथा सुविधापूर्ण है। संसार भर में दाशमिक प्रणाली को सरलतम प्रणाली माना गया है। इस प्रणाली में हिसाब-किताब सरलता व शीघ्रता के साथ किया जा सकता है, जिसके कारण समय तथा शक्ति की बचत होती है।

(iii) एक प्रगतिशील समाज में व्यापार तथा वाणिज्य की जटिल प्रणाली में सिक्कों की सरलता से अदल-बदल बहुत आवश्यक है। दाशमिक प्रणाली में एक मूल्य के सिक्के दूसरे मूल्य के सिक्कों में बहुत आसानी से बदले जा सकते हैं जिसके कारण व्यापार तथा वाणिज्य के सरलतापूर्वक चलने में सहायता मिलती है।

(iv) मूल्यों के छोटे-छोटे परिवर्तनों को भी दाशमिक प्रणाली में सही नापा जा सकता है। कई बार मूल्यों में इतने सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं कि उन्हें अन्य मुद्रा

प्रणालियो मे नापना सम्भव नही होता है किन्तु दाशमिक प्रणाली होने से यह कठिनाई बिलकुल दूर हो जाती है।

(v) विद्यार्थियो के लिए दाशमिक प्रणाली से अंकगणित सीखना बहुत आसान हो गया है और शिक्षा सस्थाओ मे समय तथा श्रम की काफी बचत की जा सकी है।

(vi) इस मुद्रा प्रणाली का अन्तर्राष्ट्रीय आधार होने के कारण हमारे देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अधिक सुविधा होगी। अधिकाश देशो मे दाशमिक प्रणाली होने के कारण हमारे देश के आर्थिक सम्बन्ध इन देशो के साथ निकट होगे तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे हिसाब-किताब आसानी से रक्खा जा सकेगा।

(vii) दाशमिक मुद्रा प्रणाली के जारी कर देने से नाप, तोल तथा अन्य क्षेत्रों मे दाशमिक क्रम को अपनाने के लिए आवश्यक आधार तैयार हो जायगा। दाशमिक सिक्को का प्रयोग करने से लोग धीरे-धीरे दाशमिक क्रम से परिचित हो जायेगे और कुछ समय पश्चात् अन्य क्षेत्रो मे भी दाशमिक क्रम को अपनाया जा सकेगा।

दाशमिक मुद्रा प्रणाली के दोष—

उपर्युक्त लाभो के होते हुए भी दाशमिक प्रणाली को जारी करने मे कुछ कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। यह व्यावहारिक कठिनाइयाँ हमारे देश मे और भी अधिक होगी क्योंकि हमारी ग्रामीण जनता अशिक्षित तथा रूढीवादी है। किन्तु इन कठिनाइयो के होते हुए भी हमारे देश मे दाशमिक मुद्रा का अपनाया जाना एक महत्वपूर्ण घटना है। सामान्यत: दाशमिक प्रणाली मे निम्नलिखित कठिनाइयां अनुभव की गई है—

(i) ग्रामीण लोगों के लिए इस नई प्रणाली को समझने मे विशेष कठिनाई हो रही है और उन्हे दाशमिक प्रणाली से परिचित होने मे काफी समय लगेगा। इस बीच मे कुछ लोग उनकी अनभिज्ञता से अनुचित लाभ उठा सकते हैं। किन्तु इस प्रकार की कठिनाइयां प्रत्येक परिवर्तन मे होती हैं।

(ii) लोग नई प्रणाली का विरोध केवल इसलिए करते है क्योंकि रु० आ० पाई वाली प्रणाली बहुत प्राचीन समय से चली आ रही है। अधिकाश लोग इस प्रकार के परिवर्तन को पसन्द नही करते हैं और वे दाशमिक प्रणाली का विरोध केवल भावुकता के कारण करते है।

(iii) दाशमिक मुद्रा जारी होने से वस्तुओ तथा सेवाओ के मूल्यों को निश्चित करने का आधार बदल गया है। अब सभी वस्तुओ के मूल्यो को दाशमिक सिक्को मे व्यक्त करना होगा जिसमे कुछ कठिनाई हो सकती है। किन्तु इस प्रकार की असुविधा केवल थोड़े समय के लिए ही है और नई मुद्रा के पूर्ण रूप से चलन मे आने के पश्चात् यह कठिनाई स्वयं दूर हो जायगी।

(vi) नई और पुरानी मुद्रा के साथ-साथ चलने से काफी उलझन पैदा हो गई है। अधिकाश सौदो मे अभी पुरानी मुद्रा मूल्य मान का कार्य करती है और

वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य अभी भी रुपये तथा आनों में व्यक्त किये जाते हैं किन्तु भुगतान के लिए या तो दाशमिक और या मिले-जुले सिक्कों का प्रयोग किया जाता है। ऐसी व्यवस्था में जनता को बहुत असुविधा होती है।

वास्तव में यह सभी कठिनाइयाँ अल्पकालीन हैं। जैसे-जैसे लोग दाशमिक मुद्रा प्रणाली से परिचित होते जायेंगे वैसे ही वैसे यह कठिनाइयाँ भी दूर हो जायेंगी। पुराने सिक्के अब चलन में निकाल लिए गये हैं और दाशमिक सिक्के पूर्णतया चलन में आ गये हैं जिसके कारण बहुत-सी व्यवहारिक उलझनें दूर हो गई हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय सिक्का (संशोधन) अधिनियम १९६४ के अन्तर्गत १ जून सन् १९६४ से 'नया पैसा' शब्द के स्थान पर केवल 'पैसा' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है जिसके परिणामस्वरूप हिसाब किताब सम्बन्धी कठिनाइयाँ दूर हो गई हैं। इन परिवर्तनों के हो जाने से दाशमिक मुद्रा प्रणाली की व्यवहारिक कठिनाइयाँ धीरे-धीरे समाप्त हो गई हैं और नई मुद्रा प्रणाली देश की अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुकूल होती जा रही है।

दाशमिक मुद्रा प्रणाली से पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक था कि माप व तोल की प्रणालियों का निर्माण भी दाशमिक आधार पर किया जाय। सरकार ने यह निश्चय किया था कि सन् १९५८ के अन्त तक इन प्रणालियों को भी दाशमिक क्रम के अनुसार कर दिया जायगा। सन् १९५६ में तोल व माप की दशमलवीय प्रणाली की आधारभूत इकाइयाँ निश्चित कर दी गईं और अक्तूबर सन् १९५८ से माप व तोल की दाशमिक प्रणालियाँ देश भर में लागू कर दी गई हैं। यह प्रणाली धीरे-धीरे पुरानी प्रणाली का स्थान ले रही है। तीन वर्ष की अवधि तक नई व पुरानी माप-तोल साथ-साथ काम करेगी और उसके पश्चात् माप व तोल की दाशमिक प्रणाली पूर्णतया स्थापित कर दी जायगी। तोल की आधारभूत इकाई किलोग्राम (Kilogram) रखी गई है जिसका वजन ८६ तोले अथवा पुराने १ सेर ६ तोले के बराबर है। माप की आधारभूत इकाई मीटर (Meter) निश्चित की गई है। इन प्रणालियों के पूर्णतया स्थापित हो जाने के पश्चात् हमारे देश में सब प्रकार का हिसाब-किताब दशमलवीय आधार पर रक्खा जाने लगेगा जिससे आन्तरिक क्षेत्र में अधिक सुविधा के साथ विनिमय कार्य किया जा सकेगा और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तुलनायें करना, विनिमय अनुपात निश्चित करना तथा विनिमय के सौदों को निबटाना आसान हो जायगा।

परीक्षा प्रश्न

(१) भारतवर्ष में दशमलव मुद्रा प्रणाली को क्यों अपनाया गया है? हमारे देश में उससे क्या लाभ तथा हानियाँ हैं। (आगरा, बी० काम १९५९)

(२) दाशमिक मुद्रा प्रणाली क्या है? भारतीय दशाओं में उसके लाभ तथा हानियों को बतलाइये। (राजस्थान, बी० ए० १९५६)

(३) भारतीय सिक्का (संशोधन) अधिनियम १९५५ की मुख्य धाराओं का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

१६

साख तथा साख-पत्र

CREDIT AND CREDIT INSTRUMENTS

साख को वर्तमान आर्थिक जीवन का आधार माना जाता है। आज की व्यापारिक तथा औद्योगिक व्यवस्था साख के बिना नहीं चल सकती है। हमारे समाज में व्यापार, व्यवसाय तथा अन्य प्रकार की आर्थिक क्रियायें बहुत कुछ साख तथा साख-पत्रों के प्रयोग पर आधारित है। वस्तुओं का स्थगित भुगतान के आधार पर उधार बेचा जाना तथा समाज में प्रचलित ऋण-व्यवस्था, आर्थिक जीवन में साख के महत्व को बतलाते हैं। साख का प्रयोग बहुत प्राचीन समय से होता आया है और लगभग प्रत्येक आर्थिक काल में वस्तुओं को उधार लेने तथा ऋणों के लेन-देन की व्यवस्था रही है। आरम्भ काल में साख संस्थाओं के अभाव तथा साख-पत्रों का उचित विकास न होने के कारण साख का प्रयोग बहुत कम किया जाता था किन्तु आर्थिक विकास के साथ-साथ साख संस्थाओं का संगठन तथा साख-पत्रों का विकास हुआ और मानव समाज अधिकाधिक साख पर आधारित होता गया। कोई देश जितना अधिक प्रगतिशील होता है उतना ही उस देश में साख का प्रयोग अधिक किया जाता है। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों में विकसित देशों की अपेक्षा साख का प्रयोग कम किया जाता है। आज के बैंकों का साख के साथ इतना गहरा सम्बन्ध है कि उन्हें 'साख का व्यापारी' कहा जाता है। अतः बैंक का अध्ययन आरम्भ करने से पूर्व साख की प्रकृति तथा उसके उपयोग के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

साख का अर्थ (Meaning of Credit)—

साधारणतया 'साख' शब्द का अर्थ विश्वास अथवा भरोसे से होता है। किसी व्यक्ति पर लोग जितना अधिक विश्वास करते हैं उसकी साख उतनी ही अधिक होती है। साख का यह अर्थ बड़ा व्यापक है। अर्थशास्त्र में 'साख' शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में किया जाता है और उसमें हमारा अभिप्राय ऋण लौटाने

अथवा भुगतान करने की क्षमता में विश्वास से होता है। जब हम यह कहते हैं कि किसी व्यक्ति की बाजार में साख अधिक है तो उसमें हमारा अभिप्राय यह होता है कि उसकी ऋण लौटाने की शक्ति में लोगों को अधिक विश्वास है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति की ऋण लौटाने की शक्ति में लोगों को कम विश्वास होता है उसकी साख कम होती है। अतः साख किसी व्यक्ति की ऋणों का भुगतान करने की शक्ति में होने वाले विश्वास का प्रतीक है। प्रो० केन्ट (Kent) ने साख की परिभाषा इस प्रकार की है—"माग किये जाने पर अथवा एक निश्चित काल के पश्चात्, वर्तमान समय में हस्तान्तरित वस्तुओं के बदले में भुगतान लेने के अधिकार अथवा भुगतान देने की जिम्मेदारी को साख कहते हैं।"[1] प्रो० जीड (Gide) के अनुसार साख "एक प्रकार का विनिमय कार्य है जो एक निश्चित काल की समाप्ति के पश्चात्, भुगतान निबटाने पर पूरा होता है।"[2] प्रो० टामस (Thomas) के अनुसार "आजकल साख शब्द से अभिप्राय किसी व्यक्ति की शोधन क्षमता अथवा भुगतान निबटाने की शक्ति में उस विश्वास से होता है जिसके आधार पर उसे किसी दूसरे व्यक्ति की मूल्यवान वस्तु को दिया जा सकता है। यह मूल्यवान वस्तु मुद्रा, सेवायें अथवा स्वय साख हो सकती है, जैसे कि उस दशा में होती है जबकि एक व्यक्ति दूसरे को अपने नाम अथवा व्यवसायिक ख्याति के प्रयोग का अधिकार देता है।"[3] प्रो० कोल (G. D. H. Cole) ने साख को बैंकों के द्वारा जारी की जाने वाली एक प्रकार की क्रय-शक्ति माना है। उनके अनुसार, "साख उस क्रय-शक्ति को कहते हैं जो आय के द्वारा प्राप्त नहीं होती है बल्कि बैंकिंग संस्थाओं के द्वारा या तो उस जमा का, जो उनके पास रखी होती है, प्रयोग करने के उद्देश्य से या कुल क्रय-शक्ति में वृद्धि करने के लिए उत्पन्न की जाती है।"[4]

---

1 "Credit may be defined as "the right to receive payment on the obligation to make payment on demand or at some future time on account of the immediate transfer of goods."

— *Raymond P. Kent* Money and Banking, P. 199.

2 "It is an exchange, which is complete after the expiry of a certain period of time after payment " — *Gide.*

3 "The term credit is now applied to that belief in a man's probity and solvency which will permit of his being entrusted with something of value belonging to another, whether that 'something' consists of money, goods, services or even credit itself as when one man entrusts to another the use of his good name and reputation "

—*S. E Thomas* Elements of Economics, P. 398

4 "Credit is purchasing power not 'derived from income' but created by financial institutions either as an offset to idle incomes held by depositors in the banks, or as a net addition to the total amount of purchasing power."

—*G D. H Cole* Money, Its Present and Future, P. 308.

साख का आधार (Basis of Credit)—

सामान्यतया साख का आधार वह विश्वास होता है जो ऋणदाता को ऋण के भुगतान करने के सम्बन्धी वायदे को पूरा करने की क्षमता में होता है। कुछ लेखकों के अनुसार केवल विश्वास ही साख का आधार है क्योंकि ऋणदाता कभी भी विश्वास के अभाव में ऋण नहीं देगा। किन्तु कुछ लेखकों ने इस विचार का विरोध किया है। इनके अनुसार साख का आधार विश्वास न होकर, ऋण लेने वाले की सम्पत्ति है। ऋण देने वाला ऋण देते समय ऋणी की सम्पत्ति पर निगाह रखता है और उसके आधार पर ही उसकी शोधन क्षमता का अनुमान लगाता है। इसलिए साख का आधार व्यक्ति की सम्पत्ति है। कुछ अन्य लोगों का विचार है कि साख का वास्तविक आधार ऋण लेने वाले का चरित्र है। इन सभी विचारों में कुछ न कुछ सत्यता अवश्य पाई जाती है। यद्यपि इनमें से किसी एक को पूर्णतया साख का आधार नहीं माना जा सकता है किन्तु वे सब मिलकर किसी व्यक्ति की साख को निश्चित करते है। वास्तव में विश्वास, सम्पत्ति तथा चरित्र तीनों को ही साख का आधार माना जाना चाहिए। अतः किसी व्यक्ति की साख निम्नलिखित बातों पर आधारित होती है—

(१) विश्वास (Confidence)—जिस व्यक्ति के बारे में यह विश्वास होता है कि वह ऋणों को ठीक समय पर लौटा देगा, उस व्यक्ति की साख अधिक होती है और उसे बाजार में ऋण आसानी से प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु यदि ऋणदाता को ऋणी पर विश्वास नहीं है तो ऐसी दशा में वह ऋण नहीं देगा और इस प्रकार के व्यक्तियों की साख बहुत कम होती है। अतः किसी व्यक्ति में ऋणदाता को ऋणों की वापसी के सम्बन्ध में जितना अधिक विश्वास होता है, उस व्यक्ति की साख उतनी ही अधिक होती है। चेन्डलर (Chandler) के अनुसार—"किसी व्यक्ति, व्यवसायिक फर्म अथवा सरकारी संस्था की साख प्राप्त करने की क्षमता सम्भाव्य ऋणदाताओं के इस विश्वास पर आधारित होती है कि ऋणी, ऋण का भुगतान करने के लिए क्षम्य तथा तत्पर दोनों है।"[५]

(२) चरित्र (Character)—व्यक्ति का चरित्र भी उसकी साख को प्रभावित करता है। अच्छे चरित्र वालों की साख प्रायः अधिक होती है। यदि ऋणी अपनी सच्चाई के लिए प्रतिष्ठित है और उसने भूतकाल में अपने ऋणों को ठीक वायदे पर निबटाया है तो ऐसे व्यक्ति की साख बहुत अधिक होती है। इसके विपरीत जिन लोगों के चरित्र के विषय में सन्देह होता है, क्योंकि वे अपने ऋणों को वायदे

5 "The ability of any person, business firm or government unit to get credit depends on potential creditor's faith that the borrower will be both able and willing to pay."

—*L. V. Chandler*: The Economics of Money and Banking, P. 32.

के अनुसार नही लौटाते हैं, उन्हे ऋण नही मिलता है और उनकी साख कम होती है।

(३) व्यक्ति की भुगतान करने की योग्यता (Capacity to Pay)—ऋण देने से पूर्व ऋणदाता ऋणी की भुगतान करने की योग्यता की जांच करता है। जिन लोगो मे ऋण लौटाने की योग्यता अधिक होती है, उन्हें ऋण आसानी से प्राप्त हो जाता है और बाजार मे उनकी साख अधिक होती है। इसके विपरीत भुगतान निबटाने की योग्यता के कम होने पर व्यक्ति की साख कम हो जाती है। इस सम्बन्ध मे ऋणी की शिक्षा व उसका अनुभव उसकी भुगतान करने की योग्यता को प्रभावित करता है। एक शिक्षित तथा अनुभवी व्यक्ति मे ऋणो को लौटाने की क्षमता अधिक होती है। व्यक्ति की आय भी उसकी शोधन क्षमता का प्रतीक है। प्रायः अधिक आय वालो की साख अधिक होती है क्योंकि उनमे भुगतान करने की योग्यता अधिक पाई जाती है। इसके विपरीत कम आय वालो की, भुगतान करने की योग्यता कम होने के कारण, साख कम होती है।

(४) सम्पत्ति (Property)—बडे-बडे ऋणो को लेने के लिए व्यक्ति की सम्पत्ति भी उसकी साख को प्रभावित करती है। विशेषतया बैंको से ऋण प्राप्त करते समय व्यक्ति की सम्पत्ति तथा उसके आर्थिक साधन महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ऋण देने समय बैंक ऋणी की सम्पत्ति तथा उसके आर्थिक साधनो का पूरी तरह निरीक्षण करके उसकी साख की मात्रा निश्चित करते है। अधिक सम्पत्ति वालो की साख अधिक होती है और कम सम्पत्ति वालो की साख कम।

(५) व्यक्ति की तरल सम्पत्ति (Liquidity)—किसी व्यक्ति की साख केवल उसकी सम्पत्ति के द्वारा ही निश्चित नही होती है बल्कि उसकी सम्पत्ति की तरलता पर भी आधारित होती है। जिन व्यक्तियो की पूँजी तरल सम्पत्ति मे लगी होती है उनकी साख प्राय अधिक होती है। यदि ऋण लेने वाले के पास सरकारी प्रतिभूतियाँ तथा अन्य प्रकार के तरल आदेय हैं तो उसकी साख अधिक होगी और उसे आसानी से ऋण प्राप्त हो सकेंगे। यदि ऋणी के पास अचल सम्पत्ति है तो ऋण देने वाले को सकोच होगा।

(६) ऋण की अवधि (Period of Loan)—ऋण कितने लम्बे समय के लिए लिया जा रहा है, इस बात पर ऋणी की साख निर्भर होती है। ऋणदाता प्रायः दीर्घकालीन ऋण देने में सकोच करते हैं क्योंकि लम्बे समय मे ऋणी के चरित्र, उसकी ऋण लौटाने की क्षमता तथा आर्थिक स्थिति मे परिवर्तन होने की सम्भावना अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त जमानत के तौर पर रक्खी गई सम्पत्ति अथवा प्रतिभूतियो का मूल्य भी बदल सकता है। अतः दीर्घकालीन ऋणो मे जोखिम अधिक होती है जिसके कारण ऋण लेने वाले की साख कम रहती है।

साख का वर्गीकरण (Types of Credit)—

साख के वर्गीकरण के कई आधार हो सकते हैं—ऋणी की स्थिति के अनुसार, ऋणदाता की स्थिति के अनुसार, ऋण की अवधि के अनुसार तथा ऋण के उपयोग के अनुसार साख का वर्गीकरण किया जा सकता है। किन्तु इनमें सबसे उपयुक्त वर्गीकरण वह है जो ऋणी की स्थिति पर आधारित हो क्योंकि इस प्रकार का वर्गीकरण ही यह बता सकता है कि साख को किन-किन कामों में लाया जाता है। इसलिए अधिक प्रचलित रीति साख को उसके प्रयोगों के अनुसार वर्गीकृत करने की है। इस आधार पर साख को निम्नलिखित दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) सार्वजनिक साख (Public Credit)
(२) व्यक्तिगत साख (Private Credit)

सार्वजनिक साख—

सार्वजनिक साख से अभिप्राय सरकारी साख से होता है। इस प्रकार की साख में वे ऋण सम्मिलित होते हैं जो विभिन्न सरकारों के द्वारा भविष्य में भुगतान करने के वायदे पर प्राप्त किये जाते हैं। जब सरकार भविष्य में भुगतान करने के वायदे पर ऋण लेती है अथवा वर्तमान समय में इस वायदे पर वस्तुयें प्राप्त करती है कि उनका भुगतान भविष्य में कर दिया जायेगा तो उसे हम सार्वजनिक साख कहते हैं। वर्तमान सरकारें अपने पूँजीगत तथा अन्य प्रकार के व्यय को पूरा करने के लिए काफी मात्रा में सार्वजनिक ऋण लेती है।

व्यक्तिगत साख—

समस्त गैर सरकारी ऋणियों के भविष्य में भुगतान करने के वायदे व्यक्तिगत साख कहलाते हैं। जब कोई व्यक्ति अथवा व्यावसायिक संस्था भविष्य में भुगतान करने के वायदे पर ऋण लेती है तो उसे हम व्यक्तिगत साख कहते हैं। इस प्रकार की साख में व्यक्ति तथा संस्थाओं की साख सम्मिलित होती है। आजकल के व्यवसायिक युग में व्यक्तिगत साख का बड़ा महत्व है। वास्तव में यदि उसे आज के औद्योगिक तथा व्यवसायिक समाज का आधार कहा जाय तो अनुचित न होगा। व्यक्तिगत साख भी कई प्रकार की हो सकती है किन्तु उसके निम्नलिखित रूप महत्वपूर्ण है—

(अ) बैंक साख (Bank Credit)—बैंक साख के अन्तर्गत बैंकिंग संस्थाओं के विभिन्न प्रकार के भुगतान करने के वायदे सम्मिलित होते हैं। बैंकों की चालू जमा (Demand Deposit) तथा निश्चित जमा (Times Deposit), बैंक नोट, ऋण पत्र (Debentures), बौंड्स (Bonds) तथा बेंकरों की स्वीकृतियाँ (Banker's Acceptances) आदि बैंक साख में सम्मिलित होते है। प्राय बैंक-साख शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में किया जाता है जिसके अनुसार उसके अन्तर्गत केवल व्यापारिक बैंकों की चालू जमा (Demand deposits) ही सम्मिलित होती है

विस्तृत अर्थ मे बैंक साख के अन्तर्गत बैंको की सभी प्रकार की साख सम्मिलित की जाती है। केन्द्रीय बैंक साख (Central Bank Credit) भी एक प्रकार की बैंक साख ही है जिसमे केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रकाशित नोट तथा अन्य प्रकार के माग-दायित्व (Demand liabilities) सम्मिलित होते है।

(ब) व्यवसायिक साख (Commercial Credit)—व्यवसायिक साख के अन्तर्गत व्यापारी तथा साहसी वर्ग के ऋण तथा भविष्य मे भुगतान करने के वायदे सम्मिलित होते है। उद्योगपति को अपनी व्यवसाय सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ऋणो की आवश्यकता होती है। ये ऋण भविष्य मे भुगतान करने के वायदे पर प्राप्त किये जाते हैं। कच्चे माल को खरीदने, मजदूरी का भुगतान करने, वस्तुओं के बिक्री व्यय आदि के लिए व्यवसायी को अल्पकालीन ऋण की आवश्यकता होती है। व्यवसायिक वर्ग के द्वारा अपने व्यवसाय के लिए प्राप्त किये जाने वाले अल्पकालीन ऋणो को व्यवसायिक साख मे सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार की साख ६ मास अथवा अधिक से अधिक एक वर्ष के लिए हुआ करती है। उद्योग तथा व्यवसाय के पूँजीगत व्यय को पूरा करने के लिए प्राप्त किये जाने वाले दीर्घकालीन ऋणों को विनियोग साख (Investment Credit) कहते हैं। व्यवसायिक साख को व्यापारिक साख (Mercantile Credit), औद्योगिक साख (Industrial Credit) तथा कृषि साख (Agricultural Credit) मे भी वर्गीकृत किया जा सकता है। व्यापारिक साख मे थोक तथा फुटकर व्यापारियो के ऋण अथवा भविष्य मे भुगतान के वायदे सम्मिलित होते है, जिनका प्रयोग बिक्री के लिए वस्तुये प्राप्त करने के लिए किया जाता है। औद्योगिक साख के अन्तर्गत उद्योगपतियों तथा अन्य उत्पादकों के ऋण सम्मिलित होते हैं। कृषि साख मे किसानो तथा कृषि सस्थाओं के भविष्य मे भुगतान करने के वायदे सम्मिलित होते है जो बीज तथा खाद खरीदने, खेत मे सुधार करने तथा अन्य प्रकार के उत्पादन सम्बन्धी व्यय को पूरा करने के कारण पैदा होते हैं।

(स) उपभोग साख (Consumption Credit)—उपभोग साख के अन्तर्गत वे सब ऋण आ जाते हैं जो व्यक्तियो के द्वारा उपभोग सम्बन्धी व्यय पूरा करने के लिए प्राप्त किये जाते है। इस प्रकार के ऋणो की एक विशेषता यह होती है कि इनसे ऋणी को किसी प्रकार की आय प्राप्त नहीं होती है। जब उपभोग सम्बन्धी वस्तुओं को भविष्य मे भुगतान करने के वायदे पर प्राप्त किया जाता है तो उसे उपभोग साख कहते है। उपभोग साख मे दूकानदारो के द्वारा दिया गया उधार तथा *साहूकार व बैंकों के द्वारा दिये गये व्यक्तिगत ऋण सम्मिलित होते हैं।*

साख की मात्रा को प्रभावित करने वाली बातें
(Factors Effecting Volume of Credit)—

किसी देश मे साख की मात्रा वहाँ की औद्योगिक तथा व्यापारिक उन्नति पर निर्भर होती है। कोई देश औद्योगिक तथा व्यापारिक दृष्टि से जितना अधि

उन्नत होता है उतना ही वहां पर साख का अधिक प्रयोग किया जाता है। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों मे साख के विस्तार की सम्भावना बहुत कम होती है। साख का विस्तार ऋण देने वालो तथा ऋण लेने वालो के द्वारा भी निर्धारित होता है। ऋणदाता कितनी मात्रा मे ऋण देने को तैयार हैं तथा ऋण लेने वाले कितना ऋण लेना चाहते है, इन बातो पर समाज मे साख की मात्रा निर्भर होती है। मुख्यत: निम्नलिखित बातें साख की मात्रा को प्रभावित करती हैं—

(१) लाभ की आशा (Expectation of Profit)—समाज मे विनियोग की मात्रा लाभ की आशा के ऊपर निर्भर होती है। प्रत्येक व्यवसायी विनियोग करने से पूर्व इस बात को देखता है कि उस विनियोग से उसे कितना अधिक लाभ प्राप्त होगा। विनियोगो पर लाभ की मात्रा जितनी अधिक होती है तथा विनियोग जितने अधिक सुरक्षित होते हैं उतना ही अधिक साख का विस्तार होता है। जब विनियोगो पर लाभ की दर ऊँची होती है तो विनियोगी वर्ग अधिक मात्रा मे ऋण लेकर विनियोग करना चाहते हैं और ऋणदाता भी अधिक मात्रा मे ऋण देने के लिए तैयार रहते है। ऐसी दशा मे साख का विस्तार अधिक मात्रा मे होता है। इसके विपरीत जब लाभ की दर कम होती है तो साख का विस्तार भी कम होता है।

(२) व्यापारिक दशायें (Trade Conditions)—यदि व्यापार की दशा अच्छी होती है तो विनियोगी-वर्ग अधिक मात्रा मे विनियोग करना चाहते हैं और साख का विस्तार अधिक होता है। समृद्धि काल (Prosperity Period) मे व्यापारिक तेजी के कारण व्यवसायो तथा उद्योगो को प्रोत्साहन मिलता है तथा विनियोगो पर अधिक लाभ प्राप्त होने लगते हैं। ऐसी दशा मे व्यवसायिक वर्ग अधिक मात्रा मे ऋण लेकर अपने व्यापार तथा उद्योगो मे लगाते हैं। बैंक इस बढ़ी हुई माग को पूरा करने के लिए तेजी के साथ साख का विस्तार करते हैं। व्यापारिक तेजी के कारण ऋणो की माग अधिक होने से ब्याज की दर भी बढ़ जाती है जिससे ऋणदाता अधिक मात्रा में ऋण देने को तत्पर रहते हैं। इस प्रकार समृद्धि काल मे साख के विस्तार के लिए उपयुक्त वातावरण पाया जाता है। इसके विपरीत मन्दी-काल (Depression) मे साख का सकुचन होता है। व्यापार की दशायें अच्छी न होने के कारण व्यवसायो को हानि होती है, उद्योग बन्द होने लगते हैं, उत्पादन गिरता है तथा व्यवसायिक वर्ग को हानि होती है। ऋणो की माग बहुत कम हो जाती है और साख की मात्रा कम होने लगती है।

(३) राजनैतिक दशायें (Political Conditions)—साख का विस्तार होने के लिए राजनैतिक स्थिरता, सुरक्षा तथा शान्ति का होना आवश्यक है। देश मे राजनैतिक स्थिरता होने से लोगो का आर्थिक जीवन भी स्थायी हो जाता है। राजनैतिक स्थिरता समाज मे आर्थिक विश्राम के लिए उपयुक्त दशायें उत्पन्न करती है जिससे व्यवसाय तथा उद्योगो का विस्तार होता है, ऋणो की माग बढ़ती है

और अधिक मात्रा में साख का निर्माण किया जाता है। इसके विपरीत राजनैतिक अस्थिरता आर्थिक जीवन मे अनिश्चितता उत्पन्न करती है, व्यापार तथा उद्योगो का विकास रुक जाता है, ऋणो की माग कम होती है तथा साख का सकुचन होता है।

(४) सट्टे की क्रियायें (Speculative Activity)—साख का विस्तार बहुत कुछ सट्टे की क्रियाओ पर निर्भर होता है। जब भविष्य मे मूल्यो के बढने की आशा होती है तो सट्टे की क्रियाओ को प्रोत्साहन मिलता है। सटोरिये वस्तुओ के अधिक सौदे करते है, ऋणो की माग बढती है और साख का अधिक विस्तार किया जाता है। इसके विपरीत जब सट्टे बाजार मे मन्दी होने के कारण सटोरियो को हानि होने लगती है तो सट्टे की क्रियायें कम हो जाती हैं, ऋणो की माग कम होती है और साख की मात्रा कम हो जाती है।

(५) चलन की दशायें (Currency Conditions)—एक स्थिर चलन प्रणाली साख के विस्तार के लिए उपयुक्त दशाये उत्पन्न करती है। जब चलन सम्बन्धी दशायें अनिश्चित होती है तो साख का सकुचन होता है। यदि देश की मुद्रा के मूल्य के कम होने का भय है अथवा सरकार की मुद्रा सम्बन्धी नीति अनिश्चित है तो ऐसी दशाओ मे साख का विस्तार नही होगा। इसके विपरीत एक स्थिर तथा समुचित चलन प्रणाली के अन्तर्गत साख के विस्तार की सम्भावना अधिक होती है।

(६) बैंकों का विकास तथा बैंकिग नीति (Development of Banks and Banking Policy)—वर्तमान समाज मे अधिकाश साख का निर्माण बैंको के द्वारा किया जाता है। किसी देश मे बैंको का विकास जितना अधिक होता है उतनी ही साख के विस्तार की सम्भावना बढती है। बैंकिग प्रणाली के विकसित होने से समाज मे साख के विस्तार की दशायें उत्पन्न होती है। इसके विपरीत यदि बैंको की सख्या कम है अथवा वे सुसगठित नही हैं तो ऐसी दशाओ मे साख का विस्तार नही हो सकेगा। सरकार की बैंकिग सम्बन्धी नीति का भी साख की मात्रा के ऊपर प्रभाव पडता है। यदि केन्द्रीय बैंक साख विस्तार की नीति को अपनाता है और बैंको को साख का विस्तार करने के लिए प्रोत्साहन देता है तो ऐसी दशा मे साख का विस्तार अधिक होगा। इसके विपरीत केन्द्रीय बैंक की साख सकुचन नीति का परिणाम यह होता है कि बैंक कम मात्रा मे साख का निर्माण करते हैं और साख का सकुचन हो जाता है।

क्या साख पूँजी है (Is Credit Capital)—

कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि साख पूँजी है और वह उत्पादन मे वृद्धि करती है इसलिए उसे उत्पत्ति का पृथक साधन माना जाना चाहिए। इस विचार का मुख्य आधार साख का मुद्रा की भाँति प्रयोग किया जाना है। आधुनिक समाज मे

समस्त आर्थिक क्रियाये साख पर आधारित होती हैं। साख-पत्रो का प्रयोग मुद्रा के रूप मे किया जाता है और विभिन्न प्रकार के साख-पत्र पूँजी की भाँति ही कार्य करते हैं। साख के प्रयोग से अधिक मात्रा मे धन का उत्पादन करने मे सहायता मिलती है इसलिए उसका उत्पादन व्यवस्था मे पूँजी की भाँति ही महत्वपूर्ण स्थान है। इन सब बातो के आधार पर ही साख को पूँजी माना गया है। प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्री श्री मैकलिग्रोड (Macleod) इसी विचार के मानने वाले हैं। उनके अनुसार "मुद्रा व साख दोनो ही पूँजी हैं। व्यापारिक साख व्यापारिक पूँजी है।"[6] किन्तु मैकलिग्रोड का यह विचार बिल्कुल भ्रमात्मक है क्योकि साख मे पूँजी की विशेषताये नही पाई जाती है। साख केवल ऋणी को अन्य लोगो से पूँजी प्राप्त करने का अधिकार देती है, वह स्वय पूँजी नही है।

पूँजी से हमारा अभिप्राय बचाये हुये धन के उस भाग से होता है जिसे और अधिक उत्पादन के लिए प्रयोग किया जाय। इस दृष्टि से साख न तो पूँजी है और न वह पूँजी का निर्माण ही करती है। साख को उत्पत्ति का पृथक साधन मानना भूल होगी। साख-पत्र केवल धन का हस्तान्तरण करने मे सहायता देते हैं। उनके द्वारा किसी प्रकार की नई पूँजी का निर्माण नही होता है। साख के द्वारा समाज मे धन तथा वस्तुयें उन लोगो से जो उनका उचित प्रयोग नही कर सकते हैं ऐसे लोगो को हस्तातरित हो जाती हैं जो उन्हे उचित प्रयोग मे ला सकते है। इस प्रकार साख केवल धन को हस्तातरित करने का साधन मात्र है। साख स्वय उत्पत्ति मे सहायक नही होती है बल्कि उसके बदले मे प्राप्त होने वाले उत्पत्ति के साधनों के प्रयोग मे उत्पादन मे वृद्धि होती है। साख स्वय उपयोगी नही है बल्कि उसके बदले मे उपयोगी वस्तुयें प्राप्त की जा सकती है।

इसके अतिरिक्त साख को उत्पत्ति का स्वतन्त्र साधन भी नही माना जा सकता है। साख उत्पत्ति का साधन नही है, वह केवल एक उत्पादन विधि है जिसके द्वारा उपयोगिता मे वृद्धि की जा सकती है। जिस प्रकार हम श्रम विभाजन तथा विनिमय के द्वारा उपयोगिता मे वृद्धि कर सकते है ठीक उसी प्रकार साख भी एक उत्पादन विधि है जिससे उपयोगिता बढती है। उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साख न तो पूँजी है और न उसे उत्पत्ति का स्वतन्त्र साधन ही माना जा सकता है। प्रो० मिल ने इसी विचार का समर्थन किया है। उनके अनुसार, "ऋण देने से किसी प्रकार की नई पूँजी का निर्माण नही होता है। ऐसा करने से वह पूँजी जो पहले मे ऋणदाता के पास थी, ऋणी को हस्तांतरित हो जाती है। साख तो केवल किसी दूसरे व्यक्ति की पूँजी का प्रयोग करने की आज्ञा है। उससे उत्पत्ति के साधनो मे किसी प्रकार की वृद्धि नही की जा सकती है वरन्

---

6 "Money and credit are both capital Mercantile credit is Mercantile Capital."
—*Macleod*: Elements of Banking, Chap. IV.

उनका केवल हस्तांतरण ही हो सकता है।"[7] रिकार्डो भी इसी मत से सहमत हैं और उनके अनुसार, "साख पूँजी का निर्माण नही करती है। वह केवल यह निश्चय करती है कि पूँजी का प्रयोग किसके द्वारा किया जाना चाहिए।"[8] अत. यह कहा जा सकता है कि साख पूँजी नही है और उसे उत्पत्ति का पृथक साधन भी नही माना जा सकता है।

साख और कीमत-स्तर (Credit and Prices)—

साख का कीमतो के ऊपर क्या प्रभाव पडता है, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। कुछ लेखको का विचार है कि साख का कीमत-स्तर पर कोई प्रभाव नही पडता है क्योकि वह नकदी का पूर्ण रूप से प्रतिस्थापन नही करती है। अमेरिकन अर्थशास्त्री वॉकर (Walker) तथा लैंगलिन (Langhlin) का यही मत है। उनके अनुसार साख कीमतो को प्रभावित नही करती है। इसका मुख्य कारण यह है कि साख के द्वारा ऋणों का अन्तिम भुगतान नही किया जा सकता है। साख मे क्रय-शक्ति तो होती है किन्तु उसमे निस्तारण शक्ति (Liquidating Power) नही होती है। सभी प्रकार के सौदो का तथा ऋणो का भुगतान अन्तिम रूप से नकद मुद्रा के द्वारा करना पडता है। इसलिए साख का कीमत-स्तर पर प्रभाव नही पडता है। इसके अतिरिक्त साख मुद्रा के द्वारा किये जाने वाले क्रय-विक्रय मे एक क्रिया दूसरी क्रिया के साथ सतुलित हो जाती है जिसके कारण साख कीमतो को प्रभावित नहीं कर पाती है।

इसके विपरीत प्रो० मिल (Mill) का विचार है कि साख के विस्तार तथा सकुचन का वस्तुओ एव सेवाओ की कीमतो पर ठीक वही प्रभाव पडता है जो मुद्रा के विस्तार तथा सकुचन का होता है क्योकि मुद्रा की भाँति साख मे भी क्रय-शक्ति होती है और उसके द्वारा भी वस्तुओ तथा सेवाओ का क्रय-विक्रय किया जाता है। जब साख की मात्रा बढती है तो लोगो के पास अधिक क्रय-शक्ति आ जाती है और वे वस्तुओ तथा सेवाओ की अधिक माग करते हैं जिसके कारण कीमते बढ जाती हैं। इसके विपरीत साख का सकुचन होने से लोगो के पास क्रय-शक्ति कम हो जाती है, वे वस्तुओ की कम माग करते है और कीमते गिर जाती है। अत. साख मुद्रा के विस्तार तथा सकुचन का भी कीमतो के ऊपर गहरा प्रभाव पडता है। इस विचार की सत्यता इस बात से विदित होती है कि केन्द्रीय बैंक अपनी साख नियन्त्रण की

---

7 "New capital is not created by the mere fact of lending, only the capital that was in the hands of the lender is now transferred to the hands of the borrower, credit being only the permission to use the capital of another person. The means of production cannot be increased by it but only be transferred " —*J M Mill*: Principles of Political Economy.

8 'Credit does not create capital, it only determines by whom that capital should be employed "

—*Ricardo* : Principles of Political Economy and Taxation.

नीति के द्वारा कीमत-स्तर पर काफी प्रभाव डाल सकता है। यद्यपि अधिकांश साख उत्पादन-कार्यों के लिए प्रयोग की जाती है किन्तु उत्पादन बढने मे कुछ समय अवश्य लगता है और इस काल मे साख क्रय-शक्ति मे वृद्धि करके कीमतो को बढ़ा सकती है।

उपर्युक्त दोनो विचारो मे से किसी को भी पूर्णतया ठीक नही माना जा सकता है। वास्तविकता इन दोनो विचारो के बीच मे है। इस सम्बन्ध मे लार्ड केन्स (Keynes) का मत अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। उनके अनुसार साख सामान्य कीमत-स्तर पर प्रभाव तो डालती है किन्तु उतना नही जितना कि नकद मुद्रा का होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि साख-पत्रो मे सर्वमान्यता का वह गुण नही पाया जाता है जो नकद मे है। अत. इन सभी साख-पत्रो का भुगतान नकदी मे करना होता है। बैंको को इस प्रकार के भुगतान निपटाने के लिए अपने पास नकद कोष रखने पडते हैं। बैंक जितना नकद कोष रखते हैं चलन मे मुद्रा की मात्रा उतनी ही कम हो जाती है। इस प्रकार साख मुद्रा का विस्तार होने पर दो प्रतिविरोधी शक्तियाँ एक साथ कार्य करती हैं। साख-पत्रो की मात्रा मे वृद्धि होने से वस्तुओ की कीमतें बढती हैं किन्तु वे उतना नही बढती हैं जितना कि साख मुद्रा की मात्रा को बढाया गया है क्योंकि साख का निर्माण करते समय बैंको को नकद कोष रखने होते है। बैंको के द्वारा नकद कोष रखने का प्रभाव कीमतो को कम करने का होता है। ऐसी दशा मे कीमते बढती तो है किन्तु वे उतना नही बढती जितना कि साख बढती है। यदि साख नकद मुद्रा का पूर्ण प्रतिस्थापन कर सकती तो कीमतो के ऊपर साख का वही प्रभाव पडता जो मुद्रा का होता है किन्तु मुद्रा का सही प्रतिस्थापन न कर सकने के कारण साख का कीमतो के ऊपर प्रभाव पडता तो है किन्तु उतना नही जितना कि नकद मुद्रा का पडता है।

साख-पत्र (Credit Instruments)—

साख-पत्रो से अभिप्राय उन सब प्रतिज्ञा-पत्रो से होता है जिनका प्रयोग साख मुद्रा के रूप मे किया जाता है। इन साख-पत्रो मे किसी व्यक्ति, सस्था अथवा सरकार के द्वारा यह प्रतिज्ञा की जाती है कि उनमे लिखित रकम का भुगतान एक निश्चित समय के पश्चात् उस व्यक्ति-विशेष को कर दिया जायेगा जिसके पक्ष मे वे लिखे गये हैं। आज के व्यावसायिक समाज मे साख-पत्रों का महत्वपूर्ण स्थान है। उनके द्वारा विभिन्न प्रकार के भुगतानो को निबटाया जाता है तथा उनके आधार पर ही ऋणो का आदान-प्रदान किया जाता है। साख-पत्रो के द्वारा उत्पादकों तथा व्यापारियो को अपनी व्यावसायिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए ऋण प्राप्त होते है और इस प्रकार वे हमारे व्यावसायिक जीवन को सुचारू रूप से चलाने मे बडी सहायता देते हैं। यद्यपि साख-पत्र विनिमय के माध्यम का कार्य करते हैं और उनके बदले मे वस्तुयें तथा सेवाओ को प्राप्त किया जा सकता है किन्तु फिर भी उन्हें मुद्रा

मे सम्मिलित नही किया जा सकता है क्योंकि उन्हे विधिग्राह्यता प्राप्त नही होती है। समाज मे भुगतानों को निबटाने तथा ऋणो का आदान प्रदान करने के लिए विभिन्न प्रकार के साख पत्रो का प्रयोग किया जाता है जिनमे से प्रतिज्ञा-पत्र (Promissory Note) चैक, हुण्डी, विदेशी विनिमय-पत्र तथा ड्राफ्ट प्रमुख है—

(१) **प्रतिज्ञा-पत्र अथवा रुक्का** (Promissory Note)—प्रतिज्ञा-पत्र सबसे साधारण प्रकार का साख-पत्र होता है। इसके लिखने वाला यह प्रतिज्ञा करता है कि वह एक निश्चित समय के पश्चात् उसमे लिखित रकम का भुगतान उसमें दिये गये व्यक्ति अथवा उसकी आज्ञानुसार किसी अन्य व्यक्ति या उसके वाहक (Bearer) को कर देगा। प्रत्येक प्रतिज्ञा-पत्र के सम्बन्ध मे दो पक्ष होते हैं—एक प्रतिज्ञा-पत्र को लिखने वाला तथा दूसरा वह जिसके पक्ष मे वह लिखा गया है। पहला पक्ष उसमे लिखित रकम का दूसरे पक्ष को भुगतान करने का वायदा करता है। यह प्रतिज्ञा-पत्र तीन प्रकार के हो सकते है—(i) **व्यापारिक प्रतिज्ञा-पत्र** (Commercial Promissory Notes)—इस प्रकार के प्रतिज्ञा-पत्रो का प्रयोग व्यावसायिक भुगतानों को निबटाने तथा व्यापारिक ऋणो का निस्तारण (Liquidate) करने के लिए किया जाता है। ऋणी इस प्रकार के प्रतिज्ञा-पत्र को लिखकर अपने ऋणदाता को देता है जिसमे भविष्य मे भुगतान निबटाने का वायदा किया जाता है। व्यापारिक प्रतिज्ञा-पत्र सदैव ही एक निश्चित अवधि के लिए लिखे जाते हैं। (ii) **बैंक प्रतिज्ञा-पत्र** (Bank Promissory Note)—इस प्रकार के प्रतिज्ञा-पत्र केवल केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी किए जाते है और उनका भुगतान तुरन्त ही माग करने पर कर दिया जाता है। केन्द्रीय बैंक के द्वारा जारी किये जाने वाले नोट इसी प्रकार के प्रतिज्ञा-पत्र होते है। (iii) **चलन प्रतिज्ञा-पत्र** (Currency Promissory Note)—इस प्रकार के प्रतिज्ञा-पत्र मुद्रा सचालक के द्वारा जारी किये जाते हैं और बैंक प्रतिज्ञा पत्र की भांति ही होते है। इनका भुगतान भी तुरन्त माग करने पर कर दिया जाता है। भारतवर्ष मे एक रुपये के नोट इसी के प्रकार के प्रतिज्ञा-पत्रो का उदाहरण है।

(२) **विनिमय-पत्र** (Bill of Exchange)—यह भी एक प्रकार का साख-पत्र होता है जिसमे एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को उसमे लिखित रकम चुकाने का आदेश देता है। "विनिमय बिल एक लिखित-पत्र होता है जिसके लिखने वाला किसी अन्य व्यक्ति को यह आदेश देता है कि वह बिना किसी शर्त के उसमे बताये गये व्यक्ति या उसके आदेश प्राप्त व्यक्ति या उसके वाहक को माग करने पर अथवा निश्चित अवधि के पश्चात्, उसमे लिखित रकम का भुगतान कर दे।" विनिमय-पत्रो का प्रयोग आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार सम्बन्धी भुगतानो को निबटाने के लिए किया जाता है। विनिमय-पत्र के सम्बन्ध मे तीन पक्ष होते हैं—(i) बिल को लिखने वाला (Drawer), (ii) बिल जिस के ऊपर लिखा जाता है (Drawee) तथा

(iii) बिल का भुगतान प्राप्त करने वाला (Payee)। प्रयोग के अनुसार विनिमय बिल दो प्रकार के हो सकते है—

(१) आन्तरिक विनिमय-पत्र (Inland Bills of Exchange)—यह वे विनिमय-पत्र होते है जिनका प्रयोग आन्तरिक व्यापार सम्बन्धी भुगतानों को निबटाने के लिए किया जाता है।

(२) विदेशी विनिमय-पत्र (Foreign Bills of Exchange)—इस प्रकार के विनिमय-पत्रों का प्रयोग विदेशी व्यापार सम्बन्धी भुगतानों को निबटाने के लिए किया जाता है।

(३) हुण्डी (Hundi)—हुण्डी एक प्रकार का आन्तरिक विनिमय-पत्र होता है जिसका प्रयोग देशी व्यापार सम्बन्धी भुगतानों को निबटाने के लिए किया जाता है। हुण्डियों का प्रयोग भारतवर्ष मे बहुत प्राचीन काल मे होता आया है। यह स्थानीय भाषाओं मे लिखी जाती है और इनकी स्वीकृति केवल रीति-रिवाज पर आधारित होती है। यद्यपि हुण्डियों पर भी विनिमय-पत्रों की भाँति टिकट लगाया जाता है किन्तु इन्हे कानूनी स्वीकृति प्राप्त नही होती है। हुण्डियां प्रायः देशी बैंकर तथा व्यापारियों द्वारा लिखी जाती है और इनके प्रयोग से आन्तरिक व्यापार को चलाने मे बडी सहायता मिलती है। हुण्डियां कई प्रकार की होती है किन्तु उनमे से दो प्रकार की हुण्डियां अधिक प्रचलित है—(i) दर्शनी हुण्डी—वह हुण्डी जिसका भुगतान माग करने पर तुरन्त किया जाता है दर्शनी हुण्डी कहलाती है। (ii) मुद्दती हुण्डी—इस प्रकार की हुण्डी का भुगतान एक निश्चित अवधि के पश्चात् किया जाता है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार की हुण्डियां भी होती है जैसे (iii) धनी जोग हुण्डी—जिसका भुगतान उस व्यक्ति को होना है जिसका नाम हुण्डी मे लिखा है, (iv) देखनहार हुण्डी—जिसका भुगतान उस व्यक्ति को किया जाता है जो उसे भुगतान के लिए प्रस्तुत करता है। (v) शाहजोग हुण्डी—जिसका भुगतान किसी आदरणीय व्यापारी को ही हो सकता है। (vi) नाम जोग हुण्डी—जिसका भुगतान पाने वाले के आदेशानुसार किया जाता है। इन हुण्डियों का उद्देश्य माल खरीदने वाले को कुछ समय के लिए ऋण देना होता है।

(४) चैक (Cheque)—आज के युग का सबसे अधिक प्रचलित साख-पत्र चैक है। चैक का प्रयोग विभिन्न प्रकार के भुगतानों को निबटाने तथा बैंक मे एक व्यक्ति के खाते से दूसरे व्यक्ति के खाते मे रुपये का हस्तान्तरण करने के लिए किया जाता है। चैक बैंक मे रुपया जमा करने वाले का अपने बैंक के नाम एक लिखित आदेश होता है जिसके अनुसार बैंक उसके खाते मे से रुपया निकालकर आदेश-प्राप्त व्यक्ति अथवा उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति या उसके वाहक को चैक पर अंकित रकम का भुगतान करता है। चैक सदैव बैंक के ऊपर लिखे जाते है और बैंक को उनका भुगतान माग करने पर तुरन्त करना पडता है। चैक के सम्बन्ध

मे तीन पक्ष होते हैं—(i) चैक के लिखने वाला (Drawer), (ii) जिसके ऊपर चैक लिखा जाता है—बैंक (Drawee) तथा (iii) चैक का भुगतान लेने वाला (Payee) ।

चैक (Cheque) कई प्रकार के हो सकते हैं—(i) वाहक चैक (Bearer Cheque)—यह सबसे साधारण प्रकार का चैक होता है। इस प्रकार के चैक का भुगतान आदेश प्राप्त व्यक्ति या किसी भी ऐसे व्यक्ति को किया जा सकता है जो उसे बैंक मे प्रस्तुत करता है। वाहक चैक का भुगतान लेने के लिए आदेश प्राप्त व्यक्ति के हस्ताक्षरो का होना आवश्यक नही होता है। इस प्रकार के चैक पूर्ण रूप से हस्तांतरीय (Transferable) होते है। भुगतान पाने की सुविधा की दृष्टि से यह चैक बहुत अच्छे होते है किन्तु इनमें सुरक्षा का अभाव रहता है। (ii) आदेश चैक (Order Cheque)—इस प्रकार के चैक का भुगतान केवल आदेश प्राप्त व्यक्ति को ही किया जा सकता है। चैक का भुगतान लेते समय चैक पर उस व्यक्ति के हस्ताक्षरो का होना आवश्यक है जिसके पक्ष मे चैक लिखा गया है। आदेश चैक का भुगतान करते समय बैंक इस बात की जाँच करता है कि चैक का भुगतान ठीक व्यक्ति को ही किया जा रहा है। इस प्रकार के चैक का भुगतान उस व्यक्ति को भी किया जा सकता है जिसके लिए चैक के पीछे आदेश दिया गया हो। सुरक्षा की दृष्टि मे आदेश चैक बहुत अच्छे होते हैं (iii) रेखांकित चैक (Crossed Cheque)—यदि किसी चैक के बाईं ओर ऊपरी हिस्से मे दो आडी रेखाये खीच कर उनके बीच मे & Co. शब्द लिख दिये जाये तो उसे रेखांकित चैक कहते है। रेखांकित चैक (Crossed Cheque) का भुगतान बैंक के काउण्टर (Counter) पर नकद रूप मे नही किया जा सकता है। इस प्रकार का चैक केवल उस व्यक्ति अथवा संस्था के हिसाब मे जमा किया जा सकता है जिसके पक्ष मे वह लिखा गया। रेखांकित चैक सबसे अधिक सुरक्षित होते है और उनके द्वारा गलत भुगतान होने की सम्भावना बिल्कुल कम हो जाती है। रेखांकित चैक भी कई प्रकार के होते हैं—(अ) साधारण रेखांकित चैक (General Crossed Cheque)—इस प्रकार के चैक पर केवल दो आडी रेखाये खीच दी जाती हैं अथवा उनके बीच मे & Co. या Not Negotiable शब्द लिख दिये जाते है। इस प्रकार के चैक का भुगतान किसी भी बैंक के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। (ब) विशेष रेखांकित चैक (Special Crossed Cheque)—इस प्रकार के चैक का भुगतान केवल उसी बैंक को किया जा सकता है जिसका नाम चैक को रेखांकित (Cross) करते समय दोनों रेखाओं के बीच मे लिख दिया गया है। विशेष रेखांकित चैक का भुगतान लेने के लिए भुगतान लेने वाले का हिसाब उसी बैंक मे होना आवश्यक है जिसका नाम रेखाओं के बीच मे लिखा है। इस प्रकार के चैक और अधिक सुरक्षित हो जाते है।

(५) बैंक ड्राफ्ट (Bank Draft)—ड्राफ्ट एक प्रकार के विनिमय बिल होते है जो बैंक के द्वारा अपनी अन्य शाखाओ पर लिखे जाते है। ड्राफ्ट के द्वारा एक बैंक अपनी किसी अन्य शाखा को यह आदेश देता है कि ड्राफ्ट की रकम उस पर लिखे हुए व्यक्ति को दे दी जाये। ड्राफ्ट का प्रयोग एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजने के लिए किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति अपने रुपये को किसी दूसरे स्थान पर भेजना चाहता है तो वह उस रुपये को बैंक की स्थानीय शाखा मे जमा कर देता है। बैंक अपना कमीशन लेकर उस रकम के बदले मे एक ड्राफ्ट अपनी उस शहर की शाखा के नाम लिख देता है। जब यह ड्राफ्ट बैंक की उस शाखा मे प्रस्तुत किया जाता है तो ड्राफ्ट के रुपये का भुगतान उस पर लिखित व्यक्ति अथवा संस्था को कर दिया जाता है। ड्राफ्ट के द्वारा रुपया भेजना अधिक सुरक्षित होता है तथा उस पर व्यय भी कम आता है।

(६) साख प्रमाण-पत्र (Letter of Credit)—साख प्रमाण-पत्र किसी व्यक्ति, फर्म अथवा बैंक के द्वारा लिखा हुआ एक प्रकार का साख-पत्र होता है जिसमे किसी अन्य व्यक्ति, फर्म अथवा बंक से यह प्रार्थना की जाती है कि वह उसमे लिखित व्यक्ति को एक निश्चित अवधि के भीतर एक निश्चित सीमा तक किसी भी मात्रा मे साख-प्रदान कर दे। इस प्रकार के प्रमाण-पत्रो का विदेशी व्यापार मे बडा महत्व है। बैंकों के द्वारा लिखित साख प्रमाण-पत्रो के आधार पर एक देश के व्यापारी दूसरे देश के व्यापारियो से साख प्राप्त कर लेते है। साख प्रमाण-पत्र दो प्रकार के हो सकते हैं—(i) साधारण साख प्रमाण-पत्र जो किसी एक व्यक्ति, फर्म अथवा बैंक के नाम लिखे जाते हैं। (ii) चलायमान साख प्रमाण-पत्र (Circular Letter of Credit) जारी करने वाले बैंक की शाखाओ, अभिकर्त्ताओं तथा अन्य सम्बन्धी बंको को एक ही साथ लिखा जाता है। इन साख-पत्रो के आधार पर साख नकद रूप मे अथवा विनिमय-पत्रो के रूप मे प्राप्त की जा सकती है, वह बैंक की किसी भी शाखा, एजेन्ट अथवा सम्बन्धी बैंक से प्राप्त की जा सकती है। प्राप्त ऋणो की मात्रा साख-पत्र के पीछे अंकित कर दी जाती है। कुल प्राप्त साख उस सीमा के भीतर होनी चाहिए जो साख-पत्र मे लिखी है।

(७) यात्री चैंक (Traveller's Cheque)—इस प्रकार के चैंक बैंको के द्वारा यात्रियो की सुविधा के लिए जारी किये जाते है। विदेशी यात्रियो के लिए यह चैंक विशेषतया उपयोगी होते है। इन चैंकस को प्रस्तुत करने पर यात्री जारी करने वाले बैंक की किसी भी शाखा से चैंक पर अंकित रकम प्राप्त कर सकता है। चैंक जारी करते समय बैंक चैंक के एक विशेष स्थान पर यात्री के हस्ताक्षर ले लेता है जो भुगतान करने वाले बैंक के लिए नमूने (Specimen) का काम करते है। भुगतान के समय बैंक यात्री के हस्ताक्षर चैंक पर कराता है और उन्हे पहले किये गये हस्ताक्षरो से मिला लेता है। इस प्रकार के चैक के खो जाने पर नुकसान हो जाने की सम्भावना बहुत कम रहती है क्योंकि कोई दूसरा व्यक्ति इसका

भुगतान नहीं ले सकता है। जारी करने वाले बैंक की जितनी अधिक शाखायें होती हैं उतनी ही यात्रियों को अधिक सुविधा रहती है।

(८) कोषागार विपत्र (Treasury Bills)—कोषागार विपत्र सरकार के द्वारा अल्पकालीन साख प्राप्त करने के उद्देश्य से जारी किये जाते हैं। सरकार को प्राय. एक निश्चित समय पर आय प्राप्त होनी है किन्तु व्यय को उस समय तक के लिए नहीं रोका जा सकता है। अत सरकार को व्यय करने के लिए आय प्राप्त होने से पूर्व ही धन की आवश्यकता हो सकती है। इस प्रकार की आवश्यकता को पूरा करने के लिए सरकार के द्वारा कोषागार विपत्र जारी किये जाते हैं। इनकी अवधि तीन, छ, नौ अथवा बारह महीने की होती है। इस अवधि के उपरान्त इनका भुगतान सरकार से प्राप्त किया जा सकता है। कोषागार विपत्रों को जारी करने के हेतु सरकार टेण्डर (Tenders) मांगती है। टेण्डर देने वाले को उस ब्याज का ब्यौरा देना होता है जिस पर वह ऋण देने को तैयार है। सबसे कम ब्याज वाले टेण्डर को स्वीकार कर लिया जाता है। कोषागार विपत्रों पर ऋण ब्याज की रकम काट कर लिया जाता है और भुगतान के समय विपत्रों पर अंकित पूरी रकम लौटा दी जाती है।

उपर्युक्त साख-पत्रों के अतिरिक्त कुछ दीर्घकालीन साख-पत्र भी होते हैं जिनका प्रयोग लम्बे समय के लिए ऋण प्राप्त करने के उद्देश्य से किया जाता है। इस प्रकार के साख-पत्रों में मिश्रित पूंजी वाली कम्पनियों तथा अन्य संस्थाओं के द्वारा जारी किये जाने वाले बांड तथा ऋण-पत्र (Bonds and Debentures), सरकारी प्रतिभूतियां (Government Securities) और कम्पनियों के अंश (Shares) आ जाते हैं।

साख की उपयोगिता तथा उसके कार्य
(Functions and Uses of Credit)—

वर्तमान समाज में साख एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। आज का औद्योगिक तथा व्यवसायिक संगठन एक प्रकार से साख पर आधारित है। इसी कारण साख को व्यापार का जीवन-रक्त (Life blood) कहा जाता है। आजकल सभी प्रकार के बड़े-बड़े आर्थिक भुगतान नकद मुद्रा में न होकर विभिन्न प्रकार के साख-पत्रों के द्वारा किये जाते हैं। साख का प्रयोग आर्थिक जीवन के लिए बहुत बड़ी देन है। साख समाज में बहुत से उपयोगी कार्य करती है तथा आर्थिक समृद्धि के लिए उपयुक्त दशायें उत्पन्न करती है। डैनियल वैब्सटर (Daniel Webster) ने वर्तमान समाज में साख के महत्व को बतलाते हुए लिखा है—"साख ने राष्ट्रों को धनी बनाने में संसार की समस्त खानों (Mines) से कई हजार गुणा अधिक काम किया है। साख ने श्रम को प्रोत्साहित किया है, उद्योगों को बढ़ावा दिया है, व्यापार को विदेशों में फैलाया है तथा संसार के प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक राज्य तथा प्रत्येक जाति

को एक दूसरे के समीप लाकर सच्चे आर्थिक सहयोग की भावना उत्पन्न की है।"[9] स्पष्ट है कि साख के प्रयोग से समाज को अन्य आर्थिक लाभ प्राप्त होते है जिनके कारण साख वर्तमान समाज मे एक महत्वपूर्ण कार्य करती है। साख के प्रयोग से प्राप्त होने वाले कुछ आर्थिक लाभ इस प्रकार है—

(१) साख नकद मुद्रा के प्रयोग में बचत करती है—साख का प्रयोग नकद मुद्रा के स्थान पर किया जाता है जिसके कारण नकद मुद्रा के प्रयोग मे काफी बचत हो जाती है। आजकल हम बहुत से भुगतानो को साख-पत्रो के द्वारा निबटा लेते है जिनके लिए पहले धात्विक मुद्रा की आवश्यकता पड़ती थी। इस प्रकार साख-पत्रो के द्वारा धातु मुद्रा की बचत होती है और समाज मे विनिमय के माध्यम की मात्रा बढ जाती है। विनिमय के माध्यम की मात्रा अधिक होने से व्यापार तथा व्यवसाय मे सुविधा होती है।

(२) साख पूँजी की उत्पादन शक्ति को बढ़ाता है—साख के प्रयोग के द्वारा पूँजी की गतिशीलता मे वृद्धि होती है और बेकार पडी हुई पूँजी बैंको के द्वारा उन लोगो तक पहुँच जाती है जो उसे उत्पादन कार्य मे लगा सकते है। समाज मे ऐसे बहुत से व्यक्ति होते हैं जिनके पास रुपया होता है किन्तु वे उसका विनियोग नही कर सकते है। ऐसी पूँजी समाज के लिए बेकार रहती है। साख-व्यवस्था के द्वारा इस प्रकार की पूँजी को कार्यशील किया जा सकता है जिससे समाज के आर्थिक विकास मे सहायता मिलती है।

(३) साख-पत्रों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों को आसानी से निबटाया जा सकता है—मुख्यता विदेशी विनिमय पत्रो (Foreign Bills of Exchange) का प्रयोग विदेशी भुगतानो को निबटाने मे बडी सहायता करता है। इनके द्वारा मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजे बिना ही विदेशी भुगतानो को निबटाया जा सकता है। इस प्रकार साख का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के चलाने तथा उसके विस्तार मे बडी सहायता देता है।

(४) साख-पत्रों के द्वारा बड़े-बड़े भुगतानों को सुविधापूर्वक निबटाया जा सकता है—बड़ी रकम के भुगतानो को नकद मुद्रा के द्वारा निबटाने मे बडी कठिनाई होती थी किन्तु आजकल बडे से बड़े भुगतानो को भी चैक (Cheque) ड्राफ्ट (Draft), हुण्डी तथा अन्य प्रकार के साख-पत्रो के द्वारा आसानी से निबटाया जा सकता है।

---

9 "Credit has done more —a thousand times more —to enrich nations than all the mines of the world. It has excited labour, stimulated manufacturers, pushed commerce to every sea and brought every nation every kingdom, and every small tribe among the races of man to be known to all the rest."

—*Daniel Webester* Quoted by *M. C. Vaish* in Mudra Ki Rup Rekha.

(५) मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान को सुविधापूर्वक तथा कम व्यय पर भेजा जा सकता है—साख-पत्रों के प्रचलन से पूर्व मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने में बड़ी असुविधा होती थी तथा बहुत अधिक व्यय करना पड़ता था। किन्तु अब यह काम साख-पत्रों की सहायता से बड़ी आसानी से किया जा सकता है। ऐसा करने से व्यय भी कम आता है और रुपये भेजने में सुरक्षा भी अधिक रहती है।

(६) साख के द्वारा बैंक थोड़े से नकद कोष के आधार पर बहुत बड़ी रकम उधार दे सकता है—बैंकों के द्वारा निर्माण की जाने वाली साख वर्तमान उद्योगों तथा व्यवसाय को जीवन प्रदान करती है तथा बैंकों को अधिक लाभ पैदा करने का अवसर देती है। बैंकों के द्वारा साख का निर्माण करने से मुद्रा प्रणाली में लोच का गुण पैदा होता है क्योंकि साख की मात्रा को आवश्यकता के अनुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है।

(७) साख का प्रयोग मूल्य-स्तर को स्थायी रखने में सहायता देता है—जब समाज में व्यापारिक क्रियायें अधिक होती हैं और मुद्रा की माग बढ़ती है तो इस बढ़ी हुई माग को साख का विस्तार करके पूरा किया जाता है। इसके विपरीत मुद्रा की माग के कम हो जाने पर साख की मात्रा को घटा दिया जाता है। इस प्रकार साख की मात्रा में परिवर्तन करके मुद्रा की माग तथा पूर्ति में सन्तुलन स्थापित किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप मूल्य-स्तर स्थिर बना रहता है।

(८) साख बचत को प्रोत्साहन देती है—बैंक तथा अन्य प्रकार की साख संस्थायें छोटी-छोटी बचतों को जमा करके समाज में पूँजी के सचय को प्रोत्साहन देती हैं। ब्याज के लालच से लोगों में बचत करने की प्रवृत्ति पैदा होती है जिससे देश में पूँजी की मात्रा बढ़ती है और आर्थिक विकास में सहायता मिलती है।

(९) साख की सहायता से आर्थिक सकटों का सामना किया जा सकता है—साख ही ऐसा साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति तथा सरकारें आर्थिक संकटों का सामना करती हैं। जब सरकार को अधिक धन की आवश्यकता होती है तो वह सार्वजनिक ऋण लेकर अथवा नई पत्र मुद्रा जारी करके अपनी आवश्यकता को पूरा करती है। यह सब कुछ सरकार की साख के आधार पर किया जाता है। इसी प्रकार जब किसी व्यक्ति को सकट काल में अधिक धन की आवश्यकता होती है तो वह भी साख का सहारा लेता है।

साख की हानियाँ (Evils of Credit)—

यद्यपि साख समाज के लिए बहुत उपयोगी तथा आवश्यक साधन है किन्तु उसका दुरुपयोग भी किया जा सकता है। साख एक बहुत ही कोमल तथा खतरनाक यन्त्र है जिसका प्रयोग बड़ी सावधानी के साथ किया जाना चाहिए। साख के प्रयोग से उत्पन्न होने वाली हानियाँ अग्रलिखित हैं—

(१) साख की अत्यधिक निकासी (Over-issue of Credit)—साख का सबसे बडा खतरा अत्यधिक निकासी के कारण पैदा होता है। यदि सरकार मुद्रा-प्रसार की नीति को अपनाती है और बैंको के द्वारा भी अत्यधिक साख का निर्माण किया जाता है तो ऐसी दशा मे वस्तुओं के मूल्य बढने लगते हैं और आर्थिक जीवन मे एक प्रकार की अनिश्चितता उत्पन्न हो जाती है। साख विस्तार से उत्पन्न होने वाला मुद्रा-प्रसार आर्थिक विकास के रास्ते मे रुकावट पैदा करता है।

(२) साख के कारण समाज मे अपव्यय की प्रवृत्ति पैदा होती है—उधार ली गई रकम को लोग सावधानी के साथ व्यय नही करते हैं और उसमे काफी फिजूलखर्ची होती है। यदि लोगो को आसानी से ऋण मिल जाते है तो वे उनका अपव्यय करने की प्रवृत्ति रखते है। व्यवसायी ऋणो के आधार पर अधिक जोखिम तथा अनिश्चित भविष्य वाले व्यवसाय खोल देते है, जो कुछ समय चलने के बाद बन्द हो जाते हैं। इस प्रकार के अस्थायी उद्योगो के कारण समाज को भी हानि होती है और व्यवसायी भी बर्बाद हो जाते है। साख सरकारी खर्चो मे भी अपव्यय को जन्म देती है।

(३) साख पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था को प्रोत्साहित करती है तथा धन के वितरण को असमान करती है—साख तथा पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का विकास साथ-साथ ही हुआ है। साख एक प्रकार से पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली का आधार है। इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था मे सारा धन तथा आर्थिक शक्ति कुछ लोगों के हाथो मे इकट्ठी हो जाती है। साख पर आधारित अर्थ-व्यवस्था मे पूँजी कुछ हाथो मे केन्द्रित हो जाने से देश मे एकाधिकारी सस्थाओं का निर्माण होने लगता है। एकाधिकार की यह प्रवृत्ति समाज के आर्थिक हितो के विरोध मे कार्य करती है।

(४) साख समाज में सट्टे की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती है—साख का अधिक प्रयोग होने से लोगो मे सट्टेबाजी की प्रवृत्ति बढती है। आसानी से प्राप्त किये गये ऋणो के द्वारा लोग भविष्य सम्बन्धी अधिक सौदे करते हैं, जिसके कारण वस्तुओं के कीमतो में अधिक परिवर्तन होते है।

(५) अत्यधिक उत्पादन का भय उत्पन्न हो जाता है—साख का अधिक विस्तार होने के कारण व्यवसायिक-वर्ग को आसानी से ऋण प्राप्त हो जाते हैं। वे अधिक मात्रा मे विनियोग करते हैं जिसके कारण उत्पादन तेजी के साथ होने लगता है और अत्यधिक उत्पादन की समस्या पैदा हो जाती है।

परीक्षा प्रश्न

(१) साख का अर्थ समझाइये तथा वर्तमान व्यापार में उसके महत्व को बतलाइये। (आगरा बी० काम १९५८)

(२) साख क्या है और व्यापारिक बैंक किस प्रकार साख का निर्माण करते हैं? (राजस्थान बी० ए० १९५४)

(३) विनिमय पत्रों (Bills of Exchange) पर एक टिप्पणी लिखिये। (राजस्थान बी० ए० १९५५)

(४) क्या साख पूंजी का सृजन करती है? परीक्षा कीजिए। (राजस्थान बी० काम १९५५)

(५) [अ] एक अर्द्ध-विकसित समाज में चैकों का प्रयोग किस प्रकार लोकप्रिय बनाया जा सकता है?

[ब] आप यह कैसे मालूम करेंगे कि चैकों पर बेचान नियमित है? (इलाहाबाद बी० काम १९५७)

१७

बैंकों के कार्य तथा व्यवस्था

FUNCTIONS & ORGANISATION OF BANKS

बैंक की परिभाषा (Definition of Bank)—

बैंक साख का व्यापारी होता है। जमा प्राप्त करना तथा ऋण देना उसके दो प्रमुख कार्य हैं। बैंक उन लोगो की जमा इकट्ठी करता है जिनके पास अतिरिक्त रुपया होता है तथा उन्हे ऋण देता है जिन्हे रुपये की आवश्यक्ता होती है। बैंक केवल उधार देने के लिए ही जमा प्राप्त करता है। बैंक की परिभाषा करना काफी कठिन है। यही कारण है कि बैंक की अधिकाश परिभाषाओ मे उसके कार्यों का वर्णन किया गया है। जैसे "बैंक वह सस्था है जहाँ मुद्रा जमा के रूप मे प्राप्त की जाती है, जिसे वापस लौटाना होता है, जहाँ पर ऋण दिये जाते है, बिल (Bills) भुनाये जाते है तथा अन्य प्रकार के वित्तीय सौदे किये जाते है।" किन्तु बैंक के कार्यों के आधार पर उसकी परिभाषा करना अधिक उपयुक्त नही है क्योकि बैंको के कार्य समय-समय पर बदलते रहते हैं।

विभिन्न अर्थशास्त्रियो के द्वारा बैंक की भिन्न-भिन्न परिभाषायें दी गई है जिनमे से कुछ इस प्रकार है—सेयर्स (Sayers) के अनुसार, "बैंक वह सस्था है जिसके ऋणो को दूसरे व्यक्तियो के पारस्परिक भुगतान मे विस्तृत मान्यता प्राप्त हो।"[1] हार्ट (Hart) ने बैंक की परिभाषा इस प्रकार की है—"बैंकर वह है जो अपने साधारण व्यवसाय मे लोगो का रुपया जमा करता है, जिसे यह उन व्यक्तियो के चैक स्वीकार करके भुगतान करता है जिन्होने यह रुपया जमा किया है अथवा जिनके खाते मे यह रुपया जमा किया गया है।"[2] इस परिभाषा मे बैंक के जमा प्राप्त करने के कार्य पर अधिक जोर दिया गया है किन्तु उसके अन्य कार्यों के विषय

---

1 "A bank is an institution, whose debts are widely accepted in settlement of other peoples debts to each other." —*Sayers.*

2 "A banker is one who, in the ordinary course of his business, receives money which he repays by honouring cheques of persons from whom or on whose account he receives it." —*Hart.*

में कुछ नहीं कहा गया है। बैंक की एक अच्छी परिभाषा Kinley ने की है। उनके अनुसार—"बैंक वह संस्था है जो आवश्यकता पड़ने पर उसकी सुरक्षा को ध्यान में रख कर लोगों को धन उधार देती है तथा जब लोगों को धन की आवश्यकता नहीं होती है तो वे अपने अतिरिक्त धन को उसके पास जमा कर देते हैं।"[3] इस परिभाषा में बैंक के जमा प्राप्त करने तथा ऋण देने वाले दोनों ही कार्यों को महत्व दिया गया है। भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट सन् १९४९ में बैंक की परिभाषा इस प्रकार की गई है—"बैंकिंग का अभिप्राय जनता से उधार देने के लिए अथवा विनियोग करने के लिए मुद्रा के निक्षेपों को स्वीकार करना है, जो माँग पर अथवा किसी अन्य प्रकार से चैक, ड्राफ्ट तथा आदेश आदि के द्वारा शोधनीय होते हैं।"[4] इस परिभाषा में भी बैंकों के जमा प्राप्त करने तथा माँग किये जाने पर उसे लौटाने के कार्य को अधिक महत्वपूर्ण समझा गया है। वाल्टर लीफ (Walter Leaf) के अनुसार—"बैंक वह व्यक्ति या संस्था है जो हर समय जमा के रूप में मुद्रा को लेने के लिए तैयार रहती हो और जो उसे जमा करने वालों के चैकों के द्वारा लौटाने के लिए तैयार रहती हो।"[5] फिण्डले शिराज (Findlay Shirras) ने बैंकर की परिभाषा इस प्रकार की है—"एक बैंकर वह व्यक्ति, फर्म अथवा कम्पनी है जिसके पास कोई ऐसा व्यापार स्थान हो जहाँ पर मुद्रा अथवा चलन को जमा के द्वारा साख के खाते खोले जाते हों जिनमें जमा रकम को ड्राफ्ट धनादेश अथवा आदेश के द्वारा भुगतान किया जाता हो अथवा जहाँ स्टॉक, बान्ड, धातु तथा विपत्रों की आड़ पर मुद्रा उधार दी जाती हो अथवा जहाँ प्रतिज्ञा-पत्र बट्टे पर अथवा बेचने हेतु लिए जाते हों।"[6] फिण्डले शिराज ने अपनी परिभाषा में बैंक के साख सम्बन्धी कार्यों पर अधिक जोर दिया है। इसी प्रकार कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों ने भी बैंक को साख का व्यापार करने वाली संस्था माना है। क्राउथर (Crowther) के

---

3 "Bank is an establishment which makes to individuals such advances of money as may be required and safely made and to which individuals entrust money when not required by them for use." —*Kinley.*

4 "Banking refers to the accepting for the purpose of lending or investment of deposits of money from the public repayble on demand or otherwise and withdrawable by cheque, draft, order or otherwise."
—The Indian Banking Companies Act, 1949.

5 "A bank is that institution or individual who is always ready to receive money on deposits to be returned against the cheques of their depositors." —*Walter Leaf*

6 "A banker is a person, firm or company, having place of business where credits are opened by the deposit or collection of money or currency subject to be paid or remitted upon draft, cheques, order or where money is advanced or loaned on stocks, bonds, bullion and B/E and P/N are received for discount or sale." — *Findlay Shirras*

अनुसार—"बैंकर अपने और अन्य लोगों के ऋणों का व्यवसायी होता है।"[7] हॉरिस ह्वाइट ने बैंक को साख का निर्माणकर्ता और विनिमय की सुविधा प्रदान करने वाला यन्त्र कहा है।

इन परिभाषाओं को देखने से पता चलता है कि अधिकांश लेखकों ने बैंक की परिभाषा के स्थान पर उसके प्रमुख कार्यों का वर्णन किया है। इस प्रकार की परिभाषाओं में से किसी को भी बैंक की सर्वमान्य परिभाषा नहीं कहा जा सकता है किन्तु फिर भी वे हमें बैंकों की प्रकृति तथा उनके कार्यों को समझने में बड़ी सहायता देती है। इन परिभाषाओं के आधार पर हम एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते है कि बैंक उस व्यक्ति या संस्था को कहते हैं जो मुद्रा अथवा साख का व्यापार करती हो। इस प्रकार की संस्थायें लोगों से कम ब्याज पर रुपया जमा कराती है और उस जमा को अधिक ब्याज पर उधार देती है। दोनों का अन्तर इन बैंकों का लाभ होता है।

बैंकिंग का विकास (Evolution of Banking)—

बैंकिंग का कार्य बहुत प्राचीन समय से होता आया है। भारत, बेबिलोन, यूनान तथा रोम की प्राचीन सभ्यताओं के काल में भी बैंकिंग के विकास के प्रमाण मिलते है। ऐतिहासिक आधार पर यह कहा जा सकता है कि अब से लगभग २००० वर्ष पूर्व बैंकिंग का कार्य किया जाता था। बैंकिंग का प्रारम्भ किसी निश्चित काल में नहीं हुआ बल्कि आर्थिक उन्नति के साथ साथ बैंकों का विकास भी होता गया। आरम्भ काल में बैंकिंग का कार्य सर्राफों (Goldsmiths) के द्वारा किया जाता था। यूरोप में मुद्रा परिवर्तक (Money Changers) भी बैंकिंग का कार्य करते थे। उस समय में धात्विक मुद्रा का प्रयोग होने के कारण मुद्रा को सुरक्षित रखने तथा उसे एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने की बड़ी समस्या रहती थी। जिन लोगों के पास अतिरिक्त मुद्रा होती थी, वे उसे सुरक्षित रखने के लिए उन सर्राफों (Goldsmiths) के पास अपनी मुद्रा जमा कर देते थे जिनमें उनका विश्वास होता था।

कुछ समय पश्चात् इन सर्राफों ने यह अनुभव किया कि वे अपने पास जमा रकम को उधार देकर लाभ प्राप्त कर सकते है, यदि ऋणों का भुगतान उस मुद्रा की वापसी की माग से पूर्व हो जाये। जमा की हुई रकम के बदले में यह लोग जमा करने वालों को जमा की रसीद देते थे। यद्यपि इस प्रकार की जमा का भुगतान माग करने पर तुरन्त करना होता था किन्तु बहुत कम लोग इन जमा रसीदों के बदले में नकद मुद्रा की माग करते थे। इन सर्राफों में जनता का विश्वास होने के कारण उनके द्वारा दी गई जमा की रसीदें ही मुद्रा के स्थान पर ऋणों के भुगतान के लिए प्रयोग की जाने लगी। धीरे-धीरे यह प्रथा बढ़ने लगी और इन रसीदों का प्रयोग वर्तमान बैंक नोटों की भाँति किया जाने लगा। इन सर्राफों के पास जमा

7 "......a banker is a dealer in debts—his own and other people."
—*Crowther*. An Outline of Money.

रकम को बहुत कम निकाला जाता था और लोग अपना कार्य सर्राफो के द्वारा दी गई जमा रसीदो से ही कर लेते थे। इन सर्राफो ने अपने अनुभव के आधार पर यह जान लिया कि उनके पास जमा रकम का बहुत थोड़ा भाग ही लोग वापस मागते है। अत. उन्होने जमा रकम का अधिकाश भाग उधार देकर उससे आय प्राप्त करना आरम्भ कर दिया।

जैसे-जैसे ऋण देने का व्यवसाय अधिक लाभपूर्ण होता गया, वैसे ही वैसे बैंकर्स ने जमा रकम पर ब्याज देना आरम्भ कर दिया। धीरे-धीरे बैंकिंग का कार्य करने वालो मे प्रतियोगिता होती गई और वे जमा को आकर्षित करने के लिए उस पर ब्याज देने लगे। ऋणो पर प्राप्त होने वाले ब्याज की दर से कुछ कम ब्याज यह लोग जमा रकम पर देते थे और दोनो का अन्तर उनका लाभ होता था। कुछ समय पश्चात् बैंको मे रुपया निकालने के लिए चैक (Cheque) प्रणाली का प्रयोग किया जाने लगा और इस प्रकार आधुनिक बैंको का विकास हुआ।

आर्थिक विकास के साथ-साथ बैंको की व्यवस्था मे भी परिवर्तन होता गया और उनके आकार तथा कार्य-कुशलता मे वृद्धि हुई। आरम्भ काल मे व्यक्तिगत बैंकर होते थे और वे ही लोगो की रकम को जमा करने तथा ऋण देने का कार्य करते थे। उस समय व्यवसायिक सगठन प्रारम्भिक होने के कारण बैंकर का कार्य साधारण होता था और उसे कम पूँजी से चलाया जा सकता था। धीरे-धीरे आर्थिक विकास हो जाने से बैंकर्स के कार्यों का भी विस्तार हुआ। अब इन लोगो से व्यवसाय मे लगाने के लिये अधिक मात्रा मे ऋणो की माग की जाने लगी जिसे एक व्यक्तिगत बैंकर के निजी साधनो के द्वारा पूरा नही किया जा सकता था। अत: बैंको की सामूहिक व्यवस्था का जन्म हुआ और कई लोगो ने मिलकर साझेदारी के आधार पर बैंकिंग का कार्य करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार के बैंकर्स के पास पूँजी अधिक मात्रा मे रहती थी और वे बैंकिंग सेवाओ का विस्तार कर सकते थे। औद्योगिक क्राति के पश्चात् बड़े पैमाने पर उद्योगो का प्रारम्भ हो जाने से यह साझेदारी वाले बैंक भी नई औद्योगिक व व्यापारिक व्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा न कर सके और उनके स्थान पर मिश्रित पूँजी वाले बैंको (Joint Stock Banks) का विकास हुआ, जो बैंको का वर्तमान रूप है।

आधुनिक बैंक के कार्य

(Functions of a Modern Bank)

प्रत्येक देश के आर्थिक जीवन मे बैंक महत्वपूर्ण तथा उपयोगी कार्य करते है। देश मे प्रचलित मुद्रा का एक बहुत बड़ा भाग उनके नियन्त्रण मे रहता है और वे बैंक मुद्रा की मात्रा को प्रभावित करके देश की उत्पादन व्यवस्था पर अपना प्रभाव डाल सकते है। बैंको के आर्थिक महत्व को समझने के लिए हमे उनके द्वारा किये जाने वाले कार्यों का अध्ययन करना चाहिए।

वर्तमान समाज में व्यापारिक बैंक ही अधिक महत्वपूर्ण तथा प्रचलित है और उनके द्वारा किये जाने वाले विभिन्न कार्य वर्तमान बैंक के कार्यो का प्रतिनिधित्व कर सकते है। देश की अर्थ-व्यवस्था मे बैंको के महत्व को समझने के लिए हमे व्यापारिक बैंको (Commercial Banks) के द्वारा किये जाने वाले कार्यो का ज्ञान होना आवश्यक है। यद्यपि व्यापारिक बैंक विशेष प्रकार के बैंक होते है किन्तु समाज मे अधिकाश प्रकार के बैंकिग कार्य उनके द्वारा ही किये जाते है । अतः व्यापारिक बैंको के कार्यो के अध्ययन के द्वारा ही हम वर्तमान बैंक के कार्यो को समझ सकते हैं।

व्यापारिक बैंक (Commercial Bank)—

व्यापारिक बैंक व्यापारियो की अल्पकालीन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ऋण देते है। एक व्यापारिक बैंक अल्पकालीन साख का व्यापारी होता है। वह समाज मे लोगो से अतिरिक्त जमा प्राप्त करता है और व्यापार की अस्थायी (Temporary) आवश्यक्ताओ के लिए ऋण देता है। वह बचत करने वालों तथा विनियोग करने वालो के बीच का मध्यवर्ती होता है और इन दोनो वर्गो के बीच सम्पर्क स्थापित करके समाज मे महत्वपूर्ण कार्य करता है । व्यापारिक बैंक की मुख्य विशेषताये इस प्रकार है—**(i) व्यापारिक बैंक अल्पकालीन साख का व्यापार करने वाली संस्था होती है।** वह केवल व्यापारियों को ऋण देती है और उनकी अल्पकालीन आवश्यकताओ को पूरा करने मे सहायता देती है। **(ii) व्यापारिक बैंक लाभ प्राप्त करने वाली संस्था होती है।** इन बैंको का उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना होता है। वे कम ब्याज पर लोगो की जमा को इकट्ठा करते है और कुछ अधिक ब्याज लेकर उसे ऋण पर देते हैं। इन दोनो के अन्तर के कारण इन्हे लाभ प्राप्त होना है। **(iii) अधिकाश व्यापारिक बैंकों का निर्माण मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों (Joint Stock Companies) के आधार पर किया जाता है।** बैंको की पूँजी हिस्से बेचकर तथा जमा प्राप्त करके इकट्ठा की जाती है। यद्यपि कुछ व्यक्तिगत बैंकर भी होते हैं किन्तु आधुनिक बैंक मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियां ही होती है।

व्यापारिक बैंक के कार्य (Functions of a Commercial Bank)—

आधुनिक समाज मे व्यापारिक बैंक निम्नलिखित कार्य करता है—

(१) जमा प्राप्त करना (Receiving Deposits)—व्यापारिक बैंक का प्रथम कार्य जनता की बचत को इकट्ठा करना तथा उसे उन लोगों के लिए उपलब्ध करना है जो उसका उचित प्रयोग कर सकते हैं । यह कार्य आधुनिक बैंक अपने ग्राहको से जमा प्राप्त करके करता है। बैंको के द्वारा जमा प्राप्त किये जाने से जनता को बड़ा लाभ होता है। उनके द्वारा बचाई हुई रकम बैंको मे सुरक्षित रहती है तथा उस पर उन्हें कुछ ब्याज भी मिल जाता है जिससे लोगों मे बचत करने की इच्छा

को प्रोत्साहन मिलता है। बैंक लोगो की छोटी-छोटी बचतों को भी जमा के रूप में इकट्ठा कर लेते हैं और उनका विनियोग करके देश के आर्थिक विकास मे सहायता देते है। समाज मे अधिकाश व्यक्ति अपनी आय में से कुछ न कुछ बचाते हैं किन्तु वे उस बचत को उत्पादक कार्यों मे नही लगा पाते है। या तो यह बचत बहुत कम मात्रा में होती है और या इन लोगो मे जोखिम उठाने तथा विनियोग करने की क्षमता नही होती है। यदि समाज मे इस बचत को इकट्ठा करने वाली कोई सस्था न हो तो इसमे से अधिकाश बचत बेकार पड़ी रहेगी। बैंक इस बचत को इकट्ठा करने का महत्वपूर्ण कार्य करते है। समाज मे ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो विनियोग करने की क्षमता रखते है किन्तु उनके पास काफी बचत नही होती है। बैंक पहले वर्ग (बचत करने वालो) से जमा प्राप्त करता है और दूसरे वर्ग (विनियोग करने वालों) को ऋण देता है।

बैंक अपने ग्राहको से तीन प्रकार के खातो मे जमा प्राप्त करता है—

(i) चालू जमा खाता (Current Deposit)

(ii) बचत जमा खाता (Savings Deposit)

(iii) निश्चित जमा खाता (Fixed Deposit)

यदि रकम चालू खाते में जमा की जाती है तो बैंक उस पर किसी प्रकार का ब्याज नहीं देता है किन्तु यह जमा किसी भी समय चैक के द्वारा निकाली जा सकती है। इस प्रकार के खाते मे रुपया जमा रखने वालो के ऊपर अपना रुपया निकालने पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही होता है। वे जब चाहे अपनी जमा का कोई भाग अथवा कुल रकम बैंक से निकाल सकते हैं। प्राय. व्यापारी लोग अपनी जमा चालू खाते मे रखते हैं क्योंकि उन्हे बार-बार रुपया निकालने की सुविधा रहती है। बचत जमा खाते (Savings Deposit Account) का उद्देश्य छोटी बचत वालो को बैंकिंग की सुविधायें देना होता है। इस खाते मे जमा रकम पर बैंक कुछ ब्याज भी देता है किन्तु इस खाते में से रुपया निकालने पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये जाते है। सामान्यता इस खाते मे से ग्राहक सप्ताह मे एक बार अथवा दो बार ही रुपया निकाल सकते हैं और एक निश्चित सीमा तक ही रुपया निकाला जा सकता है। निश्चित सीमा से अधिक रुपया निकालने के लिए बैंक मैनेजर को पहले से सूचित करना होता है। जो रकम निश्चित जमा खाते (Fixed Deposit Account) में जमा की जाती है उस पर बैंक अच्छा ब्याज देता है किन्तु इस प्रकार की जमा को निश्चित अवधि समाप्त हो जाने पर ही बैंक से निकाला जा सकता है। जितने अधिक समय के लिए रुपया जमा किया जाता है उतनी ही अधिक ब्याज की दर होनी है। इस प्रकार के खाते मे वे लोग रुपया जमा करते हैं जिन्हे काफी लम्बे समय तक अपनी जमा को निकालने की आवश्यकता नही होती है। इस प्रकार बैंक विभिन्न प्रकार के खातो मे जमा प्राप्त करके प्रत्येक प्रकार के ग्राहको के लिए जमा की सुविधायें प्रदान करता है।

(२) ऋण देना (Advancing Loans)—बैंक का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य अपने ग्राहकों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ऋण देना है। बैंक ऋण देने के लिए ही लोगों से जमा प्राप्त करते है। वे कम ब्याज पर लोगो से जमा प्राप्त करते है और उसे अन्य व्यक्तियो को अधिक ब्याज पर उधार देते हैं। इन दोनो का अन्तर बैंक का लाभ होता है। ऋण देकर बैंक केवल अपने लिए ही लाभ पैदा नही करता है बल्कि वह समाज के लिए भी बहुत उपयोगी सेवा प्रदान करता है। इन ऋणो के द्वारा व्यापार तथा उद्योगों की पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा किया जाता है। ऋण देकर बैंक समाज की बचत को उत्पादक कार्यों मे लगाने मे बडी सहायता देता है।

प्रत्येक बैंक अपने अनुभव से यह जानता है कि यद्यपि उसके पास जमा रकम को किसी भी समय निकाला जा सकता है, किन्तु वास्तव मे कुल जमा का थोडा सा भाग ही लोगो के द्वारा किसी निश्चित समय मे निकाला जाता है। अनुभव से वह यह पता लगा लेता है कि उसे अपने ग्राहकों की वापसी (withdrawals) की माग को पूरा करने के लिए कितनी नकद जमा अपने पास रखनी चाहिए। शेष जमा को बैंक उत्पादको तथा व्यापारियो को ऋण देने के लिए प्रयोग करता है। अपनी जमा का कितना भाग बैंक सुरक्षित रूप से उधार दे सकते है, यह भिन्न-भिन्न दशाओं मे भिन्न-भिन्न होता है किन्तु सामान्यत बैंक अपनी जमा का २० प्रतिशत नकद रूप मे रख कर शेष उधार दे देते है। जिन देशो मे बैंकिंग का अधिक विकास हो चुका है (इङ्गलैंड, अमेरिका आदि) वहाँ पर नकद कोष का यह अनुपात कम किया जा सकता है। बैंक अधिकाश रूप से रक्षित ऋण (Secured Loans) ही देते हैं और अरक्षित ऋणो (Unsecured Loans) की मात्रा बहुत कम रहती है। बैंक अपने ग्राहकों को सोना तथा जेवर, कम्पनियों के हिस्से, सरकारी प्रतिभूतियो तथा बॉण्ड्स, तैयार माल एव बनाई जा रही वस्तुओं के आधार पर ऋण देते है। कभी-कभी बैंक कुछ विश्वसनीय व्यक्तियों को व्यक्तिगत जमानत (Personal Security) के आधार पर भी ऋण दे देते है। किन्तु इस प्रकार के ऋण बैंक बहुत कम देता है और केवल उन्ही व्यक्तियो को देता है जिनकी ऋणो का भुगतान करने की क्षमता मे बैंक को पूरा विश्वास होता है। बैंकों के द्वारा ऋण देने का सबसे प्रचलित तरीका अपने ग्राहकों की हुण्डियो तथा व्यापारिक बिलो को भुनाना है। इस प्रकार से व्यापारियों को लगभग ३ मास के लिए ऋण प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त बैंक विभिन्न प्रकार की जमानत लेकर पूर्व निश्चित काल के लिए भी ऋण देते है। कुछ बैंकों मे अपने ग्राहको को नकद साख की सुविधाये (Cash Credit Facilities) देने का प्रबन्ध भी होता है। इस प्रकार की सुविधाओं के अन्तर्गत बैंक ऋणी की साख सीमा (Credit Limit) निश्चित कर देता है और ऋणी इस सीमा तक बैंक से अपनी आवश्यकतानुसार ऋण ले सकता है। नकद साख सुविधा का सबसे बडा

लाभ यह है कि व्यापारी को उतनी ही रकम का ब्याज देना पड़ता है जितनी कि वह प्रयोग में लाता है।

(३) बैंक विनिमय का सस्ता माध्यम प्रदान करते है (Provides a cheap medium of Exchange)—वर्तमान समाज में सस्ते तथा सुविधापूर्ण विनिमय के माध्यम को प्रदान करने का कार्य भी बैंकों का रहा है। इसके प्रमुख उदाहरण चैक तथा नोट है। वर्तमान नोटों का विकास बैंकों की जमा रसीदों से ही हुआ है जो धीरे-धीरे समाज में बैंक नोटों की भांति प्रचलित हो गई। यद्यपि आज नोट जारी करने का कार्य केवल केन्द्रीय बैंक ही करता है किन्तु कुछ समय पूर्व प्रत्येक बैंक को अपने-अपने बैंक नोट जारी करने का अधिकार होता था। इस प्रकार वर्तमान कागज के नोटों का विकास बैंकों के द्वारा ही किया गया है। इससे भी अधिक प्रचलित विनिमय का माध्यम चैक है। चैक की सुविधायें हमें बैंकों के कारण ही मिलती हैं। बैंकों ने समाज में सस्ते विनिमय के माध्यम का विकास करके विनिमय के कार्य को बहुत सरल बना दिया है।

(४) मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने की सुविधायें प्रदान करते हैं (Facilitate the transfer of money from one place to another)—बैंकों की विभिन्न स्थानों पर अपनी शाखायें होती हैं जिनके द्वारा वे मुद्रा को देश के एक भाग से दूसरे भाग को भेजने की सुविधायें देते हैं। बैंकों के विकास से पूर्व मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने में व्यय भी अधिक आता था और सुरक्षा का अभाव भी रहता था। किन्तु अब ये असुविधायें बिल्कुल दूर हो गई हैं और हम बैंकों के द्वारा अपनी रकम को कम समय में सुरक्षित तरीके पर तथा मामूली व्यय करके ही भेज सकते हैं। बैंक प्राय. यह कार्य ड्राफ्ट (Draft) तथा एकाउन्ट ट्रान्सफर (Account Transfer) के द्वारा करते हैं।

(५) एजेन्सी कार्य (Agency Services)—आधुनिक बैंक अपने ग्राहकों के लिए एजेन्ट का कार्य भी करता है। एजेन्सी कार्य बैंक प्राय अपने ग्राहकों को विभिन्न प्रकार की सुविधायें देने के लिए करता है। यद्यपि इनमें से अधिकाश सेवायें निःशुल्क होती है किन्तु कुछ एक के लिए बैंक मामूली कमीशन लेता है। बैंक विभिन्न प्रकार के एजेन्सी कार्य करते है किन्तु उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—
(i) ग्राहकों के विभिन्न प्रकार के साख पत्रों का भुगतान एकत्रित करना—बैंक अपने ग्राहकों के चैक, ड्राफ्ट, विनिमय पत्रों, प्रतिज्ञा-पत्रों आदि के भुगतान एकत्रित करता है। व्यापार आदि के सम्बन्ध में प्राप्त होने वाले विभिन्न प्रकार के साख-पत्रों को ग्राहक समय-समय पर अपने बैंक के पास जमा के लिए भेजते रहते हैं। बैंक इन पत्रों का रुपया एकत्र करके इन ग्राहकों के हिसाब में जमा कर देता है। **(ii) ग्राहकों की ओर से रुपये का भुगतान करना** बैंक अपने ग्राहकों से आदेश मिलने पर उनकी ओर से ऋणों की किस्तें, ब्याज, चन्दे, आय-कर तथा बीमे की किश्तों आदि

क भुगतान भी करते है। इस कार्य के लिए बैंक मामूली कमीशन भी लेते है। (iii) **ग्राहकों के लिए भुगतान प्राप्त करना**—बैंक अपने ग्राहको के आदेशानुसार लाभांश, ब्याज, किराये आदि को एकत्र करके उनके हिसाब मे जमा करने का कार्य भी करते है। (iv) **प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय**—बैंक अपने ग्राहको से आदेश मिलने पर उनके लिए प्रतिभूतियो तथा कम्पनी के हिस्से आदि को खरीदने एव बेचने का कार्य भी करता है।

(६) **अन्य उपयोगी सेवायें** (Other Services)—उपर्युक्त कार्यो के अतिरिक्त बैंक अपने ग्राहको के लिए कुछ अन्य उपयोगी सेवाये भी प्रदान करता है। यह सेवाये ग्राहको के लाभ तथा सुविधा के लिए की जाती है। इनमे से कुछ प्रमुख सेवायें निम्नलिखित है--

(i) **बहुमूल्य वस्तुओ को सुरक्षित रखने की सुविधा**—प्राय सभी बैंको के द्वारा लॉकर (Locker) की सुविधाये दी जाती हैं जिसके लिए बैंक वार्षिक किराया लेता है। इन लॉकर्स (Lockers) मे ग्राहक अपने जेवर, सोना, चाँदी, दस्तावेज तथा अन्य कीमती वस्तुयें रख सकते है जिनकी सुरक्षा के लिए बैंक जिम्मेदार होता है। बैंको के इस कार्य से ग्राहको को काफी सुविधा हो गई है क्योंकि वे अपनी बहुमूल्य वस्तुओ को बैंक के पास रखकर उनकी सुरक्षा का निश्चित प्रबन्ध कर सकते है।

(ii) **साख प्रमाण-पत्र जारी करना**—बैंक अपने ग्राहको के लिए साख प्रमाण-पत्र (Letters of Credit) तथा यात्री चैंक (Traveller's Cheque) जारी करता है। साख प्रमाण-पत्रो के आधार पर विदेशी व्यापार करने मे बडी सुविधा होती है और उनके द्वारा ग्राहको को अपरिचित व्यापारियो से भी उधार वस्तुयें प्राप्त हो जाती है। यात्री चैक्स विदेशो को जाने वाले यात्रियो के लिए बहुत उपयोगी होते है क्योकि उनकी सहायता से वे विभिन्न देशो मे विदेशी मुद्राये प्राप्त कर सकते है।

(iii) **ग्राहकों की ओर से विनिमय बिलों को स्वीकार करना**—विनिमय बिल पर बैंक के हस्ताक्षर होने से दूसरो के द्वारा उसके स्वीकार किये जाने की सम्भावना बढ जाती है और व्यापारियो को बैंक द्वारा स्वीकृत बिलो के आधार पर आसानी से उधार मिल जाता है। व्यापारिक बैंक अपने ग्राहको के विनिमय बिलो को स्वीकार करने का काम भी करता है।

(iv) **रिक्थ-पत्रों (Wills) तथा ट्रस्ट (Trust आदि का प्रबन्ध करना**—बैंक अपने ग्राहको के रिक्थ पत्रो को कार्य मे लाने तथा उनके द्वारा निर्मित ट्रस्ट आदि का प्रबन्ध करने की सुविधायें प्रदान करता है।

(v) **ग्राहकों को एक दूसरे की साख के विषय में जानकारी देना**—बैंक अपने ग्राहको की आर्थिक स्थिति से परिचित होता है और इसलिए वह उनकी साख

क्षमता (Credit Worthiness) के विषय में सही और विश्वसनीय सूचना प्रदान कर सकता है। इस प्रकार की सूचनाओं के आधार पर व्यापारी बिना अधिक जोखिम के आपस में लेन-देन कर सकते हैं।

(vi) विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय— बैंक अपने ग्राहकों को विदेशी मुद्रायें बेचते तथा उनसे विदेशी मुद्रायें खरीदने का कार्य भी करता है। विदेशी विनिमय नियन्त्रण की दशा में केवल लाइसेंस्ड प्राप्त बैंक ही इस कार्य को कर सकते हैं।

(vii) वित्तीय मामलों पर सलाह देना—बैंक अपने ग्राहकों के लिए वित्तीय सलाहकार (Financial Adviser) का कार्य भी करता है। रुपये का विनियोग किस प्रकार किया जाय, कौन से उद्योगों को स्थापित करना लाभपूर्ण होगा तथा किन कम्पनियों के हिस्सों (Shares) में रुपया लगाया जाय इत्यादि के विषय में बैंक अपने ग्राहकों को सलाह देता है।

(viii) व्यापार सम्बन्धी सूचनाओं तथा आंकड़ों को इकट्ठा करना—कुछ बड़े-बड़े बैंक व्यापार तथा उद्योगों के विषय में आवश्यक जानकारी प्राप्त करते हैं और इस प्रकार की सूचनायें पूछने पर अपने ग्राहकों को दे देते हैं अथवा उन्हें प्रकाशित कर दिया जाता है। विकसित देशों के बड़े-बड़े बैंकों में इस प्रकार की सूचनाओं तथा आंकड़ों को एकत्रित करने के लिए पृथक विभाग होते हैं।

बैंक के द्वारा साख निर्माण
(Credit Creation by the Bank)

बैंक साख का निर्माण करते हैं अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद रहा है। हार्टले विदर्स (Hartley Withers), कैन्स (J. M. Keynes), सेयर्स (Sayers), हॉम (Halm) आदि अर्थशास्त्रियों के अनुसार बैंक साख का निर्माण करते हैं और साख की मात्रा में परिवर्तन करके वे हमारी आर्थिक क्रियाओं पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाल सकते हैं। किन्तु प्रो० कैनन (Cannan) तथा डाक्टर वाल्टर लीफ (Dr. Walter Leaf) ने इस मत का विरोध किया है। उनके अनुसार बैंक साख का निर्माण नहीं करते हैं और वे अपनी नकद जमा से अधिक रकम उधार नहीं दे सकते हैं। इस मतभेद के होते हुए भी अधिकांश अर्थशास्त्री इस बात से सहमत हैं कि बैंक केवल साख का क्रय विक्रय ही नहीं करते हैं बल्कि वे उसका निर्माण भी करते हैं। बैंकों के द्वारा साख का क्रय-विक्रय एक साधारण बात है किन्तु उनका इससे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण कार्य साख का निर्माण करना है। आधुनिक बैंक साख का निर्माण करके समाज में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। उनके द्वारा निर्मित साख हमारे औद्योगिक तथा व्यवसायिक जीवन को चलाने में बड़ी सहायता करती है।

बैंक साख का निर्माण दो प्रकार से कर सकते हैं—(अ) नोट जारी करके तथा (ब) व्यापारियों को ऋण देकर।

पहले सभी बैंको को नोट निर्गमन का अधिकार होता था और वे सब नोट निर्गमन के द्वारा साख का निर्माण करते थे। किन्तु अब केवल केन्द्रीय बैंक ही नोट निर्गमन का कार्य करता है। अतः नोट जारी करके साख का निर्माण केवल केन्द्रीय बैंक के द्वारा ही किया जाता है। बैंक अनुभव के आधार पर यह जानता है कि सब नोट एक साथ नकदी में परिवर्तन के लिए प्रस्तुत नही किये जायेंगे इसलिए जारी किये जाने वाले नोटों का थोड़ा-सा प्रतिशत ही धात्विक कोष से रक्षित होता है और शेष नोटो के पीछे केवल प्रतिभूतियाँ ही रहती है। किन्तु यह सब नोट मुद्रा की भाँति चलते है क्योकि लोगो को केन्द्रीय बैंक मे विश्वास होता है। नोटों का वह भाग जिसके पीछे धात्विक कोष नही होता है, केन्द्रीय बैंक के द्वारा जारी की जाने वाली एक प्रकार की साख है। अतः नोट निर्गमन के द्वारा बैंक साख का निर्माण करते है। क्योकि नोट निर्गमन का कार्य केवल केन्द्रीय बैंक के द्वारा ही किया जाता है और केन्द्रीय बैंक देश के हित मे कार्य करने वाली सस्था होती है इसलिए नोट निर्गमन के द्वारा निर्मित साख के सम्बन्ध मे कोई विशेष समस्या उत्पन्न नही होती है।

केवल नोट निर्गमन करने वाले बैंक ही साख का निर्माण नही करते है बल्कि व्यापारिक बैंको के द्वारा भी साख का निर्माण किया जाता है। प्रत्येक बैंक अपने ग्राहको को ऋण देकर उनके पक्ष मे जमा का निर्माण किया करता है जिसके कारण समाज मे साख मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होती है। आधुनिक बैंक केवल साख के व्यापारी ही नही होते हैं एव वे साख के निर्माता भी है। सेयर्स (Sayers) के अनुसार "बैंक केवल एक द्रव्य जुटाने वाली सस्थाये नही है वरन् ये द्रव्य के निर्माता भी है।"[8]

व्यापारिक बैंक अपने ग्राहको के पक्ष मे जमा का निर्माण करके साख का सृजन करते है। बैंको मे जमा दो प्रकार से उत्पन्न होती है। प्रथम जब लोग बैंक मे नकद मुद्रा लाते है और उसे अपने खाते मे जमा करा देते हैं। द्वितीय जब बैंक ग्राहको को ऋण देकर उनके खाते मे ऋण की रकम जमा करते है। प्रो० सी० ए० फिलिप्स (C. A. Phillips) के अनुसार पहली प्रकार की जमा को प्रारम्भिक जमा (Primary Deposits) तथा दूसरी प्रकार की जमा को उत्पादित जमा (Derived Deposits) कहा जा सकता है। साख निर्माण की दृष्टि से इन दोनो प्रकार की जमा मे भेद करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रारम्भिक जमा से अभिप्राय उन निक्षेपो से होता है जो ग्राहको के द्वारा बैंक मे वास्तविक मुद्रा जमा करने के कारण उत्पन्न होते हैं। इन्हे नकद निक्षेप (Cash Deposit) भी कहा जा सकता है। जब भी कोई व्यक्ति बैंक के पास किसी खाते मे रकम जमा करता है तो बैंक मे प्रारम्भिक निक्षेप

8 "Banks are not merely purveyors of money, but also, in an important sense, manufacturers of money." —*Sayers.*

की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार की जमा से साख का निर्माण नहीं होता है किन्तु वह साख निर्माण के आधार का कार्य अवश्य करती है। उत्पादित जमा (Derivative Deposits) से अभिप्राय उन निक्षेपों से होता है जो बैंक के द्वारा ऋण देने के कारण उत्पन्न होते हैं। जब बैंक अपने ग्राहकों को ऋण देकर उनके पक्ष में जमा का निर्माण करते है तो इस प्रकार की जमा को उत्पादित जमा (Derivative Deposits) कहते हैं। इस प्रकार की जमा के द्वारा ही बैंक साख का निर्माण करते हैं। प्रो० हॉम (Halm) के अनुसार 'उत्पादित निक्षेपों (Derivative Deposits) का निर्माण ही साख का सृजन है।"[९] जब बैंक किसी व्यक्ति को ऋण देता है तो वह ऋण की रकम को उसके हिसाब में जमा कर देता है और उसे उस सीमा तक रुपया निकालने का अधिकार दे दिया जाता है। इस प्रकार बैंकों में नई जमा उत्पन्न होती है जो बैंकों के द्वारा निर्माण की जाने वाली साख है। वर्तमान बैंकों की अधिकांश जमा इसी प्रकार ग्राहकों को ऋण देकर उत्पन्न होती है।

बैंक किस प्रकार साख का निर्माण करता है
(How Credit is Created)—

अपने ग्राहकों को ऋण देकर तथा उनके पक्ष में जमा उत्पन्न करके बैंक साख का निर्माण करता है। बैंक के द्वारा दिये जाने वाले ऋणों के कारण ही नई साख का जन्म होता है। कोई बैंक जितनी अधिक मात्रा में ऋण देता है वह उतनी ही अधिक साख का निर्माण करता है। बैंक जब किसी व्यक्ति को ऋण देता है तो वह उस ऋण का भुगतान नकद रूप में न करके ऋणी के जमा खाते में उस रकम को जमा कर देता है जो उसे आवश्यकता पड़ने पर निकाल सकता है। वास्तव में बैंक ऐसी वस्तु उधार देना है जो उसके पास नहीं होती है। ऐसा इसलिए सम्भव है क्योंकि बैंक में लोगों का बहुत अधिक विश्वास होता है। वास्तव में अधिकांश बैंक नकद मुद्रा उधार न देकर केवल नकद मुद्रा देने के वायदे ही उधार देते हैं। प्रो० सेलिगमैन (Seligman) ने ठीक ही कहा है कि "पहले बैंक नकद निक्षेपों में व्यवसाय करते थे, आजकल वे प्रमुख रूप से साख निक्षेपों में व्यवसाय करते हैं।"[१०]

उदाहरणार्थ, यदि एक व्यक्ति किसी बैंक के पास ५००० रुपये का ऋण लेने के लिए जाता है तो सर्वप्रथम बैंक मैनेजर उस व्यक्ति की शोधन क्षमता (Solvency) के विषय में अपने को सन्तुष्ट करता है। ऋण के बदले में उचित जमानत प्राप्त

---

9 ". The creation of derivative deposits is identical with what is commonly call the Creation of Credit"

—*G. N. Halm* : Monetary Theory.

10 "In former times ... the banks dealt in cash deposits now-a-days they deal primarily in credit deposits"

—*Seligman* Principles of Economics.

करने के पश्चात् वह उस व्यक्ति को ऋण देने के लिए तैयार हो जाता है किन्तु जब ऋण की रकम के वास्तविक भुगतान का समय आता है तो बैंक मैनेजर ऋणी को सलाह देता है कि वह ५००० रुपये नक़द ले जाने के स्थान पर अपने खाते में उसे जमा करा ले और आवश्यकता पड़ने पर उसे निकालता रहे। ऋणी प्रायः इस सुझाव को मान लेता है और ऋण की रकम को अपने हिसाब में जमा करा देता है। इस प्रकार बैंक में ऋण लेने वालों की जमा बढ़ जाती है और उसके लिए किसी की भी जमा कम नहीं होती है। प्रायः रुपया बैंक से बाहर नहीं जाता है और साथ ही साथ बैंक की जमा में भी वृद्धि हो जाती है। यदि ऋणी अपना रुपया नक़द रूप में भी ले जाता है तो वह जिन लोगों को भुगतान करता है वे उसे अपने बैंक के हिसाबों में जमा कर देते हैं। इस प्रकार रुपया फिर उसी बैंक में अथवा अन्य बैंकों में वापस आ जाता है।

बैंक के द्वारा दिया जाने वाला प्रत्येक ऋण बैंक में नई जमा उत्पन्न करता है। इसीलिए हार्टले विदर्स (Hartley Withers) ने कहा है कि "ऋण जमा का निर्माण करते हैं।" बैंक ऋणों के कारण उत्पन्न हुई इस जमा के आधार पर और अधिक ऋण दे देता है और इस प्रकार यह जमा नए ऋणों को उत्पन्न करती है। इसलिए यह कहा गया है कि ऋण जमा के कारण उत्पन्न होते हैं और जमा ऋणों के कारण उत्पन्न होती है। प्रो० केन्ज (Keynes) के शब्दों में "ऋण जमा की सन्तान है और जमा ऋणों की सन्तान है।"[11] इस प्रकार बैंक अपने ग्राहकों को ऋण देकर साख का निर्माण करता है जो आज की अर्थ-व्यवस्था का जीवन-प्रवाह है।

ऋण देने के अतिरिक्त कुछ अन्य तरीकों से भी बैंक साख का निर्माण करता है—(i) नक़द साख (cash credit) तथा खाते में से अधिक रुपया निकालने (Overdraft) की सुविधा देकर, (ii) प्रतिभूतियों को खरीदकर। जब बैंक अपने ग्राहकों को नक़द साख (cash credit) की सुविधायें देता है अथवा उन्हें ओवरड्राफ्ट (overdraft) की आज्ञा देता है तो भी ग्राहकों के खातों में जमा की वृद्धि होती है और बैंक के द्वारा साख का निर्माण होता है। इसके अतिरिक्त जब बैंक प्रतिभूतियाँ (Securities) तथा अन्य प्रकार के आदेय (Assets) खरीदता है और उनके बेचने वालों को अपने ऊपर लिखित चैक के द्वारा भुगतान करता है तो उनसे भी साख की मात्रा में वृद्धि होती है।

उपर्युक्त सभी तरीकों से आधुनिक बैंक साख का निर्माण किया करते हैं। अपने द्वारा निर्मित साख को उधार देकर ही बैंक अपना अधिकांश लाभ प्राप्त करते हैं किन्तु इसमें उनकी स्थिरता के लिए बड़ा खतरा भी होता है। यदि कोई

11 "Loans are the children of deposits and deposits are the children of loans." —*J. M. Keynes.*

बैंक लाभ के लालच मे बहुत अधिक मात्रा मे ऋण दे देता है और अपने ग्राहकों की माग को पूरा करने के लिए पर्याप्त मात्रा मे नकदी नही रखता है तो वह फेल हो सकता है।

वैंक कितनी साख का निर्माण कर सकता है
(Extent of Credit Creation)—

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि कोई बैंक कितनी साख का निर्माण कर सकता है। साधारणतया प्रत्यक बैंक की साख निर्माण करने की सीमा उसके द्वारा रक्खे जाने वाले नकद कोष के अनुपात से निश्चित होती है। प्रत्येक बैंकर जानता है कि किसी भी समय नकदी की माग उसकी कुल जमा का एक थोडा सा भाग होती है। बैंक को अपने अनुभव से पता रहता है कि वह नकदी की माग को पूरा करने के लिए अपने कुल दायित्व (Total Liabilities) का कितना प्रतिशत अपने पास नकद कोष मे रखे। भिन्न-भिन्न देशो मे तथा विभिन्न बैंको मे नकद कोष का यह अनुपात भिन्न भिन्न होता है। भारतवर्ष मे नकद कोष का अनुपात अन्य देशो की अपेक्षा ऊँचा रहता है क्योकि यहाँ पर लोगो मे बैंकिंग की आदत का विकास पूरी तरह नहीं हुआ है। नकद कोष का यह अनुपात ही इस बात को निश्चित करता है कि बैंक अपने पास जमा रकम मे से कितना उधार दे सकता है।

उदाहरणार्थ, यदि कोई बैंक अपने कुल दायित्व का २०% नकद कोष मे रख कर शेष उधार दे देता है।-ऐसी दशा में बैंक के पास जमा होने वाले प्रत्येक १००) रुपये मे से ८० रुपये उधार दिये जायेंगे तथा २० रुपये नकद कोष के रूप मे रखे जायेंगे। यदि बैंक के पास कुल जमा १०,००० रुपये है तो वह उसमें से २००० रुपये नकद रक्खेगा और ८००० रुपये अपने ग्राहको को उधार दे देगा। किन्तु इन ऋणो का नकद रूप मे दिया जाना अनिवार्य नही है। वे ग्राहको के हिसाब मे ऋणो की रकम जमा करके भी दिये जा सकते हैं। ऐसा करने से इन ऋणो की रकम उस बैंक मे अथवा अन्य बैंको मे जमा के रूप मे आती है जिसका २०% बैंक अपने पास रखकर शेष को उधार दे देते है जिसके कारण फिर बैंको की जमा मे वृद्धि होती है और वे उसका ८०% उधार दे देते है। यह क्रम इसी प्रकार चलता रहता है और बैंको के लिए अपनी कुल जमा का कई गुना उधार देना सम्भव हो जाता है। यद्यपि कोई व्यक्तिगत बैंक अपने अतिरिक्त कोषो (Excess Reserve) के बराबर ही ऋण दे सकता है किन्तु सब बैंक मिलकर अतिरिक्त कोषो का कई गुना उधार दे देते है। यह क्रम अगले पृष्ठ पर दी तालिका के ढग से चलता है।

इस तालिका को देखने से पता चलता है कि यदि बैंको के पास १० लाख रुपये की जमा है तो वे उसमे से २ लाख रुपये (२०%) नकद रखकर शेष ८ लाख रुपये उधार दे देते है। ऋणो की यह ८ लाख रुपये की रकम फिर

बैंकों की कुल जमा	बैंकों के द्वारा रखा जाने वाला नकद कोष (२०%)	उधार दी जाने वाली रकम
रु०	रु०	रु०
१,०००,०००	२००,०००	८००,०००
८००,०००	१६०,०००	६४०,०००
६४०,०००	१२८,०००	५१२,०००
५१२,०००	१०२,४००	४०९,६००

बैंकों को जमा के रूप मे प्राप्त हो जाती है और बैंक अपने पास ८ लाख रुपये की नई जमा को देखकर उसका २०% अथवा १ लाख ६० हजार रुपये नकद कोष मे रखकर शेष ६ लाख ४० हजार रुपये उधार दे देते है। यह ६ लाख ४० हजार रुपये फिर जमा के रूप मे आ जाता है और इसका ८०% फिर उधार दे दिया जाता है। इसी प्रकार यह क्रम चलता रहता है और बैंक अपनी जमा का कई गुना अपने ग्राहकों को उधार दे देते हैं।

कैनन का विरोध (Cannan's Objection)—

प्रो० कैनन ने बैंकों के द्वारा साख निर्माण किये जाने के सिद्धात का विरोध किया है। उनके अनुसार बैंक साख का निर्माण नही करते हैं। प्रो० कैनन (Cannan) के अनुसार, "प्रत्येक व्यवहारिक बैंकर यह जानता है कि वह साख, मुद्रा अथवा किसी अन्य वस्तु का निर्माता नही है। वरन् वह केवल ऐसा व्यक्ति है जो साधन वाले व्यक्तियों के द्वारा साधनो का प्रयोग करने वाले व्यक्तियो को ऋण दिये जाने की सुविधा प्रदान करता है।"[12] वाल्टर लीफ (Walter Leaf) ने भी इसी प्रकार का मत प्रकट किया है। इन लेखकों का विचार है कि साख निर्माण का कार्य जमा करने वालो (Depositors) के द्वारा आरम्भ किया जाता है, न कि बैंक के द्वारा। बैंक मे रुपया जमा करने वाले क्योंकि अपनी जमा को बैंक के पास छोड देते हैं और *उसे नही निकालते हैं* इसलिए वे *ही साख निर्माण* करने का प्रारम्भ करते है। यदि वे अपनी जमा को निकाल लें तो साख का निर्माण नही किया जा सकेगा। बैंक तो केवल एक मध्यवर्ती है और वह नई साख का निर्माण नही कर सकता है। वह केवल उस रकम को उधार देता है जिसे जमा करने वालो ने उसके पास छोडा हुआ है। वाल्टर लीफ (Walter Leaf) के अनुसार बैंक अपनी नकद जमा से अधिक रुपया उधार नही दे सकता है क्योंकि लोग किसी भी समय अपने रुपये को निकाल सकते हैं। लीफ तथा कैनन ने बैंकों के साख निर्माण करने के कार्य को ठीक प्रकार नही समझा है। यह एक व्यवहारिक अनुभव की बात है कि बैंक

12 "...every practical banker knows that he is not a creator of credit or money or anything else, but a person who facilitates the lending of resources by the people who have them to those who can use them."
—*Cannan* : An Economic Protest (1907), P. 382.

समाज मे साख का निर्माण करते हैं। इसीलिए बैंको मे जमा रकमें चलन मे मुद्रा की कुल मात्रा से कई गुना होती है।

साख निर्माण की सीमाये (Limits of Credit Creation)—

यद्यपि बैंक साख का निर्माण करते हैं किन्तु वे किसी भी सीमा तक साख का निर्माण नही कर सकते हैं। बैंको की साख निर्माण करने की शक्ति की भी कुछ सीमायें होती हैं। बैंको के द्वारा साख निर्माण करने पर सबसे बडा प्रतिबन्ध लोगो के द्वारा अपनी जमा के निकाले जाने का भय है। प्रत्येक बैंक यह जानता है कि उसके निक्षेपधारी (Depositors) किसी भी समय अपने रुपये को निकाल सकते हैं और उसे इसके लिए तैयार रहना पडता है। इसीलिए बैंक कुछ निश्चित सीमाओ के भीतर ही साख का निर्माण करते है। प्रो० बैनहम (Benham) ने साख निर्माण करने की तीन सीमायें बतलाई हैं—

(१) देश मे नकद रुपये की कुल मात्रा (Total amount of cash in the country)—बैंको के पास केवल नकदी पर आधारित जमा का निर्माण करने की शक्ति ही होती है। वे अपने ग्राहकों के पक्ष मे कितनी जमा का निर्माण कर सकते हैं यह उनके पास नकद जमा (Cash Deposits) की मात्रा के ऊपर निर्भर होता है। बैंको मे प्राप्त होने वाली नकद जमा देश में नकदी की कुल मात्रा के ऊपर निर्भर होती है जिसे बैंक प्रभावित नही कर सकते हैं। देश मे नकद मुद्रा की मात्रा केन्द्रीय बैंक की नीति पर निर्भर होती है।

(२) नकदी की मात्रा जो लोग अपने पास रखना चाहते हैं (Amount of cash which people wish to hold)—बैंको के द्वारा निर्मित साख की मात्रा इस बात पर भी निर्भर होती है कि लोग कितना नकद रुपया अपने पास रखना चाहते है। यदि लोग अपने पास अधिक मात्रा में नकदी रखते हैं तो वे बैंक में कम जमा करेंगे और यदि कम रखते हैं तो बैंक को अधिक जमा प्राप्त होगी। इस प्रकार बैंको मे प्राप्त होने वाली नकद जमा लोगों की तरलता पसन्दगी (Liquidity Preference) पर निर्भर होती है जिसमे बैंक किसी प्रकार का परिवर्तन नही कर सकते हैं। जब लोगो की तरलता पसन्दगी अधिक होती है तो बैंक कम साख का निर्माण कर पाते हैं और यदि तरलता पसन्दगी कम होती है तो वे अधिक साख का निर्माण कर सकते हैं।

(३) बैंकों के द्वारा रखे जाने वाले नकद कोष का अनुपात (Percentage of cash kept by the banks)—बैंक कितना न्यूनतम नकद कोष रखना सुरक्षित समझते हैं, इस बात पर भी निर्मित साख की मात्रा निर्भर होती है। जितना वे कम नकद कोष रखते है उतना ही अधिक ऋण देकर वे अधिक मात्रा मे साख का निर्माण कर सकते है। किन्तु यदि उनके लिए अधिक नकद कोष रखना अनिवार्य है तो वे कम साख का निर्माण कर सकेंगे। नकद कोष का अनुपात लोगो की

आदतो तथा समाज मे भुगतान करने के तरीकों पर निर्भर होता है जिसमे बैंक कोई परिवर्तन नही कर सकते है। यदि लोगो मे बैंकिंग की आदत का विकास नही हुआ है और अधिकाश भुगतान नकद रूप मे निबटाये जाते हैं तो बैंको को अपने ग्राहको की माग को पूरा करने के लिए अधिक नकद कोष रखना होगा और वे कम मात्रा मे साख का निर्माण कर सकेंगे। इसके विपरीत यदि लोग भुगतान चैक अथवा अन्य साख-पत्रो के द्वारा निबटा लेते है और नकदी की माग कम करते है तो बैंक कम नक्द कोष रखकर ही अपना काम चला लेंगे और इस प्रकार वे अधिक साख का निर्माण कर सकेंगे।

अन्य सीमायें (Other Limitations)—उपर्युक्त सीमाओ के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी बैंको की साख निर्माण करने की शक्ति को सीमित करती हैं, जिनमे से प्रमुख इस प्रकार हैं—

(अ) केन्द्रीय बैंक के पास बैंकों का रक्षित कोष—प्रत्येक बैंक को अपने कुल दायित्वो (Total Liabilities) का एक निश्चित भाग केन्द्रीय बैंक के पास जमा रखना पड़ता है। यदि इस अनुपात मे केन्द्रीय बैंक परिवर्तन करता है तो उससे बैंको की साख निर्माण करने की शक्ति प्रभावित होती है। केन्द्रीय बैंक के द्वारा नक्द जमा के अनुपात का बढाया जाना बैंको की साख निर्माण करने की शक्ति को कम कर देता है। इसके विपरीत यदि केन्द्रीय बैंक अपने पास रक्खी जाने वाली नकद जमा के अनुपात को कम कर देता है तो बैंक अधिक मात्रा मे साख का निर्माण कर सकते हैं।

(ब) केन्द्रीय बैंक की साख सम्बन्धी नीति—केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक दर तथा खुले बाजार की क्रियाओ के द्वारा भी बैंको की साख निर्माण करने की शक्ति को प्रभावित करता है। बैंक दर का ऊँचा होना तथा केन्द्रीय बैंक के द्वारा प्रतिभूतियो का बेचा जाना बैंको की साख निर्माण करने की शक्ति को कम करता है।

(स) जमानतों की श्रेष्ठता—बैंक जमानतो के आधार पर ही ऋण देते है इसलिए उनकी साख निर्माण करने की शक्ति इस बात पर आधारित होती है कि उनके ग्राहक कितनी मात्रा मे तथा किस प्रकार की जमानते दे सकते है। यदि ग्राहक काफी मात्रा मे अच्छे प्रकार की जमानते दे सक्ते है तो वे अधिक ऋण प्राप्त कर सकेंगे और बैंको के द्वारा अधिक मात्रा मे साख का निर्माण किया जायगा।

बैंकों का आर्थिक महत्व (Economic Importance of Banks)—

बैंक हमारे आर्थिक जीवन के लिए बडी महत्वपूर्ण सस्थायें है। समाज मे साख तथा मुद्रा की कुल पूर्ति का एक बहुत बडा अश उनके नियन्त्रण मे रहता है और उसके द्वारा वे हमारी आर्थिक क्रियाओ को प्रभावित कर सकते हैं। वे केवल लोगो की जमा प्राप्त करके उसे सुरक्षित रखने तथा उस पर ब्याज देने का कार्य ही

नहीं करते हैं बल्कि समाज में उत्पादन सम्बन्धी कार्यों के सचालन में भी बड़ा सहयोग देते हैं। किसी देश की बैंकिंग प्रणाली को वहाँ के उद्योग, व्यापार तथा समस्त आर्थिक व्यवस्था का धमनी केन्द्र (Nerve Centre) कहा जा सकता है। इसीलिए किसी देश की उत्पादन व्यवस्था के ठीक प्रकार से चलने के लिए उस देश के बैंक पूरी तरह से विकसित तथा सुसगठित होने चाहिएँ। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में बैंकों के महत्व तथा उनकी उपयोगिता को उनसे प्राप्त होने वाले लाभों के द्वारा जाना जा सकता है। सामान्यत. बैंकों से समाज को निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं—

(१) बैंक लोगों में बचत करने की आदत को प्रोत्साहित करते हैं—वर्तमान बैंक लोगों की बचत को सुरक्षित रखने तथा उस पर ब्याज देने की सुविधायें प्रदान करते है जिससे लोगों को अधिक बचत करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार बैंक समाज में बचत की मात्रा को बढाने में सहयोग देते हैं।

(२) समाज में बचत को एकत्रित करके उत्पादन कार्यों में लगाते हैं—बैंक उन लोगों की बचत को जमा के रूप में इकट्ठा करते है जो उसका स्वय प्रयोग नहीं कर सकते है। छोटी-छोटी बचतों को भी बैंकों के द्वारा एकत्रित कर लिया जाता है। इस जमा रकम को बैंक उन व्यवसायियों को उधार देते हैं जो उसका उत्पादन कार्यों में प्रयोग कर सकते हैं। इस प्रकार एक ओर तो बैंक समाज की बचत को क्रियशील (Mobilise) करते हैं और दूसरी ओर विनियोग को प्रोत्साहन देते हैं जिससे समाज में उत्पादन तथा रोजगार में वृद्धि होती है।

(३) मुद्रा के स्थानान्तरण की सुविधायें देते हैं—बैंकों की सहायता से रुपया बहुत कम व्यय पर एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जा सकता है। इस प्रकार की सुविधाओं से व्यापार के विकास तथा विस्तार में बडी सहायता मिलती है।

(४) बैंक समाज में साख का निर्माण करते हैं—जिसके आधार पर वर्तमान औद्योगिक तथा व्यावसायिक जीवन चलता है विकसित देशों में बैंक-मुद्रा चलन में कुल मुद्रा का अधिकाश भाग होती है जिसके द्वारा भुगतानों को निबटाने में बड़ी सुविधा रहती है। बैंक साख के निर्माता होने के कारण देश में उत्पादन क्रियाओं को प्रभावित करते हैं। वे केवल साख मुद्रा की मात्रा को ही निश्चित नहीं करते हैं बल्कि उसके प्रयोगों को भी प्रभावित कर सकते हैं।

(५) मुद्रा प्रणाली में लोच उत्पन्न करते हैं—बैंक के द्वारा मुद्रा प्रणाली में लोच का गुण उत्पन्न होता है। वे व्यापार तथा उद्योगों की आवश्यकतानुसार साख की मात्रा को घटाते-बढाते रहते हैं जिसके कारण मुद्रा की माग तथा पूर्ति में आसानी से सन्तुलन बन जाता है।

(६) विनिमय का सस्ता माध्यम प्रदान करते हैं—बैंक समाज में चैक तथा अन्य प्रकार के साख-पत्रों के प्रयोग को प्रोत्साहन देते हैं जिसके कारण लोग

नकद मुद्रा को गिनने, ले जाने तथा इक्ट्ठा करने की असुविधा से बच जाते हैं। इस प्रकार के साख-पत्रो का अधिकाधिक प्रयोग किसी देश के आर्थिक दृष्टि से विकसित होने की निशानी है।

(७) **बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षित रखने की सुविधायें देते हैं**—बैंक अपने ग्राहकों की बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षित रखने के लिए लॉकर (Locker) आदि की सुविधाये देते है जिससे लोग इस प्रकार की वस्तुओं को सुरक्षित रखने की कठिनाई से बच जाते है।

(८) **विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करते हैं**—बैंको की सहायता से विदेशी भुगतानो को बडी आसानी से निबटाया जा सकता है। विदेशी भुगतानों की इस सुविधा के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार होता है तथा विभिन्न देशों के साथ आर्थिक सम्बन्ध स्थापित होते है। बैंक अपने ग्राहको के लिए विदेशी विनिमय का प्रबन्ध करता है और उन्हे साख प्रमाण-पत्र (Letters of Credit) तथा यात्री चैंक (Traveller's Cheque) भी देता है।

बैंक से प्राप्त होने वाले उक्तलिखित लाभो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बैंक किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है। वर्तमान आर्थिक जीवन मे बैंको का महत्व इसलिए नही है कि उनके पास उद्योग तथा व्यापार की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए वैत्तिक साधन होते है बल्कि उनके महत्व का मुख्य कारण यह है कि वे इन आर्थिक साधनो के प्रयोग को भी प्रभावित कर सकते है। बैंको के पास यह निश्चय करने की शक्ति होती है कि वैत्तिक साधनो का प्रयोग किस दिशा मे किया जाये। वे अपने ऋणियो को अपनी इच्छा अनुसार छांट लेते हैं। वे परिश्रमी, ईमानदार तथा समय पर रुपया लौटाने वाले ग्राहको को प्रोत्साहन देते हैं और इस प्रकार बैंक समाज मे व्यवसायिक ईमानदारी को प्रोत्साहित करते है। किसी भी देश की विकसित तथा सुसंगठित बैंकिंग व्यवस्था उस देश के आर्थिक विकास के लिए दृढ आधार तैयार करती है।

विभिन्न प्रकार के बैंक (Types of Banks)—

बैंक विभिन्न प्रकार के होते हैं क्योकि उनके द्वारा किये जाने वाले कार्यों मे काफी भिन्नता पाई जाती है। प्रत्येक प्रकार के बैंक एक विशेष प्रकार के वित्तीय व्यवसाय को करते है। इसलिए विभिन्न प्रकार के बैंकों मे भेद करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु बैंको का स्पष्ट वर्गीकरण करना बहुत कठिन है क्योकि विभिन्न प्रकार के बैंको के द्वारा विभिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य किये जाते है। इसके अतिरिक्त विभिन्न श्रेणी के बैंको के कार्य एक दूसरे के साथ मिल जाते हैं। एक बैंक जो किसी विशेष प्रकार के कार्यों को करता है, वह कभी-कभी दूसरी प्रकार के बैंको के कार्यों को करने लगता है। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी बैंकों को **निम्नलिखित श्रेणियों मे विभाजित किया जा सकता है**—

(१) व्यापारिक बैंक (Commercial Banks)
(२) विदेशी विनिमय बैंक (Foreign Exchange Banks)
(३) औद्योगिक बैंक (Industrial Banks)
(४) कृषि बैंक (Agricultural Banks)
(५) केन्द्रीय बैंक (Central Banks)

(१) व्यापारिक बैंक (Commercial Banks)—इस प्रकार के बैंक व्यापार की अल्पकालीन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ऋण देते हैं। इन बैंकों का मुख्य काम समाज में लोगों की बचत को इकट्ठा करना तथा उसे अन्य लोगों को उधार देना है। व्यापारिक बैंकों के द्वारा दिये जाने वाले ऋणों की अवधि प्राय तीन महीने की होती है किन्तु कभी-कभी ऋण एक साल तक के लिए भी दिया जा सकता है। ये ऋण विनिमय-पत्रों, सरकारी प्रतिभूतियों, बॉण्ड्स, तैयार माल तथा अन्य प्रकार की तरल सम्पत्ति के आधार पर दिये जाते हैं। व्यापारिक बैंकों का विस्तृत वर्णन इससे पहले किया जा चुका है।

(२) विदेशी विनिमय बैंक (Foreign Exchange Banks)—विदेशी विनिमय बैंक मुख्यत विदेशी विनिमय के व्यापारी होते हैं। इन बैंकों के द्वारा विदेशी भुगतानों को निबटाने के उद्देश्य से विदेशी विनिमय-पत्रों का क्रय-विक्रय किया जाता है। विदेशी विनिमय बैंकों के कार्य इस प्रकार हैं—(i) **विदेशी विनिमय-पत्रों का क्रय-विक्रय करके अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों को निबटाना**—इस प्रकार के बैंक निर्यातकर्त्ताओं (Exporters) के द्वारा लिखित विनिमय-पत्रों को खरीदते हैं और विदेशों से उनका भुगतान प्राप्त करते हैं तथा आयातकर्त्ताओं (Importers) को विदेशी भुगतान निबटाने के लिए विनिमय-पत्रों को बेचते हैं। (ii) **विदेशी ऋणों का निस्तारण (Liquidate) करना**—सोने, चाँदी तथा प्रतिभूतियों के निर्यात एवं आयात के द्वारा यह बैंक अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का निस्तारण करते हैं। (iii) **विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय**—ये बैंक विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय के द्वारा विनिमय दरों के परिवर्तनों को कम करते हैं तथा व्यापारियों को जोखिम से बचाते हैं। (iv) **व्यापारिक बैंक के कार्य**—ये बैंक व्यापारिक बैंकों के भी कुछ कार्य करते हैं जैसे जमा प्राप्त करना, ऋण देना, विनिमय-पत्रों को भुनाना आदि।

(३) औद्योगिक बैंक (Industrial Banks)—इस प्रकार के बैंकों का विकास उद्योगों की वित्त सम्बन्धी विशेष आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए किया गया है। उद्योग-धन्धों को दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन दोनों ही प्रकार के ऋणों की आवश्यकता होती है। व्यापारिक बैंक दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था नहीं कर सकते हैं और न वे इतनी अधिक रकम ही उधार दे सकते हैं। इसलिए औद्योगिक वित्त का प्रबन्ध करने के लिए औद्योगिक बैंकों का विकास किया गया है। इन बैंकों की पूँजी हिस्सों की रकम (Share money), दीर्घकालीन जमा तथा

बीमा कम्पनियों के ऋणों से मिलकर बनती है। औद्योगिक बैंको के प्रमुख कार्य इस प्रकार है—(i) **जमा प्राप्त करना**—ये बैंक केवल निश्चित अवधि के लिए ही जमा प्राप्त करते है क्योकि इन्हें दीर्घकालीन ऋण देने होते हैं। (ii) **उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण देना**—ये बैंक उद्योगो की पूँजी मे भी हिस्सा लेते हैं तथा कारखानो की जाँच करने के पश्चात् उन्हे लम्बे समय के लिए ऋण देते हैं। इन बैंकों के द्वारा दिये जाने वाले ऋण प्राय. बहुत से कारखानों मे बँटे होते है। (iii) **औद्योगिक प्रबन्ध में भाग लेना**—जर्मनी के औद्योगिक बैंको मे यह प्रथा है कि वे ऋणी कम्पनी के प्रबन्ध में भी भाग लेते हैं और कम्पनियो पर अधिक नियन्त्रण करने के लिए वे अपने प्रतिनिधि इन कम्पनियो की प्रबन्ध समितियो (Managing Boards) पर रखते हैं। (iv) **कुछ अन्य काम** भी इन बैंको के द्वारा किये जाते हैं, जैसे कम्पनियो के हिस्सो का विज्ञापन करना तथा उन्हे बेचना, अपने ग्राहको को विनियोग के लिए उद्योगो को छाँटने मे सहायता करना तथा कम्पनियों की पूँजी का प्रबन्ध करना।

(४) **कृषि बैंक (Agricultural Banks)**—किसानो को अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनो ही प्रकार के ऋणो की आवश्यकता होती है। बीज, खाद, फसलों को बेचने तथा अन्य प्रकार की सामाजिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए उन्हे अल्पकालीन ऋण चाहिएँ जिनका भुगतान प्राय एक फसल के पश्चात् कर दिया जाता है। भूमि खरीदने तथा खेतो पर स्थायी सुधार करने या मशीनें खरीदने के लिए किसानो को दीर्घकालीन ऋणो की आवश्यकता होती है। व्यापारिक बैंक किसानो की ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा नहीं कर सकते हैं क्योंकि कृषि व्यवसाय अनिश्चित होता है तथा किसान ऋणो के लिए अच्छी सुरक्षा नहीं दे सकते हैं। अत कृषि वित्त की व्यवस्था करने के लिए पृथक् प्रकार के बैंको का विकास किया गया है जिन्हे कृषि बैंक कहा जाता है। कृषि बैंक प्रायः दो प्रकार के होते है—(अ) सहकारी बैंक तथा (ब) भूमि बन्धक बैंक। **सहकारी बैंकों** का उद्देश्य किसानो को उनकी सामयिक (Seasonal) आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए कम ब्याज की दर पर अल्पकालीन ऋणो को देने की व्यवस्था करना होता है। सहकारी बैंक को सहकारी साख समिति के नाम से भी जाना जाता है। इन बैंको की पूँजी हिस्से बेचकर, जमा प्राप्त करके तथा केन्द्रीय सहकारी बैंको से ऋण लेकर प्राप्त की जाती है। **भूमि बन्धक बैंक**—ये बैंक किसानो के लिए दीर्घकालीन ऋणो की व्यवस्था करते है। भूमि बन्धक बैंको के द्वारा दिये जाने वाले ऋणो की अवधि ५ वर्ष से लेकर २० वर्ष तक होती है। कहीं-कहीं ये इससे अधिक समय के लिए भी ऋण देते हैं। ऋण भूमि को गिरवी रख कर दिये जाते हैं और उनका भुगतान किस्तो मे किया जाता है। भूमि बन्धक बैंक किसानों को भूमि पर स्थायी सुधार करने के लिए तथा पैत्रिक ऋणो को निबटाने के लिए ऋण देते हैं।

(५) केन्द्रीय बैंक (Central Bank)—आजकल प्रत्येक देश में एक केन्द्रीय बैंक होता है जो देश की मुद्रा तथा बैंकिंग व्यवस्था को ठीक प्रकार से चलाने के लिए जिम्मेदार होता है। यह देश का सबसे बड़ा बैंक होता है और इसे बैंकिंग व्यवस्था पर नियन्त्रण रखने के लिए कुछ विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं। केन्द्रीय बैंक को देश में नोट निर्गमन का एकाधिकार प्राप्त होता है तथा उसके पास देश के समस्त बैंकों व सरकार का रुपया जमा रहता है। यह बैंक सरकारी बैंकर तथा बैंकों के बैंक का कार्य करता है। देश के सभी बैंकों को आर्थिक सहायता के लिए केन्द्रीय बैंक पर निर्भर रहना पड़ता है। केन्द्रीय बैंक देश में साख तथा मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करता है एवं सरकार को आर्थिक तथा वित्तीय मामलों पर सलाह देता है। किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था में केन्द्रीय बैंक का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान होता है और उसके बिना बैंकिंग प्रणाली को अपूर्ण समझा जाता है। वास्तव में केन्द्रीय बैंक सम्पूर्ण बैंकिंग व्यवस्था का संचालक होता है और बैंकों के उचित नियन्त्रण तथा नियमन के द्वारा वह देश की आर्थिक क्रियाओं को ठीक प्रकार से चलाने में सहायता देता है।

परीक्षा प्रश्न

(१) व्यवसायिक बैंक के कार्यों की व्याख्या करें। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में उनका क्या महत्व है?
(आगरा बी० ए० १९६०)

(२) बैंकों के द्वारा किस प्रकार का साख का निर्माण किया जाता है? उनकी क्या सीमाएँ हैं?
(आगरा बी० काम १९५९)

(३) 'साख' की परिभाषा कीजिये। व्यापारिक बैंक किस प्रकार साख का निर्माण करते हैं?
(आगरा बी० ए० १९५९)

(४) व्यापारिक बैंकों के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिये। उद्योग के लिए ये किस प्रकार अधिक सहायक हो सकते हैं?
(आगरा बी० ए० १९५९ s)

(५) मिश्रित पूँजी बैंकों के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिये। क्या स्टेट बैंक आफ इण्डिया को आप मिश्रित पूँजी बैंक कह सकते हैं? कारण सहित उत्तर दीजिए।
(आगरा बी० काम १९६०)

(६) "प्रत्येक ऋण एक डिपाजिट का सृजन करता है।" यह किस प्रकार सम्भव होता है?
(आगरा बी० काम १९५६)

(७) व्यापारिक बैंक साख का सृजन किस प्रकार करते हैं? किसी देश के आर्थिक नियोजन में इस प्रकार की साख का क्या महत्व है?
(राजस्थान बी० ए० १९५९)

(८) व्यापारिक बैंक के कार्यों का संक्षेप में विवेचन करिए। भारत के व्यापारिक बैंक इन कार्यों को कहाँ तक सम्पन्न करते हैं ?
(राजस्थान बी० ए० १६५७)

(६) बैंक किस प्रकार देश के व्यापार एवं वाणिज्य की सहायता करते हैं ? विवेचना कीजिये। (राजस्थान बी० ए० १६६०)

(१०) बैंकों के विभिन्न प्रकारों के नाम लिखिये तथा उनके कृत्यों का स्वरूप भी बतलाइये। (विक्रम बी० ए० १६५६)

(११) "बैंक केवल साख के व्यापारी ही नहीं होते हैं बल्कि वे साख का निर्माण भी करते हैं।" विवेचना कीजिए। (बिहार बी० काम १६६०)

(१२) "नकद कोषों के आधार पर ही बैंकों के द्वारा समस्त साख का सृजन किया जाता है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? उत्तर के लिए कारण भी दीजिये। (बिहार बी० काम १६५६)

१८

बैंक की कार्य-विधि

THE BANKING OPERATIONS

बैंक के कार्यों तथा उसके आर्थिक महत्व का अध्ययन करने के पश्चात् हमे यह जानना चाहिए कि बैंक अपने इन कार्यों को किस प्रकार सम्पन्न करता है। इसके लिए बैंक की कार्य-विधि का विस्तृत अध्ययन आवश्यक हो जाता है। समाज मे बैंक का प्रमुख कार्य रुपये का लेन-देन करना है और किसी भी बैंक की सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि वह किस प्रकार की विनियोग नीति को अपनाता है। सर्वप्रथम बैंक रुपये के लेन-देन के व्यवसाय को करने के लिए पर्याप्त मात्रा मे पूँजी एकत्रित करता है और फिर इस पूँजी का विभिन्न प्रकार के उद्योगो तथा व्यवसाय मे विनियोग करके उससे लाभ प्राप्त करता है। बैंको का लेन-देन कार्य कहाँ तक व्यापारिक बैंकिंग के सिद्धान्तो के अनुसार होता है तथा उनकी विनियोग सम्बन्धी नीति मे किन दिशाओ मे सुधार किये जाये, ये व्यवहारिक बैंकिंग की कुछ आधारभूत समस्याये हैं। बैंको की विनियोग सम्बन्धी नीति का अध्ययन करने से पूर्व हमे इस बात का विश्लेषण करना चाहिए कि व्यापारिक बैंक किस प्रकार पूँजी प्राप्त करते हैं।

बैंक की पूँजी के साधन (Capital of the Bank)—

आधुनिक बैंक विभिन्न प्रकार के साधनो से अपनी व्यावसायिक पूँजी प्राप्त करता है। बैंक की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर होती है कि वह लेन-देन व्यवसाय के लिए कितनी पूँजी प्राप्त कर सकता है और यह पूँजी किन-किन साधनो से प्राप्त की जाती है। बैंक की पूँजी प्राप्त करने के प्रमुख साधन इस प्रकार है—

(१) अश पूँजी (Share Capital)—आधुनिक बैंको की पूँजी का एक महत्वपूर्ण भाग जनता को बैंक के अश (Shares) बेचकर प्राप्त किया जाता है क्योकि बैंको का निर्माण प्राय. मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियो (Joint Stock Companies) के आधार पर होता है। बैंक स्थापित करने से पूर्व उसके सस्थापक यह निश्चय करते हैं कि बैंक को अपना व्यवसाय चलाने के लिए कुल कितनी पूँजी की आवश्यकता होगी। यह बैंक के द्वारा पूँजी एकत्र करने की अधिकतम सीमा होती है और इसे अधिकृत पूँजी (Authorised capital) कहते हैं। बैंक की अधिकृत पूँजी को

सामान्य मूल्य वाले अंशो (Shares) में बाँट दिया जाता है और उनकी एक निश्चित मात्रा जनता के खरीदने के लिए प्रस्तुत की जाती है। जितनी रकम के अंश जनता के सामने प्रस्तुत किए जाते है वह बैंको की निर्गमित पूंजी (Issued capital) होती है और वास्तव मे जितनी रकम के हिस्से जनता के द्वारा खरीदे जाते हैं उसे प्रार्थिक पूंजी (Subscribed capital) कहते है। प्रार्थिक पूंजी (Subscribed capital) का वह भाग जिसका अंशधारियों के द्वारा वास्तव मे भुगतान किया जाता है उसे चुकता पूंजी (Paid up capital) कहते है। बैंक की वास्तविक पूंजी यही होती है। इस प्रकार प्रत्येक बैंक अपनी कुल पूंजी का काफी बडा भाग अपने अंशो (Shares) को बेचकर प्राप्त करता है। भारतीय बैंकिंग कम्पनी अधिनियम सन् १९४९ (Indian Banking Companies Act 1949) के अनुसार बैंको को अपनी पूंजी प्राप्त करने के लिए केवल साधारण अंशो (Ordinary shares) को ही जारी करना चाहिए तथा बैंक की प्रार्थिक पूंजी (Paid up capital) उसकी अधिकृत पूंजी (Authorised capital) की आधी से अधिक होनी चाहिए और उसकी चुकता पूंजी (Paid up capital) उसकी प्रार्थिक पूंजी (Subscribed capital) की आधी से कम होनी चाहिए।

(२) जमा धन (Deposits)—किसी भी बैंक का प्रारम्भिक कार्य अपने ग्राहकों से बचत को जमा राशि के रूप मे एकत्रित करना होता है। लोग अपना रुपया निश्चित शर्तों पर बैंक मे जमा करते है जिसे वे आवश्यकता पडने पर इन शर्तों के अनुसार निकाल सकते हैं। बैंको मे जमा की हुई रकम सुरक्षित भी रहती है और बैंक उस पर ब्याज भी देता है। आधुनिक बैंक जनता की जमा को प्राप्त करने की सुविधायें प्रदान करके समाज की एक बहुत बडी सेवा करते है किन्तु वे इस जमा राशि से अपनी पूंजी भी प्राप्त करते है। वर्तमान बैंको के पास पूंजी की मात्रा बहुत कुछ इस बात के ऊपर निर्भर होती है कि वे जनता से कितना धन जमा के रूप मे प्राप्त करते हैं। बैंक मे जनता को जितना अधिक विश्वास होता है बैंक को उतनी ही अधिक मात्रा मे जमा धन प्राप्त होता है। एक अच्छे बैंक की पहचान इसी से होती है कि उसे कितना जमा धन प्राप्त हुआ है। जमा धन द्वारा बैंक अपनी पूंजी का बहुत बडा भाग प्राप्त करते है।

(३) साख निर्माण करके (Creation of Credit)—बैंको की पूंजी का एक बहुत बडा भाग स्वयं निर्मित होता है। हम देख आये है कि बैंक केवल लोगो से साख खरीदकर ही उसे उधार नही देते है एवं वे स्वयं साख का निर्माण करते है और अपने द्वारा निर्मित साख को उधार देकर लाभ प्राप्त करते है। वर्तमान बैंको के लाभ का प्रमुख साधन स्वयं निर्मित साख को उधार देना है। बैंको के द्वारा साख का निर्माण करना उनकी पूंजी प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण तथा सस्ता साधन है क्योकि बैंको को इस प्रकार की पूंजी पर किसी प्रकार का ब्याज नहीं देना पड़ता है। बैंक कितनी पूंजी साख निर्माण के द्वारा प्राप्त कर सकता है—यह

इस बात पर निर्भर होता है कि बैंक के पास कितनी नकद जमा है और वह उस कितना अंश नकद कोष के रूप मे रखता है। नकद जमा जितनी अधिक होगी तथा बैंक जितना कम अनुपात नकद कोष के रूप मे रखता है उतनी ही अधिक मा मे वह साख का निर्माण कर सकेगा। वर्तमान समय मे लोगो मे बैंकिंग की आद बढ जाने तथा बैंकिंग व्यवसाय का विस्तार होने के कारण बैंको की साख निर्मा करने की शक्ति मे काफी वृद्धि हुई।

(४) ऋण प्राप्त करके (Loans)—बैंक अपनी पूंजी का कुछ भाग ऋ लेकर भी प्राप्त कर सकता है। साधारण परिस्थितियो मे बैंक अपनी अंश पूंजी त जमा धन के द्वारा ही काम चलाता है किन्तु असाधारण परिस्थितियो मे वह ऋण के द्वारा भी पूंजी प्राप्त करता है। ऐसे ऋण व्यक्तियो से नहीं लिए जाते हैं ए उन्हे अन्य बैंको तथा केन्द्रीय बैंक से प्राप्त किया जाता है। जब किसी बैंक के ग्राह इतनी अधिक मात्रा मे नकदी की माग करने लगते हैं कि बैंक उसे अपने साधार साधनों से पूरा नही कर पाता तो ऐसी दशा मे बैंक को केन्द्रीय बैंक तथा अ सस्थाओ से ऋण लेकर इस माग को पूरा करना पडता है।

(५) सुरक्षित कोष (Reserve Fund)—बैंक की पूंजी का एक अन्य साध उसका सुरक्षित कोष है। प्रत्येक बैंक को प्राप्त होने वाले लाभ को दो भागो बाँटा जाता है। उसका एक निश्चित भाग बैंक के अंशधारियों को लाभा (Dividend) के रूप मे बाँट दिया जाता है तथा शेष भाग को सुरक्षित को (Reserve Fund) मे रक्खा जाता है। सामान्यतः इस कोष का प्रयोग असामा हानि (Contingent losses) को पूरा करने तथा प्रतिवर्ष वितरित लाभ को समा रखने के लिए किया जाता है किन्तु जब यह फण्ड काफी हो जाता है तो यह बैं की पूंजी का साधन बन जाता है। आरम्भ मे सुरक्षित कोष (Reserve Fun की मात्रा बहुत कम होती है और बैंक को अपनी कार्यशील पूंजी (Workin capital) के लिए चुकता पूंजी (Paid up capital) के ऊपर ही निर्भर रह पडता है। किन्तु धीरे-धीरे यह कोष बढता जाता है और बैंक की कार्यशील पूं (Working capital) मे भी वृद्धि होती है। भारतीय बैंकिंग कम्पनीज अधिनिय (१९४९) के अनुसार भारतीय बैंको के लिए अपने लाभ का २०% प्रतिवर्ष सुरक्षि कोष मे जमा करना अनिवार्य होता है।

धन का विनियोग (Investment)—

बैंक का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य अपनी पूंजी का विनियोग करके लाभ प्रा करना होता है। बैंक केवल ऋण देने के लिए ही उधार लेता है। उपर्यु सब साधनो से एकत्रित पूंजी को बैंक विभिन्न प्रकार के विनियोगो मे लगाता और उनसे आय प्राप्त करता है। प्रत्येक बैंक अपनी पूंजी को नकद कोष (Cas Reserve), मृत विनियोग (Dead Investment), तरल आदेय (Liquid Asset

तथा अतरल आदेय आदि में बाँटता है। पूँजी को इन विभिन्न विनियोगों में बाँटने के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं हैं और यह बैंक की अपनी विनियोग सम्बन्धी नीति के द्वारा निश्चित होता है। बैंक की सफलता इस बात पर निर्भर है कि वह कितनी पूँजी का विनियोग करता है तथा उसे किस प्रकार के विनियोगों में लगाता है। सफल विनियोग नीति का निर्माण करने के लिए बैंक अधिकारियों में दूरदर्शिता (Foresight), अनुभव (Experience) तथा व्यक्तिगत निर्णय (Judgement) लेने के गुण होने चाहिएँ। बैजहाट (Bagehot) ने ठीक ही कहा है कि "साहस व्यापार का जीवन है किन्तु सावधानी न कि भीरुता आधुनिक बैंकिंग का सार है।"[1] बैंक को अपने विनियोगों को निश्चय करने के लिए बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए और इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसकी विनियोग नीति व्यापारिक बैंकिंग के सिद्धान्तों (Principles of Commercial Banking) के अनुसार हो।

बैंक की विनियोग नीति के सिद्धान्त
(Principles of Investment Policy)—

यद्यपि प्रत्येक बैंक अपनी विनियोग नीति का निर्माण अपनी परिस्थिति के अनुसार कर सकता है किन्तु फिर भी उसे समुचित विनियोग नीति का विकास करने के लिए विनियोग सम्बन्धी कुछ सामान्य सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए। बैंक की विनियोग नीति के तीन आधारभूत सिद्धान्त तरलता (Liquidity), उत्पादकता (Profitability) तथा सुरक्षा (Safety) माने जाते हैं। प्रत्येक बैंक को अपनी विनियोग नीति का निर्माण इन सिद्धान्तों के अनुकूल करना चाहिए। सामान्यतः व्यापारिक बैंकों को अपने धन का उचित विनियोग करने के लिए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए—

(१) **कोषों की तरलता** (Liquidity of Funds)—सर्वप्रथम बैंक को अपने विनियोगों को करते समय तरलता (Liquidity) का ध्यान रखना चाहिए। तरलता से अभिप्राय बैंक की, माँग करने पर, नकदी का भुगतान करने की क्षमता से होता है। किसी भी बैंक के लिए उसके कोषों की तरलता अत्यन्त आवश्यक है। बैंक का व्यापार विश्वास पर चलता है और जनता को बैंक में विश्वास तब तक होता है जब तक कि वह माँग किये जाने पर नकदी का भुगतान कर सकता है। इसलिए बैंक के पास प्रत्येक जमा का भुगतान करने के लिए पर्याप्त मात्रा में नकद मुद्रा होनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि बैंक के विनियोग "बिक्री योग्य" हों अर्थात् उन्हें आवश्यकता पड़ने पर आसानी से तथा बिना किसी नुकसान के नकद मुद्रा में बदला जा सके। यदि बैंक के विनियोगों में इस प्रकार की तरलता

1 "Adventure is the life of commerce, but caution if not timidity, is the essence of modern banking." —*Bagehot.*

नही है तो आवश्यकता के समय बैंक को अपने विनियोगो से धन नही मिल सकेगा और बैंक कठिनाई मे फँस जायेगा। अतः बैंक के अधिकाश विनियोग ऐसे होने चाहिएँ जिन्हें शीघ्रता से नक्दी मे बदला जा सके। तरलता की दृष्टि मे जहाँ तक सम्भव हो सके बैंक के विनियोग अल्पकालीन हों। व्यापारिक बैंको को अपना रुपया अचल सम्पत्ति तथा आसानी से न बिकने वाली प्रतिभूतियो मे नही लगाना चाहिए। श्री एम० एल० टैनन (M. L Tannan) के अनुसार "बैंकर को विनिमय बिल तथा प्राधि (Mortgage) मे अन्तर समझ लेना चाहिए।"[2] बैंक को अपने विनियोगो की तरलता को बनाये रखने के लिए अपने धन का विनियोग सरकारी प्रतिभूतियों, प्रथम श्रेणी के बिलो, उत्तम प्रकार के हिस्सो तथा ऋण पत्रो (Shares and Debentures) एव अन्य प्रकार के बिक्री योग्य विनियोगो मे करना चाहिए।

(२) विनियोग की उत्पादकता (Productivity of Investment)—तरलता (Liquidity) के साथ-साथ बैंक को अपने विनियोगो की उत्पादकता को भी ध्यान मे रखना चाहिए। व्यापारिक बैंक लाभ पैदा करने वाली सस्थायें होती है इसलिए आवश्यक है कि उनके विनियोग लाभपूर्ण हो। एक बैंक को अपने व्यय को पूरा करने तथा अपने अशधारियो (Shareholders) को लाभाश (Dividend) देने के लिए पर्याप्त मात्रा मे आय प्राप्त करनी चाहिए। बैंक की आय का मुख्य स्रोत विनियोगो से प्राप्त होने वाला लाभ है। इसलिए बैंक को अपना धन विभिन्न प्रकार के विनियोगो मे इस प्रकार बाँटना चाहिए कि उसे अशधारियो (Shareholders) को लाभाश (Dividend) देने के लिए पर्याप्त आय प्राप्त हो सके। लाभ प्राप्त करने के लिए बैंक को आय देने वाले विनियोगो मे अपना धन लगाना चाहिए। किन्तु कोई भी बैंक अपना अधिकाश धन इस प्रकार के विनियोगो मे नही लगा सकता है क्योंकि ऐसा करने से उसका लाभ तो बढेगा किन्तु उसकी तरलता समाप्त हो जायेगी। बैंक को विनियोगो का निश्चय करने मे बडी सावधानी से काम लेना चाहिए क्योकि तरलता (Liquidity) और उत्पादकता (Profitability) दोनों एक दूसरे के प्रतिविरोधी हैं। कोई विनियोग जितना अधिक लाभपूर्ण होता है, उसमे से धन निकलना उतना ही कम सम्भव होता है। ऐसी दशा मे बैंक को विनियोगो की उत्पादकता तथा तरलता दोनो को ही ध्यान मे रखकर अपनी विनियोग नीति का निर्माण करना चाहिए। एक अच्छा बैंकर वही होता है जो कि *तरलता (Liquidity) तथा लाभशीलता (Profitability) मे उचित समन्वय कर सके।*

(३) धन की सुरक्षा (Security of Funds)—बैंक को अपने धन का विनियोग करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि विनियोग किया

---

2 "A true banker is one who understands the difference between a mortgage and a bill of exchange" —*Tannan.*

जाने वाला धन सुरक्षित रहे। क्योंकि बैंक दूसरो से उधार लिए हुए धन का विनियोग करता है इसलिए उसे अधिक जोखिम वाले विनियोगो मे अपना रुपया नही लगाना चाहिए। प्रत्येक बैंक को कम जोखिम वाले विनियोगो को प्राथमिकता देनी चाहिए चाहे वे कम लाभपूर्ण हो। इसीलिए बैंक सरकारी प्रतिभूतियो मे रुपया लगाना पसन्द करते है जिनसे कम लाभ प्राप्त होता है और कम्पनियो के हिस्सो मे नही लगाते है जिनसे उन्हे अधिक लाभ मिल सकता है। बैंको को लाभ के पीछे कभी भी नही दौडना चाहिए और विनियोग करते समय धन की सुरक्षा का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए। सुरक्षा की दृष्टि से विनियोगो को छाँटते समय बैंको को इन बातो का ध्यान रखना चाहिए—(i) **बैंक को अपना धन किसी एक व्यक्ति अथवा उद्योग को नहीं देना चाहिए** क्योकि ऐसा करने से जोखिम बहुत बढ जाती है। जोखिम को कम रखने के लिए बैंक को विविध प्रकार के उद्योगो तथा व्यवसायो को ऋण देने चाहिएँ। (ii) **बैंक को दीर्घकालीन ऋण नहीं देने चाहिएँ** और अल्पकालीन विनियोगो मे ही अपना धन लगाना चाहिए। व्यापारिक बैंको को केवल अस्थायी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए ही ऋण देने चाहिएँ। (iii) **ऋण केवल उचित जमानत पर ही दिये जाने चाहिएँ।** कभी कभी कुछ बैंक प्रतियोगिता के कारण बिना उचित जमानत के भी ऋण दे देते है किन्तु ऐसा करना सुरक्षा की दृष्टि से ठीक नही है। ऋण देने से पूर्व ऋणी के द्वारा दी जाने वाली जमानत की अच्छी प्रकार से जाँच करा लेनी चाहिए जिससे कि ऋण का भुगतान न होने पर बैंक को कोई हानि न उठानी पड़े। (iv) **अचल सम्पत्ति के आधार पर ऋण नहीं दिये जाने चाहिएँ**—जहाँ तक सम्भव हो सके बैंक को अचल सम्पत्ति की आड पर ऋण देने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित नही करना चाहिए। (v) **ऋण देने से पूर्व ऋणी के आचरण की पूरी जाँच कर लेनी चाहिए।** इन सब बातो को ध्यान मे रखकर बैंक अपने विनियोगो की सुरक्षा को बढा सकता है।

(४) **जोखिम की विविधता** (Diversification of Risks)—एक समुचित विनियोग नीति के अन्तर्गत बैंक को अपना धन विभिन्न प्रकार के आदेशो मे लगाकर रखना चाहिए। बैंक के विनियोगो मे विविधता होनी चाहिए और उसे कभी भी अपनी समस्त धन-राशि को एक ही प्रकार के ऋणो, प्रतिभूतियो तथा उद्योगो मे नही लगाना चाहिए। यदि बैंक अपनी अधिकाश पूँजी को किसी एक व्यवसाय अथवा उद्योग मे लगा देता है और किसी कारणवश वह उद्योग फेल हो जाता है तो ऐसी दशा मे बैंक भी फेल हो जायगा। इस प्रकार की जोखिम से बचने के लिए बैंक को विविध प्रकार के विनियोगो मे अपना धन लगाना चाहिए। कुछ थोड़े से उद्योग तथा व्यापारियों को बडे-बडे ऋण न देकर, बैंक को विभिन्न प्रकार के बहुत से उद्योगों तथा व्यापारियो को छोटे-छोटे ऋण देने चाहिएँ। ऐसा करने से ऋणों

का भुगतान रुक जाने के कारण बैंक के पास नकदी का प्रवाह रुकने का भय नही रहेगा। ऋणों मे विविधता होने के कारण कुछ न कुछ ऋणो का भुगतान अवश्य होता रहेगा और इस प्रकार बैंक के पास नकदी का प्रवाह बना रहेगा।

(५) प्रतिभूतियों की बिक्री-साध्यता (Marketability of Securities)—बैंक को केवल ऐसी प्रतिभूतियो तथा माल की आड पर ऋण देने चाहिएँ जिन्हे आसानी से बेचा जा सके। जहाँ तक सम्भव हो सके बैंक को सरकारी प्रतिभूतियो, प्रथम श्रेणी के बिलो (Bills), अच्छी कम्पनियो के अंशो व ऋण-पत्रो (Shares and Debentures) तथा तैयार माल आदि के आधार पर ही ऋण देने चाहिएँ क्योकि इनमे बिक्री-साध्यता होती है और बैंक जब चाहे इन्हे बेच कर धन प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत अचल सम्पत्ति मे लगाया हुआ धन आसानी से नही निकाला जा सकता है। अधिकाश बैंक अचल सम्पत्ति मे धन लगाने के कारण ही कठिनाई मे फँसते है और यदि उन्हे ठीक समय पर सहायता न मिले तो फेल हो जाते हैं।

इन सिद्धान्तो के अतिरिक्त बैंक को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उसके विनियोगो के मूल्यो मे स्थिरता रहे। बैंक के विनियोग ऐसे होने चाहिएँ जिनके मूल्य अपेक्षाकृत स्थिर रहते हो। यदि विनियोगो के मूल्यो मे आकस्मिक परिवर्तन होते हैं तो उसके कारण बैंक को काफी हानि हो सकती है। बैंक को विनियोग करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि उसके विनियोग करो से मुक्त हो। बैंक को अपना धन केवल ऐसी प्रतिभूतियो, अशो (Shares) आदि मे लगाना चाहिए जो आय-कर तथा अन्य प्रकार के करो से मुक्त हो। उपर्युक्त सभी बातो को ध्यान मे रखकर तथा उनमे उचित सतुलन के द्वारा ही बैंक एक अच्छी विनियोग नीति का विकास कर सकता है।

बैंक विनियोग की मदें (*Items of Bank Investment*)—

बैंक के द्वारा किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के विनियोगो का सक्षिप्त अध्ययन करके यह पता लगाया जा सकता है कि ये विनियोग कहाँ तक उक्त-लिखित सिद्धान्तो के अनुसार हैं। बैंक अपने धन को दो प्रकार के विनियोगो मे बांटते हैं—(अ) लाभहीन विनियोग (Profitless Investments) तथा (ब) लाभ-पूर्ण विनियोग (Profitable Investments)। प्रत्येक बैंक को दोनो प्रकार के विनियोगो मे ही अपनी पूँजी को बांटना पड़ता है। बैंक अपनी पूँजी को लाभहीन विनियोगो मे इसलिए लगाता है क्योकि उनमे तरलता (Liquidity) का गुण पाया जाता है और नकद मुद्रा की अधिक माग होने पर बैंक उनमे से अपना धन निकाल सकता है। किन्तु बैंक अपना समस्त धन लाभहीन विनियोगो मे नही लगा सकता है। प्रत्येक बैंक का उद्देश्य अपने अ शधारियो के लिए लाभ पैदा करना होता है और इसके लिए उसे अपनी पूँजी का कुछ भाग लाभपूर्ण विनियोगो (Profitable

Investments) मे भी लगाना पडता है। बैंक किस अनुपात मे अपना धन लाभहीन तथा लाभपूर्ण विनियोगो मे बाटता है इसके लिए कोई निश्चित नियम नही है किन्तु उसे तरलता (Liquidity) तथा उत्पादकता (Profitability) को ध्यान मे रखते हुए ही इन दोनो प्रकार के विनियोगो मे अपनी पूँजी का बँटवारा करना चाहिए।

लाभहीन विनियोग (Profitless Investments)—

बैंक के लाभहीन विनियोग प्राय: (क) नकद कोष (Cash Reserve) तथा (ख) मृत स्कन्ध (Dead Stock) के रूप मे रहते है —

(क) नकद कोष (Cash Reserve)—बैंकिंग व्यवसाय को सफलतापूर्वक चलाने के लिए पर्याप्त मात्रा मे नकद कोषो का होना अनिवार्य है। प्रत्येक बैंक के पास इतना नकद कोष अवश्य होना चाहिए कि वह किसी भी समय ग्राहको के द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले चैको का भुगतान कर सके। यद्यपि बैंक की कुल जमा का थोडा-सा भाग ही नकद कोष के रूप मे रखा जाता है किन्तु फिर भी यह नकद कोष बैंक के दैनिक व्यवसाय की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए पर्याप्त होना चाहिए। प्राय: बैंक के ऊपर की जाने वाली माग उसके द्वारा प्रतिदिन प्राप्त की जाने वाली नकद जमा के द्वारा ही पूरी हो जाती है किन्तु यह सम्भव हो सकता है कि किसी भी दिन नकदी की माग उसकी प्राप्ति से अधिक हो जाय। इस प्रकार की आकस्मिक माग को पूरा करने के लिए बैंक के पास पर्याप्त मात्रा मे नकद कोष होने चाहिएँ। कोई भी बैंक बहुत अधिक मात्रा मे नकद कोष नही रख सकता है क्योकि ऐसा करने से वह कम मात्रा मे विनियोग कर सकेगा और उसका लाभ कम हो जायगा। नकद कोष बैंक की एक प्रकार की निष्क्रिय पूँजी है जिस पर उसे कोई लाभ प्राप्त नही होता है इसलिए बैंक कम से कम मात्रा मे नकद कोष रखना चाहता है। किन्तु वह नकद कोष को न्यूनतम सुरक्षित सीमा से कम नही कर सकता क्योकि ऐसा करने से उसकी साख के टूटने का भय रहता है। अत: बैंक न तो तरलता के उद्देश्य से बहुत अधिक नकद कोष ही रख सकता है और न लाभ की दृष्टि से उसे बहुत कम ही कर सकता है। उसे तरलता (Liquidity) तथा उत्पादकता (Profitability) दोनो मे सतुलन स्थापित करके नकद कोष का पर्याप्त अनुपात निश्चित करना होता है।

नकद कोष का निर्धारण करने वाली बाते (Factors Determining Cash Reserve)—

नकद कोष को निर्धारित करने के सम्बन्ध मे कोई निश्चित नियम नही बनाये जा सकते हैं किन्तु फिर भी कुछ सामान्य बातो को ध्यान मे रखकर ही बैंक

अपने नकद कोषो की मात्रा को निश्चित करता है। इसमे कुछ महत्वपूर्ण बातें इस प्रकार है—

(१) वैधानिक आवश्यकता (Legal Requirements)—कुछ एक देशो मे बैंको के द्वारा रक्खे जाने वाले नकद कोष की न्यूनतम सीमा देश के बैंकिंग विधान के द्वारा निश्चित कर दी जाती है। अमेरिका मे बैंको को एक निश्चित न्यूनतम नकद कोष रखना पडता है। भारतवर्ष में भी बैंको के द्वारा रक्खे जाने वाले नकद कोष की न्यूनतम सीमा रिजर्व बैंक एक्ट के अन्तर्गत निश्चित कर दी गई है। प्रत्येक बैंक को अपनी निश्चित जमा (Time Liabilities) का २% और चालू जमा (Demand Liabilities) का ५% प्रतिशत नकद कोष के रूप मे रिजर्व बैंक मे हर समय रखना होता है। जिन देशो मे अधिनियम के द्वारा नकद कोष की न्यूनतम सीमा निश्चित कर दी गई वहाँ पर बैंकों को इस वैधानिक आवश्यकता को पूरा करने के लिए कम से कम इतना अधिक कोष अवश्य रखना पडता है जितना कि अधिनियम के द्वारा निश्चित किया गया है। यद्यपि व्यवहार मे बैंक इससे अधिक अनुपात मे नकद कोष रखते है।

(२) बैंक के व्यवसाय की प्रकृति (Character of Bank's Business)—नकद कोष की मात्रा इस बात पर निर्भर होती है कि बैंक किस प्रकार का व्यवसाय करता है और उसकी पूँजी कौन से विनियोगो मे लगी हुई है। यदि बैंक ने अपनी पूँजी का अधिकाश भाग सरकारी प्रतिभूतियो तथा अन्य प्रकार के तरल आदेयो मे लगाया हुआ है तो बैंक को कम मात्रा मे नकद कोष की आवश्यकता पडती है क्योकि वह किसी समय नकदी की माग को पूरा करने के लिए अपने आदेयो (Assets) का निस्तारण (Liquidate) कर सकता है। इसके विपरीत यदि बैंक ने अपनी पूँजी को दीर्घकालीन विनियोगो तथा अतरल आदेयो मे लगाया हुआ है तो बैंक को अधिक मात्रा मे नकद कोष रखना पडेगा।

(३) लोगों में बैंकिंग की आदत (Banking Habit among the People)—नकद कोष की मात्रा लोगो मे बैंकिंग की आदत के ऊपर भी निर्भर होती है। यदि लोगो मे बैंकिंग की आदत का विकास हो गया है और अधिकाश भुगतान चैक्स (Cheques) आदि के द्वारा निवटाये जाते हैं तो बैंकों को कम नकद कोष रखना होता है। इसके विपरीत यदि अधिकाश भुगतान नकद रूप मे निवटाये जाते हैं तो बैंको के लिए अधिक नकद कोष रखना आवश्यक हो जाता है। यही कारण है कि विकसित देशो मे पिछड़े हुए देशों की अपेक्षा बैंक कम अनुपात मे नकद कोष रख कर ही अपना काम चला लेते हैं।

(४) निक्षेपों का आकार (Size of Deposits)—नकद कोष का अनुपात बैंक के ग्राहकों की सख्या तथा उनके निक्षेपों (Deposits) के आकार पर भी निर्भर होता है। ग्राहकों की सख्या जितनी कम होती है और उनकी जमा का आकार जितना

बडा होता है, बैंक को उतनी ही अधिक मात्रा मे नकद कोष रखना पडता है। यदि बैंक के ग्राहकों की सख्या अधिक है किन्तु उन्होने थोडी-थोडी रकम ही बैंक मे जमा की हुई है तो बैंक कम नकद कोष से अपना काम चला लेगा क्योकि वह नकदी की बहुत अधिक माग की आशा नहीं कर सकता है। इसके विपरीत यदि बैंक के ग्राहकों की सख्या कम है किन्तु उनके निक्षेपो का आकार बडा है तो बैंक को अधिक मात्रा मे नकद कोष रखना पडेगा।

(५) बैंकिंग व्यवसाय की नकद कोष नीति (Policy of other Banks)—अन्य बैंक किस अनुपात मे नकद कोष रखना उपयुक्त समझते है, इस बात का भी किसी बैंक के नकद कोष के आकार पर प्रभाव पडता है। कोई भी बैंक अपने पडोसी बैंको से कम अनुपात मे नकद कोष नही रख सकता है। यदि कोई बैंक अपने साथी बैंको से कम अनुपात मे नकद कोष रखना चाहता है तो ऐसी दशा मे लोगो को उसकी स्थिरता के विषय मे सन्देह हो जाता है और वह बैंक कठिनाई मे फँस सकता है।

(६) निकासी-गृहों की सुविधा (Clearance Facilities)—बैंको के लिए निकासी-गृह की सुविधा जितनी अधिक होती है बैंक उतने ही कम नकद कोष से अपना काम चला सकते हैं। सुव्यवस्थित निकासी की सुविधायें होने से बैंको को अधिकाश चैको का भुगतान नकद रूप मे नही करना पडता है और उन्हे बैंको के आपसी लेन-देन के द्वारा ही निवटा दिया जाता है। इस प्रकार बैंक कम नकदी से ही अपना काम चला लेते है। किन्तु यदि निकासी की सुविधायें कम हैं तो बैंको को अधिकाश चैको का भुगतान नकद रूप मे करना होता है जिसके लिए उन्हे अधिक नकद कोष रखना पडता है।

(७) व्यापारिक दशायें (Business Conditions)—आर्थिक समृद्धि (Economic Prosperity) के काल मे बैंको को कम नकद कोष रखना पडता है क्योकि व्यवसायिक आशावाद के कारण लोग नकद रुपयो की अपेक्षा विनियोग को अधिक पसन्द करते हैं। इसके विपरीत अवसाद काल (Depression) मे विनियोग की सुविधाओ का अभाव होने के कारण लोग नकद रूप मे अपनी जमा को रखना चाहते हैं और बैंको को अधिक मात्रा में नकद कोष रखने होते हैं।

(ख) मृत स्कन्ध (Dead Stock)—प्रत्येक बैंक को अपनी पूँजी का कुछ भाग मृत स्कन्ध के रूप मे रखना पडता है जिससे बैंक को किसी प्रकार का प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त नही होता है। मृत स्कन्ध के अन्तर्गत बैंक की इमारत, फर्नीचर, फिटिंग्स तथा अन्य प्रकार के स्थिर आदेयो पर किया जाने वाला व्यय सम्मिलित होता है। बैंक को अपना कार्य आरम्भ करने से पूर्व ही इस प्रकार के विनियोग मे लगाई जाने वाली रकम को निश्चित करना होता है। बैंक के दैनिक व्यवसाय को चलाने के लिए इस प्रकार के आदेयो (Assets) का होना अत्यन्त आवश्यक है। इन आदेयो को

मृत स्कन्ध (Dead Stock) इसलिए कहा जाता है क्योंकि इनमे लगी हुई पूँजी को आसानी से नही निकाला जा सकता है। केवल बैंक के बन्द हो जाने पर ही इस प्रकार की सम्पत्ति को बेचा जा सकता है।

लाभपूर्ण विनियोग (Profitable Investments)—

बैंक के लाभ के मुख्य साधन उसके लाभपूर्ण विनियोग होते हैं। प्रत्येक बैंक अपनी पूँजी का अधिकाश भाग इस प्रकार के विनियोगो मे लगाकर रखना है जिससे कि उसे पर्याप्त मात्रा मे लाभ प्राप्त हो सके। बैंक के लाभपूर्ण विनियोगो मे निम्नलिखित प्रकार के विनियोग सम्मिलित होते हैं—

(१) याचना राशि तथा अल्प सूचनार्थ ऋण (Money at call or short notice)—ये बैंक के द्वारा दिये जाने वाले अति अल्पकालीन ऋण होते हैं जो बिना नोटिस दिये अथवा अल्पकालीन नोटिस देकर ही वसूल किये जा सकते हैं। इस प्रकार के ऋणो की अवधि प्राय एक सप्ताह से लेकर १५ रोज तक होती है। इन पर ब्याज की दर भी बहुत कम होती है और ½% तथा ¾% के बीच मे ही रहती है। कभी-कभी तो बैंक इस प्रकार के ऋणो को बिना सूचना दिये अथवा एक घण्टे का नोटिस देकर ही वापस ले सकता है। यदि ऋणी तुरन्त इनका भुगतान नही करता तो बैंक उसकी प्रतिभूतियो को बेचकर रकम वसूल कर लेता है। इस प्रकार के ऋण प्राय. बिल दलालो (Bill Brokers), डिस्काउन्ट गृहो (Discount Houses) तथा स्टाक ऐक्सचेन्ज के दलालो व आढतियो को दिये जाते है। बैंक इस प्रकार के ऋणो को बहुत अच्छा समझता है और तरलता (Liquidity) की दृष्टि से नकद कोष के पश्चात् इनका दूसरा स्थान होता है। एक प्रकार से, अल्प सूचनार्थ ऋण नकद कोष से भी अच्छे होते हैं क्योंकि बैंक को इनसे कुछ आय प्राप्त होती है किन्तु नकद कोष से कोई आय प्राप्त नही होती है। इगलैंड आदि देशो मे बैंको के द्वारा इस प्रकार के ऋण काफी मात्रा मे दिये जाते हैं किन्तु भारतवर्ष मे डिस्काउन्ट गृहो (Discount Houses) तथा निर्गमन गृहो (Issue Houses) का विकास न होने के कारण इस प्रकार ऋणो का प्रचलन कम है और एक बैंक केवल दूसरे बैंको को ही याचना राशि (Money at call) के रूप मे ऋण दे सकता है।

(२) बिलों का भुनाना (Discounting the Bills)—बैंको का दूसरा महत्वपूर्ण विनियोग उनके द्वारा बिलो को खरीदना तथा भुनाना है। विनिमय-पत्र (Bill of Exchange) बैंक के सुरक्षित आदेय है क्योंकि उनमे स्वय निस्तारण (Self Liquidation) की शक्ति होती है। जैसे ही बिल की अवधि समाप्त होती है वैसे ही उसका रुपया वाजिब हो जाता है। ये बिल प्रायः ६० से लेकर ६० दिन की अवधि के लिए होते हैं किन्तु आपत्ति काल मे इन्हे केन्द्रीय बैंक से दुबारा भुनाकर (Rediscounting) इससे पहले भी बैंक रुपया प्राप्त कर सकता है। इन बिलो के आधार पर बैंक अपने ग्राहको को ३ मास अथवा उससे कुछ कम अवधि के लिए

ऋण देता है। इस प्रकार के विनियोगो को बैंक अपनी सुरक्षा की तीसरी पंक्ति (Third Line of Defence) समझते है। बैंक अपने बिल सम्बन्धी विनियोगो का प्रबन्ध कुछ इस प्रकार से करता है कि कुछ न कुछ बिल बराबर परिपक्व (Mature) होते रहें। बिलो को भुनाने के अतिरिक्त बैंक प्रथम श्रेणी के प्रतिज्ञा पत्रो (Promissory Notes) तथा कोषागार विपत्रो (Treasury Bills) का क्रय-विक्रय भी करते हैं। यद्यपि इस प्रकार के विनियोगो पर बैंक को कम ब्याज मिलता है किन्तु उनमे सुरक्षा तथा बिक्री साध्यता (Marketability) अधिक होने के कारण बैंक उन्हे काफी पसन्द करते है। भारतवर्ष मे बिल बाजार का समुचित विकास न होने के कारण बैंको के द्वारा बिल भुनाने तथा उन्हे खरीदने मे अपनी जमा राशि का बहुत कम भाग ही लगाया जाता है जबकि विदेशो मे बैंको की जमा राशि का १०% से १५% तक इस प्रकार के विनियोगो मे लगा रहता है। हमारे यहाँ केवल ५% या ६% ही इस कार्य मे लगाया जाता है।

(३) प्रतिभूतियों तथा अन्य प्रकार के आदेयों मे विनियोग (Investment in Securities and other Assets)—बैंक अपने धन का काफी बडा भाग सरकारी तथा अर्ध सरकारी प्रतिभूतियो (Govt. Securities), ट्रेजरी बिल्स तथा बॉंड्स, कम्पनियो के अंशो तथा ऋण-पत्रो, सोना, चांदी आदि आदेयो मे लगाकर रखते है। इस प्रकार के विनियोग बैंक की रक्षा की चौथी पंक्ति (Fourth Line of Defence) बतलाये जाते है। इस प्रकार के आदेयो (Assets) में बैंक की पूँजी सुरक्षित भी रहती है और उस पर सामान्य लाभ भी प्राप्त होता है। तरलता की दृष्टि से भी ये विनियोग अच्छे रहते है क्योंकि आवश्यकता पडने पर बैंक इन्हे बेचकर अपनी रकम निकाल सकता है किन्तु ऐसा करने मे बैंक को कुछ हानि हो सकती है। बैंक प्राय: सरकारी प्रतिभूतियों को प्राथमिकता देते हैं क्योंकि उनके मूल्य मे कम परिवर्तन होते हैं एव उन्हे हर समय आसानी से बेचा जा सकता है। कम्पनियो के शेयर्स तथा ऋण-पत्रो मे रुपया लगाना बैंक पसन्द नही करते है क्योंकि उन्हे आसानी से नही बेचा जा सकता है। प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियो (First Class Securities) मे लगा हुआ धन स्वस्थ विनियोग (Sound Investment) समझा जाता है। इगलैंड के बैंक प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों में अपनी जमा का ३०% लगाकर रखते हैं, भारतवर्ष मे इस प्रकार के विनियोग जमा का ४०% तथा अमेरिका मे ६०% होते हैं।

(४) ऋण तथा अग्रिम (Loans and Advances)—बैंक अपने धन का काफी बडा भाग अपने ग्राहको को ऋण तथा अग्रिम के रूप मे दिया करते है। ऋण देना बैंक का एक प्रमुख कार्य है और इस प्रकार के विनियोग मे ही बैंक को अपनी आय का अधिकांश भाग प्राप्त होता है। बैंकर्स के लिए ऋण तथा अग्रिम विशेष आकर्षण रखते हैं क्योंकि इन पर उन्हे ५% से लेकर ९% तक ब्याज मिल जाता

है। यह बैंक का सबसे अधिक लाभपूर्ण विनियोग होता है और प्रत्येक बैंक इसमें अपना अधिक से अधिक धन लगाने का प्रयत्न करता है। प्राय: बैंक अपनी पूँजी का ६०% तक ऋण तथा अग्रिम के रूप मे दे देते है। भारतीय बैंको के सम्बन्ध मे यह प्रतिशत ४०% से ५०% तक रहता है। यद्यपि लाभ की दृष्टि से इस प्रकार के विनियोग अच्छे होते हैं किन्तु उनमें तरलता (Liquidity) का गुण बहुत कम पाया जाता है। उक्त लिखित तीनो प्रकार के विनियोगो की तुलना मे ऋण तथा अग्रिम सम्बन्धी विनियोग सबसे कम तरल होते हैं और उनमें लगे हुए धन को आसानी से नही निकाला जा सकता है। इसलिए बैंक को इस प्रकार के विनियोगो के सम्बन्ध मे विशेष सावधानी से काम लेना चाहिए।

बैंक के द्वारा दिये जाने वाले ऋण प्राय. तीन प्रकार के हो सकते है—(i) साधारण ऋण, (ii) अधिविकर्ष (Overdraft) तथा (iii) नकद-साख (Cash Credit)। साधारण ऋण देते समय बैंक ऋणी से उचित जमानत लेकर उसके हिसाब मे ऋण की रकम को जमा कर देता है। ऋणी जब चाहे उस रकम को अपने खाते मे से निकाल सकता है। इस प्रकार के ऋण केवल जमानत की आड़ पर ही दिये जाते हैं और ऋणी को पूरी रकम पर ब्याज देना पडता है। साधारण ऋणो के अतिरिक्त बैंक अपने जमाधारियो को अधि-विकर्ष (Overdraft) की सुविधायें भी देता है। यह सुविधा केवल चालू खाते (Current Account) वाले ग्राहको को ही दी जाती है। अधि-विकर्ष (Overdraft) के अन्तर्गत बैंक जमा-कर्त्ता (Depositor) को अपने हिसाब मे जमा रकम से अधिक निकालने का अधिकार दे देता है। अधिविकर्ष प्राय व्यक्तिगत जमानत (Personal Security) के आधार पर दिये जाते हैं और केवल अल्प काल के लिए ही दिये जाते हैं। ग्राहक आवश्यकता पडने पर उस सीमा तक अधिक रुपया निकाल सकता है। बैंक के द्वारा नकद साख (Cash Credit) के रूप मे ऋण दिये जाने का तरीका काफी प्रचलित होता जा रहा है। इस प्रकार के ऋण केवल जमानत के आधार पर ही दिये जाते हैं। जमानत तैयार माल, प्रतिभूतियाँ तथा अन्य प्रकार की चल सम्पत्ति की होनी चाहिए। इन जमानतो की आड पर बैंक अपने ग्राहको की साख की अधिकतम सीमा निश्चित कर देता है और वे आवश्यकता पडने पर उस सीमा तक बैंक से रुपया निकाल सकते है। ऋणी को केवल उतनी ही रकम पर ब्याज देना पडता है जितनी कि वह वास्तव में निकालता है।

विनियोग करने के सम्बन्ध में सावधानियाँ
(Precautions in Investing Funds)

बैंक की व्यवहारिक सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि वह अपने धन का विनियोग करते समय एक सुदृढ विनियोग नीति के सामान्य सिद्धान्तों का पालन कहाँ तक करता है। प्रत्येक बैंक को अपने विनियोग इस प्रकार करने चाहिएँ कि

वह विनियोगों की तरलता (Liquidity) और उत्पादकता (Productivity) में उचित समन्वय कर सके। विनियोग के सामान्य सिद्धान्तो के आधार पर बैंक यह निश्चित करता है कि उसे अपनी कुल रकम का कितना भाग लाभपूर्ण विनियोग (Profitable Investment) मे लगाना है और कितना लाभहीन विनियोग (Profitless Investment) मे रखना है। इसके पश्चात् बैंकर के लिए यह समस्या होती है कि वह विनियोग की जाने वाली रकम को किस प्रकार विभिन्न विनियोगो मे वितरित करे। इसके विषय मे कोई सामान्य सिद्धान्त नही बनलाया जा सकता है। प्रत्येक बैंक को अपनी विनियोग नीति का निर्माण अपनी परिस्थिति के अनुसार करना चाहिए क्योकि अलग-अलग बैंको तथा उनके ग्राहको की समस्यायें अलग-अलग होनी हैं। व्यक्तिगत बैंक अपने अनुभव के आधार पर स्वय निश्चित कर सकता है कि उसे अपने ग्राहकों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। किन्तु फिर भी प्रत्येक बैंक को अपने विनियोग की प्रकृति को निश्चित करते समय कुछ सामान्य बातो का ध्यान रखना चाहिए जिनमे से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(१) सुरक्षा (Safety)—बैंकर को सर्वप्रथम अपनी रकम की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखना चाहिए। बैंक का व्यवसाय जोखिम उठाने का व्यवसाय नही है। अत: बैंक को अपना धन केवल सुरक्षित विनियोगो मे ही लगाना चाहिए। बैंक क्योंकि दूसरे लोगो के धन से व्यापार करता है इसलिए उसे जोखिम वाले विनियोगों मे धन नही लगाना चाहिए। बैंक के विनियोग ऐसे होने चाहिए जिनमे से रुपये की वापसी की अधिक से अधिक सम्भावना हो।

(२) आदेयों की तरलता (Liquidity of Assets)—बैंक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी पूंजी को अधिक से अधिक तरल रूप में रखे। अत: बैंकर को अपना धन ऐसी प्रतिभूतियो मे लगाना चाहिए जिन्हे कम से कम समय में बाजार मे बेचकर रुपया निकाला जा सके। बैंकर को रुपये का विनियोग करने से पूर्व यह देख लेना चाहिए कि जिन प्रतिभूतियो मे वह विनियोग कर रहा है उन्हे आसानी से किसी बडी हानि के बिना बाजार मे बेचा जा सकता है अथवा नही। प्रतिभूतियो की विक्रयशीलता (Marketability) बैंकर के लिए एक महत्वपूर्ण गुण है जिसका उसे सदैव ध्यान रखना चाहिए।

(३) प्रतिभूतियों के मूल्य की स्थिरता (Stability of Security Prices)—बैंकर को अपना धन केवल उन प्रतिभूतियो मे ही लगाना चाहिए जिनका मूल्य सामान्यता स्थिर रहता हो। बैंक का उद्देश्य प्रतिभूतियो के मूल्यो मे उतार-चढाव से लाभ प्राप्त करना नही होता है, वह केवल अपनी पूंजी पर ब्याज प्राप्त करना चाहता है। अत: बैंक का विनियोग ऐसी प्रतिभूतियों मे किया जाना चाहिए जिनके मूल्य में कम से कम परिवर्तन होते हों।

(४) ऋणों की उत्पादकता (Productivity of Loans)—बैंक के विनियोग ऐसे होने चाहिए जिनसे उसे अपनी पूंजी पर पर्याप्त एवं स्थिर रूप से आय प्राप्त

होनी रहे। इसके लिए आवश्यक है कि बैंक को अपनी पूंजी का अधिकांश भाग उत्पादक विनियोगों में लगाना चाहिए। यद्यपि बैंक को अपने विनियोग से बहुत अधिक लाभ प्राप्त करने की आशा नहीं करनी चाहिए किन्तु फिर भी उसके विनियोगों का लाभपूर्ण होना आवश्यक है।

(५) जोखिम का अधिकाधिक फैलाव (Diversification of Risks)—बैंक को विनियोग करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह अपनी पूंजी को विभिन्न प्रकार के विनियोगों में लगाये जिससे कि जोखिम का अधिकाधिक फैलाव हो सके। कभी भी बैंक को अपना धन एक ही प्रकार के व्यवसाय अथवा उद्योगों में नहीं लगाना चाहिए। कुछ थोड़े से व्यक्तियों को बड़े-बड़े ऋण देना बैंक के लिए खतरनाक हो सकता है। उसे विभिन्न व्यवसायों में लगे हुये बहुत से लोगों को थोड़े-थोड़े ऋण देने चाहिएं जिससे कि जोखिम की मात्रा कम से कम रहे।

(६) पर्याप्त मार्जिन (Adequate Margin)—बैंक को ऋण देते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक ऋण के पीछे पर्याप्त मार्जिन (Margin) रखा जाय। बैंक की ऋण नीति ऐसी होनी चाहिए कि दिये जाने वाले ऋण की मात्रा प्रतिभूतियों के मूल्य से काफी कम रहे जिससे कि बैंक प्रतिभूतियों का मूल्य गिरने की दशा में हानि से बच सके। अतः प्रत्येक ऋण के पीछे काफी मार्जिन रखना आवश्यक है। प्रतिभूतियों के मूल्य में जितनी कम स्थिरता हो उन पर दिये जाने वाले ऋण में उतना ही अधिक मार्जिन (Margin) होना चाहिए। बैंक प्राय १०% से लेकर ३०% तक का मार्जिन रखकर ऋण देते हैं जिसका उद्देश्य बैंक को आकस्मिक हानि से बचाना होता है।

(७) ऋण की उचित मात्रा—बैंक के लिए ऋण की मात्रा का उचित निर्धारण अत्यन्त आवश्यक है। ऋणों की मात्रा का बैंक के नकद कोष के साथ उचित अनुपात होना चाहिए। किसी बैंक को न तो बहुत अधिक मात्रा में ऋण देने चाहिएँ और न बहुत कम मात्रा में। बैंक को कभी भी सुरक्षित सीमा से अधिक मात्रा में ऋण नहीं देने चाहिएँ। यदि ऋणों की मात्रा नकद कोष के अनुपात में बहुत अधिक हो जाती है तो बैंक के फेल होने का खतरा उत्पन्न हो सकता है। इसलिए बैंक को कभी भी लाभ के लालच में आकर बहुत अधिक मात्रा में ऋण नहीं देने चाहिएँ। इसके विपरीत बैंक को ऋणों की मात्रा बहुत कम भी नहीं रखनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से उसे कम लाभ प्राप्त होगा। अत. बैंक के ऋणों का उसके नकद कोष के साथ उचित अनुपात होना चाहिए।

एक व्यापारिक बैंक का चिट्ठा
(Balance Sheet of a Commercial Bank)

व्यापारिक बैंक की आर्थिक स्थिति का ज्ञान उसके द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले वार्षिक चिट्ठे से होता है। बैंक का चिट्ठा अन्य व्यवसायिक संस्थाओं के चिट्ठे

की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि बैंक दूसरो के रुपयों से व्यापार करता है इसलिए समस्त समाज उसकी आर्थिक स्थिरता के बारे में जानना चाहता है। वार्षिक चिट्ठा ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम बैंक की आर्थिक स्थिति, उसकी तरलता (Liquidity) तथा शोधन क्षमता (Solvency) के बारे मे ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। बैंक का चिट्ठा उसकी देनदारी तथा लेनदारी का पूरा विवरण होता है। उसके द्वारा हम यह जान सकते है कि बैंक किस प्रकार अपने साधनों को एकत्रित करता है और कैसे उनका विनियोग करता है। उससे हम यह भी पता लगा सकते हैं कि बैंक के पास कितनी सम्पत्ति है और उसके आदेय (Assets) किस प्रकार के है तथा बैंक की देनदारी कितनी है और उसके विभिन्न रूप क्या हैं। चिट्ठे का विश्लेषण करके हम बैंक की विनियोग नीति तथा उसकी विशेषताओ का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। दो विभिन्न वर्षों के चिट्ठो की तुलना करके हम यह पता लगा सकते हैं कि पहले की अपेक्षा बैंक के साधनो मे कितनी वृद्धि हुई तथा बैंक ने अपनी विनियोग सम्बन्धी नीति मे किन दिशाओ मे परिवर्तन किया है। अतः किसी भी बैंक का वार्षिक चिट्ठा अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। उसके आधार पर ही जनता का विश्वास बैंक की स्थिरता में स्थापित होता है। अध्ययन के लिए हम एक बैंक का निम्नलिखित काल्पनिक चिट्ठा (Balance Sheet) ले सकते है—

बैंक के चिट्ठे का नमूना

(Specimen of Bank Balance Sheet)

देनदारी (Liabilities)	रकम	आदेय (Assets)	रकम
(१) परिदत्त पूंजी (Paid up Capital)	...	(१) नकदी (Cash)	...
(२) सचित कोष तथा अन्य जमा (Reserves and other Accounts)	...	(२) अन्य बैंको तथा केन्द्रीय बैंक के पास जमा (Cash at other Banks including the Central Bank)	...
(३) जमानत तथा अन्य खाते (Deposits and other Funds) (i) निश्चित जमा (Fixed Deposits)		(३) याचना राशि तथा अल्प सूचनार्थ ऋण (Money at call and short notice)	...

(ii) चालू जमा (Demand Deposits) (iii) बचत जमा (Savings Deposits)			
(४) अन्य बैंकों के ऋण (Balances of other Banks)	...	(४) भुनाये गये बिल (Bills Discounted)	...
(५) शोधनीय बिल (Bills Payable)	...	(५) ऋण तथा अग्रिम (Loans & Advances)	...
(६) ग्राहकों के लिए स्वीकृतियाँ (Acceptances and Endorsements)	...	(६) प्रतिभूतियों में विनियोग (Investment in Securities)	...
(७) अन्य देनदारी (Other Liabilities)	...	(७) वसूली के लिए प्राप्त बिल (Bills Acquired for Collection)	...
(८) लाभ तथा हानि खाता (Profit & Loss A/c)	...	(८) इमारत, फर्नीचर तथा अन्य सामान (Dead Stock and Premises)	...
		(९) अन्य आदेय (Other Assets)	...
योग (Total)	...	योग (Total)	...

विभिन्न बैंक अपने चिट्ठे विभिन्न प्रकार से बनाते हैं और उनमें एकरूपता नहीं पाई जाती है किन्तु ऊपर दिया गया चिट्ठा एक सामान्य प्रकार के बैंक के चिट्ठे का उदाहरण है और इसके विश्लेषण के द्वारा हम एक बैंक की देनदारी (Liabilities) तथा आदेयों (Assets) का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

बैंक के चिट्ठे के विश्लेषण (*Analysis of Balance Sheet*)—

प्रत्येक चिट्ठे (Balance Sheet) के दो भाग होते हैं—देनदारी (Liabilities) तथा आदेय (Assets)। बाईं ओर बैंक की देनदारी का विवरण होता है जिसमें *वे सब मदें दिखलाई जाती हैं जिनके सम्बन्ध में बैंक को अन्य लोगों को भुगतान* देना होता है और दाईं ओर बैंक के आदेय (Assets) होते हैं, जो उसकी लेनदारी को बताते हैं। इन दोनों मदों का योग अन्त में बराबर हो जाता है और तब बैलेन्स शीट सन्तुलित होता है। बैंक के चिट्ठे को ठीक-ठीक समझने के लिए हमें उसके दोनों भागों की मुख्य-मुख्य मदों का एक-एक करके अध्ययन करना चाहिए।

देनदारी (Liabilities Side)—बैंक की देनदारी की प्रमुख मदें निम्न-लिखित होती हैं—

(१) बैंक की पूँजी (Capital)—पूँजी के अन्तर्गत वह रकम शामिल होती है जो बैंक को अपने हिस्से (Shares) बेचने से प्राप्त होती है। यह हिस्सेदारों (Shareholders) की रकम बैंक के जिम्मे वाजिब होती है। प्रत्येक बैंक की स्थापना से पूर्व उसके स्मारक-पत्र (Memorandum of Association) मे निश्चित कर दिया जाता है कि वह अधिक से अधिक कितनी पूँजी अपने हिस्से बेचकर प्राप्त कर सकता है। यह बैंक की अधिकृत पूँजी (Authorized Capital) कहलाती है। अधिकृत पूँजी के कुछ भाग के अंश (Shares) ही बेचने के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं। बैंक जितनी रकम के हिस्से बाजार मे बेचने के लिए प्रस्तुत करता है वह बैंक की निर्गमित पूँजी (Issued Capital) होती है। वास्तव मे जितनी रकम के हिस्से लोगों के द्वारा खरीदे जाते हैं उसे प्राथिक पूँजी (Subscribed Capital) कहा जाता है। प्राथिक पूँजी का जितना भाग अंशधारियों के द्वारा वास्तव मे भुगतान किया जाता है, उसे चुकता पूँजी (Paid up Capital) कहते हैं। प्रायः हिस्सो (Shares) के ५० प्रतिशत मूल्य को ही मांगा जाता है और शेष बैंक किसी भी समय अंशधारियो से ले सकता है। ऐसा करने से बैंक के जमाकर्त्ताओ (Depositors) तथा ऋणदाताओं (Creditors) मे बैंक के प्रति अधिक विश्वास हो जाता है क्योंकि बैंक के पास काफी मात्रा मे अनएकत्रित (Unpaid) पूँजी रहती है जिसे वह सकट काल मे अपनी देनदारी को निबटाने के लिए प्रयोग कर सकता है।

(२) सुरक्षित कोष (Reserve Fund)—प्रत्येक बैंक के पास कुछ न कुछ सुरक्षित कोष अवश्य रहता है। इस कोष का निर्माण बैंक के अतिरिक्त लाभ के द्वारा किया जाता है और इसका प्रयोग आपत्ति काल मे आकस्मिक हानि को पूरा करने तथा प्रति वर्ष दिये जाने वाले लाभ को समान रखने के लिए किया जाता है। यह रकम भी एक प्रकार से हिस्सेदारो की बैंक के जिम्मे वाजिब होती है। भारतवर्ष मे बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम (Banking Companies Act) के अन्तर्गत बैंकों को अपने लाभ का २० प्रतिशत अनिवार्य रूप से संचित कोष में रखना पडता है।

(३) जमा धन (Deposits)—बैंक की मुख्य देनदारी उसे प्राप्त होने वाले जमा धन के कारण उत्पन्न होती है। यह देनदारी बैंक के जमाकर्त्ताओ के प्रति होती है। प्रत्येक बैंक अपने ग्राहकों से चालू जमा (Current Deposit), निश्चित जमा (Fixed Deposit) तथा बचत जमा (Savings Deposit) के रूप मे धन प्राप्त करता है। बैंक के जमा धन का बहुत बडा भाग किसी भी समय माग किये जाने पर निकाला जा सकता है इसलिए बैंक इस धन का विनियोग बड़ी सावधानी

से करना है। इस जमा का कुछ भाग नकद कोष (Cash Reserve) के रूप मे रक्खा जाता है और शेष को उधार दे दिया जाता है अथवा उसका विनियोग कर दिया जाता है। जमा धन का बहुत अधिक भाग विनियोग नहीं किया जा सकता है क्योंकि बैंक को अपने जमाधारियो (Depositors) की नकदी की मांग को पूरा करने के लिए हर समय तैयार रहना पडता है।

(४) अन्य बैंकों के ऋण (Balances of other Banks)—बैंक के ऊपर जो धन दूसरे बैंको का वाजिब होता है उसे इस मद के अन्तर्गत दिखलाया जाता है। अपने दैनिक कार्य को चलाने के लिए तथा आकस्मिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए बैंक अन्य बैंको से ऋण लेता है जिनके भुगतान का उत्तरदायित्व बैंक का होता है।

(५) शोधनीय बिल (Bills Payable)—जिन बिलो का भुगतान करने का उत्तरदायित्व बैंक ने अपने ऊपर ले लिया है, उनकी रकम को जोड़कर इस मद मे दिखलाया जाता है। यह भी बैंक की देनदारी होती है क्योंकि बैंक को इन बिलो का भुगतान करना होता है।

(६) ग्राहकों के लिए स्वीकृतियां (Acceptances & Endorsements)—बैंक कुछ बिलो को अपने ग्राहको के लिए स्वीकार करता है जिनके भुगतान की जिम्मेदारी वह अपने ऊपर ले लेता है। बैंक के द्वारा इस प्रकार स्वीकार किये गए बिलो की रकम को इस मद (Item) मे सम्मिलित किया जाता है। इसके अतिरिक्त बैंक अपने ग्राहको से जो बहुत से साख-पत्र वसूली (Collection) के लिए स्वीकार करता है, उनकी रकम भी इसी मद मे सम्मिलित कर दी जाती है। इस प्रकार के साख-पत्रो की रकम वसूली के पश्चात् ग्राहको के हिसाब मे जमा कर दी जाती है, जिसे वे जब चाहे निकाल सकते हैं।

बैंक के आदेय (Assets of the Bank)—

आदेय वाले भाग मे उन सब मदो को दिखलाया जाता है जिनके लिए बैंक को भुगतान प्राप्त करने होते हैं। किसी बैंक के आदेयो का अध्ययन करके यह पता लगाया जा सकता है कि बैंक ने अपने धन को किस प्रकार के विनियोगो मे लगाया हुआ है। इससे यह भी जाना जा सकता है कि बैंक ने अपने ग्राहको की माग को पूरा करने के लिए कितनी नकद मुद्रा अपने पास रखी है तथा कितनी रकम का विनियोग तरल सम्पत्ति मे किया हुआ है। आदेय वाले भाग मे प्रायः निम्नलिखित मदें सम्मिलित की जाती हैं—

(१) नकदी (Cash)—बैंक को अपने ग्राहको की मांग को पूरा करने के लिए अपने पास कुछ नकद मुद्रा अवश्य रखनी होती है। यद्यपि बैंक के द्वारा रखी जाने वाली नकदी उसकी पूंजी का बहुत थोड़ा भाग होता है किन्तु फिर भी प्रत्येक बैंक को अपने पास इतनी नकदी अवश्य रखनी चाहिए जिससे कि वह प्रस्तुत किये

जाने वाले समस्त चैकों का भुगतान कर सके। बैंक कितनी नकदी अपने पास रखते हैं, इस सम्बन्ध मे कोई निश्चित नियम नही है। प्रत्येक बैंक अपने अनुभव के आधार पर तथा अपने व्यवसाय की प्रकृति व ग्राहको की आदतो के अनुसार नकद कोष की मात्रा को निश्चित करता है। इगलैंड के बैंक प्रायः अपनी जमा का ६ या १० प्रतिशत नकदी के रूप मे रखते हैं, किन्तु भारतवर्ष के बैंकों की नकदी का अनुपात १० से १३ प्रतिशत तक होता है। किसी समय बैंक के पास जितनी नकद मुद्रा होती है उसे हम इस मद मे दिखलाते है।

(२) अन्य बैंकों तथा केन्द्रीय बैंक के पास जमा (Cash at other Banks including the Central Bank)—बैंक की अन्य बैंको के पास जमा तथा केन्द्रीय बैंक के पास रखी जाने वाली जमा को इस मद के अन्तर्गत दिखलाया जाता है। प्रत्येक बैंक अपनी जमा का कुछ भाग केन्द्रीय बैंक के पास रखता है। कुछ देशो मे इस जमा का न्यूनतम अनुपात सरकार के द्वारा निश्चित कर दिया जाता है। भारतवर्ष मे बैंको को अपनी चालू जमा (Demand Deposit) का ५% तथा निश्चित जमा (Time Deposit) का २% अनिवार्य रूप से रिजर्व बैंक के पास जमा रखना पडता है।

(३) याचना राशि तथा अल्प सूचनार्थ ऋण (Money at Call and Short Notice)—इनके अन्तर्गत बैंक के द्वारा दिये जाने वाले वे अल्पकालीन ऋण सम्मिलित होते हैं जिन्हे बैंक बिना नोटिस दिये अथवा थोड़े समय का नोटिस देकर वापस माग सकते हैं। इस प्रकार के ऋण प्रायः अन्य बैंको, डिस्काउन्ट गृहो (Discount Houses) तथा बिलो के दलालो (Bill Brokers) आदि को दिये जाते हैं।

(४) भुनाये गए बिलों में विनियोग (Bills Discounted)—बैंक के द्वारा भुनाये गये अथवा खरीदे गये बिलों (Bills) की कुल रकम को हम इस शीर्षक के अन्तर्गत दिखलाते है। प्रायः बैंक प्रथम श्रेणी के बिलो तथा ट्रेजरी बिल्स (Treasury Bills) को ही भुनाता है। इस प्रकार के विनियोगो मे भारतीय बैंक अपनी कार्यशील पूँजी (Working Capital) का केवल २ या ३ प्रतिशत ही लगाते हैं जबकि अन्य देशो मे यह प्रतिशत १५ से लेकर ३० प्रतिशत तक होता है।

(५) ऋण तथा अग्रिम (Loans and Advances)—इसके अन्तर्गत वे ऋण तथा अग्रिम सम्मिलित होते हैं जो बैंक के द्वारा अपने ग्राहको को समय-समय पर दिये जाते हैं। इस प्रकार के ऋणो पर बैंक को अपेक्षाकृत कुछ ऊंचा ब्याज मिल जाता है। बैंक के द्वारा दिये जाने वाले साधारण ऋण, अधि-विकर्ष (Over-draft) तथा नकद साख (Cash Credit) आदि इसी मद मे सम्मिलित किये जाते है।

विनियोग (Investments)—सरकारी प्रतिभूतियों (Govt. Securities), अर्द्ध-सरकारी प्रतिभूतियों (Semi-Govt. Securities), कम्पनियों के हिस्सों तथा

ऋण-पत्रों (Shares and Debentures) आदि में किया हुआ विनियोग इस मद मे सम्मिलित किया जाता है। प्रत्येक बैंक अपनी जमा का काफी बड़ा भाग इस प्रकार विनियोग मे लगाना चाहता है, क्योंकि इन विनियोगों से उसे लाभ प्राप्त होता है। किन्तु सरकारी प्रतिभूतियो को छोड़कर अन्य प्रकार के विनियोगो मे तरलता का अभाव रहता है इसलिए बैंक इनके सम्बन्ध मे विशेष सावधानी से काम लेता है।

(७) *बैंक की इमारत, फर्नीचर तथा अन्य सम्पत्ति (Premises, Furniture* and Fittings)—बैंक के द्वारा अचल सम्पत्ति मे किया हुआ विनियोग इस मद के अन्तर्गत दिखलाया जाता है। प्रत्येक बैंक को अपना दैनिक कार्य चलाने के लिए कार्यालय की इमारत, फर्नीचर, फिटिंग्स इत्यादि की आवश्यकता होती है। इस प्रकार की अचल सम्पत्ति मे लगाये हुए धन से बैंक को किसी प्रकार की आय प्राप्त नही होती है किन्तु यह बैंक के आदेयो का ही भाग होता है।

इकाई बैंकिंग और शाखा बैंकिंग
(Unit Banking & Branch Banking)

विभिन्न देशो की बैंकिंग व्यवस्था मे वहाँ की आर्थिक तथा राजनैतिक दशाओ के अनुसार काफी भिन्नता पाई जाती है। बैंको का सगठन तथा उनके कार्य अलग-अलग देशो मे अलग-अलग प्रकार के हो सकते हैं। साधारणतया व्यापारिक बैंको की व्यवस्था दो प्रकार की हो सकती है—(अ) शाखा बैंकिंग (Branch Banking) तथा (ब) इकाई बैंकिंग (Unit Banking)। दोनों प्रकार की बैंकिंग व्यवस्थाओ मे से कौनसी अच्छी है, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता है किन्तु अनुभव के आधार पर यह कहा जाता है कि शाखा बैंकिंग इकाई बैंकिंग की अपेक्षा अधिक दृढ तथा मितव्ययितापूर्ण होती है। इसलिए अधिकाश देशो मे बैंकिंग व्यवस्था का निर्माण शाखा बैंकिंग के आधार पर किया गया है। यद्यपि इकाई बैंकिंग मे भी कुछ गुण पाये जाते हैं किन्तु उसमे उत्पन्न होने वाली कठिनाइयो के कारण इस प्रकार की बैंकिंग व्यवस्था अधिक प्रचलित नही हो सकी है और केवल कुछ एक देशो मे ही इकाई बैंकिंग व्यवस्था पाई जाती है। भारतवर्ष मे भी बैंकिंग का विकास शाखा बैंकिंग के आधार पर ही हुआ है।

शाखा बैंकिंग व्यवस्था उस प्रकार की बैंकिग व्यवस्था को कहते हैं जिसमे प्रत्येक व्यवसायिक बैंक की बहुत सी शाखाएँ देश के विभिन्न भागों में अथवा एक बहुत बडे भाग मे फैली होती हैं। इस प्रकार की बैंकिंग प्रणाली मे बैंकिंग व्यवसाय का विकेन्द्रीयकरण कर दिया जाता है और वह बैंको की विभिन्न शाखाओ पर फैला रहता है, इसलिए कुछ लेखको ने इसे विकेन्द्रित बैंकिंग व्यवस्था भी कहा है। शाखा बैंकिंग का सबसे अच्छा उदाहरण इंगलैंड मे मिलता है। जहाँ पर प्रत्येक व्यापारिक बैंक की बहुत सी शाखाएँ समस्त देश मे फैली हुई हैं। आरम्भ मे इंगलैंड के बैंको

के भी एक या कुछ एक कार्यालय होते थे किन्तु धीरे-धीरे विकास तथा बैंकों के एकीकरण के कारण वहां पर कुछ एक बड़े-बड़े बैंक स्थापित हो गये हैं जिनकी शाखाएँ देश भर मे फैली हुई हैं। इस समय इगलैंड में बैंकों की संख्या बहुत कम है और उनमे से पाँच बड़े बैंक (मिडलैंड लाइड्स, बर्कले, वैस्टमिनिस्टर तथा नेशनल प्रोविनशल अधिक महत्वपूर्ण है। इन पाँच बडे बैंको की ६५०० शाखायें है जो इंगलैंड के ७५% बैंकिग व्यवसाय को अपने अधिकार मे लिए हुए हैं। यह सब बैंक, बैंक आफ इगलैंड के नेतृत्व मे कार्य करते हैं। इंगलैंड के अतिरिक्त भारत, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा जर्मनी मे भी शाखा बैंकिग प्रणाली ही पाई जाती है।

शाखा बैंकिग के लाभ (Advantages of Branch Banking)—

शाखा बैंकिग के समर्थको ने इस प्रकार की व्यवस्था के बहुत से लाभ बतलाये हैं। सेयर्स (Sayers) केअनुसार शाखा बैंकिग और इकाई बैंकिग की तुलना, बड़े पैमाने के व्यवसाय तथा छोटे पैमाने के व्यवसाय की तुलना के समान है। शाखा बैंकिग को बडे पैमाने का व्यवसाय होने के कारण बहुत से ऐसे लाभ प्राप्त होते हैं जो इकाई बैंकिग को उपलब्ध नही हैं। शाखा बैंकिग के कुछ प्रमुख लाभ इस प्रकार हैं—

(१) शाखा बैंकिग को बड़े आकार के व्यवसाय तथा श्रम-विभाजन के सभी लाभ प्राप्त होते हैं—शाखा बैंकिंग का संगठन बडे पैमाने के उद्योग की भांति होता है जिसमे *श्रम-विभाजन के द्वारा अनेक लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं।* बैको के मुख्य कार्यालयों में काम को विभिन्न विभागों मे बाँट दिया जाता है और प्रत्येक विभाग के संचालन के लिए भिन्न-भिन्न व्यक्ति रक्खे जाते है जो अपने विभागो का कार्य सर्वश्रेष्ठ ढंग से करते हैं। इस प्रकार के विशिष्टीकरण से बैंको की कार्य-क्षमता मे वृद्धि होती है। *इस प्रकार का विशिष्टीकरण तथा श्रम-विभाजन इकाई बैंकिंग व्यवस्था मे सम्भव नही होता है* इसके अतिरिक्त शाखा बैंकिग में बैंकों का आकार बड़े होने के कारण उनके पास पूँजी अधिक मात्रा मे होती है और वे अपना कार्य चलाने के लिए कुशल प्रबन्धकों तथा विशेषज्ञों को ऊँची तनख्वाह पर रख सकते हैं। इन सब सुविधाओ के प्राप्त होने के कारण शाखा बैंकिग की *कार्य-कुशलता* इकाई बैंकिंग की अपेक्षा अधिक होती है।

(२) शाखा बैंकिग ऋणों के विविधिकरण (Diversification) को सम्भव बनाती है *जिससे जोखिम को विभिन्न उद्योगों तथा विस्तृत क्षेत्र पर फैला दिया जाता है।* इकाई बैंकिंग मे बैंक का भविष्य केवल एक क्षेत्र या कुछ उद्योगो की समृद्धि पर निर्भर होता है और यदि किसी कारणवश उस क्षेत्र की समृद्धि मे गिरावट आती है तो उस क्षेत्र में कार्य करने वाले बैंकों को काफी हानि उठानी पड सकती है। इसी प्रकार यदि उन उद्योगों के माल की मांग कम हो जाती है जिनमे कि इन बैंकों ने अपना रुपया लगाया हुआ है तो बैंकों को बहुत नुकसान होता है।

किन्तु शाखा बैंकिंग मे यह खतरा बहुत कम हो जाता है क्योकि बैंको की शाखायें देश के विभिन्न भागो मे फैली होती हैं और इनका रुपया भी विभिन्न प्रकार के उद्योगो मे लगा रहता है। यदि एक उद्योग मे या किसी विशेष क्षेत्र मे हानि होती है तो उसे दूसरे क्षेत्रो तथा अन्य उद्योगो से होने वाले लाभ के द्वारा पूरा कर लिया जाता है और इस प्रकार बैंको मे अधिक स्थिरता उत्पन्न होती है। यदि मन्दी का प्रभाव देश के तमाम उद्योगो पर एक साथ पड़ता है तब शाखा बैंकिंग तथा इकाई बैंकिंग के बीच छांटने का कोई प्रश्न नहीं रह जाता है।

(३) शाखा बैंकिंग व्यवस्था मे बैंकों को अपेक्षाकृत कम कोष रखने पड़ते हैं—यद्यपि बैंको के द्वारा पर्याप्त कोषो का रक्खा जाना अत्यन्त आवश्यक है किन्तु फिर भी यह कोष जितनी कम मात्रा मे हो उतना ही बैंको को लाभ रहता है। शाखा बैंकिंग मे कोषो की मात्रा को कम रक्खा जा सकता है क्योकि बैंक की बहुत सी शाखाये होती है और उनमे थोड़ी-थोड़ी मात्रा मे कोष रखकर ही काम चल जाता है। यदि किसी शाखा पर अधिक कोष की आवश्यकता होती है तो अन्य शाखाओं से नकदी मगा कर उस माग को पूरा किया जा सकता है। इस प्रकार शाखा बैंकिंग मे कोषो की काफी बचत होती है जिसके कारण बैंकों की साख निर्माण करने की शक्ति मे वृद्धि होती है। इकाई बैंको को इस प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं होता है क्योकि उन्हे अपने ही कोषों पर पूर्णतया निर्भर रहना पड़ता है।

(४) इस प्रकार की व्यवस्था में मुद्रा का हस्तान्तरण सस्ता तथा सुगमता-पूर्वक हो जाता है। शाखा बैंकिंग मे बैंको की बहुत सी शाखायें देश के विभिन्न भागो मे फैली होती है जिनके कारण यह बैंक मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने का कार्य कम से कम असुविधा के साथ कर लेते हैं और खर्च भी कम होता है। मुद्रा के सस्ते तथा शीघ्र हस्तान्तरण से व्यापार का विस्तार होता है तथा देश के विभिन्न भागो मे पूँजी पर दिये जाने वाले व्याज की दर एक रहने की प्रवृत्ति रखती है। एक क्षेत्र का अतिरिक्त धन दूसरे क्षेत्रो की सामयिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हस्तान्तरित कर दिया जाता है जिसके कारण वहाँ पर व्याज की दर मे वृद्धि नहीं होने पाती है।

(५) शाखा बैंकिंग होने से देश के विभिन्न भागों मे बैंकिंग सेवाओं को उपलब्ध किया जा सकता है—बैंको की शाखाएँ समस्त देश मे फैली होती हैं जिसके कारण सभी क्षेत्रो मे बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार होता है जिससे उद्योग तथा व्यवसाय के विकास मे बडी सहायता मिलती है। इसके विपरीत इकाई बैंको का कार्य-क्षेत्र सीमित रहता है और केवल कुछ एक क्षेत्रो में ही वे अपना कार्य करते हैं जिसके कारण बहुत से क्षेत्र ऐसे रह जाते है जिनमे बैंकिंग सेवाओं का विस्तार नहीं हो पाता है। अत: देश के सभी क्षेत्रो मे बैंकिंग सेवाओं का विकास करने के लिए इकाई बैंकिंग की अपेक्षा शाखा बैंकिंग अधिक उपयुक्त है।

(६) बैंकों के फेल होने की सम्भावना कम हो जाती है—अमरीका का अनुभव इस बात को बतलाता है कि वहाँ पर विदेशी शाखा बैंकिंग सगठनो मे बहुत कम बैंक फेल होते हैं जबकि उनके अपने इकाई बैंकिंग व्यवस्था के हजारो बैंक अपना काम बन्द करते रहते है। इस प्रकार का अनुभव शाखा बैंकिंग मे अधिक सुरक्षा होने का प्रमाण है।

शाखा बैंकिंग के दोष (Defects of Branch Banking)—

यद्यपि शाखा बैंकिंग व्यवस्था को बडे आकार के व्यवसाय के लाभ प्राप्त होते हैं किन्तु उसके साथ ही इस प्रकार की व्यवस्था मे वे सभी दोष पाये जाते हैं जो किसी व्यवसाय को बडे पैमाने पर चलाने मे हुआ करते हैं। इसके विपरीत इकाई बैंकिंग में छोटे आकार के व्यवसाय के सभी लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं। शाखा बैंकिंग के कुछ दोष निम्न प्रकार हैं जिनके आधार पर इस प्रकार के बैंकिंग का विरोध किया जाता है।

(१) इस प्रकार की बैंकिंग व्यवस्था में बड़े पैमाने के उद्योगों के सभी दोष पाये जाते हैं। बैंको का आकार इतना बढ जाता है कि उनका उचित प्रबन्ध करना सम्भव नही होता है। विशाल सगठन होने के कारण प्रबन्ध, निरीक्षण तथा नियन्त्रण सम्बन्धी कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। मुख्य कार्यालय तथा बड़े-बड़े केन्द्रो वाली शाखाओ का प्रबन्ध तो ठीक प्रकार चलाया जाता है किन्तु अन्य शाखाओ के प्रबन्ध मे अकुशलता रहती है। उनका निरीक्षण तथा नियन्त्रण भी ठीक प्रकार नही हो पाता है। प्रत्येक शाखा को मुख्य कार्यालय पर निर्भर रहना पडता है और वह अपना व्यक्तिगत निर्णय नहीं ले सकती है। कई बार मुख्य कार्यालय से आदेश प्राप्त करने मे इतनी देर लग जाती है कि उसमे शाखाओ की कार्यक्षमता कम हो जाती है।

(२) शाखा व्यवस्था में किसी क्षेत्र की स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में नहीं रखा जा सकता है क्योंकि तमाम बैंकिंग व्यवस्था अव्यक्तिगत हो जाती है। यद्यपि शाखा मैनेजर स्थानीय व्यापारियो के साथ सहयोग करना चाहते हैं और उनकी आवश्यकताओ को पूरा करना चाहते हैं किन्तु वे ऐसा नही कर पाते हैं क्योंकि उन्हे बैंक के सामान्य नियमो के अनुसार चलना होता है और मुख्य कार्यालयो के आदेशो को पूरी तरह पालन करना पडता है। इस प्रकार बैंको की कार्य-प्रणाली बेलोच हो जाती है और उसे स्थानीय आवश्यकताओ तथा दशाओं के अनुकूल नही किया जा सकता है। इन बैंको को व्यक्तिगत सम्पर्क के लाभ बहुत कम प्राप्त होते हैं।

(३) शाखा प्रणाली के अन्तर्गत छोटे केन्द्रों से रुपया एकत्रित करके बड़े-बड़े केन्द्रों में भेज दिया जाता है जिसके कारण छोटे केन्द्रों का विकास रुक जाता है। इन बैंको के संचालक बडी-बडी सस्थाओ को ऋण देना पसन्द करते हैं और ऋणों की छोटी मांगों को पूरा नही किया जाता है। छोटे-छोटे केन्द्रों का रुपया उनके विकास

के लिए प्रयोग में नही आता है बल्कि वह अधिक विकसित केन्द्रों को चला जाता है। इकाई बैंकिंग मे ऐसा नही होता है और यह बैंक जिस क्षेत्र मे कार्य करते हैं उसी क्षेत्र की आवश्यकता को पूरा करने का प्रयत्न करते हैं।

(४) एक बड़े बैंक के फेल होने से छोटे बैंक के फेल होने की अपेक्षा बहुत अधिक बर्बादी होती है। जब कोई बहुत सी शाखाओं वाला बडा बैंक फेल होता है तो उससे बहुत से लोग बर्बाद हो जाते हैं और बैंकों के प्रति जनता के विश्वास को काफी नुकसान पहुँचता है। इसके विपरीत जब कोई छोटा तथा अप्रचलित बैंक फेल होता है तो इसका बुरा प्रभाव किसी विशेष क्षेत्र अथवा कुछ लोगो तक ही सीमित रहता है।

(५) शाखा बैंकिंग अधिक व्ययपूर्ण है—प्रत्येक नई शाखा के खुलने पर बैंक का प्रबन्ध तथा सचालन सम्बन्धित व्यय बढ जाता है। यदि शाखायें ऐसे स्थान पर खोली जाती हैं जहाँ पर बैंकिंग सेवाओ की माग अपर्याप्त है तो इन शाखाओं की स्थापना पर किया जाने वाला व्यय उनसे प्राप्त होने वाली आय से अधिक हो जाता है। यदि बैंक नई शाखाओं के विस्तार सम्बन्धी उचित नीति नहीं अपनाता है तो उसके व्यय मे अनावश्यक वृद्धि हो सकती है। इस प्रकार की बैंकिंग प्रणाली अपव्ययपूर्ण भी है क्योंकि उसमे बैंकिंग सेवाओं का दुहराव (Duplication) हो जाता है। एक ही केन्द्र मे विभिन्न बैंकों की शाखायें स्थापित कर जाती है जिससे इनमे आपसी प्रतियोगिता बढती है तथा अपव्यय भी होता है।

इकाई बैंकिंग

(Unit Banking)

इकाई बैंकिंग उस बैंकिंग व्यवस्था को कहते हैं जिसमे बैंक का व्यवसा केवल एक ही कार्यालय तक सीमित रहता है और उसकी कोई शाखायें नही होत हैं। किन्तु कभी-कभी इस प्रकार के बैंको की सीमित क्षेत्र मे कुछ शाखाएँ भी सीमि हो सकती हैं। इकाई बैंकिंग प्रणाली इस विचार पर आधारित है कि एक बैंक क प्रारम्भ स्थानीय समाज द्वारा किया जाना चाहिए और उसका स्वामित्व भी उस के पास रहना चाहिए। इकाई बैंक छोटी बैंकिंग कम्पनियाँ होती हैं जो आस-पा के व्यापारियो, उद्योगपतियों तथा कृषको के साथ अपना बैंकिंग व्यवसाय करती हैं धन के हस्तान्तरण की सुविधाओं के लिए विभिन्न बैंक आपस मे सम्पर्क स्थापि कर लेते हैं। केन्ट (Kent) के अनुसार "इकाई बैंकिंग प्रणाली मे प्रत्येक स्थानी बैंकिंग संस्था एक पृथक निगम होती है जिसका पृथक पूँजीकरण होता है औ जिसकी स्वयं की अपनी पूँजी, सचालक मण्डल तथा अंशधारी होते हैं।"[1] इ

[1] "In a unit banking system each local banking institution is a separate corporation, separately chartered and having its own capital, board of directors and shareholders."

—*R. P. Kent*: Money and Banking P. 147.

प्रकार की बैंकिंग व्यवस्था अधिकाश रूप से अमेरिका मे पाई जाती है। अमेरिका मे हजारों बैंक ऐसे है जिनका केवल एक ही कार्यालय है और जो स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। एकाधिकार की प्रवृत्ति को रोकने के लिए वहाँ की सरकार ने बैंकों के कार्य-क्षेत्र को सीमित रखने का प्रयत्न किया है। यद्यपि इकाई बैंकिंग से कुछ निश्चित लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं किन्तु फिर भी वह शाखा बैंकिंग की अपेक्षा कम लाभपूर्ण समझी जाती है। इकाई बैंकिंग से प्राप्त होने वाले लाभ इस प्रकार हैं—

इकाई बैंकिंग के लाभ (Advantages of Unit Banking)—

(१) **व्यक्तिगत प्रबन्ध एवं निरीक्षण**—इकाई बैंकिंग मे बैंको का आकार छोटा रहता है जिसके कारण व्यक्तिगत प्रबन्ध तथा निरीक्षण का लाभ प्राप्त किया जा सकता है। बैंकर अपने ग्राहकों के साथ निकट सम्पर्क स्थापित कर सकता है और उनकी आवश्यकताओ को व्यक्तिगत रूप से देख सकता है। इस प्रकार के बैंको और उनके ग्राहकों मे अधिक निकट तथा व्यक्तिगत सम्पर्क रहता है।

(२) **स्थानीय हितों का विशेष ध्यान**—इकाई बैंक प्राय. स्थानीय आवश्यकताओ को पूरा करते है इसलिए वे उस क्षेत्र के विषय मे अधिक जानकारी रखते है। इस प्रकार के बैंकों का प्रबन्ध भी प्राय: स्थानीय व्यापारियो एव उद्योगपतियो के हाथ मे रहता है। ऐसी अवस्था मे इन बैंको के द्वारा स्थानीय कल्याण का विशेष ध्यान रक्खा जाता है। एक क्षेत्र के साधन उसी क्षेत्र के आर्थिक विकास के लिए प्रयोग मे लाये जाते हैं और उन्हे अन्य क्षेत्रो के लाभ के लिए हस्तान्तरित नही किया जाता है।

(३) **अधिक कार्यकुशलता**—इस प्रकार के बैंको का कार्य क्षेत्र सीमित होने के कारण इनकी कार्यकुशलता अधिक होती है। मैनेजर बैंक के सचालन मे व्यक्तिगत रूप से देखभाल कर सकता है जिसके कारण बैंक का कार्य शीघ्र होता है और नौकरशाही (Bureaucracy) तथा दीर्घ सूत्रता (Red Tapism) के दोष उत्पन्न नही होते हैं। शाखा बैंकिंग मे बैंक की शाखा के मैनेजर को महत्त्वपूर्ण मामलो मे प्रधान कार्यालय की स्वीकृति लेनी पडती है किन्तु इकाई बैंकिंग मे इसकी आवश्यकता नही होती है और निर्णय स्थानीय होते है।

(४) **स्वतन्त्र व्यवसाय (Free Enterprise) सिद्धान्त के अनुकूल**—इकाई बैंकिंग स्वतन्त्र व्यवसाय सिद्धान्त के अनुकूल है इसीलिए अमेरिका मे इस प्रकार की बैंकिंग व्यवस्था का विकास हुआ है। इस प्रकार की व्यवस्था मे व्यक्तिगत व्यवसाय को पर्याप्त स्वतन्त्रता रहती है।

(५) **एकाधिकार की प्रवृत्तियों पर प्रतिबन्ध**—इकाई बैंकिंग की व्यवस्था मे बैंको की एकाधिकारी प्रवृत्तियो पर एक प्रकार का प्रतिबन्ध लग जाता है। बैंको की सख्या अधिक होने के कारण वे मुद्रा बाजार मे किसी भी प्रकार का एकाधिकार

स्थापित नही कर पाते है। शाखा बैंकिंग मे कुछ बडे बैंक देश के मुद्रा बाजार तथा अर्थ-व्यवस्था पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लेते है जिससे हानि की सम्भावना रहती है किन्तु इकाई बैंकिंग मे किसी प्रकार का एकाधिकार सम्भव नही है। इसीलिए इस प्रणाली को विकेन्द्रित बैंकिंग व्यवस्था भी कहा जाता है।

(६) अकुशल बैंक समाप्त हो जाते हैं—शाखा बैंकिंग मे यह सम्भव हो सकता है कि अकुशल शाखायें कुशल शाखाओ के ऊपर जीवित रहे और इस प्रकार अकुशल बैंक भी चलते रहते हैं किन्तु इकाई बैंकिंग मे यह सम्भव नही है क्योकि इस प्रकार की व्यवस्था मे प्रत्येक बैंक को अपनी कार्यक्षमता के आधार पर ही जीवित रहना पडता है। ऐसी दशा मे अकुशल बैंक स्वय बन्द हो जाते हैं और केवल कुशल बैंक ही कार्य क्षेत्र मे रहते हैं।

इकाई बैंकिग के दोष (Disadvantages of Unit Banking)—

इन लाभो के होते हुए भी इकाई बैंकिग व्यवस्था को आजकल पसन्द नही किया जाता है। इस प्रणाली मे कुछ ऐसे दोष है जिनके कारण यह वर्तमान समाज के लिए उपयुक्त नही है। इन दोषों के कारण ही अमेरिका मे भी बैंको के पुनर्गठन की आवश्यकता अनुभव हुई और इकाई बैंकिंग के स्थान पर धीरे-धीरे बडे आकार के बैंक बनते जा रहे है। इकाई बैंकिंग के कुछ दोष निम्नलिखित हैं—

(१) बडे पैमाने के लाभ प्राप्त नहीं होते हैं—इकाई बैंकिग व्यवस्था मे बैंको का आकार इतना छोटा होता है कि बडे पैमाने पर काम करने से मिलने वाली आर्थिक बचते प्राप्त नही की जा सकती है, व्यवसाय का आकार छोटा होने के कारण प्रबन्ध तथा कार्य-विधि मे सुधार करने की सम्भावना कम रहती है। इसीलिए इकाई बैंकिग को अपव्ययपूर्ण कहा गया है।

(२) स्थिरता का अभाव—बैंको मे स्थिरता कम रहती है क्योकि वे कार्य-क्षेत्र सीमित होने के कारण जोखिम का अधिक फैलाव नही कर पाते है। ऐसी स्थिति मे बैंको के फेल होने का डर अधिक रहता है।

(३) सीमित साधन—इकाई बैंको के पास साधन सीमित होते हैं जिसके कारण वे बडे बड़े उद्योगो के विकास के लिए अधिक सा न नही दे सकते हैं। छोटे उद्योगों के जमाने मे इस प्रकार के बैंक अधिक सफल हो सकते थे किन्तु आजकल व्यापार तथा उद्योग का आकार इतना बढ गया है कि उनकी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए बडे-बडे बैंको का होना आवश्यक है।

(४) निरीक्षण एवं नियन्त्रण की कठिनाई—छोटे-छोटे बहुत से बैंक होने की दशा मे सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक के द्वारा उन पर नियन्त्रण करना कठिन हो जाता है। आजकल बैंकों पर केन्द्रीय बैंक का नियन्त्रण आवश्यक है और उसे प्रभावशाली बनाने के लिए देश मे बैंको की सख्या बहुत अधिक नही होनी चाहिए। अत बैंक बडे तथा विस्तृत कार्य क्षेत्र वाले होने चाहिएँ।

(५) ब्याज की दरों में असमानता—इकाई बैंकिंग के अन्तर्गत पूंजी समस्त देश मे गतिशील नही रहती है जिसके कारण ब्याज की दरो मे असमानता रहती है। एक क्षेत्र की पूंजी दूसरे क्षेत्र मे नही जाती है और पूंजी की गतिशीलता के अभाव के कारण ब्याज की दरो मे समानता स्थापित होने की प्रवृत्ति बहुत कमजोर हो जाती है।

(६) पिछड़े हुए क्षेत्रों में बैंकों का अभाव—इकाई बैंकिंग मे बैंक उसी क्षेत्र मे स्थापित किये जाते है जहाँ पर उन्हे स्वतन्त्र रूप से सफलता मिल सकती है क्योकि उन्हे अन्य बैंको से किसी प्रकार की सहायता मिलने की सम्भावना नही होती है। ऐसी दशा मे पिछड़े हुए क्षेत्रो मे बैंक नही खोले जाते है क्योकि वहाँ पर उन्हे लाभ प्राप्त नही हो सकता है। किन्तु शाखा बैंकिंग मे पिछड़े हुए क्षेत्रो की शाखाओ की हानि विकसित क्षेत्रो की शाखाओ के लाभ से पूरी की जा सकती है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वर्तमान व्यवसाय तथा व्यापार की आवश्यकताओ को केवल शाखा बैंकिंग के द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। यद्यपि इकाई बैंकिंग मे कुछ गुण अवश्य पाये जाते हैं किन्तु इस प्रकार के बैंक वर्तमान समाज की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए असमर्थ हैं। लघु व्यवसाय के युग मे छोटे बैंको का होना ठीक हो सकता है किन्तु आज का व्यापार एव उद्योग इतने विकसित हो गये है कि उन्हे बड़े पैमाने पर वित्तीय साधनो की आवश्यकता होती है जिसे इकाई बैंको के द्वारा पूरा नही किया जा सकता है। शाखा बैंकिंग की व्यवस्था मे बैंको का आकार बड़ा होता है, उनका कार्य क्षेत्र विस्तृत रहता है और उनके साधन भी अधिक होते है। इस प्रकार के बैंक ही आज की अर्थ-व्यवस्था के लिए उपयुक्त कहे जा सकते है। देश के विभिन्न भागो मे फैली हुई शाखाओ वाले बड़े बैंक अधिक कार्यकुशल होते है और वे सस्ती एव पर्याप्त बैंकिंग सुविधाये प्रदान कर सकते है। कोषो का केन्द्रीयकरण तथा कुशल प्रबन्ध के द्वारा इस प्रकार के बैंक जनता मे अधिक विश्वास उत्पन्न कर सकते हैं। मुद्रा बाजार के सुसगठित होने के लिए भी यह आवश्यक है कि बैंक बड़े आकार के हो और सख्या मे कम हों। इस प्रकार की बैंकिंग व्यवस्था मे पूंजी की गतिशीलता अधिक रहती है और विकसित क्षेत्रो के अतिरिक्त साधनो का प्रयोग पिछड़े क्षेत्रो के विकास के लिए किया जा सकता है। इन्ही सब कारणो से शाखा बैंकिंग को इकाई बैंकिंग की अपेक्षा श्रेष्ठ समझा जाता है।

अमेरिका मे भी इकाई बैंकिंग के प्रति असतोष प्रकट किया जा रहा है और बैंकिंग व्यवस्था के पुनर्गठन की ओर प्रयत्न किये गये हैं। प्रो० कैन्ट (Kent) ने इकाई बैंकिंग की आलोचना करते हुये लिखा है कि "हमारी इकाई बैंकिंग व्यवस्था का बार-बार टूटना इस महत्वपूर्ण प्रश्न को उत्पन्न करता है कि क्या इन सहस्त्रो बैंकों को, जिनमे से बहुतो के पास कार्य करने के लिए न पर्याप्त साधन हैं और न लाभपूर्ण व्यवसायिक अवसर, बनाये रखना न्यायोचित है। इंगलैंड, फ्रास, कनाडा

तथा अन्य देशों में महान शाखा बैंकिंग गृहों के अनुभव शाखा बैंकिंग प्रणाली की अधिक शक्ति एवं स्थिरता को प्रदर्शित करते हैं।"[3] अमेरिका में इकाई बैंकिंग व्यवस्था के दोषों को दूर करने के लिए महत्वपूर्ण प्रयत्न किये गये हैं। कुछ बैंकों को सीमित क्षेत्र में शाखायें खोलने का अधिकार दे दिया गया है तथा शृंखलकारी अथवा वर्गीय बैंकिंग (Chain or Group Banking) का विकास किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त वहाँ पर बड़े-बड़े नगरों में कॉरेसपोन्डेन्ट बैंकों की स्थापना भी की गई है जो अपने पास उस क्षेत्र के अन्य छोटे-छोटे बैंकों के खाते रखते हैं। इस व्यवस्था के हो जाने से विभिन्न क्षेत्रों में पूँजी हस्तान्तरण आसान हो गया है। यह सब प्रवृतियाँ इस ओर संकेत करती हैं कि अमेरिका में भी इकाई बैंकिंग का प्रयोग अधिक सफल नहीं हो सका है और धीरे-धीरे वहाँ पर शाखा बैंकिंग की श्रेष्ठता को स्वीकार किया जा रहा है।

अमेरिका जैसे विकसित देश में जहाँ प्रत्येक क्षेत्र में पर्याप्त पूँजी के साधन उपलब्ध हैं इकाई बैंकिंग की कुछ उपयोगिता हो सकती है किन्तु भारतवर्ष में, जहाँ अविकसित क्षेत्रों में पूँजी व अन्य साधनों की भारी कमी है, इकाई बैंकों की स्थापना देश के हित में नहीं है। हमारे देश के लिए शाखा बैंकिंग ही उपयुक्त व्यवस्था है क्योंकि इसके द्वारा पूँजी को गतिशील रक्खा जा सकता है कम विकसित क्षेत्रों में अधिक विकसित क्षेत्रों के साधन लगायें जा सकते हैं तथा लोगों को विस्तृत एवं सस्ती बैंकिंग सुविधाएँ प्रदान की जा सकती हैं। यद्यपि भारत में शाखा बैंकिंग व्यवस्था अधिक उपयुक्त है किन्तु फिर भी इन बैंकों को अपनी विभिन्न शाखाओं की नीति तथा कार्य प्रणाली को विभिन्न क्षेत्रों की आर्थिक दशाओं तथा व्यापारिक एवं औद्योगिक आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना चाहिए।

परीक्षा प्रश्न

(१) किसी बैंक के नकद कोषों को निर्धारित करने वाले महत्वपूर्ण तत्वों की व्याख्या कीजिये। (आगरा, बी० काम १९५९)

(२) किसी व्यापारिक बैंक के कार्यों का वर्णन करिये। उसके लाभ के कौन-कौन से स्रोत हैं और कोषों का विनियोग करते समय उसे किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए? (आगरा बी० काम १९६५ S)

---

3 "The recurrence of breakdowns in our unit banking system leads to a serious questioning of the desirability of maintaining these thousands of independent banks, many of them with insufficient resources and business opportunities to operate profitably. The experience of the great branch banking houses of England, France, Canada and other countries seems to demonstrate the greater strength and durability of branch system."

—*Raymond P. Kent* : Money & Banking, P. 147

(३) व्यापारिक बैंक के कर्त्तव्यों को स्पष्ट कीजिये और इस सम्बन्ध में नकद कोषों एवं विनियोग सम्बन्धी नीतियों की विवेचना करिये।
(राजस्थान बी० काम, १९५६, आगरा बी० काम १९५५ S)

(४) ग्राहकों को साख देते समय बैंकर को किन-किन सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए ? एक व्यापारिक बैंक के दृष्टिकोण से कौन से विनियोग सबसे अधिक उपयुक्त हैं ? (इलाहाबाद बी० काम १९५७)

(५) "सफल बैंकिंग का रहस्य यह है कि प्रसाधनों को विभिन्न प्रकार की सम्पत्तियों में इस प्रकार वितरित किया जाय कि तरलता और लाभदायकता में एक सुन्दर समन्वय स्थापित हो सके।" आलोचनापूर्ण व्याख्या कीजिये।
(इलाहाबाद बी० काम १९५६)

(६) किसी बैंक का काल्पनिक स्थिति विवरण बनाकर यह बताइये कि इसकी विभिन्न मदों का क्या महत्व है ? (सागर बी० काम १९५८)

(७) व्यापारिक बक अपनी लाभ कमाने की कामना को तरलता की आवश्यकता के साथ किस प्रकार समन्वित करता है ? (जबलपुर बी० काम १९५७)

(८) व्यापारिक बंकों की तरलता और सुरक्षा किन-किन कारणों से प्रभावित होती है ? समझाईये। (नागपुर बी० ए० १९५७)

१६

केन्द्रीय बैंकिंग

CENTRAL BANKING

संसार के लगभग सभी देशो मे एक केन्द्रीय बैंक होता है जो देश की बैंकिंग व्यवस्था एव साख पर नियन्त्रण करता है। आज कोई भी विकसित देश ऐसा नही है जिसमे केन्द्रीय बैंक की स्थापना न हुई हो। केन्द्रीय बैंक देश की अर्थ-व्यवस्था का आवश्यक अग समझा जाता है, क्योकि वह देश की समस्त आर्थिक क्रियाओ को नियन्त्रित करता है। डी० कॉक (De Kock) के अनुसार, "केन्द्रीय बैंक देश की मौद्रिक एव बैंकिंग व्यवस्था की सबसे ऊँची सस्था होती है।"[1] किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था मे केन्द्रीय बैंक का महत्वपूर्ण स्थान होता है क्योकि वह ऐसे कार्य करता है जिन पर देश की आर्थिक स्थिरता निर्भर होती है। वर्तमान समय मे केन्द्रीय बैंक का महत्व इतना अधिक बढ गया है कि उसके बिना देश की अर्थ-व्यवस्था को अपूर्ण समझा जाता है। केन्द्रीय बैंक केवल मुद्रा व साख व्यवस्था का नियन्त्रक ही नही होता है बल्कि वह अपनी क्रियाओ के द्वारा देश के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन को प्रभावित करता है।

केन्द्रीय बैंको का विकास (Rise of Central Banks)—

केन्द्रीय बैंकिंग का विकास मुख्यता वर्तमान शताब्दी मे हुआ है। पिछले ३०–३५ वर्षों मे केन्द्रीय बैंक इतने महत्वपूर्ण हो गये है कि उनके बिना देश की अर्थ-व्यवस्था का सुचारु रूप से चलना असम्भव समझा जाने लगा है। अधिकाश देशो मे केन्द्रीय बैंको की स्थापना प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ही हुई है। यद्यपि केन्द्रीय बैंको मे सबसे प्राचीन स्वीडन (Sweden) का रिस्क बैंक (Risk Bank) है जिसकी स्थापना सन् १६८८ मे हुई थी किन्तु फिर भी यह माना जाता है कि केन्द्रीय बैंकिंग के विकास का श्रेय इगलैंड को जाना चाहिए। इगलैंड मे केन्द्रीय बैंक का प्रारम्भ अकस्मात ही हुआ और वहां से यह विचार अन्य देशो के द्वारा अपना लिया गया।

---

1 "A central bank is a bank which constitutes the apex of the monetary and banking structure" —*M. H. De Kock* : Central Banking, P. 22.

बैंक ऑफ इंगलैंड की स्थापना १६९४ मे हुई और वह धीरे-धीरे उस देश का सबसे शक्तिशाली बैंक बन गया। अन्य बैंक उससे आर्थिक सहायता तथा परामर्श लेने लगे और इस प्रकार उसे बैंकिंग व्यवस्था का नेतृत्व (Leadership) प्राप्त हुआ। सन् १८२६ से वह सरकारी बैंकर तथा बैंको के बैंक का कार्य करने लगा। सरकारी बैंकर होने के नाते उसे कुछ विशेष अधिकार तथा सुविधाये दे दी गई। सन् १८३३ मे इस बैंक के नोटो को कानूनी मुद्रा (Legal Tender Money) घोषित कर दिया गया और १८४४ मे अन्य बैंको के नोट निर्गमन के अधिकार को सीमित कर दिया गया। सन् १८५४ से यह बैंक निकासी-गृह (Clearance House) का कार्य करने लगा। इस प्रकार धीरे-धीरे बैंक ऑफ इगलैंड ने केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्यों को करना आरम्भ किया और इगलैंड की बैंकिंग व्यवस्था मे अपना केन्द्रीय स्थान बना लिया। इगलैंड की देखा-देखी अन्य देशो मे भी केन्द्रीय बैंको की स्थापना होने लगी। फ्रास मे सन् १८०० मे, हालैण्ड मे, १८१४ मे, आस्ट्रिया मे १८१७ मे, फ्रास तथा जर्मनी मे १८६० व १८७५ मे और भारतवर्ष मे १९३५ मे केन्द्रीय बैंक की स्थापना की गई। योरोप के लगभग सभी देशो मे पिछली शताब्दी के अन्त तक केन्द्रीय बैंक स्थापित हो चुके थे किन्तु केन्द्रीय बैंकिंग का वास्तविक विकास १९२० के पश्चात ही हुआ। प्रथम युद्ध के कारण उत्पन्न हुई समस्याओ को सुलझाने के लिए प्रत्येक देश मे केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। सन् १९२० मे ब्रुसेल्स के अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन मे प्रत्येक देश के द्वारा एक केन्द्रीय बैंक स्थापित किये जाने का सुझाव रक्खा गया जिसका परिणाम यह हुआ कि कुछ ही समय पश्चात् लगभग सभी बडे देशो के केन्द्रीय बैंक स्थापित हो गये। सन् १९३० के आर्थिक सकट के पश्चात् केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता और भी अधिक अनुभव की जाने लगी। जिन देशो मे अभी तक केन्द्रीय बैंक स्थापित नही हुए थे उनमे इस प्रकार की योजनाओ को कार्यरूप मे लाने का प्रयत्न किया जाने लगा।

केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता (Need for Central Bank)—

केन्द्रीय बैंको के स्थापित करने की आवश्यकता क्यो हुई इसका उत्तर केन्द्रीय बैंक के विकास सम्बन्धी इतिहास से मिल सकता है। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि केन्द्रीय बैंको की स्थापना इसलिए की गई क्योकि वे महत्वपूर्ण संस्थायें हैं और वे महत्वपूर्ण सस्थाये इसलिए हैं क्योकि उनके द्वारा ऐसे कार्य किये जाते हैं जिनके बिना हमारा वर्तमान आर्थिक जीवन नही चल सकता है। केन्द्रीय बैंको की स्थापना से पूर्व नोट निर्गमन का अधिकार प्रत्येक बैंक को होता था जिसके कारण देश की अर्थ-व्यवस्था किसी भी समय संकट मे पड सकती थी। इन बैंकों के द्वारा नोटो की अधिक निकासी किये जाने के कारण मुद्रा-प्रसार का भय बना रहता था। इसके अतिरिक्त नोटो मे एकरूपता नही रहती थी और नोटो की मात्रा पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण एवं नियमन करना सम्भव नही था। नोट निर्गमन की इन

कठिनाइयों को दूर करने के लिए केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता अनुभव की गई। काफी समय से बैंक साख का निर्माण करते आ रहे हैं जिनसे समाज को महत्वपूर्ण लाभ प्राप्त हुए हैं किन्तु आर्थिक स्थिरता की दृष्टि से देश में साख की मात्रा का नियन्त्रित होना आवश्यक है। व्यक्तिगत बैंक किसी भी समय लाभ के लालच में अत्यधिक मात्रा में साख का निर्माण कर सकते हैं जिससे देश में विभिन्न आर्थिक दोष उत्पन्न होते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि देश के हितों को ध्यान में रख कर साख की मात्रा एवं उसके प्रयोग को नियन्त्रित किया जाय। इस कार्य को करने के लिए सबसे उपयुक्त संस्था केन्द्रीय बैंक ही है। अतः साख का नियन्त्रण करने के लिए केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता अनुभव हुई। वर्तमान बैंकिंग प्रणाली को सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित करने के लिए भी केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता होती है। वह देश में एक समुचित बैंकिंग नीति का निर्माण करता है तथा संकट काल में बैंकों की सहायता करता है और उन्हें आर्थिक मामलों पर सलाह देता है। वर्तमान समय में आर्थिक विकास के सम्बन्ध में सरकारी जिम्मेदारी बढ़ जाने और नियोजित अर्थव्यवस्था का विकास होने के कारण केन्द्रीय बैंक का महत्व और भी अधिक बढ़ गया है।

केन्द्रीय बैंक की परिभाषा (Definition of Central Bank)—

केन्द्रीय बैंक की परिभाषा करते समय प्रायः उसके प्रमुख कार्यों का वर्णन किया जाता है। साधारण शब्दों में यह कहा जा सकता है कि केन्द्रीय बैंक वह बैंक होता है, जो देश के आर्थिक हितों को ध्यान में रखकर मुद्रा तथा साख का नियन्त्रण करता हो। शॉ (Shaw) के विचार में केन्द्रीय बैंक वह बैंक होता है जो साख को नियन्त्रित करता है। हॉट्रे (Hawtrey) के अनुसार केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋणदाता होता है। प्रो० केन्ट (Kent) के शब्दों में "केन्द्रीय बैंक वह संस्था होती है जिसे सामान्य सार्वजनिक हित में मुद्रा की मात्रा के विस्तार एवं संकुचन का उत्तरदायित्व दे दिया गया हो।"[2] केन्द्रीय बैंक की इसी प्रकार की परिभाषा बैंक ऑफ इन्टरनेशनल सैटिलमैन्ट्स के विधान में दी गई है, जिसके अनुसार, "केन्द्रीय बैंक किसी देश का वह बैंक होता है जिसका कर्त्तव्य देश में साख व मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करना होता है।"[3] इन सब परिभाषाओं के आधार पर हम एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि केन्द्रीय बैंक सार्वजनिक हित को ध्यान में रखकर मुद्रा व साख की मात्रा को नियन्त्रित करने वाली संस्था होती है। वह देश में आर्थिक स्थिरता को

---

2 "It may be defined as an institution which is charged with the responsibility of managing the expansion and contraction of the volume of money in the interest of the general public welfare."

—*Raymond P. Kent* : Money and Banking, P. 315.

3 A Bank regulating the volume of currency and credit of a country."

—Bank of International Settlements.

स्थापित करने के उत्तरदायित्व को अपने कन्धो पर लेता है। डी० कॉक (De Kock) ने केन्द्रीय बैंक की प्रकृति को बतलाते हुए लिखा है—"एक साधारण बैंक लाभ प्राप्त करने के लिए व्यापारिक उद्देश्यो पर चलाया जाता है किन्तु इसके विपरीत एक केन्द्रीय बैंक प्रारम्भिक रूप से देश की वित्तीय तथा आर्थिक स्थिरता की रक्षा करने के उत्तरदायित्व को अपने कन्धो पर लेने के लिए होता है। वह मुख्य रूप से लाभ को ध्यान में न रखते हुए केवल समस्त देश के कल्याण तथा जनता के हित के लिए कार्य करता है।"[४]

उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि केन्द्रीय बैंक देश की बैंकिंग व्यवस्था का स्वामी होता है। देश के सभी बैंक उसके आधीन रहते है और वह उनके लिए एक मित्र, दार्शनिक तथा पथ-प्रदर्शक (Friend, Philosopher and Guide) का कार्य करता है। केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य आर्थिक स्थिरता की दृष्टि से साख का नियन्त्रण करना है। वह देश मे मुद्रा तथा साख की मात्रा को आवश्यकता के अनुसार घटाता-बढ़ाता रहता है और इस प्रकार मूल्यो की स्थिरता तथा विदेशी-विनिमय की स्थिरता स्थापित करता है।

केन्द्रीय बैंक का स्वामित्व एवं प्रबन्ध
(Ownership and Management)—

केन्द्रीय बैंक के स्वामित्व का प्रश्न एक महत्वपूर्ण प्रश्न रहा है। इस प्रकार के बैंक सरकारी बैंक होने चाहिए अथवा उनका स्वामित्व व्यक्तिगत अंशधारियों (Private Shareholders) के हाथो मे रहना चाहिए, इस सम्बन्ध मे कोई निश्चित बात नही कही जा सकती है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि केन्द्रीय बैंक के कार्यों की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि उस पर सरकारी नियन्त्रण का होना अनिवार्य हो जाता है। यही कारण है कि आजकल केन्द्रीय बैंक के सरकारी स्वामित्व (Public Ownership) के पक्ष मे बहुत कुछ कहा जा सकता है। स्वामित्व की दृष्टि से विभिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न प्रकार के केन्द्रीय बैंक मिलते हैं किन्तु इनमे से उनके तीन रूप मुख्य है—(i) सरकारी स्वामित्व—आजकल अधिकाश देशो मे केन्द्रीय बैंक सरकारी बैंक होता है और बैंक के समस्त हिस्से सरकार द्वारा खरीद लिए जाते है। इस प्रकार की व्यवस्था मे केन्द्रीय बैंक पर सरकार का पूरा नियन्त्रण रहता है और वह निःस्वार्थ रूप से राष्ट्र के हित मे कार्य कर सकता है। (ii) व्यक्तिगत हिस्सेदारों का स्वामित्व—कुछ एक देशो मे केन्द्रीय बैंक हिस्सेदारो

---

4 "An ordinary bank is run on business lines, with a view to earn profits and a central bank, on the other hand, is primarily meant to shoulder the responsibility of safeguarding the financial and economic stability of the country—it acts only in the public interest and for the welfare of the country as a whole and without regard to profit as a primary consideration"

—*De Kock* : Central Banking.

का बैंक होता है। इस प्रकार के बैंक के हिस्सों पर व्यक्तिगत हिस्सेदारों (Private Shareholders) का स्वामित्व रहता है। इस प्रकार की व्यवस्था में केन्द्रीय बैंक अधिक स्वतन्त्रता से कार्य कर सकता है किन्तु फिर भी वह सरकार के आधीन होता है। (iii) व्यापारिक बैंक का स्वामित्व—केन्द्रीय बैंकों के ऊपर व्यापारिक बैंकों का स्वामित्व भी हो सकता है। बैंक के हिस्से व्यापारिक बैंकों के नाम में रहते हैं और वे ही उसका संचालन करते हैं। अमेरिका के केन्द्रीय बैंक इसी प्रकार के बैंक हैं। इन तीनों प्रकार के केन्द्रीय बैंकों में सरकारी स्वामित्व वाले केन्द्रीय बैंकों को ही अच्छा माना जाता है। यद्यपि उनमें स्वतन्त्रता का अभाव पाया जाता है किन्तु वे आज के आर्थिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने में अधिक सफल हो सकते हैं। इसीलिए पिछले कुछ वर्षों में बहुत से देशों के केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है और यह प्रवृत्ति अधिकाधिक प्रचलित होती जा रही है। आजकल अधिकांश केन्द्रीय बैंक या तो पूर्णतया सरकारी अधिकार में होते हैं या सरकार उनके ५०% या इससे अधिक हिस्सों (Shares) की मालिक होती है। केवल कुछ ही देशों में जैसे अमेरिका, केन्द्रीय बैंकों के स्वामित्व में सरकार का कोई अधिकार नहीं है।

केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंक में अन्तर
(Distinction between Central Bank and Commercial Bank)—

केन्द्रीय बैंक एक विशेष प्रकार की बैंकिंग संस्था होती है जो अन्य प्रकार के बैंकों से भिन्न होती है। केन्द्रीय बैंक के उद्देश्य एवं कार्य व्यापारिक बैंकों से बिलकुल अलग होते हैं। प्रो० सेयर्स (Sayers) के अनुसार "केन्द्रीय और व्यापारिक बैंकों में अन्तर मुख्यतः उनके उद्देश्यों के सम्बन्ध में होता है। व्यापारिक बैंक प्रारम्भिक रूप से लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य को ध्यान में रखता है जबकि केन्द्रीय बैंक अपनी क्रियाओं के अर्थ-व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों को ध्यान में रखता है। व्यापारिक बैंक कुछ या अनेक हो सकते हैं और वे सामान्य जनता के साथ व्यापार करते हैं। प्रत्येक देश में केवल एक केन्द्रीय बैंक होता है और वह साधारण जनता के साथ बैंकिंग व्यवसाय बहुत कम करता है। वह केवल बैंकिंग व्यवस्था की क्रियाओं को नियन्त्रित करने तक ही अपने को सीमित रखता है।"[१] इससे स्पष्ट होता है कि केन्द्रीय बैंक के उद्देश्य तथा उसके कार्य सामान्य बैंकों से सर्वथा

1 "The distinction between central and commercial banks turns essentially on their objects. The commercial bank thinks primarily of profit making, whereas the central bank thinks of the effects of its operations on the working of the economic system......... ...The commercial banks may be few or many. They trade with the general public There is only one central bank in each country, and it does little if any, ordinary banking business for the general public, it restricts itself in the main to controlling the operations of the rest of the banking system." —*R. S. Sayers.*

भिन्न होते है। देश की मुद्रा व बैंकिंग व्यवस्था मे उसका शीर्ष (apex) स्थान होता है और वह समाज मे विशेष प्रकार की क्रियाओ को करने के लिए स्थापित किया जाता है जिन्हे पूरा करने के लिए उसे विशेष प्रकार के अधिकार दिये जाते है। निम्नलिखित विशेषताओं के कारण केन्द्रीय बैंक अन्य प्रकार के बैंको से पृथक हो जाता है—

(१) केन्द्रीय बैंक लाभ के उद्देश्य से कार्य नहीं करता है—अन्य बैंको का उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना होता है किन्तु केन्द्रीय बैंक का प्रारम्भिक उद्देश्य लाभ प्राप्त करना नही है। वह देश मे अधिक आर्थिक स्थिरता स्थापित करने के उद्देश्य से कार्य करता है। केन्द्रीय बैंक किसी व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष के हितो के लिए कार्य नही करता है। वह सदैव जनहित मे कार्य करता है।

(२) केन्द्रीय बैंक के पास कुछ विशेष अधिकार होते हैं—व्यापारिक बैंको के ऊपर नियन्त्रण करने के लिए केन्द्रीय बैंक को कुछ अधिकार दिए जाते है जो अन्य बैंको को प्राप्त नही होते हैं। नोट निर्गमन का अधिकार तथा साख नियन्त्रण का अधिकार इसी प्रकार के विशेष अधिकार हैं जो केवल केन्द्रीय बैंक को ही दिये जाते है। इन विशेष अधिकारो के कारण ही केन्द्रीय बैंक साख तथा बैंकिंग व्यवस्था के शक्तिशाली नियन्त्रक के रूप मे कार्य कर सकता है।

(३) केन्द्रीय बैंक सरकार के आधीन होता है—अन्य बैंको को अपना कार्य करने मे पर्याप्त स्वतन्त्रता रहती है किन्तु केन्द्रीय बैंक को सरकार के आधीन रह कर ही कार्य करना होता है। वह कोई भी कार्य सरकार की इच्छा के विरुद्ध नही कर सकता है। केन्द्रीय बैंक सरकार की आर्थिक नीति को कार्य-रूप मे लाने का यन्त्र होता है। उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र नीति नही हो सकती है और उस पर पूर्ण रूप से सरकारी नियन्त्रण रहता है।

केन्द्रीय बैंक के कार्य (Functions of Central Bank)—

केन्द्रीय बैंक के कार्यों के सम्बन्ध मे विभिन्न लेखको ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये है। कुछ अर्थशास्त्रियो ने केन्द्रीय बैंक के एक प्रकार के कार्यों पर जोर दिया है तो कुछ अन्य लेखको ने दूसरे प्रकार के कार्यो को अधिक महत्वपूर्ण बतलाया है। हॉटरे (Hawtrey) के अनुसार "केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य देश मे अन्तिम शरण-दाता (Lenders of the last resort) का कार्य करना होता है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे नोट निर्गमन का अधिकार दिया जाता है।" इसके विपरीत शॉ (Shaw) का मत है कि केन्द्रीय बैंक का एकमात्र कार्य साख का नियन्त्रण करना है।" जॉन्सी (Jauncey) के अनुसार "केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य निकासी (Clearing) करना है।" किश (Kisch) और एल्किन (Elkin) के शब्दों मे, "केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य मौद्रिक-मान की स्थिरता को बनाये रखना है जिसके अन्तर्गत

मौद्रिक प्रचलन भी सम्मिलित है।"[6] स्प्रेग (Sprague) ने केन्द्रीय बैंक के कार्यों की व्याख्या विस्तृत रूप मे की है। उनके अनुसार "केन्द्रीय बैंक के कार्यों को तीन भागों मे बाँटा जा सकता है। वे सरकार के आर्थिक एजेंटों का कार्य करते हैं। नोट निर्गमन का एकाधिकार होने के कारण वे बैंक के चलन पर नियन्त्रण रखने की बड़ी शक्ति रखते है, और और क्योंकि अन्य बैंकों का संचित कोष उनके पास रहता है इसलिए वे साख के सम्पूर्ण ढाँचे की बुनियाद के लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी होते हैं। यह अन्तिम कार्य ही केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य है।"[7]

उपर्युक्त विश्लेषण से हमें यह तो ज्ञात हो जाता है कि केन्द्रीय बैंक प्रायः कौन-कौन से कार्य करता है किन्तु इनमे से उसका प्रमुख कार्य कौन-सा है, इस विषय मे हम कोई निर्णय नही कर सकते हैं। फिर भी यह अवश्य कहा जा सकता है कि साख नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य है। अधिकांश लेखकों ने मौद्रिक प्रबन्ध (Monetary Management) को केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कर्तव्य बतलाया है। प्रो० शॉ (Shaw) ने तो साख नियन्त्रण को केन्द्रीय बैंक का एकमात्र कार्य माना है।[8] डी० कॉक (De Kock) ने भी इस कार्य के महत्व को स्वीकार करते हुए लिखा है—'साख नियन्त्रण को अधिकांश अर्थशास्त्रियों तथा बैंकर्स ने केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य स्वीकार किया है।"[9] अतः साख नियन्त्रण ही केन्द्रीय बैंक का आधारभूत कार्य माना जाता है और उसके अन्य सब कार्य इस प्रमुख कार्य से उत्पन्न होते हैं। केन्द्रीय बैंक के समस्त कार्यों का अन्तिम उद्देश्य साख व मुद्रा की मात्रा पर उचित नियन्त्रण करना होता है। आधुनिक समाज की दशाओं मे तो इस कार्य का महत्व और भी अधिक बढ़ गया है।

केन्द्रीय बैंक के महत्व तथा उसके कार्यों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें उसके द्वारा किये जाने वाले विभिन्न कार्यों का विस्तृत अध्ययन करना चाहिए। केन्द्रीय बैंक सामान्यतः निम्नलिखित कार्य करता है—

(१) नोट निर्गमन का कार्य—(Note Issue)—प्रत्येक देश मे नोट निर्गमन का कार्य केन्द्रीय बैंक के द्वारा किया जाता है। देश मे मुद्रा व साख का नियन्त्रण

6 "The essential function of a central bank is the maintenance of the stability of the monetary standard, which "involves circulation." —*Kisch & Elkin.*

7 "The special functions of central banks may be grouped under three heads—they serve as fiscal agents of government, they have large power of control over the currency through the more or less complete monopoly of note-issue, and finally since they hold a large part of the reserve of other banks, they are directly responsible for the foundation of the entire structure of credit This is by far the most important function of a central bank." —*Sprague.*

8 "The one true but at the same time all sufficing function of a central bank is control of credit." —*Shaw.*

9 "The control or adjustment of credit is accepted by most economists and bankers as the main function of a central bank." —*De Kock.*

करने के लिए यह आवश्यक है कि नोट निर्गमन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को दिया जाय। केन्द्रीय बैंक पर साख तथा मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करने का उत्तरदायित्व होता है। वह इस कार्य को भली भाँति कर सके इसलिए उसे नोट जारी करने का एकमात्र अधिकार दिया जाता है। सर्वप्रथम नोट निर्गमन का कार्य सरकार के द्वारा किया जाता था किन्तु यह कार्य सरकार अच्छी प्रकार से न कर सकी। कोई भी आपत्ति आने पर सरकार के द्वारा नोटो की अत्यधिक निकासी का भय रहता था। मुद्रा प्रसार तथा मुद्रा के मूल्य का गिरना उस समय की साधारण घटनाये थी। मुद्रा की माग तथा पूर्ति मे सतुलन स्थापित करने मे भी सरकार को अधिक समय लगता था। इन कठिनाइयो के कारण नोट निर्गमन का अधिकार व्यापारिक बैंको को दे दिया गया किन्तु वे भी नोट निर्गमन के कार्य को देश हित मे न कर सके और अत्यधिक निकासी का भय निरन्तर बना रहता था। व्यापारिक बैंक अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए किसी भी समय आवश्यकता से अधिक मात्रा मे नोटो को जारी कर सकते थे। अत. यह अनुभव किया गया कि सरकार तथा व्यापारिक बैंक दोनों ही नोट जारी करने के लिए अनुपयुक्त है और केन्द्रीय बैंको के विकास के साथ-साथ नोट निर्गमन का कार्य उन्हे सौंप दिया गया।

केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गमन का कार्य करने के लिए अधिक उपयुक्त इसलिए समझा गया क्योंकि वह इस कार्य को राष्ट्र हित मे कर सकता है। यह आशा की गई कि केन्द्रीय बैंक लाभ के उद्देश्य से कार्य न करने के कारण केवल समाज की आवश्यकताओ के अनुसार ही नोट जारी करेगा और इस प्रकार मुद्रा प्रसार के भय को दूर किया जा सकेगा। केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गमन का कार्य सौंपा जाने का मुख्य उद्देश्य नोटो के प्रचलन मे अनुरूपता लाना तथा पत्र-मुद्रा का अधिक अच्छा प्रबन्ध करना था। देश की मुद्रा प्रणाली में समानता तथा अनुरूपता लाने के लिए और उसका अधिक प्रभावशाली नियन्त्रण करने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि नोट निर्गमन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को दे दिया जाय। इसके अतिरिक्त यह भी अनुभव किया गया कि नोट निर्गमन का एकमात्र अधिकार प्राप्त होने से केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंको के द्वारा निर्मित साख पर उचित नियन्त्रण कर सकेगा और मुद्रा की माग तथा पूर्ति मे सतुलन स्थापित किया जा सकेगा। यह भी सोचा गया कि केन्द्रीय बैंक जैसी राज्य से सम्मानित संस्था के द्वारा नोट जारी किया जाने से पत्र-मुद्रा के प्रति जनता का अधिक विश्वास प्राप्त किया जा सकेगा। नोट निर्गमन का कार्य लाभपूर्ण व्यवसाय होने के कारण भी यह आवश्यक समझा गया कि नोट निर्गमन का अधिकार केवल केन्द्रीय बैंक को ही होना चाहिए। उपर्युक्त सभी कारणो से केन्द्रीय बैंक को नोट जारी करने का एकमात्र अधिकार प्राप्त हुआ। आज प्रत्येक देश के केन्द्रीय बैंक को ही नोट निर्गमन का एकमात्र अधिकार होता है जिसके द्वारा वह समाज मे मुद्रा की मात्रा को घटा बढ़ा कर आवश्यकता के अनुसार करता रहता है।

(२) बैंकों के बैंक का कार्य (Banker's Bank)—केन्द्रीय बैंक देश में अन्य बैंकों के बैंकर का कार्य करता है। देश के सभी बैंकों को विधान अथवा परम्परा के अनुसार अपनी कुल जमा का एक निश्चित भाग केन्द्रीय बैंक के पास रखना पड़ता है। केन्द्रीय बैंक का अन्य बैंकों के साथ ठीक वही सम्बन्ध रहता है जो बैंक का अपने ग्राहकों के साथ होता है। वह इन बैंकों से जमा प्राप्त करता है तथा आवश्यकता पड़ने पर उन्हें ऋण देता है। व्यापारिक बैंक कितना कोष केन्द्रीय बैंक के पास रखते हैं यह उनकी चालू जमा (Demand Deposits) तथा निश्चित जमा (Time Deposits) की मात्रा के ऊपर निर्भर होता है। इंगलैंड में बैंक परम्परा के अनुसार अपनी जमा का कुछ प्रतिशत बैंक ग्राफ इंगलैंड के पास रखते है। अमेरिका में एक अधिनियम के अन्तर्गत बैंकों के द्वारा केन्द्रीय बैंक के पास रक्खे जाने वाले कोष का न्यूनतम अनुपात निश्चित किया हुआ है। भारतवर्ष में भी यह नियम है कि सभी बैंक अपनी जमा का २% से लेकर ५% तक रिजर्व बैंक के पास जमा रक्खेंगे। अतः केन्द्रीय बैंक देश के सभी बैंकों के नकद कोषों का सरक्षक होता है। बैंकों के कोषों के केन्द्रीयकरण से कई प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं। सर्वप्रथम, बैंकों के कोषों के केन्द्रीय बैंक के पास एकत्रित होने से बैंकिंग व्यवस्था में बड़ी शक्ति उत्पन्न होती है। कोई भी बैंक आपत्ति काल में इस सामूहिक जमा में से सहायता प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार बैंकिंग व्यवस्था में स्थिरता आ जाती है। इसके अतिरिक्त कोषों के केन्द्रीयकरण हो जाने से बैंकों के नकद कोषों का अधिकतम उपयोग सम्भव होता है तथा साख प्रणाली में लोच का गुण उत्पन्न हो जाता है।

बैंकों के बैंक के रूप में केन्द्रीय बैंक सदस्य बैंकों को आर्थिक सहायता भी देता है। आवश्यकता पड़ने पर वे केन्द्रीय बैंक से ऋण लेकर अपनी नकद मुद्रा की माग को पूरा कर सकते हैं। केन्द्रीय बैंक से यह ऋण दो प्रकार से प्राप्त होते हैं—(i) प्रथम श्रेणी के बिलों को दुबारा भुना कर (Rediscounting) अथवा (ii) स्वीकृत प्रतिभूतियों (Approved Securities) के आधार पर सीधा ऋण लेकर। उपर्युक्त तरीकों से केन्द्रीय बैंक सकट काल में व्यापारिक बैंकों की बड़ी सहायता करता है और उन्हें फेल होने से बचाता है। बैंकर होने के नाते केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को निकासी गृह (Clearance House) की सुविधायें भी देता है तथा आवश्यकता पड़ने पर उन्हें परामर्श देता है।

(३) सरकारी बैंकर का कार्य (Banker to the Government)—सभी देशों में केन्द्रीय बैंक सरकार के बैंकर, एजेन्ट तथा आर्थिक सलाहकार का कार्य करता है। डी कॉक (De Kock) के अनुसार, "केन्द्रीय बैंक सरकारी बैंकर के रूप में कार्य केवल इसलिए नहीं करता है क्योंकि ऐसा करना सरकार के लिए सुविधापूर्ण एवं मितव्ययी है वरन् इसलिए भी क्योंकि मौद्रिक मामलों में और सार्वजनिक वित्त

मे गहरा सम्बन्ध है।"[10] केन्द्रीय बैंक सरकारी कोषों का संरक्षण करता है तथा विभिन्न सरकारी विभागो, सस्थाओ एव निगमो (Corporations) का हिसाब अपने यहां रखता है और आवश्यकता पडने पर सरकार को अल्पकालीन ऋण भी देता है। सरकार की समस्त धन राशि केन्द्रीय बैंक मे ही जमा रहती है और वह ही सरकार के लिए समस्त भुगतानो को निबटाता है। वह कर इत्यादि से प्राप्त होने वाली आय के आधार पर सरकार को अल्प काल के लिए ऋण देता है। सरकारी धन को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने का कार्य भी केन्द्रीय बैंक के द्वारा किया जाता है। वह एजेन्ट के रूप मे सरकार के लिए करो (Taxes) को इकट्ठा करता है तथा सार्वजनिक ऋणो का प्रवन्ध करता है। इन ऋणो का हिसाब-किताब रखना, उन पर सूद देना तथा उनका भुगतान करना, यह सब कार्य केन्द्रीय बैंक करता है। वह सरकार के लिए नये ऋणो को लेने का काम भी करता है। केन्द्रीय बैंक सरकार के लिए सोने तथा विभिन्न प्रकार की प्रभूतियों को वेचने तथा खरीदने का काम करता है और सरकार की आवश्यकतानुसार विदेशी विनिमय का प्रबन्ध करता है। केन्द्रीय बैंक सरकार का आर्थिक सलाहकार भी होता है और समय-समय पर आर्थिक मामलों मे सरकार को परामर्श देता है। सरकार अपनी आर्थिक नीति का निर्माण केन्द्रीय बैंक की सलाह से ही करती है। वर्तमान समय मे विदेशी विनिमय नियन्त्रण (Exchange) तथा विनिमय दरो मे स्थिरता लाने का कार्य भी केन्द्रीय बैंक के द्वारा ही किया जाता है।

(४) साख के नियन्त्रक का कार्य (Controller of Credit)—साख का नियन्त्रण करना आजकल केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य माना जाता है। अन्य सब कार्य इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं। वर्तमान समाज मे साख, मुद्रा से भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखती है और उसका प्रयोग दिन प्रति-दिन बढता जा रहा है। मूल्य-स्तर की स्थिरता को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा तथा साख की मात्रा पर नियन्त्रण किया जाये। केन्द्रीय बैंक का यह कर्त्तव्य होता है कि वह आवश्यकता के अनुसार साख की मात्रा को घटा-बढा कर मूल्यो मे स्थिरता स्थापित करे। इस कार्य को करने के लिए केन्द्रीय बैंक के पास दो प्रमुख साधन होते हैं—(i) उसकी बाजार मे प्रतिभूतियो को वेचने की शक्ति जिसे खुले बाजार की नीति (Open Market Operations) कहा जाता है तथा (ii) बैंक दर को घटाने-बढाने की शक्ति जिसे बैंक दर नीति (Bank Rate Policy) कहते हैं। उपर्युक्त दोनो तरीको के अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंको के सुरक्षित कोष के अनुपात मे परिवर्तन करके तथा साख के राशनिंग के द्वारा भी साख नियन्त्रण का कार्य किया करता है।

---

10 "The central bank operates as the government's banker, not only because it is more convenient and economical to the government, but also because of the intimate connection between public finance and monetary affairs."
—De Kock : 'Central Banking', P. 43.

(५) केन्द्रीय बैंक समाज मे ऋणों का अन्तिम साधन होता है (Lender of the Last Resort)—केन्द्रीय बैंक को ऋणो का अन्तिम साधन इसलिए कहा जाता है क्योकि वह आर्थिक सकट के समय मे सरकार तथा व्यापारिक बैंको को ऋण देता है। ऋणो का अन्तिम साधन होने के कारण केन्द्रीय बैंक पर व्यापारिक बैंको, कटौती गृहो (Discount Houses) तथा अन्य प्रकार की साख सस्थाओ की ऋणो की उचित माग को पूरा करने का उत्तरदायित्व होता है। वह कभी भी किसी बैंक को ऋणो के लिए इकार नही करता है यदि वह उचित प्रकार की जमानत (Security) देने को तैयार है। वह हर समय व्यापारिक बैंको के प्रथम श्रेणी के बिलो *(First Class Bills)* को *दुबारा भुनाने तथा स्वीकृत प्रतिभूतियों* (Approved Securities) के आधार पर ऋण देने के लिए तैयार रहता है। इस प्रकार व्यापारिक बैंक किसी भी समय केन्द्रीय बैंक से ऋण लेकर अपने पास नकदी की मात्रा को बढा सकते हैं। यद्यपि केन्द्रीय बैंक अपने सदस्य बैंको को कभी भी ऋण देने से इकार नही करता है किन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि वह ऋणो की मात्रा पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नही कर सकता है। केन्द्रीय बैंक अपने ब्याज की दर मे परिवर्तन करके बैंको को दिये जाने वाले ऋण की मात्रा पर नियन्त्रण कर सकता है। वह अपनी ऋण सम्बन्धित नीति मे परिवर्तन करके भी बैंको के लिए ऋण प्राप्त करना कठिन कर सकता है।

(६) राष्ट्र के स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय कोषों का सरक्षण (Custodian of Nation's Gold & Foreign Exchange Reserves)—केन्द्रीय बैंक राष्ट्र के धात्विक कोष तथा विदेशी विनिमय कोषो का सरक्षक होता है। स्वर्णमान काल मे स्वर्णमान का प्रबन्ध केन्द्रीय बैंको के द्वारा ही किया जाता है। आजकल केन्द्रीय बैंक को पत्र-मुद्रा कोष के रूप मे तथा भुगतान सन्तुलन के घाटे को पूरा करने के लिए अपने पास सोना तथा विदेशी मुद्रायें रखनी पडती है। देश का समस्त स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय कोष केन्द्रीय बैंक के पास ही रहता है। केन्द्रीय बैंक का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह विदेशी विनिमय प्रबन्ध के द्वारा विदेशी विनिमय दरो मे स्थिरता स्थापित करे।

(७) निकासी गृह का कार्य (Clearing House)—प्रत्येक देश मे निकासी गृह का कार्य केन्द्रीय बैंक के द्वारा किया जाता है क्योकि वह इस कार्य के लिए सबसे उपयुक्त सस्था समझी जाती है। देश के सभी बैंको का हिसाब केन्द्रीय बैंक के पास रहता है इसलिए वह उनके आपसी लेन-देन को निबटाने के लिए सबसे उपयुक्त सस्था है। *केन्द्रीय बैंक के निकासी गृह के कार्य के द्वारा नकदी के प्रयोग मे बचत* होती है तथा बहुत सी असुविधा एव श्रम से बचा जा सकता है। जॉन्सी (Jauncey) तथा विलिस (Willis) ने इसे केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य माना है। विलिस (Willis) के अनुसार केन्द्रीय बैंक के द्वारा सगठित निकासी गृह व्यवस्था "न केवल नकदी और पूँजी मे बचत का साधन है, वरन् यह समाज मे किसी विशेष समय पर रखी

जाने वाली तरलता का परीक्षण करने का साधन भी है, जिसका ज्ञान दिन प्रतिदिन होना केन्द्रीय बैंक के लिए आवश्यक है।"[11]

(८) सूचनाओं एवं आंकड़ों को एकत्रित करना (Collection of Statistics)—केन्द्रीय बैंक विभिन्न प्रकार के आवश्यक आँकडो को इकट्ठा करके समाज मे एक महत्वपूर्ण कार्य करता है। वह देश की अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्धित सूचनाओ तथा आंकडो को एकत्रित करता है और उन्हे अपनी रिपोर्ट तथा अन्य प्रकाशनो के द्वारा जनता के लिए उपलब्ध करता है। इन आंकड़ो के आधार पर केन्द्रीय बैंक विभिन्न आर्थिक क्षेत्रो मे सुधार के लिए सुझाव भी देता है। यह आंकडे देश मे समुचित आर्थिक नीति के निर्माण का आधार होते हैं।

केन्द्रीय बैंक और साख-नियन्त्रण
(Central Bank and Credit Control)

केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य साख का नियन्त्रण करना है। वर्तमान समाज मे साख का प्रयोग इतना अधिक बढ गया है कि उसे नियन्त्रित किये बिना आर्थिक स्थिरता को प्राप्त करना सम्भव नहीं है। साख का अनावश्यक विस्तार तथा सकुचन होने से समाज मे आर्थिक अस्थिरता (Economic Instability) उत्पन्न होती है जो किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास तथा समृद्धि मे भारी रुकावट हो सकती है। आर्थिक विकास के लिए समुचित दशायें उत्पन्न करने तथा आर्थिक प्रगति की दर को बढाने के लिए यह आवश्यक है कि देश मे मुद्रा व साख की मात्रा को नियन्त्रित किया जाये। मुद्रा जारी करने का एकमात्र अधिकार केन्द्रीय बैंक को होता है इसलिए वह आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा को घटा-बढा कर सन्तुलन स्थापित करता रहता है। किन्तु साख का निर्माण व्यापारिक बैंको के द्वारा किया जाता है जिसके कारण उस पर नियन्त्रण करना और भी आवश्यक हो जाता है। यह महत्वपूर्ण कार्य भी केन्द्रीय बैंक के द्वारा किया जाता है। वह साख की मात्रा को इस प्रकार नियन्त्रित करता है कि हर समय साख की पूर्ति को उसकी माग के बराबर रखा जा सके। केन्द्रीय बैंक के द्वारा साख नियन्त्रण की इस नीति को मौद्रिक नीति (Monetary Policy) तथा उसके साख नियन्त्रण कार्य को मौद्रिक प्रबन्ध (Monetary Management) कहते हैं।

साख नियन्त्रण के उद्देश्य (Objectives of Credit Control)—

साख नियन्त्रण के सम्बन्ध मे एक आधारभूत प्रश्न यह है कि केन्द्रीय बैंक के द्वारा साख नियन्त्रण किस उद्देश्य के लिए किया जाता है। विभिन्न लेखको ने

11 This system of clearing organised by the Central Bank, "is not only a means of economising cash and capital, but is also a means of testing at any time the degree of liquidity which the community is maintaining—a matter which is essential for the central bank to know from day to day."
—*Willis*, quoted by *De Kock* in 'Central Banking' on P. 114.

मौद्रिक प्रबन्ध के विभिन्न उद्देश्य बतलाये है और समय के साथ-साथ मौद्रिक नीति के इन उद्देश्यो के महत्व मे परिवर्तन होता रहा है। मुख्यतः साख नियत्रण के निम्नलिखित उद्देश्य बतलाये जाते हैं—

(१) विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता (Exchange Stability)—प्रारम्भ काल से ही मुद्रा नीति का उद्देश्य विदेशी विनिमय दरो मे स्थिरता स्थापित करना रहा है। इसी उद्देश्य के लिए ससार के अधिकाश देशो मे सन् १८७५ से १९१४ तक स्वर्णमान को बनाये रखखा गया और उसके पश्चात् भी उसे सशोधित रूप मे चलाया गया। उस समय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को विश्व के आर्थिक कल्याण का प्रमुख साधन समझा जाता था और अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास को बनाये रखने तथा विदेशी व्यापार के विस्तार के लिए विदेशी विनिमय दरो का स्थिर रहना अत्यन्त आवश्यक था। इन धारणाओ के अन्तर्गत ही विदेशी विनिमय की स्थिरता को मौद्रिक प्रबन्ध का प्रमुख उद्देश्य स्वीकार किया गया। सन् १९३१ से पूर्व प्रत्येक देश अपनी मौद्रिक नीति के द्वारा विदेशी विनिमय दरो मे स्थिरता स्थापित करने का प्रयत्न करता था।

विदेशी विनिमय की स्थिरता प्राप्त करने के लिए प्राय मूल्य-स्तर की स्थिरता को त्यागना पड़ता था जिसके कारण बहुत से देशो के आर्थिक जीवन में काफी उतार-चढाव आते रहते थे। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् यह दोष बहुत अधिक बढ गये और अधिकाश देशो के द्वारा आन्तरिक अस्थिरता का अनुभव किया जाने लगा। मौद्रिक प्रबन्ध के सम्बन्ध मे भी विचार परिवर्तन हुआ और विदेशी विनिमय की स्थिरता के स्थान पर मूल्य-स्तर की स्थिरता को अधिक महत्वपूर्ण समझा जाने लगा। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार विदेशी विनिमय की स्थिरता मौद्रिक प्रबन्ध का उद्देश्य तभी तक होना चाहिए जब तक की उसके साथ मूल्य-स्तर की स्थिरता को भी प्राप्त किया जा सके।

(२) कीमत स्तर की स्थिरता (Price Stability)--स्वर्णमान के पतन के पश्चात् कीमत-स्तर की स्थिरता मौद्रिक नीति का अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य समझा जने लगा। आन्तरिक कीमतो की स्थिरता राष्ट्रीय आर्थिक कल्याण के लिए आवश्यक है क्योकि कीमत स्तर का बदलना उत्पादन तथा अन्य आर्थिक क्रियाओं पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। कीमत-स्तर के अत्यधिक परिवर्तन आर्थिक जीवन मे अनिश्चितता उत्पन्न करते हैं तथा आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था के विकास मे बाधक होते हैं। सामाजिक न्याय की दृष्टि से भी कीमतो मे स्थिरता का होना आवश्यक है। इन्ही सब कारणो से कीमतो की स्थिरता को मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य समझा जाने लगा। सन् १९३० की आर्थिक मन्दी ने कीमतो को स्थिर रखने के महत्व को और भी बढा दिया। वर्तमान समाज मे कीमतो की अस्थिरता का मुख्य कारण साख व मुद्रा की मात्रा मे अनावश्यक परिवर्तन किया जाना है। इसलिए

केन्द्रीय बैंक को अपनी मौद्रिक नीति के द्वारा साख की मांग और पूर्ति मे संतुलन बनाये रखना चाहिए जिससे कि आन्तरिक कीमत-स्तर को बनाये रक्खा जा सके। आधुनिक अर्थशास्त्रियो के अनुसार यदि किसी समय पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि विदेशी विनिमय दरो को स्थिर रक्खा जाय अथवा आन्तरिक कीमत-स्तर को, तो कीमत-स्तर की स्थिरता को प्राथमिकता दी जानी चाहिए और विदेशी विनिमय दरो मे संशोधन करके भी आन्तरिक कीमत-स्तर की स्थिरता को बनाये रखना चाहिए।

(३) आन्तरिक स्थिरता एवं पूर्ण रोजगार (Economic Stability and Full Employment)—आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा नीति का प्रमुख उद्देश्य देश मे आर्थिक स्थिरता तथा पूर्ण रोजगार स्थापित करना होना चाहिए। कीमत-स्तर की स्थिरता एक सीमा तक अच्छी हो सकती है किन्तु वह सदैव समाज के आर्थिक कल्याण को अधिकतम करने वाली नहीं होती है। कीमतो के स्थिर रहने की दशा मे अर्थ-व्यवस्था मे काफी असन्तुलन पैदा हो सकते है जो देश के आर्थिक विकास मे बाधायें उत्पन्न करते हैं। अत. आन्तरिक कीमत स्तर की स्थिरता को आवश्यकता से अधिक महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। विदेशी विनिमय की स्थिरता तथा कीमत-स्तर की स्थिरता स्थापित करना उसी समय तक उचित है जब तक कि वह देश के सन्तुलित आर्थिक विकास मे बाधायें उत्पन्न न करता हो। आर्थिक स्थिरता अथवा पूर्ण रोजगार स्थापित करना देश के लिए अधिक महत्वपूर्ण है क्योकि उसके द्वारा ही राष्ट्र के आर्थिक कल्याण को अधिकतम किया जा सकता है। अधिकांश अर्थशास्त्री इस बात से सहमत है कि मौद्रिक नीति ऐसी होनी चाहिए जो व्यापार-चक्रो को रोकने मे सहायक हो तथा जिसके द्वारा आर्थिक स्थिरता एव पूर्ण रोजगार स्थापित किया जा सके।

सन् १६३० की महान् आर्थिक मन्दी के पश्चात् पूर्ण रोजगार स्थापित करने पर विशेष जोर दिया गया और लगभग प्रत्येक देश मे उसे मुद्रा नीति का प्रमुख उद्देश्य स्वीकार कर लिया गया। स्वीडन, अमेरिका इङ्गलैंड तथा अन्य देशो के केन्द्रीय बैंक जो पहले कीमत-स्तर को अधिक महत्व देते थे अब अपनी मौद्रिक नीतियों का विकास आर्थिक स्थिरता के उद्देश्य के दृष्टिकोण से करने लगे। प्रो० केन्ज (Keynes) के अनुसार मौद्रिक नीति का एकमात्र उद्देश्य समाज मे पूर्ण रोजगार स्थापित करना तथा व्यापार चक्रो को रोकना होना चाहिए। व्यापार-चक्र मुख्यतया बचत और विनियोग की मात्रा मे असन्तुलन हो जाने के कारण उत्पन्न होते हैं इसलिए मौद्रिक प्रबन्ध के द्वारा समाज मे बचत (Savings) तथा विनियोग (Investments) की मात्रा मे, पूर्ण रोजगार के दृष्टिकोण से सन्तुलन स्थापित करना चाहिए। क्राउथर (Crowther) ने पूर्ण रोजगार के उद्देश्य को महत्वपूर्ण बतलाते हुए लिखा है कि "मौद्रिक नीति का स्पष्ट उद्देश्य पूर्ण रोजगार

बिन्दु पर बचत तथा विनियोग में सन्तुलन स्थापित करना होना चाहिए।"[12] द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात इस उद्देश्य पर और अधिक बल दिया जाने लगा। बहुत-से देशो ने पूर्ण रोजगार स्थापित करने का निश्चय किया और देश की मौद्रिक नीति को उसका साधन बनाया गया। लगभग सभी वर्तमान अर्थशास्त्री मुद्रा नीति के इस उद्देश्य से सहमत है। यद्यपि वे जीवन-स्तर अथवा विदेशी विनिमय की स्थिरता के महत्व को अस्वीकार नहीं करते है किन्तु ये मुद्रा नीति के गौण उद्देश्य ही हो सकते है और उसका प्रमुख उद्देश्य आर्थिक स्थिरता एवं पूर्ण रोजगार स्थापित करना होना चाहिए। विकसित देशो में मौद्रिक प्रबन्ध के द्वारा व्यापार-चक्रो को रोक कर पूर्ण रोजगार की स्थिति को बनाये रखना जाना चाहिए और विकासशील देशो मे पूर्ण रोजगार प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(४) **आर्थिक विकास** (Economic Development)—अल्प-विकसित देशो मे साख नियन्त्रण का एक और उद्देश्य भी बतलाया जाता है। इन देशो के अर्थशास्त्रियो के अनुसार मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त दशायें उत्पन्न करना होना चाहिए। इस समय अल्प विकसित देशो की प्रमुख समस्या तीव्र गति से आर्थिक विकास करना है और साख नियन्त्रण नीति को भी इस विस्तृत उद्देश्य के अन्तर्गत ही काम करना चाहिए। इन देशो के केन्द्रीय बैंकों के सम्मुख आर्थिक विकास का एक विशेष उत्तरदायित्व है। उन्हे एक ओर आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध करने हैं और दूसरी ओर मुद्रा-प्रसार की शक्तियो पर नियन्त्रण करना है। ऐसी स्थिति मे मौद्रिक नीति का उद्देश्य समाज का आर्थिक विकास करना होना चाहिए।

साख नियन्त्रण की विधियाँ
(Methods of Credit Control)

साख नियन्त्रण के विभिन्न उद्देश्यो का अध्ययन करने के पश्चात् हम उन तरीको का विश्लेषण कर सकते हैं जिनके द्वारा केन्द्रीय बैंक साख का नियन्त्रण करता है। साख नियन्त्रण भी दो प्रकार का हो सकता है—(i) साख की मात्रा पर नियन्त्रण (Quantitative control) तथा (ii) साख के प्रयोग पर नियन्त्रण (Qualitative control)। दोनो ही प्रकार के नियन्त्रण आर्थिक स्थिरता तथा विकास के लिए आवश्यक हैं। सर्वप्रथम हम मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करने के तरीको का अध्ययन करेंगे जो इस प्रकार हैं—

(१) बैंक दर नीति (Bank Rate Policy)—

आरम्भ काल से ही बैंक दर नीति साख नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण तरीका रहा है। प्रथम महायुद्ध से पूर्व तो उसे साख नियन्त्रण की एकमात्र विधि समझा

12 "The obvious objective should be to attain an equilibrium between Saving and Investment at the point of full employment."
—*Geoffrey Crowther*: 'An Outline of Money' P. 181.

जाता था। बैंक दर नीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक दर मे परिवर्तन करके साख की मात्रा को नियन्त्रित करता है। बैंक दर वह न्यूनतम ब्याज की दर होती है जिस पर केन्द्रीय बैंक प्रथम श्रेणी के बिलो को पुन: भुनाता है अथवा स्वीकृत प्रतिभूतियो के आधार पर ऋण देता है। संक्षेप मे, वह केन्द्रीय बैंक की उधार देने की ब्याज की दर होती है। केन्द्रीय बैंक के पास बैंक दर मे परिवर्तन करने की शक्ति होती है और वह इस प्रकार के परिवर्तनो के द्वारा समाज मे साख की मात्रा को प्रभावित कर सकता है। बैंक दर का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि बाजारी सूद की दर (Market Rate of Interest) बैंक दर (Bank Rate) के साथ-साथ चलती है।[13] यदि बैंक दर को बढा दिया जाता है तो बाजार मे सूद की सभी दरे बढ जाती हैं और ऋणों का लेना महगा तथा कम लाभदायक हो जाता है, जिससे साख का सकुचन होता है। इसके विपरीत जब बैंक दर को घटाया जाता है तो समाज मे अन्य ब्याज की दरो मे कमी हो जाने के कारण ऋणो का लेना लाभदायक होता है जिसके परिणामस्वरूप साख का विस्तार होता है। बैंक-दर परिवर्तनो के इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा व साख की मात्रा को कम करने के लिए बैंक दर मे वृद्धि करना आवश्यक है तथा बैंक मे कमी करने से चलन मे साख का विस्तार होता है। बैंक दर में वृद्धि करके केन्द्रीय बैंक ऋण लेने की प्रवृत्ति को कम करता है और इस प्रकार साख का सकुचन हो जाता है। इसके विपरीत बैंक दर को कम करके वह ऋणियो को ऋण लेने के लिए प्रोत्साहित करता है और साख की मात्रा बढ जाती है।

यदि केन्द्रीय बैंक देखता है कि समाज मे साख की मात्रा तेजी के साथ बढ रही है और उसे कम करना आवश्यक है तो वह बैंक दर को बढा देता है। बैंक दर मे वृद्धि होने के कारण अन्य बैंको को भी अपनी ब्याज की दर को बढाना पडता है क्योंकि वे ऋणो के लिए केन्द्रीय बैंक पर निर्भर होते हैं। इस प्रकार बैंक दर के बढने से बाजारी ब्याज की दर (Market Rate of Interest) भी बढ जाती है। ब्याज की दर मे वृद्धि हो जाने के कारण अब ऋण लेकर विनियोग करना उतना लाभपूर्ण नही रहता है जितना कि पहले था। अत. व्यवसायी कम मात्रा मे ऋण लेते है और इस प्रकार साख का सकुचन हो जाता है। यदि बैंक दर के बढने पर अन्य ब्याज की दरें भी बढ जाती है तो बैंक दर नीति अपने उद्देश्य मे सफल रहती है। एक सुसगठित मुद्रा बाजार मे प्राय: ऐसा ही होता है और बैंक दर के बढने से लोगो के लिए ऋण लेना अधिक कठिन हो जाता है। वे या तो ऋण लेना स्थगित

---

13 "The theory underlying the use of the discount rate.. ....was, briefly, that changes in the discount rate of the central bank would bring about more or less corresponding changes in local money rates generally"

—*De Kock* : Central Banking, P 151.

कर देते हैं अथवा पहले की अपेक्षा कम ऋण लेते हैं। ऋणों की माग कम हो जाने से बैंक कम मात्रा मे साख का निर्माण कर पाते हैं।

इसके विपरीत यदि केन्द्रीय बैंक देखता है कि मुद्रा बाजार मे मुद्रा की कमी है और साख का विस्तार करना है तो वह बैंक दर को कम करके साख विस्तार की नीति को अपनाता है। बैंक दर के कम हो जाने पर बाजारी ब्याज की दर भी कम हो जाती है और साख विस्तार को प्रोत्साहन मिलता है। व्यापारिक बैंको के द्वारा ब्याज की दर कम कर देने के कारण लोग अधिक मात्रा मे ऋणों की माग करते है और बैंक अधिक मात्रा मे साख का निर्माण करने लगते हैं। इस प्रकार बैंक दर को कम करने से ऋण लेना आसान हो जाता है, ऋणों की माग बढती है और साख का विस्तार होता है। अत यह कहा जा सकता है कि केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक-दर मे परिवर्तन करके साख की मात्रा को घटा-बढा सकता है। जब वह साख का विस्तार करना चाहता है तो बैंक दर को बढा देता है और इसके विपरीत जब साख का सकुचन करने की आवश्यकता होती है तो बैंक दर को कम कर दिया जाता है।

बैंक दर परिवर्तनो के प्रभाव (Effects of Bank Rate Changes)—

बैंक दर परिवर्तनो का देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था तथा उसके भुगतान सन्तुलन (Balance of Payments) की स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। यह प्रभाव बाजारी सूद की दरो मे परिवर्तन होने के कारण उत्पन्न होते हैं।

आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव (Effects on Internal Economy) बैंक दर परिवर्तनो के आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर दो प्रकार के प्रभाव पडते हैं-प्रत्यक्ष (Direct) तथा परोक्ष (Indirect)। बैंक दर के बढने का प्रत्यक्ष प्रभाव यह होता है कि ब्याज की दर बढ जाने के कारण स्थिर पूँजीगत वस्तुओ के मूल्य गिर जाते हैं। समाज मे बचत की मात्रा बढती है और विनियोग की मात्रा कम हो जाती है, उत्पादन गिरता है तथा लाभ कम होने लगते हैं जिसके कारण मन्दी की दशायें उत्पन्न होती हैं। बैंक दर वृद्धि का परोक्ष प्रभाव यह होता है कि पूँजीगत वस्तुओ के मूल्य गिर जाने के कारण उनकी माग कम हो जाती है और उनका उत्पादन कम होने लगता है। पूँजीगत वस्तुओ का उत्पादन करने वाले उद्योगो मे बेरोजगारी फैलती है और लोगों की मौद्रिक आय कम हो जाती है जिसके कारण उपभोग की वस्तुओ (Consumption goods) की माग गिर जाती है और उनके मूल्य कम होने लगते हैं। इस प्रकार बैंक दर के बढने पर आन्तरिक अर्थ व्यवस्था मे व्यवसायिक मन्दी फैलती है। इसके विपरीत बैंक दर कम होने पर व्यवसायो को प्रोत्साहन मिलता है और तेजी की दशाये उत्पन्न होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सन्तुलनों पर प्रभाव (Effects on International Balance of Payments)—अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी बैंक दर परिवर्तनो का

महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है और उन्हे किसी देश के भुगतान सन्तुलन (Balance of Payments) को ठीक करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है। स्वर्णमान की व्यवस्था मे बैंक दर के बढने पर स्वर्ण का निर्यात रुक जाता है और विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन मिलने के कारण देश मे सोने का आयात होने लगता है जिसके परिणामस्वरूप विदेशी विनिमय दर पक्ष मे हो जाती है। बैंक दर मे वृद्धि होने से देश मे साख का सकुचन होता है और वस्तुओ के मूल्य गिर जाते हैं। हमारे माल का मूल्य कम होने के कारण निर्यात बढते हैं तथा विदेशी वस्तुओ का मूल्य अधिक होने के कारण वस्तुओ का आयात कम हो जाता है। निर्यातो मे वृद्धि होने तथा आयात कम हो जाने से देश के व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता अनुकूलता मे बदल जाती है। देश मे मौद्रिक आय कम होने से रोजगार की मात्रा तथा मजदूरी की दरें कम हो जाती हैं जिससे हमारे उद्योगो की प्रतियोगिता शक्ति मे वृद्धि होती है और निर्यातो को प्रोत्साहन मिलता है। इसके अतिरिक्त, बैंक दर ऊँची होने से देश से बाहर पूँजी का जाना रुक जाता है तथा विदेशो से पूँजी आने लगती है। इन सबका प्रभाव भुगतान सन्तुलन के घाटे को दूर करके उसे पक्ष मे करने का होता है। बैंक दर के कम होने का प्रभाव ठीक इसके विपरीत होता है। अतः बैंक दर परिवर्तनो को विदेशी विनिमय दर सम्बन्धी असन्तुलन को दूर करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है।

बैंक दर नीति की सीमाएँ (Limitations of Bank Rate Policy)—

वैंक दर नीति की सफलता के लिए निम्नलिखित दशाओ का होना आवश्यक है—

(1) **बैंक दर में परिवर्तन के साथ-साथ अन्य ब्याज की दरो में भी उसी प्रकार का परिवर्तन होना चाहिए**—बैंक दर नीति की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि बैंक दर के बदलने पर देश मे ब्याज की अन्य सभी दरें बदल जायें। ऐसा केवल एक सुव्यवस्थित तथा सुसगठित मुद्रा बाजार मे ही हो सकता है जैसा कि लन्दन का मुद्रा बाजार है। सुसगठित मुद्रा बाजार के अभाव मे यह सम्भव हो सकता है कि बैंक दर मे होने वाले परिवर्तन बाजारी ब्याज की दरो पर अपना प्रभाव न डाल सकें। प्राय यह होता है कि बैंक दर के बढने पर बाजारी ब्याज की दर बढ तो जाती है किन्तु बैंक दर मे कमी होने पर वह एक न्यूनतम सीमा के नीचे नही गिरती है। ऐसी दशा मे केन्द्रीय बैंक मुद्रा-प्रसार की प्रगति को तो रोक सकता है, किन्तु वह बैंक दर को कम करके देश को अवसाद (Depression) से बाहर नही निकाल सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि बैंक दर तथा बाजारी ब्याज की दर मे होने वाली वृद्धि व्यापारियो को अधिक ऋण लेने से न रोक सके। यदि वस्तुओ के मूल्य निरन्तर बढते जाते हैं और लाभ की मात्रा अधिक है, तो व्यापारी ऊँची ब्याज की दर पर ऋण लेकर भी विनियोग करेंगे। ऐसी दशा

मे बैंक दर की वृद्धि मुद्रा-प्रसार को रोकने मे सफल नही हो सकेगी। इसी प्रकार मुद्रा सकुचन काल मे जब लाभ की आशा कम होती है, तो बैंक दर कर को कितनी भी कम कर देने से ऋणियो को अधिक ऋण लेकर विनियोग करने के लिए प्रोत्साहित नही किया जा सकता है। अत बैंक दर नीति के द्वारा मुद्रा सकुचन (Depression) को रोकना सम्भव नही होता है। सन् १६३० की आर्थिक मन्दी मे लगभग इसी प्रकार का अनुभव हुआ और सभी देशो मे बैंक दर नीति मुद्रा सकुचन की स्थिति पर नियन्त्रण करने मे असफल रही।

(ii) देश की अर्थ-व्यवस्था लोचपूर्ण होनी चाहिए—बैंक दर नीति की सफलता के लिए देश के आर्थिक ढांचे मे पर्याप्त लोच का होना आवश्यक है। अर्थ-व्यवस्था इतनी लोचदार होनी चाहिए कि बैंक दर मे होने वाले परिवर्तन मूल्यो, मजदूरी तथा ब्याज की दरो, मौद्रिक आय, उत्पादन तथा व्यापार पर अपना पूरा प्रभ व डाल सके। यदि अर्थ-व्यवस्था मे इस प्रकार की लोच नही पाई जाती है, तो बैंक दर नीति अधिक सफल नही हो सकेगी। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् विभिन्न देशो की अर्थ-व्यवस्था मे लोच का अभाव हो जाने के कारण बैंक दर नीति अप्रभावी (Ineffective) हो गई है और इसीलिए बैंक दर नीति का प्रयोग पहले की अपेक्षा कम होने लगा है।

बैंक दर नीति के महत्व मे कमी
(Decline in the Importance of Bank Rate Policy)—

प्रथम महायुद्ध से पूर्व बैंक दर नीति केन्द्रीय बैंक का साख नियन्त्रण करने का एकमात्र अस्त्र माना जाता था किन्तु युद्ध के पश्चात् उसका महत्व कम होने लगा और उसके स्थान पर साख नियन्त्रण की अन्य विधियो का प्रयोग किया जाने लगा। सन् १६३० के आर्थिक मन्दी काल मे उसकी अप्रभाविकता (Ineffectiveness) प्रमाणित हो जाने के कारण बैंक दर नीति का प्रयोग और भी अधिक कम हो गया और उसे साख नियन्त्रण के साधन के रूप मे अप्रभावशाली समझा जाने लगा। यद्यपि द्वितीय विश्व-युद्ध काल मे तथा उसके पश्चात् बैंक दर नीति के प्रयोग मे कुछ वृद्धि हुई है किन्तु फिर भी आज प्रत्येक देश मे उसका महत्व पहले की अपेक्षा बहुत कम रह गया है। बैंक दर नीति के महत्व मे कमी के कारण इस प्रकार है—

(i) मुद्रा बाजार मे परिवर्तन तथा अर्थ-व्यवस्था मे लोच का अभाव—प्रथम महायुद्ध के पश्चात् मुद्रा बाजार की दशाओ मे काफी परिवर्तन हुए हैं। अब व्यापारिक बैंक पहले की अपेक्षा अपने आदेयो (Assets) को अधिक तरल रूप मे रखने लगे है। बैंको की तरलता मे वृद्धि होने से उनकी केन्द्रीय बैंक पर निर्भरता कम हो गई है। ऐसी दशा मे बैंक दर परिवर्तनो का बाजारी ब्याज की दरो पर तत्कालीन प्रभाव नही पडता है, जिसके कारण बैंक दर नीति के अप्रभावशाली होने

की सम्भावना बढ़ गई है। प्रथम युद्ध के पश्चात् विभिन्न देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं में लोच का गुण कम हो गया है, जिसके कारण बैंक दर परिवर्तन सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर अपना प्रभाव नहीं डाल पाते है। बैंक दर नीति में सफलता के लिए आवश्यक है कि अर्थ-व्यवस्था लोचपूर्ण हो जिससे बैंक दर परिवर्तन मूल्यों, मजदूरी तथा व्याज की दरों और उत्पादन व व्यापार पर अपना पूरा प्रभाव डाल सके। वर्तमान अर्थ-व्यवस्थाओं में इस प्रकार की लोच नहीं पाई जाती है, जिसके कारण बैंक दर नीति की सफलता की सम्भावना कम हो गई है।

(ii) साख नियन्त्रण की अन्य प्रभावशाली विधियों का विकास—प्रथम महायुद्ध के पश्चात् केन्द्रीय बैंकों के द्वारा साख नियंत्रण के लिए अन्य प्रभावशाली अस्त्रों का प्रयोग किया जाने लगा जिसके कारण बैंक दर नीति का महत्व कम हो गया। विशेषतया खुले बाजार की नीति तथा बैंकों के नकद कोष के अनुपात में परिवर्तन करने की विधि का प्रयोग इतना अधिक बढ़ गया कि उनकी तुलना में बैंक दर नीति को घटिया तथा अप्रभावशाली अस्त्र समझा जाने लगा। इस प्रकार बैंक दर नीति का महत्वपूर्ण स्थान खुले बाजार की नीति के द्वारा ले लिया गया।

(iii) बैंक दर परिवर्तनों का प्रभाव तत्कालीन नहीं होता है—बैंक दर साख नियन्त्रण की अप्रत्यक्ष विधि (Indirect Method) है, जिसके कारण बैंक दर परिवर्तनों का प्रभाव अर्थ-व्यवस्था पर कुछ समय के पश्चात् ही हो पाता है। बैंक दर परिवर्तनों का प्रभाव सबसे पहले व्याज की दरों पर होता है और फिर व्याज की दरों के परिवर्तन साख की मात्रा को प्रभावित करते है। अतः बैंक दर समाज में साख की मात्रा पर प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं डाल सकती है जो इसके अप्रभावशाली होने का एक प्रमुख कारण है। इसके विपरीत खुले बाजार की नीति का साख की मात्रा पर सीधा तथा प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है, जिसके कारण उसकी सफलता की सम्भावना अधिक होती है। साख नियत्रण की उस विधि को अधिक अच्छा माना जाता है, जिसके प्रभावशाली होने मे कम समय लगता हो। बैंक दर नीति अप्रत्यक्ष होने के कारण उसका प्रभाव तुरन्त नहीं होता है, जिसके कारण मौद्रिक प्रबन्ध में उसका महत्व पहले की अपेक्षा कम हो गया है।

(iv) सस्ती मुद्रा नीति (Cheap Money Policy)—ससार में सस्ती मुद्रा नीति का अधिक प्रचलन हो जाने के कारण भी बैंक दर नीति का महत्व कम हो गया है। सन् १६३३ से लगभग प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक को सस्ती मुद्रा नीति को अपनाना पड़ा, जिसके कारण बैंक दर को कम रखना आवश्यक समझा जाने लगा और इस प्रकार बैंक दर परिवर्तनों की सम्भावना पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गई। इसके अतिरिक्त सस्ती मुद्रा नीति के कारण बैंकों के पास नकदी अधिक मात्रा में रहने लगी है और केन्द्रीय बैंक पर उनकी निर्भरता बहुत कम हो गई है। ऐसी दशा में बैंक दर परिवर्तन बाजार की व्याज की दरों पर अपना पूरा प्रभाव नहीं डाल पाते हैं और इस प्रकार बैंक दर नीति अप्रभावशाली हो जाती है।

बैंकों के द्वारा किया जाता है। विशेषतया सन् १९४५ के पश्चात् बैंक दर नीति का प्रयोग फिर से बढ़ने लगा है और उसने एक बार फिर साख नियन्त्रण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। रैडक्लिफ समिति (Redcliffe Committee) ने निश्चित रूप से कहा है कि इगलैंड के मौद्रिक उपायों में बैंक दर महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उनके अनुसार 'बैंक दर इतना महत्वपूर्ण संकेत है कि अन्य उपायों के साथ उसका होना आवश्यक है। समस्त संसार की वर्तमान विचारधारा में स्वयं बैंक दर का काफी महत्वपूर्ण स्थान है।"[19]

खुले बाजार की क्रियायें(Open Market Operations)—

साख नियन्त्रण के उद्देश्य से केन्द्रीय बैंक के द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय करने को खुले बाजार की क्रियायें कहा जाता है किन्तु विस्तृत अर्थ में केन्द्रीय बैंक अथवा सरकार के द्वारा मुद्रा बाजार में किसी भी प्रकार की प्रतिभूतियों, ऋण-पत्रों तथा बिलों के क्रय-विक्रय करने को खुले बाजार की क्रियाओं के अन्तर्गत सम्मिलित किया जा सकता है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सर्वप्रथम साख नियन्त्रण के लिए खुले बाजार की क्रियाओं का प्रयोग किया गया और धीरे-धीरे बैंक दर नीति के पतन के साथ-साथ उसका महत्व बढ़ता गया। प्रो० हॉम (Halm) के अनुसार बैंक दर नीति की असफलताओं के कारण खुले बाजार की क्रियाओं का विकास हुआ।[20] पिछले ३०–३५ वर्षों में साख नियन्त्रण की इस विधि का प्रयोग काफी बढ़ गया है और केन्द्रीय बैंकों के द्वारा साख का अनावश्यक विस्तार तथा संकुचन रोकने के लिए खुले बाजार की क्रियाओं का अधिक प्रयोग किया जाने लगा है।

केन्द्रीय बैंक खुले बाजार की क्रियाओं के द्वारा अन्य बैंकों के नकद कोषों पर प्रत्यक्ष प्रभाव डाल सकता है जिसके द्वारा देश में साख की कुल मात्रा को घटाया-बढ़ाया जा सकता है। केन्द्रीय बैंक के सरकारी प्रतिभूतियों को बेचने से बाजार में मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है और साख का संकुचन होता है। इसके विपरीत प्रतिभूतियों के खरीदे जाने से बाजार में मुद्रा की मात्रा बढ़ती है और साख का विस्तार हो जाता है। जब केन्द्रीय बैंक देश में मुद्रा तथा साख की पूर्ति को बढ़ाना चाहता है तो वह प्रतिभूतियों को खरीदने लगता है। प्रतिभूतियों के विक्रेताओं

---

19 "The bank rate is so important as a symbol that its inclusion in other measures is vital .. .. .. In the present state of the world opinion, bank rate itself has considerable external significance"

—Redcliffe Report, P. 155.

20 "In view of the short-comings of rediscount policy the development of open market operations—the purchase and sale of government securities and other credit instruments in the open market—as an additional, and to some extent alternative, instrument of central bank policy is a logical step.".

—*Halm* : Monetary Theory P. 59,

को उनकी प्रतिभूतियो के बदले मे केन्द्रीय बैंक पर लिखे हुए चैक प्राप्त होते है। वे इन चैको को अपने बैंको के पास जमा होने के लिए भेजते है जिसके कारण सदस्य बैंको की जमा केन्द्रीय बैंक के पास बढ जाती है और वे इस बढी हुई जमा के आधार पर अधिक मात्रा मे साख का निर्माण करते है और देश में साख की मात्रा बढ जाती है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक खुले बाजार की क्रियाओ के द्वारा बैंको के कोषो मे वृद्धि करके उन्हे अधिक साख निर्माण करने के लिए प्रोत्साहित कर सकता है। केन्द्रीय बैंक के द्वारा बाजार मे सरकारी प्रतिभूतियो तथा ऋण-पत्रो के बेचे जाने का इससे बिल्कुल विपरीत प्रभाव पडता है। जब केन्द्रीय बैंक देखता है कि देश में साख का अत्यधिक विस्तार हो रहा है और साख की मात्रा को कम करना देश के हित मे है तो वह बाजार मे सरकारी प्रतिभूतियो को बेचने लगता है जिसके परिणामस्वरूप केन्द्रीय बैंक के पास रुपया आता है और चलन मे मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है। जो लोग केन्द्रीय बैंक से प्रतिभूतियाँ खरीदते है वे या तो उस नकद रुपया देते हैं अथवा अपने बैंको पर लिखे हुए चैक देते है। केन्द्रीय बैंक जब इन चैको को भुगतान प्राप्त करने के लिए भेजता है तो उसके परिणामस्वरूप सदस्य बैंको की जमा केन्द्रीय बैंक के पास कम हो जाती है। साख का आधार सकुचित हो जाने के कारण व्यापारिक बैंक कम मात्रा मे साख का निर्माण कर पाते है और देश मे साख की मात्रा घट जाती है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक के द्वारा खुले बाजार की क्रियाओ को साख नियन्त्रण के लिए एक प्रभावशाली अस्त्र के रूप मे प्रयोग किया जाता है। केन्द्रीय बैंक साख का विस्तार करने के लिए सरकारी प्रतिभूतियो को खरीदता है और साख सकुचन के लिए उन्हे बेचता है। प्रतिभूतियो के इस प्रकार के क्रय-विक्रय को ही खुले बाजार की क्रियाये कहा जाता है।

खुले बाजार की क्रियाओ को बैंक दर नीति की अपेक्षा साख नियन्त्रण का अधिक प्रभावशाली अस्त्र माना जाता है क्योंकि साख की मात्रा पर उसका प्रभाव प्रत्यक्ष तथा निश्चित होता है। बैंक दर नीति के प्रभाव अप्रत्यक्ष होने के कारण उसे प्रभावशाली होने मे कुछ समय लगता है किन्तु खुले बाजार की क्रियाओ मे यह दोष नही है। प्रतिभूतियो के क्रय-विक्रय का बैंको के कोषो पर सीधा प्रभाव पड़ता है। और इस विधि के द्वारा साख की मात्रा को तुरन्त घटाया बढाया जा सकता है। बैंक दर का प्रभाव तत्काल तो केवल ब्याज की अल्पकालीन दरो पर ही पडता है और दीर्घकालीन ब्याज की दरो पर उसका प्रभाव काफी समय के पश्चात् होता है किन्तु इसके विपरीत खुले बाजार की क्रियाओ का प्रभाव दोनो प्रकार की ब्याज की दरो पर एक साथ होता है तथा वह तत्काल ही पडता है। इन सब कारणो से ही खुले बाजार की क्रियाओ को साख नियन्त्रण विधि के रूप मे बैंक दर नीति से अच्छा समझा जाता है। प्रो० हॉम (Halm) के अनुसार खुले बाजार की क्रियायें बैंक दर नीति की अपेक्षा केन्द्रीय बैंक के लिए अधिक महत्वपूर्ण इसलिए हैं क्योंकि उनकी सफलता बहुत कुछ केन्द्रीय बैंक के हाथ मे होती है।

दर नीति की सफलता व्यापारिक बैंकों तथा उनके ग्राहकों के व्यवहार पर निर्भर होती है।[21]

खुले बाजार की क्रियाओं की सीमायें

(Limitation of Open Mark etOperations) –

खुले बाजार की क्रियायें केवल कुछ विशेष परिस्थितियों में ही सफल होती हैं। यदि किसी देश मे उनकी सफलता के लिए उपयुक्त दशायें नही पाई जाती हैं तो ऐसी स्थिति मे खुले बाजार की क्रियाये अधिक प्रभावशाली नही हो सकेंगी। सामान्यत. खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता के लिए निम्नलिखित दशाओं का होना आवश्यक है —

(१) खुले बाजार की क्रियाओं का अन्य बैंकों के कोषों (Reserves) पर निश्चित प्रभाव पडना चाहिए। खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता के लिए आवश्यक है कि इन क्रियाओं से बैंको तथा अन्य साख सस्थाओं के नकद कोष (Cash Reserves) प्रभावित होने चाहिएँ। केन्द्रीय बैंक के द्वारा प्रतिभूतियों के बेचे जाने से बैंकों के कोष कम हो जाने चाहिएँ और खरीदे जाने से उनके कोषों मे वृद्धि होनी चाहिए। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि केन्द्रीय बैंक के प्रतिभूतियाँ बेचने पर भी अन्य बैंकों के कोष कम न हो। यदि विदेशों से काफी रुपया आ रहा है और उसे बैंको मे जमा किया जा रहा है तो ऐसी दशा मे खुले बाजार की क्रियाओं के द्वारा बैंकों के कोषों को कम करना सम्भव नही हो सकेगा। इसी प्रकार यदि व्यापारिक बैंक अपने कोषों मे होने वाली कमी को केन्द्रीय बैंक से ऋण लेकर पूरा कर लेते हैं तो ऐसी दशा मे भी खुले बाजार की क्रियाये असफल रहेंगी। खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता के लिए मुद्रा बाजार का सगठन ऐसा होना चाहिए कि व्यवसायिक बैंक ऋण लेन के लिए ऋधा केन्द्रीय बैंक के पास न जाते हो। लन्दन के मुद्रा बाजार मे ऐसा ही होता है और इसी कारण वहाँ पर खुले बाजार की क्रियायें अन्य देशों की अपेक्षा अधिक सफल रहती हैं। इसके विपरीत अमेरिका मे उन्हे अधिक सफलता नही मिली है क्योकि वहाँ व्यापारिक बैंक सीधा फैडरल रिजर्व बैंकों (Federal Reserve Banks) से ऋण लेकर अपने कोषो की क्षति को पूरा कर लेते हैं। इसके विपरीत मुद्रा विस्तार की नीति की सफलता के लिए आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक के प्रतिभूतियाँ खरीदने पर बैंकों के कोष बढ जायें। यदि देश मे लोग अधिक मुद्रा का सग्रह करने लगते हैं अथवा विदेशों को

---

21 "From the standpoint of their strategic value to the central bank, open market operations possess a degree of superiority over rediscount policy because of the fact that the initiative is in the hands of the monetary authority in the case of the former, where as the bank rate policy is passive in the sense that its effectiveness depends on the responses of commercial banks and their customers to changes in bank rates."

—*G N. Halm*: Monetary Theory, P. 59.

पूँजी का निर्यात किया जा रहा है तो ऐसी दशा मे केन्द्रीय बैंक की प्रतिभूतियाँ खरीदने पर भी बैंको के कोषो मे कोई विशेष वृद्धि नही की जा सकेगी और साख उद्देश्य का विस्तार पूरा नही होगा।

(२) नकद कोषो मे परिवर्तन होने पर बैंकों के द्वारा साख का विस्तार अथवा संकुचन किया जाना चाहिए—खुले बाजार की क्रियाये तभी सफल हो सकती हैं जबकि व्यापारिक बैंक अपने नकद कोषो मे परिवर्तन के अनुसार साख की मात्रा मे भी परिवर्तन करते हो। अर्थात् कोषो मे वृद्धि होने पर भी वे अधिक मात्रा मे ऋण देने के लिए तैयार हो तथा कोष कम हो जाने पर अपने ऋणो की मात्रा को कम कर दें। यह सम्भव हो सकता है कि कोषो मे वृद्धि होने पर भी वे ऋणो की मात्रा को न बढाये क्योकि बैंक केवल अपने कोषो के आधार पर ही साख का विस्तार नही करते हैं बल्कि वे देश की राजनैतिक तथा आर्थिक स्थिति को भी ध्यान मे रखते है यदि राजनैतिक अस्थिरता के कारण मुद्रा बाजार मे घबराहट है अथवा विश्वास की कमी है तो ऐसी दशा मे बैंक अपने नकद कोषो के बढ जाने पर भी साख का विस्तार नही करेंगे और केन्द्रीय बैंक अपनी नीति मे असफल हो जायगा।

(३) बैंक के कोषों में परिवर्तन होने के साथ ऋणों की मांग में भी परिवर्तन होना चाहिए—बैंको के नकद कोषो के घटने-बढने पर उत्पादको की ऋणो की माग भी घटती-बढती रहनी चाहिए। अर्थात् जब बैंक अधिक ऋण देने के लिए तैयार हो तो उत्पादकों को भी अधिक मात्रा मे ऋण की माग करनी चाहिए। किन्तु उत्पादक ऋणो की माग बैंक कोषो के अनुसार नही करते है बल्कि वे लाभ की आशा के अनुसार ऋणो की माग किया करते है। यदि लाभ की आशा कम होती है तो वे ऋणो की मात्रा को कम कर देते है। यही कारण है कि अवसाद (Depression) की दशाओ मे खुले बाजार की क्रियाये अधिक सफल नही होती हैं। केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियाँ खरीदकर बैंको के कोष बढा देता है और बैंक भी अधिक मात्रा मे ऋण देना चाहते हैं किन्तु लाभ की आशा कम होने के कारण उत्पादकों को अधिक ऋण लेने के लिए प्रोत्साहित नही किया जा सकता। ऐसी दशा मे साख विस्तार नीति असफल हो जायेगी। अत: खुले बाजार की क्रियाओं के द्वारा केन्द्रीय बैंक मुद्रा-प्रसार को तो रोक सकता है किन्तु मन्दी की दशाओ से देश को बाहर निकालने मे उसे अधिक सफलता नही मिल सकती है।

(४) केन्द्रीय बैंक मे प्रतिभूतियों को बेचने तथा खरीदने की पर्याप्त शक्ति होनी चाहिए—खुले बाजार की क्रियाओ की सफलता बहुत कुछ इस बात के ऊपर निर्भर होती है कि केन्द्रीय बैंक के पास बेचने के लिए पर्याप्त मात्रा मे प्रतिभूतियाँ हैं अथवा नही। इसी प्रकार केन्द्रीय बैंक के पास प्रतिभूतियो को खरीदने की भी असीमित शक्ति होनी चाहिए। प्राय: अल्प विकसित देशो मे केन्द्रीय बैंक के पास पर्याप्त मात्रा मे बेचने योग्य प्रतिभूतियाँ न होने के कारण खुले बाजार की क्रियाओं

का क्षेत्र सीमित हो जाता है। ऐसी क्रियाओं की सफलता के लिए आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक के पास बेचने के लिए काफी मात्रा में प्रतिभूतियाँ हो तथा वह किसी भी सीमा तक प्रतिभूतियों को खरीदने की क्षमता रखता हो।

(५) विकसित मुद्रा बाजार का होना—खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि मुद्रा बाजार सुव्यवस्थित तथा सुसगठित हो जिसमें विभिन्न प्रकार की साख संस्थाओं का केन्द्रीय बैंक के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध हो। देश में ऋण पत्रों तथा प्रतिभूतियों का बाजार पूर्णतया विकसित होना चाहिए। अल्प-विकसित देशों में मुद्रा बाजार का उचित सगठन न होने तथा ऋण-पत्रों के बाजार के अभाव के कारण खुले बाजार की क्रियाओं को केवल सीमित सफलता ही मिल पाती है।

(६) प्रतिभूतियों के बाजार पर बुरा प्रभाव—अल्प-विकसित देशों में खुले बाजार की क्रियाओं का क्षेत्र इसलिए भी सीमित हो जाता है क्योंकि केन्द्रीय बैंक के द्वारा अधिक मात्रा में सरकारी प्रतिभूतियों का बेचा जाना उनके बाजार पर बुरा प्रभाव डाल सकता है। जब केन्द्रीय बैंक बहुत बडी मात्रा में सरकारी प्रतिभूतियाँ बेचता है तो प्रतिभूतियों के बाजार में मन्दी आ जाती है और उनका मूल्य गिर जाता है जिसका केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों के आदयों (Assets) पर बुरा प्रभाव पडता है और सरकारी ऋणों का प्रोग्राम अस्त-व्यस्त हो जाता है। ऐसी दशाओं में केन्द्रीय बैंक का यह कर्त्तव्य होता है कि वह विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों के बाजार में स्थिरता को बनाये रक्खे जिसके कारण खुले बाजार की क्रियाओं के प्रयोग की सम्भावना कम रह जाती है।

बैंक दर नीति तथा खुले बाजार की नीति एक दूसरे की पूरक है—

कुछ लेखकों का विचार है कि बैंक दर नीति तथा खुले बाजार की क्रियाओं का प्रयोग एक साथ किया जाना चाहिए क्योंकि वे एक दूसरे की पूरक है। प्रो० हॉट्रे (Hawtrey) के अनुसार साख नियन्त्रण तब ही प्रभावशाली हो सकता है जबकि खुले बाजार की क्रियाओं तथा बैंक दर का साथ साथ प्रयोग किया जाये। खुले बाजार की क्रियाओं को बैंक-दर को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए प्रयोग किया जा सकता है। प्रो० क्लार्क (Clark) के अनुसार "साख नियन्त्रण के दृष्टिकोण से खुले बाजार की क्रियायें बैंक दर नीति की पूरक है।"[२२] केन्द्रीय बैंक की दर में वृद्धि करने से पूर्व बाजार में प्रतिभूतियों को बेचकर बैंकों के पास से अतिरिक्त मुद्रा को निकाल लेना चाहिए और तब बैंक दर में वृद्धि की जानी चाहिए। ऐसा करने से बैंक दर की वृद्धि को अधिक प्रभावशाली बनाया जा सकता है। यदि बैंकों के

---

22 " . From the standpoint of credit control open market operations are complimentary to discount policy "

—*Clark* The Theory and Practice of Central Banking, P. 199.

पास अपने कोष काफी है तो वे बैंक दर के बढने पर अपनी ब्याज की दर को नही बढायेगे क्योकि वे केन्द्रीय बैंक से बिना ऋण लिए हुए ही अधिक मात्रा मे साख का निर्माण कर सकते हैं। अत. बैंक दर मे वृद्धि करने से पूर्व केन्द्रीय बैंक को खुले बाजार की क्रियाओ के द्वारा बैंको के कोषो को कम कर देना चाहिए। कभी कभी खुले बाजार की क्रियाओ को सफल करने के लिए भी बैंक दर मे परिवर्तन करना पडता है। इस प्रकार साख नियन्त्रण की इन दोनो विधियों का साथ-साथ प्रयोग किया जाना चाहिए। कुछ लेखको ने खुले बाजार की नीति के स्वतन्त्र प्रयोग पर अधिक बल दिया है। प्रो० केन्ज (Keynes) के अनुसार खुले बाजार की क्रियायें, साख नियन्त्रण के अन्य किसी साधन की सहायता के बिना ही मुद्रा व साख की मात्रा पर उचित नियन्त्रण कर सकती है। इस मतभेद के होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि यदि दोनो विधियो का एक साथ प्रयोग किया जाय तो वे अधिक प्रभावशाली रहेगी।

(३) बैंको की रक्षित-निधि के अनुपात को घटाना तथा बढाना

(Variation in Reserve Ratio of Banks)—

केन्द्रीय बैंक अन्य बैंको की रक्षित निधि के अनुपात मे परिवर्तन करके साख नियन्त्रण कर सकता है। देश मे प्रत्येक बैंक को अपनी जमा का एक निश्चित अनुपात केन्द्रीय बैंक के पास अनिवार्य रूप से रखना होता है। केन्द्रीय बैंक इस अनुपात को घटा-बढा कर व्यापारिक बैंको की साख निर्माण करने की शक्ति मे परिवर्तन कर सकता है। जब केन्द्रीय बैंक साख का सकुचन करना चाहता है तो वह व्यापारिक बको के द्वारा रखी जाने वाली सुरक्षित निधि का अनुपात बढा देता है जिसके कारण बैंको को केन्द्रीय बैंक के पास अधिक राशि जमा करनी पडती है और उनके पास कम नकद कोष रह जाता है जिसके आधार पर वे कम साख का निर्माण कर पाते हैं। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक रक्षित-निधि के अनुपात को बढाकर बैंको की साख-निर्माण करने की शक्ति को कम कर सकता है। उसके विपरीत यदि केन्द्रीय बैंक साख का अधिक विस्तार करना चाहता है तो वह रक्षित-निधि के अनुपात को घटा देता है जिसके कारण बैंको के पास अधिक नकद कोष रहते है। कोषो की मात्रा अधिक हो जाने के कारण बैंक उनके आधार पर अधिक मात्रा मे ऋण देते हैं और साख का विस्तार होता है। अत केन्द्रीय बैंक के द्वारा रक्षित निधि के अनुपात को बढाकर साख का सकुचन किया जा सकता है और उसे कम करके साख की मात्रा को बढाया जा सकता है।

आजकल साख नियन्त्रण की इस विधि का प्रयोग बहुत अधिक बढता जा रहा है और विभिन्न देशो मे केन्द्रीय बैंको को अपने सदस्य बैंको की रक्षित-निधि के अनुपात मे परिवर्तन करने का अधिकार दे दिया गया है। यह विधि प्रत्यक्ष होने के कारण अधिक प्रभावशाली रहती है किन्तु इसमे बडा दोष यह है कि रक्षित विधि

के अनुपात मे परिवर्तन करने का सब बैंकों पर एक-सा प्रभाव नही पड़ता है।[२३] रक्षित निधि के अनुपात के बढ़ने के कारण छोटे बैंकों को बड़ी कठिनाई होती है, क्योंकि उनके पास नकदी की मात्रा कम रहती है जबकि बड़े बैंकों को कोई कठिनाई नही होती है। इसलिए इस विधि को न्यायसगत नही बतलाया जाता है। क्योंकि यह नीति काफी कठोर होती है इसलिए इसका प्रयोग करते समय केन्द्रीय बैंक को बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए। इस नीति की कुछ अन्य सीमायें भी हैं जैसे रक्षित निधि के अनुपात मे परिवर्तन करके व्यापारिक बैंकों के कोषो को तो घटाया अथवा बढाया जा सकता है किन्तु इन परिवर्तनो के अनुसार बैंक सदैव साख की मात्रा मे परिवर्तन नही करते है और ऐसी दशा मे यह नीति भी अधिक सफल नही होती है। इसके अतिरिक्त रक्षित नीति के अनुपात मे परिवर्तनो का सभी बैंकों की साख निर्माण करने की क्षमता पर प्रत्यक्ष तथा तुरन्त प्रभाव पड़ता है जिसके कारण यह एक ऐसी प्रभावशाली शक्ति हो जाती है जिसका प्रयोग बैंकों अथवा सम्पूर्ण समाज को लाभ अथवा हानि पहुँचाने के लिए किया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे केन्द्रीय बैंक पर इसके उचित प्रयोग का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व आ जाता है। इन सीमाओ के होते हुए भी साख नियन्त्रण की यह विधि विशेष महत्व रखती है। इसीलिए बर्जेस (Burgess) ने लिखा है कि "सीमाओ के होते हुए भी बैंकों के रक्षित कोष के अनुपात मे परिवर्तन करने की शक्ति, विशेषतया अवसाद के कारण उत्पन्न अत्यधिक कोषो की स्थिति को ठीक करने के लिए साख नियन्त्रण की व्यवस्था में सर्वाधिक उपयोगी है।"[२४]

साख के प्रयोग पर नियन्त्रण
(Selective Credit Control)

उपर्युक्त विधियो के द्वारा केवल साख की मात्रा को नियन्त्रित किया जा सकता है किन्तु आज की नियोजित अर्थ-व्यवस्थाओ में साख का प्रयोग भी नियन्त्रित होना चाहिए। स्वतन्त्र अर्थ व्यवस्था मे विश्वास रखने वाले लोगो के अनुसार केन्द्रीय बैंक को केवल सामान्य साख नियन्त्रण (General Credit Control) ही करना चाहिए और साख के प्रयोग सम्बन्धी निश्चय व्यक्तिगत व्यवसायियो के द्वारा किये जाने चाहिएँ। किन्तु एक नियन्त्रित समाज मे साख के प्रयोग को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नही छोड़ा जा सकता है और उसे नियन्त्रित करने के लिए केन्द्रीय बैंक को

---

23 " When reserve requirements are increased some banks will be hit harder than others "

—*Burgess* Quote by *De Kock* in Central Banking op P. 239

24 "Despite these limitations the power (to raise or lower the bank's reserve requirements) is the most useful addition to the systems' mechanism of credit control, especially as a means for dealing fundamentally with the large excess of reserves created by the extra ordinary events of the depression emergency." —*Burgess* : Reserve Banks and Money Market, P. 270.

विशेष साख नियन्त्रण (Selective Credit Control) करना होता है। विशेष साख नियन्त्रण के अन्तर्गत केवल विशेष प्रकार की साख को ही प्रभावित किया जाता है और अन्य प्रकार की साख पर इसका कोई प्रभाव नही पडता है। आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि साख को केवल पूर्व निश्चित उद्देश्यो के लिए ही प्रयोग किया जाय। इस प्रकार के नियन्त्रण मे साख का प्रयोग केवल उन क्षेत्रो तथा व्यवसायो मे किया जाता है जिनके विस्तार को सरकार ने प्राथमिकता दी हुई है और साख को उन क्षेत्रो मे नही जाने दिया जाता है जहाँ पर उसका प्रयोग उतना आवश्यक नही है अथवा जहाँ उसका दुरुपयोग किया जा सकता है। अत: विशेष साख नियन्त्रण के अन्तर्गत साख का प्रयोग आवश्यक तथा उपयोगी क्षेत्रो मे ही किया जाता है और अनावश्यक तथा अनुपयोगी क्षेत्रो मे उसके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है। साख के प्रयोग को नियन्त्रित करने की प्रमुख विधियाँ निम्नलिखित है—

(१) ऋणो की आवश्यक सीमा में परिवर्तन (Changes in the Margin Requirements)—केन्द्रीय बैंक विभिन्न प्रकार के ऋणो की सीमा आवश्यकता (Margin Requirement) मे परिवर्तन करके साख के प्रयोग को नियन्त्रित कर सकता है। विभिन्न प्रकार की जमानतो के आधार पर दिये जाने वाले ऋणो की सीमा आवश्यकता को केन्द्रीय बैंक के द्वारा निश्चित कर दिया जाता है और व्यापारिक बैंको के लिए इन आदेशो का पालन करना आवश्यक होता है। ऋणो की सीमा आवश्यकता (Margin Requirement) उस अन्तर को बताती है जो प्रतिभूतियो के बाजारी मूल्य तथा उन पर प्राप्त ऋण की मात्रा मे होता है। यदि १०० रुपये की प्रतिभूति पर बैंक ७० रुपये ऋण देता है तो इस ऋण के सम्बन्ध मे सीमा आवश्यकता ३०% है। केन्द्रीय बैंक विशेष प्रकार के ऋणो को प्रोत्साहित करने के लिए उनकी सीमा आवश्यकता को कम कर सकता है। इसके विपरीत जिन दिशाओ मे वह साख के प्रवाह को कम करना चाहता है उससे सम्बन्धित ऋणो की सीमा आवश्यकता को बढा दिया जाता है। इस प्रकार की नीति का मुख्य उद्देश्य साख को सट्टे तथा अन्य अनुपयोगी कार्यो से हटाकर उपयोगी तथा आवश्यक कार्यों मे लगाना होता है। जिस प्रकार के ऋणो को केन्द्रीय बैंक प्रोत्साहित करना चाहता है उनकी सीमा आवश्यकता को कम कर दिया जाता है तथा जिन्हे वह रोकना चाहता है उनकी सीमा आवश्यकता को बढा दिया जाता है। जब केन्द्रीय बैंक देखता है कि बैंक सट्टा व्यवसाय तथा अनुत्पादक कार्यों के लिए अधिक ऋण दे रहे हैं तो वह इस प्रकार के ऋणो की सीमा आवश्यकता को बढा देता है जिसके कारण उस क्षेत्र मे साख का प्रवाह कम हो जाता है। उत्पादक क्षेत्रो मे साख के प्रवाह को बढाने के लिए केन्द्रीय बैंक इस प्रकार के ऋणो की सीमा आवश्यकता को कम कर देता है। इस विधि का प्रयोग सर्वप्रथम अमेरिका मे सट्टे

की प्रवृत्तियों को रोकने के लिए किया गया। इसके लिए वहाँ के फैडरल रिजर्व बैंकों (Federal Reserve Banks) को प्रतिभूतियों के आधार पर दिये जाने वाले ऋणों की मात्रा को निश्चित करने का विशेष अधिकार दिया गया। आजकल इसे साख की मात्रा एवं उसके प्रयोग को नियन्त्रित करने का महत्त्वपूर्ण साधन समझा जाता है और इसीलिए इसका प्रयोग अधिकाधिक रूप से किया जाने लगा है।

(२) नैतिक प्रभाव (Moral Suasion)—केन्द्रीय बैंक अपने नैतिक प्रभाव के द्वारा भी साख को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करता है। वह समय-समय पर बैंकों को इस प्रकार के आदेश-पत्र भेजता रहता है जिनमे उन्हे सलाह दी जाती है कि वे कब साख का विस्तार करें तथा कब साख-संकुचन नीति को अपनायें। उन्हे किस प्रकार के प्रयोगों के लिए अधिक मात्रा मे ऋण देने चाहिएँ और किन कामों के लिए ऋणों को सीमित रखना चाहिए। नैतिक प्रभाव की नीति के द्वारा साख की मात्रा तथा उसके प्रयोग दोनो पर नियन्त्रण किया जा सकता है। इस प्रकार की नीति के अन्तर्गत बैंकों पर किसी प्रकार का दबाव नही डाला जाता है बल्कि उन्हे समझा-बुझा कर तथा नैतिक प्रभाव के द्वारा विशेष प्रकार की साख नीति को अपनाने के लिए सहमत किया जाता है। नैतिक प्रभाव की नीति का मुख्य उद्देश्य बैंक प्रबन्धकों पर ऐसा मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालना होता है जिससे कि वे केन्द्रीय बैंक की साख नीति को सफल बनाने के लिए पूरा सहयोग देने के लिए तैयार हो जायें।

केन्द्रीय बैंक कहाँ तक अन्य बैंकों पर नैतिक प्रभाव डालने मे सफल होता है—यह इस बात पर निर्भर है कि उसे अन्य बैंकों का नेतृत्व (Leadership) कहाँ तक प्राप्त है। यदि केन्द्रीय बैंक प्रभावशाली एवं शक्तिशाली है तो उसकी नैतिक प्रभाव की नीति को अधिक सफलता मिलने की सम्भावना होती है। यद्यपि इंगलैंड, फ्रांस, स्वीडन, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि देशों मे नैतिक प्रभाव की नीति को पर्याप्त सफलता मिली है किन्तु फिर भी उसे साख नियन्त्रण का प्रभावशाली अस्त्र नही माना जा सकता है। उसका प्रयोग साख नियन्त्रण की अन्य विधियों को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए ही किया जा सकता है।

(३) प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action)—विस्तृत अर्थ मे प्रत्यक्ष कार्यवाही के अन्तर्गत नैतिक प्रभाव को भी सम्मिलित किया जा सकता है किन्तु इसे नैतिक प्रभाव से अलग करके ही अध्ययन किया जाना चाहिए। प्रत्यक्ष कार्यवाही के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक की वे सब कार्यवाहियाँ आती हैं जो वह उन बैंकों तथा साख संस्थाओं के विरुद्ध करता है जो उसके परामर्शों की अवहेलना करते हैं। जब केन्द्रीय बैंक देखता है कि कुछ व्यापारिक बैंक तथा अन्य साख संस्थायें उसकी घोषित नीति के अनुसार नही चल रहे हैं तो वह उनके विरुद्ध सीधी कार्यवाही की नीति को अपनाता है। इस नीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक इन असहयोगी संस्थाओं के

विनिमय-पत्रों तथा हुण्डियों को भुनाने से इन्कार कर देता है या उनसे दण्ड के रूप में ऋणों पर अधिक ब्याज लेने लगता है।

तानाशाही देशों में व्यापारिक बैंकों की साख सम्बन्धी क्रियाओं पर केन्द्रीय बैंक का प्रत्यक्ष नियन्त्रण होता है और साख संस्थाओं को केन्द्रीय बैंक के द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार ही ऋण देने होते हैं। ऋणों की मात्रा, ऋणों का उद्देश्य तथा उस पर लिए जाने वाले ब्याज की दर केन्द्रीय बैंक के द्वारा निश्चित किये जाते हैं। युद्ध काल में अन्य देशों में भी इस प्रकार के विशेष अधिकार केन्द्रीय बैंक को दिये गये। आज भी बहुत से देशों के सरकारी केन्द्रीय बैंकों को, व्यापारिक बैंकों की क्रियाओं को सीधा नियन्त्रित करने की शक्ति दी हुई है। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् भारत में रिजर्व बैंक को साख के प्रयोग पर नियन्त्रण करने के विशेष अधिकार दिये गये जिनके अन्तर्गत उसने १९८६ तथा १९५८ में व्यापारिक बैंकों को गेहूँ और चावल की आड़ पर ऋण न देने का आदेश दिया जिसका उद्देश्य इन वस्तुओं में सट्टेबाजी की प्रवृत्ति को रोकना था।

प्रत्यक्ष कार्यवाही को साख नियन्त्रण की अच्छी विधि नहीं समझा जाता है क्योंकि उसके अन्तर्गत व्यापारिक बैंकों को एक विशेष प्रकार की साख नीति को अपनाने के लिए बाध्य किया जाता है। व्यवहारिक दृष्टिकोण से भी यह नीति सरल नहीं है क्योंकि किसी बैंक के बारे में यह निश्चित करना, कि वह अपनी साख निर्माण शक्ति का प्रयोग स्वस्थ साख व्यवस्था के विरुद्ध कर रहा है, काफी कठिन काम है। इन दोषों के कारण ही इस विधि का प्रयोग केवल संकट काल अथवा विशेष परिस्थितियों में किया जाता है।

(४) साख का राशन करना (Rationing of Credit)—साख राशन की नीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को दी जाने वाली साख के उद्देश्यों को निश्चित करता है तथा विभिन्न प्रार्थी बैंकों में कुल साख का नियन्त्रित वितरण करता है। केन्द्रीय बैंक अपने द्वारा दी जाने वाली साख की अधिकतम सुरक्षित सीमा निश्चित कर लेता है और फिर विभिन्न बैंकों के कुम्यश (quotas) निर्धारित कर दिये जाते हैं जिनसे अधिक मात्रा में किसी भी बैंक को केन्द्रीय बैंक से साख सुविधायें नहीं मिलती हैं। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक देश में साख की मात्रा को पूर्णतया नियन्त्रित कर सकता है। यद्यपि साख राशनिंग के द्वारा साख की मात्रा तथा उसके प्रयोग दोनों पर ही नियन्त्रण किया जा सकता है किन्तु साख के प्रयोगों को नियंत्रित करने के लिए यह विधि अधिक उपयोगी होती है। केन्द्रीय बैंक विभिन्न प्रकार के ऋणों तथा विनियोगों के लिए साख की अधिकतम सीमा निश्चित कर देता है और इन निश्चित उद्देश्यों के लिए ही साख का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार अनुपयोगी तथा अनावश्यक कार्यों के लिए साख का प्रयोग नहीं होने दिया जाता है। यद्यपि साख राशनिंग की नीति काफी प्रभावशाली होती है और

उसके द्वारा साख का प्रयोग पूर्व निश्चित उद्देश्यों के लिए किया जा सकता है किन्तु इस नीति को कार्य-रूप मे लाने मे व्यवहारिक कठिनाइयाँ बहुत अधिक होती हैं। इसके अतिरिक्त इस नीति के अन्तर्गत व्यापारिक बैंको की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है जिसके कारण प्रजातन्त्र (Democratic) देशो मे इसका अधिक प्रयोग नही किया जा सकता है। रूस तथा अन्य साम्यवादी देशो मे यह नीति बहुत अधिक प्रचलित रही है।

केन्द्रित तथा नियोजित अर्थ-व्यवस्थाओ मे साख नियत्रण की इस विधि का विशेष महत्व है। साख एव पूँजी का राशनिंग करना विस्तृत नियोजन का ही एक भाग है और इसे समाजवादी तथा पिछड़े हुये देशों मे एक सप्रभावित नीति के रूप मे प्रयोग किया जाता है। अल्प विकसित देशों म साख के प्रयोग पर नियत्रण करना आवश्यक होता है क्योंकि उसके बिना मुद्रा-प्रसार की शक्तियो को नियत्रण मे नही रक्खा जा सकता है। अत साख के प्रयोग को नियन्त्रित करने की विधि के रूप मे साख का राशन करना नियोजित अर्थ-व्यवस्था की मौद्रिक नीति का आवश्यक अग हो सकता है।

(५) उपभोक्ता साख पर नियंत्रण (Regulation of Consumer's Credit)—उपभोक्ताओ को दी जाने वाली साख पर नियन्त्रण करके भी केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा तथा उसके प्रयोगों को निश्चित कर सकता है। यह नीति विकसित देशों मे अधिक सफल होती है क्योंकि वहाँ पर उपभोक्ता काफी बडी मात्रा मे कीमती वस्तुएँ किश्त-साख (Instalment Credit) के आधार पर खरीदते है। सर्वप्रथम, द्वितीय विश्व-युद्ध काल मे मुद्रा-प्रसार को रोकने तथा वस्तुओ की कमी की समस्या को सुलझाने के लिए अमेरिका मे उपभोक्ता साख पर नियत्रण किया गया। इसी उद्देश्य के लिए इगलैंड, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड मे भी उपभोक्ता साख पर नियन्त्रण करने की नीति का विस्तृत रूप मे प्रयोग किया गया। इस नीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक उपभोक्ताओ को दी जाने वाली किश्त-साख (Instalment Credit) की अधिकतम सीमा, वस्तुओ के बेचते समय उनके मूल्य का नकद रूप मे लिया जाने वाला प्रतिशत तथा इस प्रकार के ऋणो के भुगतान की अधिकतम अवधि निश्चित कर देता है। मुद्रा-प्रसार काल मे इस प्रकार ऋणो को कम किया जाता है जिससे वस्तुओ की माग घटती है और मुद्रा-प्रसार का दबाव कम हो जाता है। इसके विपरीत अवसाद काल मे वस्तुओ की माग को बढाने के लिए किश्त-साख को अधिक सुविधापूर्ण कर दिया जाता है। अत केन्द्रीय बैंक जब साख का विस्तार करना चाहता है तो वह किश्त साख की सुविधाओ को बढा देता है और जब वह साख का सकुचन करना चाहता है तो किश्त-साख की सुविधाओ को कम कर दिया जाता है।

केन्द्रीय बैंक और आर्थिक विकास
(Central Bank and Economic Development)—

विकसित देशों मे केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य मुद्रा बाजार को नियन्त्रित करना समझा जाता है और किसी भी प्रकार के विकास के लिए वित्तीय साधनो का प्रबन्ध करना उसके कार्य क्षेत्र से बाहर है। किन्तु अल्प-विकसित देशों मे केन्द्रीय बैंक के कार्य-क्षेत्र को इतना सीमित नही रखा जा सकता है। इन देशो के केन्द्रीय बैंको को मुद्रा बाजार का नियन्त्रण करने के साथ-साथ आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त साधन भी उपलब्ध करने चाहिएँ। इस विचार परिवर्तन के कारण वर्तमान समय मे केन्द्रीय बैंक के उत्तरदायित्व मे काफी वृद्धि हो गई है। विकासशील देशो मे आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त साधन जुटाना केन्द्रीय बैंक की प्रमुख जिम्मेदारी समझी जाती है। लैटिन अमेरिकन देशो के कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार तो केन्द्रीय बैंक को औद्योगिक विकास के लिए प्रत्यक्ष रूप से वित्त का प्रबन्ध करना चाहिए। यद्यपि इस विचार से अधिकाश अर्थशास्त्री सहमत नही हैं किन्तु फिर भी आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करना केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कर्तव्य समझा जाता है। डा० सेन (S. N. Sen) के अनुसार—"अल्प-विकसित देशो मे सामान्य विचारधारा के अनुसार केन्द्रीय बैंक को केवल मुद्रा बाजार का नियन्त्रक ही नही बल्कि ब्याज की दरो को नीचा रखने तथा देश के साधनो का तीव्र विकास करने वाली सस्था समझा जाता है।"[२५] अल्प-विकसित देशो मे केन्द्रीय बैंकों के सम्मुख नई समस्यायें तथा नये उत्तरदायित्व आ गये है और उनकी सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर हो गई है कि वे कहाँ तक आर्थिक विकास की आवश्यकताओ को पूरा कर सकते हैं। अभी तक केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य व्यापारिक बैंको की साख क्रियाओ को नियन्त्रित करके आर्थिक स्थिरता स्थापित करना समझा जाता रहा है किन्तु आधुनिक विचारधारा के अनुसार केन्द्रीय बैंक को आर्थिक विकास मे भी सहयोग देना चाहिए। विशेषतया अल्प-विकसित देशो मे केन्द्रीय बैंक आर्थिक विकास प्रोत्साहित करने वाली सस्था समझा जाने लगा है। इन देशो मे उसकी मुद्रा व साख नीति का उद्देश्य आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त दशायें उत्पन्न करना होना चाहिए।

अल्प-विकसित देशो के केन्द्रीय बैंको के समक्ष दो प्रमुख समस्यायें हैं। एक ओर तो उन्हे देश के आर्थिक विकास के लिए अधिकाधिक मात्रा मे मौद्रिक साधन उपलब्ध करने है तथा उनके उचित प्रयोग का प्रबन्ध करना है और दूसरी ओर

25 "In underdeveloped countries, popular opinion has looked upon the central bank not only as the controller of the money market, but also as an agency for bringing about an era of low interest rates and the rapid development of the resources of the country."

—*S. N. Sen* : Central Banking in Underdeveloped Countries, P. 206

उन्हे मुद्रा-स्फीति की शक्तियो को नियन्त्रण मे रखना है। अर्थात् उन्हे साख नियन्त्रण तथा साख विस्तार की नीति को साथ-साथ चलाना है। उनके सामने बिना मुद्रा-प्रसार के तेजी के साथ आर्थिक विकास करने की कठिन समस्या है। केन्द्रीय बैंक किस प्रकार इन विरोधी उद्देश्यो मे समन्वय करते हैं, इस पर ही उनकी सफलता अथवा असफलता निर्भर है। अल्प-विकसित देशो मे केन्द्रीय बैंक को आर्थिक विकास की एक उपयोगी सस्था के रूप मे विकसित होना है। उन्हे आर्थिक विकास सम्बन्धी उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए अपने दृष्टिकोण मे परिवर्तन करना होगा, कार्य-क्षेत्र को विस्तृत करना होगा तथा पुरानी साख नीति के स्थान पर नई एव प्रगतिशील साख नीति को अपनाना होगा।

अल्प-विकसित देशो मे मुद्रा प्रबन्ध
(Monetary Management in Under-developed Countries)—

अल्प-विकसित देशो मे मुद्रा व साख का प्रबन्ध करना विकसित देशो की अपेक्षा अधिक कठिन एव अधिक आवश्यक है। इन देशो मे सुसगठित मुद्रा बाजार के अभाव के कारण परम्परागत बैंक दर नीति के द्वारा साख पर प्रभावशाली नियन्त्रण करना सम्भव नही है। केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि देश का मुद्रा बाजार इस प्रकार सगठित हो कि केन्द्रीय बैंक की क्रियाओ का प्रभाव तीव्र गति से मुद्रा बाजार के प्रत्येक भाग मे फैल जाये। मुद्रा बाजार इतना सगठित तथा परस्पर निर्भर होना चाहिए कि यदि केन्द्रीय बैंक उसके एक केन्द्र को छूता है तो सम्पूर्ण बाजार उसके प्रभाव से उत्तेजित हो जाना चाहिए।[२६] अल्प-विकसित देशो मे मुद्रा बाजार न तो इतना विकसित होता है और न सुसगठित, जिसके कारण बैंक दर परिवर्तन साख व्यवस्था पर अधिक प्रभाव नही डाल सकते है और केन्द्रीय बैंक साख नियन्त्रण के लिए बैंक दर नीति पर अधिक निर्भर नही रह सकता है। अल्प-विकसित देशो मे विस्तृत तथा सक्रिय प्रतिभूति बाजार एव बिल बाजार भी नही होता है जिसके कारण केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की क्रियाओ का क्षेत्र भी अत्यन्त सकुचित हो जाता है। इन देशो के केन्द्रीय बैंक साख नियन्त्रण के लिए खुले बाजार की क्रियाओ पर भी अधिक निर्भर नही रह सकते है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अविकसित देशों मे बैंक दर नीति अधिक प्रभावशाली नही होती है तथा खुले बाजार की

---

26 "The central bank touches one spot in the market, and the rest will react to the stimulus. The whole of the money market is, as it were, a single credit pool, inwhich, whenever the central bank flings a stone, waves will gradually reach all shores "

—*S. N. Sen*. Central Banking in Under-developed Money Markets, P. 21.

क्रियाएँ सम्भव होते हुये भी पर्याप्त मात्रा मे नही की जा सकती हैं।[२७] इन्ही सब कारणों से अल्प-विकसित देशो मे साख नियन्त्रण की परम्परागत विधियाँ अधिक सफल नही हो सकती है और इन देशो के केन्द्रीय बैंको को अन्य प्रभावशाली विधियो की खोज करनी चाहिए। मुद्रा बाजार के अविकसित होने की दशा मे केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंको के नकद कोषो मे परिवर्तन करके साख की मात्रा पर अधिक प्रभावशाली नियन्त्रण कर सकता है। यह विधि अल्प-विकसित देशो मे विशेष महत्व रखती है। इसीलिए अल्प-विकसित देशो के अधिकाश केन्द्रीय बैंको को सदस्य बैंको के नकद कोष मे परिवर्तन करने के विशेष अधिकार दे दिये गये हैं जिनके कारण उनकी वैधानिक शक्ति सम्भवतः विकसित देशो के केन्द्रीय बैंको से भी अधिक हो गई है।[२८]

अल्प-विकसित देशो के तीव्र आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि इन देशो मे मौद्रिक प्रबन्ध करते समय साख के प्रयोग पर नियन्त्रण करने को अधिक महत्व दिया जाय। सामान्य साख नियन्त्रण के साथ-साथ इन देशो के केन्द्रीय बैंको को विशेष साख नियन्त्रण (Selective Credit Control) की नीति भी अपनानी चाहिए। नियोजित आर्थिक विकास के लिए साख के प्रयोग पर नियन्त्रण किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। साख का विशेष नियन्त्रण लोचपूर्ण होता है जिसके कारण साख नीति अधिक लोचदार हो जाती है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के नियन्त्रण को अर्थ-व्यवस्था के उन क्षेत्रो मे प्रयोग किया जा सकता है जिनमे अधिक उतार-चढाव आते है। विशेष साख नियन्त्रण साधनो को अनावश्यक प्रयोगो से हटाकर अधिक उपयोगी प्रयोगो मे लगाता है जिससे अल्प-विकसित देश काफी लाभ उठा सकते हैं क्योकि इन देशो मे साधनो की कमी है। विकसित देशो की सामान्य अवस्था मे विशेष साख नियन्त्रण (Selective Credit Control) का विरोध किया जा सकता है किन्तु अल्प-विकसित देशो की असामान्य परिस्थिति मे विशेष साख नियन्त्रण अनिवार्य है और इन देशो के केन्द्रीय बैंको को उसे अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

परीक्षा प्रश्न

(१) 'अधिकोषण दर' की परिभाषा कीजिए। किसी देश के व्यापार एवं उद्योग को अधिकोष-दर-परिवर्तन किस प्रकार प्रभावित करते हैं?

(आगरा बी० ए० १९६५)

---

27 "... the Bank rate policy may not prove effective, and open market operations, while feasible on certain occasion, may not be possible on the necessary scale in undeveloped money markets."

—*S. N. Sen* : Central Banking in Under-developed Money Markets, P. 85.

28 "Even though recently established, most of them are equipped with all the legal powers—even perhaps more—common to their counterparts in the highly developed countries."

—*L. V. Chandler* : 'Central Banking & Economic Development, P. 4.

(२) केन्द्रीय बैंक के मुख्य कार्यों का संक्षेप मे वर्णन कीजिए और बताइये कि यह बाजार मे खुले रूप से कार्य करके साख का नियन्त्रण किस प्रकार करता है ? (आगरा बी० ए० १९६४)

(३) केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण करने की कौन-सी पद्धतियाँ हैं ? (आगरा बी० ए० १९६२)

(४) "बैंक दर व खुले बाजार की क्रियायें केन्द्रीय बैंक के हाथों मे साख नियन्त्रण के लिए दो अस्त्र हैं।" समझाइये (आगरा बी० ए० १९६१)

(५) केन्द्रीय बैंक के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिये और बतलाइये कि यह साख का नियन्त्रण (क) बाजार मे खुले रूप से कार्य करके तथा (ख) बैंक दर के द्वारा किस प्रकार करता है ? (आगरा बी० ए० १९५९)

(६) बैंक दर की परिभाषा कीजिए। किसी देश के व्यापार एवं उद्योग को बैंक दर के परिवर्तन किस प्रकार प्रभावित करते हैं ? (आगरा बी० कॉम० १९५९ स)

(७) किसी केन्द्रीय बैंक के साख नियन्त्रण सम्बन्धित उद्देश्यों एवं पद्धतियो का विवेचन करिये। (आगरा बी० कॉम० १९५९)

(८) बैंक दर को समझाइये। किसी देश की आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियो पर इसके प्रभाव का भी विवेचन करिये। क्या यह भारत मे प्रभावपूर्ण रीति से कार्यान्वित की जा सकती है ? (राजस्थान बी० काम० १९५४)

(९) साख नियन्त्रण के उद्देश्यों तथा आवश्यकता का वर्णन कीजिये। (राजस्थान बी० कॉम० १९६०)

(१०) साख नियन्त्रण के उद्देश्य बताइये और इस सम्बन्ध में एक सप्रभाविक साधन के रूप मे बैंक दर का महत्त्व बताइये। (पटना बी० कॉम० १९६०)

(११) केन्द्रीय बैंक के क्या कार्य हैं ? केन्द्रीय बैंक दूसरे बैंकों को फेल होने से किस प्रकार बचाता है ? (सागर बी० ए० १९५९)

(१२) केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंकों मे अन्तर स्पष्ट कीजिये। (सागर बी० ए० १९५७)

(१३) भारत जैसे कम विकसित मुद्रा बाजार मे केन्द्रीय बैंक के कार्यों का वर्णन कीजिये। (सागर बी० कॉम० १९५५)

(१४) व्यापारिक बैंक एवं केन्द्रीय बैंक मे भेद कीजिए। साख के परिमाण पर केन्द्रीय बैंक द्वारा किन-किन रीतियों से नियन्त्रण रखा जाता है ? (जबलपुर बी० कॉम० १९५८)

(१५) 'सस्ती मुद्रा नीति' से क्या आशय है ? किन परिस्थितियों मे इसे अपनाने से लाभ हो सकता है ? (आगरा बी० ए० १९५६)

२०

भारतीय मुद्रा बाजार

INDIAN MONEY MARKET

मुद्रा बाजार का अर्थ (Meaning of Money Market)—

जिस प्रकार अन्य वस्तुओं का बाजार होता है ठीक उसी प्रकार मुद्रा का भी बाजार होता है। इस बाजार मे अन्य वस्तुओं की भाँति एक निश्चित मूल्य पर मुद्रा का क्रय-विक्रय किया जाता है। यह मूल्य मुद्रा के क्रेताओं तथा विक्रेताओं की आपसी प्रतियोगिता के द्वारा निश्चित होता है। मुद्रा के क्रय-विक्रय से अभिप्राय मुद्रा के लेन देन से होता है तथा मुद्रा का मूल्य ब्याज की वह दर होती है जिस पर ऋणदाता अपनी मुद्रा को उधार देते हैं। प्रत्येक समाज मे ऋणो का लेन-देन एक साधारण घटना है किन्तु मुद्रा का यह क्रय-विक्रय मुद्रा बाजार की व्यवस्था के द्वारा ही किया जाता है। वे समस्त व्यक्ति अथवा संस्थायें जो मुद्रा को उधार देने का कार्य करती है तथा वे सब लोग जो मुद्रा को उधार लेने की माग किया करते हैं सब मिलकर किसी देश के मुद्रा बाजार को बनाते हैं। अन्य वस्तुओं की भाँति किसी निश्चित समय पर मुद्रा की भी माग तथा पूर्ति होती है। हर समय देश मे कुछ लोग विनियोग के लिए पूंजी की माग किया करते है और मुद्रा को ऋण पर लेकर उत्पादक कार्यों मे लगाने के लिए तैयार रहते हैं। इसके साथ ही कुछ लोग ऐसे होते है जो अपनी बचत को उधार देकर उससे आय प्राप्त करना चाहते है। यह लोग समाज मे पूंजी की पूर्ति करने वाले होते है। मुद्रा बाजार की व्यवस्था के द्वारा मुद्रा की माग करने वाले तथा उसकी पूर्ति करने वाले एक दूसरे के सम्पर्क मे आते हैं और मुद्रा का क्रय-विक्रय करके अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते है। मुद्रा बाजार मे मुद्रा का मूल्य उसकी माग तथा पूर्ति के द्वारा निश्चित होता है। जिस ब्याज की दर पर मुद्रा की माग तथा पूर्ति एक दूसरे के साथ सतुलित हो जाती है वही मुद्रा का मूल्य होता है। अतः मुद्रा बाजार से अभिप्राय उस समस्त क्षेत्र से होता है जिसमे मुद्रा के क्रेता तथा विक्रेता एक दूसरे के साथ सम्पर्क मे होते है तथा वे आपसी प्रतियोगिता से निश्चित मूल्य पर मुद्रा का क्रय-विक्रय करते हो। विस्तृत अर्थ मे मुद्रा बाजार के अन्तर्गत समस्त प्रकार के व्यवसायो के लिए वित्त की व्यवस्था करने वाला सम्पूर्ण यन्त्र आ जाता है किन्तु साधारण अर्थ

मे मुद्रा बाजार शब्द अल्पकालीन ऋणो के लेन-देन तक ही सीमित है। अत मुद्रा बाजार की परिभाषा एक ऐसे स्थान के रूप मे की जा सकती है जहाँ अल्प कालीन धन-राशियों का क्रय-विक्रय किया जाता है।[1]

मुद्रा बाजार और पूँजी बाजार मे भेद—

मुद्रा बाजार का विस्तृत अध्ययन आरम्भ करने से पूर्व हमे मुद्रा बाजार (Money Market) और पूंजी बाजार (Capital Market) के भेद को समझ लेना चाहिए। यद्यपि मुद्रा बाजार और पूंजी बाजार दोनो एक दूसरे से भिन्न होते है किन्तु फिर भी उनमे घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। दोनो ही ऋणो के लेन-देन से सम्बन्धित हैं और दोनो मे ही मुद्रा का क्रय-विक्रय किया जाता है। भेद केवल इतना है कि मुद्रा बाजार अल्पकालीन ऋणो का बाजार होता है जबकि पूँजी बाजार मे दीर्घकालीन ऋणो का लेन-देन किया जाता है। वास्तव मे पूंजी बाजार, मुद्रा बाजार का ही एक अग है और विस्तृत अर्थ मे मुद्रा बाजार के अन्तर्गत पूँजी बाजार को भी सम्मिलित किया जाता है। किन्तु विशिष्ट अध्ययन की दृष्टि से दोनो प्रकार के बाजारो का पृथक विश्लेषण किया जाना चाहिए। दोनो प्रकार के बाजारो मे काम करने वाली सस्थाये भी प्राय एक दूसरे से भिन्न होती हैं। अल्पकालीन ऋणों का व्यापार करने वाली सस्थायें मुद्रा बाजार का अग होती हैं जबकि दीर्घकालीन पूँजी की व्यवस्था करने वाली सस्थाओ का सम्बन्ध पूँजी बाजार से होता है। व्यवहारिक जीवन मे दोनो प्रकार के बाजारो मे घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है क्योंकि अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋणो को एक दूसरे से पूर्णतया अलग नही किया जा सकता है। किसी देश के आर्थिक विकास के लिए मुद्रा बाजार तथा पूँजी बाजार दोनो का विकसित एव सुव्यवस्थित होना आवश्यक है क्योंकि दोनो ही प्रकार के बाजार आर्थिक क्रियाओ के विकास के लिए पर्याप्त पूँजी उपलब्ध करते हैं

मुद्रा बाजार और आर्थिक विकास (Money Market and Economic Development)—किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए सुव्यवस्थित तथा सुसगठित मुद्रा बाजार का होना आवश्यक है। देश के उद्योग, व्यापार तथा कृषि की विकास सम्बन्धी ऋण की आवश्यकताएं मुद्रा बाजार के द्वारा ही पूरी की जाती हैं। मुद्रा बाजार जितना अधिक सगठित होता है, पूँजी उतनी ही अधिक गतिशील होती है और ब्याज की दरो मे उतनी ही अधिक समानता रहती है जिससे आर्थिक विकास मे बडी सहायता मिलती है। मुद्रा बाजार ही समाज मे पूँजी के सचय को

1 "In the broad sense of the term, money market includes the entire mechanism used for financing all types of business. But the more ordinary usage of the term money market is restricted to borrowing and lending of short term funds. Thus money market may be defined as a place where short term funds are bought and sold."

—*K. C. Chacko*. The Monetary and Fiscal Policy of India, P. 2.

प्रोत्साहित करता है तथा समाज में विभिन्न प्रकार के विनियोगो के लिए की जाने वाली मुद्रा की माग को पूरा करने में सहायता देता है। मुद्रा बाजार का ठीक सगठन न होने की दशा मे देश मे विभिन्न प्रकार की आर्थिक क्रियायें ठीक प्रकार नही चल सकती हैं। वास्तव मे आज के औद्योगिक तथा व्यवसायिक जीवन को भली प्रकार चलाने के लिए एक सुसंगठित मुद्रा बाजार का होना अत्यन्त आवश्यक है। वह आर्थिक जीवन को चलाने के लिए पूंजी प्रदान करता है तथा समाज की बचत को एकत्रित करके उत्पादक कार्यों मे लगाने मे सहायता देता है। किसी देश का मुद्रा बाजार जितना अधिक व्यवस्थित तथा विकसित होता है उस देश के आर्थिक विकास की उतनी ही अधिक सम्भावना होती है। मुद्रा बाजार का सुसगठित होना इसलिए भी आवश्यक है क्योकि उसके बिना केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण नीति को पर्याप्त सफलता नही मिल सकती है।

भारतीय मुद्रा बाजार के अंग

(Constituents of the Indian Money Market)

आरम्भ काल से ही भारतीय मुद्रा बाजार को दो पृथक भागो मे बाँटने की प्रथा रही है—(i) योरुपीय भाग तथा (ii) भारतीय भाग। योरुपीय भाग के अन्तर्गत रिजर्व बैंक, इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया तथा विदेशी विनिमय बैंको को सम्मिलित किया जाता था तथा भारतीय भाग मे मिश्रित पूंजी वाले बैंक, स्वदेशी बैंकर्स एव सहकारी बैंक आते थे। मुद्रा बाजार के इन दोनो अगो मे किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नही रहता था और दोनो का कार्य-क्षेत्र भी प्राय भिन्न होता था। योरुपीय भाग को सदा ही सरकारी सरक्षण तथा नियन्त्रण का लाभ प्राप्त रहा है। इसके विपरीत मुद्रा बाजार का भारतीय भाग प्राय. अनियन्त्रित तथा अनियमित रहा है। सन् १९३५ मे रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् भारतीय मुद्रा बाजार की प्रकृति तथा उसके सगठन मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए है जिनके कारण मुद्रा बाजार का उपर्युक्त वर्गीकरण अनावश्यक हो गया है। रिजर्व बैंक ने इन दोनो भागो मे निकट सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है तथा मुद्रा बाजार के भारतीय भाग को भी धीरे-धीरे नियन्त्रित किया जा रहा है। रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप भारतीय बैंकिंग व्यवस्था पर अधिक प्रभावशाली सरकारी नियन्त्रण करना सम्भव हो सका है। इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण करके उसके स्थान पर स्टेट बैंक आफ इण्डिया एक सरकारी बैंक के रूप मे स्थापित कर दिया गया है। इन सब परिवर्तनो के द्वारा भारतीय मुद्रा बाजार को अधिक सगठित करने का प्रयत्न किया गया है किन्तु अभी भी हमारे देश मे यूरोप के देशो की भाँति एक सुसगठित मुद्रा बाजार नही है। भारतीय मुद्रा बाजार छोटे-छोटे टुकडो मे बँटा हुआ है जिनमे आपसी सम्पर्क का अभाव रहता है। सम्पूर्ण मुद्रा बाजार पर अभी तक रिजर्व बैंक का नियन्त्रण स्थापित नही हो सका है।

वर्तमान भारतीय मुद्रा बाजार को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(अ) व्यवस्थित बाजार (Organised Market) तथा (ब) देशी बाजार (Indigenous Market)। व्यवस्थित बाजार मे रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक तथा व्यापारिक बैंक कार्य करते है, जो रिजर्व बैंक के अधिक प्रभावशाली नियन्त्रण मे हैं। इस बाजार मे अर्ध सरकारी सस्थाएँ, बडी व्यवसायिक फर्में तथा विभिन्न प्रकार के मध्यवर्ती भी कार्य करते हैं, जिनकी क्रियाओ पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण रहता है। भारतीय मुद्रा बाजार के सगठित भाग के चार प्रमुख अग हैं—(i) याचना राशि बाजार (Call Money Market), (ii) बिल बाजार (Bill Market), (iii) अल्पकालीन सरकारी प्रतिभूति बाजार (Short term Government Security Market) तथा (iv) सहायक ऋण बाजार (Collective Loan Market)।

इस व्यवस्थित मुद्रा बाजार से भिन्न एक देशी मुद्रा बाजार (Indigenous Money Market) भी देश मे पाया जाता है, जो रिजर्व बैंक के नियन्त्रण से बाहर है। दोनो प्रकार के मुद्रा बाजारो मे किसी प्रकार का निश्चित सम्बन्ध नही है किन्तु फिर भी वे एक दूसरे से पूर्णतया अलग नही हैं। देशी बाजार सगठित बाजार से भी साधन प्राप्त करता है। विशेषतया फसल के अवसर पर देशी बैंकर्स अपनी हुण्डियो को स्टेट बैंक तथा व्यापारिक बैंको के पास भुनाते है, जिससे दोनो मे सम्पर्क स्थापित होता है। इस प्रकार का सम्बन्ध होते हुए भी मुद्रा बाजार के इन दोनो भागो की व्यवस्था तथा कार्य-क्षेत्र अलग-अलग हैं। व्यवस्थित मुद्रा बाजार मे काम करने वाले आधुनिक बैंक अधिक सुव्यवस्थित हैं तथा वे आधुनिक बैंकिंग पद्धति के अनुसार कार्य करते हैं और उन पर रिजर्व बैंक का अधिक नियन्त्रण रहता है। इसके विपरीत देशी बाजार मे काम करने वाले देशी बैंकर्स का आधुनिक बैंको के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है और उन पर रिजर्व बैंक किसी प्रकार का नियन्त्रण करने मे भी सफल नही हो सका है। इसके अतिरिक्त इन देशी बैंकर्स का कार्य-क्षेत्र भी सीमित है। अभी तक भी हमारे देश मे अखिल भारतीय मुद्रा बाजार स्थापित नही किया जा सका है। भारतीय मुद्रा बाजार के प्रमुख अग निम्नलिखित हैं—

(१) मिश्रित पूँजी वाले बैंक।
(२) विदेशी विनिमय बैंक।
(३) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया।
(४) औद्योगिक बैंक।
(५) कृषि बैंक।
(६) देशी बैंकर्स।
रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अभी तक भारतीय मुद्रा बाजार पूर्णतया सगठित नही है। उसका एक भाग तो सुव्यवस्थित है किन्तु दूसरा बहुत बडा भाग सगठन रहित है और रिजर्व बैंक के किसी भी प्रकार के नियन्त्रण से बाहर है। सगठन व नियन्त्रण की दृष्टि से भारतीय मुद्रा बाजार स्वय एक समस्या है। अभी तक भी भारत मे अन्य औद्योगिक देशों की भाँति एक विकसित तथा सुसगठित बाजार स्थापित नही किया जा सका है। बम्बई के मुद्रा बाजार को भारतीय मुद्रा बाजार का प्रतिनिधि समझा जा सकता है। यद्यपि कलकत्ता का मुद्रा बाजार भी विकसित तथा महत्वपूर्ण है किन्तु बम्बई का मुद्रा बाजार कलकत्ते के मुद्रा बाजार से अधिक महत्वपूर्ण होता जा रहा है। के० सी० चाको (K. C. Chacko) के अनुसार, "बम्बई मे रिजर्व बैंक के प्रमुख कार्यालय, प्रमुख व्यापारिक बैंको के कार्यालयो, देश के सर्वाधिक सक्रिय स्टॉक एक्सचेन्ज, सरकारी प्रतिभूतियो के स्थापित बाजार तथा कपास विनिमय बाजार (Cotton Exchange) होने के कारण वह भारत का न्यूयार्क बनता जा रहा है और वह राष्ट्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण वित्त केन्द्र बन गया है।" यद्यपि बम्बई का मुद्रा बाजार काफी विकसित एव सगठित हो गया है किन्तु फिर भी उसकी तुलना लन्दन अथवा न्यूयार्क के मुद्रा बाजार से नही की जा सकती है।

भारतीय मुद्रा बाजार के दोष (Defects of Indian Money Market)—

भारतीय मुद्रा बाजार अभी तक पूर्णतया विकसित नही हुआ है और उसमे सगठन का अभाव है। भारत मे मुद्रा बाजार विभिन्न क्षेत्रों मे बँटा हुआ है, जिनमे आपसी सम्पर्क बहुत कम रहता है। देशी बैंकर्स तथा महाजन जो ९०% बैंकिंग व्यापार के लिए जिम्मेदार हैं, मुद्रा बाजार की व्यवस्था से बिल्कुल अलग रहते है। मुद्रा बाजार के विभिन्न क्षेत्रो मे ब्याज की दरो मे काफी भिन्नता पाई जाती है तथा उनमे अधिक परिवर्तन होते हैं। भारतीय मुद्रा बाजार के मुख्य दोष इस प्रकार है—

(१) संगठन का अभाव (Lack of co-ordination between different parts of the Money Market)—भारतीय मुद्रा बाजार का सगठन दोषपूर्ण है तथा वह कई टुकडो मे बँटा हुआ है, जिनके बीच कोई विशेष सम्पर्क नहीं रहता है। मुख्यत हमारे मुद्रा बाजार के दो लगभग पूर्णतया स्वतन्त्र भाग हैं—प्रथम आधुनिक मुद्रा बाजार है जिसमे रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक, विदेशी विनिमय बैंक तथा मिश्रित पूँजी वाले बैंक सम्मिलित हैं तथा दूसरे देशी बैंकर्स जिसमे साहूकार, सर्राफ आदि आते हैं। मुद्रा बाजार के इन दोनो अगो मे किसी प्रकार का सहयोग तथा सम्पर्क नही है और उनके बीच निरन्तर हानिकारक तथा अपव्ययी प्रतियोगिता होती रहती है। मुद्रा बाजार के इन दोनों अंगों के विभिन्न सदस्यो के आपसी सम्बन्ध भी ठीक नही हैं और वे एक दूसरे के साथ प्रतियोगिता करते रहते हैं।

आधुनिक मुद्रा बाजार के क्षेत्र मे स्टेट बैंक, विदेशी विनिमय बैंक तथा मिश्रित पूंजी वाले बैंक एक दूसरे को अपना प्रतियोगी समझते है और इनमें किसी प्रकार का आपसी सहयोग तथा समन्वय नही पाया जाता है। इस क्षेत्र मे विदेशी विनिमय बैंक अधिक प्रभावशाली रहे है और वे सदा मिश्रित पूंजी वाले बैंकों के कार्य-क्षेत्र मे हस्तक्षेप करते रहे है। सहकारी बैंकों तथा अन्य प्रकार के बैंकों मे भी किसी प्रकार का सम्बन्ध तथा सहयोग नही पाया जाता है। देशी बैंकर्स मे भी व्यवस्था तथा सगठन का अभाव है और उनमे प्रतियोगिता रहती है। इनमे से प्रत्येक, एक दूसरे का व्यवसाय छीनने का प्रयत्न करता रहता है। प्रत्येक की अलग-अलग ब्याज की दरें होती हैं और इन पर रिजर्व बैंक का कोई नियन्त्रण नही रहता है। अत भारतीय मुद्रा बाजार के विभिन्न भागो मे सगठन का अभाव है तथा उसके विभिन्न सदस्यो मे किसी प्रकार का सहयोग नही है। मुद्रा बाजार के व्यवस्थित न होने के कारण ही विभिन्न क्षेत्रो मे ब्याज की दरो मे समानता स्थापित करने मे रिजर्व बैंक को अधिक सफलता नही मिली है और वह अपनी बैंक दर नीति (Bank Rate Policy) से बाजारी दर (Market Rate) पर बहुत कम प्रभाव डाल सका है।

(२) ब्याज की दरो मे भिन्नता (Disparity between Rates of Interest)—*भारतीय मुद्रा बाजार मे विभिन्न स्थानो पर ब्याज की दरो मे काफी* भिन्नता पाई जाती है। कुछ स्थानो पर ब्याज की दरें ऊँची रहती है जबकि अन्य स्थानो पर वे नीची होती हैं। मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगो मे सहयोग तथा सगठन के अभाव के कारण ही यह दोष उत्पन्न होता है। इगलैंड तथा अमेरिका मे मुद्रा बाजार पूर्णतया सगठित होने के कारण विभिन्न स्थानो पर ब्याज की दरें एक रहने की प्रवृत्ति रखती है तथा सभी प्रकार की ब्याज की दरें बैंक दर के ऊपर निर्भर होती है। इसके विपरीत भारतीय मुद्रा बाजार सुसगठित न होने के कारण ब्याज की दरो मे काफी भिन्नता पाई जाती है और बैंक दर, बाजारी ब्याज की दर, स्टेट बैंक की दर, कटौती दर (Discount Rate) आदि मे काफी अन्तर रहता है। केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति (Central Banking Enquiry Committee) के अनुसार भारतीय मुद्रा बाजार मे ब्याज की दरें $\frac{3}{8}$% से लेकर १०% तक पाई जाती है। बैंक दर और बाजारी दरो मे निश्चित सम्बन्ध न होने के कारण हमारे देश मे रिजर्व बैंक की बैंक दर नीति (Bank Rate Policy) अधिक प्रभावशाली नही हो सकी है। हमारे देश मे केवल ब्याज की दरो मे भिन्नता ही नही पाई जाती है बल्कि उनकी सामान्य प्रवृत्ति ऊँचा रहने की होती है, जिससे देश के आर्थिक विकास मे बाधा पड़ती है। भारतीय मुद्रा बाजार की एक विशेषता यह भी है कि यहाँ पर अल्पकालीन ब्याज की दरें दीर्घकालीन ब्याज की दरो से ऊँची रहती हैं जैसा कि सामान्यतया विदेशी बाजारो मे नही होता है।

(३) देश में मुद्रा की मौसमी कमी (Seasonal Monetary Stringency)—भारतीय मुद्रा बाजार मे विभिन्न मौसमो की ब्याज की दरो मे भी काफी अन्तर रहता है। फसल के अवसर पर व्यापार अधिक होने के कारण मुद्रा की माग बहुत अधिक बढ जाती है किन्तु उसकी पूर्ति में उसी अनुपात मे वृद्धि न होने से मुद्रा बाजार मे रुपये की भारी कमी रहती है और ब्याज की दरें बढ जाती हैं। इसके विपरीत वर्ष के कुछ भाग मे रुपये की माग के कम हो जाने के कारण ब्याज की दरें नीची रहती है। नवम्बर से जून तक का समय अधिक व्यापार का समय होता है और फसलो को बेचने तथा उन्हे एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने के लिए व्यापारियो के द्वारा मुद्रा की अधिक माग की जाती है, जिसके कारण मुद्रा बाजार ा रुपये की कमी हो जाती है और ब्याज की दरो मे अनुचित वृद्धि हो जाती है। र्ष के इस भाग मे ब्याज की दरें प्राय ७% और ८% के बीच मे रहती है। मुद्रा ी इस सामयिक कमी तथा ब्याज की दरो की अधिकता के कारण व्यापारियों को वेशेष कठिनाई अनुभव करनी होती है और व्यापार का ठीक-ठीक विकास नही हो ाता है। जुलाई से लेकर अक्तूबर तक बाजार मे मुद्रा की माग कम रहती है और उसकी पूर्ति अधिक होने के कारण ब्याज की दरें गिरकर ३% और ४% के बीच में आ जाती हैं। ब्याज की दरो के इन सामयिक परिवर्तनो का मुख्य कारण मुद्रा ती पूर्ति का बेलोचदार होना है, जिससे कि अधिक माग होने पर मुद्रा की पूर्ति मे वेशेष वृद्धि करना सम्भव नही होता है। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् मुद्रा बाजार का यह दोष कुछ कम हो गया है क्योकि वह विभिन्न समय पर व्यापार की माग के अनुसार मुद्रा का विस्तार तथा सकुचन करता रहता है। किन्तु वह अभी तक ब्याज की दरो के इन सामयिक परिवर्तनो को पूर्णतया दूर करने में सफल नही हो सका है।

(४) सगठित बिल बाजार का अभाव (Absence of an Organised Bill Market)—कुशल मुद्रा बाजार के विकास तथा साख यन्त्र के सुविधापूर्वक चलने के लिए एक सुसगठित बिल बाजार का होना आवश्यक है। यद्यपि हमारे यहाँ हुण्डियो का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है किन्तु अभी तक देश मे एक सगठित बिल बाजार का विकास नही हुआ है। भारतवर्ष मे व्यापारिक बिलो तथा हुण्डियो का प्रयोग बहुत कम होता है और अधिकाश सौदो को नकद निबटाया जाता है। यही कारण है कि हमारे देश के व्यापारिक बैंको की कुल जमा का ३ प्रतिशत से ६ प्रतिशत तक ही व्यापारिक बिलो के रूप मे होता है जबकि अन्य देशो के बैंक अपने साधनो का एक महत्वपूर्ण भाग व्यापारिक बिलो में लगा कर रखते है। हमारे देश मे व्यापारिक विनिमय-पत्रों की कमी के कारण मुद्रा बाजार मे वित्तीय साधनों की कमी बनी रहती है। यह आशा की गई थी कि रिजर्व बैंक देश मे जल्दी ही एक सुव्यवस्थित एवं विस्तृत बिल बाजार की स्थापना

करेगा किन्तु रिजर्व बैंक को बिल बाजार का विकास करने मे अभी तक कोई विशेष सफलता नहीं मिली है।

(५) मुद्रा बाजार मे धन का अभाव (Paucity of Funds)—भारतीय मुद्रा बाजार मे धन की कमी रहती है, जिसके कारण व्यापार तथा उद्योग-धन्धों को पर्याप्त मात्रा मे पूँजी नहीं मिल पाती है। धन के अभाव के मुख्य कारण, देश मे बचत की मात्रा का कम होना, बैंकों का अपर्याप्त विकास, विनियोग के साधनो की कमी, बैंकों के प्रति विश्वास का कम होना तथा लोगो मे बैंकिंग की आदत का न होना इत्यादि हैं। हमारे देश के अधिकांश लोगो मे बैंकिंग की आदत नहीं है और वे अपने धन को संग्रह (Hoard) करके रखना अधिक पसन्द करते हैं जिसके कारण उनकी बचत विनियोग के लिए उपलब्ध नहीं होती है। विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों मे तो इस प्रकार की संस्थाओं का बहुत अधिक अभाव है, जो ग्रामीण जनता की बचत को एकत्रित करके विनियोगों के लिए उपलब्ध कर सकें। अब हमारे ग्रामीण क्षेत्र की बचत का बहुत कम भाग ही मुद्रा बाजार मे आता है, जिसके कारण मुद्रा बाजार में धन का अभाव रहता है। किन्तु पिछले कुछ वर्षों मे इस स्थिति मे सन्तोषजनक परिवर्तन हुए है और अब मुद्रा बाजार में पूँजी की पूर्ति बहुत अधिक बढ गई है। देश मे आय तथा बचत मे वृद्धि, सरकार की सुलभ मुद्रा (Cheap Money) की नीति, बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं आदि का विकास इस स्थिति मे परिवर्तन के लिए जिम्मेदार हैं।

(६) बैंकिंग सुविधाओं की सामान्य कमी (Scarcity of Banking Facilities)—हमारे देश मे जनसंख्या की तुलना मे बैंकिंग सुविधाएँ बहुत कम हैं। विशेषतया ग्रामीण क्षेत्रों मे तो लोग प्राय बैंकिंग से अपरिचित हैं। भारतवर्ष मे बैंकों की कमी इस बात मे प्रमाणित होती है कि हमारे देश मे १ लाख ३० हजार व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है जबकि अमेरिका मे केवल ३७३७ व्यक्तियों के पीछे एक है। इससे विदित होता है कि हमारा देश बैंकिंग की दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। क्योंकि बैंक आधुनिक मुद्रा बाजार के विशेष अङ्ग होते हैं बैंकों के अपर्याप्त विकास के कारण हमारा मुद्रा बाजार भी पूर्णतया विकसित नहीं हो पाया है। बैंकों के अभाव के कारण हमारे देश मे न तो बचत को प्रोत्साहन मिलता है और न समाज की समस्त बचत ही एकत्रित हो पाती है, जिसके कारण अधिकांश बचत निष्क्रिय रहती है और उसे विनियोगों के लिए काम मे नहीं लाया जा सकता है।

(७) देशी बैंकर्स तथा महाजनों की अधिकता (Abundance of Money Lenders)—अभी भी भारतीय मुद्रा बाजार मे देशी बैंकर्स का महत्वपूर्ण स्थान है। ग्रामीण क्षेत्रों मे अधिकांश कृषि वित्त की व्यवस्था महाजन ही करते हैं। हमारे देश मे देशी बैंकर्स तथा महाजनो की संख्या बहुत अधिक है और उन पर रिजर्व

बैंक का किसी प्रकार का नियन्त्रण नही है जिसके कारण मुद्रा बाजार के अनेक दोषो का उत्तरदायित्व उन पर आता है। यद्यपि देश मे आधुनिक बैंको का विकास हुआ है किन्तु वे अभी तक मुद्रा बाजार मे देशी बैंकर्स तथा महाजनो के प्रभाव को कम नही कर सके है। देशी बैंकर्स तथा आधुनिक बैंको मे किसी प्रकार का सम्बन्ध नही रहता है, जिसके कारण ये साहूकार तथा महाजन अपनी कार्यवाहियो से समय-समय पर मुद्रा बाजार को काफी अस्त-व्यस्त कर देते है।

मुद्रा बाजार के दोषो को दूर करने के उपाय (Suggestions for Reform)—

मुद्रा बाजार के उपर्युक्त दोषो को दूर करने के लिए पिछले कुछ वर्षों मे काफी प्रयत्न किये गये हैं किन्तु इस दिशा मे अधिक सफलता नही मिल सकी है। रिजर्व बैंक की स्थापना तथा उसके राष्ट्रीयकरण के पश्चात् और सन् १९४९ के बैंकिग कम्पनीज अधिनियम के परिणामस्वरूप भारतीय मुद्रा बाजार के दोष बहुत कुछ दूर हो गये है किन्तु अभी तक रिजर्व बैंक हमारे देश के मुद्रा बाजार को सुसगठित नही कर सका है। सगठन की दृष्टि से आज भी भारतीय मुद्रा बाजार अत्यन्त दोषपूर्ण है क्योकि रिजर्व बैंक देशी बैंकर्स के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित नही कर सका है। ऐसी दशा मे भारतीय मुद्रा बाजार का एक बहुत बडा भाग अनियन्त्रित तथा अव्यवस्थित है। देशी बैंकर्स पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त करके तथा देश मे बैंकिग सुविधाओं के अधिक विकास के द्वारा ही मुद्रा बाजार के आधारभूत दोषो को दूर किया जा सकता है। समय-समय पर विभिन्न कमीशनो तथा जाँच समितियो ने मुद्रा बाजार के दोषो को दूर करने के सुझाव दिये हैं जिनमे से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं—

(१) भण्डार-गृहों का निर्माण (Construction of Licensed Warehouses)—भारतवर्ष मे अन्य देशो की भाँति ऐसे विश्वसनीय भण्डार-गृह नही है जिनमे लोग अपना सामान रखकर उनके प्रमाण-पत्रो के आधार पर बैंको से ऋण ले सके। माल की आड पर ऋण देने मे बैंको को विशेष कठिनाई होती है क्योकि उनके पास अपने भण्डार-गृह नही हैं तथा अन्य भण्डार-गृहो पर विश्वास नही किया जा सकता है। अतः यह आवश्यक है कि बैंको तथा अन्य सस्थाओं के द्वारा लाइसेंसदार भण्डार-गृहो का निर्माण किया जाय। केन्द्रीय बैंक तथा राज्य सरकारो को इस प्रकार के भण्डार-गृहो को स्थापित करने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए जिससे बैंक इन भडार-गृहो मे रखी हुई वस्तुओ पर ऋण दे सकें। पिछले कुछ वर्षों मे सरकार ने देश मे भडार-गृहो के निर्माण को प्रोत्साहन देने के लिए एक केन्द्रीय भडार-गृह निगम (Central Warehousing Corporation) स्थापित की है। इस प्रकार की निगमे (Corporations) राज्य सरकारो के द्वारा भी स्थापित की गई हैं।

(२) बिलों को फिर से भुनाने की सुविधाओं का विकास (Increased Rediscounting Facilities)—बिलों के प्रयोग को प्रोत्साहित करने के लिए यह आवश्यक है कि देश में बिलों को दोबारा भुनाने की सुविधाओं का विकास किया जाये। इस प्रकार की सुविधायें प्राय केन्द्रीय बैंक के द्वारा दी जाती है। हमारे देश मे रिजर्व बैंक अभी तक सीमित मात्रा में ही इस प्रकार की सुविधायें दे सका है क्योंकि उसके द्वारा केवल विशेष श्रेणी के बिलो को ही दोबारा भुनाया जाता है। मुद्रा बाजार का पूर्ण विकास करने के लिए बिलों को फिर से भुनाने तथा मुद्दती हुण्डियों व माल-पत्रों के आधार पर ऋण देन की सुविधाओं का विस्तार किया जाना चाहिए।

(३) हुण्डियों का प्रमाणीकरण (Standardisation of Hundies)—हमारे देश मे हुण्डियों का बाजार प्राय. स्थानीय होता है। अधिकाश हुण्डियाँ क्षेत्रीय भाषाओं में लिखी जाती है तथा उनकी लेखन-विधि भी भिन्न-भिन्न होती है जिसके कारण हुण्डियों का अखिल भारतीय बाजार स्थापित नहीं किया जा सका है। हुण्डियों के प्रयोग को प्रोत्साहन देने के लिए उनकी भाषा रूप तथा लेखन-विधि का प्रमाणीकरण किया जाना चाहिए। अधिकाश हुण्डियाँ एक ही ढग से लिखी जायें तो उनके समझने मे समय की बचत होगी तथा बैंक उनके आधार पर सरलतापूर्वक ऋण दे सकेंगे।

(४) धन हस्तान्तरण की सुविधाओं का विकास (Increased Remittance Facilities)—अच्छे मुद्रा बाजार मे एक स्थान से दूसरे स्थान को धन हस्तान्तरण की सस्ती सुविधाओं का होना आवश्यक है। रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व हमारे देश मे इस प्रकार की सुविधाओं का अभाव था किन्तु अब रिजर्व बैंक अन्य बैंको के धन को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने की सुविधायें देता है। रिजर्व बैंक को देशी बैंकर्स तथा महाजनों आदि के धन को हस्तान्तरित करने की सुविधायें भी देनी चाहिएं तथा डाकखाने के द्वारा धन हस्तान्तरण की दरों को कम किया जाना चाहिए जिससे ग्रामीणों को लाभ पहुँच सके।

(५) देशी बैंकर्स पर नियन्त्रण (*Control of Indigenous Bankers*)—भारतीय मुद्रा बाजार की आधारभूत कमी को दूर करने के लिए देशी बैंकर्स तथा रिजर्व बैंक मे सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए और उन पर रिजर्व बैंक का पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए। अन्य बैंकों की भाँति देशी बैंकर्स को भी रिजर्व बैंक से ऋण सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार की सुविधायें मिलनी चाहिएँ और उन्हें रिजर्व बैंक के आदेशानुसार तथा उसके नियन्त्रण मे रह कर कार्य करना चाहिए। ऐसा करने से ही हमारे मुद्रा बाजार को सुसंगठित किया जा सकेगा। इस समय देशी बैंकर्स पर रिजर्व बैंक का कोई नियन्त्रण नही है और वे मनमाने ढङ्ग से अपना व्यवसाय करते हैं जिससे मुद्रा बाजार मे अनेक दोष उत्पन्न हो गये हैं। इन दोषो

को दूर करने के लिए देशी बैंकर्स का रजिस्ट्रेशन किया जाना चाहिए और उनकी कार्य-विधि पर रिजर्व बैंक का सक्रिय नियन्त्रण होना चाहिए।

(६) समाशोधन-गृहों का पुनर्संगठन (Reorganisation of Clearing Houses)—प्रत्येक राज्य मे बिलो के भुगतान के लिए निकासी-गृहो की स्थापना की जानी चाहिए तथा वर्तमान निकासी-गृहो की कार्य-विधि मे सुधार किया जाना चाहिए। भारतवर्ष मे समाशोधन गृहो की काफी कमी है तथा उनकी कार्य-प्रणाली बहुत पिछड़ी हुई दशा मे है। मुद्रा बाजार के विकास के लिए हमारे देश मे यूरोपीय ढग पर समाशोधन-गृहो का निर्माण किया जाना चाहिए तथा इस प्रकार की सुविधाओ का विस्तार किया जाना चाहिए।

(७) अखिल भारतीय बैंकर्स सघ के कार्यों का विस्तार (Expansion of the Activities of All India Bankers' Association)—सन् १६२६ की केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने यह सुझाव दिया था कि भारतवर्ष मे एक अखिल भारतीय बैंकर्स सघ (All India Bankers' Association) स्थापित की जानी चाहिए जो विभिन्न प्रकार के बैंकर्स के हितो का प्रतिनिधित्व कर सके तथा उनकी कार्य-प्रणाली में सुधार करने मे सहयोग दे सके। इस प्रकार के सघ के द्वारा बैंकर्स अपनी कठिनाइयो तथा सुझावो को सरकार के सम्मुख रख सकेंगे और उन्हे मिल कर काम करने का अवसर मिलेगा। सन् १६४६ मे बम्बई मे इस प्रकार का एक सघ स्थापित किया गया था किन्तु इस सघ के कार्यो का अधिक विस्तार नही हो सका है। अतः यह आवश्यक है कि अखिल भारतीय बैंकर्स सघ को एक सक्रिय सस्था बनाई जाय और उसके कार्यों का विस्तार किया जाये। यह सस्था मुद्रा बाजार के दोषो को दूर करने मे सरकार की बहुत सहायता कर सकती है।

भारत में बिल बाजार
(Bill Market in India)

भारतवर्ष मे अभी तक एक विकसित तथा सुसगठित बिल बाजार का अभाव है। यद्यपि लोगो के द्वारा बिलो तथा हुण्डियों का प्रयोग काफी प्राचीन समय से किया जाता है किन्तु फिर भी उनके क्रय-विक्रय के लिए सुव्यवस्थित बाजार अभी तक स्थापित नही किया जा सका है। रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व इम्पीरियल बैंक व्यापारिक बैंको तथा देशी बैंकर्स की हुण्डियो को भुनाने के कार्य करता था। किन्तु भारतीय बैंक आरम्भ से ही हुण्डियो को भुनाने की अपेक्षा केन्द्रीय बैंक से ऋण अथवा अग्रिम लेना अधिक पसन्द करते रहे हैं क्योकि इस प्रकार के ऋणो का वे जब चाहे भुगतान कर सकते है। व्यापारिक बैंको की इस मनोवृत्ति के कारण बिल बाजार का विस्तृत विकास नही हो सका है। बैंक स्वयं तो अपने ग्राहको के बिलो को भुनाने का कार्य करते हैं किन्तु इन बिलो को दोबारा भुनाने के लिए वे बहुत कम केन्द्रीय बैंक के पास जाते है। इस समय देश मे जो भी बिल बाजार है

वह सन् १९५३ के पश्चात् रिजर्व बैंक के द्वारा विकसित किया गया है। भारत में विस्तृत एवं सुसंगठित बिल बाजार का विकास न होने के निम्नलिखित कारण हैं—

(i) ऋणों का नक्द साख (Cash Credit) के रूप में दिया जाना—हमारे देश में बैंकों के द्वारा दिये जाने वाले अधिकांश ऋण नक्द साख के रूप में होते हैं क्योंकि इस प्रकार के ऋणों में ऋणी तथा ऋणदाता दोनों को ही लाभ रहता है। ऋणी को यह लाभ रहता है कि उसे केवल उतनी ही रकम पर ब्याज देना होता है जितनी कि वह प्रयोग में लाता है और ऋणदाता को यह स्वतन्त्रता रहती है कि वह जब चाहे अपनी साख को वापस ले सकता है।

(ii) बैंकों के द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग को प्राथमिकता देना—आरम्भ काल से ही भारतीय बैंकों ने सरकारी प्रतिभूतियों को अन्य प्रकार के विनियोगों पर प्राथमिकता दी है क्योंकि उन्हें अन्य देशों की अपेक्षा अधिक तरलता (Liquidity) को बनाये रखना पड़ता है। बैंक सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग करने को इसलिए अच्छा मानते हैं क्योंकि इनमें लगे हुए साधन अधिक तरल रहते हैं तथा इस प्रकार के विनियोग पर उन्हें लाभ भी अच्छा मिल जाता है। किन्तु अब इस स्थिति में परिवर्तन हो गया है और बैंक अधिक लाभ के कारण व्यापारिक बिलों में भी रुपया लगाना पसन्द करने लगे हैं।

(iii) बिलों के फिर से भुनाये जाने की सुविधाओं का अभाव—रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व भारतवर्ष में कोई ऐसी संस्था नहीं थी जो बैंकों के द्वारा भुनाये गये बिलों को दोबारा भुनाने का कार्य कर सके। यद्यपि इम्पीरियल बैंक इस कार्य को किया करता था किन्तु अन्य बैंक विश्वास का अभाव होने के कारण इन सुविधाओं का प्रयोग नहीं करते थे। तत्पश्चात् रिजर्व बैंक ने बिलों को फिर से भुनाने का कार्य ले लिया किन्तु वह भी इस प्रकार की सुविधायें केवल सीमित मात्रा में ही दे सका है।

(iv) व्यापारिक बैंक रिजर्व बैंक से प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण लेना अधिक अच्छा समझते हैं—व्यापारिक बैंक बिलों को फिर से भुनाने की अपेक्षा प्रतिभूतियों पर ऋण लेना अधिक अच्छा मानते हैं क्योंकि मुद्रा बाजार में किसी बैंक के द्वारा बिलों के फिर से भुनाये जाने को उसकी कमजोरी समझा जाता है। अतः बैंक इस प्रकार की जोखिम को लेने के लिए तैयार नहीं होते हैं। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक केवल स्वीकृत बिलों को ही भुनाता है किन्तु इस प्रकार के बिलों को निश्चित करने की विधि नहीं बतलाता है जिसके कारण बिलों को भुनाने में बैंकों को जोखिम रहती है।

(v) स्वीकृति-गृहों (Acceptance Houses) का अभाव—व्यापारिक बिलों के सम्बन्ध में एक विशेष कठिनाई यह होती है कि उन पर हस्ताक्षर करने वालों की आर्थिक स्थिति की जाँच करना बड़ा कठिन रहता है। भारतवर्ष में निर्गमन-गृहों

(Issue Houses) तथा स्वीकृति-गृहो (Acceptance Houses) जैसी वित्तीय संस्थायें भी नही है जो बिलो को स्वीकार (Accept) करके लिखने वालो की आर्थिक स्थिति का सही ज्ञान दे सके। इन कठिनाइयो के कारण बैंक बिलो को भुनाने मे सकोच करते है।

(vi) हुण्डियों का स्थानीय रूप—भारतवर्ष मे हुण्डियां विभिन्न प्रान्तीय भाषाओ मे लिखी जाती है तथा उनको लिखने की विधि मे भी बहुत भिन्नता पाई जाती है जिसके कारण इन हुण्डियो का बाजार प्राय स्थानीय होता है और देश के एक भाग मे लिखी गई हुडियो का प्रयोग दूसरे भाग मे नही किया जा सकता है। हुडियो का प्रमाणीकरण (Standardisation) न होने के कारण अभी तक हमारे देश मे हुडियो का अखिल भारतीय बाजार स्थापित नही हो सका है।

(vii) कोषागार विपत्रों (Treasury Bills) का विस्तार—काफी लम्बे काल मे हमारी केन्द्रीय तथा राज्य सरकारे अपनी वित्तीय आवश्यकताओ को कोषागार विपत्रो से पूरा करती रही है जिसके कारण हमारे देश मे इस प्रकार के विपत्रो का प्रचलन बहुत अधिक रहा है। व्यापारिक बैंक अधिक सुरक्षा के कारण कोषागार विपत्रो मे विनियोग करना अधिक पसन्द करते है जिसके कारण व्यापारिक बिलो के प्रयोग को प्रोत्साहन नही दिया जा सका है।

(viii) स्टाम्प-कर (Stamp Duty) का अधिक होना—बहुत काफी समय से हमारे देश मे स्टाम्प-कर (Stamp Duty) की दर अधिक ऊँची रही है जिसके कारण बिलो का हस्तान्तरण लाभपूर्ण नही रहता है। सन् १६४० के पश्चात् बिलो के प्रयोग को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार ने स्टाम्प-कर मे कुछ कमी की है।

भारत मे बिल बाजार के विकास के लिए सुझाव
(Suggestions for Developing Bill Market in India)—

सन् १६२६ मे केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (Central Banking Enquiry Committee) ने भारतवर्ष मे बिल बाजार के विकास पर विशेष जोर दिया। समिति का यह विचार था कि बिल बाजार के बिना किसी देश को बैंकिंग व्यवस्था को पूर्णतया विकसित नही किया जा सकता है। अत इस समिति ने देश मे बिल बाजार का विकास करने के लिए बहुत-से सुझाव दिये जो इस प्रकार है—

(१) देश मे केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जानी चाहिए। इस समिति के सुझाव पर १६३५ मे रिजर्व बैंक की स्थापना की गई जो केन्द्रीय बैंक के कार्यों को सुचारू रूप से कर रहा है।

(२) बैंको को व्यापारियो की आर्थिक स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए। इस प्रकार का ज्ञान होने से ही उनका विश्वास अपने ग्राहको मे स्थापित हो सकेगा और वे उनके द्वारा लिखे गये बिलों को स्वीकार कर सकेंगे। देश मे ऐसी

संस्थायें स्थापित की जानी चाहिएँ जो व्यापारिक बिलों को स्वीकार करके बैंकों को व्यापारियों की आर्थिक स्थिति का ज्ञान करा सकें।

(३) कटौती दर (Discount Rate) कम होनी चाहिए। समिति का विचार था कि बिलों की कटौती दर को कम करके ही उनके प्रयोग को बढ़ाया जा सकता है।

(४) बिलों पर स्टाम्प-कर (Stamp Duty) कम होना चाहिए जिससे उनका हस्तान्तरण कम व्यय पर किया जा सके। सन् १९४० में स्टाम्प-कर में इस प्रकार की कमी की गई।

(५) बिलों में एकरूपता लाने के लिए उनकी भाषा तथा लेखन-विधि की भिन्नताओं को दूर किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में हुंडियों का प्रमाणीकरण भी आवश्यक है।

(६) समाशोधन गृहों (Clearance Houses) की स्थापना की जानी चाहिए। प्रत्येक राज्य में बिलों के भुगतान के लिए समाशोधन-गृह स्थापित किये जाने चाहिएँ।

(७) कृषि सम्बन्धी वस्तुओं की जमानत पर लिखे गये बिलों को प्रचलित करना चाहिए। खड़ी फसलों की आड़ पर लिखे हुए बिलों को स्वीकार किया जाना चाहिए तथा उनके आधार पर ऋण देने की व्यवस्था भी होनी चाहिए।

रिजर्व बैंक की बिल बाजार योजना
(Bill Market Scheme of the Reserve Bank)—

केन्द्रीय जाँच समिति के इन सुझावों में से कुछ एक को कार्य-रूप में लाने का प्रयत्न किया गया जिससे स्थिति में कुछ सुधार हुआ किन्तु बिल बाजार के विकास के लिए उपयुक्त दशाएं उत्पन्न न की जा सकीं। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् भी देश में बिल बाजार स्थापित नहीं हुआ क्योंकि इस सम्बन्ध में आधारभूत कठिनाइयों को दूर करने में अधिक सफलता नहीं मिली है। रिजर्व बैंक ने मुद्रा बाजार के दोषों को दूर करने तथा देश में बिल बाजार का विकास करने के लिए भरसक प्रयत्न किया है और समय-समय पर ऐसे सुझाव दिये हैं जिनके द्वारा बिल बाजार का विकास किया जा सके किन्तु उसे इस सम्बन्ध में सीमित सफलता ही मिल सकी है। जनवरी सन् १९५२ में रिजर्व बैंक ने अपनी बिल बाजार के विकास सम्बन्धी योजना को क्रियात्मक रूप दिया और बिलों के प्रयोग को प्रोत्साहित करने के लिए विभिन्न सुविधायें दी गईं।

रिजर्व बैंक अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को अनुसूचीबद्ध बैंकों (Scheduled Banks) के व्यापारिक बिलों के आधार पर ऋण देने का अधिकार है किन्तु यह बिल ९० दिन से अधिक अवधि के होने चाहिएँ और इन पर दो विश्वसनीय हस्ताक्षर होने चाहिएँ। अनुसूचित बैंक, इस अधिनियम के अन्तर्गत,

दर्शनी बिलो (Demand Bills) पर अग्रिम प्राप्त करने के अधिकारी नही हैं। ऐसा करने के लिए उन्हे अपने ग्राहको के दर्शनी बिलो तथा प्रतिज्ञा-पत्रो को ऐसे बिलो मे परिवर्तित करना पडता है जो ६० दिन की अवधि के भीतर परिपक्व होने वाले हो। रिजर्व बैंक ने अपनी बिल बाजार योजना के अन्तर्गत इस असुविधा को दूर करने का प्रयत्न किया है तथा सावधि बिलो (Time Bills) पर अग्रिम देने की ब्याज की दर को कम किया है। इस योजना के अन्तर्गत बिल बाजार को विकसित करने के लिए रिजर्व बैंक ने व्यापारिक बैंको को निम्नलिखित सुविधाएँ दी है—

(i) बिल बाजार का तेजी के साथ विकास करने के लिए रिजर्व बैंक ने बैंको को सावधि बिल (Time Bills) पर बैंक दर से ½% कम सूद की दर पर ऋण देने की सुविधायें प्रदान की यद्यपि बैंक अपनी इच्छानुसार इस दर को बढा सकता था।

(ii) बिल बाजार को प्रोत्साहित करने के लिए रिजर्व बैंक ने माग बिलो (Demand Bills) को सावधि बिलो (Time Bills) मे परिवर्तित करने पर आने वाले मुद्राक व्यय (Stamp Duty) के आधे को स्वय देना स्वीकार किया।

(iii) रिजर्व बैंक ने बैंको के द्वारा बिलो की आड पर लिए जाने वाले ऋणो की न्यूनतम सीमा २५ लाख रुपया निश्चित की जिसमे से कोई भी व्यक्तिगत बिल १ लाख रुपये के मूल्य स कम नही होना चाहिए।

आरम्भ मे इस योजना को केवल उन अनुसूचीबद्ध बैंको (Scheduled Banks) तक ही सीमित रक्खा गया जिनकी जमा १० करोड रुपया या उससे अधिक थी किन्तु सन् १९५४ मे योजना को अधिक विस्तृत कर दिया गया और उसके अन्तर्गत सब अनुसूचीबद्ध बैंको को सम्मिलित कर लिया गया। जुलाई सन् १९५४ से रिजर्व बैंक ने बैंको की ऋण सम्बधी न्यूनतम सीमा को घटाकर १० लाख रुपया कर दिया तथा व्यक्तिगत बिल की राशि को घटाकर ५० हजार रुपये कर दिया गया। सन् १९५६ मे इस योजना मे एक सशोधन किया गया जिसके अनुसार अब रिजर्व बैंक की बिलो के आधार पर ऋण देने की दर बैंक दर से केवल ¼% कम रखी गई तथा स्टाम्प-कर सम्बन्धी सहायता को भी हटा लिया गया। इसके पश्चात् २१ नवम्बर १९५६ से बिलो पर अग्रिम देने की दर को बढा कर बैंक दर के बराबर अथवा ३½% कर दिया गया। १६ मई सन् १९५७ से बैंक दर ४% हो जाने के कारण व्यापारिक बैंको के द्वारा अग्रिम प्राप्त करने की दर भी इसके बराबर हो गई। इसके पश्चात् बैंक दर मे होने वाली प्रत्येक वृद्धि के साथ-साथ बिलो पर दिये जाने वाले अग्रिमो की ब्याज की दर भी बढती रही है। १७ फरवरी १९६५ से बैंक दर बढ कर ६% हो गई है जिसके परिणामस्वरूप बिलों पर दिये जाने वाले अग्रिमों की ब्याज की दर भी उसके बराबर हो गई है।

अक्तूबर सन् १९५८ से निर्यात बिलो (Export Bills) को भी इस योजना के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया गया है। अक्तूबर १९५९ मे इस योजना मे कुछ

और संशोधन किये गये। प्रत्येक अग्रिम की सीमा को घटाकर १ लाख रुपया तथा प्रत्येक बिल पर दिये जाने वाले ऋण की सीमा १०,००० रुपये निश्चित कर दी गई। इसके साथ ही रिजर्व बैंक ने यह भी निश्चय किया कि अग्रिमो की आड के लिए प्रस्तुत किये जाने वाले बिलो पर लगने वाले समस्त स्टाम्प-कर (Stamp Duty) को वह स्वयं सहन करेगा।

बिल बाजार योजना की प्रगति (Progress of Bill Market Scheme)—

रिजर्व बैंक की बिल बाजार योजना को अच्छी सफलता मिली है और योजना के पहले चार वर्षों मे ही भाग लेने वाले बैंको की संख्या २७ से बढ़ कर ४५ हो गई। बैंको के द्वारा बिलो की आड पर लिए जाने वाले ऋणो की मात्रा भी निरन्तर बढ़ती रही है। सन् १९५२ मे इस प्रकार के अग्रिमो की राशि ८१ करोड रुपये थी जो सन् १९५५ म बढ़कर २२५ करोड रुपये हो गई। सन् १९५६ मे इन अग्रिमो की राशि ४३९ ८१ करोड रुपये थी। इस वर्ष के पश्चात् अग्रिमो की मात्रा कम होने लगी और सन् १९५९ मे केवल ८३ २२ करोड रुपये रह गई। सन् १९६०–६१ म यह राशि बढ़कर फिर २२५·८९ करोड रुपये हो गई। यह प्रगति इस बात का प्रतीक है कि रिजर्व बैंक के द्वारा दी जाने वाली सुविधाओं का व्यापारिक बैंको ने स्वतन्त्रता से प्रयोग किया है।

बिल बाजार योजना के कार्यरूप मे आने से भारतीय मुद्रा बाजार मे लोच का गुण उत्पन्न हो गया है। इस सफलता के होते हुये भी अभी तक एक स्थायी बिल बाजार स्थापित नही हो सका है। बिलो का प्रयोग केवल बाजार मे सामयिक धन की कमी को पूरा करने के लिए ही किया जाता है और वह अभी तक व्यवसाय, उद्योग तथा कृषि की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने का स्थायी साधन नहीं बन सके हैं। *यद्यपि रिजर्व बैंक की बिल बाजार का विकास करने की योजना सही* दिशा मे एक कदम है किन्तु रिजर्व बैंक को बिलो के प्रयोग को प्रोत्साहन देने के लिए अधिक प्रभावशाली कार्य करना चाहिए तथा इस योजना के दोषो को दूर करने के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए।

बिल बाजार योजना के दोष (Defects of the Bill Market Scheme)—

लगभग १२ वर्ष प्रयत्न करने के पश्चात् भी रिजर्व बैंक देश मे एक विस्तृत एवं सुसगठित बिल बाजार का विकास करने मे सफल नही हो सका है। यह इस बात का प्रमाण है कि उसकी बिल बाजार योजना मे कुछ ऐसे दोष है जिनके कारण उसे अधिक सफलता नही मिली है। इन दोषो को दूर करके ही इस दिशा मे अधिक सफलता प्राप्त की जा सकती है। रिजर्व बैंक की बिल बाजार योजना मे निम्न-लिखित दोष पाये जाते हैं—

(१) देशी बैंकर्स के द्वारा लिखी गई हुण्डियो को इस योजना मे सम्मिलित नहीं किया गया है। यह योजना केवल व्यापारिक बैंको की बिलो के आधार पर

अग्रिम देने की व्यवस्था करती है। जब तक देशी बैंकर्स की हुण्डियों को योजना के क्षेत्र में नहीं लाया जायेगा तब तक देश में उचित बिल बाजार का विकास सम्भव नहीं है। अनुसूचित बैंकों को हुण्डियाँ स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए तथा उन्हें रिजर्व बैंक के पास दुबारा भुनाने (Rediscounting) की सुविधाएँ भी होनी चाहिएँ। ऐसा करने से ही बिल बाजार का आधार विस्तृत किया जा सकता है।

(२) इस योजना के द्वारा बिल बाजार का विकास नहीं हो रहा है क्योंकि वह केवल व्यापारिक बैंकों को रिजर्व बैंक से ऋण दिलाने की व्यवस्था करती है। बिल बाजार के विकास की वास्तविक योजना का उद्देश्य व्यापारिक बिलों में एक-रूपता लाना, उन पर किये जाने वाले सौदों को सुविधापूर्ण बनाना तथा बिलों के प्रयोग को प्रत्येक क्षेत्र में प्रोत्साहित करना होना चाहिए।

(३) व्यापारिक बैंकों को इस योजना से लाभ उठाने के लिए अपने दर्शनी बिलों (Sight Bills) को मुद्दती बिलों (Time Bills) में बदलना होता है जो असुविधापूर्ण होने के साथ-साथ अनार्थिक भी है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए विशेष प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(४) रिजर्व बैंक के द्वारा बिलों पर अग्रिम देते समय व्यापारिक बैंक के व्यवसाय की प्रकृति की जाँच करना अनावश्यक प्रतीत होता है। प्रतिभूति की जाँच करने के पश्चात् बैंक को उस पर ऋण मिल जाना चाहिए। रिजर्व बैंक का ऋण लेने वाले बैंक के व्यवसाय की प्रकृति ठीक न होने के आधार पर उसके बिलों को भुनाने से इंकार उचित प्रतीत नहीं होता है। इस प्रकार के प्रतिबन्धों को हटाकर ही बिलों के प्रयोग को प्रोत्साहित किया जा सकता है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) द्रव्य बाजार के क्या कार्य हैं? क्या भारतीय द्रव्य बाजार उन सब कार्यों को सन्तोषजनक रूप से करता है? **(आगरा बी० ए० १९६४)**

(२) भारतीय मुद्रा बाजार के अंग कौन से हैं? भारतीय मुद्रा बाजार के दोषों को समझाइये। **(आगरा बी० ए० १९६२)**

(३) भारतीय मुद्रा बाजार की विशेषताओं का वर्णन करें। इसके दोषों पर दृष्टिपात करें। **(आगरा बी० ए० १९६०)**

(४) भारतीय मुद्रा बाजार के मुख्य-मुख्य अंगों को बताइये। उद्योग एवं व्यापार की वित्त-व्यवस्था करने में उनका क्या महत्व है? **(आगरा बी० ए० १९५५)**

(५) भारत में बिल बाजार के न होने के क्या कारण हैं? फरवरी, १९५२ से इस सम्बन्ध मे क्या किया गया है? (आगरा बी० काम १९६२)

(६) भारतीय मुद्रा बाजार के मुख्य अग कौन-कौन से हैं? रिजर्व बेंक उन पर नियन्त्रण किस प्रकार करता है? (आगरा बी० कॉम० १९५५ स)

(७) भारत मे बिल बाजार विकसित करने के लिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के आधुनिक प्रयत्नों पर प्रकाश डालिये। ऐसे बाजार के विकसित होने से देश मे मौद्रिक व्यवस्था करने में क्या सुविधा हो जायेगी? (गोरखपुर बी० कॉम १९५६)

(८) भारतीय मुद्रा बाजार की वर्तमान दशा की विवेचना करिये। इसके सुधार के लिए आपके क्या सुझाव हैं? (बिहार बी० काम १९५६)

(९) भारतीय मुद्रा बाजार की मुख्य विशेषताओं को बतलाइये। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् मुद्रा बाजार के दोषों को कहाँ तक दूर किया जा सक है? (राजस्थान बी० काम १९५६)

(१०) आर्थिक विकास के साधन के रूप में एक सुसगठित बिल बाजार के महत्त्व को बतलाइये। भारत में बिल बाजार के न होने के क्या कारण हैं? पिछले कुछ वर्षों मे इस सम्बन्ध मे क्या किया गया है? (राजस्थान बी० काम १९५९)

२१

भारतीय बैंकिंग व्यवस्था

INDIAN BANKING SYSTEM

भारतीय बैंकिंग व्यवस्था में मुख्यतया रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, भारतीय मिश्रित पूँजी वाले बैंक, विदेशी विनिमय बैंक, सहकारी तथा भूमि बन्धक बैंक और देशी बैंकर्स सम्मिलित किये जाते हैं। रिजर्व बैंक देश का केन्द्रीय बैंक है और समस्त बैंकिंग व्यवस्था को ठीक प्रकार से चलाने तथा उस पर उचित नियन्त्रण रखने का उत्तरदायित्व इसी बैंक पर है। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया कुछ वर्ष हुये इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके स्थापित किया गया है। यह बैंक राज्य बैंक है किन्तु साधारण व्यापारिक बैंकों की भाँति ही कार्य करता है। इस बैंक को स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य कृषि विकास में सरकार की साझेदारी की योजना को कार्य-रूप में लाना था। मिश्रित पूँजी वाले बैंक हमारी बैंकिंग व्यवस्था का मुख्य अंग हैं और वे देश में सामान्यत व्यापारिक बैंकों का कार्य करते है। विदेशी विनिमय बैंक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी भुगतानों को निपटाने तथा विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय का कार्य करते हैं। सहकारी बैंक तथा भूमि बन्धक बैंक कृषि क्षेत्र में कार्य करने वाली बैंकिंग संस्थायें हैं जिनका मुख्य उद्देश्य किसानो को उचित ब्याज की दर पर अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋण देना है। देशी बैंकर्स यद्यपि कृषि अर्थ-व्यवस्था में महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली स्थान रखते हैं किन्तु वे हमारी बैंकिंग व्यवस्था की सबसे बडी कमजोरी हैं और उनके सुधार तथा नियन्त्रण के द्वारा ही हम अपनी बैंकिंग व्यवस्था को सुसंगठित तथा प्रगतिशील बना सकेंगे। यद्यपि कुछ अन्य प्रकार के बैंक भी हमारे देश में है, किन्तु उपर्युक्त सभी प्रकार के बैंक मिलकर हमारी बैंकिंग व्यवस्था को पूर्ण कर देते हैं।

भारतवर्ष की वर्तमान बैंकिंग व्यवस्था यद्यपि काफी विकसित है किन्तु उसे पूर्णतया सुसंगठित नही कहा जा सकता है। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् भारतीय बैंकिंग व्यवस्था में महत्वपूर्ण सुधार हुये हैं और उसके बहुत से दोषो को दूर कर दिया गया है किन्तु अभी भी हमारे मुद्रा बाजार में कुछ ऐसे दोष हैं जिन्हें दूर करने में रिजर्व बैंक को सफलता नही मिली है। मुख्यतया देशी बैंकर्स रिजर्व

बैंक के नियन्त्रण से बिल्कुल बाहर हैं और अपने मनमाने ढंग पर बैंकिंग का व्यवसाय चलाते हैं। इन बैंकर्स पर सप्रभावी नियन्त्रण के द्वारा ही भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के दोषों को दूर किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त भी हमारी बैंकिंग व्यवस्था में कुछ अन्य दोष हैं जिनके कारण भारतीय बैंक देश के आर्थिक विकास में उतना सहयोग नहीं दे सके हैं जितना कि उनसे आशा की गई थी।

भारत में आधुनिक बैंकों का विकास (Development of Modern Banking in India)—यद्यपि हमारे देश में बैंकिंग का कार्य काफी प्राचीन समय से होता आया है किन्तु वर्तमान बैंकों का इतिहास अधिक पुराना नहीं है। भारतवर्ष में आधुनिक बैंकिंग का विकास १८वीं शताब्दी में हुआ जबकि कलकत्ता और बम्बई के एजेन्सी गृहों (Agency Houses) ने आधुनिक बैंकिंग का कार्य आरम्भ किया। यह एजेन्सी गृह मुख्यतया अपने द्वारा प्रबन्धित व्यापार तथा उद्योगों के सम्बन्धी बैंकिंग व्यवसाय ही करते थे। सन् १८२६–३० के आर्थिक सकट के कारण एजेन्सी गृह कठिनाई में पड गये और धीरे-धीरे विलीन हो गये। व्यापारिक बैंकों का इतिहास वास्तव में प्रेसीडेन्सी बैंकों की स्थापना के साथ आरम्भ होता है। सन् १८०६ में 'बैंक ऑफ बगाल', सन् १८४० में 'बैंक ऑफ बम्बई' तथा सन् १८४३ में 'बैंक ऑफ मद्रास' की स्थापना की गई। इन बैंकों को सन् १८२३ में नोट निर्गमन का अधिकार दे दिया गया किन्तु १८६२ में सरकार ने इस अधिकार को समाप्त कर दिया। सन् १८६३ में 'अपर इण्डिया बैंक' तथा सन् १८६५ में 'इलाहाबाद बैंक' की स्थापना हुई। सन् १८८० तक व्यापार की दशायें स्थिर होने के कारण बैंकों की कोई विशेष प्रगति नहीं हो सकी। सन् १८८१ में 'अवध व्यापारिक बैंक' (Oudh Commercial Bank) की स्थापना हुई जो पूर्णतया भारतीय बैंक था। सन् १८६४ में 'पजाब नेशनल बैंक' तथा १६०१ में 'पियुपिल्स बैंक ऑफ इण्डिया' (People's Bank of India) स्थापित किया गया। सन् १६०० तक बैंकिंग की प्रगति धीमी रही किन्तु सन् १६०५ के स्वदेशी आन्दोलन ने भारतीय बैंकिंग के विकास को बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया और बैंकों की सख्या तेजी के साथ बढने लगी। पश्चिमी-भारत, पजाब तथा उत्तर प्रदेश में तो बैंकों की बाढ़-सी आ गई। सन् १६१३ तक बैंकों की सख्या तीव्र गति से बढती गई किन्तु उसके पश्चात् महान् बैंकिंग सकट के कारण बहुत से बैंक फेल हो गये। सर्वप्रथम, 'पिउपिल्स बैंक ऑफ इण्डिया' फेल हुआ और उसके साथ ही कुछ अन्य बैंक भी फेल हो गये। एक के बाद एक बैंक फेल होता गया, यहाँ तक कि थोडे ही समय में ५० बैंक फेल हो गये। बैंकों के इतनी बडी सख्या में फेल होने के कारण जनता का विश्वास बैंकों में टूट गया और उनकी प्रगति धीमी पड गई।

प्रथम महायुद्ध काल में बैंकों के विकास को फिर प्रोत्साहन मिला और नये बैंक स्थापित किये जाने लगे। बहुत से नये बैंक स्थापित किये गये किन्तु उनमें से

अधिकांश युद्ध का आघात न सह सके और युद्ध समाप्त होने से पहले ही फेल हो गये। सन् १९१३ और १९१६ के बीच ६५ बैंक फेल हो गये। युद्धोत्तर काल में कुछ नये बैंक स्थापित किये गये किन्तु १९३७ की आर्थिक मन्दी के कारण बैंकों की हालत खराब हो गई और बहुत बड़ी संख्या में बैंक फेल होने लगे। सन् १९३१ और १९३६ के बीच २३८ बैंक फेल हो गये। सन् १९३८ में भारतीय बैंक फिर कठिनाई में फँस गये यद्यपि यह बैंकिंग संकट केवल दक्षिणी भारत तक ही सीमित था। सन् १९३६ में द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ होने के कारण बैंकों को फिर प्रोत्साहन मिला और बैंकों ने अपनी शाखाओं का तेजी के साथ विस्तार करना आरम्भ कर दिया।

वैंकों के टूटने के कारण (Causes of Bank Failures)—

बैंकों का इतनी बड़ी संख्या में फेल होना इस बात का प्रमाण था कि भारतीय बैंकिंग प्रणाली में कुछ आधारभूत दोष हैं जिन्हें दूर करके ही बैंकों में स्थिरता लाई जा सकती थी। भारत में बैंकिंग संकट अनेक बार आये और बहुत बड़ी मात्रा में बैंक फेल हो गये जिसका भारतीय बैंकिंग के विकास पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा और लोगों का विश्वास बैंकों के प्रति कम हो गया। भारतवर्ष में बैंकिंग संकट आने के अनेक कारण थे जिनमें से कुछ एक तो समय विशेष के साथ सम्बन्धित थे और समय के साथ लुप्त हो गये किन्तु कुछ ऐसे भी थे जो भारतीय बैंकिंग प्रणाली के दोष के रूप में अभी तक विद्यमान हैं और किसी भी समय हमारे बैंकों को संकट में डाल सकते हैं। बैंकों के फेल होने के कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार थे।

(१) पूँजी की कमी—बहुत से बैंक पूँजी कम होने तथा स्थायित्व के अभाव के कारण फेल हो गये। फेल होने वाले बैंकों में अधिकांश बैंक ऐसे थे जिन्हें स्थापित हुये १० वर्ष से कम हुये थे तथा जिनकी पूँजी १ लाख रुपये से कम थी। इस काल में स्थापित होने वाले अधिकांश बैंकों के पास सीमित साधन रहते थे जिनके कारण उनमें संकटकालीन स्थिति को सहन करने की क्षमता बहुत कम थी। पूँजी का अभाव होने के कारण यह बैंक प्रायः जमा राशि पर निर्भर रहते थे जिसे दीर्घकालीन विनियोगों में लगाना खतरे से खाली नहीं था।

(२) अयोग्य तथा अनुभवहीन संचालक—अधिकांश बैंकों का संचालन ऐसे लोगों के हाथों में था जिन्हें बैंकिंग व्यवसाय का कुछ भी अनुभव नहीं था। स्वदेशी आन्दोलन के कारण देश में बैंकों का विकास इतनी तेजी के साथ हो रहा था कि लोगों ने इन बैंकों को धन कमाने का साधन समझ लिया था और प्रतिदिन न बैंकों की स्थापना की जाती थी जिसके परिणामस्वरूप बहुत से बैंकों का संचाल अयोग्य तथा अनुभवहीन लोगों के हाथों में आ गया और संकट काल में ऐसे बै ठप्प हो गये।

(३) बैंकों की धोखेबाजी की नीति—बहुत से बैंकों ने अधिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से धोखेबाजी की नीति को अपना लिया और अपनी वास्तवि

स्थिति को छुपा कर विनियोगियो (Investors) को धोखा देने लगे। यह बैंक अपनी अधिकृत पूँजी को बहुत बढा-चढा कर बताते थे तथा अपनी प्रार्थित पूँजी (Subscribed Capital) और चुकता—(Paid up Capital), जो प्राय. बहुत कम होती थी की सूचना जनता को नही देते थे। इस प्रकार लोगो को बैंको की कृत्रिम स्थिति का ही ज्ञान हो पाता था और उसकी वास्तविक स्थिति से वे अनभिज्ञ रहते थे। विनियोगियो को फँसाने के लिये बडे-बडे तथा प्रभावशाली लोगो के नामो के साथ उन्हे सम्बन्धित किया जाता था। कुछ बैंक झूठे हिसाब-किताब बना कर लोगो को प्रभावित करने का प्रयत्न करते थे। डायरेक्टर्स तथा उनके मित्रो को कम जमानत पर बडे-बडे ऋण दे दिये जाते थे।

(४) सट्टा व्यवसाय—बहुत से बैंको ने जल्दी तथा ऊँचे लाभ अंश की घोषणा करने के उद्देश्य से सट्टा व्यवसाय आरम्भ कर दिया जिसके कारण वे शीघ्र दिवालिया हो गये और उन्हे अपना व्यवसाय बन्द करना पडा। इण्डियन स्पीशी बैंक के फेल होने का प्रमुख कारण सोने, चादी तथा मोतियो मे सट्टेबाजी करना था। इसी प्रकार कुछ अन्य बैंक भी सट्टा व्यवसाय के कारण फेल हो गये।

(५) दोषपूर्ण विनियोग नीति—कुछ बैंको ने अपनी अल्पकालीन जमा को दीर्घकालीन विनियोगो मे फँसा दिया और वे पर्याप्त तरलता न होने के कारण फेल हो गये। बैंको मे आपसी प्रतियोगिता अधिक होने से प्रत्येक,बैंक शीघ्र उन्नति करना चाहता था। इन बैंको ने अपनी पूँजी की कमी को पूरा करने के लिए ब्याज की ऊँची दर देकर जमाकर्ताओ के धन को आकर्षित करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार प्राप्त धन को इन बैंको ने उद्योग-धन्धों को ऋण देकर दीर्घकालीन विनियोगो मे फँसा दिया। जमाकर्ताओ के द्वारा जब रुपये की माग की गई तो ये बैंक उनका भुगतान न कर सके और दिवालिया हो गये।

(६) नकद कोषो का कम अनुपात—अनुभवहीनता के कारण भारतीय बैंको ने आरम्भ मे अपनी जमा का बहुत कम भाग ही नकद कोष के रूप मे रक्खा जबकि भारतवर्ष मे नकद कोषो का अनुपात अन्य,देशो की अपेक्षा अधिक होना चाहिए था। बहुत से बैंक नकद कोषो का अनुपात कम होने के कारण अपने ग्राहको की माग को पूरा न कर सके और आर्थिक सकट मे फँस गये।

(७) सरकार की हस्तक्षेप न करने की नीति—सरकार ने बैंकिंग सकट काल मे भी बैंको की कार्य प्रणाली मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना आवश्यक न समझा और बैंको को पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ फेल होने दिया गया। उस समय देश मे कोई बैंकिंग सविधान भी नही था जिसके अनुसार बैंको की कार्य-प्रणाली को चलाया जा सके अथवा जो जमाकर्ताओ तथा अंशधारियो के हितो की रक्षा कर सके। ऐसी स्थिति मे बैंको का विकास मनमाने ढङ्ग से हो रहा था और उनमे से अधिकाश का फेल हो जाना स्वाभाविक ही था।

(८) **केन्द्रीय बैंक का अभाव**—सन् १९३५ से पूर्व हमारे देश मे कोई ऐसी केन्द्रीय संस्था नही थी जो बैंकों पर नियन्त्रण कर सके तथा उनकी क्रियाओं मे समन्वय स्थापित कर सके । इस प्रकार की संस्था के न होने से बैंको को आर्थिक संकट के समय किसी प्रकार की सहायता नही मिल सकती थी अतः बैंकों के फेल होने का एक प्रमुख कारण देश मे केन्द्रीय बैंक का न होना था ।

द्वितीय विश्व-युद्ध का भारतीय बैंकिंग पर प्रभाव
(Effect of Second World War on Indian Banking)—

द्वितीय विश्व-युद्ध काल आर्थिक समृद्धि का काल था । व्यापार तथा उद्योगो का तेजी के साथ विकास हो रहा था और देश की अर्थ-व्यवस्था एक गतिशील स्थिति (Dynamic State) मे थी । आर्थिक विस्तार की इन दशाओ मे बैंकिङ्ग व्यवसाय को भी बड़ा प्रोत्साहन मिला और बैंकिंग का विस्तार होने लगा । पुराने बैंको ने उन्नति की तथा अपनी शाखाओ का विस्तार किया और कुछ नए बैंक भी स्थापित किये गए । इस समय भारत की बैंकिंग व्यवस्था अधिक संगठित तथा शक्तिशाली थी और उसमे युद्ध के आघात को सहन करने की अधिक क्षमता थी । यही कारण था कि भारतीय बैंकिंग व्यवस्था ने युद्धकालीन दशाओ का अच्छी प्रकार सामना किया और हमारे देश मे किसी प्रकार का बैंकिंग संकट उत्पन्न नही हुआ । भारतीय बैंकिंग पर द्वितीय विश्व-युद्ध के निम्नलिखित प्रभाव पडे—

(१) **बैंकों से भारी मात्रा में धन का निकाला जाना**—युद्धकालीन दशाओ के कारण बैंको मे लोगो का विश्वास कम हो गया और बैंको पर धन की अधिक माग की जाने लगी । लोगो ने बैंको से अपनी जमा को निकालना आरम्भ कर दिया और थोडे ही समय मे बैंको मे ५ करोड से भी अधिक रुपये निकाल लिए गये किन्तु शीघ्र ही जनता का विश्वास बैंको मे पुनः स्थापित हो गया और लोगो की जमा वापस बैंको मे आने लगी । बैंको ने रिजर्व बैंक की सहायता से मुद्रा की इस आकस्मिक माग को पूरा किया और इस प्रकार अपनी साख को बनाए रक्खा ।

(२) **बैंकों का तेजी के साथ विकास**—सन् १९४२ से लेकर १९४६ तक बैंको का तेजी के साथ विकास हुआ और बहुत से नए बैंक स्थापित किए गये । बैंको की संख्या जो सन् १९३९ मे केवल १९५१ थी सन् १९४६ मे बढकर ५५२१ हो गई । कुछ नये स्थापित किये जाने वाले बैंक इस प्रकार है—युनाइटेड कार्मशियल बैंक, हिन्दुस्तान कॉमशियल बैंक, हबीब बैंक, हिन्दुस्तान मर्केन्टाइल बैंक आदि । सन् १९४६ तक भारत मे सूचीबद्ध बैंको (Scheduled Banks) की संख्या बढकर ९३ हो गई तथा अनुसूचित बैंको (Non-scheduled Banks) की संख्या १९३९ और १९४६ के बीच २३१ से बढकर २८८ हो गई । यदि सरकार ने मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियो की स्थापना पर प्रतिबन्ध न लगाया होता तो युद्ध काल मे हमारे देश मे बैंको का विकास और भी तेजी के साथ हुआ होता ।

(३) बैंकों की शाखाओं का विस्तार—युद्धकाल मे कुछ बैंको ने अपनी न शाखाये स्थापित की तथा अन्य बैंको ने वर्तमान शाखाओं का विस्तार किया। बैं शाखाओं का विस्तार होने के कारण देश मे बैंकिंग की सुविधायें काफी बढ गई किन्तु ग्रामीण क्षेत्रो को इससे कोई लाभ नही हुआ। बैंको के द्वारा सभी नई शाखायें शहरो तथा मण्डियो मे स्थापित की गईं, जहाँ पर पहले से ही काफी बैंकिंग सुविधायें थी। गांव तथा कस्बो मे बैंकिंग का कोई विकास नही किया गया जिससे बैंकिंग का विस्तार होने पर भी ग्रामीण जनता को उससे कोई लाभ नही हुआ।

(४) बैंको की जमा मे वृद्धि—युद्ध के आरम्भ काल मे बैंको मे जनता का विश्वास कम होने के कारण बैंको की जमा राशि मे कोई वृद्धि नही हुई। इसके विपरीत युद्ध के पहले दो वर्षों मे तो लोगो ने भारी मात्रा मे अपनी जमा को निकालना आरम्भ कर दिया किन्तु जल्दी ही बैंको मे फिर से विश्वास स्थापित हो गया और जमा बैंको मे वापस आने लगी। सन् १९४१ के पश्चात् बैंको की जमा-राशि मे तेजी के साथ वृद्धि हुई और इन बैंको की कुल जमा जो सन् १९३९ मे २४६·४५ करोड रुपये थी, बढकर १९४६ मे १०६७ करोड रुपये हो गई। इस काल मे केवल जमा की मात्रा मे ही वृद्धि नही हुई वल्कि उसकी प्रकृति मे भी परिवर्तन हुआ और निश्चित जमा (Fixed Deposits) की अपेक्षा चालू जमा (Demand Deposits) की मात्रा मे तेजी के साथ वृद्धि हुई। युद्ध काल मे बैंको की जमा मे वृद्धि होने के मुख्य कारण इस प्रकार थे–(अ) सरकार की मुद्रा विस्तार की नीति—युद्ध के कारण सरकार के द्वारा तेजी के साथ नई मुद्रा चलाई जा रही थी जिसके कारण लोगो के पास मुद्रा की मात्रा अधिक थी और वे बैंको मे अधिक रुपया जमा कर रहे थे। इस काल मे चलन मे मुद्रा की मात्रा लगभग ६½ गुना बढ गई थी। (ब) सम्पत्ति, सोना तथा चांदी के मूल्य में अधिक परिवर्तन—सम्पत्ति, सोना और चांदी के मूल्यो मे अत्यधिक परिवर्तन होने के कारण लोग इनमे अपना रुपया लगाना पसन्द नही करते थे और अपनी जमा को बैंको मे रखना अधिक पसन्द करते थे। (स) व्यावसायिक समृद्धि—इस काल मे व्यापार तथा उद्योगो का विस्तार तेजी के साथ हो रहा था और व्यावसायिक वर्ग के लोगो के लाभ बहुत अधिक बढ गये थे। लाभो मे वृद्धि होने के कारण बैंको को अधिक मात्रा मे जमा प्राप्त होने लगी।

(५) बैंकों की विनियोग नीति मे परिवर्तन—युद्धकालीन दशाओ के कारण बैंको को अपनी विनियोग नीति मे भी परिवर्तन करना पड़ा। युद्ध से पूर्व बैंक प्रायः अपनी कुल जमा का ५४% ऋण, नकद साख तथा व्यापारिक बिलो मे लगाकर रखते थे किन्तु युद्ध काल मे उन्हें इस प्रकार के विनियोगो को कम करना पडा और सन् १९४६ तक यह अनुपात घटकर ३२% रह गया। इसका मुख्य कारण यह था कि युद्ध काल मे व्यापारियो तथा उद्योगपतियो को अधिक लाभ हुये और उनको

बैंको से ऋण लेने की आवश्यकता कम हो गई। ऋणो की मांग कम हो जाने के कारण बैंको ने सरकारी प्रतिभूतियो मे अधिक रुपया लगाना आरम्भ कर दिया अथवा वे अधिक मात्रा मे नकद जमा रखने लगे। सूचीबद्ध बैंको (Scheduled banks) का सरकारी प्रतिभूतियों मे विनियोग ५४% से बढकर ६१% हो गया। इसी प्रकार इन बैंको का नकद कोष का अनुपात भी ११% से बढकर २५% हो गया।

युद्धोत्तर काल में भारतीय बैंकिंग
(Indian Banking in the Post-war Period) —

युद्धोत्तर काल मे भी बैंको के साधनो मे निरन्तर वृद्धि होती गई। बैंकों की निश्चित जमा तेजी के साथ बढती गई और १९४६ मे ३४ करोड रुपये हो गई किन्तु उसके पश्चात् बैंको की स्थिति खराब होने लगी। १५ अगस्त सन् १९४७ मे देश के विभाजन का हमारी बैंकिंग व्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पडा और बहुत से बैंक फेल हो गए। सन् १९४७ मे ३० अपरिगणित बैंक फेल हुए तथा कुछ अन्य बैंक भी कठिनाई मे आ गये। विभाजन का बुरा प्रभाव केवल पजाब तथा बङ्गाल मे काम करने वाले बैंको तक ही सीमित रहा। विभाजन के परिणामस्वरूप बहुत से बैंको को अपनी पश्चिमी पजाब की शाखायें बन्द करनी पडी। बैंको की बहुत-सी सम्पत्ति पाकिस्तान मे रह गई। कुछ बैंको को भुगतान स्थगित करने पडे। इस प्रकार बैंको को विभाजन के कारण बहुत हानि सहनी पडी किन्तु हमारे बैंको ने इस आघात को अच्छी प्रकार से सहन किया।

रिजर्व बैंक ने इन बैंको को विभाजन के कुप्रभाव से बचने के लिए एक योजना लागू की जिसके अन्तर्गत—(i) रिजर्व बैंक एक्ट मे एक सशोधन के द्वारा अपरिगणित बैंको (Non-scheduled banks) को भी स्वीकृत प्रतिभूतियो की आड पर रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त करने का अधिकार दे दिया गया, (ii) सरकार ने निर्वासित बैंको के पुनर्वास के लिए १ करोड रुपये की सहायता देना स्वीकार किया (iii) एक आदेश के अनुसार दिल्ली तथा पूर्वी पजाब स्थित बैंको के विरुद्ध तीन मास तक कोई भी कार्यवाही नही की जा सकती थी। इस स्थगित शोधन काल मे ये बैंक अपनी भारत स्थित चल सम्पत्ति का १०% अथवा २५० रुपये (जो भी कम हो) का भुगतान कर सकते थे, (iv) रिजर्व बैंक ने सरकारी आदेश पर किसी भी बैंक का निरीक्षण करने तथा उसके सम्बन्ध मे सरकार को रिपोर्ट देने का अधिकार प्राप्त कर लिया। उपरोक्त कार्यो से रिजर्व बैंक ने बैंको को विभाजन के आघात से बचाने का प्रयत्न किया और उसे इस कार्य मे पर्याप्त सफलता भी मिली।

इस आघात के परिणामस्वरूप सन् १९४६ मे बैंको की जमा बहुत अधिक गिर गई और उनसे अधिकाधिक मात्रा मे ऋणो की माग की जाने लगी। भारतीय व्यापार तथा उद्योगो ने अपनी पिछली बचत को विस्तार के लिए प्रयोग करना

आरम्भ कर दिया और बैंकों में जमा को निकाला जाने लगा। आय का वितरण कम समृद्धिशाली वर्ग के पक्ष में हो जाने के कारण भी बैंकों की जमा कम हो गई क्योंकि इनमें से अधिकांश लोगों के हिसाब बैंकों में नहीं थे। पाकिस्तान से आने वाले लोगों ने अपनी आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण अपनी जमा को बैंकों से निकालना आरम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त आयातों तथा कच्ची सामग्री खरीदने के लिए बैंकों के द्वारा दिए जाने वाले अग्रिमों की मात्रा में भी तेजी के साथ वृद्धि हुई। उपरोक्त सभी कारणों से बैंकों में अधिकाधिक मात्रा में ऋणों की माग की जा रही थी तथा उनकी जमा में काफी कमी हो गई थी। किन्तु यह स्थिति बहुत अधिक समय तक न रही और जल्दी ही बैंक इस कठिनाई से भी बाहर हो गए।

भारत में बैंकिंग विधान (Banking Legislation in India)—

बैंक जनता के रुपय को जमा करने वाली संस्थाएँ होती हैं और वे अपनी पूँजी का अधिकांश भाग अपने जमाकर्ताओं से प्राप्त करती हैं। उनके द्वारा चलाये जाने वाले चैक तथा अन्य प्रकार के साख-पत्र धीरे-धीरे नकद मुद्रा का स्थान लेते जा रहे हैं। आधुनिक बैंक व्यापार तथा उद्योग की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करके देश की अर्थ-व्यवस्था में महत्वपूर्ण कार्य करते है। इन्हीं सब कारणों से बैंकों की कार्य-प्रणाली को जनहित के दृष्टिकोण से नियन्त्रित करना आवश्यक है। बैंकों की सेवाओं को प्रायः जनसेवा समझा जाता है और उन्हें अर्ध-सरकारी संस्थायें माना जाने लगा है। ऐसी उपयोगी तथा महत्वपूर्ण संस्थाओं पर सरकारी नियन्त्रण अनिवार्य है। भारतवर्ष में सर्वप्रथम केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (Central Banking Enquiry Committee) ने सन् १६३१ में एक विस्तृत बैंकिंग विधान पास करने की सिफारिश की। इस समिति की सिफारिशों को भारतीय कम्पनीज (संशोधन) अधिनियम, १६३६ में सम्मिलित कर दिया गया। युद्धकाल में यह अधिनियम अपर्याप्त सिद्ध हुआ और कुछ अन्य प्रतिबन्ध बैंकों पर लगा दिये गये। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् सन् १६४६ में एक विस्तृत बैंकिंग अधिनियम पास किया गया जिसके अनुसार भारतीय बैंकों का नियमन होता है।

बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम, १६४६
(Banking Companies Act, 1949)—

सन् १६४६ का बैंकिंग कम्पनीज एक्ट जम्मू व काश्मीर राज्य को छोड़कर भारत के सभी राज्यों में स्थित बैंकों के ऊपर लागू होता है। सहकारी समितियाँ इस अधिनियम से नियन्त्रित नहीं होती हैं। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य बैंकों के द्वारा अचल सम्पत्ति की आड़ पर अनुपात से अधिक मात्रा में ऋण देने, अपर्याप्त सुरक्षा के आधार पर ऋण देने, बिना सोचे समझे नई शाखायें खोलने तथा बैंक के कोषों के दुरुपयोग करने की प्रवृत्तियों को रोकना है। इस अधिनियम की मुख्य धारायें निम्नलिखित हैं—

(i) बैंकों के द्वारा व्यापार करने पर प्रतिबन्ध (Prohibition of Trading)—इस अधिनियम की ८ वीं धारा के अनुसार कोई भी बैंकिंग कम्पनी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से स्वय किसी प्रकार की वस्तुओं का क्रय-विक्रय अथवा अदल-बदल नही कर सकती है जब तक कि ऐसा करना उसके बैंकिंग व्यवसाय से सम्बन्धित न हो। धारा ९ के अनुसार कोई भी बैंक कार्यालय की बिल्डिंग को छोडकर अन्य किसी प्रकार की अचल सम्पत्ति को ७ साल से अधिक अवधि के लिए प्राप्त नही कर सकता है।

(ii) प्रबन्ध पर प्रतिबन्ध (Restriction on Management)—बैंकिंग अधिनियम की धारा १० के अनुसार किसी भी बैंक का प्रबन्ध मैनेजिंग एजेन्टस (Managing Agents) के द्वारा नही किया जा सकता है। ऐसा व्यक्ति भी बैंक का प्रबन्ध नही कर सकता है जो किसी दूसरी कम्पनी का सचालक हो या जो किसी व्यवसाय मे लगा हो अथवा जिसने कम्पनी का प्रबन्ध करने के लिए ५ वर्ष से अधिक के लिए समझौता कर लिया हो। बैंक अपने कर्मचारियों को कमीशन अथवा लाभ मे हिस्से के रूप मे पारितोषण नही दे सकता है।

(iii) पूँजी (Capital)—किसी भी बैंकिंग कम्पनी की प्रार्थिक पूँजी (Subscribed Capital) उसकी अधिकृत पूँजी (Authorized Capital) के आधे से कम नही होनी चाहिए और उसकी चुकता पूँजी (Paid up Capital) उसकी प्रार्थिक पूँजी का कम से कम ५०% होनी चाहिए। यदि कम्पनी का बैंकिंग व्यवसाय एक से अधिक राज्यो मे है तो उसकी पूँजी कम से कम ५ लाख रुपये होनी चाहिए और यदि उसकी शाखाये बम्बई या कलकत्ता अथवा दोनो मे है तो पूँजी १० लाख रुपये से कम नही होनी चाहिए। यदि उसकी शाखायें केवल एक ही राज्य मे है और उनमे से कोई भी कलकत्ता अथवा बम्बई मे नही है तो उसे अपने प्रधान कार्यालय के लिए १ लाख रुपये तथा अन्य कार्यालयो मे से प्रत्येक के लिए कम से कम १० हजार रुपये रखने चाहिएं। यदि किसी बैंकिंग कम्पनी के समस्त कार्यालय एक ही राज्य मे स्थित है और उनमे से एक या उससे अधिक बम्बई या कलकत्ता मे है तो उसे ५ लाख रुपये की पूँजी तथा कोष और बम्बई व कलकत्ता से बाहर की प्रत्येक शाखा के लिए २५ हजार रुपये की पूँजी व कोष रखना अनिवार्य है।

(iv) संचित कोष व नकद कोष (Reserve Fund and Cash Reserve)—प्रत्येक बैंक को प्रतिवर्ष, लाभ वितरण से पूर्व अपने लाभ का कम से कम २०% उस समय तक संचित कोष मे जमा करना अनिवार्य है जब तक कि यह कोष उसकी चुकता पूँजी के बराबर न हो जाय। संचित कोष के अतिरिक्त प्रत्येक बैंक को एक नकद कोष भी रखना होगा, जिसमे वह अपनी चालू जमा (Demand Deposits) का ५% तथा निश्चित जमा (Fixed Deposits) का २% जमा

करेगा। यह कोष अपने पास या रिजर्व बैंक के पास रक्खा जा सकता है। बैंको को अपनी सम्पत्ति की तरलता को बनाये रखने के लिए प्रतिदिन अपनी कुल जमा का २०% नकद रुपये, सोने या अन्य स्वीकृत प्रतिभूतियो मे भारत मे रखना होगा।

(v) ऋणों तथा अग्रिमों पर प्रतिबन्ध (Restrictions on Loans and Advances)—इस अधिनियम की धारा २० के अनुसार कोई भी बैंक अपने अंशो (Shares) की आड़ पर ऋण नही दे सकता है। बैंको के लिए अपर्याप्त सुरक्षा के आधार पर अपने किसी सचालक (Director) अथवा किसी ऐसी फर्म या कम्पनी को जिसमे उसका कोई भी सचालक हिस्सेदार या मैनेजिंग एजेन्ट या ऋणो का जमानती हो ऋण देना वर्जित है। रिजर्व बैंक को जनहित मे बैंको की ऋण नीति को निर्धारित करने का अधिकार भी दे दिया गया है। वह बैंको को यह आदेश दे सकता है कि वे किन-किन कामों के लिए ऋण दे तथा ऋणो की आवश्यक सीमा (Margin Requirement) और उन पर लिए जाने वाले ब्याज की दर भी निश्चित कर सकता है।

(vi) नई शाखायें खोलने पर प्रतिबन्ध (Restrictions on New Branches)—कोई भी बैक रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना भारतवर्ष के किसी भी भाग मे न तो नई जगह अपनी शाखा स्थापित कर सकता है और न किसी वर्तमान शाखा को एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर स्थापित कर सकता है। कोई भी बैंकिंग कम्पनी जो भारत मे रजिस्टर्ड हो, भारत से बाहर किसी भी स्थान पर अपना नया कार्यालय स्थापित नही करेगी अथवा अपने वर्तमान कार्यालय का स्थान नही बदलेगी जब तक कि वह ऐसा करने के लिए रिजर्व बैंक की पूर्व स्वीकृति प्राप्त न कर ले।

(vii) बैंकों के द्वारा लाइसेन्स प्राप्त करना (Licensing of Banks)—कोई भी बैंकिंग कम्पनी रिजर्व बैंक से लाइसेन्स प्राप्त किये बिना बैंकिंग व्यवसाय नही कर सकती है। लाइसेन्स प्राप्त करने के लिए प्रत्येक बैंक को लिखित प्रार्थना-पत्र देना होगा, जिसमे उसे यह प्रमाणित करना होगा कि वह अपने जमाकर्ताओ को उनकी जमा राशि आवश्यकतानुसार पूर्ण रूप से वापस देने की स्थिति मे है और उस कम्पनी का कार्य इस प्रकार नही चलाया जा रहा है जो जमाकर्ताओ के हितो को नुकसान पहुँचाता हो।

(viii) बैंकों का निरीक्षण (Inspection of Banks)—रिजर्व बैक अपनी इच्छा से या केन्द्रीय सरकार के आदेश पर किसी भी बैंकिंग कम्पनी के हिसाब का निरीक्षण कर सकता है। बैंक के सचालकों का यह कर्त्तव्य होगा कि वे जांच सम्बन्धी सम्पूर्ण सूचना अथवा आवश्यक कागज पत्रों को रिजर्व बैंक के सम्मुख प्रस्तुत करें। रिजर्व बैंक की रिपोर्ट बैंकिंग कम्पनी के विपक्ष मे होने पर सरकार उस

बैंक को नई जमा प्राप्त करने से रोक सकती है या रिजर्व बैंक को उसके निस्तारण (Liquidation) का प्रबन्ध करने का आदेश दे सकती है।

(ix) रिजर्व बैंक के अन्य अधिकार— बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को अधिकार प्राप्त है कि वह (i) किसी बैंकिंग कम्पनी को किसी विशेष प्रकार का व्यापार करने से रोक सकता है। (ii) बैंकिंग कम्पनीज से प्रार्थना प्राप्त होने पर उनके विलियन (Amalgamation) मे सहायता कर सकता है। (iii) बैंकिंग कम्पनियो को ऋण तथा अग्रिमो के रूप मे सहायता दे सकता है।

सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट को कार्यरूप मे लाने पर कुछ कठिनाइयाँ अनुभव की गईं, जिन्हे सरकार ने सन् १९५० तथा १९५३ मे इस अधिनियम मे सशोधन के द्वारा दूर कर दिया। बैंकिंग कम्पनीज एक्ट मे एक और सशोधन सन् १९५६ मे किया गया जिसमे रिजर्व बैंक को बैंको के सम्बन्ध मे कुछ और अधिकार दे दिये गये है—(अ) रिजर्व बैंक को जनसाधारण तथा बैंकिंग कम्पनियो के हितो की रक्षा करने के लिए बैंको को आदेश देने का अधिकार दे दिया गया। (ब) बैंको के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया कि वे प्रमुख अधिकारियो व प्रबन्ध सचालको की नियुक्ति की शर्तों के सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक से पूर्व स्वीकृति प्राप्त करलें। (स) किसी भी बैंक के सचालक-मण्डल अथवा किसी अन्य सगठित सभा की कार्य पद्धति की जाँच करने के लिए रिजर्व बैंक अपने अधिकारियो को भेज सकता है और आवश्यकता पडने पर अपने निरीक्षक भी नियुक्त कर सकता है। इसके पश्चात् सन् १९६१ तथा सन् १९६२ मे भी बैंकिंग कम्पनीज एक्ट मे महत्वपूर्ण सशोधन किये गये जिनका उद्देश्य रिजर्व बैंक को ऐसे अधिकार देना था, जिससे कि वह बैंको पर अधिक प्रभावशाली नियन्त्रण कर सके।

भारत मे मिश्रित पूँजी वाले बैंक (Joint Stock Banks in India)—

मिश्रित पूँजी वाले बैंक भारतीय बैंकिंग व्यवस्था का आधार हैं। इन बैंको के द्वारा ही हमारे व्यापार तथा उद्योगो को अपना कार्य चलाने के लिए पूँजी प्राप्त होती है तथा उन्हे ये अन्य प्रकार की बैंकिंग सुविधायें भी देते है। मिश्रित पूँजी वाले बैंक हम उन सब बैंको को कहते हैं जिनकी स्थापना भारतीय कम्पनीज एक्ट १९१३ (Indian Companies Act, 1913) के अनुसार हुई है। सीमित अर्थ मे मिश्रित पूँजी वाले बैंको से अभिप्राय व्यापारिक बैंको से होता है। यद्यपि अन्य प्रकार के बैंको का निर्माण भी मिश्रित पूँजी के आधार पर किया जाता है किन्तु केवल व्यापारिक बैंको को ही इस श्रेणी मे रखने की परम्परा रही है। विदेशी विनिमय बैंक यद्यपि व्यापारिक बैंको के कुछ कार्य करते हैं किन्तु उन्हे मिश्रित पूँजी वाले बैंको मे सम्मिलित नही किया जाता है क्योकि मुख्यतया उनका सम्बन्ध विदेशी व्यापार से होता है। स्टेट बैंक को इस प्रकार के बैंको मे इसलिए सम्मिलित नही

किया जाता है क्योकि उसकी स्थापना उपर्युक्त अधिनियम के अन्तर्गत नही की गई थी।

बैंको का वर्गीकरण (Classification of Banks)—

नियन्त्रण की सुविधा के लिए रिजर्व बैंक ने व्यापारिक बैंको को दो श्रेणियो मे बांट दिया है—प्रथम, अनुसूचीबद्ध बैंक (Scheduled Banks) तथा द्वितीय, असूचीबद्ध बैंक (Non scheduled Banks)। अनुसूचीबद्ध बैंक वे व्यापारिक बैंक होते है जिन्हे रिजर्व बैंक की दूसरी सूची (Scheduled II) मे सम्मिलित कर दिया गया है। इन बैंकों की चुकता पूंजी (Paid up Capital) तथा सुरक्षित कोष मिलाकर ५ लाख रुपये से अधिक होना चाहिए। इन बैंको के बारे मे रिजर्व बैंक को यह विश्वास होना चाहिए कि वे तमाम कार्य अपने जमाकर्त्ताओ (Depositors) के हित मे ही करते है। इन बैंको को अपनी निश्चित जमा (Time liabilities) का २% तथा चालू जमा (Demand liabilities) का ५% रिजर्व बैंक के पास जमा रखना पडता है। सन् १९५६ मे रिजर्व बैंक को इस जमा के प्रतिशत मे वृद्धि करने का अधिकार भी दे दिया गया है। ऐसे बैंको को नियमित रूप से प्रति सप्ताह रिजर्व बैंक को अपनी रिपोर्ट भेजनी पडती है। अनुसूचीबद्ध बैंको को रिजर्व बैंक से कुछ विशेष सुविधायें प्राप्त होती है। आवश्यकता पडने पर वे अपनी प्रतिभूतियों की आड पर रिजर्व बैंक से ऋण ले सकते है तथा अपने द्वारा भुनाये हुए बिलो को फिर से भुना सकते है। रिजर्व बैंक इनसे ऐसे बिलो तथा प्रतिज्ञा-पत्रो को खरीद भी सकता है जो ९० दिन से अधिक अवधि के लिए न लिखे गये हो। रिजर्व बैंक अनुसूचीबद्ध बैंको के रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने की सुविधायें भी देता है। वे सब बैंक जिन्हे रिजर्व बैंक की दूसरी सूची (Scheduled II) मे सम्मिलित नही किया जाता है, असूचीबद्ध बैंक कहलाते हैं। इन बैंको को उपर्युक्त सुविधायें नही प्राप्त होती हैं और न इन पर रिजर्व बैंक का अधिक नियन्त्रण ही रहता है।

व्यापारिक बैंको के कार्य (Functions of Commercial Banks)—

भारतवर्ष मे व्यापारिक बैंक लगभग वे ही कार्य करते हैं जो अन्य देशो मे इस प्रकार के बैंको के द्वारा किये जाते हैं। हमारे देश मे व्यापारिक बैंको के द्वारा किये जाने वाले कार्य इस प्रकार हैं—(i) जमा प्राप्त करना—व्यापारिक बैंक देश के लोगो की बचत को जमा के रूप मे आकर्षित करते है और इस प्रकार समाज की सम्पूर्ण बचत को एकत्रित करने का महत्वपूर्ण कार्य करते है। प्राप्त जमा पर यह बैंक ब्याज भी देते है। इन बैंको के द्वारा जमा विभिन्न खातो मे प्राप्त की जाती है जिनमे चालू जमा खाता (Current Account), निश्चित जमा खाता (Fixed Deposit Account) तथा बचत खाता (Savings Account) प्रमुख हैं। (ii) ऋण देना तथा बिलों को भुनाना—व्यापारिक बैंक अपनी जमा को व्यापारियो

को अल्पकालीन ऋण के रूप में उधार देते है जिससे इन्हे आय प्राप्त होती है। यह ऋण प्रायः वस्तुओं की आड़ पर अथवा प्रतिभूतियो व सोने चाँदी के आधार पर दिये जाते हैं। भूमि तथा अचल सम्पत्ति के आधार पर यह बैंक ऋण नही देते हैं। इन बैंको के द्वारा प्रतिष्ठित व्यापारियो के बिलो तथा हुडियो को भुनाने का कार्य भी किया जाता है। (iii) धन को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना—यह बैंक अपने ग्राहको की सुविधा के लिए उनके धन को बैंक ड्राफ्ट (Bank Draft) तथा साख प्रमाण-पत्र (Letters of Credit) के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने की सस्ती सुविधायें भी प्रदान करते है। (iv) बहुमूल्य वस्तुओं की सुरक्षा का प्रबन्ध—व्यापारिक बैंक अपने ग्राहको की बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षित रखने के लिए लॉकर (Locker) की सुविधायें देते है जिनमें लोग अपना बहुमूल्य सामान तथा दस्तावेज आदि रख सकते हैं। एजेन्ट के रूप में वे अपने ग्राहको के विनिमय-साध्य साख-पत्रो का भुगतान एकत्रित करते हैं, ग्राहको की ओर से भुगतानो को निबटाते हैं, उनके लिए अशो (Shares) तथा प्रतिभूतियो (Securities) का क्रय-विक्रय करते हे तथा उन्हे आर्थिक सलाह भी देते हैं। इसके अतिरिक्त यह बैंक विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय भी करते हैं और विदेशी व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध मे सहायता देते हैं। ग्राहको की आर्थिक स्थिति की गुप्त सूचना देने का कार्य भी इन बैंको के द्वारा किया जाता है।

बैंकों की धीमी प्रगति के कारण
(Causes of Slow Progress of Banking)—

हमारे देश मे बैंकिंग का विकास उतनी तेजी के साथ नही हुआ है जितना कि होना चाहिए था। अभी भी देश मे बैंकिंग सुविधाओं का अभाव है। यद्यपि द्वितीय विश्व-युद्ध काल मे हमारे देश मे बहुत से नये बैंक स्थापित किये गये तथा उनकी शाखाओं मे भारी वृद्धि हुई किन्तु अन्य देशो की अपेक्षा यह वृद्धि बहुत कम रही है। देश की इतनी बडी जनसख्या की तुलना मे वर्तमान बैंकिंग सुविधाये बहुत कम हैं। भारतवर्ष मे २,७६,००० व्यक्तियो के पीछे एक बैंक है जबकि स्विटजरलैंड मे १,३३३ तथा इगलैंड मे ३,६०० व्यक्तियों के पीछे एक बैंक पाया जाता है। अभी भी हमारे देश मे बैंको की बहुत कमी है। बैंकिंग सुविधाये अपर्याप्त होने के कारण समाज की बहुत-सी बचत को एकत्रित करके उत्पादक कार्यों मे लगाना सम्भव नही हो सका है। देश के आर्थिक विकास को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि देश मे बैंकिंग सुविधाओं का विकास तेजी के साथ किया जाय। भारतवर्ष मे बैंकों की धीमी प्रगति के कारण इस प्रकार है—

(i) **देश में आय तथा बचत का कम होना**—भारतवर्ष मे लोगो की आय कम होने के कारण बचत की मात्रा कम रहती है और बैंको को अधिक मात्रा मे जमा प्राप्त नही होती है। इसके अतिरिक्त लोगो मे बैंकिंग आदत का विकास भी

नहीं हुआ है और बहुत से लोग अपनी बचत को गाड़कर रखना अधिक पसन्द करते है। बहुत कम लोगों के द्वारा ही बैंकिंग सुविधाओं का प्रयोग किया जाता है जिसके कारण हमारे बैंको के पास साधनो की कमी रहती है और उनका विकास सीमित हो जाता है।

(ii) इम्पीरियल बैंक के साथ प्रतियोगिता—अब से कुछ वर्ष पूर्व तक इम्पीरियल बैंक की प्रतियोगिता ने अन्य व्यापारिक बैंको को पनपने का मौका नहीं दिया। इम्पीरियल बैंक के पास बहुत बड़े साधन रहते थे तथा उसे सरकारी सरक्षण प्राप्त था और ऐसी दशा मे अन्य बैंको का उसके साथ प्रतियोगिता करना सम्भव नही था। स्टेट बैंक की स्थापना के पश्चात यह दोष दूर हो गया है।

(iii) विदेशी विनिमय बैंकों के साथ प्रतियोगिता—व्यापारिक बैंको को विदेशी विनिमय बैंकों के साथ प्रतियोगिता करनी पड़ती है जिनके साधन अपेक्षाकृत बहुत अधिक होते है। इस प्रतियोगिता के कारण भी भारतीय बैंको के विकास मे बाधा पड़ी है। आरम्भ से ही विदेशी विनिमय बैंक व्यापारिक बैंको के कार्य-क्षेत्र मे हस्तक्षेप करते रहे है और उनका बहुत-सा व्यवसाय य स्वय ले लेते है। विदेशी विनिमय बैंको का प्रबन्ध प्राय विदेशियो के हाथ मे होने के कारण लोगो को इन बैंको म अधिक विश्वास रहता था और व्यापारिक बैंक इनके साथ प्रतियोगिता नही कर पाते थे। अब इस स्थिति म काफी परिवर्तन हो गया है और विदेशी बैंको का सरक्षित स्थान धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है।

(iv) भारत के विदेशी व्यापार का विदेशियों के हाथ में रहना—भारत का अधिकाश विदेशी व्यापार विदेशियो के हाथ मे रहता था जो इम्पीरियल बैंक अथवा विदेशी विनिमय बैंको के साथ अपना लेन-देन रखते थे तथा भारतीय बैंको के साथ अनुचित व्यवहार भी करते थे। अत बहुत अधिक समय तक हमारे बैंको को विकास का अवसर प्राप्त न हो सका।

(v) बैंकिंग सकट—भारतवर्ष मे बैंकिंग प्रणाली के सुसगठित न होने के कारण समय-समय पर बैंकिंग सकट आते रहे हैं जिनके कारण बहुत से बैंक फेल हो गये और काफी लम्बे समय तक बैंको मे लोगो के विश्वास को स्थापित न किया जा सका।

(vi) सुव्यवस्थित बिल बाजार का अभाव—हमारे देश मे एक सगठित बिल बाजार के न होने के कारण भी बैंकों के विकास मे बाधा पड़ी है। बिल बाजार के अभाव के कारण देश मे सुरक्षित विनियोग के साधन कम थे तथा बैंक अपने व्यवसाय का विस्तार न कर सके।

(vii) सरकार की बैंकों के प्रति उदासीनता—काफी लम्बे समय तक सरकार ने बैंको के विस्तार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया और उनके सम्बन्ध में

हस्तक्षेप न करने की नीति को अपनाया। बैंकों के विस्तार को किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था और न उनकी कार्य-प्रणाली में ही कोई सुधार करने का प्रयत्न किया गया। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् इस स्थिति में परिवर्तन हुआ है।

भारतीय बैंकों के दोष (Defects of Indian Banks)—

हमारे देश में व्यापारिक बैंकों के विकास, उनकी व्यवस्था तथा कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में बहुत से दोष पाये जाते हैं जिनके कारण देश में बैंकिंग का पर्याप्त तथा नियमित विकास नहीं हो सका है। भारतीय बैंकों के कुछ मुख्य दोष निम्न-लिखित हैं—

(१) छोटे आकार के बैंकों की अधिकता (Predominence of Small Sized Banks)—भारत में मिश्रित पूँजी वाले कुछ बैंक बहुत बड़े तथा शक्तिशाली हैं किन्तु अधिकांश बैंकों का आकार छोटा है जिसके कारण उनमें स्थिरता एवं शक्ति का अभाव रहता है। लगभग ४०० बैंकों में से केवल ७६ बैंक अनुसूचीबद्ध हैं अर्थात जिनकी चुकता पूँजी तथा सचित कोष ५ लाख रुपये अथवा इससे अधिक है। वर्तमान दशाओं में ५ लाख रुपये की पूँजी भी किसी बैंक को सुचारू रूप से चलाने के लिए पर्याप्त नहीं समझी जा सकती है जबकि हमारे देश में ८०% बैंकों की पूँजी इससे कम है। पूँजी कम होने के कारण इन छोटे बैंकों को बहुत कठिनाई होती है और वे अपने व्यवसाय का उचित विस्तार नहीं कर पाते हैं। इस प्रकार के बैंक जमा आकर्षित करने के लिए ऊँची ब्याज की दर देते हैं तथा अधिक लाभांश बाँटने के लिए सट्टा व्यवसाय में अपना धन फँसा देते हैं और फेल हो जाते हैं। छोटे बैंक हमारी बैंकिंग व्यवस्था की बहुत बड़ी कमजोरी है। इन बैंकों की कुल जमा तथा रक्षित कोष मिलाकर भी इतने नहीं होते हैं कि वे अपने व्यवसाय को लाभपूर्ण ढंग से चला सकें।

(२) शाखा विस्तार की दोषपूर्ण नीति (Indiscriminate Branch Expansion)—भारतीय बैंक नई शाखायें खोलते समय इस बात की जाँच नहीं करते हैं कि किसी स्थान विशेष की आर्थिक तथा मौद्रिक आवश्यकताओं के अनुसार वहाँ पर नया बैंक स्थापित करना उचित है अथवा नहीं। जिन स्थानों पर पहले से ही बहुत से बैंक कार्य कर रहे होते हैं वहीं पर अन्य बैंक भी अपनी शाखायें स्थापित कर देते हैं जिससे कुछ केन्द्रों पर बैंकों की शाखायें अधिक हो जाने के कारण अनावश्यक प्रतियोगिता उत्पन्न हो जाती है। इसके विपरीत कुछ अन्य स्थानों पर बैंकों की आवश्यकता होने पर भी बैंक नहीं होते हैं। शाखा विस्तार को प्रायः प्रतिष्ठा बढ़ाने अथवा बैंक का विज्ञापन करने का साधन समझा जाता है। इस गलत धारणा के अन्तर्गत बहुत सी ऐसी शाखायें स्थापित कर दी जाती हैं जिनकी आवश्यकता नहीं होती है। भारतीय कम्पनीज अधिनियम पास हो जाने से यह दोष दूर

हो गया है क्योंकि अब प्रत्येक बैंक को शाखा खोलने से पूर्व रिजर्व बैंक से आज्ञा लेनी होती है।

(३) अपर्याप्त रक्षित कोष (Inadequate Reserves)—अधिकांश बैंकों का उद्देश्य अपने अंशधारियों को अधिक से अधिक लाभ देना होता है और रक्षित कोष का निर्माण करने की ओर उनका बहुत कम ध्यान जाता है। बैंकों के लाभ के अधिकांश भाग को लाभ अंश के रूप में बाँट दिया जाता है और रक्षित कोष में उसका बहुत कम भाग रक्खा जाता है। इस प्रकार की नीति के कारण हमारे बैंक अधिक मात्रा में रक्षित कोष जमा नहीं कर सके हैं जिसके कारण उनमें स्थिरता तथा शक्ति का अभाव रहता है। बैंकों के रक्षित कोषों का कम होना उनमें आधारभूत कमजोरी उत्पन्न करता है और वे कभी भी संकट में फँस सकते हैं।

(४) नकद कोष कम रखना (Low Cash Reserve)—भारतीय बैंकों की एक कमजोरी यह भी है कि वे नकद कोष बहुत कम मात्रा में रखते हैं और अपने निक्षेपों का बहुत बड़ा भाग ऋणों तथा अग्रिमों के रूप में दे देते हैं। बैंक अधिकाधिक लाभ उठाने के लालच से अपने नकद कोष के अनुपात को नीचा रखते हैं और इस बात को भूल जाते हैं कि उन्हें अपने जमाकर्ताओं की माँग को पूरा करने के लिए पर्याप्त नकदी अपने पास रखनी चाहिए। बैंकों के नकद कोष का कम होना तथा उनकी जमा का ऐसे आदेयों (Assets) में लगा रहना जिसमें से उसे आसानी से नहीं निकाला जा सकता है, उन्हें किसी भी समय संकट में डाल सकता है।

(५) ऋण नीति का दोषपूर्ण होना (Defective Lending Policy)—बहुत से बैंकों की ऋण सम्बन्धी नीति दोषपूर्ण रही है। बैंक प्रायः उन कम्पनियों को ऋण दे देते हैं जिनमें उनके डायरेक्टरों का हित होता है। इस प्रकार के ऋण देते समय उनकी सुरक्षा का ध्यान नहीं रक्खा जाता है। कभी-कभी वे अपने संचालकों (Directors) तथा उनके मित्रों को व्यक्तिगत जमानत पर बड़ी मात्रा में ऋण दे देते हैं। कुछ बैंक अचल सम्पत्ति की आड़ पर ऋण देकर कठिनाई में पड़ जाते हैं। बहुत से बैंक अपनी अल्पकालीन जमा को दीर्घकालीन औद्योगिक विनियोग में लगा देते हैं और आवश्यकता पड़ने पर अपने ग्राहकों की माँग को पूरा करने में असमर्थ रहते हैं। बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम के पास हो जाने तथा बैंकों पर रिजर्व बैंक का कड़ा नियन्त्रण होने के कारण यह दोष धीरे-धीरे समाप्त होते जा रहे हैं।

(६) अकुशल संचालन (Inefficient Management)—बहुत से बैंकों का संचालन अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में है जिन्हें बैंकिंग के सिद्धान्तों का कोई ज्ञान नहीं होता है। अनुभवहीनता के कारण ऐसे संचालक बैंकों को कठिनाई में डाल देते हैं। बैंकिंग एक विशिष्ट व्यवसाय है जिसे उचित प्रकार से चलाने के लिए योग्य तथा प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। भारत में कुछ बैंकों के मैनेजिंग डाइरेक्टरों को बैंक चलाने का अनुभव तथा बैंकिंग सिद्धान्तों का पर्याप्त ज्ञान

नही है जिसके कारण वे बैंको का सचालन ठीक प्रकार से नही कर पाते है। बहुत से लोग बैंकिंग व्यवसाय मे केवल इसलिए आ जाते है क्योंकि वे उन्हे जल्दी रुपया बनाने का सुविधापूर्ण साधन समझते हैं। इस प्रकार के अकुशल सचालक स्वय भी बरबाद होते हैं और बैंकिंग के प्रति लोगो का विश्वास भी कम करते हैं।

(७) अग्रेजी भाषा तथा पाश्चात्य पद्धति का प्रयोग (English Language and Western Methods of Business)—भारतीय बैंक पाश्चात्य पद्धति के आधार पर बैंकिंग व्यवसाय करते है तथा बैंको मे अधिकाश कार्य अग्रेजी भाषा मे किया जाता है जिसके कारण बहुत से व्यापारी बैंकिंग सुविधाओ से लाभ नही उठा सके है। पाश्चात्य बैंकिंग पद्धति का यह अनावश्यक अनुसरण इन बैंको की प्रगति के रास्ते मे रुकावट रहा है। अभी तक भी हमारे बैंको ने भारतीय बैंकिंग पद्धति के विकास की ओर कोई ध्यान नही दिया है।

भारतीय बैंकिंग को सुदृढ बनाने के लिए सुझाव
(Suggestions for Strengthening Banking in India)—

व्यापारिक बैंको की कार्य प्रणाली मे सुधार करने के लिए रिजर्व बैंक ने महत्वपूर्ण सुझाव दिये है जिनमे से कुछ एक को भारतीय कम्पनीज अधिनियम के अन्तर्गत कार्य रूप मे लाया जा रहा है। सन् १९४९ मे ग्रामीण बैंकिंग जांच समिति (Rural Banking Enquiry Committee) ने ग्रामीण क्षेत्रो म बैंकिंग सुविधाओ का विकास करने के लिए कुछ सुझाव दिये। सन् १९५४ मे व्यक्तिगत क्षेत्र के वित्त से सम्बन्धित समिति (Committee on Finance for Private Sector) ने व्यापारिक बैंको के द्वारा दीर्घकालीन औद्योगिक वित्त की व्यवस्था करने के सम्बन्ध मे कुछ और सुझाव दिये। भारतीय बैंको की कार्य प्रणाली मे सुधार के लिए दिये गये कुछ महत्वपूर्ण सुझाव निम्नलिखित हैं—

(१) बैंकों का प्रबन्ध अधिक कुशल तथा अनुभवी लोगों के हाथों मे होना चाहिए—प्राय बैंको के डाइरेक्टर्स मे बैंकिंग सम्बन्धी ज्ञान का अभाव होता है और उन्हे बैंकिंग का अनुभव भी नही होता है। ऐसे लोग बैंको को कार्यकुशलता के साथ नही चला पाते है। अत यह आवश्यक है कि बैंको के प्रबन्ध तथा सचालन सम्बन्धी दोषो को दूर किया जाये। बैंको का सचालन केवल अनुभवी एव कुशल प्रबन्धको के द्वारा ही किया जाना चाहिए। यह आवश्यक है कि डाइरेक्टर्स बैंक के कार्यो मे पर्याप्त रुचि लें और बैंक की क्रियाओ पर इस प्रकार का नियत्रण रक्खें जिससे कि दिये जाने वाले ऋण तथा अग्रिम तरलता के सिद्धान्त जमाकर्त्ताओ के हितो के अनुकूल हो। यह भी आवश्यक है कि हैड आफिस के द्वारा शाखाओ पर सप्रभाविक नियत्रण एव निरीक्षण किया जाये। बहुत से बैंको का आन्तरिक अकेक्षण (Audit) तथा निरीक्षण (Inspection) दोषपूर्ण होता है और कुछ बैंको मे आवश्यक मदो को निकालने से पूर्व ही लाभ का वितरण कर दिया जाता है। बैंको के प्रबन्ध सम्बन्धी इन सभी दोषो को दूर किया जाना चाहिए।

(२) बैंकों की विनियोग नीति में सुधार—कुछ बैंक सरकारी प्रतिभूतियों में पर्याप्त विनियोग नहीं करते हैं और कुछ ऐसी कम्पनियों के हिस्सों में रुपया लगा देते हैं जिन्हें बाजार में आसानी से नहीं बेचा जा सकता है किन्तु जिनमें उनके डाईरेक्टर्स का हित होता है। इस प्रकार के दोषपूर्ण विनियोग में बैंकों को बचना चाहिए। विशेषतया असूचीबद्ध बैंकों (Non-Scheduled Banks) के ऋणों की मात्रा तो अधिक रहती है किन्तु निक्षेपों की तुलना में उनका सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग कम रहता है जिनके कारण उनकी तरलता कम हो जाती है। एक सर्वेक्षण के अनुसार १२३ बैंकिंग कम्पनियाँ ऐसी थीं जिनका सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग उनके निक्षेपों के १% से भी कम था। इस प्रकार की स्थिति इन बैंकों को सकट में डाल सकती है। बैंकों के द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों में किये जाने वाले विनियोग की मात्रा बढ़नी चाहिए। बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम पास हो जाने से स्थिति में काफी सुधार हुआ है।

(३) ऋण सम्बन्धी नीति में सुधार—व्यापारिक बैंकों की ऋण सम्बन्धी नीति में भी सुधार की आवश्यकता है। कुछ छोटे बैंक अपनी जमा के अनुपात से बहुत अधिक मात्रा में ऋण दे देते हैं और फेल हो जाते हैं। सन् १९५१ में इस प्रकार के बैंकों की सख्या १५२ थी इसके अतिरिक्त बैंकों के द्वारा अपने ऋणियों की आर्थिक स्थिति की जाँच करने का प्रबन्ध भी होना चाहिए बैंकों को अपने ऋणों को विभिन्न उद्योगों तथा विभिन्न प्रकार के व्यापारियों को देने के सिद्धान्त के महत्व को भी समझना चाहिए। बैंकों के ऋणों का अत्यधिक विस्तार हमारी बैंकिंग व्यवस्था को कमजोर करता है। बैंकों को ऋण देते समय अपनी तरलता के महत्व को भी ध्यान में रखना चाहिए और सुरक्षा की दृष्टि से उन्हें अपने ऋणों का अत्यधिक विस्तार नहीं करना चाहिए। इस सम्बन्ध में उन्हें बैंकिंग के सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए। ऋण देने से पूर्व बैंकों को अपने ग्राहकों की आर्थिक स्थिति तथा ऋण के उद्देश्यों के बारे में पूरी जाँच करनी चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो सके असुरक्षित ऋणों (Unsecured Loans) तथा अचल सम्पत्ति के आधार पर दिये जाने वाले ऋणों की मात्रा को कम से कम रखा जाये।

(४) शाखाओं का विस्तार तथा उनका प्रबन्ध ठीक प्रकार से किया जाना चाहिए—बैंकों की शाखा विस्तार सम्बन्धी नीति में परिवर्तन होना आवश्यक है। बैंकों को नई शाखाएँ खोलने से पूर्व उस स्थान की आर्थिक आवश्यकताओं तथा वहाँ पर उपलब्ध बैंकिंग सुविधाओं की जाँच करनी चाहिए। नई शाखाएँ तभी खोली जानी चाहिएँ जबकि ऐसा करना आर्थिक दृष्टि से लाभपूर्ण हो। शाखाओं का विस्तार बैंक की प्रतिष्ठा बढ़ाने अथवा उसका विज्ञापन करने का साधन नहीं समझा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त जहाँ तक सम्भव हो सके शाखाओं का विस्तार ग्रामीण तथा अर्धग्रामीण क्षेत्रों में किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति ने महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। इस समिति के अनुसार ग्रामीण

क्षेत्रो मे लोगो की आय बढ जाने के कारण वहाँ पर बचत को प्रोत्साहित करने तथा इकट्ठा करने के लिए बैंक स्थापित किये जाने चाहिएँ। इसके अतिरिक्त कृषि व्यवसाय की वित्त सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए भी बैंको का होना आवश्यक है। व्यापारिक बैंको को ग्रामीण क्षेत्रो मे शाखाएँ खोलने के लिए सरकार को प्रोत्साहन देना चाहिए।

बैंको की शाखाओ के प्रबन्ध मे भी सुधार होने की आवश्यकता है। कुछ बैंको के द्वारा अपनी शाखाओ का प्रबन्ध ठीक प्रकार नही किया जाता है। उनका ठीक निरीक्षण नही होता है तथा उनसे नियमित रिपोर्ट नही आती है। इस प्रकार दोषो को शीघ्र दूर किया जाना चाहिए।

(५) **लाभांश वितरण नीति में सुधार**—बैंको को लाभाश वितरण करने से पूर्व रक्षित कोष का निर्माण करना आवश्यक समझना चाहिए। अपने लाभ का पर्याप्त भाग रक्षित कोष मे रखने के पश्चात् शेष लाभ को ही अशधारियो मे बाँटना चाहिए। ऐसा करने से हमारे बैंको के पास रक्षित कोषो की मात्रा बढेगी और उनमे दृढता उत्पन्न होगी। इसके अतिरिक्त बैंक को लाभाश वितरण से पूर्व बुरे एव शकित ऋणो (Bad and Doubtful Debts) तथा अपने आदेयो (Assets) की घिसावट आदि के लिए एक समुचित रकम अलग रखनी चाहिए। अभी भी ऐसे बैंको की सख्या काफी है जिनका रक्षित कोष उनकी जमा के अनुपात मे बहुत कम रहता है। इस प्रकार की कमजोरी प्राय: असूचीबद्ध बैंको (Non-Scheduled Banks) मे अधिक पाई जाती है। रिजर्व बैंक के सप्रभाविक नियत्रण के द्वारा इस कमी को दूर किया जा सकता है।

(६) **अन्य सुझाव**—उपर्युक्त सुझाव के अतिरिक्त भारतीय बैंकिंग के दोषो को दूर करने के लिए कुछ अन्य सुझाव भी दिये जा सकते है—(i) छोटे आकार के बैंको को मिलाकर अथवा छोटे बैंको का बडे बैंको के साथ विलियन करके शक्तिशाली एव अधिक पूँजी वाले बैंको का निर्माण करना चाहिए। प्रत्येक बैंक आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि अनार्थिक बैंको का विलियन कर दिया जाये।

(ii) सहकारी बैंको की भाँति व्यापारिक बैंको के विकास मे सरकार को अधिक सहयोग देना चाहिए। बैंको को प्रोत्साहित करने के लिए छोटे बैंको को स्टाम्प ड्यूटी तथा रजिस्ट्रेशन शुल्क के सम्बन्ध मे छूट दी जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त पोर्ट ट्रस्ट, नगर महापालिकाओ, कोर्ट ऑफ वार्ड्स, शिक्षण सस्थाओ तथा अन्य अर्ध-सरकारी संस्थाओ की जमा व्यापारिक बैंको के पास रखी जानी चाहिए जिससे कि इन बैंको के साधनो मे वृद्धि की जा सके।

(iii) बैंको मे आपसी प्रतियोगिता को रोकने के लिए उनकी एक केन्द्रीय सस्था स्थापित की जानी चाहिए। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के सुझाव पर अखिल

भारतीय बैंकिंग संघ (All India Banker's Association) की स्थापना की गई थी किन्तु यह संस्था अधिक कार्यशील नहीं रही है। इसे अधिक कार्यशील बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(iv) अंग्रेजी के स्थान पर बैंकों को प्रादेशिक भाषाओं में अपना काम करना चाहिए जिससे कि अंग्रेजी न जानने वाले लोग भी बैंकों से लाभ उठा सकें। इसके अतिरिक्त बैंकों को पाश्चात्य बैंकिंग विधि के स्थान पर भारतीय बैंकिंग विधि को अपनाना चाहिए।

(v) बैंकों के प्रबन्ध एवं संचालन की कुशलता को बढ़ाने के लिए बैंकिंग सम्बन्धी शिक्षा का विशेष प्रबन्ध किया जाना चाहिए। बैंकों के संचालकों तथा प्रबन्धकों को बैंकिंग के सिद्धान्त एवं कार्य-प्रणाली में शिक्षा देना आवश्यक है।

बैंकों के सुधार के लिए किये गये उपाय
(Steps Taken for Improvement of Banking)—

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय व्यापारिक बैंकों की कार्य-प्रणाली काफी दोषपूर्ण है और उसमें सुधार की बहुत आवश्यकता है। पिछले कुछ वर्षों में भारतीय बैंकिंग प्रणाली में सुधार करने के लिए अनेक प्रयत्न किये गये हैं और यह आशा की जा सकती है कि रिजर्व बैंक के नेतृत्व में बहुत जल्दी ही हमारी बैंकिंग प्रणाली का आधार अधिक दृढ़ किया जा सकेगा। इस सम्बन्ध में किये गये कुछ सुधार इस प्रकार हैं—(१) अब कोई भी बैंक बिना ५०,००० रुपये की पूँजी के स्थापित नहीं किया जा सकता है। (२) नये अधिनियम के अनुसार कोई भी बैंक रिजर्व बैंक की स्वीकृति के बिना न तो अपनी नई शाखा खोल सकता है और न अपने कार्यों का कुछ विशेष दिशाओं में विस्तार ही कर सकता है। (३) सभी बैंकों के लिए अपनी जमा का एक निश्चित भाग रिजर्व बैंक के पास रखना अनिवार्य है जिससे इन बैंकों की तरलता बनी रहती है। (४) बैंकों को सहायता देने के सम्बन्ध में अब रिजर्व बैंक की नीति अधिक उदार तथा सहानुभूतिपूर्ण हो गई है। (५) सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को बैंकों के ऊपर अनेक प्रकार से नियन्त्रण करने का अधिकार दे दिया गया है। (६) रिजर्व बैंक एक्ट में भी संशोधन किया गया है जिससे कि वह देश में बैंकिंग के विकास में सक्रिय भाग ले सके। (७) ग्रामीण तथा अर्ध-ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं का विकास किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में नव-निर्मित स्टेट बैंक को ग्रामीण तथा अर्ध-ग्रामीण क्षेत्रों में ४०० नई शाखाएँ स्थापित करने का कार्य दिया गया था जिसे वह पूरा कर चुका है।

भारतीय बैंकों की वर्तमान स्थिति
(Present Position of Indian Banks)

अनुसूचीबद्ध बैंकों (Scheduled Banks) की संख्या में सन् १९४९ के पश्चात् कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। सन् १९४९ में अनुसूचीबद्ध बैंकों की

संख्या ८३ थी जो १९५१ मे बढ कर ९२ हो गई किन्तु सन् १९६० मे छोटे बैंकों का विलयन हो जाने के कारण यह संख्या गिर कर फिर ८३ रह गई। नवम्बर सन् १९६४ में हमारे देश मे ७६ अनुसूचीबद्ध बैंक (Scheduled Banks) थे तथा इनकी शाखाओं की कुल सख्या ५००२ थी जो सन् १९६३ की अपेक्षा ३९६ अधिक थी। असूचीबद्ध बैंकों (Non-Scheduled Banks) की सख्या जो १९५२ में ४२३ थी, सन् १९६१ मे गिर कर २२२ रह गई। सितम्बर सन् १९६४ मे सूचना देने वाले असूचीबद्ध बैंकों की सख्या केवल १५६ थी। इन बैंकों की सख्या कम होने का मुख्य कारण बहुत से छोटे बैंकों का एकीकरण, विलियन तथा निस्तारण किया जाना था। अनुसूचित बैंकों की शाखाओं की सख्या सन् १९५३ तक गिरी है जिसका मुख्य कारण रिजर्व बैंक की प्रतिबन्धक नीति थी। इसके पश्चात् इन बैंकों की शाखाओं मे तेजी के साथ वृद्धि हुई है। इसके विपरीत असूचीबद्ध बैंकों (Non-Scheduled Banks) की शाखाओं की सख्या मे कमी हुई है। इन बैंकों की शाखाएँ जो सन् १९५१ मे १४७३ थी सन् १९६१ मे गिर कर केवल ७२३ रह गईं।

बैंकों का असमान वितरण (Uneven Distribution of Banks)—

हमारे देश मे बैंकों का वितरण बहुत असमान है। देश के कुछ भागो में बैंकों की सख्या काफी है तथा कुछ अन्य भागों मे उनकी भारी कमी है। दिल्ली, महाराष्ट्र, पश्चिमी बगाल, गुजरात तथा मद्रास के राज्यो मे बैंकिग सुविधाएँ काफी विकसित हैं जबकि उडीसा, जम्मू व कश्मीर, आसाम, बिहार तथा मध्य प्रदेश इनसे बहुत पीछे है। इसका मुख्य कारण देश मे बैंकों का अनियोजित विकास है। हमारे देश मे बैंकों की शाखा विस्तार नीति बहुत दोषपूर्ण रही है जिसके कारण बैंकिग का सन्तुलित विकास नही हो सका है। युद्ध काल तथा उसके उपरान्त बैंकों के द्वारा जितनी भी नई शाखाएँ खोली गई है वे सब बडे शहरो अथवा मडियो मे स्थापित है जिसके कारण इन केन्द्रो मे बैंकों की आपसी प्रतियोगिता बढ गई है। इसके विपरीत ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिग का कोई विकास नही हुआ है। सन् १९६१ मे समस्त बैंकों की ५,१११ शाखाओं मे से १८७५ शाखायें ऐसे १०३ स्थानो पर स्थित थी जिनमे से प्रत्येक की जनसख्या १ लाख या इससे अधिक थी। पचास हजार से १ लाख के बीच की जनसख्या वाले ११९ स्थानो पर केवल ६१९ शाखाएँ थी और १०,००० से कम जनसख्या वाले स्थानो पर बहुत ही कम बैंक थे।

बैंकों की जमा में भारी वृद्धि
(Rapid Growth of Banks' Deposits)—

सन् १९४९ के पश्चात् बैंकों की जमा मे विशेष रूप से तेजी के साथ वृद्धि हुई है। दिसम्बर सन् १९५५ मे समाप्त होने वाले पाँच वर्ष में, जो लगभग प्रथम

योजना काल था, बैंकों की जमा में १२६ करोड रुपये की वृद्धि हुई। इससे अगले पाँच वर्षों में यह वृद्धि ६०२ करोड रुपये की हुई जो पहले से बहुत अधिक थी। यह कहा जा सकता है कि प्रथम योजना काल में बैंक जमा लगभग ३% प्रति वर्ष के हिसाब से बढ़ी किन्तु द्वितीय योजना काल में यह वृद्धि १२% प्रतिवर्ष थी। सन् १९६० में समाप्त होने वाले दशक में बैंकों की जमा में ८६% प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस काल में बैंक जमा के तेजी के साथ बढ़ने का मुख्य कारण दोनों योजनाओं के परिणामस्वरूप लोगों की आय में होने वाली निरन्तर वृद्धि तथा लोगों में बैंकिंग की आदत का विकास होना था। तीसरी योजना काल में भी बैंकों की जमा तेजी के साथ बढ़ती रही है। २५ दिसम्बर सन् १९६४ को बैंकों की कुल जमा पहले वर्ष की अपेक्षा २६६ करोड रुपये अधिक थी। बैंक जमा में होने वाली वृद्धि की ऊँची दर, १९६४ में १५% से भी अधिक थी, इस बात का प्रमाण है कि देश में घाटे की अर्थ-व्यवस्था अधिक मात्रा में की गई है। २५ दिसम्बर को अनुसूचीबद्ध बैंकों की कुल जमा २७५४.५८ करोड रुपये थी जबकी १९५०-५१ में यह जमा केवल ६३२.९३ करोड रुपये थी। असूचीबद्ध बैंकों की जमा में भी वृद्धि हुई है यद्यपि वह अपेक्षाकृत कम रही है।

बैंक जमा की प्रकृति में परिवर्तन
(Change in the Structure of Bank Deposits)—

बैंकों की जमा की मात्रा के साथ-साथ उसकी प्रकृति में भी परिवर्तन हुआ है। चालू जमा (Demand Deposits) जो सन् १९५० में कुल जमा का ५७% प्रतिशत थी, अक्तूबर १९६० में गिर कर ३६% रह गई। इस बात से विदित है कि इस काल में चालू जमा के महत्व में कमी हुई है। इसी काल में निश्चित जमा (Time Deposits) पहले से ढाई गुणा हो गई और कुल जमा में उसका प्रतिशत २७ से बढ़कर ४७ हो गया। पिछले कुछ वर्षों से चालू जमा (Demand Deposits) का महत्व फिर बढ़ने लगा है जो इस बात से विदित है कि सन् १९६३ व १९६४ के वर्षों में चालू जमा की मात्रा निश्चित जमा की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ बढ़ी है। २५ दिसम्बर सन् १९६४ को बैंकों की चालू जमा (Demand Deposits) पिछले वर्ष की अपेक्षा १७६ करोड रुपये अधिक थी।

नकद कोषों के अनुपात में कमी
(Falling Percentage of Cash Reserves)—

योजना काल में यद्यपि बैंकों का विकास तीव्र गति से हुआ है किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि हमारी बैंकिंग व्यवस्था पहले की अपेक्षा अधिक दृढ़ हुई है। बैंकों की जमा में तेजी के साथ वृद्धि होने के साथ-साथ उनके पीछे रक्खे जाने वाले नकद कोष के अनुपात में काफी गिरावट आ गई है। सन् १९५०-५१ में अन्तिम शुक्रवार को निक्षेपों के पीछे रक्खे जाने वाले नकद कोष का अनुपात

१०·६ प्रतिशत था और २७ नवम्बर १९६४ को यह अनुपात गिर कर केवल ६·३ प्रतिशत रह गया। बैंको के नकद कोषो का यह पतन बैंकिंग व्यवस्था के दृढ होने का प्रतीक नही है। बैंको के निक्षेपो का बढना तथा उनका अधिक मात्रा मे विनियोग किया जाना उनकी प्रगति को बतलाता है और उनके लाभ को बढाता है किन्तु इस के साथ-साथ उनके नकद कोषो मे भी पर्याप्त वृद्धि होनी चाहिए। बैंको के पास आवश्यक मात्रा मे नकद कोषो का न होना उन्हे किसी भी समय सकट मे डाल सकता है।

बैंको के द्वारा दिये जाने वाले ऋणों की मात्रा मे वृद्धि
(Increase in Bank Advances)—

पिछले कुछ वर्षो मे बैंको के द्वारा दिये जाने वाले ऋणो तथा अग्रिमो की मात्रा मे तेजी के साथ वृद्धि हुई है। सन् १९५० के अन्त मे बैंक अग्रिमो की मात्रा ४३४ करोड रुपये थी। पहली योजना काल मे इन अग्रिमो मे ३० प्रतिशत की वृद्धि हुई जो बहुत अधिक न थी। दूसरी योजना काल मे यह वृद्धि ११४% थी। सन् १९६०-६१ मे बैंको के कुल अग्रिमो की मात्रा १३२६ ३ करोड रुपये थी जो २७ नवम्बर को बढकर १७३४·९ करोड रुपये हो गई। इससे स्पष्ट है कि बैंको की जमा मे वृद्धि होने के साथ-साथ उनके अग्रिम भी तेजी के साथ बढे है।

बैंक अग्रिमो का विश्लेषण करने से पता चलता है कि द्वितीय योजना काल मे उद्योगो को दिये जाने वाले अग्रिमो का अनुपात बढा है तथा कृषि एव व्यवसाय को दिये जाने वाले अग्रिमो का अनुपात कम हुआ है। सन् १९५१ के अन्त मे बैंक अग्रिमो मे उद्योगो का हिस्सा ३३·५ प्रतिशत था जो १९६१ मे बढकर ५२·८ प्रतिशत हो गया। इसी काल मे अग्रिमो मे व्यवसाय (Commerce) का हिस्सा ५२ ८ प्रतिशत से घट कर ३३ ७ प्रतिशत रह गया और कृषि को मिलने वाले अग्रिमो का अनुपात २·२ प्रतिशत से कम होकर केवल ०·७ प्रतिशत रह गया। मार्च सन् १९६४ मे दिये गये अग्रिमो मे उद्योगो का भाग ५९·२ प्रतिशत, व्यवसाय का २९·१ प्रतिशत तथा कृषि का ०·४ प्रतिशत था। इससे स्पष्ट होता है कि बैंक अग्रिमो मे उद्योगो का हिस्सा निरन्तर बढ रहा है तथा व्यवसाय और कृषि का भाग कम होता जा रहा है।

छोटे बैंकों के विलियम की प्रवृत्ति (Amalgamation of Smaller Banks)—

पिछले कुछ वर्षो मे छोटे तथा कम पूँजी वाले बैंको का बड़े बैंको के साथ विलियन (Amalgamation) करने की प्रवृत्ति रही है जिसके कारण देश मे बैंको की सख्या कुछ कम हो गई है किन्तु बैंकिंग व्यवस्था अधिक दृढ होती जाती रही है। एकीकरण तथा विलियन की नीति को सरकार एव रिजर्व बैंक दोनो ने स्वीकार किया है क्योकि इसके द्वारा ही असख्य छोटे-छोटे बैंको के आधार को मजबूत किया जा सकता है। मार्च सन् १९५० मे बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम मे एक सशोधन किये

गए हैं जिनसे बैंकों का विलयन अधिक सुविधापूर्ण हो गया है। मार्च सन् १९५१ मे भारत बैंक तथा पंजाब नेशनल बैंक का विलयन रिजर्व बैंक के निरीक्षण के परिणामस्वरूप हुआ। इसी प्रकार कुछ अन्य बैंकों का विलयन भी किया गया है किन्तु अनुभव यह बतलाता है कि बैंकों का विलयन आसान काम नहीं है क्योंकि प्रत्येक बैंक की नीति, परम्परायें तथा विशेषतायें अलग-अलग हो सकती हैं जो बैंकों के विलयन के मार्ग मे बाधायें उत्पन्न करती है। इन कठिनाइयों के होते हुये भी यह कहा जा सकता है कि बैंकों के विलयन की प्रवृत्ति भारतीय बैंकिंग व्यवस्था मे स्वस्थ विकास की प्रतीक है। बहुत से छोटे-छोटे तथा कम पूँजी वाले बैंकों की अपेक्षा कुछ एक अधिक पूँजी वाले तथा मजबूत बैंकों का होना देश की अर्थ-व्यवस्था को अधिक लाभ पहुँचा सकता है।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ (Recent Trends)—

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् तथा भारत मे नियोजित अर्थ-व्यवस्था के विकसित होने के कारण हमारे बैंकों के सम्मुख कुछ नये कार्य आ गये हैं। अधिकांश रूप से बैंकों ने इन नई जिम्मेदारियों को स्वीकार किया है तथा अपनी क्रियाओं का विस्तार नये क्षेत्रों में किया है। पिछले कुछ वर्षों मे भारतीय बैंकिंग के क्षेत्र मे कुछ महत्वपूर्ण घटनायें हुई हैं जिनका हमारी बैंकिंग व्यवस्था पर स्वस्थ प्रभाव पड़ा है।

सन् १९६० मे पलाई बैंक (Palai Bank) के फेल हो जाने पर यह अनुभव किया गया कि बैंकों के ढाँचे मे कुछ परिवर्तन किया जाय तथा उनकी वित्तीय स्थिति को सुदृढ बनाया जाय जिससे कि जमाकर्ताओं का विश्वास बैंकिंग व्यवस्था मे पुनः स्थापित किया जा सके। सितम्बर सन् १९६० बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम १९४९ मे एक संशोधन के द्वारा सरकार ने बैंकों के अनिवार्य विलयन की वैधानिक शक्ति प्राप्त कर ली। इस धारा के अन्तर्गत ३९ बैंकों को ६ महीने की चेतावनी (Moratorium) दी गई। सन् १९६१-६२ मे १७ बैंकों की विलयन सम्बन्धी योजना को कार्य रूप मे लाया गया।

बैंकों की जमा मे तेजी के साथ वृद्धि होने के कारण उनकी चुकता पूँजी तथा रक्षित कोषों का कुल जमा के साथ अनुपात १९५० मे ९ प्रतिशत से घट कर १९६० में ५ प्रतिशत रह गया जिसके कारण बैंकों के पूँजी आधार को मजबूत करने की आवश्यकता अनुभव की गई। रिजर्व बैंक ने इस सम्बन्ध मे कुछ सुझाव दिये है। बैंकों से यह आग्रह किया गया है कि जब तक उनके रक्षित कोष चुकता पूँजी से कम हो तब तक वे अपने लाभ का २०% रक्षित कोषों मे रखते रहे। दोनों के बराबर हो जाने पर भी वे ऐसा करते रहे जब तक उनकी चुकता पूँजी तथा रक्षित कोष दोनों मिलकर उनके निक्षेपों का ६% न हो जायें।

भारतीय बैंक ब्रिटिश बैंकिंग की परम्परागत नीति को अपनाते रहे हैं और वे प्रायः उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण नहीं देते थे। किन्तु पिछले कुछ वर्षों में

बैंकों ने अप्रत्यक्ष रूप से औद्योगिक वित्त की व्यवस्था करने में भाग लेना आरम्भ कर दिया है। औद्योगिक वित्त निगमों (Industrial Finance Corporations) में व्यापारिक बैंक अपने धन का विनियोग करते हैं और ये निगम उद्योगों को दीर्घ-कालीन ऋण देते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे बैंक अब प्रत्यक्ष रूप से भी उद्योगों को अधिक मात्रा में ऋण देने लगे हैं।

निक्षेप बीमा योजना (Deposit Insurance Scheme,—

भारतीय बैंकों के समय-समय पर फेल होते रहने के कारण हमारी बैंकिंग व्यवस्था में जनता का विश्वास पूर्णरूप से स्थापित नहीं हो सका है यद्यपि रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् फेल होने वाले बैंकों की संख्या काफी कम हो गई है किन्तु फिर भी कुछ बैंक फेल होते रहे हैं। बैंकों में जनता के विश्वास की कमी उनके विकास के रास्ते में बड़ी रुकावट रही है। बैंकिंग में जनता के विश्वास को स्थापित करने के लिए समय-समय पर यह सुझाव दिया गया कि देश में निक्षेपों का बीमा करने वाली एक निगम स्थापित की जाय। ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति (Rural Banking Enquiry Committee) ने इस योजना पर विचार किया किन्तु उनके अनुसार योजना को कार्य-रूप में लाने के लिए अभी उचित समय नहीं आया था। श्राफ समिति (Sharff Committee) ने अधिकारियों के द्वारा इस योजना की सम्भावनाओं की जाँच किये जाने की सिफारिश की। पिछले कुछ वर्षों में दो बैंकों के फेल हो जाने से बैंकों में जनता के विश्वास को काफी हानि पहुँची जिसके कारण निक्षेप बीमा योजना पर फिर से ध्यान केन्द्रित हो गया और सरकार ने बैंकों में जमा रकम का बीमा करने की योजना को कार्यरूप लाने का निश्चय किया।

१ जनवरी सन् १६६२ को निक्षेप बीमा निगम अधिनियम (Deposit Insurance Corporation Act) के अन्तर्गत निक्षेपों का बीमा करने के लिए एक निगम स्थापित कर दी गई। इस निगम की अधिकृत पूँजी एक करोड़ रुपये है जो पूर्णतया रिजर्व बैंक के द्वारा चुकाई गई है। निगम का प्रबन्ध एक संचालन मण्डल (Board of Directors) के द्वारा किया जाता है जिसका अध्यक्ष रिजर्व बैंक का गवर्नर होता है। इस बोर्ड में रिजर्व बैंक द्वारा मनोनीत एक डिप्टी गवर्नर, केन्द्रीय सरकार का एक अधिकारी और केन्द्रीय सरकार के द्वारा मनोनीत दो डाईरेक्टर होते हैं। यह निगम केन्द्रीय सरकार के आदेशों पर काम करती है।

अधिनियम के लागू होने के समय जितने बैंक कार्य कर रहे थे तथा उसके पश्चात् स्थापित होने वाले समस्त बैंक बीमा योजना के अन्तर्गत आ गये हैं। सभी बैंकों के निक्षेपों का बीमा कर दिया गया है किन्तु प्रत्येक बैंक में प्रत्येक जमाधारी की १५०० रुपये तक की जमा ही बीमायुक्त है। इस सीमा को निगम केन्द्रीय सरकार की अनुमति लेकर बढ़ा सकती है। इसके लिए निगम को बैंकों से अधिक से अधिक १५ नये पैसे प्रति १००) रुपये की जमा पर प्रति वर्ष प्रीमियम

(Premium) के रूप में लेने का अधिकार दिया गया है। इस समय कार्पोरेशन के द्वारा प्रीमियम (Premium) की वास्तविक दर ५ पैसे प्रति १००) रुपये निश्चित की गई है। निगम को यह अधिकार दिया गया है कि वह बैंको से किसी भी प्रकार की सूचना उनके निक्षेपों के सम्बन्ध में ले सकती है'।

बैंकों का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of Banks)

आजकल ससार में बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण के समर्थकों की संख्या काफी है। यद्यपि केन्द्रीय बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में विचार निश्चित हो गये हैं किन्तु व्यापारिक बैंको के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न अभी भी विवादग्रस्त है। कुछ लोगों का विचार है कि बैंक जैसी महत्वपूर्ण संस्थाएँ सरकार के हाथ में रहनी चाहिएँ, जिससे कि उनका सचालन व्यक्तिगत हित में न किया जाकर राष्ट्रीय हित में किया जा सके। बैंकिंग व्यवसाय का किसी भी राष्ट्र के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में इतना अधिक महत्व होता है कि उन्हें व्यक्तिगत प्रबन्ध में नही छोडा जा सकता है और इस प्रकार की संस्थाओं का राष्ट्रीय हित में प्रयोग करने के लिए उनका राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक है। इसके विपरीत कुछ अन्य लोगों का विचार है कि बैंको का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक नही है और सरकारी नियत्रण के द्वारा ही उन्हें राष्ट्रीय हितो के अनुकूल कार्य करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष तथा विपक्ष में दिये जाने वाले विभिन्न तर्कों का अध्ययन करने के पश्चात् ही यह कहा जा सकता है कि हमारे देश में बैंको का राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिए अथवा नही।

बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क
(Arguments in Favour of Nationalisation)—

(१) राष्ट्रीयकरण के पश्चात् व्यापारिक बैंक अपना कार्य अधिक कुशलतापूर्वक कर सकेंगे—राष्ट्रीयकरण के समर्थकों का विचार है कि व्यक्तिगत प्रबन्ध वाले बैंको की अपेक्षा सरकारी प्रबन्ध वाले बैंक अपने कार्य को अधिक कुशलतापूर्वक तथा मितव्ययितापूर्ण ढंग से करते हैं। निजी प्रबन्ध में बैंक ऋणों का वितरण उतनी कुशलतापूर्वक नही करते है, जितना कि वे सरकारी प्रबन्ध के अन्तर्गत कर सकेंगे। बैंको का राष्ट्रीयकरण करने से उनकी आपसी प्रतियोगिता समाप्त हो जायेगी तथा एक ही केन्द्र पर अनेक शाखाएँ खोलने के अपव्यय से भी बचा जा सकेगा।

(२) केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंको में अधिक सहयोग तथा समन्वय स्थापित किया जा सकेगा—साख का उचित नियन्त्रण करने के लिए केन्द्रीय बैंक तथा अन्य बैंको में अधिक से अधिक सहयोग का होना आवश्यक है। इस प्रकार का सहयोग तभी सम्भव हो सकेगा जब केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ अन्य बैंको का भी राष्ट्रीयकरण कर दिया जाये। साख एक ऐसा अस्त्र है जिसका प्रयोग

कल्याण अथवा विनाश दोनों के लिए ही किया जा सकता है। साख का निर्माण व्यापारिक बैंकों के द्वारा किया जाता है। साख निर्माण के इस अधिकार का प्रयोग राष्ट्र हित मे किया जाये, इसके लिए आवश्यक है कि देश के समस्त बैंको तथा केन्द्रीय बैंक मे सम्पूर्ण सहयोग हो। यह तब ही सम्भव हो सकता है जबकि बैंकिंग सस्थाओ को सरकारी प्रबन्ध मे ले लिया जाये।

(३) व्यापार-चक्रों को रोका जा सकेगा—पूँजीवादी समाज मे व्यापार-चक्र मुख्यतया बैंको की दोषपूर्ण साख नीति के कारण ही आते हैं। यदि बैंको के द्वारा समुचित साख नीति अपनाई जाय तो समाज मे व्यापार-चक्रो की तीव्रता को बहुत कम किया जा सकता है। जब बैंक निजी प्रबन्ध मे होते हैं, तो वे अपनी साख नीति को लाभ के उद्देश्य से चलाते हैं किन्तु बैंको का राष्ट्रीयकरण करके उनकी साख नीति का निर्माण तथा सचालन राष्ट्र हित में किया जा सकेगा। इस प्रकार समाज मे व्यापार-चक्रो का भय बहुत कम हो जायेगा। साम्यवादी देशो मे बैंको के सरकारी प्रबन्ध मे होने के कारण ही व्यापार-चक्रो को लगभग समाप्त कर दिया गया है।

(४) बैंकों के लाभों का लोक कल्याण के लिए प्रयोग—बैंक प्राय. लोकधन तथा जनता के विश्वास मे व्यवसाय करते है। अत उनके द्वारा उपार्जित लाभ का प्रयोग लोक कल्याण के लिए किया जाना चाहिए। बैंको का राष्ट्रीयकरण करने के पश्चात् इनके लाभ सरकारी कोष मे जमा होगे और वहाँ से उनका प्रयोग आर्थिक विकास तथा लोक हित कार्यो मे किया जा सकेगा।

(५) बैंकों का राष्ट्रीयकरण समाजवाद की स्थापना में सहायक है—वर्तमान समय मे समाजवाद को अन्य प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओ की अपेक्षा अच्छा माना जाने लगा है और अधिकाश देश इसी प्रकार की अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करने मे व्यस्त है। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे महत्वपूर्ण उत्पादन सस्थाओ का, जिनमे बैंक भी सम्मिलित है, राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त बैंको का राष्ट्रीयकरण वर्तमान पूँजीवाद से समाजवाद की ओर प्रगति करने मे सहायता करेगा। यदि बैंको का राष्ट्रीयकरण नही किया जायेगा तो वे समाजवादी व्यवस्था की स्थापना मे रुकावट पैदा कर सकते हैं। यह सम्भव हो सकता है कि वे सरकारी क्षेत्र वाले उद्योगो को ऋण देने से इन्कार कर दे अथवा अन्य तरीको से उनके विकास मे बाधाएँ उत्पन्न करे। वे अन्य उद्योगो के राष्ट्रीयकरण मे भी बाधाएं उत्पन्न कर सकते है। अतः समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के निर्माण के लिए बैंको का राष्ट्रीयकरण आवश्यक है।

राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे तर्क
(Arguments Against Nationalisation)—

बैंको के राष्ट्रीयकरण का विरोध करने वालो का विचार है कि आर्थिक विकास के लिए बैंको पर केवल नियन्त्रण की आवश्यकता है, उनका राष्ट्रीयकरण

नही किया जाना चाहिए। बैंको के राष्ट्रीयकरण के विरोध मे दिये जाने वाले तर्क इस प्रकार हैं—

(१) बैंकों की कार्यकुशलता कम हो जायेगी—सरकारी उद्योग मे प्रायः लोच तथा मितव्ययिता का अभाव रहता है और उनका कार्य अकुशल एव विलम्ब-पूर्ण हो जाता है। बैंको का राष्ट्रीयकरण हो जाने से उनके कार्य मे भी इस प्रकार की अकुशलता तथा अमितव्ययिता उत्पन्न हो जायगी। निजी बैंक अपने ग्राहको को जितनी कुशलता एव मितव्ययिता के साथ सेवाएँ प्रदान करते है, सरकारी बैंक सम्भवत ऐसा नही कर सकेंगे। बैंको को चलाने वाले कर्मचारी अपने ग्राहको के हितो के प्रति उदासीन हो सकते है, जिससे उद्योग तथा व्यवसाय को काफी हानि पहुँच सकती है। सरकारी कर्मचारी बैंकिंग व्यवसाय के विस्तार मे भी उतनी रुचि नही लेंगे जितनी निजी बैंको के द्वारा ली जाती है।

(२) निजी क्षेत्र पर बैंकों के राष्ट्रीयकरण का बुरा प्रभाव पड़ेगा—बैंको जैसी महत्वपूर्ण सस्थाओ का राष्ट्रीयकरण करने से निजी क्षेत्र के अन्य व्यवसायों को भी राष्ट्रीयकरण का भय उत्पन्न हो जायेगा और उनका स्वतन्त्र विकास रुक जायेगा। इसके अतिरिक्त बैंको का राष्ट्रीयकरण हो जाने से व्यवसायो की गोपनीयता समाप्त हो जायगी और निजी क्षेत्र का उत्साह कम हो जायेगा।

(३) राष्ट्रीयकृत बैंकों को चलाने के लिए योग्य तथा अनुभवी कर्मचारी सरकार के पास नहीं हैं—योग्य तथा निपुण कर्मचारी एव सचालकों के अभाव के कारण सरकार बैंकिंग व्यवसाय को ठीक प्रकार से नही चला सकेगी। जब तक सरकार के पास राष्ट्रीयकृत बैंको को चलाने के लिए योग्य तथा अनुभवी कर्मचारी नही है तब तक बैंको का राष्ट्रीयकरण देश के हित मे नही हो सकता है। इस दशा मे जल्दी करके सरकार देश की अर्थ-व्यवस्था को हानि पहुँचा सकती है।

क्या भारतीय बैंको का राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिए ?
(Should Banks be Nationalised in India)—

हमारे देश मे रिजर्व बैंक तथा इम्पीरियल बैंक का तो राष्ट्रीयकरण हो चुका है किन्तु अन्य बैंकों के राष्ट्रीयकरण के विषय मे अभी तक कुछ निश्चय नही हो पाया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् कई बार बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को उठाया जा चुका है किन्तु सरकार ने स्पष्टतया यह कहा है कि अभी उनका विचार बैंको का राष्ट्रीयकरण करने का नही है। यद्यपि सरकार ने बैंको के राष्ट्रीय-करण की बात को स्वीकार नही किया है किन्तु फिर भी हमारे देश मे बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे बहुत कुछ कहा जा चुका है। पिछले वर्षों मे भारत सरकार ने जीवन बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण करके बैंको के राष्ट्रीयकरण की सम्भावना को बढा दिया है।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष तथा विपक्ष मे दिये जाने वाले तर्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि **बैंकों का राष्ट्रीयकरण हमें समाजवादी समाज की स्थापना में बहुत सहायता दे सकता है।** हमने भारतवर्ष मे समाजवाद की स्थापना का लक्ष्य निश्चित किया है। बैंकों का निजी क्षेत्र मे रहना इस प्रकार के समाज की स्थापना मे कठिनाई उत्पन्न करता है। अतः समाजवाद की स्थापना करने के लिए बैंको जैसी महत्वपूर्ण संस्थाओ का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक है। भारतवर्ष मे **आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए भी बैंकों का राष्ट्रीयकरण होना आवश्यक प्रतीत होता है।** नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे समाज के समस्त साधनो का प्रयोग आर्थिक विकास के लिए किया जाना चाहिए तथा इन साधनों का बटवारा निश्चित लक्ष्यो के अनुसार होना चाहिए। यदि हमारे बैंक व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्य से काम करते हैं तथा उन्हे निजी क्षेत्र के द्वारा चलाया जाता है, तो हमे आर्थिक विकास मे अधिक सफलता नही मिल सकेगी। आर्थिक नियोजन काल मे हमारे देश के सामने मुद्रा-प्रसार की प्रमुख समस्या है, जिसे देश मे काम करने वाले समस्त बैंको के सहयोग से ही दूर किया जा सकता है। इस प्रकार का सहयोग प्राप्त करने के लिए बैंको का राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिए। यद्यपि रिजर्व बैंक इन बैंको के ऊपर नियन्त्रण करता है किन्तु ये बैंक पूर्णतया उसके आदेशानुसार कार्य नही करते हैं, जिसके कारण रिजर्व बैंक की साख नियन्त्रण नीति अधिक प्रभावशाली नही हो सकी है। इसके अतिरिक्त **बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने से उनके बहुत बड़े साधनों का प्रयोग देश के आर्थिक विकास के लिए किया जा सकेगा।** अत बैंको का राष्ट्रीयकरण नियोजित आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है। यह भी कहा गया है कि **बैंकों के राष्ट्रीयकरण के द्वारा व्यक्तिगत बैंकों के सभी दोष दूर किये जा सकेंगे तथा बैंकिंग सुविधाओं के असंतुलित विकास को रोका जा सकेगा।**

भारतीय बैंको के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे यह कहा जाता है कि अभी तक हमारे देश मे निजी क्षेत्र का महत्व समाप्त नही हुआ है। आर्थिक विकास की वर्तमान स्थिति मे निजी क्षेत्र भी देश के अविकसित साधनो को प्रयोग करने मे बडी सहायता दे सकता है। बैंको का राष्ट्रीयकरण करने से निजी क्षेत्र हतोत्साहित होगा। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि किसी उद्योग का राष्ट्रीयकरण उस समय किया जाना चाहिए जबकि वह पूरी तरह से विकसित हो जाये किन्तु भारतीय बैंकिंग अभी विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे है और उसका राष्ट्रीयकरण करने से बैंको का विकास रुक जायेगा। राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे सबसे महत्वपूर्ण तर्क यह दिया गया है कि सरकारी क्षेत्र मे आ जाने से उत्साह तथा व्यवसाय की कमी के कारण बैंको मे निष्क्रियता उत्पन्न हो जायेगी।

यद्यपि बैंको के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध मे काफी वाद-विवाद है किन्तु इस बात से सभी सहमत हैं कि बैंकिंग व्यवस्था पर सरकार का कडा नियन्त्रण होना

चाहिए और उसे पूर्णतया निजी क्षेत्र की इच्छा तथा सुविधाओं के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। हमारे देश में बैंकों के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में कुछ व्यवहारिक कठिनाइयां हो सकती हैं किन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं कि बैंकों का राष्ट्रीयकरण हमारे देश में आर्थिक विकास की गति को तीव्र कर सकता है तथा आर्थिक नियोजन को सफल बनाकर समाजवाद की स्थापना में सहायक हो सकता है। यद्यपि कुछ समय के लिए बैंकों के राष्ट्रीयकरण को स्थगित किया जा सकता है किन्तु बहुत अधिक समय तक उसे स्थगित करना राष्ट्र के हित में नहीं होगा। अत भारतवर्ष में बैंकों के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता का अनुभव होना ठीक ही है, क्योंकि बैंकों के इतने बड़े साधनों के प्रयोग को निजी व्यवसायियों की इच्छा पर छोड़ना उचित नहीं है। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के द्वारा ही बैंकों के समस्त साधनों को अधिक प्रभावशाली तरीके से देश के आर्थिक विकास के लिए लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त बैंक हमारी अर्थ-व्यवस्था का आधार है और इतनी महत्वपूर्ण संस्थाओं को सरकारी क्षेत्र में न लाना देश के दीर्घकालीन हित में नहीं है।

परीक्षा प्रश्न

(१) मिश्रित पूंजी वाले बैंकों के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिए। क्या स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया को आप मिश्रित पूंजी बैंक कह सकते हैं? कारण सहित उत्तर दीजिये। (आगरा बी० ए० १९६५)

(२) भारतीय सम्मिलित पूंजी वाले बैंकों की कमियां तथा कठिनाइयां क्या हैं? इनके सुधार के सुझाव दीजिये। (आगरा बी० ए० १९६३)

(३) व्यवसायिक बैंकों के कामों की व्याख्या करें। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में उनका क्या महत्व है? (आगरा बी० ए० १९६०)

(४) इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया के राष्ट्रीयकरण में कौन-कौनसी समस्याएँ उठी थीं? क्या आप भारत में व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने के पक्ष में हैं? (आगरा बी० ए० १९५६ स)

(५) आधुनिक काल में भारत में बैंकिंग व्यवस्था में क्या परिवर्तन हो गये हैं और क्यों? (आगरा बी० कॉम १९५६ स)

(६) भारत में व्यापारिक बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण करने के पक्ष एवं विपक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिये। (गोरखपुर बी० ए० १९५६)

(७) सन् १९४७ से आज तक भारतीय बैंकिंग की मुख्य-मुख्य प्रवृत्तियों का विवेचन करिये और बतलाइये कि भविष्य में उनका क्या लाभ होगा? (राजस्थान बी० ए० १९५६)

(८) भारतीय बैंकिग व्यवस्था के दोषों का वर्णन कीजिये। सुधार के लिए सुझाव दीजिए व भविष्य बताइये। (विक्रम बी० कॉम १९५९)

(९) भारतीय बैंकिंग रचना में जो कमियां हैं उनका वर्णन करिये और बताइये कि सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट से वे कहां तक दूर हुई हैं? (नागपुर बी० ए० १९५९)

(१०) व्यापारिक बैंकों के प्राथिक कार्यों का विवेचन करिये। बैंकों को अधिक उपयोगी बनाने के लिए उन्हें भारत में क्या विशेष कार्य सौंपे जा सकते हैं? (बिहार बी० कॉम १९५९)

२२

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया

RESERVE BANK OF INDIA

आर्थिक जीवन मे केन्द्रीय बैंक का महत्व इतना अधिक है कि उसके बिना किसी भी देश की बैंकिंग व्यवस्था को सम्पूर्ण नही कहा जा सकता है। केन्द्रीय बैंक देश मे साख व मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करके आर्थिक स्थिरता स्थापित करता है। वह देश की सम्पूर्ण बैंकिंग व्यवस्था का नियन्त्रक एव अभिभावक होता है। वह सरकार को उचित आर्थिक एवं मौद्रिक नीति के निर्माण करने तथा उसे कार्यरूप मे लाने मे सहायता देता है। वह सरकारी बैंकर होता है और आवश्यकता पडने पर सरकार को ऋण भी देता है। इन्ही सब कारणो से किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए केन्द्रीय बैंक का होना आवश्यक है। पिछले महायुद्ध के पश्चात् लगभग सभी देशो मे केन्द्रीय बैंको की स्थापना हो चुकी है। भारतवर्ष मे केन्द्रीय बैंक की स्थापना की आवश्यकता काफी लम्बे समय से अनुभव की जा रही थी किन्तु सन् १९३५ से पूर्व उसे कार्यरूप मे नही लाया जा सका। सन् १९२० के अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सम्मेलन मे यह निश्चय किया गया कि जिन देशो मे केन्द्रीय बैंक नही हैं वहां पर इस प्रकार की सस्था स्थापित की जानी चाहिए। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारतवर्ष मे यह अनुभव किया जाने लगा कि देश की मौद्रिक व्यवस्था सुदृढ नही है और एक ऐसी केन्द्रीय सस्था की आवश्यकता है जो देश की मुद्रा व साख नीतियो मे समन्वय स्थापित कर सके। भारत सरकार ने देश मे केन्द्रीय बैंक के अभाव को पूरा करने के लिए सन् १९२१ मे इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक सम्बन्धी कुछ कार्य दे दिये। किन्तु केन्द्रीय बैंक के रूप मे इम्पीरियल बैंक का कार्य सतोषजनक नही रहा और देश मे एक पृथक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। सन् १९२७ मे हिल्टन यग कमीशन ने सर्वप्रथम भारतवर्ष मे केन्द्रीय बैंक के रूप मे रिजर्व बैंक की स्थापना का सुझाव दिया। रिजर्व बैंक की स्थापना के लिए एक बिल विधान सभा मे प्रस्तुत किया गया किन्तु अत्यधिक मतभेद होने के कारण वह बिल पास न हो सका और रिजर्व बैंक की स्थापना न की जा सकी। सन् १९३० मे केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति

(Central Banking Enquiry Committee) ने रिजर्व बैंक की स्थापना के लिए जोरदार सिफारिश की। कमेटी की सिफारिश के परिणामस्वरूप फिर एक बिल रिजर्व बैंक की स्थापना के लिए प्रस्तुत किया गया जिसे सन् १९३४ मे रिजर्व बैंक ग्राफ इण्डिया एक्ट के नाम से पास कर दिया गया और सन् १९३५ मे रिजर्व बैंक ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया।

रिजर्व बैंक की स्थापना की ग्रावश्यकता

(Need for the Establishment of Reserve Bank)—

देश मे रिजर्व बैंक की स्थापना करने की आवश्यकता कई कारणो से अनुभव की गई जिनमे से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(१) मुद्रा व साख नीति मे समन्वय स्थापित करने के लिए—रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व हमारे देश मे मुद्रा व साख पर दो अलग-अलग सस्थाओ का नियन्त्रण रहता था और इन दोनो सस्थाओ की नीति मे काफी भिन्नता पाई जाती थी। उस समय मुद्रा जारी करने का कार्य इम्पीरियल बैंक करता था जिसके कारण देश की मुद्रा व साख नीति मे किसी प्रकार का समन्वय स्थापित करना सम्भव नही था। मुद्रा व साख पर इस दोहरे नियन्त्रण को समाप्त करने तथा देश की मुद्रा व साख नीतियो मे समन्वय स्थापित करने के लिए रिजर्व बैंक की आवश्यकता अनुभव की गई। मुद्रा के मूल्य मे स्थिरता स्थापित करने के लिए आवश्यक था कि देश की मुद्रा व साख पर एक ही केन्द्रीय सस्था का नियन्त्रण हो।

(२) मुद्रा बाजार का सुसंगठित न होना—भारतीय मुद्रा बाजार का संगठन भी उस समय ठीक नही था और उसमे किसी प्रकार की एकरूपता नही पाई जाती थी। प्रत्येक बैंक की अपनी पृथक नीति होती थी और मुद्रा बाजार के विभिन्न सदस्यो मे किसी प्रकार का सहयोग नही था। भारतवर्ष मे एक सुसगठित मुद्रा बाजार का विकास करने के लिए भी रिजर्व बैंक की स्थापना की आवश्यकता अनुभव की गई।

(३) बैंकों के कोषों के केन्द्रीयकरण की आवश्यकता—रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व सब बैंक अपने अलग-अलग कोष रखते थे और कोषो के इस प्रकार बिखरा होने के कारण बैंकिंग व्यवस्था मे दृढता नही आ पाती थी और जनता का विश्वास भी उसमे स्थापित नही किया जा सकता था। अत: बैंको मे स्थिरता लाने के लिए कोषो का केन्द्रीयकरण आवश्यक था। रिजर्व बैंक कोषो के इस केन्द्रीयकरण को सम्भव बना सकता था।

(४) दोषपूर्ण बैंकिंग व्यवस्था—देश मे बैंकिंग नीति को सही प्रकार से चलाने के लिए भी एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता थी। केन्द्रीय बैंक के अभाव के कारण देश मे बैंकिंग नीति का उचित संचालन नही हो पाता था जिससे फेल होने

वाले बैंको की संख्या बहुत अधिक हो गई थी। रिजर्व बैंक की स्थापना के द्वारा बैंकिंग व्यवस्था के इन दोषो को दूर किया जा सकता था।

(५) केन्द्रीय बैंक के रूप में इम्पीरियल बैंक की अनुपयुक्तता—इम्पीरियल बैंक को, जो पहले से ही देश मे केन्द्रीय बैंक के कुछ कार्य कर रहा था, केन्द्रीय बैंक के रूप मे अनुपयुक्त समझा गया क्योकि उसे अन्य बैंको का विश्वास प्राप्त नही था। व्यापारिक बैंक होने के नाते वह अन्य बैंको के साथ बाजार मे प्रतियोगिता करता था जिसके कारण व्यापारिक बैंको को उसमे विश्वास नही था और वे उससे अपने बिलो को भुनाने अथवा ऋण लेने मे सकोच करते थे। ऐसी दशा मे इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक के रूप मे सतोषजनक कार्य नही कर सकता था। इसके अतिरिक्त इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक बनाने के लिए उसके व्यापारिक बैंक के कार्यो को समाप्त करना आवश्यक था क्योकि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंक का कार्य नही कर सकता है। उस समय इम्पीरियल बैंक सबसे बडा बैंक था और उसकी शाखाये समस्त देश मे फैली हुई थी। इतने बडे बैंक के व्यापारिक बैंकिंग कार्यो को समाप्त कर देना देश के आर्थिक हित मे नही था। इम्पीरियल बैंक के सचालक मण्डल ने भी बैंक के व्यापारिक बैंकिग कार्यो का अन्त किये जाने का विरोध किया। इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक के बनाने के लिए यह आवश्यक था कि उसे मुद्रा जारी करने तथा उसका नियन्त्रण करने का अधिकार दिया जाय किन्तु इम्पीरियल बैंक के द्वारा इस प्रकार के अधिकार के दुरुपयोग का भय था। इन्ही सब कारणो से इम्पीरियल बैंक के केन्द्रीय बैंक के बनाये जाने का विरोध किया गया और केन्द्रीय बैंकिग जांच समिति ने देश मे एक नये केन्द्रीय बैंक की स्थापना पर जोर दिया।

रिजर्व बैंक की स्थापना से आशाये—

रिजर्व बैंक की स्थापना के समय यह आशा की गई थी कि बैंक दर मे होने वाले परिवर्तन कम हो जायेंगे और वह घटकर सामान्य स्तर पर आ जायेगी। यह भी आशा की गई थी कि वह बैंको को दोबारा बिल भुनाने की सुविधाये देगा तथा वह बैंको को उचित परामर्श भी दे सकेगा। रिजर्व बैंक की स्थापना हो जाने से सरकारी अधिकारियो को विभिन्न प्रकार की वित्तीय जिम्मेदारियो से, जिनके लिए वे अनुपयुक्त थे, मुक्त किया जा सकेगा। रिजर्व बैंक देश मे बैंकिग सुविधाओ का विस्तार करने मे सहायता देगा तथा देश मे सुदृढ बैंकिग व्यवस्था स्थापित करेगा। इसके अतिरिक्त वह देश मे मुद्रा की क्रय-शक्ति को स्थिर रखने मे सहायता करेगा तथा देश मे उचित मौद्रिक नीति का विकास करेगा। रिजर्व बैंक की स्थापना से उपर्युक्त सभी लाभो को प्राप्त करने की आशा की गई थी और वह क्रियात्मक रूप से इन सभी उद्देश्यो को पूरा करने मे सफल रहा है।

रिजर्व बैंक का विधान (Constitution of Reserve Bank of India)—

सन् १६३४ के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के आधीन रिजर्व बैंक एक अशधारियो के बैंक के रूप मे स्थापित किया गया। बैंक की स्थापना के समय उसकी पूँजी ५ करोड रुपये निश्चित की गई और उसे १०० रुपये वाले पूर्णतया चुकता अशो (Fully Paid up Shares) मे बाँट दिया गया। २ लाख २० हजार रुपये के मूल्य के अशो को केन्द्रीय सरकार के द्वारा खरीद लिया गया तथा शेष अशो को व्यक्तिगत अशधारियो को बेचने के लिए प्रस्तुत किया गया। रिजर्व बैंक की सचालन शक्ति कुछ थोड़े से हाथो मे केन्द्रित न होने पाये, इस उद्देश्य से इन अशों को बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा रगून के क्षेत्रो मे बाँट दिया गया। प्रत्येक क्षेत्र मे एक निश्चित मूल्य के अश ही बेचे गये और इन सब क्षेत्रो मे अशधारियो के अलग-अलग रजिस्टर रखे जाते थे। आरम्भ मे किसी भी व्यक्ति को पाँच से अधिक अश नही दिये गये किन्तु धीरे-धीरे हस्तातरण के द्वारा यह अश कुछ लोगो के पास केन्द्रित होने लगे और १६४० मे सरकार ने इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए यह नियम बना दिया कि कोई भी व्यक्ति २०,००० रुपये से अधिक मूल्य के अश नही रख सकेगा। प्रत्येक अशधारी प्रति पाँच अशो के लिए एक वोट दे सकता था किन्तु किसी भी व्यक्ति को दस से अधिक वोट देने का अधिकार नही था। इस प्रकार प्रत्येक अशधारी की मतदान शक्ति को सीमित रखा जाता था।

रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of the Reserve Bank of India)—

सरकार और बैंक के बीच निकट सम्पर्क स्थापित करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न कई बार उठाया गया किन्तु सन् १६४८ तक इस दिशा मे कोई महत्वपूर्ण कार्य नही किया जा सका और रिजर्व बैंक एक अशधारियो के बैंक के रूप मे कार्य करता रहा। सन् १६४७ मे स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के पश्चात् रिजर्व बैंक को राष्ट्रीयकरण करने के प्रश्न को फिर से उठाया गया। भारत सरकार की आर्थिक नीति तथा रिजर्व बैंक की मुद्रा नीति मे समन्वय स्थापित करने के लिए यह आवश्यक था कि इस बैंक को सरकार के स्वामित्व मे ले लिया जाय। यह भी अनुभव किया गया कि केन्द्रीय बैंक जैसी महत्वपूर्ण सस्था को व्यक्तिगत हाथो मे छोडना देश के आर्थिक हित मे नही है। देश मे नियोजन का युग आरम्भ होने की सम्भावना के कारण भी रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता अनुभव की गई। बैंक आफ इगलैंड तथा अन्य बहुत से केन्द्रीय बैंको का राष्ट्रीयकरण हो चुका था जिसने रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के विचार को और भी अधिक पुष्ट कर दिया। इन सब परिस्थितियो मे रिजर्व बैंक को पूर्णतया सरकारी बैंक बनाने का निश्चय किया गया।

३ सितम्बर सन् १६४८ को रिजर्व बैंक (लोक स्वामित्व) एक्ट पास कर दिया गया और उसके अन्तर्गत रिजर्व बैंक के समस्त अशो को सरकार को

हस्तान्तरित करने की व्यवस्था की गई। १ जनवरी सन् १६४६ को रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और उसके सभी अंश सरकार के द्वारा खरीद लिए गये। इस प्रकार रिजर्व बैंक का स्वामित्व तथा प्रबन्ध पूर्णतया भारत सरकार के हाथों में आया और उसने एक सरकारी बैंक के रूप में अपना कार्य आरम्भ किया। रिजर्व बैंक के सभी अंश सरकार को हस्तान्तरित कर दिये गये जिसके लिए अंशधारियों को प्रत्येक १०० रुपये वाले अंश के लिए ११८ रुपये १० आने क्षतिपूर्ति के रूप में दिये गये। रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् भी उसकी पूंजी ५ करोड़ रुपये रखी गई किन्तु उसके सभी अंशों का स्वामित्व केन्द्रीय सरकार के पास आ गया।

बैंक का प्रबन्ध (Management of the Bank)—

रिजर्व बैंक का प्रबन्ध भारत सरकार के हाथों में है और एक केन्द्रीय संचालक मण्डल के द्वारा उसे चलाया जाता है। केन्द्रीय संचालक बोर्ड (Central Board of Directors) में अब १५ सदस्य होते हैं जिनमें से एक गवर्नर तथा तीन डिप्टी गवर्नर सरकार के द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। इनकी नियुक्ति ५ वर्ष के लिए होती है और इन्हें वेतन दिया जाता है। दस डाइरेक्टर्स (Directors) तथा एक सरकारी कर्मचारी केन्द्रीय सरकार के द्वारा मनोनीत (nominate) किये जाते हैं जिनमें से चार डाइरेक्टर्स स्थानीय संचालक बोर्डों में से लिए जाने चाहिएँ। इन डाइरेक्टर्स की नियुक्ति ४ वर्ष के लिए की जाती है जिनमें से प्रत्येक दो प्रति वर्ष निवृत्त (Retire) होते रहते हैं। राष्ट्रीयकरण से पूर्व केन्द्रीय संचालक मण्डल में १६ सदस्य होते थे जिनमें से ८ डाइरेक्टर्स विभिन्न क्षेत्रों के अंशधारियों के द्वारा चुने जाते थे।

बैंक का प्रबन्ध चलाने के लिए प्रत्येक क्षेत्र में एक स्थानीय बोर्ड (Local Board) है जिसमें ५ सदस्य होते हैं जिनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है। इन सदस्यों की नियुक्ति इस प्रकार की जाती है कि स्थानीय आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व प्राप्त किया जा सके। बोर्ड के सदस्यों की नियुक्ति ४ वर्ष के लिए होती है। स्थानीय बोर्डों का काम केन्द्रीय बोर्ड को परामर्श देना तथा केन्द्रीय बोर्ड के द्वारा दिये गये कार्यों को करना है। यह स्थानीय बोर्ड कलकत्ता, बम्बई, मद्रास तथा दिल्ली में हैं।

बैंक का संगठन (Organisation of the Bank)—

रिजर्व बैंक में विभिन्न कार्यों को करने के लिए भिन्न-भिन्न विभाग स्थापित किये हुए हैं। यह विभाग इस प्रकार हैं—

(१) निर्गम विभाग (Issue Department)—इस विभाग का प्रमुख कार्य नोट जारी करना है। यह विभाग दो उप-विभागों में बँटा हुआ है—(१) कोषाध्यक्ष विभाग—यह उप-विभाग पत्र-मुद्रा को चलाने तथा उसे प्रमुख एवं गौण मुद्राओं में

बदलने का कार्य करता है। (२) साधारण विभाग—यह उप-विभाग नोटो को जांचने, उन्हे रद्द करने, हिसाब रखने तथा आन्तरिक अकेक्षण (Auditing) का कार्य करता है।

(२) बैंकिंग विभाग (Banking Department)—इस विभाग का कार्य बैंको के सुरक्षित कोष को अपने पास जमा रखना तथा आवश्यकता पडने पर उनकी सहायता करना है। रिजर्व बैंक एक्ट के अनुसार यह विभाग अनुसूचीवद्ध बैंको (Scheduled Banks) की माग-देय (Demand Liabilities) का ५% तथा काल-देय (Time Liabilities) का २% अपने पास जमा रखता है। यह विभाग समाशोधन गृह (Clearance House) का कार्य भी करता है। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक ऋणो का प्रबन्ध करना, सरकारी रुपये का हस्तातरण करना, सरकार की आर्थिक सहायता करना तथा बैंको को परामर्श देने के कार्य भी इसी विभाग के द्वारा किये जाते हैं।

(३) विदेशी विनिमय विभाग (Foreign Exchange Department)—इस विभाग की स्थापना द्वितीय विश्व-युद्ध काल मे की गई थी। यह विभाग विनिमय दरो मे स्थिरता लाने के उद्देश्य से निश्चित दरो पर विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करने का कार्य करता है। विदेशी विनिमय नियन्त्रण का प्रबन्ध भी इसी विभाग के द्वारा किया जाता है।

(४) कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department)—यह विभाग रिजर्व बैंक के कृषि साख सम्बन्धी कार्यों को करता है। केन्द्रीय व राज्य सरकारो, प्रादेशिक सहकारी बैंकों तथा अन्य बैंकिंग सस्थाओ की कृषि साख सम्बन्धी नीति का निर्माण करना तथा कृषि साख की समस्याओ के सम्बन्ध मे खोज करने के लिए विशेषज्ञो को नियुक्त करना इसके प्रमुख कार्य हैं।

(५) बैंकिंग क्रियाओं का विभाग (Department of Banking Operations)—यह विभाग निरीक्षण विभाग, संचालन विभाग तथा निस्तारण विभाग मे बँटा हुआ है। निरीक्षण विभाग का कार्य बैंको का वार्षिक निरीक्षण करना, उनके द्वारा भेजे गये विवरण पत्रो की जाँच करना तथा अपनी रिपोर्ट मे बैंकिंग व्यवस्था के सुधार के लिए सुझाव देना है। सचालन विभाग रिजर्व बैंक के बैंकिंग सम्बन्धी समस्त कार्यों को करता है तथा निस्तारण विभाग बैंको के बन्द कर देने के सम्बन्धी कार्यों को करता है।

(६) अन्वेषण तथा समंक विभाग (Research and Statistics Department)—इस विभाग का कार्य मुद्रा, वित्त तथा साख सम्बन्धी समस्याओ का अध्ययन करना, इन विषयो से सम्बन्धित आंकडो को इकट्ठा करना तथा उन्हें वार्षिक रिपोर्ट के रूप मे प्रकाशित करना है।

रिजर्व बैंक के कार्य

(Functions of the Reserve Bank of India)

रिजर्व बैंक हमारे देश का केन्द्रीय बैंक है और वह उन सभी कार्यों को करता है जो एक केन्द्रीय बैंक के द्वारा किये जाने चाहिएँ। रिजर्व बैंक एक्ट के अनुसार इस बैंक का मुख्य कार्य बैंक नोटों के निर्गमन का नियमन करना तथा भारत में मौद्रिक स्थिरता प्राप्त करने के लिए कोष रखना और सामान्यतः देश की मुद्रा व साख प्रणाली को उसके लाभ के लिए चलाना है। अतः रिजर्व बैंक को देश की मुद्रा व्यवस्था के नियन्त्रण एवं नियमन का कार्य सौंपा गया है। इसी उद्देश्य के लिए इस बैंक को नोट निर्गमन का एकाधिकार दिया गया है तथा व्यापारिक बैंकों के नियन्त्रण के सम्बन्ध में इसे विशेष अधिकार प्राप्त है। यह बैंक सरकार के बैंकर का कार्य करता है तथा आर्थिक और वित्तीय मामलों में सरकार को सलाह देता है। देश का विदेशी विनिमय कोष इसी बैंक के पास रहता है और वह रुपये के विदेशी मूल्य को स्थिर रखने का कार्य भी करता है। भारत के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के सदस्य होने के कारण उत्पन्न होने वाले कार्यों का संचालन रिजर्व बैंक ही करता है। देश में नियोजित आर्थिक विकास आरम्भ हो जाने के कारण रिजर्व बैंक का कार्य क्षेत्र विस्तृत हो गया है और अब उसे देश में ऐसी बैंकिंग व्यवस्था स्थापित करनी है जो विकासशील अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा कर सके। कृषि वित्त की व्यवस्था करना आरम्भ से ही उसका कर्त्तव्य रहा है किन्तु अब उसे औद्योगिक वित्त की सुविधाओं का विस्तार भी करना है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक के परम्परागत कार्यों के अतिरिक्त अब रिजर्व बैंक को विकास सम्बन्धी बहुत से कार्य भी करने हैं। रिजर्व बैंक के द्वारा किये जाने वाले प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) नोट जारी करना (Issue of Currency Notes)— रिजर्व बैंक को भारत में पत्र-मुद्रा जारी करने का एकाधिकार प्राप्त है और देश में चलने वाले समस्त नोट उसी के द्वारा प्रकाशित किये जाते हैं। रिजर्व बैंक को यह विशेष अधिकार इसलिए दिया गया है जिससे कि वह मुद्रा तथा साख की मात्रा पर प्रभावशाली नियन्त्रण करके देश में आर्थिक स्थिरता स्थापित कर सके। पत्र-मुद्रा जारी करने का कार्य रिजर्व बैंक के नोट निर्गम विभाग (Note Issue Department) के द्वारा किया जाता है। नोट निर्गम विभाग एक पृथक विभाग है और उसके आदेय तथा देनदारी (Assets and Liabilities) बैंकिंग विभाग से बिल्कुल अलग रक्खी जाती हैं। नोट निर्गम के आदेयों (Assets) में मुख्यतः सोना, सोने के सिक्के, स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ, रुपये के सिक्के तथा भारत सरकार की प्रतिभूतियाँ होती हैं।

सन् १९५६ तक रिजर्व बैंक के द्वारा अनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System) के अनुसार नोट निर्गम किया जाता था। पत्र-मुद्रा

मे जनता के विश्वास को बनाये रखने के लिए रिजर्व बैंक को नोटो के पीछे ४०% सुरक्षित कोष रखना होता था जिसमे सोने के सिक्के, सोना तथा स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ रक्खी जाती थी। इस कोष मे हर समय २१ रुपये ३ आने ८ पाई प्रति तोला के हिसाब से ४० करोड रुपये का सोना रखना अनिवार्य था। नोटो के ६०% भाग के पीछे रुपया प्रतिभूतियाँ (Rupee Securities), स्वीकृत व्यापारिक बिल तथा सरकार के प्रतिज्ञा-पत्र रक्खे जाते थे किन्तु इसमे रुपया प्रतिभूतियाँ ५० करोड रुपये अथवा कुल के एक चौथाई से अधिक नही हो सकती थी। युद्ध-काल मे यह प्रतिबन्ध हटा लिया गया जिसके कारण पत्र-मुद्रा कोष मे रुपया प्रतिभूतियो की सख्या निरन्तर बढती गई।

भारत मे नियोजन का युग आरम्भ हो जाने पर आर्थिक विकास के लिए काफी बडी मात्रा मे पत्र-मुद्रा का विस्तार करना पडा जिसके कारण रिजर्व बैंक के लिए नोटो के पीछे पर्याप्त कोष रखना कठिन हो गया। इसके अतिरिक्त द्वितीय योजना काल मे विदेशी विनिमय सकट के कारण भारत के विदेशी विनिमय कोष बहुत कम रह गये। यह भी अनुभव किया गया कि मुद्रा कोष मे दुर्लभ विदेशी मुद्राओ का रखना अनुपयुक्त है क्योकि उनका प्रयोग आर्थिक विकास के कामो के लिए किया जा सकता है। अन्य देशो के केन्द्रीय बैंको की नीति की प्रवृत्ति भी इसी दिशा मे है और अनुपातिक कोष प्रणाली के स्थान पर धीरे-धीरे न्यूनतम कोष प्रणाली को अपनाया जा रहा है। इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए सन् १९५६ मे रिजर्व बैंक एक्ट मे एक सशोधन के द्वारा अनुपातिक कोष प्रणाली को समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर न्यूनतम कोष प्रणाली को अपना लिया गया। अब रिजर्व बैंक के द्वारा न्यूनतम कोष प्रणाली (Minimum Reserve System) के अनुसार नोट निर्गम किया जाता है। आरम्भ मे न्यूनतम कोष की मात्रा ५१५ करोड रुपये निश्चित की गई थी जिसमे ४०० करोड रुपये की स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ तथा ६२·५० रुपया प्रति तोला के हिसाब से ११५ करोड रुपये का सोना रखना अनिवार्य था। प्रतिभूतियो की मात्रा को घटाकर ३०० करोड रुपये तक भी किया जा सकता था। २५ अक्तूबर सन् १९५७ को एक सरकारी आदेश के द्वारा पत्र-मुद्रा के पीछे रक्खे जाने वाले न्यूनतम कोष की मात्रा को घटाकर २०० करोड रुपया कर दिया गया जिसमे ८५ करोड रुपये की स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ तथा ११५ करोड रुपये का सोना रक्खा जाता है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (सशोधन) एक्ट सन् १९५७ के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को यह अधिकार दे दिया गया है कि वह केन्द्रीय सरकार की पूर्व स्वीकृति से अपने विदेशी प्रतिभूतियो के कोष को शून्य भी कर सकता है। यह सब कुछ इसलिए किया गया है जिससे कि आर्थिक विकास की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए मुद्रा प्रणाली मे अधिक लोच का गुण पैदा किया जा सके तथा विदेशी विनिमय साधनो को आर्थिक विकास के लिए प्रयोग किया जा सके।

(२) **बैंकों के बैंक का कार्य** (Banker's Bank)—रिजर्व बैंक का एक प्रमुख कार्य बैंकों पर नियन्त्रण करना है जिसमे कि वह देश मे मुद्रा व साख की मात्रा को घटा-बढा कर आवश्यकतानुसार कर सके। इस उद्देश्य प्राप्ति के लिए बैंकों को अपनी कुल जमा का एक निश्चित भाग रिजर्व बैंक के पास जमा रखना होता है। रिजर्व बैंक एक्ट के अनुसार प्रत्येक अनुसूचीबद्ध बैंक (Scheduled Bank) को अपनी माग देय (*Demand liabilities*) का ५% तथा काल देय (*Time* Liabilities) का २% रिजर्व बैंक के पास अनिवार्य रूप से जमा रखना होता है। रिजर्व बैंक एक्ट (सशोधन) अधिनियम सन् १९५६ के द्वारा रिजर्व बैंक को बैंको के द्वारा रक्खे जाने वाले सुरक्षित कोष के अनुपात मे परिवर्तन करने का अधिकार भी दे दिया गया है। यदि वह चाहे तो अनुसूचित बैंको (Scheduled Banks) से उनकी माग देय (*Demand liabilities*) का ५% से २०% तक तथा काल देय (Time liabilities) का २% से ८% तक जमा के रूप मे प्राप्त कर सकता है। बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम के अन्तर्गत असूचीबद्ध बैंको (Non-scheduled Banks) के लिए भी यह अनिवार्य कर दिया गया है कि वे अपनी माग व काल देय (Demand and Time liabilities) का क्रमशः ५ व २ प्रतिशत कम से कम रिजर्व बैंक के पास रक्खेंगे। इस प्रकार बैंको के नक्द कोषों का केन्द्रीयकरण हो गया है जिससे बैंको को सुरक्षा तथा तरलता दोनो ही प्राप्त होती हैं।

बैंको के बैंक के रूप मे रिजर्व बैंक अनुसूचीबद्ध बैंको (Scheduled Banks) को ऋण देने की सुविधायें देता है। ये बैंक आवश्यकता पडने पर प्रथम श्रेणी के बिलो को रिजर्व बैंक से दुबारा भुना सकते हैं अथवा स्वीकृत प्रतिभूतियो की आड पर ऋण भी ले सकते हैं। रिजर्व बैंक केवल उन्ही बिलो को भुनाता है जो भारतवर्ष मे लिखे गये हो, जिनका भुगतान भारतवर्ष मे होना हो, जिन पर दो या अधिक अच्छे हस्ताक्षर हो, जिनमे से एक अनुसूचीबद्ध बैंक का होना आवश्यक है और जो ९० दिन से अधिक अवधि के लिए न लिखे गये हो। इस सम्बन्ध मे अच्छे कृषि बिलो को छूट दी गई है और वे १५ महीने तक की अवधि के हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक बैंको की साख नीति पर नियन्त्रण करता है। बैंक दर को घटा बढाकर तथा प्रतिभूतियो के क्रय-विक्रय एव अन्य विधियों के द्वारा वह साख निर्माण को नियन्त्रित करता है। रिजर्व बैंक देश मे बैंकिंग कार्य करने के लिए बैंको को लाइसेन्स देता है, उनकी शाखा विस्तार नीति पर नियन्त्रण करता है और आवश्यकता पडने पर कमजोर बैंको के निस्तारण (Liquidation) का प्रबन्ध भी करता है।

(३) **सरकारी बैंकर का कार्य** (Banker to the Government)—रिजर्व बैंक सरकार के लिए समस्त बैंकिंग कार्यों को करता है। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की नक्द जमा रिजर्व बैंक के पास जमा रहती है जिस पर वह किसी प्रकार का

ब्याज नही देता है। वह विभिन्न सरकारो तथा सरकारी संस्थाओ को प्राप्त होने वाली आय को जमा करता है, उनके आदेशानुसार भुगतान निबटाता है और सरकारी कोषो को एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरित करता है। रिजर्व बैंक सरकारो को आवश्यकता पड़ने पर अल्पकालीन ऋण भी देता है। यह ऋण या तो माग किये जाने पर तुरन्त शोधनीय होते है अथवा काम चलाऊ अग्रिम (Ways and Means Advance) के रूप मे होते है जिनका भुगतान ९० दिन के भीतर करना अनिवार्य होता है। वह सरकार के लिए सार्वजनिक ऋणो का प्रबन्ध करता है तथा नये ऋणो को लेने की व्यवस्था भी करता है। इस प्रकार के ऋणो का हिसाब-किताब रखना, उन पर ब्याज देना तथा समय आने पर उनका भुगतान करने का कार्य रिजर्व बैंक के द्वारा किया जाता है। इसके अतिरिक्त वह केन्द्रीय सरकार के लिए टेन्डर द्वारा कोषागार विपत्रो (Treasury Bills) को बेचता है। यह विपत्र ९१ दिन की अवधि के होते हैं और कम से कम २५,००० रुपये के बिलो के लिए ही आवेदन पत्र दिया जा सकता है। रिजर्व बैंक सरकारी धन को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने का कार्य भी करता है जिसके लिए उसे स्टेट बैंक की सब शाखाओ तथा सरकारी ट्रेजरियो पर अपना रुपया रखना होता है। इन सब सेवाओ के बदले मे रिजर्व बैंक को कोई पारितोषण नही मिलता है क्योकि उसके पास सरकार की बहुत बडी रकम बिना ब्याज के जमा रहती है। सरकारी बैंक होने के साथ-साथ रिजर्व बैंक सरकार के आर्थिक सलाहकार का कार्य भी करता है और देश की आर्थिक नीति का निर्माण उसके परामर्श से ही किया जाता है।

(४) विदेशी विनिमय दर को नियन्त्रित करना (Regulation of Foreign Exchange Rate)—रिजर्व बैंक का यह कर्तव्य है कि वह रुपये के विदेशी मूल्य को स्थिर रखे। इसके लिए वह प्रारम्भ से ही निश्चित दरो पर विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से पूर्व रिजर्व बैंक रुपये की विदेशी विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पैंस पर स्थिर रखने के लिए निश्चित दरो पर किसी भी सीमा तक स्टर्लिंग का क्रय-विक्रय किया करता था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M. F.) की स्थापना के पश्चात् भारतीय रुपये का स्टर्लिङ्ग के साथ सम्बन्ध विच्छेद हो जाने के कारण रिजर्व बैंक के द्वारा निश्चित दरो पर स्टर्लिङ्ग के क्रय-विक्रय करने का उत्तरदायित्व समाप्त हो गया है। अब वह विदेशी विनिमय को उन दरो पर बेचता और खरीदता है, जो समय-समय पर सरकार के द्वारा निश्चित की जाती है। रिजर्व बैंक केवल स्टर्लिङ्ग के क्रय-विक्रय का कार्य ही नही करता है बल्कि यह मुद्रा कोष (I. M. F.) के सभी सदस्य देशो की मुद्राओ का क्रय-विक्रय कर सकता है। रिजर्व बैंक २ लाख रुपये से कम मूल्य के विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय नही करता है। रुपये और स्टर्लिङ्ग की विनिमय दर के सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक का यह उत्तरदायित्व है कि वह अनुसूचीबद्ध बैंको को १ शिलिङ्ग ५$\frac{3}{4}$ पैंस

प्रति रुपये की दर से स्टर्लिङ्ग बेचता है तथा १ शिलिंग ६ पैंस की दर पर उनसे स्टर्लिङ्ग खरीदता है।

रिजर्व बैंक देश मे विदेशी विनिमय नियन्त्रण (Foreign Exchange Control) का प्रबन्ध भी करता है। भारतवर्ष मे विदेशी नियन्त्रण द्वितीय विश्व युद्ध काल मे भारत रक्षा नियमो के अन्तर्गत अस्थाई रूप मे आरम्भ किया गया था किन्तु युद्धोत्तर काल मे भी उसकी आवश्यकता अनुभव की गई और विदेशी विनिमय नियन्त्रण अधिनियम १६४७ के द्वारा उसे स्थाई रूप से अपना लिया गया। फरवरी सन् १६५१ से स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के देशों को भी इस के अन्तर्गत ले आया गया। विनिमय नियन्त्रण की इस व्यवस्था मे समस्त विनिमय सम्बन्धी सौदे अधिकृत व्यापारियो के द्वारा किये जाते है। अधिकृत व्यापारी वे बैंक होते है जिन्हे रिजर्व बैंक से विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय करने का लाइसेन्स प्राप्त होता है। उपलब्ध विदेशी मुद्रा का विभिन्न आवश्यकताओ के लिए राशन कर दिया जाता है और केवल आवश्यक भुगतानो की ही स्वीकृति दी जाती है। विदेशी विनिमय की उपलब्ध मात्रा के अनुसार ही परमिट दिये जाते हैं। विदेशी पूँजी का आयात तथा उसका भुगतान रिजर्व बैंक से स्वीकृति प्राप्त करने के पश्चात ही किया जा सकता है। सोने तथा चांदी का आयात व निर्यात पूर्णतया वर्जित है।

(५) साख नियन्त्रण (Credit Control)—आरम्भ से ही देश मे मुद्रा व साख का नियन्त्रण करना रिजर्व बैंक का उत्तरदायित्व रहा है। वह आवश्यकतानुसार साख का विस्तार एव सकुचन करता है और इस प्रकार देश मे मुद्रा व साख की माग और पूर्ति मे सतुलन स्थापित करता है। साख नियन्त्रण किसी भी देश के केन्द्रीय बैंक का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता है क्योकि उसके द्वारा वह देश मे आर्थिक स्थिरता स्थापित करता है। डी० कॉक (De Kock) ने केन्द्रीय बैंक के साख नियन्त्रण के कार्य के महत्व को बतलाते हुए लिखा है कि "यह कार्य केन्द्रीय बैंकिंग नीति के सबसे महत्वपूर्ण प्रश्नो से सम्बन्धित है और यह ऐसा कार्य है जिसके द्वारा अन्य सभी कार्यो मे एकरूपता आती है और उन्हे एक सामान्य उद्देश्य के लिए प्रयोग किया जाता है।"[1] रिजर्व बैंक हमारे देश का केन्द्रीय बैंक होने के कारण साख व्यवस्था के नियन्त्रक का कार्य करता है। वह व्यापारिक बैंको के द्वारा सृजित साख की मात्रा को प्रभावित करने की शक्ति रखता है।

साख नियन्त्रण की विभिन्न विधियों के द्वारा रिजर्व बैंक देश मे साख की मात्रा को आवश्यकता के अनुसार रख कर अर्थ-व्यवस्था मे स्थायित्व बनाये रखता है। साख का अनावश्यक विस्तार एव सकुचन नही किया जाता है। रिजर्व बैंक साख

1 "It is the function which embraces the most important questions of central banking policy and the one through which practically all other functions are united and made to serve a common purpose."

—*De Kock* • Central Banking. P. 134.

नियन्त्रण के लिए बैंक दर परिवर्तनो, खुले बाजार की क्रियाओं तथा अन्य वैधानिक अधिकारो का प्रयोग करता है। वह अन्य बैंको के द्वारा अपने पास रक्खे जाने वाले कोष के अनुपात को घटा बढा कर भी व्यापारिक बैंको की साख नीति को प्रभावित कर सकता है। इसके अतिरिक्त सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक किसी बैंक विशेष अथवा सम्पूर्ण बैंकिंग व्यवस्था को विशेष प्रकार के व्यवसायो को अथवा विशेष प्रकार की प्रतिभूतियो के आधार पर ऋण देने से मना कर सकता है। पिछले कुछ वर्षो से रिजर्व बैंक के द्वारा साख पर विशिष्ट प्रकार का नियन्त्रण अधिक किया जा रहा है।

(६) अन्य कार्य (Other Function)—उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त रिजर्व बैंक कुछ और कार्य भी करता है जो इस प्रकार है (i) कृषि साख की व्यवस्था करना—आरम्भ से ही रिजर्व बैंक का यह उत्तरदायित्व रहा है कि वह देश मे कृषि साख की उचित व्यवस्था करेगा। रिजर्व बैंक का कृषि साख विभाग साख सम्बन्धी समस्याओ का अध्ययन करता है और उन्हे सुलझाने के उपाय बतलाता है, बैंको को कृषि साख नीति के निर्माण मे सहायता देता है तथा इन्हे आवश्यक परामर्श देता है। (ii) समाशोधन गृह का कार्य—केन्द्रीय बैंक होने के कारण रिजर्व बैंक अन्य बैंको को समाशोधन (Clearance) की सुविधायें देता है। बैंक के द्वारा ६ बड़े समाशोधन-गृह बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास, कानपुर तथा बगलौर मे स्थापित किये हुये है तथा इनके अतिरिक्त २३ और समाशोधन-गृह है। समाशोधन की सुविधायें देकर रिजर्व बैंक बैंको के बीच रुपये के हस्तातरण को सम्भव बनाता है। (iii) आँकड़े इकट्ठा करना—रिजर्व बैंक देश मे आँकडे इकट्ठे करने वाली महत्वपूर्ण सस्था है। वह मुद्रा, बैंकिंग, साख तथा वित्त सम्बन्धी आँकडो को इकट्ठा करता है तथा उन्हे प्रकाशित करता है। वह बैंको की मासिक तथा वार्षिक प्रगति रिपोर्ट प्रकाशित करता है। मुद्रा और वित्त सम्बन्धी वार्षिक रिपोर्ट भी उसके द्वारा प्रकाशित की जाती है। इनके अतिरिक्त रिजर्व बैंक विभिन्न विषयो पर अपनी रिपोर्ट, खोज-पत्र तथा आँकडो को प्रकाशित करता रहता है।

रिजर्व बैंक के वर्जित कार्य
(Functions which Reserve Bank cannot perform)—

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार कुछ ऐसे कार्य है जो रिजर्व बैंक के द्वारा नही किये जा सकते हैं। रिजर्व बैंक के कार्यों पर नियन्त्रण इसलिए लगाया गया है कि वह अन्य बैंको के साथ प्रतियोगिता न कर सके तथा स्वय सुरक्षित रहे। रिजर्व बैंक के वर्जित कार्य इस प्रकार हैं—

(१) सामान्यतः रिजर्व बैंक व्यापार, वाणिज्य अथवा उद्योग में भाग नही ले सकता है किन्तु अपनी लेन को वसूल करने के लिए वह कुछ निश्चित काल के लिए ऐसा कर सकता है।

(२) वह किसी बैंक अथवा कम्पनी के अंश नहीं खरीद सकता है और ऐसे अंशों की आड़ पर ऋण भी नहीं दे सकता है।

(३) वह अचल सम्पत्ति की आड़ पर ऋण नहीं ले सकता है और केवल अपने व्यवसायिक कार्यालयों के अतिरिक्त किसी प्रकार की अचल सम्पत्ति प्राप्त नहीं कर सकता है।

(४) वह अपने पास जमा की गई राशि पर किसी प्रकार का व्याज नहीं दे सकता है।

(५) वह न तो ऐसे बिल लिख सकता है और न भुना सकता है जो माग पर शोधनीय न हो।

रिजर्व बैंक व्यवहार में
(Reserve Bank in Action)

रिजर्व बैंक के कार्यों का अध्ययन करने के पश्चात् हम यह देख सकते हैं कि व्यवहारिक जीवन मे रिजर्व बैंक ने इन कार्यों को किस प्रकार किया है तथा वह एक केन्द्रीय बैंक के रूप में कहाँ तक सफल रहा है। पिछले ३० वर्षों से रिजर्व बैंक हमारे देश मे केन्द्रीय बैंक का कार्य कर रहा है। इस बीच में कई बार यह प्रश्न उठाया गया कि क्या वह अपने उद्देश्यों मे सफल रहा है अथवा नहीं। रिजर्व बैंक के कार्यों का यह मूल्यांकन अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके द्वारा ही उसकी सफलताओं तथा देश के आर्थिक जीवन में उसके महत्व को समझा जा सकता है और उसकी कार्य-प्रणाली मे सुधार के लिए सुझाव दिये जा सकते हैं।

नोट निर्गमन पर नियन्त्रण (Control of Note Issue)—

रिजर्व बैंक के द्वारा नोट निर्गमन का कार्य पूर्णतया सन्तोषजनक रहा है। उसने कभी भी सोने तथा सोने के सिक्कों की मात्रा को ४० करोड रुपए से कम नहीं होने दिया है बल्कि कभी-कभी तो वह वैधानिक आवश्यकताओं से भी अधिक रही है। इसी प्रकार उसने सन् १६४८–४६ तक पत्र-मुद्रा कोष मे रुपया प्रतिभूतियों की मात्रा को कुल धन (Liabilities) का ½ से अधिक नहीं होने दिया। केवल १६४६ मे कोष सम्बन्धी नियम मे परिवर्तन के पश्चात् ही रिजर्व बैंक के पास रुपया प्रतिभूतियों (Rupee Securities) की मात्रा मे वृद्धि हुई है। अत. यह कहा जा सकता है कि रिजर्व बैंक ने नोट निर्गम सम्बन्धी वैधानिक उत्तरदायित्व को भली प्रकार निभाया है। भारतवर्ष मे नोट निर्गम सम्बन्धी एक बडा दोष यह रहा है कि युद्ध काल तथा उसके उपरान्त चलन में नोटों की मात्रा बहुत तेजी के साथ बढी है। सन् १६३८–३६ में २११ करोड रुपयों से बढकर सन् १६५५–५६ में नोटों की मात्रा १३३६ करोड रुपए हो गई थी। किन्तु पत्र-मुद्रा के अत्यधिक विस्तार का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व रिजर्व बैंक के ऊपर नहीं डाला जा सकता है क्योंकि यह वृद्धि बहुत कुछ ब्रिटिश सरकार की नीति के कारण हुई। युद्ध काल मे ब्रिटिश सरकार ने रिजर्व

बैंक एक्ट की उस धारा से लाभ उठाया जिसके अन्तर्गत वह स्टर्लिङ्ग के बदले में किसी भी सीमा तक रुपया प्राप्त कर सकती थी और रिजर्व बैंक को स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियो की आड पर नोट निर्गम का अधिकार दे दिया गया। इस व्यवस्था के कारण ही देश मे मुद्रा का अत्यधिक विस्तार हुआ। रिजर्व बैंक का इतना दोष अवश्य था कि उसने यथा समय जनता को ब्रिटिश सरकार की इस नीति से सूचित नही किया।

मुद्रा की माग और पूर्ति मे मौसमी परिवर्तन (Seasonal Variation) होना भारतीय अर्थ-व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता रही है। अक्तूबर से अप्रैल तक, फसल बाजार मे आ जाने के कारण, मुद्रा की माग काफी बढ जाती है और उसे पूरा करने के लिए मुद्रा की पूर्ति मे भी वृद्धि की जाती है। इसके विपरीत मई से सितम्बर तक मुद्रा की माग कम होती है और उसकी पूर्ति को कम करना आवश्यक हो जाता है। रिजर्व बैंक मुद्रा की माग मे सामयिक परिवर्तनो के अनुसार मुद्रा की पूर्ति को घटा-बढा कर सतुलन स्थापित करता है। मौद्रिक प्रबन्ध के इस क्षेत्र मे रिजर्व बैंक को पर्याप्त सफलता मिली है और अब मुद्रा बाजार मे मुद्रा की मौसमी कमी (Seasonal Monetary Stringency) की दशायें बहुत कम उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि रिजर्व बैंक को मुद्रा व्यवस्था के नियन्त्रक के रूप मे काफी सफलता मिली है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि रिजर्व बैंक का नियन्त्रण होते हुए भी देश मे मुद्रा का अत्यधिक विस्तार किया गया है जिसके कारण मुद्रा प्रसार की दशायें उत्पन्न हो गई है किन्तु इसके लिए सरकार की वित्तीय नीति (Fiscal policy) उत्तरदायी है रिजर्व बैंक नही।

रिजर्व बैंक और साख नियन्त्रण
(Reserve Bank and Credit Control)—

रिजर्व बैंक अधिनियम (Reserve Bank of India Act) के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को साख नियन्त्रण के लिए विस्तृत अधिकार दिये गये है। उसे साख नियन्त्रण के लगभग वे सभी अस्त्र प्राप्त हैं जो किसी भी केन्द्रीय बैंक को उपलब्ध होते है। रिजर्व बैंक की साख नीति को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए उसे बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम के अन्तर्गत कुछ विशेष अधिकार भी दिये गये हैं जिनकी सहायता से वह व्यापारिक बैंको की क्रियाओ का प्रत्यक्ष नियमन कर सकता है। भारतवर्ष मे रिजर्व बैंक साख नियन्त्रण के लिए, बैंक दर नीति, खुले बाजार की क्रियायें, बैंको के नकद कोष मे परिवर्तन, विशिष्ट साख नियन्त्रण (Selective Credit Control) तथा नैतिक प्रभाव का प्रयोग करता है जिसमे से पहली तीन विधियो से साख की मात्रा को नियन्त्रित (Quantitative Control) किया जाता है तथा बाद की दो विधियो के द्वारा साख के प्रयोग को नियन्त्रित (Qualitative Control) किया जाता है।

(१) बैंक दर परिवर्तन (Bank Rate Changes) केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण नीति मे बैंक दर परिवर्तन का महत्वपूर्ण स्थान होता है क्योकि उसके द्वारा

वह बाजारी ब्याज की दर को प्रभावित करके बैंकों की साख निर्माण करने की शक्ति मे परिवर्तन कर सकता है। भारत मे आरम्भ से ही बैंक दर नीति अधिक प्रभावशाली नही रही है। सन् १९२१ तक रिजर्व बैंक के द्वारा साख नियन्त्रण के लिए बैंक दर का कोई विशेष प्रयोग नही किया जा सका क्योंकि उसे १९३८ से लेकर १९५० तक सुलभ मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) के कारण बैंक को ३% पर बनाये रखनी पडी। सन् १९५१ मे साख मुद्रा प्रसार के कारण रिजर्व बैंक के सम्मुख एक विशेष समस्या उत्पन्न हो गई और मात्र नियन्त्रण से नवम्बर सन् १९५१ मे बैंक दर को ३% से बढ़ा कर ३½% कर दिया गया। बैंक दर को प्रभावशाली बनाने के लिए रिजर्व बैंक ने व्यापारिक बैंको को वित्तीय सहायता देने की नीति मे भी महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। बैंक दर को बढाते ही रिजर्व बैंक ने यह घोषणा कर दी कि वह बैंको की सामयिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ऋण-पत्र नही खरीदेगा। किन्तु इस प्रकार की प्रतिभूतियों के आधार पर वर्तमान बैंक दर पर ऋण देता रहेगा। बैंक दर के बढने का तुरन्त परिणाम यह हुआ कि बैंको के द्वारा दिये जाने वाले ऋणों की मात्रा कम हो गई और साख का सकुचन होने लगा। १६ मई १९५७ को बैंक दर मे फिर वृद्धि की गई और वह ३½% से बढा कर ४% कर दी गई। इस प्रकार हमारे देश में पिछले कुछ वर्षों से ही बैंक दर का प्रयोग साख नियन्त्रण के लिए किया गया है। २ जनवरी सन् १९६३ मे बैंक दर को ४% से बढा कर ४½% प्रतिशत कर दिया गया। बैंक दर मे वृद्धि करके रिजर्व बैंक ने दुर्लभ मुद्रा नीति को कार्यरूप मे लाना चाहा जिससे कि योजनाकालीन मुद्रा-प्रसार को नियन्त्रण मे रखा जा सके। बैंक दर मे वृद्धि होने से यद्यपि साख के विस्तार मे कुछ कमी हुई किन्तु अर्थ-व्यवस्था पर मुद्रा प्रसार की शक्तियों का दबाव निरन्तर बढता गया। २५ सितम्बर सन् १९६४ को रिजर्व बैंक ने बैंक दर को ४½% से बढा कर ५% पर निश्चित कर दिया। बैंक दर की इस वृद्धि का उद्देश्य देश मे तीव्र गति से बढने मुद्रा प्रसार को रोकना था किन्तु रिजर्व बैंक को इस दिशा मे कोई विशेष सफलता न मिल सकी। कीमत स्तर निरन्तर बढता गया और भयकर रूप धारण करने लगा। रिजर्व बैंक ने साख की मात्रा पर और अधिक कडा नियन्त्रण करने का निश्चय किया और १७ फरवरी सन् १९६४ मे बैंक दर को बढ़ा कर ६% पर निश्चित कर दिया गया। चार महिनो मे बैंक दर का दो बार बढना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि रिजर्व बैंक वर्तमान कीमत स्थिति से अत्यन्त चिन्तित है और वह उसे साख नियन्त्रण के द्वारा ठीक करने का प्रयास कर रहा है। बैंक दर मे वृद्धि के साथ-साथ रिजर्व बैंक ने बैंको मे ली जाने वाली सूद की दर को उनकी तरलता स्थिति के साथ सम्बन्धित किया है। जिन बैंको का तरलता अनुपात (Liquidity Ratio) ३०% या इस से अधिक होगा वे रिजर्व बैंक मे ऋण ६% अर्थात बैंक दर पर ले सकेंगे किन्तु जिनका तरलता अनुपात (Liquidity Ratio) इससे कम होगा उन्हे प्रत्येक एक प्रतिशत की कमी के लिए ½% अधिक ब्याज देना होगा।

(२) खुले बाजार की क्रियायें (*Open Market Operations*)—रिजर्व बैंक के द्वारा साख नियन्त्रण के लिए खुले बाजार की क्रियाओं का प्रयोग भी किया गया है और वह समय-समय पर प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय के द्वारा व्यापारिक बैंकों के नकद कोषों को प्रभावित करता रहता है। भारतवर्ष में खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता सीमित ही रही है क्योंकि (१) भारतीय मुद्रा बाजार अल्प-विकसित है तथा (२) रिजर्व बैंक केवल कुछ ही प्रकार की प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय कर सकता है। इन सीमाओं के होते हुये भी खुले बाजार की क्रियाओं के द्वारा बैंक दर को प्रभावशाली करने में बड़ी सहायता मिली है। सन् १९५१ में रिजर्व बैंक ने बैंक दर की वृद्धि को प्रभावशाली करने के लिए अपनी प्रतिभूतियों को खरीदने के सम्बन्धी नीति में भी परिवर्तन किया था। इससे पूर्व सदस्य बैंक आवश्यकता के समय रिजर्व बैंक को सरकारी प्रतिभूतियाँ बेच कर किसी भी सीमा तक धन प्राप्त कर लेते थे। किन्तु १९५१ के पश्चात् इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया और रिजर्व बैंक ने यह घोषणा कर दी कि वह बैंकों की सामयिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उनसे प्रतिभूतियाँ नहीं खरीदेगा। अब इन प्रतिभूतियों की आड़ पर वे वर्तमान बैंक दर पर रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त कर सकेंगे। रिजर्व बैंक की प्रतिभूतियाँ खरीदने की नीति में इस प्रकार का परिवर्तन कर देने से बैंक दर को प्रभावशाली करने में काफी सफलता मिली है। सन् १९५२ में बिल बाजार योजना के आरम्भ हो जाने से रिजर्व बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। नवम्बर सन् १९५६ से रिजर्व बैंक ने मुद्रा बाजार में रुपये की कमी को दूर करने के उद्देश्य से कुछ विशेष प्रतिभूतियों को खरीदना आरम्भ कर दिया था किन्तु सन् १९५७ में फिर रिजर्व बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं की नीति में कुछ परिवर्तन आया और प्रतिभूतियों के बेचने को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। प्रतिभूतियाँ बेचकर रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंकों के बढ़ते हुये कोषों को कम करने का प्रयत्न करता है। आजकल रिजर्व बैंक की खुले बाजार की क्रियायें काफी बढ़ गई है। इनके द्वारा वह बैंकों के कोषों को प्रभावित करके प्रतिभूति बाजार तथा बैंकिंग एवं वित्तीय व्यवस्था में स्थिरता स्थापित करता है।

(३) नकद कोषों के अनुपात में परिवर्तन (Variable Reserve Requirements)—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार प्रत्येक अनुसूचिबद्ध बैंक (Scheduled Bank) को अपनी माग देय (Demand Liabilities) का ५% तथा काल देय (Time Liabilities) का २% रिजर्व बैंक के पास नकद जमा के रूप में रखना होता है। बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम के अन्तर्गत असूचिबद्ध बैंकों (Non-Scheduled Banks) के लिए भी इसी अनुपात में रिजर्व बैंक के पास नकद कोष रखना अनिवार्य कर दिया गया है। यद्यपि रिजर्व बैंक को अन्य केन्द्रीय बैंकों की भांति सदस्य बैंकों के नकद कोषों के अनुपात में परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त है किन्तु काफी समय तक उसके द्वारा साख नियन्त्रण के लिए इस अधिकार

का प्रयोग नही किया गया। बैंको के पास अधिक मात्रा मे नकदी रहने के कारण इस व्यवस्था का प्रयोग साख नियन्त्रण के लिए नही किया जा सका। इस दोष को दूर करने के लिए सन् १९५६ के रिजर्व बैंक (सशोधित) अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को सदस्य बैंको के नकद कोषो के अनुपात मे परिवर्तन करने का अधिकार दे दिया गया है। अब वह बैंको से उनकी माग देय (Demand Liabilities) का ५% से २०% तक तथा काल देय (Time Liabilities) का २% से ८% तक जमा के रूप मे प्राप्त कर सकता है। सन् १९६२ के सशोधित अधिनियम के अन्तर्गत बैंको के द्वारा रिजर्व बैंक के पास रखे जाने वाले नकद कोष के अनुपात को उनकी कुल जमा का ३% निश्चित कर दिया गया है जिसे रिजर्व बैंक १५% तक बढा सकता है।

नकद कोषो के अनुपात मे परिवर्तन करके रिजर्व बैंक के द्वारा बैंक साख के नकदी के आधार को बदला जा सकता है और बैंको के द्वारा निर्मित साख की मात्रा मे आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन किये जा सकते हैं। मार्च १९६० मे रिजर्व बैंक ने सर्वप्रथम इस अधिकार का प्रयोग साख नियन्त्रण के उद्देश्य से किया और बैंको के लिए यह आवश्यक कर दिया गया कि वे ११ मार्च सन् १९६० के पश्चात् अपनी कुल देनदारी (Total Liabilities) मे होने वाली वृद्धि का २५% अतिरिक्त जमा के रूप मे रिजर्व बैंक के पास रखेंगे। ६ मई, सन् १९६० से अतिरिक्त जमा की यह रकम २५% से बढा कर ५०% कर दी गई है। नवम्बर सन् १९६० से रिजर्व बैंक ने अपनी साख नियन्त्रण की नीति मे कठोरता कम की और अतिरिक्त निक्षेपो पर रिजर्व बैंक के पास सुरक्षित कोष की जमा का अनुपात ५०% से घटा कर २५% कर दिया गया। जनवरी सन् १९६१ मे इस नियन्त्रण को समाप्त कर दिया गया।

साख के प्रयोग पर नियन्त्रण (Selective Credit Control)—

हमारे देश मे आर्थिक विकास पर बहुत बडी मात्रा मे व्यय किया जा रहा है जिसके कारण चलन मे मुद्रा की मात्रा निरन्तर बढती जा रही है। योजना काल मे बैंको के द्वारा निर्मित साख की मात्रा भी तेजी के साथ बढी है। मुद्रा व साख की यह समस्त वृद्धि केवल आर्थिक विकास के लिए ही नही हुई है बल्कि देश मे साख की बहुत बडी मात्रा का प्रयोग सट्टेबाजी तथा वस्तु सग्रह के लिए भी किया जा रहा है। इस दोष को दूर करने तथा निर्मित साख का उचित दिशाओ मे प्रयोग किये जाने के लिए यह आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक के द्वारा साख के प्रयोग पर भी नियन्त्रण किया जाये। एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे साख पर विशिष्ट नियन्त्रण (Selective Control) इसलिए आवश्यक होता है क्योंकि उसके द्वारा ही आवश्यक दिशाओ मे साख के विस्तार को रोके बिना देश मे मुद्रा-प्रसार की शक्तियो को नियन्त्रण मे रखा जा सकता है।

बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम पास होने से पूर्व रिजर्व बैंक साख नियन्त्रण के लिए बैंक दर नीति तथा खुले बाजार की क्रियाओं जैसी परम्परागत विधियों का ही प्रयोग करता था जिनसे वह केवल साख की मात्रा को नियन्त्रित कर सकता था और साख के प्रयोग पर उसका किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रहता था। सन् १९४९ बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में रिजर्व बैंक को साख पर विशिष्ट रूप से नियन्त्रण (Selective Credit Control) करने के लिए कुछ विशेष अधिकार दिए गये हैं जिनकी सहायता से वह अब साख के प्रयोग पर नियन्त्रण करने लगा है। इस एक्ट के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को प्राप्त होने वाले विशेष अधिकार इस प्रकार हैं—(i) वह देश हित में समस्त बैंकों अथवा किसी एक बैंक की ऋण सम्बन्धी नीति निर्धारित कर सकता है। वह बैंकों को इस सम्बन्ध में आदेश दे सकता है कि किन उद्देश्यों के लिए ऋण तथा अग्रिम दिये जायें और किन उद्देश्यों के लिए नहीं, ऋणों के पीछे कितनी आवश्यक सीमा (Margin Requirement) रक्खी जाय तथा ब्याज की क्या दरें ली जायें। बैंकिंग कम्पनियों के लिए इस आदेशों का पालन करना अनिवार्य है। (ii) रिजर्व बैंक को यह अधिकार है कि वह किसी भी बैंक को लिखित आदेश के द्वारा ऐसे ऋण देने से मना कर सकता है जो जमाधारियों के हितों के विरुद्ध हो। वह उन्हें निश्चित अवधि के भीतर इस प्रकार के ऋणों को वापस मांगने के लिए भी बाध्य कर सकता है। (iii) वह बैंकिंग कम्पनियों को किसी विशेष प्रकार के सौदे न करने की चेतावनी दे सकता है अथवा उन्हें ऐसा करने से रोक सकता था। (iv) वह किसी भी बैंक को किसी भी मामले पर सलाह दे सकता है तथा वह बैंकों का निरीक्षण करके उन्हें अपनी निरीक्षण रिपोर्ट भेज सकता है। (v) वह किसी एक बैंक अथवा समस्त बैंकों को ऐसे आदेश दे सकता है जो राष्ट्रीय हित में हो अथवा जो जमाधारियों (Depositors) या बैंकिंग कम्पनियों के हितों के विरुद्ध किये जाने वाले व्यवसाय को रोकने के लिए आवश्यक हो अथवा जिनके द्वारा बैंकों का उचित प्रबन्ध किया जा सके। इस प्रकार के विस्तृत अधिकार प्राप्त हो जाने पर रिजर्व बैंक ने साख के प्रयोग पर नियन्त्रण करना आरम्भ कर दिया है।

इस सम्बन्ध में सबसे पहला आदेश १७ मई सन् १९५६ को जारी किया गया जिसके अन्तर्गत धन व चावल की आड़ पर दिये जाने वाले ऋण को नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया गया। बैंकों से यह अनुरोध किया गया कि वे इन वस्तुओं की आड़ पर दिये जाने वाले ऋणों को कम करें तथा उनके सम्बन्ध में आवश्यक सीमा (Margin Requirement) को १०% बढ़ा दें। सितम्बर सन् १९५६ में अनाजों, दालों तथा कपड़े की आड़ पर दिये जाने वाले अग्रिमों को भी नियन्त्रित कर दिया गया। अप्रैल सन् १९५६ में अनुसूचीबद्ध बैंकों को यह आदेश दिया गया कि वे कम्पनियों के अंशों (Shares) की आड़ पर ऐसे व्यक्तियों को ऋण न दें जो उद्योग-धन्धों पर सचालन अधिकार प्राप्त करना चाहते हों। धान व चावल की आड़ पर

दिये जाने वाले ऋणो पर नियन्त्रण नवम्बर १९५६ मे हटा लिया गया किन्तु फरवरी १९५७ मे फिर लगा दिया गया। इसके अतिरिक्त अनाज पर दिये जाने वाले अग्रिमो पर कुछ और प्रतिबन्ध लगा दिये गये। सन् १९५९ मे तेल के बीजो पर भी विशिष्ट साख नियन्त्रण लागू कर दिया गया। मार्च १९६० मे कम्पनियो के अंशो पर दिये जाने वाले अग्रिमो को नियन्त्रित कर दिया गया।

सन् १९६१ मे विशिष्ट साख नियन्त्रण के अधिकारो का प्रयोग विस्तृत रूप से किया गया। वस्तुओ की पूर्ति तथा कीमत स्थिति मे सुधार हो जाने के कारण धान, चावल, मूंगफली तथा कम्पनियो के अंशो पर दिये जाने वाले अग्रिमो पर नियन्त्रण कम कर दिया गया तथा चीनी, गेहूँ व जूट पर दिये जाने वाले अग्रिमो पर नियन्त्रण बिल्कुल हटा लिया गया। २७ अप्रेल १९६३ को चीनी पर दिये जाने वाले अग्रिमो को फिर नियन्त्रित कर दिया गया और उन पर कम से कम ४५ प्रतिशत आवश्यक सीमा (Margin Requirement) निश्चित कर दी गई। फरवरी १९६४ मे मूंगफली पर दिये जाने वाले अग्रिमो की आवश्यक सीमा ४५% प्रतिशत से बढा कर ५० प्रतिशत कर दी गई। २१ अप्रेल १९६४ को एक आदेश के द्वारा गेहूँ पर दिये जाने वाले अग्रिमो की आवश्यक सीमा ३५ प्रतिशत निश्चित की गई। १९६४ के मध्य मे धान और चावल पर साख नियन्त्रण कठोर कर दिया गया जिससे की उनकी कीमतो को बढने से रोका जा सके।

विशिष्ट साख नियन्त्रण की विधियो का मुख्य गुण उनका लोचदार होना है। उन्हे आवश्यकता पडने पर हटाया जा सकता है, तथा परिस्थितियो के अनुसार उनमे परिवर्तन किया जा सकता है। रिजर्व बैंक इस सम्बन्ध मे काफी सतर्क रहा है, जैसे ही किसी नियन्त्रण को अनावश्यक अनुभव किया गया वैसे ही उसे हटा लिया गया। हमारे देश मे विशिष्ट साख नियन्त्रण की मुख्य कठिनाई असख्य छोटे छोटे बैंको की साख नीति को नियन्त्रित करने के सम्बन्ध मे उत्पन्न होती है। इसीलिए रिजर्व बैंक ने अपने आदेशो को मुख्यत अनुसूचीबद्ध बैंको तक ही सीमित रक्खा है और असूचीबद्ध बैंको की क्रियाओ को वह नियन्त्रित नही कर सका है। इन सीमाओ के होते हुये भी विशिष्ट साख नियन्त्रण हमारे देश की साख नीति मे एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

(५) नैतिक प्रभाव (Moral Suasion)—उपयुक्त विधियो के साथ-साथ रिजर्व बैंक ने साख नियन्त्रण के लिए अपने नैतिक प्रभाव का भी समय-समय पर प्रयोग किया है। सितम्बर १९४९ मे रुपये के अवमूल्यन के पश्चात् रिजर्व बैंक के गवर्नर ने प्रमुख बैंको की एक मीटिंग बुलाई और बैंको से अनुरोध किया कि वे सट्टे के कामो के लिए ऋण न दे। जून १९५१ मे व्यापारिक बैंको से एक पत्र मे यह अनुरोध किया गया कि वे औद्योगिक वित्त की मात्रा को कम किये बिना कृषि वस्तुओ पर दिये जाने वाले अग्रिमो की मात्रा को कम कर दे। इसके एक मास

पश्चात् ही रिजर्व बैंक के गवर्नर ने प्रमुख बैंकों की एक कान्फ्रेंस मे अग्रिमों की मात्रा को ६३७ करोड रुपये से घटा कर ८०० करोड रुपये पर लाने की आवश्यकता पर जोर दिया। इस उद्देश्य को अधिकाश रूप से प्राप्त कर लिया गया। फरवरी १९५९ मे एक पत्र के द्वारा बैंको से अनुरोध किया गया कि वे फसल के अवसर पर अपने अग्रिमो को कम करने का प्रयत्न करे। रिजर्व बैंक के द्वारा समय-समय पर दी जाने वाली इस सलाह का व्यापारिक बैंको की साख नीति पर अच्छा प्रभाव पडा है और अधिकाश रूप से उसमे इच्छित परिवर्तन कराने मे उसे पर्याप्त सफलता मिली है।

रिजर्व बैंक की साख-नियन्त्रण नीति के कम प्रभावशाली होने के कारण—

रिजर्व बैंक ने देश मे मुद्रा व साख की मात्रा को नियन्त्रित करने के लिए विभिन्न प्रयत्न किये है किन्तु उसकी साख नियन्त्रण नीति अधिक प्रभावशाली नही रही है। भारतवर्ष मे साख नियन्त्रण के कम प्रभावशाली होने के कारण इस प्रकार है— **(i) भारतीय मुद्रा बाजार का सुसंगठित न होना**—हमारे देश मे मुद्रा बाजार का सगठन दोषपूर्ण होने के कारण उसके विभिन्न अगो मे सम्पर्क तथा सहयोग का अभाव रहता है। मुद्रा बाजार मे ब्याज की दरो मे भिन्नता पाई जाती है तथा बाजारी दरे बैंक दर के साथ-साथ नही बदलती है। इन दोषो के कारण रिजर्व बैंक की बैंक दर नीति अधिक प्रभावशाली नही हो सकी है। **(ii) बिल बाजार का अभाव**—भारतवर्ष मे अभी तक भी एक सुव्यवस्थित बिल बाजार का विकास नही हो सका है। बिल बाजार के अभाव के कारण भी रिजर्व बैंक की बैंक दर नीति कम प्रभावशाली रही है तथा खुले बाजार की क्रियाओ का क्षेत्र सीमित हो गया है। **(iii) देशी बैंकर्स पर नियन्त्रण का न होना**—बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी रिजर्व बैंक देशी बैंको पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नही कर सका है जिसके कारण वे आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था से अलग रहते है। मुद्रा बाजार के इस महत्वपूर्ण अग पर रिजर्व बैंक का किसी भी प्रकार का नियन्त्रण न होने के कारण भी उसकी मुद्रा तथा साख नीति अधिक सफल नही हो सकी है। **(iv) बैंको के पास नकद कोषों की अधिकता**—भारतवर्ष मे बैंको के पास नकद कोष अधिक मात्रा मे रहते है जिसके कारण रिजर्व बैंक पर उनकी निर्भरता बहुत कम हो गई है और वे अपने नकद कोषो के आधार पर ही काफी अधिक मात्रा मे साख का निर्माण कर लेते है। ऐसी दशा मे रिजर्व बैंक की साख नियन्त्रण नीति अधिक सफल नही हो सकती है। **(v) अर्थ व्यवस्था मे लोच का अभाव**—बैंक दर नीति के प्रभावशाली होने के लिए आवश्यक है कि देश की अर्थ-व्यवस्था इतनी लोचदार हो कि बैंक दर परिवर्तन के साथ-साथ मूल्यों, मजदूरी तथा ब्याज की दरो आदि मे भी परिवर्तन किया जा सके। भारतवर्ष मे मूल्यो तथा मजदूरी की दरो पर अनेक नियन्त्रण होने के कारण देश की अर्थ-व्यवस्था मे लोच का अभाव रहा है जिसके कारण मुद्रा व साख का नियन्त्रण अधिक प्रभावशाली नही हो सका है।

रिजर्व बैंक तथा कृषि साख (Reserve Bank and Agricultural Credit)–

आरम्भ से ही रिजर्व बैंक को कृषि साख का उचित प्रबन्ध करने का उत्तरदायित्व दिया गया है और अपने कृषि साख विभाग के द्वारा वह कृषि वित्त समस्याओं का अध्ययन करने, उनमें अन्वेषण करने, आँकड़े इकट्ठा करने तथा कृषि वित्त व्यवस्था में सुधार के सुझाव देने का महत्वपूर्ण कार्य करता रहा है। किन्तु सन् १६४७ से पूर्व वह देश में कृषि वित्त की उचित व्यवस्था करने के लिए कोई ठोस कार्य नहीं कर सका और कृषि व्यवस्था को उसके द्वारा दी जाने वाली वित्तीय सहायता मामूली होती थी किन्तु पिछले कुछ वर्षों में रिजर्व बैंक द्वारा इस दिशा में कुछ ठोस कदम उठाये गये हैं जिनके कारण स्थिति में काफी सुधार हुआ है। रिजर्व बैंक केन्द्रीय बैंकिंग सिद्धान्तों की सीमाओं के भीतर ही कृषि व्यवसाय के लिए वित्तीय साधन उपलब्ध कर सकता है। रिजर्व बैंक एक्ट के अनुसार वह किसानों को सीधी वित्तीय सहायता नहीं दे सकता है। वह सरकारी आन्दोलन को राज्य सहकारी बैंकों के द्वारा आर्थिक सहायता देता है। वह इन बैंकों की सामान्य आवश्यकता को पूरा करने के लिए ऋण नहीं देता है बल्कि केवल उनकी सामयिक तथा आपत्तिकालीन आवश्यकताओं को ही पूरा करता है। रिजर्व बैंक केवल उन राज्य सहकारी बैंकों को ही ऋण देता है जो स्वीकृत प्रणाली के आधार पर चलाये जा रहे हों। ऐसे बैंकों को अपनी कुल देय (Liabilities) का ८० प्रतिशत नकदी, बैंकों में अथवा सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में रखना होता है। रिजर्व बैंक कृषि वित्त सम्बन्धी निम्नलिखित सुविधायें देता है—

(i) रिजर्व बैंक सहकारी समितियों द्वारा लिखे गये तथा राज्य सहकारी बैंक व सदस्य बैंकों द्वारा बेचान किये गये बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों को खरीद सकता है अथवा उन्हें फिर से भुना सकता है। इन बिलों की अवधि १५ महीने से कम होनी चाहिए तथा ये मौसमी कृषि कार्यों अथवा उपज की बिक्री के लिए भारत में लिखे गये हों; इन बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों पर दो अच्छे हस्ताक्षर होने चाहिएँ जिनमें से एक अनुसूचितबद्ध बैंक का होना आवश्यक है।

(ii) रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंकों अथवा भूमि बन्धक बैंकों को स्वीकृत प्रतिभूतियों (Approved Securities) तथा उनके ऋण-पत्रों (Debentures) की आड़ पर ६० दिन के लिए ऋण दे सकता है।

(iii) वह कभी-कभी भूमिबन्धक बैंकों के ऋण-पत्रों को खरीद कर भी उनकी आर्थिक सहायता कर सकता है।

(iv) वह सहकारी संस्थाओं को राज्य सहकारी बैंकों के द्वारा कृषि कार्यों की अर्थ पूर्ति व कृषि उपज की बिक्री के लिए अरक्षित ऋण भी दे सकता है।

(v) अब वह लाइसेन्स प्राप्त गोदामों में रखी गई कृषि वस्तुओं के बदले प्राप्त होने वाले प्रमाण-पत्रों की आड़ पर भी ऋण दे सकता है।

(vi) रिजर्व बैंक मौसमी कृषि कार्यों तथा कृषि उपज की बिक्री के लिए बैंक दर से २ प्रतिशत कम ब्याज की दर पर आर्थिक सहायता देता है।

(vii) रिजर्व बैंक कृषि के लिए दीर्घकालीन ऋण की व्यवस्था भी करता है। सन् १९५० से वह भूमि बन्धक बैंकों के ऋण-पत्रों (Debentures) को २०% तक खरीद सकता है।

सन् १९५५ में ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति (Rural Credit Survey Committee) की सिफारिशों के आधार पर रिजर्व बैंक के द्वारा दी जाने वाली कृषि वित्त सहायता में वृद्धि करने के लिए उसके आधीन दो नए कोषों का निर्माण किया गया है (१) राष्ट्रीय कृषि-साख (दीर्घकालीन) कोष [National Agricultural Credit (Long Term) Operations Fund] इस कोष का उपयोग इन कार्यों के लिए किया जायेगा—(i) राज्य सरकारों को सहकारी साख समितियों के अंश खरीदने के लिए ऋण देना। (ii) राज्य सहकारी बैंकों को मध्यकालीन ऋण देना तथा (iii) भूमि बन्धक बैंकों को दीर्घकालीन ऋण और अग्रिम देना। (२) राष्ट्रीय कृषि-साख (स्थायीकरण) कोष [National Agricultural Credit (Stabilisation) Fund] इस कोष का प्रयोग केवल मध्यकालीन ऋणों और अग्रिमों को देने के लिए किया जायेगा। यह ऋण राज्य सहकारी बैंकों को मिल सकेंगे तथा वे १५ महीने से कम अथवा ५ साल से अधिक अवधि के लिए नहीं होंगे। इन कोषों की स्थापना हो जाने से रिजर्व बैंक के द्वारा दी जाने वाली कृषि वित्त सहायता में पर्याप्त वृद्धि होने की आशा है।

रिजर्व बैंक और औद्योगिक वित्त
(Reserve Bank and Industrial Finance)—

रिजर्व बैंक प्रत्यक्ष रूप से औद्योगिक वित्त की व्यवस्था नहीं कर सकता है किन्तु उसने उद्योगों को ऋण देने वाली विशेष संस्थाओं की स्थापना में क्रियात्मक रूप से भाग लिया है। भारत में तेजी के साथ औद्योगिक विकास करने तथा औद्योगिक पूँजी की कमी को दूर करने के लिए उसने ऐसी संस्थाओं की स्थापना तथा विस्तार करने की नीति को अपनाया है जो उद्योगों की मध्यमकालीन तथा दीर्घकालीन वित्त की आवश्यकता को पूरा कर सकें। रिजर्व बैंक ने भारत की औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation of India) तथा बहुत-सी राज्य निगमों (State Finance Corporations) तथा रिफाईनेन्स कारपोरेशन फॉर इन्डस्ट्री (Refinance Corporation for Industry) की पूँजी में भाग लिया है तथा उन्हें ऋण देने की सुविधायें दी हैं। इसके अतिरिक्त वह उनके संगठन तथा संचालन में भी विशेष प्रकार की सहायता देता है।

भारत की औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation of India) की ५ करोड़ रुपयों की पूँजी में से १ करोड़ रुपये की पूँजी रिजर्व बैंक

के द्वारा लगाई गई है। इसके अतिरिक्त उसने इस निगम के द्वारा जारी किये गये २ करोड रुपये के बाण्डस (Bonds) भी खरीदे हैं। निगम की वित्तीय स्थिति को दृढ करने के लिए वह अपने अंशों पर लाभांश न लेने के लिए राजी हो गया है। रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट में सन् १९५३ के संशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक औद्योगिक वित्त निगम को ऋण तथा अग्रिम भी दे सकता है और उसने इस निगम को अल्पकालीन तथा मध्यमकालीन दोनों ही प्रकार के ऋण दिये हैं। निगम के संचालक मण्डल पर रिजर्व बैंक के दो प्रतिनिधि होते हैं। बैंक विन निगम को नीति सम्बन्धी विषयों पर परामर्श भी देता है। बैंक ने बहुत-सी राज्य वित्त निगमों की अंश पूँजी में भी भाग लिया है। वह प्रायः इन निगमों की परिदत्त पूँजी का १० से २० प्रतिशत भाग स्वयं देता है। इन निगमों को बैंक अल्पकालीन ऋण भी देता है। वह इन निगमों के हस्ताक्षर वाले बिलों को निश्चित शर्तों पर खरीदने, बेचने, दुबारा भुनाने का काम भी करता है। इसके अतिरिक्त वह इन्हें अन्य बैंकिंग सुविधायें देता है तथा केन्द्रीय व राज्य निगमों को संगठन एवं संचालन सम्बन्धी परामर्श भी देता है। इन निगमों की क्रियाओं में समन्वय स्थापित करने का कार्य रिजर्व बैंक करता है तथा उनका वार्षिक निरीक्षण भी करता है।

रिफाईनेन्स कारपोरेशन फॉर इण्डस्ट्री की १२·५ करोड रुपये की पूँजी में से ५ करोड रुपये की पूँजी रिजर्व बैंक के द्वारा लगाई गई है। बैंक ने इस निगम की स्थापना में क्रियात्मक रूप से भाग लिया है और रिजर्व बैंक के गवर्नर ही इस निगम के संचालक मण्डल के अध्यक्ष हैं। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने लघु उद्योगों को बैंक ऋणों की व्यवस्था करने के लिए एक गारन्टी योजना बनाई है जिसे सन् १९६० से कार्यान्वित किया गया है।

बैंकों के द्वारा औद्योगिक वित्त की व्यवस्था किये जाने के सम्बन्ध में भी रिजर्व बैंक ने कुछ प्रारम्भिक कार्य किया है। श्राफ समिति ने बैंकों के द्वारा दीर्घकालीन तथा मध्यमकालीन औद्योगिक वित्त में अप्रत्यक्ष रूप से भाग लिए जाने का सुझाव दिया था। सन् १९५३ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कुछ प्रतिनिधि भारत आये और उन्होंने भी इसी प्रकार की सिफारिश की। रिफाईनेन्स कारपोरेशन फॉर इण्डस्ट्री की स्थापना हो जाने से यह सुविधा काफी सीमा तक मिलने लगी है। किन्तु भारतीय बैंकों को दीर्घकालीन औद्योगिक वित्त की व्यवस्था में भी भाग लेना चाहिए। रिजर्व बैंक ने १९६१ में इस विषय की जाँच करने के लिए एक वर्किङ्ग ग्रुप (Working Group) स्थापित किया जिसने उन बातों को निश्चित किया है जिन्हें बैंकों को दीर्घकालीन ऋण देते समय ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि रिजर्व बैंक ने औद्योगिक वित्त की व्यवस्था करने में भी काफी कार्य किया है।

रिजर्व बैंक की सफलताएँ
(Achievements of the Reserve Bank)—

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रिजर्व बैंक ने अपने विभिन्न कार्यों को पर्याप्त सफलता के साथ किया है और वह देश में एक उचित मौद्रिक तथा साख नीति का निर्माण कर सका है। जो आशाएँ रिजर्व बैंक से लगाई गई थी उन्हें उसने काफी सीमा तक पूरा किया है। यद्यपि उसकी कार्य-प्रणाली में कुछ दोष अवश्य रहे हैं किन्तु फिर भी वह केन्द्रीय बैंक के रूप में काफी सफल रहा है। रिजर्व बैंक की मुख्य-मुख्य सफलताएँ इस प्रकार हैं—

(१) वह देश में बैंक दर को कम करने में सफल हो सका है—रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व बैंक दर ७% और ६% के बीच में रहती थी किन्तु उसने उसे कम करके ३% कर दिया। सन् १९५१ में मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिए बैंक दर को बढ़ा कर ३½% कर दिया गया और सन् १९५७ में उसे ४% निश्चित किया गया। इसके पश्चात् भी बैंक दर में वृद्धि होती रही है और इस समय बैंक दर ६% हो गई है। यद्यपि सुलभ मुद्रा नीति विकासशील अर्थ-व्यवस्था के लिए आवश्यक है किन्तु उसके साथ-साथ ही कीमत-स्तर में स्थिरता रहना भी आवश्यक है इसीलिए रिजर्व बैंक ने अपनी बैंक दर को बढ़ा कर कीमत-स्तर पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न किया है। काफी लम्बे समय तक सुलभ मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) को अपनाये रहने के पश्चात्, पिछले कुछ वर्षों में रिजर्व बैंक को दुर्लभ मुद्रा नीति (Dear Money Policy) को अपनाना पड़ा है। किन्तु बैंक दर की इस वृद्धि को स्थाई नहीं कहा जा सकता है। ऐसा केवल मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिए किया गया है।

(२) ब्याज की दरों में सामयिक परिवर्तन कम हो गये हैं—यद्यपि इस प्रकार के परिवर्तनों का पूर्णतया अन्त तो नहीं हुआ है किन्तु रिजर्व बैंक ने विभिन्न मौसमों में साख की मात्रा का आवश्यकता के अनुसार विस्तार तथा संकुचन करने की नीति के द्वारा ब्याज की दरों के सामयिक परिवर्तनों को काफी कम कर दिया है। अब ब्याज की दरों में पहले की अपेक्षा अधिक स्थिरता रहती है।

(३) रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने की सस्ती सुविधाएँ प्रदान की हैं—रिजर्व बैंक देश में बहुत कम व्यय पर रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने का कार्य करता है। इस प्रकार की सुविधाओं का प्रयोग सरकार, अनुसूचीबद्ध बैंकों तथा सहकारी समितियों के द्वारा काफी किया जाता है। रिजर्व बैंक के द्वारा विशेष सुविधाओं के लिए ली जाने वाली दरें बहुत कम हैं। वह ५००० रुपये तक की रकम भेजने के लिए १/३२ प्रतिशत (न्यूनतम १ रुपया) और ५००० से अधिक के लिए १/६४ प्रतिशत (न्यूनतम १ रुपये ५६ पैसे) के हिसाब से लेता है।

(४) रिजर्व बैंक को सार्वजनिक ऋणों के प्रबन्ध में काफी सफलता मिली है—वह समय-समय पर सरकार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सार्वजनिक ऋणों के लेने तथा उनके भुगतान के कार्य को सफलतापूर्वक करता रहा है। आर्थिक विकास के लिए भी उसने सार्वजनिक ऋणों को लेने तथा उनका प्रबन्ध करने में बड़ी सहायता की है।

(५) बैंक रुपये की विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पेंस पर स्थिर रखने में सफल रहा है—स्टर्लिङ्ग का निश्चित दरों पर क्रय-विक्रय करके तथा विदेशी विनिमय के द्वारा वह रुपये की विदेशी विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पेंस पर स्थिर रख सका है।

(६) बैंकों के बैंक के रूप में भी उसे काफी सफलता मिली है—रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् हमारी बैंकिंग व्यवस्था सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित हो गई है। वह विभिन्न प्रकार के बैंकों पर पर्याप्त नियन्त्रण कर सका है तथा उनकी नीति को देश के आर्थिक हित में चलाने में सफल रहा है। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् फेल होने वाले बैंकों की संख्या बहुत कम हो गई है।

(७) साख नियन्त्रण में पर्याप्त सफलता मिली है—रिजर्व बैंक विभिन्न विधियों के द्वारा देश में मुद्रा तथा साख की मात्रा को नियन्त्रित कर सका है और मुद्रा-प्रसार की शक्तियों के प्रभाव को कम करने में उसे सफलता मिली है। यद्यपि पिछले कुछ वर्षों में उसे मुद्रा व साख का नियन्त्रण करने में अधिक सफलता नहीं मिल सकी है, जिसके कारण मुद्रा-प्रसार की शक्तियाँ तीव्र हो गई हैं किन्तु फिर भी वह प्रयत्नशील है कि आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करते हुए भी वह मुद्रा-प्रसार पर नियन्त्रण रख सके।

(८) औद्योगिक वित्त की व्यवस्था करने में रिजर्व बैंक ने काफी सहायता दी है—औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation) को स्थापित करने में उसने बड़ी सहायता की है और इस प्रकार देश में दीर्घकालीन औद्योगिक वित्त की सुविधाओं का विस्तार किया जा सका है। रिजर्व बैंक के सक्रिय सहयोग से ही औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्त निगमों तथा रिफाईनेन्स कार्पोरेशन फॉर इण्डस्ट्री की स्थापना हो सकी है।

(९) बिल बाजार की स्थापना के लिए प्रयत्न—सन् १९५२ में रिजर्व बैंक ने देश में बिल बाजार की स्थापना के लिए एक योजना बनाई। इस योजना को कार्यरूप में लाने से देश में बिल बाजार के विकास को प्रोत्साहन मिला है।

(१०) रिजर्व बैंक ने मुद्रा, बैंकिंग तथा सहकारी आन्दोलन के सम्बन्धी अन्वेषण भी किये हैं—वह इन विभिन्न विषयों सम्बन्धी आँकड़ों को इकट्ठा करता है तथा उनकी समस्याओं में खोज करने के पश्चात् समय-समय पर सुधार के महत्वपूर्ण सुझाव देता है। उसने राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों को इकट्ठा करने का काम भी प्रारम्भ किया है।

(११) कृषि साख के विकास के लिए उसने महत्वपूर्ण कार्य किया है—उसने विभिन्न राज्यों में सहकारी आन्दोलन के पुनर्गठन का कार्य किया है। रिजर्व बैंक ने कृषि साख सम्बन्धी जाँच करने के लिए एक अखिल भारतीय कृषि साख अन्वेषण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) स्थापित की, जिसकी सिफारिशों के आधार पर देश में साख व्यवस्था का पुनर्निर्माण किया जा रहा है।

रिजर्व बैंक की असफलताएँ (Where the Reserve Bank has Failed)—

उक्तलिखित सफलताओं के होते हुए भी रिजर्व बैंक के कार्यों में कुछ दोष रहे हैं, जिनके कारण समय-समय पर उसकी आलोचना की गई है। उसकी आलोचना मुख्यतया निम्नलिखित असफलताओं के कारण की जाती है—

(i) रिजर्व बैंक रुपये के मूल्य में स्थिरता प्राप्त नहीं कर सका है और उसकी मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति अधिक सफल नहीं रही है। युद्ध काल में उसके द्वारा अपनाई गई मुद्रा-प्रसार की नीति का देश की अर्थ-व्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है।

(ii) रिजर्व बैंक देश की बैंकिंग व्यवस्था का उचित संगठन नहीं कर पाया है। देश में बहुत से छोटे-छोटे बैंक, साख समितियाँ तथा देशी बैंकर्स ऐसे हैं जिन पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं है। अभी तक भी वह देशी बैंकर्स के साथ अपना कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सका है।

(iii) रिजर्व बैंक देश में एक सुव्यवस्थित बिल बाजार का विकास भी नहीं कर सका है। उसके द्वारा बिलों को फिर से भुनाने की दी जाने वाली सुविधाएं बहुत सीमित हैं।

(iv) भारतीय मुद्रा बाजार में ब्याज की दरों की भिन्नता को दूर करने में भी उसे अधिक सफलता नहीं मिली है।

(v) देश में कृषि साख की उचित व्यवस्था करने में भी उसे अधिक सफलता नहीं मिली है। वह कृषि साख प्रदान करने वाली संस्थाओं पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं कर सका है।

रिजर्व बैंक की कार्य-प्रणाली में उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि उसे केन्द्रीय बैंक के रूप में काफी सफलता मिली है। उसकी स्थापना के समय जो आशायें उससे की गई थी, उन्हें वह काफी सीमा तक पूरा कर सका है। वह भारतीय रुपये के आन्तरिक तथा विदेशी मूल्य में पर्याप्त स्थिरता स्थापित कर सका है तथा उसने भारतीय बैंकिंग प्रणाली को सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित करके देश की अनुपम सेवा की है। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि रिजर्व बैंक की स्थापना के साथ ही देश में आर्थिक स्थिरता तथा बैंकिंग सुधार का एक नया युग आरम्भ हुआ है। रिजर्व बैंक ने भारतीय बैंकिंग प्रणाली को द्वितीय विश्व-युद्ध तथा

देश के विभाजन की संकटकालीन स्थिति से निकालने में बड़ी सहायता की है। उसने देश में ग्राम्य वित्त-व्यवस्था को सुधारने में भी महत्वपूर्ण कार्य किया है। अब वह देश में आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त दशाएं उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा है। एक ओर तो वह आर्थिक विकास के लिए अधिकाधिक वित्तीय साधनों की व्यवस्था करता है और दूसरी ओर मुद्रा-प्रसार की शक्तियों को नियन्त्रित कर रहा है। वर्तमान परिस्थिति में उसकी सफलता इस बात पर निर्भर है कि वह कहाँ तक इन परस्पर विरोधी उद्देश्यों में समन्वय कर पाता है।

रिजर्व बैंक तथा आर्थिक विकास

(Reserve Bank and Economic Development)—

देश में आर्थिक नियोजन का युग आरम्भ हो जाने से रिजर्व बैंक के ऊपर कुछ नये उत्तरदायित्व आ गये हैं। अब वह केन्द्रीय बैंकिंग के प्राचीन सिद्धान्तों की सीमाओं में रह कर देश की अधिक सेवा नहीं कर सकता है और उसे एक प्रगतिशील केन्द्रीय बैंक के रूप में देश के आर्थिक विकास में पूर्ण सहयोग देना चाहिए। इस समय देश की प्रमुख समस्या आर्थिक विकास है और हमारी मौद्रिक नीति को केवल इस उद्देश्य प्राप्ति के लिए ही चलाया जाना चाहिए। मौद्रिक नीति के अन्य सब उद्देश्य इस महान् उद्देश्य के आधीन होने चाहिएँ। वर्तमान स्थिति में रिजर्व बैंक की उपयोगिता इस बात पर निर्भर है कि वह कहाँ तक देश में आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त दशाएं उत्पन्न करने में सहायता देता है। किसी भी देश के आर्थिक विकास में केन्द्रीय बैंक का महत्वपूर्ण स्थान होता है। वह देश में केवल आर्थिक स्थिरता ही स्थापित नहीं करता है बल्कि उसे देश के आर्थिक विकास में भी सक्रिय भाग लेना होता है। अल्प-विकसित देशों के केन्द्रीय बैंकों के सम्मुख एक महान् कर्तव्य है कि वे कहाँ तक इन देशों के आर्थिक विकास को सम्भव करते हैं। इनका भविष्य आर्थिक विकास में सहयोग देने की उनकी क्षमता के ऊपर निर्भर है। रिजर्व बैंक भी इसी प्रकार के परीक्षण काल से गुजर रहा है।

देश की वर्तमान स्थिति में रिजर्व बैंक के दो प्रमुख कर्तव्य हैं—(अ) आर्थिक विकास के लिए विनियोगों की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए अधिकाधिक मात्रा में वित्तीय साधनों को उपलब्ध करना। (ब) अर्थ-व्यवस्था में अधिक विनियोग के कारण उत्पन्न मुद्रा-प्रसार की शक्तियों को नियन्त्रित करना। इस समय रिजर्व बैंक के सम्मुख इन दो विपरीत उद्देश्यों को प्राप्त करने की कठिन समस्या है। आर्थिक विकास तथा स्थिरता के उद्देश्यों में उचित सतुलन के द्वारा ही वह देश के आर्थिक विकास में सहयोग दे सकता है। उसे गतिशील (Dynamic) अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मुद्रा तथा साख का विस्तार करना है और इसके साथ ही उचित मौद्रिक प्रबन्ध के द्वारा मूल्य-स्तर की स्थिरता को भी बनाये रखना है। मौद्रिक साधनों के अभाव के कारण देश में आर्थिक विकास की

गति भी धीमी न पड़ने पाये और मुद्रा-प्रसार की शक्तियाँ भी नियन्त्रण में रहें, इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही रिजर्व बैंक कार्य कर रहा है।

रिजर्व बैंक अपने इस नये उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए पूर्णतया प्रयत्नशील है। प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के लिए मौद्रिक साधन उपलब्ध करने में उसे काफी सफलता मिली है। उसने मौद्रिक साधनों के अभाव के कारण देश में आर्थिक विकास की गति को धीमी नहीं पड़ने दिया है और विकास के लिए अधिकाधिक मात्रा में वित्तीय साधन उपलब्ध किये हैं। इसके साथ ही उसने मुद्रा-प्रसार की शक्तियों को भी नियन्त्रण में रक्खा है। प्रथम योजना के अन्त तक वह देश में आर्थिक स्थिरता को बनाये रख सका है किन्तु द्वितीय योजना काल में देश के सम्मुख मुद्रा-प्रसार तथा विदेशी विनिमय संकट की दो प्रमुख समस्यायें उत्पन्न हो गईं। विदेशी विनिमय संकट को दूर करने में रिजर्व बैंक को पर्याप्त सफलता मिली है यद्यपि विदेशी विनिमय संकट को पूर्णतया दूर नहीं किया जा सका है किन्तु उसकी तीव्रता को काफी कम कर दिया गया है। योजनाकालीन मुद्रा-प्रसार को रोकने में रिजर्व बैंक को अधिक सफलता नहीं मिल सकी है किन्तु वह मौद्रिक शक्तियों पर पूर्णतया नियन्त्रण बनाये रखने में सफल रहा है।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (संशोधन) एक्ट, सन् १९५६

[Reserve Bank (Amendment) Act, 1956]—

सन् १९५६ में रिजर्व बैंक एक्ट में संशोधन करने का मुख्य उद्देश्य रिजर्व बैंक को आर्थिक विकास सम्बन्धी उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए कुछ विशेष अधिकार देना था। आर्थिक विकास की सफलता के लिए आवश्यक था कि रिजर्व बैंक का देश की अर्थ-व्यवस्था पर प्रभावशाली नियन्त्रण हो तथा उसे मौद्रिक साधनों का विस्तार करने के लिए पर्याप्त अधिकार दिये जायें। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में १२०० करोड़ रुपये के हीनार्थ-प्रबन्ध की व्यवस्था की गई थी और रिजर्व बैंक को इस राशि का प्रबन्ध अधिक नोट निर्गम के द्वारा करना था। उस समय प्रचलित अनुपातिक कोष प्रणाली के आधार पर नोटों का इतना विस्तार करना सम्भव नहीं था। अतः नोट निर्गम प्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता थी। योजना व्यय के लिए अधिक मात्रा में विदेशी विनियम को उपलब्ध करने के लिए आवश्यक समझा गया कि पत्र मुद्रा कोष में स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों की मात्रा को कम किया जाये। आर्थिक योजनाओं में कृषि विकास का महत्वपूर्ण स्थान होने के कारण यह आवश्यक था कि रिजर्व बैंक कृषि वित्त साधनों का विस्तार करने में सक्रिय भाग ले और यह रिजर्व बैंक एक्ट में संशोधन के द्वारा ही सम्भव हो सकता था। उक्तलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए रिजर्व बैंक एक्ट में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गए, जो अग्रलिखित हैं—

(१) रिजर्व बैंक नोट-निर्गम विभाग में अब कम से कम ४०० करोड रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ रख सकेगा तथा आवश्यकता पड़ने पर इस न्यूनतम राशि को घटा कर ३०० करोड रुपये भी की जा सकेगी।

(२) नोट-निर्गम विभाग में रक्खे जाने वाले सोने तथा सोने के सिक्कों की न्यूनतम मात्रा ११५ करोड रुपये होगी।

इस प्रकार पत्र-मुद्रा के पीछे रक्खे जाने वाले न्यूनतम कोष की मात्रा ५१५ करोड रुपये निश्चित कर दी गई, जिसमे ४०० करोड रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ होगी तथा ११५ करोड रुपये का सोना अथवा सोने के सिक्के रहेंगे।

(३) अब तक नोट-निर्गम विभाग मे रक्खे जाने वाले सोने का मूल्यांकन १ रु०=८·४७५१२ ग्रेन्स् (स्वर्ण) अर्थात् २१ रुपये १३ आने १० पाई प्रति तोला की दर से किया जाता था, किन्तु अब उक्त सोने का मूल्यांकन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M F.) द्वारा निश्चित दर ३५ डॉलर प्रति औंस (१ रु०=२·८८ ग्रेन्स् स्वर्ण) अर्थात् ६२ रुपये ५० नये पैसे प्रति तोला की दर से किया जायेगा। इस दर पर बैंक के पास मुद्रा कोष में स्थित सोने का मूल्य ४० करोड रुपये से बढ कर ११५ करोड रुपये हो गया है।

(४) रिजर्व बैंक को यह अधिकार दे दिया गया है कि वह अनुसूचीबद्ध बैंकों के द्वारा रक्खे जाने वाले नक्द कोष के अनुपात मे वृद्धि कर सकेगा। अभी तक यह बैंक अपनी माग देय (Demand Liabilities) का ५% तथा काल देय (Time Liabilities) का २% रिजर्व बैंक के पास रखते थे किन्तु अब वह इन बैंकों से माग देय का ५% से २०% तक और काल देय का २% से ८% तक जमा के रूप में ले सकेगा।

(५) रिजर्व बैंक को यह अधिकार दे दिया गया कि वह अपने राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष में से सहकारी बैंकों को ऋण दे सकेगा, ताकि वे सहकारी बैंक उस राशि को छोटे तथा मध्यम कृषकों को उधार दे सकें और फिर वे उससे सहकारी सस्थाओं के अश खरीद सके।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (सशोधन) अधिनियम, सन् १९५७
[Reserve Bank of India (Amendment) Act, 1957]—

सन् १९५७ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में एक और सशोधन करके पत्र-मुद्रा के पीछे रक्खे जाने वाले न्यूनतम कोष की मात्रा मे परिवर्तन कर दिया गया। अब रिजर्व बैंक को निर्गमित नोटो के पीछे २०० करोड रुपयो का न्यूनतम कोष रखना होता है, जिसमें ११५ करोड रुपये का सोना तथा ८५ करोड रुपये की विदेश प्रतिभूतियाँ होती हैं। यह इसलिए किया गया है जिससे कि अधिक मात्रा मे विदेशी विनिमय साधनो का प्रयोग आर्थिक विकास के लिए किया जा सके।

परीक्षा प्रश्न

(१) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की पिछले दस वर्षों की कार्यवाही पर आलोचनात्मक विचार करें। (आगरा बी० ए० १९६०)

(२) भारत के रिजर्व बैंक ने केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य कहाँ तक सुचारु रूप से सम्पन्न किये हैं ? उदाहरण सहित समझाइये ? (आगरा बी० ए० १९५९ स)

(३) रिजर्व बैंक एक्ट पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए। सन् १९५६ के रिजर्व बैंक संशोधन एक्ट के क्या उद्देश्य हैं ? (आगरा बी० ए० १९५७ स)

(४) भारत की बैंकिंग प्रणाली में रिजर्व बैंक का क्या स्थान है ? वह देश में साख की मात्रा का नियन्त्रण किस प्रकार करता है ? (आगरा बी० काम० १९५८)

(५) रिजर्व बैंक ने कृषि-साख समस्या को सुलझाने में क्या सहायता दी है ? (आगरा बी० कॉम० १९६२)

(६) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के 'नोट निर्गमन' एवं 'बैंकों के बैंक' सम्बन्धी कार्यों पर प्रकाश डालिये। (बनारस बी० कॉम० १९५९)

(७) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया करेन्सी एवं साख पर किस प्रकार नियन्त्रण एवं नियमन करता है ? (विक्रम बी० कॉम० १९५९)

(८) रिजर्व बैंक के केन्द्रीय बैंकिंग कार्य कौन-कौन हैं। यह अन्य बैंकों पर किस प्रकार नियन्त्रण रखती है ? (राजस्थान बी० ए० १९५९)

(९) किसी देश मे साख एवं मुद्रा की मात्रा का नियन्त्रण करने के लिए एक केन्द्रीय बैंक क्या-क्या उपाय कर सकता है ? रिजर्व बैंक आफ इण्डिया कुछ वस्तुओं की मूल्य वृद्धि पर नियन्त्रण रखने में किस सीमा तक सफल हुआ है ? (गोरखपुर बी० कॉम० १९५९)

(१०) भारत की रिजर्व बैंक के कार्यों का स्पष्टीकरण करते हुए उनका प्रव्यय नियन्त्रण में क्या महत्व है, समझाइये। (नागपुर बी० ए० १९६०)

२३

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया

STATE BANK OF INDIA

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना सन् १९५५ मे इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके की गई। इम्पीरियल बैंक देश का बहुत प्राचीन तथा सबसे बडा बैंक था। उसकी स्थापना सन् १९२० मे बम्बई, कलकत्ता और मद्रास तीनो प्रेसीडेन्सी बैंको को मिलाकर की गई थी। इम्पीरियल बैंक ने सन् १९२१ मे अपना कार्य आरम्भ किया था। भारतीय बैंकिंग व्यवस्था मे इस बैंक का महत्वपूर्ण स्थान रहा है क्योकि उसकी स्थापना के साथ ही भारत मे आधुनिक बैंकिंग का विकास आरम्भ हुआ। इम्पीरियल बैंक की अधिकृत पूँजी ११½ करोड रुपये थी जिसे ५०० रुपये वाले अशो मे बाँटा हुआ था। इस बैंक का प्रबन्ध एक केन्द्रीय सचालक मण्डल (Central Board of Directors) के द्वारा किया जाता था। इस मण्डल मे १६ सदस्य होते थे जिन्हें गवर्नर्स कहा जाता था। केन्द्रीय सचालक मण्डल के अतिरिक्त तीन स्थानीय बोर्ड (Local Boards) भी थे जो बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास मे स्थित थे। यद्यपि इम्पीरियल बैंक केवल एक व्यापारिक बैंक था किन्तु सन् १९३५ तक रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व वह देश मे केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य भी करता था। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् इम्पीरियल बैंक से केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्यों को ले लिया गया और वह पूर्णतया एक व्यापारिक बैंक के रूप में कार्य करने लगा।

आरम्भ से ही इम्पीरियल बैंक दो प्रकार के कार्य करता था—(अ) केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य तथा (ब) व्यापारिक बैंक के कार्य। केन्द्रीय बैंक के रूप मे वह सरकार के बैंकर का कार्य करता था और समस्त सरकारी कोष उसके पास जमा रहते थे। वह सरकार के लिए भुगतान प्राप्त करता था तथा उसके आदेश पर भुगतानो को निपटाता था। सरकारी कोषो को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने का कार्य भी उसके द्वारा किया जाता था। वह लोक ऋण का प्रबन्ध करता था तथा सरकारी वित्त नीति के निर्माण मे सहायता देता था। बैंको के बैंक का

कार्य भी उसके द्वारा किया जाता था और वह बैंको के बिलों को भुनाने, उन्हे ऋण देने तथा समाशोधन-गृह की सुविधायें देने का कार्य भी करता था। एक साधारण हिस्सेदारो के बैंक के रूप मे वह व्यापारिक बैंक के सभी कार्य करता था। वह भारतवर्ष मे सबसे शक्तिशाली बैंक था, उसे सबसे अधिक मात्रा मे जमा प्राप्त होती थी तथा समस्त देश मे उसकी शाखाये फैली हुई थी। सन् १६३८ में इम्पीरियल बैंक के केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्यो को समाप्त कर दिया गया किन्तु रिजर्व बैंक के साथ एक समझौते के अन्तर्गत उसे उन स्थानो पर जहाँ पर रिजर्व बैंक की शाखायें नही है रिजर्व बैंक के एजेन्ट का कार्य सौप दिया गया।

रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् भी इम्पीरियल बैंक का महत्व कम नही हुआ और वह देश मे प्रमुख व्यापारिक बैंक के रूप मे कार्य करता रहा। भारतीय बैंकिंग व्यवस्था मे इम्पीरियल बैंक का विशेष महत्व होने के कई कारण थे—(१) जनता को इस बैंक मे बहुत अधिक विश्वास था क्योंकि उसके साधन बहुत विस्तृत थे और उसकी ऋण सम्बन्धी नीति भी बहुत अच्छी थी जिसके कारण बैंक को बहुत अधिक लाभ होता था। (२) इस बैंक की शाखाये बहुत अधिक थी जिसके कारण उसका कार्य-क्षेत्र काफी विस्तृत था। अधिक शाखाये होने के कारण वह देश के विभिन्न भागो मे सस्ती बैंकिंग सुविधायें पहुँचाता था। (३) जिन स्थानो पर रिजर्व बैंक की शाखाये नही होती थी, वहाँ पर यह रिजर्व बैंक के एजेन्ट का कार्य करता था जिसके कारण इसके पास बहुत अधिक रुपया रहता था और इसका विशेष महत्व था।

इम्पीरियल बैंक का इतना अधिक महत्व होते हुए भी उसकी कार्य-प्रणाली की कडी आलोचना की जाती थी और कई बार उसके राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को उठाया गया। केन्द्रीय बैंक के रूप मे इम्पीरियल बैंक का कार्य अत्यन्त दोषपूर्ण था और वह कभी भी देश मे केन्द्रीय बैंक की कमी को पूरा करने मे सफल नही हुआ। बैंक का प्रबन्ध विदेशियो के हाथ मे होने के कारण वह देश-हित मे कार्य नही करता था। वह अन्य बैंको के साथ प्रतियोगिता करता था तथा सकटकाल मे उन की सहायता नही करता था। भारतीय व्यापारियो के प्रति उसने पक्षपात की नीति को अपनाया हुआ था तथा उन्हे किसी प्रकार की सुविधाये नही देता था। इस बैंक के द्वारा अपनी नई शाखाये ऐसे स्थानो पर खोली जाती थी, जहाँ पर पहले से ही अन्य बैंको की शाखायें मौजूद थी। अत. देश मे बैंकिंग सुविधाओ का विस्तार करने के स्थान पर वह अन्य बैंको से प्रतियोगिता करने का कार्य करता था। इसके अतिरिक्त इस बैंक पर यह भी आरोप लगाया जाता था कि उसने देश मे मुद्रा बाजार के सगठन तथा बिल बाजार के विकास के लिए कुछ भी नही किया। इन सब दोषो के कारण ही समय-समय पर इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण की माग की गई।

इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न
(Question of Nationalising Imperial Bank)—

यद्यपि इम्पीरियल बैंक के कार्यों की देश मे बड़ी आलोचना की जाती थी किन्तु काफी लम्बे समय तक सरकार ने उसके राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता नही समझी। सन् १९४७ मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को विशेष महत्व दिया जाने लगा और सन् १९४८ मे सरकार ने यह घोषणा कर दी कि उसका विचार इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करने का है।

रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के समय इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न भी उठाया गया और सरकार ने सैद्धान्तिक रूप से इस बैंक के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता को स्वीकार कर लिया किन्तु उसमे कुछ व्यवहारिक कठिनाइयो के होने के कारण इस योजना को कार्य-रूप मे नही लाया जा सका। इस सम्बन्ध मे प्रमुख कठिनाइयाँ इस प्रकार थी—(i) इम्पीरियल बैंक की शाखायें विदेशो मे भी थी जिनकी सख्या १९५० मे ४८ थी। इन विदेशी शाखाओ के कारण इस बैंक के राष्ट्रीयकरण की समस्या काफी जटिल हो गई थी। (ii) उस समय सरकार का यह विचार था कि राष्ट्रीयकरण के पश्चात् यह बैंक व्यापारिक बैंक के कार्य नही कर सकेगा। देश मे बैंकिंग सुविधाओ का अभाव होने के कारण इतने बड़े तथा महत्वपूर्ण बैंक के व्यापारिक बैंकिंग कार्यों को समाप्त करना देश के आर्थिक हित मे नही था। अत सरकार ने इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण के कार्य को स्थगित कर दिया।

यद्यपि सरकार उस समय इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करने मे असमर्थ थी किन्तु जनता मे इस बैंक की कार्य-प्रणाली का भारी विरोध किया जाता था। इस बैंक के विरुद्ध लगाये जाने वाले मुख्य आरोप इस प्रकार थे—(अ) अन्य व्यापारिक बैंको की अपेक्षा इस बैंक को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त थे जिनका प्रयोग वह अन्य बैंको के साथ अनुचित प्रतियोगिता के लिए करता था। इस बैंक के पास बहुत बडी मात्रा मे सरकारी कोष रहता था जिसका प्रयोग उसके द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक किया जाता था और उससे वह बहुत लाभ पैदा करता था। किसी भी एक व्यापारिक बैंक के हाथ मे सारे सरकारी धन को दे देना अनुचित था क्योकि उससे एक ऐसा शक्तिशाली एकाधिकार उत्पन्न हो गया था जिसका इम्पीरियल बैंक के द्वारा दुरुपयोग किया जाता था। इसके अतिरिक्त केवल इसी बैंक को ही रिजर्व बैंक के एजेन्ट का कार्य करने का एकाधिकार प्राप्त था जिसका प्रयोग भी अन्य बैंको के साथ प्रतियोगिता करने के लिए किया जाता था। अत. इम्पीरियल बैंक के इन सब विशेष अधिकारो तथा सुविधाओ को समाप्त करने की माग की जा रही थी। (ब) इस बैंक का प्रबन्ध एव सचालन विदेशियो के हाथ मे था जिसके कारण यह बैंक देश-हित मे

कार्य नही करता था। यह बैंक विदेशी व्यापारियो का पक्ष करता था और भारतीय व्यापारियो का विरोध किया जाता था तथा उन्हे आवश्यक सुविधायें भी नही दी जाती थी। भारतीयो को ऊँचे पदो पर नही रखा जाता था और उन्हे शिक्षण सम्बन्धी सुविधायें भी नही दी जाती थीं। (स) इम्पीरियल बैंक ने भारी मात्रा मे नकद साख प्रदान करके देश मे बिल बाजार के विकास मे बाधायें उत्पन्न की थी। यह बैंक बिल बाजार का विकास न कर सका क्योंकि वह नकद साख प्रदान करना अधिक पसन्द करता था और बिलो को भुनाने को प्रोत्साहन नही देता था। इम्पीरियल बैंक की कार्य-प्रणाली मे उपरलिखित दोषो के कारण उसके राष्ट्रीयकरण की माग की जा रही थी।

ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति की सिफारिशे

(Recommendations of the Rural Banking Enquiry Committee)—

सन् १६५१–५२ मे ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति (Rural Banking Enquiry Committee) ने इम्पीरियल बैंक के ऊपर लगाये जाने वाले आरोपो की जाँच की। इस समिति का विचार था कि इम्पीरियल बैंक की कार्य-प्रणाली मे दोष अवश्य है किन्तु उनके कारण उसका राष्ट्रीयकरण करना उचित नही है। इस समिति ने इम्पीरियल बैंक की कार्य-प्रणाली के दोषो को दूर करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये—

(अ) इस बैंक को जो विशेष अधिकार प्राप्त है उन्हे या तो समाप्त कर दिया जाय अथवा उन पर कडा नियन्त्रण होना चाहिए।

(ब) बैंक का भारतीयकरण किया जाना चाहिए और उसमे अधिकाश अधिकारी भारतीय होने चाहिएँ।

(स) देश मे सभी बैंको को यह अधिकार तथा सुविधा मिल जानी चाहिए कि वे सरकारी खजाने के द्वारा अपना रुपया सस्ती दर पर एक स्थान से दूसरे स्थान को भेज सकें।

(द) समिति की राय मे इम्पीरियल बैंक पर लगे प्रतिबन्ध पर्याप्त थे; और यह बैंक अन्य बैंको से कोई अनुचित प्रतियोगिता नही कर रहा था। इस समिति ने इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करना इसलिए उचित नही समझा क्योंकि राष्ट्रीयकरण होने पर वह अपना व्यापारिक बैंक का कार्य बन्द कर देगा जो देश हित मे नही है। इस प्रकार इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को फिर कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया गया।

भारतीय ग्रामीण साख अनुसन्धान समिति की सिफारिशें

(Recommendations of All India Rural Credit Survey Committee)–

सन् १६५१ मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने भारतीय ग्रामीण साख की जाँच करने के लिए एक अखिल भारतीय ग्रामीण साख अनुसन्धान समिति (All India

Rural Credit Survey Committee) नियुक्त की जिसके द्वारा इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया के राष्ट्रीयकरण की सिफारिश की गई। इस कमेटी का एक महत्वपूर्ण सुझाव यह था कि—"सरकार के साझे मे एक स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना होनी चाहिए जो अपनी देश भर मे फैली हुई शाखाओं के द्वारा देश की अन्य बैंकिंग सस्थाओं तथा सहकारी बैंकों को सहायता पहुँचाता हुआ सरकार की आर्थिक नीति को कार्यरूप में लायेगा।" इस कमेटी की सिफारिशो ने देश मे इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी विचारधारा को काफी बल प्रदान किया। कमेटी का यह प्रत्यक्ष सुझाव था कि इम्पीरियल बैंक तथा भूतपूर्व स्टेट्स के विभिन्न स्टेट बैंको का एकीकरण -(Amalgamation) करके एक सुदृढ स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया स्थापित किया जाना चाहिए जिसका प्रमुख कार्य कृषि और सहकारी बैंकिंग का विकास करना होना चाहिए। कमेटी ने यह भी सिफारिश की कि स्टेट बैंक को अपना कार्य आरम्भ करने के पश्चात ५ वर्ष की अवधि मे ही अपनी ४०० नई शाखायें ग्रामीण अथवा अर्ध-ग्रामीण क्षेत्रो मे स्थापित करनी चाहिएँ। सरकार ने इस समिति की सिफारिशों को मान लिया और २० दिसम्बर सन् १९५४ को वित्त मन्त्री ने सर्वप्रथम इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का विचार प्रकट किया।

स्टेट बैंक की स्थापना की आवश्यकता
(Need for Establishing State Bank)—

स्टेट बैंक की स्थापना देश मे ग्रामीण विकास की योजना का ही एक भाग थी। भारतीय ग्रामीण साख अनुसन्धान समिति (All India Rural Credit Survey Committee) ने ग्रामीण साख व्यवस्था मे सरकार की साझेदारी की एक योजना प्रस्तुत की जिसे कार्य-रूप मे लाने के लिए स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की सिफारिश की गई। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना के निम्नलिखित उद्देश्य बतलाये गये है—

(१) यह धन को हस्तान्तरित करने की सस्ती सुविधायें देकर ग्रामीण तथा सहकारी बैंकिंग का विकास करने मे सहायता देगा।

(२) स्टेट बैंक सहकारी सस्थाओं को कृषि वित्त की व्यवस्था करने मे सहायता करेगा।

(३) वह साख सुविधाओं का विस्तार करने के अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रों में बचत को इकट्ठा करने मे सहायता देगा। आर्थिक विकास के लिए ग्रामीण बचत को सक्रिय (Mobilisation) करना आवश्यक है और स्टेट बैंक अपनी गाँव मे फैली हुई शाखाओं के द्वारा इसे सम्भव कर सकेगा।

(४) स्टेट बैंक भण्डार-गृह समितियों (Warehousing Societies) तथा कृषि विपणन समितियों (Marketing Societies) की स्थापना मे सहयोग देगा।

(५) इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके स्टेट बैंक की स्थापना के द्वारा उन सब शिकायतों को दूर कर दिया जायगा जो कि लम्बे समय से भारतीयों को इम्पीरियल बैंक के विरुद्ध रही है।

स्टेट बैंक की स्थापना (Establishment of State Bank of India)—

उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सन् १९५५ में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अन्तर्गत स्टेट बैंक की स्थापना हुई। इस एक्ट के अनुसार इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण किया गया और उसकी समस्त भारत स्थित सम्पत्ति तथा दायित्वों (Assets and Liabilities) को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया को हस्तान्तरित कर दिया गया। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने १ जुलाई सन् १९५५ से देश में अपना कार्य आरम्भ किया। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में स्टेट बैंक की स्थापना के सम्बन्ध में निम्नलिखित व्यवस्था की गई—

बैंक की पूंजी (Capital of the Bank)—स्टेट बैंक की अधिकृत पूंजी (Authorized Capital) २० करोड रुपये निश्चित की गई जिसे १०० रुपये वाले २० लाख अंशों (Shares) में बाँटा जायगा। बैंक की निर्गमित पूंजी (Issued Capital) ५·६२५ करोड़ रुपये होगी। नये बैंक के ५५% अंश रिजर्व बैंक लेगा तथा शेष ४५% व्यक्तिगत हिस्सेदारों को बेचे जायेंगे। भूतपूर्व इम्पीरियल बैंक के हिस्सेदारों को नये बैंक के हिस्से खरीदने का पूर्व अधिकार होगा। इम्पीरियल बैंक के हिस्सेदारों को मुआवजा दिया जायगा और २० दिसम्बर १९५३ तथा २० दिसम्बर १९५५ के बीच के १२ महीनों में अंशों की औसत कीमत निकाल कर यह मुआवजा निश्चित किया जायगा। इस सिद्धान्त के आधार पर पूर्ण चुकता अंशों (Fully Paid up Shares) के लिए १७६५ रुपये १० आने प्रति अंश तथा अपूर्ण चुकता अंशों (Partly Paid-up Shares) के लिए ४२१ रुपये १२ आने ४ पाई प्रति अंश के हिसाब से मुआवजा दिया गया। १००० रुपये तक की मुआवजे की रकम नकद रूप में देने की व्यवस्था की गई तथा शेष का भुगतान बॉंड्स के रूप में किया गया।

बैंक का प्रबन्ध (Management)—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का प्रबन्ध एक केन्द्रीय बोर्ड (Central Board) के द्वारा किया जाता है जिसका प्रमुख कार्यालय बम्बई में है। इस सचालन बोर्ड में २० सदस्य होते हैं जिनमें एक अध्यक्ष (Chairman), एक उपाध्यक्ष (Vice Chairman), दो मैनेजिंग डाइरेक्टर्स (Managing Directors) तथा १६ अन्य डाइरेक्टर्स होते है। इन डाइरेक्टर्स में से ६ डाइरेक्टर्स व्यक्तिगत हिस्सेदारों के द्वारा चुने जाते है तथा ८ डाइरेक्टर्स रिजर्व बैंक के परामर्श से केन्द्रीय सरकार के द्वारा नियुक्त किये जाते है। २ डाइरेक्टर्स सहकारी संस्थाओं तथा ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के विशेषज्ञ होते है जिनमे से एक केन्द्रीय सरकार के द्वारा तथा एक रिजर्व बैंक के द्वारा नियुक्त किया जाता है।

केन्द्रीय बोर्ड के अतिरिक्त परामर्श देने के लिए मद्रास, बम्बई तथा कलकत्ता में स्थित स्थानीय बोर्ड (Local Boards) भी हैं।

स्टेट बैंक के कार्य (Functions of the State Bank of India)—

स्टेट बैंक उन सभी कार्यों को करता है जो पहले इम्पीरियल बैंक के द्वारा किये जाते थे। उसके कार्यों को मुख्यतया दो भागों में बांटा जा सकता है—(अ) केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य तथा (ब) व्यापारिक बैंक के कार्य।

(अ) केन्द्रीय बैंकिंग कार्य—आरम्भ से ही इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कुछ कार्य करता रहा है। रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व इम्पीरियल बैंक ही देश में केन्द्रीय बैंक का कार्य करता था। किन्तु रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् उसके अधिकांश केन्द्रीय बैंकिंग कार्य रिजर्व बैंक के द्वारा ले लिए गये हैं। कुछ केन्द्रीय बैंकिंग कार्य अभी भी स्टेट बैंक के द्वारा किये जाते हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(१) जिन स्थानों पर रिजर्व बैंक की शाखायें नहीं हैं वहाँ पर स्टेट बैंक ही रिजर्व बैंक का एजेन्ट (Agent) होता है और सरकारी बैंकर के रूप में सभी बैंकिंग कार्य उसके द्वारा किये जाते हैं। वह सरकारी हिसाब में धन प्राप्त करता है और सरकारी आदेशानुसार विभिन्न प्रकार के भुगतानों को निबटाता है। वह केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की ओर से धन एकत्रित करता है, उनके भुगतानों को निबटाता है और सरकारी धन, सोना, चांदी तथा प्रतिभूतियों का हस्तान्तरण करता है। सार्वजनिक ऋणों की व्यवस्था भी उसके द्वारा की जाती है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक उसे जो भी कार्य करने का उत्तरदायित्व देता है, वह उसे करता है।

(२) ऐसे स्थानों पर स्टेट बैंक, बैंकों के बैंक का कार्य भी करता है। वह व्यापारिक बैंकों के धन को अपने पास जमा रखता है, आवश्यकता पड़ने पर उन्हें ऋण देता है तथा उनके बिलों की पुन कटौती (Rediscount) करता है। व्यापारिक बैंकों के धन को एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरित करने की सस्ती सुविधायें भी स्टेट बैंक देता है तथा उनके लिए समाशोधन-गृह (Clearing House) का कार्य करता है। सभी बैंकों का हिसाब प्राय स्टेट बैंक में रहता है इसलिए वे उसे समाशोधन-गृह के रूप में प्रयोग करते हैं।

(ब) व्यापारिक बैंक के कार्य—यद्यपि स्टेट बैंक कुछ केन्द्रीय बैंकिंग कार्य करता है किन्तु प्रमुख रूप से वह एक व्यापारिक बैंक है और उसके द्वारा वे सभी बैंकिंग कार्य किये जाते हैं जो अन्य व्यापारिक बैंक करते हैं। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि राष्ट्रीयकरण के पश्चात् इम्पीरियल बैंक के व्यापारिक बैंक के कार्य बन्द नहीं होंगे और वह देश के सबसे बड़े व्यापारिक बैंक के रूप में कार्य करता रहेगा। स्टेट बैंक के द्वारा किये जाने वाले व्यापारिक बैंकिंग कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) अन्य व्यापारिक बैंको की भाँति स्टेट बैंक भी अपने ग्राहकों को ऋण तथा अग्रिम देता है और इस प्रकार व्यवसाय तथा व्यापार की अल्पकालीन साख की आवश्यकताओ को पूरा करता है। स्टेट बैंक निम्नलिखित प्रकार की सुरक्षा (Security) के आधार पर अग्रिम, ऋण तथा नकद साख देता है—

(क) ऐसे स्टॉक, फण्ड तथा प्रतिभूतियाँ जिनमे प्रन्यासी (Trustee) को प्रन्यास रकम के विनियोग करने का अधिकार हो।

(ख) जिला बोर्ड, म्युनिसिपल बोर्ड तथा अन्य स्थानीय सस्थाओ के द्वारा जारी किये गये ऋण-पत्र तथा अन्य प्रकार की प्रतिभूतियाँ।

(ग) सीमित दायित्व वाली कम्पनियो के ऋण-पत्र।

(घ) विधान के अन्तर्गत स्थापित कॉर्पोरेशन के अंश और ऋण-पत्र।

(ङ) माल अथवा उससे सम्बन्धित अधिकार-पत्र जो स्टेट बैंक के पास जमा कर दिये गये हो अथवा जिन्हे स्टेट बैंक के नाम कर दिया गया हो।

(च) स्वीकृत विनिमय-पत्र अथवा प्रतिज्ञा-पत्र जो पाने वाले के द्वारा हस्तान्तरित किये जा चुके हों तथा दो ऐसे व्यक्तियों के सम्मिलित एवं पृथक् प्रतिज्ञा-पत्र जो साझेदारी के रूप एक दूसरे से सम्बन्धित न हो।

(छ) सीमित उत्तरदायित्व वाली कम्पनियो के पूर्ण चुकता अंश।

(२) स्टेट बैंक सरकारी प्रतिभूतियो, रेलवे प्रतिभूतियो, राज्य सरकारों की प्रतिभूतियो, पोर्ट ट्रस्ट व अन्य कॉरपोरेशन की प्रतिभूतियों तथा ट्रेजरी बिल्स आदि मे अपने धन का विनियोग करता है।

(३) स्टेट बैंक उन सभी प्रतिज्ञा-पत्रों, ऋण-पत्रो, माल के अधिकार-पत्रो, बॉड्स, अंशों आदि को बेचकर रकम वसूल कर सकता है जो उसे ऐसे ऋणों अथवा अग्रिमो के सम्बन्ध मे प्राप्त हुए हो जिनका भुगतान निर्धारित अवधि पर न हुआ हो।

(४) जनता से जमा के रूप मे रूप मे रुपया प्राप्त करना तथा उन्हे अन्य बैंकिंग सुविधायें देना।

(५) ऐसे विनिमय बिलो को जारी करना, स्वीकार करना, भुनाना, बेचना तथा खरीदना जिनका भुगतान भारत मे किया जाता है।

(६) ऐसे विनिमय-पत्रों तथा साख प्रमाण-पत्रो (Letters of Credit) को जारी करना जिनका भुगतान भारत से बाहर होता है।

(७) स्वर्ण तथा चाँदी का क्रय-विक्रय करना।

(८) रिजर्व बैंक की स्वीकृति से किसी भी बैंकिंग कम्पनी के अंशो को खरीदना व बेचना अथवा अपने सरक्षण मे किसी बैंकिंग कम्पनी को स्थापित करना या उसका सचालन करना।

(९) स्टेट बैंक अपने ग्राहकों के एजेन्ट के रूप में भी कार्य करता है। वह उनकी बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षित रखने की सुविधायें देता है, उनके लिए साख प्रमाण-पत्र तथा यात्री चेक (Travellers' cheque) जारी करता है ड्राफ्ट तथा अन्य प्रकार से रुपया भेजने की सुविधायें देता है। वह उत्तर-साधक (Executor of Wills) तथा प्रन्यासी का कार्य करता है तथा कम्पनियों के निस्तारक (Liquidator) का कार्य भी उसके द्वारा किया जाता है।

(१०) किसी भी विधान के अन्तर्गत पंजीकृत सहकारी बैंक के एजेन्ट के रूप में कार्य करना।

(११) किसी रुपया अंश पूँजी वाली कम्पनी अथवा पंजीकृत सहकारी समिति को निस्तारण से बचाने अथवा निस्तारण निश्चित हो जाने पर उसे सुगम बनाने के उद्देश्य से ऋण देना अथवा उसके पक्ष में नकद साख का हिसाब खोलना।

(१२) इनके अतिरिक्त वह उन सब कामों को कर सकता है जिनके करने के लिए केन्द्रीय सरकार रिजर्व बैंक के परामर्श से उसे अधिकार दे।

स्टेट बैंक के वर्जित कार्य—

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार कुछ ऐसे कार्य हैं जिन्हें स्टेट बैंक नहीं कर सकता है। बैंक के वर्जित कार्य इस प्रकार है—(i) वह अचल सम्पत्ति तथा अपने अंशों (Shares) की आड़ पर ऋण नहीं दे सकता है। (ii) वह किसी व्यक्ति अथवा संस्था को ६ मास से अधिक अवधि के लिए ऋण नहीं दे सकता है। (iii) उसके द्वारा ऐसे बिलों को नहीं भुनाया जा सकता है जिनकी परिपक्वता (Maturity) की अवधि ६ मास से अधिक हो। इस सम्बन्ध में कृषि बिलों के लिए छूट दी गई है और वे १५ महीने तक की अवधि के हो सकते हैं। (iv) वह ऐसे बिलों को नहीं भुना सकता है जिन पर दो अच्छे हस्ताक्षर न हों।

लाभ का बँटवारा—

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में यह व्यवस्था की गई है कि यह बैंक अपने लाभ में से एक विशेष कोष का निर्माण करेगा जिसका नाम एकीकरण तथा विकास कोष (Integration and Development Fund) होगा। रिजर्व बैंक को प्राप्त होने वाला लाभांश (Dividend) का भाग इस कोष में जमा किया जायगा। इस कोष का प्रयोग स्टेट बैंक की हानि को पूरा करने के लिए किया जायगा अथवा इसे केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वीकृत मद पर व्यय किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त स्टेट बैंक एक सुरक्षित कोष (Reserve Fund) भी स्थापित करेगा जिसमें भूतपूर्व इम्पीरियल बैंक का रक्षित कोष सम्मिलित होगा। लाभांश घोषित करने के पश्चात् बचने वाले लाभ को इसी कोष में जमा किया जाता है।

स्टेट बैंक का महत्व (Importance of State Bank)—

स्टेट बैंक की स्थापना से देश में निम्नलिखित लाभ प्राप्त होने की आशा है—

(१) बैंकिंग सुविधाओं का विकास—स्टेट बैंक की स्थापना से देश में, मुख्यत. ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं का विकास होगा। इम्पीरियल बैंक की देश भर में ४७५ शाखायें थी। इनके अतिरिक्त स्टेट बैंक को अपनी स्थापना से ५ वर्ष के समय में ४०० नई शाखायें खोलनी है जिनमें से अधिकांश शाखायें ग्रामीण तथा अर्ध ग्रामीण क्षेत्रों मे स्थापित की जायेगी। इस प्रकार अपनी लगभग १००० शाखाओं से स्टेट बैंक देश भर में बैंकिंग सुविधाओं का विकास कर सकेगा। यह नया विकास मुख्यत: ग्रामीण क्षेत्रों में होगा। इस प्रकार वह ग्रामीण क्षेत्रों में बचत को प्रोत्साहन करने और इन बचतों को एकत्रित करने का महत्वपूर्ण कार्य कर सकेगा।

(२) साख नियन्त्रण में सहायता—स्टेट बैंक के पास सरकारी जमा तथा न्य बैंकों की जमा के रूप में काफी रुपया रहता है। अधिक मात्रा में धन होने के रण वह बाजारी ब्याज की दरों को प्रभावित कर सकता है और इस प्रकार साख नयन्त्रण में सहायता दे सकता है। वह अपने पास अधिक जमा होने के कारण बहुत म सूद पर रुपया उधार दे सकता है और अन्य बैंकों को अपने अनुकूल साख नीति खने के लिए बाध्य कर सकता है।

(३) धन को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने की सस्ती सुविधायें दान करता है—स्टेट बैंक धन के हस्तान्तरण की सस्ती सुविधायें प्रदान करने के लेए सबसे उपयुक्त सस्था है क्योंकि वह अपनी देश भर में फैली हुई शाखाओं के द्वारा इस कार्य को बहुत अच्छी प्रकार से कर सकता है। इस सम्बन्ध में स्टेट बैंक अन्य बैंकों को सप्ताह में दो बार मुफ्त रुपया भेजने की सुविधायें देता है।

(४) कृषि साख की उचित व्यवस्था करने में सहायता—स्टेट बैंक देश में कृषि साख की उचित व्यवस्था करने में सहायता देगा। कृषि साख का विकास करने के लिए वह सरकारी बैंकों को अधिविकर्ष (Overdraft) तथा बिलों को फिर से भुनाने (Rediscounting) की सुविधायें देता है जिससे सहकारी सस्थाओं के साधनों में वृद्धि हुई है और वे किसानों को अधिक मात्रा में वित्तीय सहायता दे सकेंगी। इसके अतिरिक्त वह मालगोदामों में बन्द माल की आड पर भी ऋण देता है।

(५) छोटे-छोटे उद्योगों को वित्तीय सहायता—स्टेट बैंक छोटे-छोटे उद्योगों को वित्तीय सहायता देने का कार्य भी करता है। उसने राज्य औद्योगिक वित्त नियमों तथा अन्य प्रकार की सस्थाओं की काफी आर्थिक सहायता की है।

स्टेट बैंक की प्रगति (Progress of the State Bank)—

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने १ जुलाई सन् १९५५ को सर जॉन मथाई की अध्यक्षता में अपना कार्य प्रारम्भ किया था। इस समय बैंक अपने जीवन के प्रथम दस वर्ष पूरे करने जा रहा है। इन वर्षों में इस बैंक ने अपने परम्परागत तथा विकास सम्बन्धी कार्यों में अच्छी प्रगति की है। देश के आर्थिक विकास में स्टेट बैंक के पूरे महत्त्व को तो आने वाले समय में ही जाना जा सकेगा किन्तु इस अल्पकाल में उसकी प्रगति को देखकर कुछ मुख्य प्रवृत्तियों का अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है।

निक्षेप तथा अग्रिम (Deposits and Advances)—बैंक की कुल जमा जो १ जुलाई सन् १९५५ को १८६.६ करोड़ रुपये थी, सन् १९६४ के अन्त में ७८७ करोड़ रुपये से अधिक हो गई। सन् १९६४ में स्टेट बैंक ने विशेष तेजी के साथ प्रगति की। इस वर्ष में समस्त अनुसूचीबद्ध बैंकों की जमा में २९९.६ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई है जिसमें से १२६.६ करोड़ रुपये की वृद्धि स्टेट बैंक में हुई। इस प्रकार जमा की कुल वृद्धि में स्टेट बैंक का हिस्सा ५०% से भी अधिक रहा है। साख के विस्तार में भी इस बैंक ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और उसके द्वारा दिये जाने वाले ऋणों तथा अग्रिमों की मात्रा में तेजी के साथ वृद्धि हुई है। सन् १९६४ में समस्त अनुसूचीबद्ध बैंकों की साख में २३१.२ करोड़ रुपये की साख की वृद्धि हुई जिसमें से १३१.५ करोड़ रुपये की साख की वृद्धि स्टेट बैंक और उसके सहायक बैंकों में हुई। इसमें से अधिकांश साख का प्रयोग औद्योगिक उत्पादन के विस्तार के लिए किया गया। स्टेट बैंक की स्थापना के समय यह भय था कि बैंक के द्वारा व्यक्तिगत क्षेत्र (Private Sector) को दिये जाने वाले अग्रिमों की मात्रा कम हो जायगी किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं हुआ है। व्यक्तिगत क्षेत्र को बैंक की अग्रिमों की मात्रा वास्तव में बढ़ी है। समस्त बैंकों के द्वारा उद्योगों को दिये जाने वाले अग्रिमों में होने वाली वृद्धि का बहुत बड़ा भाग स्टेट बैंक के द्वारा दिया गया है। इस प्रकार स्टेट बैंक ने देश के आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

शाखा विस्तार (Branch Expansion)—

स्टेट बैंक आफ इण्डिया एक्ट के अनुसार पहले पाँच वर्षों में बैंक को ४०० नई शाखाएँ ग्रामीण तथा अर्ध-ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित करनी थीं। जून १९६० तक बैंक ने ४१६ नई शाखायें स्थापित कर अपनी वैधानिक जिम्मेदारी को निर्धारित अवधि के भीतर पूरा कर लिया। इसके पश्चात् संचालक मण्डल की एक उपसमिति ने शाखा का दूसरा कार्यक्रम निश्चित किया जिसके अन्तर्गत जून १९६५ के अन्त तक स्टेट बैंक को ३०० और नई शाखाएँ ग्रामीण तथा अर्ध-ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित करनी थी। सन् १९६४ के अन्त तक इस नये प्रोग्राम के अन्तर्गत केवल ४९ शाखाएँ खुलनी शेष रह गई थी। शाखा विस्तार के तीसरे कार्यक्रम के अनुसार इनके अतिरिक्त स्टेट बैंक को दिसम्बर सन् १९६८ तक ३१९ नई शाखाएँ और

स्थापित करनी है। इससे स्पष्ट होता है कि बैंक का शाखा विस्तार कार्यक्रम निश्चित रूप से सतोषजनक रहा है और उसने ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिंग सुविधाओ का विकास करने की दिशा मे महत्वपूर्ण कार्य किया है। ३१ दिसम्बर १९६४ को स्टेट बैंक के कुल दफ्तरो की सख्या ११४७ थी जिसमे से ५६४ ऐसे केन्द्रो मे स्थित थे जहाँ पहले से बैंकिंग सुविधाये नही थी। इस प्रकार शाखा विस्तार के एक महत्वपूर्ण उद्देश्य को काफी सीमा तक प्राप्त कर लिया गया है। स्टेट बैंक ने ग्रामीण पाइलट केन्द्रो (Rural Pilot Centres) की स्थापना को भी स्वीकार कर लिया है। समस्त देश मे लगभग ५० से ७० ग्रामीण पाईलट केन्द्र स्थापित करने की योजना है जिनमे से प्रत्येक केन्द्र आस-पास के समस्त ग्रामीण क्षेत्र मे बैंकिंग सुविधाओ का विकास करेगा।

स्टेट बैंक और ग्रामीण साख

(The State Bank of India and Rural Credit)—

स्टेट बैंक की स्थापना एक सगठित ग्रामीण साख (Integrated Rural Credit) के विकास की दिशा मे एक महत्वपूर्ण कदम है। इस बैंक की स्थापना का मुख्य उद्देश्य *ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिंग सुविधाओ का विकास करना तथा ग्रामीण* साख की उचित व्यवस्था करना है। आरम्भ से ही उसने सहकारी सस्थाओ की वित्तीय आवश्यकताओ की ओर विशेष ध्यान देकर सामान्य रूप से ग्रामीण साख का विकास करने मे सहायता दी है। ग्रामीण साख के क्षेत्र मे स्टेट बैंक के द्वारा किये जाने वाले कार्यों को तीन भागो म बाँटा जा सकता है—(अ) सामान्य सुविधाएँ जो वह ग्रामीण साख सस्थाओ के विकास के लिए देता है। (ब) सहकारी मार्केटिंग तथा प्रोसैसिंग समितियो को वित्तीय सहायता देने की व्यवस्था। (स) देश मे गोदामो के विकास की योजनाओ मे सहायता देना।

सामान्य सुविधायें (General Facilities)—

स्टेट बैंक ने स्टेट सहकारी बैंको तथा उनसे सम्बन्धित केन्द्रीय व औद्योगिक सहाकारी बैंको को अधिक मात्रा मे विप्रेष (Remittance) की सुविधाएँ दी है। अब वह इन बैंको के धन को सप्ताह मे एक बार के स्थान पर तीन बार मुफ्त भेजने की सुविधाएँ देता है। स्टेट बैंक की अधिक शाखाएँ खुल जाने के कारण अब वह विप्रेष की सुविधाये अधिक विस्तृत क्षेत्र मे प्रदान कर सकता है। विप्रेष की निशुल्क सुविधाओ के परिणामस्वरूप बैंको की रकम की गतिशीलता बढ गई है।

इसके अतिरिक्त स्टेट बैंक सहकारी साख सस्थाओं को अन्य कई प्रकार की सुविधाएँ देता है। वह सहकारी केन्द्रीय बैंको को सरकारी प्रतिभूतियो की आड पर बैंक दर से ½ प्रतिशत कम ब्याज की दर पर ऋण देता है। विशेष परिस्थितियो मे राज्य सहकारी बैंको को अपने से सम्बन्धित सहकारी समितियो की वित्तीय आवश्यकता को पूरा करने के लिए सरकार की गारण्टी पर अग्रिम भी देता है।

सहकारी संस्थाएँ वस्तुओं की पुनः आड करके भी स्टेट बैंक में ऋण ले सकती हैं। सहकारी बैंकों के अपने चैंकों (Cheques) का धन एकत्रित करने तथा उन्हें खरीदने का काम यह बैंक रियायती दर पर करता है। इसके अतिरिक्त जिला सहकारी बैंकों को शीर्ष सहकारी बैंकों (Apex Co-operative Banks) से प्राप्त होने वाले ड्राफ्ट तथा चैकों को भुनाने का काम भी स्टेट बैंक रियायती दर पर करता है। स्टेट बैंक ने पिछले वर्षों में सहकारी साख संस्थाओं को अधिकाधिक मात्रा में साख सुविधाएँ दी हैं, यह इस बात से प्रमाणित है कि बैंक के द्वारा निर्धारित सब प्रकार की साख सम्स्थाओं की साख सीमा ३१ दिसम्बर १९६४ को ६१·६ करोड़ रुपये थी तथा उनके द्वारा लिए जाने वाले ऋणों की मात्रा २१·४ करोड़ रुपये थी जो १९६० की अपेक्षा १६ करोड़ रुपये अधिक थी।

अब स्टेट बैंक ने भूमि बन्धक बैंकों की सहायता करना भी आरम्भ कर दिया है। वह इन्हें तीन प्रकार से सहायता देता है—(i) शीर्ष सहकारी भूमि बन्धक बैंकों (Apex Land Mortgage Banks) के ऋण पत्र (Debentures) खरीद कर। (ii) इन ऋण पत्रों की आड पर स्टेट बैंक अग्रिम देकर मुद्रा बाजार में उनकी स्थिति को मजबूत करता है। (iii) स्टेट बैंक सहकारी केन्द्रीय भूमि-प्रबन्धक बैंकों को सीमित अस्थायी वैत्तिक सहायता सरकार की गारन्टी पर देता है।

सहकारी मार्केटिंग तथा प्रासेसिंग समितियों को सहायता

(Financial Accomodation to Marketing and Processing Societies)—

जिन क्षेत्रों में सहकारी मार्केटिंग और प्रासेसिंग समितियों के केन्द्रीय सहकारी बैंकों से तुरन्त तथा पर्याप्त सहायता नहीं मिल पाती है वहाँ पर स्टेट बैंक प्रत्यक्ष रूप से इनकी सहायता करता है। मार्केटिंग समितियों को वस्तुओं की आड पर अग्रिम दिये जाते हैं जिससे कि वे अपने माल को रोककर अच्छे भाव पर बेच सकें। कुछ अच्छी समितियों को उनके डाइरेक्टर्स की गारन्टी पर अथवा अचल सम्पत्ति की आड पर भी अग्रिम दिये जाते हैं। प्रासेसिंग समितियाँ जैसे चीनी मिलें, रुई व जूट साफ करने व गाँठ बाँधने वाली समितियाँ भी इन्हीं शर्तों पर स्टेट बैंक से ऋण प्राप्त कर सकती है। मार्केटिंग और प्रासेसिंग समितियों को को दिये जाने वाले ऋणों तथा अग्रिमों की मात्रा जून १९६२ में ५५ लाख रुपये थी जो जून १९६० की अपेक्षा १४ लाख अधिक थी।

स्टेट बैंक तथा गोदामों की व्यवस्था (State Bank and Warehousing)—

वैज्ञानिक रीति से कृषि वस्तुओं के संग्रह करने की व्यवस्था करना कृषि वस्तुओं के मार्केटिंग के विकास का एक महत्वपूर्ण अंग है। देश में कृषि वस्तुओं के संग्रह करने के लिए गोदामों का विकास बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि इन गोदामों की रसीदों (Warehouse Receipts) को बैंकों के द्वारा कहाँ तक ऋणों की सुरक्षा (Security) के रूप में स्वीकार किया जाता है। स्टेट बैंक ने गोदामों

की विकास योजना मे अपना पूरा सहयोग दिया है। उसने केन्द्रीय गोदाम निगम (Central Warehousing Corporation) की अश पूँजी (Share Capital) मे भाग लिया है। वह इस निगम की रसीदो की आड पर कम सूद पर ऋण देता है। इस सुविधा का प्रयोग व्यक्तियो तथा सहकारी समितियो दोनो के द्वारा किया जा रहा है। सन् १९६० मे स्टेट बैंक के द्वारा दिये जाने वाले इस प्रकार के अग्रिमो की मात्रा १२१ लाख रुपये थी जो जून १९६२ मे बढकर २७९ लाख रुपये हो गई।

लघु उद्योगो को सहायता (Assistance to Small Scale Industries)—

स्टेट बैंक ने औद्योगिक वित्त की व्यवस्था करने मे योगदान दिया है। विशेषतया लघु उद्योगो को उससे काफी लाभ पहुँचा है। अप्रैल सन् १९५६ मे बैंक के द्वारा लघु उद्योगो को सगठित साख की सुविधायें देने की योजना का कुछ चुने हुए क्षेत्रो मे समारम्भ किया गया। जनवरी सन् १९५९ से इस योजना को स्टेट बैंक की सभी शाखाओ मे आरम्भ कर दिया गया। सन् १९६४ के अन्त तक स्टेट बैंक ने ५८३४ लघु उद्योगो को इस योजना के अन्तर्गत आर्थिक सहायता दी है जो लगभग ४० करोड रुपये थी। राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (National Small Industries Corporation) के साथ एक समझौते के आधीन स्टेट बैंक छोटे उद्योगपतियो को कच्चे माल की आड पर ऋण भी देता है तथा निगम की गारन्टी पर उन्हे बैंक से अतिरिक्त ऋण भी प्राप्त हो सकता है। स्टेट बैंक आफ इण्डिया एक्ट मे १९५७ के एक सशोधन के द्वारा स्टेट बैंक को व्यक्तिगत क्षेत्र के उद्योगो को मध्यमकालीन ऋण देने का अधिकार भी प्राप्त हो गया है। अब वह इस प्रकार के ऋण ७ वर्ष की अवधि तक के लिए दे सकता है।

परीक्षा प्रश्न

(१) स्टेट बैंक आफ इण्डिया के कार्यों पर प्रकाश डालिये।
(आगरा बी० काम १९६२, बी० ए० १९५७)

(२) स्टेट बैंक आफ इण्डिया के मुख्य कर्त्तव्यों का विवेचन करिये। वह कहाँ तक अपने उद्देश्यो को पूरा करने मे सफल हुआ है।
(विक्रम बी० काम १९५८)

(३) किन उद्देश्यो से इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया को स्टेट बैंक मे परिवर्तित किया गया? आपके विचार में वह ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिग आदत का विकास कैसे करेगा? (आगरा बी० काम० १९५९)

(४) किन उद्देश्यों से इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया को स्टेट बैंक मे परिणित किया गया था? क्या आपकी सम्मति मे वह ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिग की आदतों का प्रसार करने में सफल होगा? (गोरखपुर बी० काम १९५९)

(५) स्टेट बैंक के स्थान तथा कार्यों का वर्णन कीजिए। वह कहाँ तक ग्रामीण क्षेत्रों में साख प्रदान करने मे सफल रहा है? (बिहार बी० काम १९६०)

२४

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

INTERNATIONAL TRADE

व्यापार सामान्यत दो प्रकार का हो सकता है—आन्तरिक व्यापार (Internal Trade) तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade) । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कुछ बातो मे आन्तरिक व्यापार से भिन्न होता है यद्यपि यह भिन्नता अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण नही है । **आन्तरिक व्यापार से अभिप्राय उस व्यापार से होता है जो एक ही देश के विभिन्न स्थानों अथवा क्षेत्रों के बीच किया जाता है ।** इस प्रकार के व्यापार को अन्तर-स्थानीय व्यापार (Inter-Local Trade) अथवा अन्तर-क्षेत्रीय व्यापार (Inter Regional Trade) भी कहते है । हमारे देश मे कलकत्ते और दिल्ली अथवा मद्रास और बम्बई के बीच होने वाला व्यापार आन्तरिक व्यापार है क्योकि वह एक ही देश के विभिन्न स्थानो पर रहने वाले व्यक्तियो के बीच किया जाता है । इसके विपरीत **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार वह व्यापार होता है जो दो या दो से अधिक देशों के बीच किया जाता है ।** भारत और इङ्गलैंड अथवा अमेरिका और जर्मनी के बीच होने वाला व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार है क्योकि वह भिन्न-भिन्न राष्ट्रो के बीच होता है । अत अन्तर-क्षेत्रीय व्यापार (Inter-regional trade) अथवा आन्तरिक व्यापार वह व्यापार है जो एक ही देश के दो विभिन्न क्षेत्रो के बीच होता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उस व्यापार को कहते है जो दो भिन्न राष्ट्रो के बीच किया जाता है । एक उदाहरण के द्वारा इस अन्तर को स्पष्ट किया जा सकता है । देश के विभाजन से पूर्व दिल्ली और लाहौर के बीच किया जाने वाला समस्त व्यापार आन्तरिक व्यापार था क्योकि वह एक ही देश मे रहने वाले व्यापारियो के बीच किया जाता था । किन्तु विभाजन के कारण स्थिति बदल गई है और अब इन्ही दो शहरो के बीच होने वाला व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार है क्योकि दोनो शहर अलग-अलग देशो मे स्थित है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भेद मुख्यतया राजनैतिक है और उसका आर्थिक महत्व बहुत कम है ।

आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे समानता—

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आन्तरिक व्यापार मे अन्तर होते हुए भी उनमे काफी समानता पाई जाती है। दोनो प्रकार के व्यापार का आर्थिक आधार एक ही है और दोनो ही श्रम विभाजन (Division of Labour) तथा कार्यों के विशिष्टीकरण (Specialisation of Functions) के कारण उत्पन्न होते है। जिस प्रकार एक देश के विभिन्न क्षेत्रो मे भिन्न भिन्न वस्तुओ का उत्पादन किये जाने के कारण आन्तरिक व्यापार होता है ठीक इसी प्रकार भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न वस्तुओ के पैदा किये जाने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पन्न होता है। ससार के विभिन्न देशो के बीच श्रम-विभाजन होने के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जन्म होता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति बहुत से कार्य कर सकता है किन्तु इनमे से कोई एक कार्य करने के लिए वह अधिक उपयुक्त होता है और वह अन्य कार्यो को दूसरो के लिए छोडकर केवल उसी कार्य को करता है जिसे वह सबसे अच्छी प्रकार कर सकता है। ठीक उसी प्रकार एक देश विभिन्न वस्तुओ का उत्पादन कर सकता है किन्तु उनमे से किसी एक वस्तु का उत्पादन करने के लिए वह अधिक उपयुक्त होता है और ऐसी दशा मे वह केवल उसी वस्तु का उत्पादन करता है तथा अन्य वस्तुयें दूसरे देशो मे मगा लेता है। विभिन्न देशो के बीच इस प्रकार का श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को पैदा करता है। अतः दोनो ही प्रकार के व्यापार का आधार श्रम-विभाजन तथा कार्यों का विशिष्टीकरण है। आर्थिक दृष्टि से आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कोई मौलिक भेद नही है। इसके अतिरिक्त दोनो प्रकार के व्यापार का उद्देश्य लगभग एक ही होता है। आन्तरिक व्यापार की भाँति समस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उद्देश्य भी एक प्रकार की वस्तुओ का दूसरे प्रकार की वस्तुओ के साथ विनिमय करके अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है। विदेशी व्यापार मे भी विभिन्न देशो के द्वारा उत्पादित वस्तुओ का विनिमय किया जाता है जिससे विनिमय करने वाले दोनो ही पक्षो को लाभ होता है। इन समानताओ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विदेशी व्यापार तथा आन्तरिक व्यापार मे कोई आधारभूत अथवा मौलिक भेद नही है। इनमे अन्तर केवल अश (Degree) का है प्रकृति का नही।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता
(Need for a Separate Theory of International Trade)—

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को समझने के लिए एक पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता है अथवा नही—इस सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो मे कुछ मतभेद पाया जाता है। प्राचीन अर्थशास्त्रियो के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आन्तरिक व्यापार मे इतना अधिक अन्तर पाया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को मूल्य के सामान्य सिद्धान्त के द्वारा नही समझा जा सकता है और उसके लिए एक पृथक् सिद्धान्त का होना

आवश्यक है। एडम स्मिथ, रिकार्डो तथा मिल इसी विचारधारा के मानने वाले थे और उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक् सिद्धान्त का निर्माण किया, जिसे तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। इसके विपरीत कुछ वर्तमान अर्थशास्त्रियों के अनुसार, जिनमे ओहलिन (Ohlin) प्रमुख है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आन्तरिक व्यापार में कोई मौलिक भेद नहीं है और विदेशी व्यापार आन्तरिक व्यापार का ही विस्तार है। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को समझने के लिए किसी पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है और उसे मूल्य के सामान्य सिद्धान्त (General Theory of Value) के द्वारा ही समझा जा सकता है। विचारों के इस मतभेद के महत्व को समझने के लिए सर्वप्रथम उन तर्कों का अध्ययन करना चाहिए जिनके कारण प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से भिन्न किया है। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार निम्नलिखित कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक् सिद्धान्त का होना आवश्यक है—

(१) श्रम और पूँजी एक देश में अधिक गतिशील होती है तथा विभिन्न देशों में उसकी गतिशीलता बहुत कम हो जाती है—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आन्तरिक व्यापार में मौलिक भेद विभिन्न देशों के बीच श्रम और पूँजी की गतिशीलता के अभाव के कारण उत्पन्न होता है। एक देश के विभिन्न भागों में श्रम और पूँजी गतिशील होते हैं किन्तु विभिन्न राष्ट्रों के बीच इस प्रकार की गतिशीलता नहीं पाई जाती है। यदि देश के एक भाग में मजदूरी की दरें कम होती है तथा दूसरे भाग में अधिक, तो श्रमिक कम मजदूरी वाले स्थान को छोड़कर अधिक मजदूरी वाले स्थान पर जाने लगते हैं किन्तु विभिन्न देशों में मजदूरी में अन्तर होते हुए भी श्रमिकों में इस प्रकार की गतिशीलता नहीं पाई जाती है। श्रम की गतिशीलता के अभाव के कारण ही एडम स्मिथ ने कहा है कि "सभी प्रकार के सामानों में मनुष्य को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना सबसे अधिक कठिन है।"[1] विभिन्न देशों में भाषा, रीति-रिवाज, धर्म, सामाजिक दशाओं आदि की भिन्नता तथा स्थानीय लगाव के कारण लोग अपने देश को छोड़कर अन्य देशों में नहीं जाना चाहते हैं। यातायात व्यय तथा विभिन्न देशों के आवास सम्बन्धी नियम भी श्रमिकों की गतिशीलता में बाधायें उत्पन्न करते हैं। उपर्युक्त सभी कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में श्रम की गतिशीलता बहुत कम हो जाती है। इसी प्रकार पूँजी भी देश में अधिक गतिशील होती है किन्तु विभिन्न देशों के बीच उसकी गतिशीलता बहुत कम रह जाती है। लोग अपनी पूँजी को अपने पास ही लगाना चाहते हैं और विदेशों में पूँजी लगाने में संकोच करते हैं। अपने देश में पूँजी का विनियोग

---

1 "Of all sorts of luggage, man is the most difficult to be transported" —*Adam Smith*

करने की अपेक्षा विदेशो मे पूँजी का विनियोग करने मे अधिक जोखिम समझी जाती है। प्रत्येक विनियोगी अपने देश मे लगी हुई पूँजी को अधिक सुरक्षित समझता है क्योकि विदेशो मे लगी हुई पूँजी का वह निरीक्षण नही कर सकता है। इन्ही कारणो से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे पूँजी की गतिशीलता बहुत कम होती है। श्रम और पूँजी की गतिशीलता के अभाव के कारण विभिन्न देशो मे मजदूरी और ब्याज की दरे भिन्न रहने की प्रवृत्ति रखनी है जिसके कारण विभिन्न देशो मे उत्पत्ति के साधनो मे पूर्ण प्रतियोगिता नही हो पाती है और वस्तुओ की उत्पादन-लागते भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न हो जाती हैं। आन्तरिक व्यापार मे ऐसा नही होता है।

(२) उत्पत्ति की दशायें सब देशों मे समान नही होती हैं—उत्पादन सम्बन्धी सुविधाये सब देशो मे अलग अलग रहती है क्योकि विभिन्न देशो की कर-प्रणाली, औद्योगिक व्यवस्था, शिक्षा सुविधाये सामाजिक सुरक्षा का प्रबन्ध, श्रम सघ तथा औद्योगिक गुटबन्दी सम्बन्धी नियम अलग-अलग होते है। ऐसी दशा मे विभिन्न देशो मे एक ही प्रकार की वस्तु का उत्पादन भिन्न-भिन्न सुविधाओ के अन्तर्गत किया जाता है जिसके कारण उत्पादन लागतो मे अन्तर हो जाता है। इसके विपरीत एक ही देश के भीतर वस्तुओ का उत्पादन लगभग एक ही प्रकार की सुविधाओ के अन्तर्गत होना है जिसके कारण उत्पादन लागत समान होने की प्रवृत्ति रखती है और उत्पत्ति के साधनो मे पूर्ण प्रतियोगिता रहती है। लागतो की भिन्नता केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का ही एक विशेष गुण है। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशो के पास भिन्न भिन्न प्रकार के प्राकृतिक साधन पाये जाते है जिन्हे एक देश से दूसरे देशो को आसानी से हस्तान्तरित नही किया जा सकता है। साधनो की इस भिन्नता के कारण भी उत्पादन लागतो मे अन्तर पैदा होता है।

(३) प्रत्येक देश की मुद्रा-प्रणाली अलग होती है—एक देश के अन्दर प्राय. एक ही प्रकार की मुद्रा का प्रयोग किया जाता है जिसके कारण आन्तरिक व्यापार मे भुगतान सम्बन्धी कठिनाइयाँ नही होती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे विभिन्न प्रकार की मुद्रायें होने के कारण एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा मे बदलने की विशेष समस्या उत्पन्न होती है। विदेशी व्यापार करने से पूर्व हमे यह निश्चित करना होता है कि एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा के साथ किस दर पर बदली जायेगी। विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयाँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे जटिलता लाती है तथा उसके स्वतन्त्रतापूर्वक चलने मे बाधायें उत्पन्न करती है। इसके अतिरिक्त विदेशी विनिमय दरो मे परिवर्तन होते रहते हैं जिनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। प्रत्येक देश की अपनी अलग मौद्रिक नीति होती है जिसमे समय-समय पर परिवर्तन करके वह मूल्य-स्तर तथा विनिमय दरो को प्रभावित कर सकता है। इस प्रकार किसी देश के केन्द्रीय बैंक के द्वारा अपनाई

जाने वाली मुद्रा नीति तथा समय पर उसमें होने वाले परिवर्तन विभिन्न देशों के बीच होने वाले व्यापार पर गहरा प्रभाव डालते है।

(४) **वस्तुओं के आयात-निर्यात मे बाधाएँ**—एक देश के भीतर व्यापार स्वतन्त्रतापूर्वक किया जाता है और वस्तुओं के आने-जाने पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही होता है, जिसके कारण आन्तरिक व्यापार मे स्वतन्त्र प्रतियोगिता रहती है। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे वस्तुओं का आयात-निर्यात स्वतन्त्रतापूर्वक नही किया जाता है। विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं के आने-जाने पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध तथा आयात निर्यात शुल्क लगाये जाते हैं, जिनके कारण विदेशी व्यापार की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। प्रत्येक देश की व्यापारिक तथा तटकर नीति भिन्न-भिन्न होती है, जिसके कारण वस्तुओं के आयात निर्यात मे बाधायें उत्पन्न होती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार स्वतन्त्र न होने के कारण वस्तुओं के विभिन्न बाजारो मे स्वतन्त्र प्रतियोगिता नही हो पाती है और वस्तुओं के मूल्य भिन्न रहने की प्रवृत्ति रखते है।

(५) **यातायात व्यय की अधिकता**—यातायात व्यय अधिक होने के कारण भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आन्तरिक व्यापार से भिन्न हो जाता है। अधिकाश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दूर के देशों के बीच किया जाता है, जिसके कारण वस्तुओं के लाने ले जाने पर काफी व्यय आता है। आन्तरिक व्यापार मे यह व्यय बहुत कम होता है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे यातायात व्यय अधिक होने के कारण दो देशों के व्यापारियो के बीच प्रतियोगिता सीमित हो जाती है और एक ही वस्तु का मूल्य विभिन्न देशों मे भिन्न भिन्न रहता है।

उपर्लिखित कारणो से ही प्राचीन अर्थशास्त्रियो का यह विचार था कि आन्तरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्याये एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं और इसलिए साधारण विनिमय सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए उपयुक्त नही है। उसके लिए एक पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता है अत परम्परागत अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अध्ययन करने के लिए तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त (Law of Comparative Costs) का निर्माण किया। उनके अनुसार तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उचित सिद्धान्त है।

आधुनिक विचारधारा (Modern View)—

आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने क्लासिकल अर्थशास्त्रियो के इस विचार का विरोध किया है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार का ही एक विशिष्ट रूप माना है। विशेषतया स्वीडन के अर्थशास्त्री ओहलिन (Ohlin) ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आन्तरिक व्यापार को एक दूसरे से पृथक् करने की प्रवृत्ति का खण्डन किया है। वास्तव मे आन्तरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे

कोई मौलिक भेद नहीं है क्योंकि दोनों का आर्थिक आधार एक ही है और दोनों एक ही उद्देश्य की पूर्ति करते है। दोनों में केवल श्रेणी भेद है और उनमें कोई आधारभूत अन्तर नहीं पाया जाता है। दोनों की समस्याएँ एक दूसरे से बहुत कुछ मिलती है और इसलिए दोनों प्रकार के व्यापार को समझने के लिए एक ही सिद्धांत होना चाहिए। ओह्लिन (Ohlin) तथा अन्य आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने उन सब बातों का खण्डन किया है, जिनके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से भिन्न करने का प्रयत्न किया गया है। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय और आन्तरिक व्यापार में काफी समानता पाई जाती है और इसलिए दोनों प्रकार के व्यापार को एक ही सिद्धान्त से समझा जा सकता है। ओहलिन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता का विरोध किया है और निम्नलिखित आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आन्तरिक व्यापार के सिद्धान्त को ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में लागू किया जा सकता है—

(१) तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में ही लागू नहीं होता है—ओहलिन के अनुसार तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त सब प्रकार के व्यापार का आधार है, यह व्यापार चाहे व्यक्तियों के बीच अथवा एक देश के दो क्षेत्रों के बीच या दो विभिन्न देशों के बीच होना हो। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से इस आधार पर अलग किया जाता रहा है कि वह लागतों के सापेक्षिक अन्तर के कारण उत्पन्न होता है जबकि आन्तरिक व्यापार में ऐसा नहीं होता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार यह धारणा भ्रमात्मक है क्योंकि दोनों ही प्रकार का व्यापार लागतों में सापेक्षिक अन्तर के कारण उत्पन्न होता है। पेरेटो (Pareto) के अनुसार, "सापेक्षित लागतों का विचार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की विशेषता नहीं है, यह उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार लागू किया जा सकता है, जो आर्थिक इकाई बनाते हैं।"[2] ऐजवर्थ (Edgeworth) के विचार से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी उसी आधारभूत सिद्धान्त के अनुसार होता है, जो आन्तरिक व्यापार का आधार है। उनके अनुसार आन्तरिक व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक साधारण एवं विशिष्ट रूप है। सैलिगमैन (Seligman) ने भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक् सिद्धान्त का विरोध किया है। उनके अनुसार *तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त अन्तर्क्षेत्रीय तथा अन्तर्देशीय दोनों प्रकार के विनिमय* का आधार है। ओहलिन (Ohlin) ने दोनों प्रकार के व्यापार की समानता को बतलाते हुए लिखा है कि—"विभिन्न क्षेत्र तथा देश विशिष्टीकरण एवं व्यापार उन्हीं कारणों से करते है, जिन कारणों से व्यक्तियों के द्वारा विशिष्टीकरण तथा

2 "The consideration of relative costs is not peculiar to international trade, it can be applied also to the individuals who form an economic unit."
—*Pareto.*

व्यापार किया जाता है।"[3] अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए किसी पृथक् सिद्धांत की आवश्यकता नहीं है और आन्तरिक व्यापार के सिद्धान्त का विस्तार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी किया जा सकता है।

(२) **साधनों की गतिशीलता में भिन्नता के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से पृथक् नहीं किया जा सकता है**—जिस प्रकार श्रम और पूँजी विभिन्न देशों के बीच अगतिशील होते हैं, उसी प्रकार देश के भीतर भी उत्पत्ति के साधनों की गतिशीलता में बाधाएँ रहती हैं। इसके अतिरिक्त आजकल आवागमन के साधनों का विकास हो जाने तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के कारण विभिन्न देशों के बीच भी उत्पत्ति के साधन पूर्णतया अगतिशील नहीं रहते हैं और वे एक देश से दूसरे देश में आ-जा सकते हैं। अतः न तो यह कहना ठीक है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में श्रम तथा पूँजी पूर्णतया अगतिशील है और न यह कहना ही उचित है कि देश के भीतर उत्पत्ति के साधनों में पूर्ण गतिशीलता पाई जाती है। विभिन्न देशों की भाँति किसी एक देश में भी श्रमिकों के प्रतियोगिता रहित समूह (Non-competing Groups) होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि देश के भीतर उत्पत्ति के साधनों में गतिशीलता होने के कारण इस प्रकार के समूह स्वयं नष्ट होने की प्रवृत्ति रखते हैं। यद्यपि आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में श्रम तथा पूँजी की गतिशीलता में कुछ अन्तर हो सकता है किन्तु इस आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से पृथक् नहीं किया जा सकता है।

(३) **विभिन्न देशों की भाँति एक देश में भी उत्पत्ति की सुविधायें भिन्न हो सकती हैं**—जिस प्रकार विभिन्न देशों में वस्तुओं के उत्पादन सम्बन्धी सुविधायें भिन्न-भिन्न होती है, उसी प्रकार एक देश के विभिन्न भागों में भी उत्पादन की सुविधायें अलग-अलग हो सकती है। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के द्वारा बनाये गए उत्पादन सम्बन्धी नियमों में काफी अन्तर रहता है। विभिन्न राज्यों की कर नीति तथा उनके द्वारा दी जाने वाली सुविधायें भी भिन्न हो सकती हैं। अतः एक देश के भीतर भी वस्तुओं का उत्पादन समान दशाओं में नहीं किया जाता है। देश के विभिन्न भागों के प्राकृतिक साधन भी अलग-अलग होते हैं, जिनके कारण विभिन्न क्षेत्र विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए उपयुक्त होते हैं। यह दशा बहुत कुछ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दशा से मिलती है।

(४) **विभिन्न मुद्रा प्रणालियों के आधार पर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है**—प्राचीन विचारधारा में विभिन्न देशों

3 Regions and nations specialise and trade with each other for the same reasons that individuals specialise and trade. Some are better fitted by temperament for one work than another, one is a better gardner, the other a better teacher, while the third proves an excellent doctor and so on. Thus, the gain from specialisation is clear. Even if every individual were equally alike in ability, it would pay to specialise." —*Ohlin.*

मे मुद्राओ की भिन्नता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता बतलाई गई है। यद्यपि विभिन्न देशो की मुद्राओ मे कुछ भिन्नता अवश्य पाई जाती है किन्तु वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से अलग करने के लिए काफी नही है। एक देश के भीतर भी विभिन्न क्षेत्रो मे अलग-अलग मुद्राये हो सकती हैं और इस प्रकार आन्तरिक व्यापार मे भी मुद्राओ को बदलने की समस्या उत्पन्न हो जाती है। इसका उदाहरण कुछ समय पूर्व भारत मे ही मिलता था जबकि भारत और हैदराबाद स्टेट मे अलग-अलग मुद्राएँ चलती थी। अत. मुद्राओ की भिन्नता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की ही विशेषता नही है। इसके अतिरिक्त मुद्राओ की भिन्नता के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से पृथक् नही किया जा सकता है क्योकि दो देशो की मुद्राओ की विनिमय दर उन मुद्राओ की आन्तरिक क्रय-शक्ति से सम्बन्धित होती है और उस पर मूल्य लागत सम्बन्धो का पूरा प्रभाव पडता है।

इन सब कारणो से यह विदित होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आन्तरिक व्यापार से पृथक् नही किया जा सकता है। दोनो प्रकार के व्यापार मे कोई आधारभूत अन्तर न होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भी सामान्य मूल्य के सिद्धान्त की सहायता से समझा जा सकता है और उसके लिए पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता नही है। ओहलिन (Ohlin) इसी विचारधारा के मानने वाले हैं और उन्होने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से भिन्न किये जाने का विरोध किया है। उनके अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का ही एक विशिष्ट रूप है।"[४] सामान्य माग और पूर्ति का विश्लेषण, जिसका प्रयोग अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार (Inter-regional Trade) को समझने के लिए किया जाता है, बिना किसी विशेष सशोधन के अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की समस्याओ का विश्लेषण करने के लिए भी प्रयोग किया जा सकता है। ओहलिन ने सामान्य सतुलन के सिद्धान्त का विस्तार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार मे कोई मौलिक भेद नही है। वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि, "सबसे महत्वपूर्ण भेद जो किया जाना चाहिए, वह अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त मे नही बल्कि एक बाजार तथा अनेक बाजारों के सम्बन्ध मे प्रयोग किये जाने वाले मूल्य सिद्धान्तो मे है।"[५]

---

4 "International trade is only a special case of inter-regional trade."
—Ohlin.

5 "The most important distinction to be made is not between the theory of international commerce and that of national commerce but between a theory of prices for a single market and a theory of prices that is valid for several markets."
—Ohlin.

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों होता है ?
(Why International Trade Arise ?)—

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उत्पन्न होने का मुख्य कारण संसार के विभिन्न देशों में उत्पत्ति के साधनों का असमान वितरण है। विभिन्न देशों का जलवायु तथा उनके प्राकृतिक साधन अलग-अलग होते हैं। कुछ देशों का जलवायु और प्राकृतिक साधन एक प्रकार की वस्तुओं को उत्पन्न करने के लिए उपयुक्त होते हैं तथा अन्य देशों में कुछ दूसरी वस्तुओं का उत्पादन करने की अच्छी सुविधायें हो सकती हैं। इसी प्रकार विभिन्न देशों के बीच श्रम तथा पूंजी की मात्रा भी अलग-अलग हो सकती है। कुछ देशों के पास पूंजीगत वस्तुयें अधिक मात्रा में होती हैं तथा कुछ के पास बहुत कम मात्रा में ऐसे साधन उपलब्ध होते हैं। उत्पत्ति के साधनों के असमान वितरण के कारण वस्तुओं की उत्पादन लागतों में अन्तर पैदा होता है जो अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण का आधार है। प्रत्येक देश केवल उन्हीं वस्तुओं को अपने यहाँ उत्पन्न करता है जिनका उत्पादन करने में उसे कम लागत आती है और अन्य वस्तुओं को दूसरे देशों से मगा लेता है। इस प्रकार के भौगोलिक श्रम-विभाजन से ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पैदा होता है। यदि सभी देशों का जलवायु तथा उनके प्राकृतिक साधन एक प्रकार के होते तो वस्तुओं की उत्पादन लागतें समान रहतीं और किसी प्रकार न विशिष्टीकरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव न हो सकता। अतः यह कहा जा सकता है कि **समस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लागतों में अन्तर के कारण उत्पन्न होता है** और लागतों में अन्तर इसलिए होता है क्योंकि विभिन्न देशों में उत्पत्ति के साधन असमान रूप से बँटे हुये हैं। जब तक लागतों में अन्तर रहता है अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता रहता है।

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त (Theory of Comparative Costs)—

सिद्धान्त का प्राचीन रूप (Classical Theory)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का प्रयोग सर्वप्रथम रिकार्डो (Ricardo) के द्वारा किया गया। उनके पश्चात मिल (Mill), कैरनीज (Cairnes) तथा बैस्टेबिल (Bastable) ने इस सिद्धान्त में कुछ संशोधन तथा महत्वपूर्ण सुधार किये। आधुनिक अर्थशास्त्रियों में टाजिग (Taussig) तथा जर्मन अर्थशास्त्री हैबरलर (Haberler) ने प्राचीन सिद्धान्त के दोषों को दूर करके उसे वर्तमान रूप प्रदान किया है। रिकार्डो ने सर्वप्रथम यह बतलाया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लागतों में तुलनात्मक अन्तर के कारण उत्पन्न होता है। उनका विचार था कि एक देश में उत्पत्ति के साधनों में गतिशीलता होने के कारण लाभ का अंश समान होने की प्रवृत्ति रखता है किन्तु विभिन्न देशों में ऐसा नहीं होता है। इसका मुख्य कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में श्रम तथा पूंजी की गतिशीलता का न होना है। रिकार्डो ने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के द्वारा यह प्रदर्शित किया कि एक देश को कई वस्तुओं के उत्पादन में लाभ हो सकता है किन्तु वह केवल उसी वस्तु का उत्पादन करता है जिसके उत्पादन में उसे अपेक्षाकृत

अधिक लाभ होता है और अन्य वस्तुओ का उत्पादन वह दूसरे देशो पर छोड देता है। उदाहरण के रूप मे उन्होने बतलाया कि पुर्तगाल (Portugal) मे कपडा और शराब दोनो की उत्पादन लागत इङ्गलैंड की अपेक्षा कम आती है किन्तु वह केवल शराब के पैदा करने मे विशिष्टीकरण करता है और कपडा इङ्गलैंड से मगाता है क्योकि उसे शराब के उत्पादन मे तुलनात्मक लाभ अधिक है। इस उदाहरण के द्वारा रिकार्डो ने यह बतलाया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मुख्य आधार लागतो मे तुलनात्मक अन्तर का होना है। उनका यह विचार भी था कि तुलनात्मक लागतो के द्वारा ही विदेशी व्यापार मे विनिमय दरो की सीमायें निश्चित होती है।

सिद्धान्त की व्याख्या (Statement of the Theory)—

तुलनात्मक लागत के इस सिद्धान्त के अनुसार तुलनात्मक लागतो मे अन्तर होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पन्न होता है। वस्तुओ की उत्पादन लागत मे तुलनात्मक अन्तर होते ही दो या इससे अधिक देशो के बीच विदेशी व्यापार होने लगता है। प्रत्येक देश उस वस्तु का निर्यात करता है जिसके उत्पादन मे उसे तुलनात्मक लाभ अधिक होता है और उस वस्तु को अन्य देशो से मगाता है जिसकी उत्पादन लागत उस देश मे अधिक आती है। एक देश को उस वस्तु के उत्पादन मे विशिष्टीकरण करने से लाभ होगा जिसकी उत्पादन लागत मे उसे तुलनात्मक लाभ अधिक है और इस वस्तु को वह दूसरी ऐसी वस्तु के बदले मे निर्यात करेगा जिसके उत्पादन मे उसे तुलनात्मक लाभ कम है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक देश उस वस्तु का उत्पादन तथा निर्यात करने की प्रवृत्ति रक्खेगा जिसके उत्पादन मे उसे तुलनात्मक लाभ अधिक है अथवा तुलनात्मक हानि कम है और उस वस्तु का आयात करने की प्रवृति रखता है जिसमे उसे तुलनात्मक लाभ कम होता है अथवा तुलनात्मक हानि अधिक रहती है। इस प्रकार के विशिष्टीकरण से दोनो देशो को लाभ होता है तथा वस्तुओ का उत्पादन भी बढता है।

(यदि एक देश दूसरे देश की अपेक्षा दोनो वस्तुओ का उत्पादन सस्ता कर सकता है और इस प्रकार उसे दोनो वस्तुओ के सम्बन्ध मे दूसरे देश के ऊपर निर्पेक्ष लाभ (Absolute Advantage) है (किन्तु यह सम्भव हो सकता है कि वह इन दोनो मे से किसी एक को दूसरी की अपेक्षा अधिक सस्ती पैदा करता है)। दूसरे देश को दोनो वस्तुओ के उत्पादन मे निरपेक्ष हानि (Absolute Disadvantage) हो सकती है किन्तु यह हानि एक वस्तु के सम्बन्ध मे अधिक तथा दूसरी के सम्बन्ध मे कम हो सकती है। (ऐसी दशा मे पहला देश उस वस्तु के उत्पादन मे अपने साधनो को लगायेगा जिसके उत्पन्न करने मे उसे तुलनात्मक लाभ अधिक है और दूसरा देश उस वस्तु का उत्पादन करेगा जिसमे उसे तुलनात्मक हानि कम है)। इस प्रकार की दशाओ मे ही अधिकाश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे लागतों का अन्तर
(Differences in Costs in International Trade)—

विभिन्न देशो मे वस्तुओ की उत्पादन लागतो मे तीन प्रकार का अन्तर हो सकता है—

(अ) लागतो मे निरपेक्ष अन्तर (Absolute Difference in Costs)।

(ब) लागतो मे समान अन्तर (Equal Difference in Costs)

(स) लागतो मे तुलनात्मक अन्तर (Comparative Difference in Costs)

लागतों मे निरपेक्ष अन्तर (Absolute Difference in Costs)—दो देशो के बीच लागतो मे निरपेक्ष अन्तर तब होता है जब उनमे से एक देश किसी वस्तु को दूसरे देश की अपेक्षा काफी कम लागत पर उत्पन्न कर लेता है। ऐसी स्थिति मे पहले देश को दूसरे देश पर उस वस्तु के उत्पादन मे निरपेक्ष लाभ रहता है। इसी प्रकार दूसरे देश को किसी अन्य वस्तु के उत्पादन मे निरपेक्ष लाभ हो सकता है। दोनो देश उस वस्तु का उत्पादन करेंगे जिसे वे अपेक्षाकृत उत्पन्न कर सकते हैं। इसे निम्नलिखित उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

भारत मे { १५ दिन का श्रम ५० क्विन्टल गेहूँ पैदा करता है।
१५ दिन का श्रम १०० मीटर कपड़ा पैदा करता है।

पाकिस्तान मे { १५ दिन का श्रम १०० क्विन्टल गेहूँ पैदा करता है।
१५ दिन का श्रम ५० मीटर कपडा पैदा करता है।

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि भारत को कपडे के उत्पादन मे पाकिस्तान पर निरपेक्ष लाभ प्राप्त है क्योकि भारत मे कपड़े की उत्पादन लागत पाकिस्तान की अपेक्षा आधी है। इसी प्रकार पाकिस्तान को गेहूँ के उत्पादन मे भारत पर निरपेक्ष लाभ प्राप्त है क्योकि वहाँ पर भारत की तुलना मे गेहूँ की उत्पादन लागत आधी आती है। ऐसी दशा मे दोनो देशो मे वस्तुओ के उत्पादन मे विशिष्टीकरण होगा और भारत के द्वारा कपडे का उत्पादन किया जायगा तथा पाकिस्तान गेहूँ का उत्पादन करेगा। भारत पाकिस्तान को कपडा देकर गेहूँ प्राप्त करेगा और पाकिस्तान अपने गेहूँ के बदले मे कपडा भारत से लेगा। ऐसा करने मे दोनों देशो को लाभ होगा। उत्पादन लागतो के आधार पर भारत मे गेहूँ और कपडे का विनिमय अनुपात (Exchange ratio) १ : २ तथा पाकिस्तान मे यह अनुपात २ : १। अर्थात भारत मे १ मीटर कपडे के बदले में ½ क्विन्टल गेहूँ प्राप्त होता है किन्तु पाकिस्तान से एक मीटर कपडे के बदले मे २ क्विन्टल गेहूँ प्राप्त किया जा सकता है। अत भारत के लिए अपने यहाँ गेहूँ पैदा न करके उसे पाकिस्तान से मगाना लाभपूर्ण है। इसी प्रकार पाकिस्तान अपने एक क्विन्टल गेहूँ के बदले मे २ मीटर कपडा भारत से प्राप्त कर सकता है। जबकि उसे अपने देश मे १ क्विन्टल गेहूँ के बदले मे ½ मीटर कपडा मिल सकता है। ऐसी दशा मे विशिष्टीकरण दोनो देशो के लिए लाभपूर्ण है। अतः लागतो मे निरपेक्ष अन्तर होने की दशा मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है।

लागतों में समान अन्तर (Equal Difference in Costs)— दो देशों के बीच समान अन्तर तब होता है जब दोनों देशों में दोनों वस्तुओं के उत्पादन लागतों का अनुपात समान होता है। ऐसी दशा में एक देश दूसरे देश की अपेक्षा दोनों ही वस्तुओं को कम लागत पर उत्पन्न करता है किन्तु उसे दोनों वस्तुओं के उत्पादन में उत्पादन लागत सम्बन्धी लाभ बराबर रहता है। दूसरे देश में दोनों वस्तुओं की उत्पादन लागत अधिक आती है और उसे दोनों वस्तुओं के उत्पादन में समान हानि रहती है। लागतों में समान अन्तर होने की दशा में किसी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं हो सकता है क्योंकि विशिष्टीकरण से किसी भी देश को लाभ नहीं मिलता है। निम्नलिखित उदाहरण के द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है।

भारत में { १५ दिन का श्रम ८० क्विन्टल गेहूँ पैदा करता है।
१५ दिन का श्रम १२० मीटर कपड़ा पैदा करता है।

पाकिस्तान में { १५ दिन का श्रम ५० क्विन्टल गेहूँ पैदा करता है।
१५ दिन का श्रम ७५ मीटर कपड़ा पैदा करता है।

लागतों में इस प्रकार का अन्तर होने की दशा में व्यापार से किसी प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि दोनों देशों में दोनों वस्तुओं की लागतों का अनुपात २ : ३ है। भारत में १ क्विन्टल गेहूँ के बदले में १½ मीटर कपड़ा मिलता है और पाकिस्तान में भी १ क्विन्टल गेहूँ के बदले में १½ मीटर कपड़ा ही मिल सकता है। भारत को कपड़े में विशिष्टीकरण करने से कोई लाभ नहीं है और इसी प्रकार पाकिस्तान को गेहूँ पैदा करने में कोई लाभ नहीं हो सकता है। अतः लागतों में समान अन्तर होने की दशा में किसी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव नहीं है।

लागतों में तुलनात्मक अन्तर (Comparative Difference in Costs)— लागतों में तुलनात्मक अन्तर तब होता है जब एक देश में दोनों ही वस्तुओं की उत्पादन लागत कम होती है किन्तु दोनों में से एक को वह दूसरी की अपेक्षा अधिक सस्ती उत्पन्न कर सकता है। दूसरा देश दोनों ही वस्तुओं को अधिक लागत पर पैदा करता है किन्तु दोनों में से एक के उत्पादन में उसे अपेक्षाकृत हानि कम रहती है। लागतों में तुलनात्मक अन्तर होने की दशा में ही अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है क्योंकि लागतों में निरपेक्ष अन्तर बहुत कम मिलता है तथा वह अस्थाई होता है। निम्नलिखित उदाहरण के द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है—

भारत में { १५ दिन का श्रम १०० क्विन्टल गेहूँ पैदा करता है।
१५ दिन का श्रम १०० मीटर कपड़ा पैदा करता है।

पाकिस्तान में { १५ दिन का श्रम ८० क्विन्टल गेहूँ पैदा करता है।
१५ दिन का श्रम ४० मीटर कपड़ा पैदा करता है।

इस स्थिति में भारत को पाकिस्तान की अपेक्षा गेहूँ तथा कपडा दोनो के उत्पादन मे निर्पेक्ष लाभ है किन्तु यह लाभ कपडा पैदा करने मे अधिक है और गेहूँ पैदा करने मे कम। पाकिस्तान को दोनो वस्तुओ के पैदा करने मे हानि है किन्तु गेहूँ पैदा करने मे कपडे की अपेक्षा यह हानि कम है। अत भारत कपडा पैदा करने मे विशिष्टीकरण करेगा और गेहूँ पाकिस्तान से मगायेगा। पाकिस्तान अपने समस्त साधनो को गेहूँ पैदा करने मे लगायेगा और कपडे का आयात भारत से करेगा। इस प्रकार के विशिष्टीकरण से दोनो ही देशों को लाभ होगा। भारत मे लागतो का अनुपात १ १ है तथा पाकिस्तान मे २ १ है। लागतो के अनुपात मे भिन्नता होने के कारण दोनो देशों के बीच लाभपूर्ण व्यापार हो सकता है। भारत मे १ मीटर कपडे के बदले १ क्विन्टल गेहूँ मिलता है किन्तु पाकिस्तान मे १ मीटर कपडे के बदले मे २ क्विन्टल गेहूँ मिल सकता है। अत भारत के लिए यह लाभपूर्ण है कि वह अपने साधनो को केवल कपडे के उत्पादन मे लगाये और अतिरिक्त कपडे के बदले मे पाकिस्तान से गेहूँ आयात कर ले। भारत के लिए यह विनिमय तब तक लाभपूर्ण रहेगा जब तक उसे १ मीटर कपडे के बदले मे १ क्विन्टल गेहूँ से अधिक मिलता रहता है। पाकिस्तान को भी गेहूँ पैदा करके भारत को भेजने मे लाभ है क्योकि पाकिस्तान मे एक क्विन्टल गेहूँ ½ मीटर कपडे के साथ बदला जाता है जबकि भारत से वह एक क्विन्टल गेहूँ के बदले मे १ मीटर कपडा प्राप्त कर सकता है। पाकिस्तान को भारत के साथ व्यापार करने मे तब तक लाभ है जब तक उसे १ क्विन्टल गेहूँ के बदले मे ½ मीटर कपडे से अधिक मिलता रहता है। अत लागतो मे तुलनात्मक अन्तर होने की दशा मे लाभपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव है।

तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का आधुनिक रूप
(Modern Theory of Comparative Costs)—

आधुनिक अर्थशास्त्रियो के अनुसार समस्त व्यापार लागतो मे अन्तर होने के कारण उत्पन्न होता है। लागतो मे निर्पेक्ष अन्तर होने की दशा मे कुछ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हो सकता है किन्तु आजकल होने वाला अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पादन लागतो मे तुलनात्मक अन्तर होने के कारण होता है। जब तक लागतो मे तुलनात्मक अन्तर होता है तब तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता रहता है किन्तु तुलनात्मक लाभ समाप्त होते ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी बन्द हो जाता है। वर्तमान मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था मे लागतो का विश्लेषण श्रम की मात्रा के आधार पर नही किया जा सकता है, इसलिए वर्तमान अर्थशास्त्रियो ने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का विश्लेषण मौद्रिक लागतो (Money Costs) के आधार पर किया है। वर्तमान सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार श्रम लागतो मे तुलनात्मक अन्तर से निश्चित नही होता है बल्कि वह मुद्रा कीमतो मे निर्पेक्ष अन्तर से निश्चित होता है। लागतो के तुलनात्मक अन्तर को आसानी से कीमतो के निर्पेक्ष अन्तर

मे बदला जा सकता है और ऐसा करने से विनिमय सम्बन्धो मे कोई परिवर्तन नही होता है। ऊपर दिये गए तुलनात्मक लागत के अन्तर के उदाहरण को लेकर इस सिद्धान्त का मुद्रा के माध्यम से स्पष्टीकरण किया जा सकता है। इस उदाहरण के अन्तर्गत भारतवर्ष मे १५ दिन का श्रम १०० क्विन्टल गेहूँ अथवा १०० मीटर कपडा पैदा करता है और पाकिस्तान मे १५ दिन का श्रम ८० क्विन्टल गेहूँ या ४० मीटर कपडा उत्पन्न करता है। यदि भारत मे श्रम का मूल्य ३) रु० तथा पाकिस्तान मे २) रु० प्रतिदिन लगाया जाये तो दोनो देशो मे इन वस्तुओ की प्रति इकाई मुद्रा लागत निम्न प्रकार होगी—

देश	कुल मजदूरी	कुल उत्पादन	मौद्रिक लागत प्रति इकाई रुपये में
भारत	४५ रुपये	१०० क्विन्टल गेहूँ	०·४५ प्रति क्विन्टल
	४५ रुपये	१०० मीटर कपडा	०·४५ प्रति मीटर
पाकिस्तान	३० रुपये	८० क्विन्टल गेहूँ	०·३८ प्रति क्विन्टल
	३० रुपये	४० मीटर कपडा	० ७५ प्रति मीटर

भारत मे कपडे की लागत पाकिस्तान की अपेक्षा कम है—भारत मे वह ०·४५ रुपये प्रति मीटर है जबकि पाकिस्तान मे ०·७५ रुपये प्रति मीटर है। किन्तु गेहूँ की मुद्रा-लागत पाकिस्तान मे भारत की अपेक्षा कम है—भारत मे वह ०·४५ रुपये प्रति क्विन्टल है, जबकि पाकिस्तान मे केवल ०·३८ रुपये प्रति क्विन्टल है। इससे स्पष्ट है कि भारत कपडा पैदा करेगा और पाकिस्तान गेहूँ के उत्पादन मे विशिष्टीकरण करेगा। इस विश्लेषण से भी हम तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के अनुरूप ही परिणामो पर पहुँचते है।

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधारभूत सिद्धान्त है—

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लागतो मे तुलनात्मक अन्तर के कारण ही पैदा होता है। निर्पेक्ष अन्तर की दशा मे बहुत कम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है तथा वह अस्थायी हुआ करता है। लागतो मे समान अन्तर की दशा में किसी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं हो सकता है। अधिकाश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लागतो मे तुलनात्मक अन्तर की दशा मे ही होता है। जैसे ही लागतो मे तुलनात्मक अन्तर उत्पन्न होता है अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने लगता है और यह व्यापार तब तक होता रहता है जब तक एक देश को दूसरे देश की अपेक्षा वस्तुओ के उत्पादन मे तुलनात्मक लाभ रहता है। लागतो में तुलनात्मक अन्तर के समाप्त होते ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी बन्द हो जाता है।

इस प्रकार समस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार लागतो मे तुलनात्मक अन्तर का होना है और इसीलिए तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधारभूत सिद्धान्त माना जाता है।) केवल इस सिद्धान्त के द्वारा ही हम यह बतला सकते है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यो होता है तथा वह कब तक होता रहता है और विभिन्न देश किन-किन वस्तुओ का निर्यात तथा आयात करेंगे।

यद्यपि वर्तमान अर्थशास्त्रियो ने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त मे महत्वपूर्ण सुधार किये हैं और उसका वर्तमान रूप बहुत कुछ बदल गया है किन्तु फिर भी सिद्धान्त का आधार वही है। आधुनिक अर्थशास्त्री भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लागतो मे तुलनात्मक अन्तर के कारण होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विश्लेषण मे तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का आज भी वही महत्व है जो पहले था। सशोधनो के द्वारा उसके दोषो को दूर किया गया है किन्तु सिद्धान्त के मूल आधार मे कोई परिवर्तन नही हुआ है। आज भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को समझने का वह एकमात्र सिद्धान्त है। अत तुलनात्मक लागत के सिद्धात को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधारभूत सिद्धान्त कहा जा सकता है।)

क्लासिकल सिद्धान्त की आलोचनाएँ
(Criticisms of the Classical Theory)—

कुछ समय पहले तक रिकार्डो और मिल द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त के रूप में पूर्णतया स्वीकार किया जाता था। किन्तु आरम्भ से ही इस सिद्धान्त का आधार कमजोर था क्योकि वह बहुत सी अवास्तविक मान्यताओ पर आधारित है। वर्तमान अर्थशास्त्री ओह्लिन (Ohlin) तथा फ्रेंक ग्राहम (Frank Graham) ने अपनी आलोचनाओ के द्वारा इस सिद्धान्त की कमजोरियो को स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया है। क्लासिकल सिद्धान्त की आलोचनाएँ मुख्यत निम्नलिखित आधार पर की गई है—

(१) (मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर आधारित होना क्लासिकल सिद्धान्त की सबसे बडी कमजोरी है।) इस सिद्धान्त मे लागतो की तुलना करने के लिए श्रम-लागतो का प्रयोग किया गया है, जिसके कारण सिद्धान्त का आधार अवैज्ञानिक हो गया है। मूल्य के श्रम सिद्धान्त का खण्डन बहुत पहिले ही किया जा चुका है इसलिए उसके आधार पर वस्तुओ की उत्पादन लागत को नापना वैज्ञानिक नही है। उत्पादन लागत मे श्रम के अतिरिक्त पूंजी, भूमि, साहस आदि अन्य उत्पत्ति के साधनों को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त श्रम की विभिन्न इकाइयो मे एकरूपता न होने के कारण भी उसे लागतो को नापने का आधार नही बनाया जा सकता है। आलोचको के अनुसार मुद्रा लागत ही विभिन्न वस्तुओ की लागतो की तुलना करने का सही आधार हो सकती है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्या का विश्लेषण वस्तुओ की कीमतो के रूप मे किया जाना चाहिए।

(२) सिद्धांत की आलोचना इस आधार पर भी की गई है कि वह उत्पत्ति की लागतों को निश्चित मान लेता है। क्लासिकल सिद्धांत में यह मान लिया गया है कि वस्तुओं का उत्पादन केवल उत्पत्ति समता नियम (Law of Constant Returns) के अनुसार होता है। इस प्रकार की मान्यता बिल्कुल अवास्तविक है। क्लासिकल सिद्धांत की मान्यता के अनुसार दोनों देशों में लागतों का अनुपात निश्चित रहता है चाहे वस्तुओं के उत्पादन में कितना भी अधिक विशिष्टीकरण क्यों न किया जाये? उपर्युक्त उदाहरण में भारत में कपड़े की उत्पादन लागत तथा पाकिस्तान में गेहूँ की उत्पादन लागत निश्चित रहनी चाहिए और उनकी लागतों के अनुपात में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना चाहिए। वास्तव में ऐसा नहीं होता है। यह सम्भव हो सकता है कि पाकिस्तान में अधिक गेहूँ पैदा किये जाने पर उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Return) के कारण गेहूँ की लागत बढ़ जाये। इसके विपरीत भारत में कपड़े की लागत उत्पत्ति वृद्धि नियम (Law of Increasing Return) के कार्यशील होने के कारण गिर सकती है। अतः एक सीमा के पश्चात् दोनों देशों में उत्पादन लागत के अनुपात में परिवर्तन होने लगते हैं। इस दृष्टिकोण से प्राचीन सिद्धांत कोई विश्लेषण प्रस्तुत नहीं करता है।

(३) क्लासिकल सिद्धांत का एक और दोष यह है कि वह परिवहन लागतों की उपेक्षा करता है। ऐसी बहुत-सी वस्तुएँ हैं जिनके सम्बन्ध में परिवहन लागत उनकी उत्पादन लागत से भी अधिक हो सकती है। ऐसी स्थिति में परिवहन लागत को भी वस्तु की लागत में सम्मिलित किया जाना चाहिए। किसी भी वस्तु का आयात अथवा निर्यात तब तक नहीं किया जा सकता है जब तक दोनों देशों में उसकी उत्पादन लागत में अन्तर उसकी परिवहन लागत से अधिक न हो। इस सम्बन्ध में हेबरलर (Haberler) का विचार है कि, "किसी वस्तु का निर्यात अथवा आयात तब तक नहीं किया जायेगा जब तक कि दो देशों में उसकी उत्पादन लागत का अन्तर उसके एक देश से दूसरे देश को भेजने के यातायात व्यय से अधिक न हो। किसी देश की निर्यात क्षमता पूर्णतया उसकी तुलनात्मक लागत पर निर्भर नहीं होती है बल्कि यह परिवहन लागत पर भी निर्भर करती है।"[6]

(४) यह सिद्धांत इसलिए भी दोषपूर्ण है क्योंकि वह दोनों देशों के द्वारा पूर्ण विशिष्टीकरण की सम्भावना प्रस्तुत करता है। वास्तव में ऐसा नहीं होता है। तुलनात्मक लागतों में अन्तर होने की दशा में भी यह आवश्यक नहीं है कि दोनों

---

6 "A good will not be exported or imported unless the difference in its cost of production between the two countries exceed the cost of transporting it from one country to the other. The export capacity of a country does not depend, solely upon its comparative cost of production, it depends also upon the cost of transport." —*Haberler.*

देश एक-एक वस्तु के उत्पादन मे पूर्ण विशिष्टीकरण कर लें। फ्रेंक ग्राहम (Frank Graham) के अनुसार यदि व्यापार करने वाले देशो मे एक देश छोटा है और दूसरा बडा है तो ऐसी स्थिति मे छोटा देश तो तुलनात्मक लाभ वाली वस्तु के उत्पादन मे पूर्ण विशिष्टिकरण करेगा किन्तु बडे देश के लिए ऐसा करना सम्भव नही हो सकेगा क्योकि यदि वह अपने समस्त साधन एक वस्तु के उत्पादन मे लगा देता है, तो वह उत्पादित वस्तु की इतनी बडी मात्रा को छोटे देश मे नही बेच सकेगा। इसके अतिरिक्त उसे दूसरी वस्तु की कुछ मात्रा इसलिए पैदा करनी पडेगी क्योकि वह अपनी समस्त आवश्यकता उस छोटे देश से आयात करके पूरी नही कर सकता है। ऐसी दशा मे बडे देश के लिए दोनो वस्तुओ का उत्पादन करना अनिवार्य हो जाता है।

(५) क्लासिकल सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर भी की गई है कि वह उत्पत्ति के साधनो को आन्तरिक क्षेत्र मे पूर्णतया गतिशील तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे पूर्णतया अगतिशील मानता है। यह मान्यता बिल्कुल अवास्तविक है क्योकि आन्तरिक क्षेत्र मे भी उत्पत्ति के साधनो मे गतिशीलता का अभाव हो सकता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे वे कुछ सीमा तक गतिशील हो सकते है। आन्तरिक क्षेत्र मे उत्पत्ति के साधनो मे पूर्ण गतिशीलता न होने का प्रमाण इस बात से मिलता है कि एक ही देश मे विभिन्न क्षेत्रों मे मजदूरी व ब्याज की दरो मे भिन्नता पाई जाती है। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उत्पत्ति के साधन पूर्णतया अगतिशील नहीं होते है। श्रमिक एक देश से दूसरे देश मे आ जा सकते है तथा पूंजी का आयात तथा निर्यात भी किया जाता है।

(६) विभिन्न देशो के द्वारा उन वस्तुओ का उत्पादन करने की प्रवृत्ति पाई जाती है जिनके पैदा करने मे उन्हे प्राकृतिक लाभ नही होता है। इस प्रवृत्ति के कारण भी तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का क्षेत्र सीमित हो गया है। आजकल सैनिक कारणो से तथा आर्थिक क्षेत्र मे आत्म-निर्भरता प्राप्त करने के लिए देश उन वस्तुओ का उत्पादन भी स्वय करते है जिन्हे वे अन्य देशो से सस्ती कीमत पर आयात कर सकते है। इस प्रकार की प्रवृत्तियो को तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के द्वारा नही समझा जा सकता है।

(७) बर्टिल ओहलिन (Bertil Ohlin) के अनुसार क्लासिकल सिद्धान्त विश्लेषण का एक भद्दा तथा खतरनाक यन्त्र प्रस्तुत करता है।[7] यह सिद्धान्त इसलिए अवास्तविक है क्योकि इसके द्वारा विभिन्न देशो मे पूर्ण उत्पादन लागतो के अन्तर के आधार पर विश्लेषण नही किया जाता है। यह सिद्धान्त इस बात को भी नही बताता है किसी देश मे वस्तु के उत्पादन का सस्ता होना वहाँ

7 The theory has been criticised by Ohlin as a clumsy and dangerous *tool and that it is unduely cumbersome and unreal.*

तक कम मजदूरी, कम ब्याज, कम परिवहन तथा अन्य प्रकार के व्यय कम होने के कारण होता है। ओहलिन के अनुसार यह सिद्धान्त इसलिए खतरनाक है क्योंकि वह निश्चित रूप से केवल दो देशों तथा दो वस्तुओं के आधार पर विश्लेषण करता है और इस प्रकार निकाले गये निर्णयों को नि संकोच वास्तविक परिस्थितियों मे लागू कर देता है जिनमे बहुत-से देश तथा बहुत-सी वस्तुयें सम्मिलित होती है।

सिद्धान्त में आधुनिक सुधार (Modern Refinements in the Theory)—

वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त मे तीन महत्वपूर्ण सुधार किये है जो इस प्रकार है—

(१) प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने तुलनात्मक लाभ को निकालने के लिए वस्तुओं की उत्पादन लागत को श्रम के रूप मे नापा था किन्तु मूल्य के श्रम सिद्धान्त को अब नही माना जाता है। इस दोष को दूर करने के लिए वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का विश्लेषण सीमान्त उत्पादन लागतो के आधार पर किया है। इन अर्थशास्त्रियों ने वस्तुओं की उत्पादन लागत को मुद्रा के रूप मे नापा है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने सिद्धान्त का विश्लेषण करने मे अवसर लागतो (Opportunity costs) का प्रयोग भी किया है।

(२) प्राचीन सिद्धान्त मे यह मान लिया गया था कि वस्तुओं का उत्पादन उत्पत्ति समता नियम के अनुसार ही होता है किन्तु वर्तमान सिद्धान्त मे यह बतलाया गया है कि उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) तथा उत्पत्ति वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns) का तुलनात्मक लाभ पर क्या प्रभाव पड़ता है। यदि किसी वस्तु का अधिक उत्पादन करने से उसकी सीमान्त उत्पादन लागत घटती है तो तुलनात्मक लाभ बढने की प्रवृत्ति रक्खेगा किन्तु यदि अधिक उत्पादन से लागत बढती है तो तुलनात्मक लाभ कम हो जायेगा तथा समाप्त होने की प्रवृत्ति रक्खेगा।

(३) प्राचीन सिद्धान्त मे विनिमय की शर्तें (Terms of Exchange) किस प्रकार निश्चित होती है—इस सम्बन्ध मे कुछ नही बतलाया गया था। आधुनिक लेखको ने सापेक्षिक माग के सिद्धान्त (Theory of Reciprocal Demand) का प्रतिपादन किया है जिसके द्वारा व्यापार की शर्तें निश्चित होती है। किसी देश की माग दूसरे देश की वस्तु के लिए जितनी अधिक तीव्र होती है, व्यापार की शर्तें उतनी ही उसके विपक्ष मे होती हैं। यदि किसी देश की दूसरे देश की वस्तु के लिए माग की तीव्रता कम है तो व्यापार की शर्तें उसके पक्ष मे होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ

(Advantages of International Trade)—

प्राचीन अर्थशास्त्रियों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से व्यापार करने वाले दोनो पक्षो को लाभ होता है। विदेशी व्यापार निर्यात तथा आयात करने वाले

दोनों ही देशों के लिए लाभपूर्ण रहता है और इसके साथ ही समस्त संसार को भी इस प्रकार के व्यापार से लाभ हुआ करता है। इसलिए एडम स्मिथ (Adam Smith) ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के महत्व को बतलाते हुए कहा है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से हमें दोहरा लाभ प्राप्त होता है।"[८] वह आयात तथा निर्यात करने वाले देशों के लिए तो लाभपूर्ण होना ही है किन्तु उसके कारण उत्पत्ति की मात्रा के बढ़ जाने से समस्त संसार को भी लाभ होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से विभिन्न देशों को लगभग वे सब लाभ प्राप्त होते हैं जो किसी देश के भीतर उद्योगों के स्थानीयकरण से प्राप्त किये जा सकते हैं। विदेशी व्यापार से प्राप्त होने वाले विभिन्न लाभ इस प्रकार है—

(१) **प्रादेशिक श्रम विभाजन के लाभ**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण प्रादेशिक श्रम-विभाजन (Territorial Division of Labour) से प्राप्त होने वाले सभी लाभ मिल जाते हैं। विभिन्न देशों के द्वारा केवल उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जिनके उत्पादन में उन्हें अधिकतम योग्यता अथवा कुशलता प्राप्त होती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्यवस्था में प्रत्येक देश केवल उसी वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करता है जिसे वह अन्य देशों की अपेक्षा सस्ती बना सकता है अथवा जिसके उत्पादन के लिए उस देश में सबसे उपयुक्त दशायें पाई जाती है। इस प्रकार के श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण का परिणाम यह होता है कि अकुशल उत्पादक उत्पादन क्षेत्र से निकल जाते है और वस्तुओं का उत्पादन केवल कुशल उत्पादकों के द्वारा ही किया जाता है। ऐसी दशा में वस्तुओं का उत्पादन अधिकतम होता है और उनकी उत्पादन-लागत भी कम आती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार मात्र है और उसमें उसी प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं जैसे आन्तरिक विशिष्टीकरण से प्राप्त किये जाते हैं। एल्सवर्थ (Ellsworth) के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल व्यापार का देश की सीमाओं के बाहर विस्तार है। इसलिए वह विशिष्टीकरण तथा उससे प्राप्त होने वाले लाभ के क्षेत्र को विस्तृत करता है। जैसे स्थानीय व्यापार व्यक्तियों की विशेष योग्यता के कारण लाभ प्राप्त करने की दशायें उत्पन्न करता है ठीक उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रत्येक देश के लिए अन्य देशों की विशेष योग्यता से लाभ प्राप्त करना तथा आन्तरिक साधनों का अधिक कुशलता के साथ शोषण करना सम्भव करता है।"[९]

---

8 "International trade is twice blessed" —*Adam Smith*

9 "International trade is simply the extension of trade beyond the boundaries of a nation. It, therefore, extends the range of specialisation and the gains derivable thereupon. Just as local trade enables advantage to be taken of the special aptitudes of individuals, so international trade makes it possible for each country to draw upon special aptitudes of other countries and to utilise its own resources more efficiently."

—*Ellsworth* The International Economy, P 141

(२) उपभोक्ताओं को सस्ते बाजार मे सामान खरीदने की सुविधायें प्राप्त होती हैं—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उपभोक्ताओ के लिए भी लाभपूर्ण होता है क्योकि वे विदेशी व्यापार की सहायता से अपनी आवश्यकता की वस्तुये सस्ते से सस्ते बाजार मे खरीद सकते है। प्राय विदेशो से वे ही वस्तुयें मगाई जाती है जिनकी उत्पादन-लागत देश मे अधिक आती है और जिन्हे अन्य देशो से कम मूल्य पर प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा उपभोक्ताओ को सस्ती वस्तुये उपलब्ध की जा सकती है जिनसे उनका जीवन-स्तर ऊंचा उठता है। इसके अतिरिक्त विदेशी व्यापार के द्वारा उपभोक्ताओ के लिए उन वस्तुओ का प्रयोग करना सम्भव हो जाता है जो उनके देश मे पैदा नही की जाती है। इस प्रकार उपभोग मे विविधता उत्पन्न होती है जिससे उपभोक्ताओ को बहुत लाभ प्राप्त होता है।

(३) मूल्यो मे अधिक स्थिरता आती है—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से वस्तुओ की पूर्ति का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है जिसके कारण माग म वृद्धि होने पर वस्तुओ को विदेशो से मगाया जा सकता है और इस प्रकार पूर्ति बढ जाने के कारण वस्तुओ के मूल्यो मे वृद्धि नही होने पाती है। इसी प्रकार यदि देश मे किसी वस्तु की पूर्ति उसकी माग की अपेक्षा अधिक हो जाती है तो उसे विदेशो को भेजकर उसके मूल्य को गिरने से रोका जा सकता है। वस्तुओ के आयात तथा निर्यात के द्वारा विभिन्न देशो मे मूल्यो के समान रहने की प्रवृत्ति होती है और मूल्यो मे होने वाले परिवर्तन बहुत कम हो जाते है।

(४) आर्थिक सकटों की तीव्रता को कम किया जा सकता है—विदेशी व्यापार के द्वारा समस्त ससार एक इकाई बन गया है। यदि कोई देश आर्थिक सकट मे होता है तो वह अन्य देशो से माल मगाकर इस सकट की तीव्रता को कम कर सकता है। यही कारण है कि वर्तमान ससार मे आर्थिक सकट बहुत कम हो गये है क्योकि एक देश खाद्य सामग्री की आयात के द्वारा अनाज की कमी को दूर कर लेता है और इस प्रकार के सकट से बच जाता है।

(५) उत्पादन सम्बन्धी सुधारों को प्रोत्साहन मिलता है—अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता के कारण प्रत्येक देश के उत्पादक अपनी उत्पादन प्रणाली मे सुधार करने के लिए प्रयत्नशील रहते है और कोई भी देश दूसरे देशो की तुलना मे पीछे नही रहना चाहता है। उत्पादन विधि मे सुधार के द्वारा प्रत्येक उत्पादक अपनी वस्तु को कम मूल्य पर पैदा करने का प्रयत्न करता है जिससे वह विदेशी प्रतियोगिता का मुकाबला कर सके। अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण उत्पादन विधियो मे निरन्तर सुधार होता रहता है और उद्योगो के प्रबन्ध की कुशलता मे भी उन्नति होती है। विदेशो से वस्तुओ का आयात होने से देश के भीतर औद्योगिक एकाधिकार स्थापित नही होने पाते है जिसमे प्रतियोगिता बढती है और उपभोक्ताओ को लाभ होता है।

(६) आर्थिक विकास में सहायता—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा एक देश को अपने आर्थिक विकास में बड़ी सहायता मिलती है। विदेशी व्यापार की सहायता से आवश्यक कच्चे माल, मशीनों तथा टैक्नीकल योग्यता को विदेशों से मगाकर देश का औद्योगीकरण किया जा सकता है। जिन देशों के पास कच्चे माल की कमी है किन्तु उत्पत्ति की अन्य सुविधायें उपलब्ध है वे विदेशों से कच्चा माल मगा कर उद्योग-धन्धों को स्थापित कर सकते हैं। इस प्रकार विदेशी व्यापार विभिन्न देशों को अपने साधनों का अधिकतम शोषण करने में सहायता देता है।

(७) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहित करता है—विदेशी व्यापार संसार के विभिन्न देशों में सम्पर्क स्थापित करता है जिससे सामाजिक तथा राजनैतिक उन्नति होती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार परस्पर निर्भर अर्थ-व्यवस्थाओं को स्थापित करता है जिसके कारण विभिन्न देशों के आर्थिक हित एक दूसरे के साथ सम्बन्धित हो जाते है और उनमें आपस में सहानुभूति तथा स्नेह की भावना उत्पन्न होती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि विदेशी व्यापार युद्ध के भय को कम करके विश्व-शान्ति की स्थापना में सहयोग देता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की हानियाँ
(Disadvantages of International Trade)—

उपर्युक्त लाभों के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कुछ हानियाँ भी हैं जिनके कारण उनके अच्छे प्रभाव बहुत कुछ नष्ट हो जाते हैं। विदेशी व्यापार की हानियाँ इस प्रकार है—

(१) विदेशी प्रतियोगिता के कारण देश के उद्योग-धन्धे नष्ट हो जाते हैं—अनियन्त्रित विदेशी व्यापार देश के उद्योग-धन्धों के लिए बहुत हानिकारक होता है। यदि विदेशों से बहुत बड़ी मात्रा में सस्ते सामान का आयात किया जाता है तो घरेलू उद्योग-धन्धे विदेशी प्रतियोगिता के कारण बन्द हो जाते हैं और बहुत-से श्रमिक तथा पूँजी बेकार हो जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उत्पन्न होने वाली विदेशी प्रतियोगिता में विकसित देशों को तो लाभ होता है किन्तु अविकसित देशों में या तो उद्योग-धन्धे स्थापित ही नही होने पाते हैं और या वे स्थापना के कुछ समय पश्चात् नष्ट हो जाते है। इस प्रकार स्वतन्त्र विदेशी व्यापार अविकसित देशों के आर्थिक विकास में बाधायें उत्पन्न करता है। भारतवर्ष इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

(२) अत्यधिक उत्पादन तथा अल्प उत्पादन का भय बढ़ जाता है—अन्तर-राष्ट्रीय व्यापार होने से वस्तुओं का बाजार इतना अधिक विस्तृत हो जाता है कि उनकी माग का सही-सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। कभी वस्तुओं का उत्पादन उनकी कुल माग से अधिक हो जाता है और कभी कम। विशिष्टीकरण के कारण अत्यधिक उत्पादन की सम्भावना बढ जाती है क्योंकि उद्योग-धन्धे विश्व बाजार के लिए वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। इतने विस्तृत बाजार में वस्तुओं की

भविष्य की माग सही-सही निर्धारित करना सम्भव नही होता है जिसके कारण अत्यधिक अथवा अल्प उत्पादन के दोष उत्पन्न होते है।

(३) कच्चे माल का समाप्त हो जाना—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण यह सम्भव हो सकता है कि एक देश विदेशी बाजारो के लिए इतनी अधिक मात्रा वस्तुओ का उत्पादन करने लगे कि उसके कुछ प्राकृतिक साधन समाप्त हो जाएँ। प्रत्येक देश मे कुछ ऐसी कच्ची सामग्री होती है जिसका प्रतिस्थापन सम्भव नही होता है और यदि विदेशी माग को पूरा करने के लिए उसका अधिकाधिक प्रयोग करके उसे समाप्त कर दिया जाता है तो उस देश के दीर्घकालीन आर्थिक हितो को बडा नुकसान पहुँचता है। उदाहरणार्थ यदि कोई देश विदेशी व्यापार से लाभ प्राप्त करने के लिए अपनी खनिज सम्पत्ति का इतनी तेजी के साथ प्रयोग करता है कि उसके आवश्यक खनिज पदार्थ समाप्त हो जाते है तो उस देश का औद्योगिक भविष्य अन्धकारमय हो जाता है। अत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण सम्भव हो सकता है कि देश वर्तमान लाभ के लिए अपने भविष्य के हितो को त्याग दे।

(४) हानिकारक वस्तुओं का आयात—विदेशी व्यापार के द्वारा कभी-कभी देश मे हानिकारक वस्तुओ का आयात होने लगता है और लोग इस प्रकार की वस्तुओ के प्रयोग के अभ्यस्त हो जाते है। नशीली वस्तुओ तथा विलासिता सम्बन्धी सामान का आयात लोगो मे बुरी आदते पैदा करता है तथा उनके स्वास्थ्य एव चरित्र पर उसका बुरा प्रभाव पडता है। चीनियो मे अफीम खाने की आदत विदेशी व्यापार के कारण ही पडी क्योकि चीन मे अफीम का उत्पादन नही किया जाता है।

(५) देश का असन्तुलित आर्थिक विकास—विदेशी व्यापार देश के आर्थिक विकास को असन्तुलित करने की प्रवृत्ति रखता है। केवल उन्ही उद्योगो का विकास किया जाता है जिनकी वस्तुओ की माग विदशी बाजार मे होती है तथा अन्य प्रकार के उद्योगो का विकास रुक जाता है। तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के आधार पर प्रत्येक देश केवल कुछ वस्तुओ का उत्पादन करने मे ही अपने साधनो को लगा देता है और अन्य वस्तुओ के लिए विदेशो पर निर्भर रहता है। इस प्रकार देश का बहुमुखी (Multi-sided) आर्थिक विकास नही हो पाता है। आर्थिक सकट के समय मे इस प्रकार के एक-अगी (One-sided) आर्थिक विकास के भयकर परिणाम हो सकते है। मुख्यतया युद्धकाल मे देश मे आत्म-निर्भरता के अभाव के कारण विशेष कठिनाई होती है।

(६) एक देश दूसरे देश के ऊपर निर्भर हो जाता है—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक देश को दूसरे देश के ऊपर निर्भर कर देता है जिसके बहुत बुरे परिणाम हो सकते हैं। इस प्रकार की परस्पर निर्भरता की दशा मे यदि किसी देश की अर्थ-व्यवस्था असन्तुलित हो जाती है अथवा जहाँ पर आर्थिक मन्दी (Depression) या कोई अन्य सकट उत्पन्न हो जाता है तो उसका बुरा प्रभाव अन्य देशो की अर्थ-व्यवस्थाओ

पर भी पड़ता है। कोई भी देश अपनी अर्थ-व्यवस्था को दूसरे देशों के बुरे प्रभाव से नहीं बचा पाता है। सन् १९२९ के आर्थिक संकट काल में यही हुआ और विदेशी व्यापार के द्वारा अवसाद की दशायें लगभग सभी देशों में फैल गई।

(७) विदेशी व्यापार से कृषि प्रधान देशों को हानि होती है—अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विदेशी व्यापार के लाभ केवल औद्योगिक देशों को ही प्राप्त होते हैं और खेतीहर देशों को उससे हानि होती है। इसका कारण प्राथमिक उद्योगों (Primary Industries) में उत्पत्ति ह्रास नियम का लागू होना है। जो देश कच्चा माल तथा अनाज विदेशों को भेजते हैं, उनकी उत्पादन लागत अधिक उत्पत्ति करने से बढ़ती जाती है और विदेशी व्यापार से होने वाला लाभ उनके लिए कम हो जाता है। इसके विपरीत औद्योगिक देशों में विदेशी व्यापार होने के कारण उत्पादन लागतें गिरती है और उनका लाभ बढ़ता है।

(८) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उपनिवेशवाद (Colonialism) को जन्म देता है—विदेशी व्यापार के विकास के साथ साथ दूसरे देशों के बाजारों का शोषण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है जिसके कारण विभिन्न देशों के बीच द्वेष तथा झगड़े उत्पन्न होते हैं। पिछली दो तीन शताब्दियों में विदेशी बाजारों की खोज के कारण ही उपनिवेशवाद का जन्म हुआ और बड़े-बड़े राष्ट्रों ने अपनी वस्तुओं के लिए बाजारों को सुरक्षित करने के उद्देश्य से अपने अपने उपनिवेशों को स्थापित कर लिया। उपनिवेशवाद ने पूँजीवाद के आधार को दृढ़ किया और इस प्रकार संसार में कुछ देशों के द्वारा अधिकांश देशों का शोषण किया जाने लगा। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है विदेशी व्यापार देशों के बीच बुरी प्रतियोगिता उत्पन्न करके उनके आपसी सम्बन्धों को बिगाड़ता है तथा विश्व-शान्ति की सम्भावना को कम करता है।

यद्यपि विदेशी व्यापार के लाभों के साथ-साथ उससे कुछ हानियाँ भी होती हैं किन्तु नियन्त्रित व्यापार की नीति के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अधिकांश दोषों को दूर किया जा सकता है और वह विभिन्न राष्ट्रों तथा सम्पूर्ण संसार के लिए लाभदायक हो सकता है। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ होने वाली घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि स्वतन्त्र विदेशी व्यापार किसी देश के आर्थिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो सकता है इसलिए उसे नियन्त्रित किया जाना चाहिए। केवल उचित नियन्त्रण के द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दोषों को दूर किया जा सकता है और उसे आर्थिक विकास तथा समृद्धि का साधन बनाया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ को प्रभावित करने वाली बातें (Factors influencing gain from International Trade)—

प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने केवल यही बतलाया था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से व्यापार करने वाले देशों को लाभ होता है किन्तु यह लाभ किन दशाओं में अधिक तथा किन दशाओं में कम होता है इसका विश्लेषण क्लासिकल अर्थशास्त्र में नहीं मिलता है। जे० एस० मिल (J. S. Mill) ने प्रथम बार इस प्रश्न की जाँच की

और यह बतलाया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से विभिन्न देशों को प्राप्त होने वाला लाभ व्यापार की शर्तों (Terms of Trade) पर निर्भर होता है जो दो देशो की एक दूसरे की वस्तुओ के लिए माग की तीव्रता के अनुसार निश्चित होती है। वर्तमान अर्थशास्त्रियो ने इस विचार को आगे बढाया है और उन तत्वो का विश्लेषण किया है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ को प्रभावित करते हैं। प्रो० टॉजिग (Taussig) के अनुसार किसी देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाला लाभ दो बातो पर निर्भर होता है—(१) व्यापार की शर्तें तथा निर्यात की जाने वाली वस्तुओ को पैदा करने वाले श्रम की कार्य क्षमता।

(१) व्यापार की शर्तें (Terms of Trade)—किसी देश के लिए व्यापार की शर्तें जितनी अधिक अनुकूल होती हैं उसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उतना ही अधिक लाभ होता है। व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होने की दशा मे देश को मिलने वाले लाभ की मात्रा कम हो जाती है। दो देशो के बीच व्यापार की शर्तें उनकी एक दूसरे की वस्तुओ के लिए माग की तीव्रता पर निर्भर होती हैं। किसी देश में विदेशी वस्तुओ के लिए माग की तीव्रता जितनी अधिक होती है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उसे उतना ही कम लाभ मिलता है। यदि हमारी वस्तुओ के लिए विदेशियो की माग अधिक तीव्र नही है और हमारी माग विदेशी वस्तुओ के लिए अधिक तीव्र है तो ऐसी दशा मे हमारे देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से बहुत कम लाभ मिलेगा। प्रो० टॉजिग (Taussig) के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सबसे अधिक लाभ उस देश को होता है जिसकी निर्यातो की माग अधिक होती है और आयातो के लिए जिसकी अपनी माग बहुत कम होती है। उस देश को सबसे कम लाभ होता है जिसकी दूसरे देशो के द्वारा उत्पादित वस्तुओ की माग अत्यन्त तीव्र होती है।"[10]

(२) निर्यात उद्योगों मे श्रम की कार्यकुशलता (Efficiency of Labour in Export Industries)—किसी देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाला लाभ इस बात पर भी निर्भर होता है कि उसके निर्यात उद्योगो मे लगे हुए श्रमिक किसी देश मे जितने अधिक कार्यकुशल होते है उतनी ही इन वस्तुओ की कीमत कम आती है और उस देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उतना ही अधिक लाभ प्राप्त होता है। श्रमिको की कार्यकुशलता मे होने वाली प्रत्येक वृद्धि तुलनात्मक लागत के अन्तर को बढाकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ मे वृद्धि करती है। प्रो० टॉजिग का विचार है कि श्रम की कार्यकुशलता बढने पर वस्तुओ की लागत कम होती है, जिसके कारण इनकी वस्तुओ की माग बढती है और देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाला लाभ बढ जाता है।

---

10 'That country gains most from international trade whose exports are most in demand, and which itself has little demand for the things it imports, i. e. for the exports of other countries. That country gains least which has the most insistent demand for the production of other countries."

—Taussig

परीक्षा प्रश्न

(१) आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मध्य भेद कीजिए और यह बतलाइये कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भाग लेने से क्या लाभ होते हैं ?

(आगरा बी० ए० १९६५)

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से किस प्रकार लाभ होता है ? यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभदायक है तो देश आत्मनिर्भर क्यों बनना चाहता है ?

(आगरा बी० ए० १९६४)

(३) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक-व्यय सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये। (आगरा बी० ए० १९६०, बिहार बी० ए० १९५८)

(४) तुलनात्मक व्यय सिद्धान्त का आलोचनापूर्ण विवेचन करिये और यह बताइये कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन का यह किस सीमा तक स्पष्टीकरण करता है ? (राजस्थान बी० ए० १९५९, आगरा बी० ए० १९५८)

(५) "आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मध्य कोई विशेष भेद नहीं है और इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए किसी विशेष सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है।" इस कथन की विवेचना करिये।

(राजस्थान बी० काम १९५६)

२५

भुगतान सन्तुलन

BALANCE OF PAYMENTS

किसी देश की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी स्थिति को जानने के लिए उसके 'व्यापार सतुलन' (Balance of Trade) अथवा 'भुगतान सतुलन (Balance of Payments) का अध्ययन करना होता है। 'व्यापार सतुलन' का विचार काफी प्राचीन है किन्तु उसकी सहायता से हम देश की अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन सम्बन्धी स्थिति का सम्पूर्ण ज्ञान नही प्राप्त कर सकते है। इसके विपरीत 'भुगतान सतुलन' (Balance of Payments) अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की स्थिति का अध्ययन करने का अधिक वैज्ञानिक तरीका है। इसीलिए आजकल विभिन्न देशो की अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन स्थिति को उनके 'भुगतान सतुलन' के द्वारा जाना जाता है। भुगतान सतुलन का विस्तृत अध्ययन करने से पूर्व 'व्यापार सतुलन' तथा 'भुगतान सतुलन' के अन्तर को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

'व्यापार सतुलन' (Balance of Trade)—

साधारण शब्दो मे किसी देश का 'व्यापार सतुलन' उस देश की आयातो तथा निर्यातो के सम्बन्ध को बतलाता है। वह एक ऐसा विवरण होता है जिसमे वस्तुओं के आयात तथा निर्यात का विस्तृत ब्यौरा दिया जाता है। व्यापार सतुलन मे केवल दृश्य निर्यातो तथा आयातों (Visible Exports and Imports) को ही सम्मिलित किया जाता है और अदृश्य निर्यातो तथा आयातों (Invisible Exports and Imports) का उसमे कोई हिसाब नही रखा जाता है। किसी देश का व्यापार सतुलन उसके अनुकूल अथवा प्रतिकूल हो सकता है। अनुकूल व्यापार सतुलन (Favourable Balance of Trade) उस स्थिति को कहते हैं जब देश से होने वाली निर्यातो का मूल्य आयातो के मूल्य से अधिक रहता है। इसके विपरीत व्यापार अनुकूल प्रतिकूल तब होता है जब देश मे निर्यातो की अपेक्षा अधिक मूल्य के आयात किये जाते हैं। व्यापार संतुलन का अनुकूल होना देश की आर्थिक समृद्धि के लिए आवश्यक समझा जाता था क्योकि ऐसी दशा में सोना विदेशों से उस देश

मे आने लगता था। व्यापार सतुलन का प्रतिकूल होना देश की आर्थिक कमजोरी को बतलाता था क्योंकि इस स्थिति में सोना देश से बाहर जाने लगता था। अनुकूल तथा प्रतिकूल व्यापार सतुलन का विचार काफी प्राचीन है और वह मरकेंटिलिस्ट (Mercantilist) विचारधारा से सम्बन्धित रहा है। मरकेंटिलिस्ट विचारकों के अनुसार किसी देश को धनी के लिए अपने व्यापार सतुलन को पक्ष मे रखना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से सोना तथा अन्य धन विदेशों से उस देश मे आयेगा। इसके विपरीत, प्रतिकूल व्यापार सतुलन की दशा मे देश को अधिक आयातों का भुगतान करने के लिए सोना बाहर भेजना होता है। यद्यपि प्राचीन समय मे व्यापार सतुलन को पक्ष मे रखने पर बहुत अधिक जोर दिया जाता था किन्तु ऐसा करना व्यवहारिक दृष्टि से असम्भव था। व्यापार सतुलन का विचार अवैज्ञानिक था क्योंकि उसके द्वारा देश की अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन स्थिति का सही ज्ञान प्राप्त नही किया जा सकता था। अब व्यापार सतुलन के स्थान पर भुगतान सतुलन का प्रयोग किया जाने लगा है।

'भुगतान सतुलन' (Balance of Payments)—

'भुगतान सतुलन' 'व्यापार सतुलन' से पूर्णतया भिन्न होता है। व्यापार सतुलन मे तो केवल वस्तुओं के आयात तथा निर्यात को ही सम्मिलित किया जाता है किन्तु भुगतान सतुलन मे व्यापार सतुलन के अतिरिक्त भुगतान की अन्य मदों को भी सम्मिलित किया जाता है। भुगतान सतुलन किसी देश के अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन के सम्पूर्ण विवरण को कहते है। एक देश को विदेशों से जितने भुगतान लेन होते है तथा अन्य देशों को उस जितने भुगतान करने होते हैं, उनके विस्तृत लेखे को ही उस देश का भुगतान सतुलन कहा जाता है। प्रो० बेनहाम (Benham) के अनुसार "एक देश का भुगतान सतुलन एक निश्चित काल के भीतर उसके बाकी विश्व के साथ मौद्रिक सौदा का लेखा होता है।"[1] जबकि व्यापार सतुलन मे केवल दृश्य मदो (Visible Items) को ही सम्मिलित किया जाता है, भुगतान सतुलन मे दृश्य तथा अदृश्य (Visible and Invisible) दोनो प्रकार की मदें सम्मिलित होती हैं। इस प्रकार भुगतान सतुलन हमें किसी देश के अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन का सम्पूर्ण ज्ञान कराता है। व्यापार सतुलन का विचार प्रारम्भिक काल मे अधिक उपयुक्त था क्योंकि उस समय दो देशों के सम्बन्ध केवल वस्तुओं के आयात तथा निर्यात तक ही सीमित थे किन्तु समय के साथ-साथ विभिन्न देशों के सम्बन्ध अधिक जटिल होते गये। देशों में अन्य प्रकार के सम्बन्ध स्थापित होने लगे, विभिन्न राष्ट्र एक दूसरे को ऋण देने लगे, देशों के बीच अन्य प्रकार की सेवाओं का आयात तथा

---

1 "Balance of Payments of a country is a record of its monetary transactions, over a period, with the rest of the world."

—*Benham* : Economics, P. 495.

निर्यात किया जाने लगा और एक देश के लोग दूसरे देशो को आने-जाने लगे जिनके परिणामस्वरूप विभिन्न देशो के बीच अन्य प्रकार के नये भुगतान आरम्भ हो गये। व्यापार सतुलन मे ऋणो की राशि तथा उन पर दिये जाने वाले ब्याज, यात्रियो के द्वारा किये जाने वाले व्यय तथा अन्य प्रकार की अदृश्य मदो को सम्मिलित नही किया जाता था। इसलिए नई स्थिति मे व्यापार सतुलन विभिन्न देशो की लेन-देन स्थिति का सम्पूर्ण ज्ञान कराने मे असमर्थ था। अत यह अनुभव किया गया कि हमे केवल किसी देश के व्यापार सतुलन का अध्ययन नही करना चाहिए बल्कि उसके सम्पूर्ण लेन-देन का अध्ययन किया जाना चाहिए। ऐसी दशा मे 'भुगतान सतुलन' ही हमे किसी देश की अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन स्थिति का अधिक सही ज्ञान करा सकता है।

किसी देश के लिए व्यापार सतुलन की अपेक्षा उसका भुगतान संतुलन अधिक महत्वपूर्ण होता है। व्यापार सतुलन के अध्ययन से देश की आर्थिक स्थिति का सही अनुमान नही लगाया जा सकता है। केवल भुगतान सतुलन ही देश की अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन स्थिति का सही-सही ज्ञान हमे करा सकता है। किसी देश का व्यापार सतुलन अनुकूल तथा प्रतिकूल हो सकता है किन्तु दीर्घकाल मे देश के भुगतान सतुलन का सतुलित होना आवश्यक है। व्यापार सतुलन का अनुकूल अथवा प्रतिकूल होना हमे देश की आर्थिक स्थिति के विषय मे कुछ नही बताता है। यद्यपि प्राचीन समय मे व्यापार सतुलन का पक्ष मे होना देश की आर्थिक समृद्धि का प्रमाण समझा जाता था किन्तु आजकल यह विचार अधिक उपयुक्त नही है। व्यापार सतुलन का पक्ष मे होना देश की आर्थिक उन्नति का चिन्ह नही होता है। द्वितीय विश्व-युद्ध काल से पूर्व भारत का व्यापार सतुलन इङ्गलैंड के साथ निरन्तर पक्ष मे रहता था किन्तु फिर भी भारत आर्थिक दृष्टि से पिछडा हुआ तथा गरीब देश था। व्यापार सतुलन पक्ष मे होते हुए भी हमारा भुगतान सतुलन विपक्ष मे रहता था जिसके कारण प्रतिवर्ष काफी भुगतान हमारे देश के ऊपर बाकी होता जाता था। आजकल ऐसे बहुत-से देश हैं जिनका व्यापार सतुलन तो प्रतिकूल रहता है किन्तु फिर भी वे आर्थिक दृष्टि से काफी उन्नत है। ऐसे देशो का व्यापार सतुलन विपक्ष मे होते हुए भी भुगतान सतुलन उनके अनुकूल होता है। इन देशो को सेवाओ के निर्यात के बदले मे तथा विदेशो मे विनियोग की हुई पूँजी पर ब्याज के रूप मे काफी भुगतान प्राप्त होते है जिसके कारण इनका व्यापार सतुलन प्रतिकूल होते हुए भी भुगतान सतुलन इनके पक्ष मे रहता है। उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि किसी देश की आर्थिक समृद्धि उस देश के भुगतान सतुलन की स्थिति पर निर्भर होती है। भुगतान सतुलन पक्ष मे होने से देश के ऋण दूसरे देशो पर वाजिब होते चले जाते है और वह देश ऋणदाता बन जाता है। अमेरिका आजकल इसी स्थिति मे है। इसके विपरीत भुगतान सतुलन का विपक्ष मे होना

देश को ऋणी बनाता है। अत. किसी देश की आर्थिक स्थिति का सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमे उसके भुगतान सतुलन का अध्ययन करना चाहिए।

भुगतान संतुलन की मदें (Items of Balance of Payments)—

भुगतान सतुलन किसी देश की लेन-देन सम्बन्धी मदो का सम्पूर्ण विवरण होता है। उसमे उन सब मदो को सम्मिलित किया जाता है जिनके लिए किसी देश को भुगतान देने होते है अथवा लेने होते हैं। भुगतान सतुलन बहीखाते के पृष्ठ की तरह का एक विवरण होता है जिसमे विदेशी लेन देन का सम्पूर्ण हिसाब रक्खा जाता है। इस विवरण (Statement) की बाँई ओर दृश्य तथा अदृश्य निर्यातो के मूल्य दिये जाते हैं और दाँई ओर दृश्य तथा अदृश्य दोनो प्रकार के आयातो के मूल्य लिखे जाते हैं। व्यापार सतुलन के बाँई ओर दी गई मदो के मूल्यो का कुल योग उस राशि को बतलाता है जो अमुक देश को विदेशियो से प्राप्त करनी होती है तथा दाँई ओर दी गई मदो के मूल्यो का योग उस देश के द्वारा विदेशियो को भुगतान की जाने वाली राशि को बतलाता है। बाँई तथा दाँई ओर की राशियो के अन्तर से हम देश के भुगतान सतुलन की स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यदि भुगतान सतुलन के दोनो ओर की राशियाँ बराबर हैं अथवा देश को विदेशियो से उतना ही लेना है जितना कि उन्हे देना है तो ऐसी स्थिति मे देश का 'भुगतान सतुलन' सतुलित होता है। यदि इस विवरण मे बाँई ओर का योग दाँई ओर के योग से अधिक होता है तो भुगतान सतुलन देश के पक्ष मे होता है किन्तु यदि दाँई ओर की राशि बाँई ओर की राशि की अपेक्षा अधिक है तो भुगतान सतुलन देश के प्रतिकूल होता है। भुगतान सतुलन का एक काल्पनिक नमूना नीचे दिया गया है।

भुगतान संतुलन
(Balance of Payments)

लेन (Credits)	देन (Debits)
(१) वस्तुओ का निर्यात।	(१) वस्तुओ का आयात।
(२) सेवाओ का निर्यात।	(२) सेवाओ का आयात।
(i) व्यापारिक कम्पनियो की सेवाये।	(i) व्यापारिक कम्पनियो की सेवायें।
(ii) विशेषज्ञ तथा अधिकारियो की सेवायें।	(ii) विशेषज्ञ तथा अन्य अधिकारियो की सेवायें।
(३) विदेशी ऋणो तथा विनियोगो से प्राप्त होने वाली आय।	(३) विदेशी ऋणो व पूँजी का भुगतान तथा उन पर दिया जाने वाला ब्याज।

(४) विदेशी यात्रियो तथा विद्यार्थियो द्वारा देश मे किया जाने वाला व्यय ।	(४) यात्रियो तथा विद्यार्थियो के द्वारा विदेशो मे किया जाने वाला व्यय ।
(५) विदेशियो से प्राप्त होने वाले मुआवजे, युद्ध-व्यय, दान, दण्ड इत्यादि ।	(५) विदेशो को दिया जाने वाला मुआवजा, दान, दण्ड, युद्ध-व्यय आदि ।
(६) अन्य प्रकार के भुगतान जो विदेशियो से प्राप्त होते हैं ।	(६) अन्य प्रकार के भुगतान जो विदेशियो को किये जाने है ।

भुगतान सतुलन मे सम्मिलित होने वाली मुख्य-मुख्य मदे निम्नलिखित है—

(१) वस्तुओ का आयात तथा निर्यात (Import and Export of Goods)—अधिकाश विदेशी भुगतान वस्तुओ के आयात तथा निर्यात के कारण उत्पन्न होते है । प्रत्येक देश को उन वस्तुओ के लिए भुगतान करना होता है जिन्हे वह विदेशो से आयात करता है और उसके द्वारा निर्यात की गई वस्तुओ के लिए उसे विदेशो से भुगतान प्राप्त होता है । वस्तुओ के आयात तथा निर्यात का देश के भुगतान सतुलन पर गहरा प्रभाव पडता है । यदि कोई देश बहुत अधिक आयात करता है और उसकी निर्यातो की मात्रा कम है तो ऐसी दशा मे उसके भुगतान सतुलन की प्रवृत्ति विपक्ष मे होने की होती है । इसके विपरीत निर्यातो का आयातो से अधिक होना भुगतान सतुलन को पक्ष मे लाने की प्रवृत्ति रखता है ।

(२) सेवाओं का आयात तथा निर्यात (Export and Import of Services)—वस्तुओ के अतिरिक्त प्रत्येक देश विभिन्न प्रकार की सेवाओ का निर्यात तथा आयात भी करता है । निर्यात की गई सेवाओ के बदले मे उसे भुगतान प्राप्त होता है तथा आयात की गई सेवाओ के लिए भुगतान देना होता है । इन सेवाओ के अन्तर्गत जहाजी कम्पनियो, बैंक, बीमा कम्पनियो तथा अन्य प्रकार की व्यवसायिक कम्पनियो की सेवाये सम्मिलित होती है । यदि कोई देश विदेशी जहाजो, बैंको तथा बीमा कम्पनियो की सेवाओ का प्रयोग करता है तो उसे विदेशो को इन सेवाओ के लिए भुगतान करना होता है । यदि अन्य देश हमारे बैंको, बीमा कम्पनियो तथा जहाजो का प्रयोग करते हैं तो हमे उनके लिए भुगतान प्राप्त होता है । व्यवसायिक कम्पनियो की सेवाओ के अतिरिक्त विशेषज्ञो, इजीनियरो तथा अधिकारियो की सेवाओ का आयात तथा निर्यात भी किया जाता है ।

(३) यात्रियों के द्वारा किया जाने वाला व्यय (Tourists Expenses)—भुगतान सन्तुलन मे यात्रियो के द्वारा किया जाने वाला व्यय भी सम्मिलित होता है । विदेशी यात्रियो के द्वारा हमारे देश मे व्यय किये जाने के कारण हमे विदेशो से भुगतान प्राप्त होते हैं । जब अमेरिकन यात्री हमारे देश मे आते है तो उनके द्वारा

प्रयोग की गई वस्तुओं तथा सेवाओं का हम एक प्रकार से अमेरिका को निर्यात करते हैं जिसके लिए हमें अमेरिका से भुगतान प्राप्त होना है। यदि हमारे यात्री विदेशों को जाते हैं तो हमें उनके द्वारा प्रयोग की गई वस्तुओं तथा सेवाओं के लिए भुगतान करना होता है।

(४) ऋणों का लेन देन (Granting of Loans)—जब कोई देश दूसरे देश को ऋण देता है तो उसे तुरन्त उस ऋण की राशि को ऋण लेने वाले देश को हस्तान्तरित करना होता है जिसका प्रभाव भुगतान सन्तुलन को प्रतिकूल करने का रहता है। इसके विपरीत जिस देश को विदेशों से ऋण मिलते हैं उसका भुगतान सन्तुलन पक्ष में जाने की प्रवृत्ति रखता है। इन ऋणों को जब वापस लौटाया जाता है तो भुगतान सन्तुलन पर इससे ठीक उलटा प्रभाव पड़ता है। जब विदेशों से ऋण वापस लौटते हैं तो वे भुगतान सन्तुलन को पक्ष में लाते हैं किन्तु जब विदेशी ऋणों को लौटाया जाता है तो उसकी प्रवृत्ति भुगतान सन्तुलन को विपक्ष में करने की होती है।

(५) ऋणों पर तथा विदेशी पूँजी पर ब्याज (Interest Charges)—हमारे देश में जो विदेशी पूँजी लगी होती है उस पर हमें ब्याज देना होता है जिसे भुगतान सन्तुलन के दाईं ओर दिखलाया जाता है क्योंकि इसके लिए हमें विदेशों को भुगतान करना होता है। जिन देशों की पूँजी विदेशों में लगी होती है, उन्हें विदेशी विनियोगों पर ब्याज प्राप्त होना है। विदेशों से प्राप्त होने वाला ब्याज देश की लेनदारी को बढ़ाता है जिसके कारण भुगतान सन्तुलन की प्रवृत्ति पक्ष में होने की होती है।

(६) अन्य प्रकार के भुगतान (Miscellaneous Items)—आजकल देशों को कुछ अन्य मदों के लिए भी भुगतान लेने तथा देने होते हैं। यह मदें इस प्रकार हैं—(i) दान तथा आर्थिक सहायता—जब कोई देश दूसरे देशों को आर्थिक सहायता अथवा दान इत्यादि देता है तो इसके लिए उसे विदेशियों को भुगतान करना होता है। जिस देश को इस प्रकार की सहायता मिलती है उसे विदेशों से भुगतान प्राप्त होते हैं। (ii) विद्यार्थियों के द्वारा किया जाने वाला व्यय—हमारे देश के विद्यार्थी जब अन्य देशों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाते हैं तो हमें उनके लिए विदेशों को भुगतान करना होता है। इसके विपरीत जो विदेशी विद्यार्थी हमारी शिक्षा संस्थाओं में विद्या प्राप्त करने आते हैं उनके लिए हमें विदेशों से भुगतान प्राप्त होते हैं। (iii) आवास तथा प्रवास (Emigration)—जब एक देश के लोग दूसरे देशों में बसने के लिए जाते हैं तो वे अपने साथ अपना धन तथा जमा-राशि भी ले जाते हैं जिसके कारण देश में देनदारी बढ़ती है। यदि विदेशों से लोग बसने के लिए हमारे देश में आते हैं तो वे अपना धन भी अपने साथ लाते हैं जिससे देश की लेनदारी बढ़ती है। (iv) युद्ध व्यय, जुर्माने, दण्ड इत्यादि—

कभी-कभी जीतने वाले देश पराजित देशो से युद्ध-व्यय, जुर्माने तथा दण्ड आदि वसूल करते है जिसका इन देशो के भुगतान सन्तुलन पर बडा खराब प्रभाव पडता है। जिन देशो को इस प्रकार के भुगतान प्राप्त होते है उनका भुगतान सन्तुलन पक्ष मे हो जाता है।

आयातों तथा निर्यातो के समान होने की प्रवृत्ति (Imports and Exports tend to be equal)—किसी देश की वस्तुओं की आयात तथा निर्यात का बराबर होना आवश्यक नही है किन्तु दीर्घकाल मे प्रत्येक देश की कुल निर्यातो (दृश्य तथा अदृश्य) का मूल्य उसके द्वारा की गई कुल आयातो (दृश्य तथा अदृश्य) के मूल्य के बराबर होना आवश्यक है। दीर्घकाल मे प्रत्येक देश को सामान्य रूप से अपने ऋणो का भुगतान कर देना चाहिए। लम्बे समय मे एक देश की कुल लेनदारी उसकी कुल देनदारी के बराबर होनी चाहिए। कुछ वर्षों के लिए किसी देश के आयात उसके निर्यातो से अधिक हो सकते हैं किन्तु दीर्घकाल मे वे एक दूसरे के बराबर होने चाहिएँ।

दीर्घकाल मे भुगतान सन्तुलन का अनुकूल तथा प्रतिकूल होना सम्भव नही है क्योकि एक देश की लेन (Credits) तथा देन (Debits) लम्बे समय मे एक दूसरे के बराबर होने चाहिएँ। यदि किसी देश को उससे अधिक भुगतान प्राप्त होते है जितने कि वह देता है तो राशि अन्य देशो मे जमा होने लगती है। दूसरे शब्दो मे, वह देश दूसरे देशो को ऋण देता जाता है। भुगतान सन्तुलन मे क्योकि ऋणो को भी सम्मिलित किया जाता है, इसलिए उस देश के द्वारा दिये गये इन ऋणो को सम्मिलित करने से उसका 'भुगतान सन्तुलन' सन्तुलित हो जाता है। भुगतान सन्तुलन का अनुकूल तथा प्रतिकूल होना केवल एक अल्पकालीन घटना है। दीर्घकाल मे देश के भुगतान सन्तुलन का सन्तुलित होना स्वाभाविक है क्योकि प्रत्येक देश को आयातो के मूल्य को निर्यातो के द्वारा चुकाना पडता है।

प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को ठीक करने के उपाय

यद्यपि दीर्घकाल मे भुगतान सन्तुलन स्वय सन्तुलित होने की प्रवृत्ति रखता है किन्तु अल्पकाल मे वह किसी देश के अनुकूल (Favourable) तथा प्रतिकूल (Unfavourable) हो सकता है। जिस देश का भुगतान सन्तुलन पक्ष मे रहता है उसे आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली समझा जाता है किन्तु किसी देश के भुगतान सन्तुलन का निरन्तर विपक्ष मे रहना उसके दिवालिया होने की निशानी है। यदि किसी देश का भुगतान सन्तुलन कुछ वर्षों के लिए प्रतिकूल रहता है तो सम्भव हो सकता है कि वह देश उसकी चिन्ता न करे किन्तु यदि उसका भुगतान सन्तुलन वर्ष प्रतिवर्ष उसके प्रतिकूल चलता रहता है तो उस देश को अपने भुगतान सन्तुलन को ठीक करने के लिए कुछ उपाय करने होते हैं। प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को ठीक करने के लिए निम्नलिखित उपाय किये जा सकते है—

(१) निर्यात प्रोत्साहन (Export Promotion)—निर्यातो को प्रोत्साहन देकर भुगतान सन्तुलन को ठीक करने का उपाय सबसे अच्छा है क्योकि इसके द्वारा एक देश अपनी निर्यातो को बढ़ाकर अधिक आयातो के लिए भुगतान करने का प्रयत्न करता है। निर्यात प्रोत्साहन के लिए एक देश अपने उद्योगपतियो तथा निर्यातकर्त्ताओ को आर्थिक सहायता दे सकता है जिससे कि वे अपनी वस्तुओ को कम मूल्य पर बेच कर विदेशी बाजारो मे प्रतियोगिता कर सकें। सरकार प्राय विदेशी बाजारो में वस्तुओ को कम मूल्य पर बेचने से होने वाली हानि का कुछ भाग स्वय देने का निश्चय कर लेती है। इस प्रकार की आर्थिक सहायता (Export Bounties) या तो उत्पादको को दी जाती है अथवा निर्यातकर्त्ताओ को। निर्यातो को आर्थिक सहायता देने का उपभोक्ताओ पर तो बुरा प्रभाव नही पडता है किन्तु करदाताओ पर इसका बुरा प्रभाव पडता है क्योकि उन्हे अधिक मात्रा मे कर देने पडते हैं। अत आर्थिक सहायता के द्वारा निर्यातो को प्रोत्साहित करने की सरकार की शक्ति सीमित होती है। निर्यात करो मे कमी करके अथवा उन्हे बिल्कुल हटा कर भी सरकार निर्यातो को प्रोत्साहन दे सकती है।

(२) आयातों पर प्रतिबन्ध लगाना (Restriction of Imports)—भुगतान सन्तुलन को ठीक करने के लिए एक दूसरा प्रभावशाली तरीका देश की आयातो को कम करना है। आयातो की मात्रा को कम करने के लिए आयातो पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध अथवा कर लगाये जाते है। आयातो को कम करने के विभिन्न उपाय इस प्रकार है—(i) आयात कर लगाना (Imposing Import Duties)—आयातो को कम करने के लिए सरकार नये आयात-कर लगा सकती है अथवा वर्तमान करो म वृद्धि कर सकती है। आयात करो म आयातो क मूल्य बढ जाने के कारण उनकी माग कम हो जाती है किन्तु इनका उपभोक्ताओ के ऊपर बुरा प्रभाव पडता है क्योकि उन्हे वस्तुओ के अधिक मूल्य देने पडते है। (ii) आयात अभ्यश (Import Quotas)—आयात कम करने के लिए विदेशो से आने वाली वस्तुओ के कोटा निश्चित किये जा सकते हैं जिससे अधिक मात्रा मे इन वस्तुओ का आयात देश में नहीं किया जा सकता है। आयात कोटा प्राय दो प्रकार के हो सकते हैं—(अ) एकपक्षीय कोटा (Unilateral Quotas)—इस प्रकार की कोटा प्रणाली मे केवल एक देश अपनी आयात सम्बन्धी कोटे निश्चित करता है और आयातो पर प्रतिबन्ध लगाता है। इस प्रकार के कोटे दो प्रकार के हो सकते है—(१) ससारिक कोटा (Global Quota)—इसमे सरकार किसी वस्तु की समस्त देशो से होने वाली आयात की मात्रा निश्चित कर देती है और यह मात्रा किसी भी देश से मंगाई जा सकती है। (२) विभाजित कोटा (Allocated Quota)—इस प्रणाली मे सरकार विभिन्न देशो से वस्तु की आयात की जाने वाली मात्रा निश्चित कर देती है और उसके अनुसार ही आयात किया जाता है। (ब) द्विपक्षीय कोटा (Bilateral Quotas)—इसके अन्तर्गत आयातो पर लगाये जाने वाले प्रतिबन्ध दो देशो के

आपसी समझौते के द्वारा निश्चित किये जाते है। इस प्रकार का एक समझौता भारत तथा जापान के बीच सन् १६३४ मे हुआ था। (स) टैरिफ कोटा (Tariff Quotas)—इस व्यवस्था मे सरकार एक निश्चित मात्रा तक वस्तु का आयात किसी देश-विशेष से आयात-कर की रियायती दर पर करने देती है किन्तु उससे अधिक मात्रा मे आयात करने पर आयात-कर की बहुत ऊँची दर ली जाती है। (द) लाइसेंस प्रणाली (Licensing System)—आयात नियन्त्रण की यह प्रणाली आजकल बहुत प्रचलित हो रही है। इस प्रणाली के अन्तर्गत केवल लाइसेंस प्राप्त व्यापारी ही वस्तु का आयात कर सकते है। सरकार आवश्यकता के अनुसार तथा व्यापार सन्तुलन की स्थिति को ध्यान मे रखकर विभिन्न व्यापारियो को आयात के लिए लाइसेन्स देती है।

(३) अवमूल्यन (Devaluation)—मुद्रा के अवमूल्यन के द्वारा भी एक देश अपने प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को ठीक कर सकता है। अवमूल्यन से अभिप्राय देश की मुद्रा के विदेशी मूल्य को कम करने से होता है। अवमूल्यन के द्वारा देश की निर्यातो को प्रोत्साहन दिया जा सकता है तथा आयातो की मात्रा को कम किया जा सकता है। अवमूल्यन का परिणाम यह होता है कि विदेशी अपनी मुद्रा से अवमूल्यन करने वाले देश मे पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे वस्तुये खरीद सकते हैं। उस देश की वस्तुये उनके लिए सस्ती हो जाती हैं जिससे निर्यातो को प्रोत्साहन मिलता है और उनकी मात्रा बढने लगती है। इसके साथ ही अवमूल्यन करने वाले देश के लिए विदेशी वस्तुयें महगी हो जाती है और उनका आयात कम होने लगता है। अतः अवमूल्यन से निर्यात बढती है और आयात कम हो जाती है जिससे भुगतान सन्तुलन ठीक हो जाता है। सितम्बर सन् १६४६ मे इगलैंड ने अपनी भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी कठिनाई को दूर करने के लिए डॉलर के सम्बन्ध मे पाउन्ड (£) का अवमूल्यन किया जिसके परिणामस्वरूप पाउन्ड का मूल्य ४·०३ डॉलर से घटाकर २·८ डॉलर कर दिया गया। अन्य कामनवैल्थ देशो ने भी अपनी-अपनी मुद्राओ का अवमूल्यन किया। इस अवमूल्यन के द्वारा यह देश अपने भुगतान सन्तुलन के घाटे को दूर करने मे सफल रहे हैं। यद्यपि अवमूल्यन भुगतान सन्तुलन को ठीक करने का अत्यन्त प्रभावशाली उपाय है किन्तु इसका प्रयोग बहुत कम किया जाना चाहिए क्योकि इससे देश के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान को हानि पहुँचती है। जब अन्य उपाय सफल न हो तब ही इस उपाय का प्रयोग किया जाना चाहिए।

(४) मुद्रा संकुचन (Deflation)—मुद्रा सकुचन के द्वारा भी एक देश अपनी वस्तुओ को दूसरे देशो के लिए सस्ती कर सकता है और निर्यातो को प्रोत्साहन दे सकता है। देश मे मुद्रा की मात्रा को कम करके मूल्य-स्तर को अन्य देशों की अपेक्षा नीचा किया जा सकता है। मूल्य-स्तर नीचा होने से हमारी वस्तुयें विदेशियो के लिए सस्ती हो जाती हैं और हमारी निर्यात बढती है। इसके साथ ही विदेशी

वस्तुओं के मूल्य ऊँचा होने के कारण आयातों की मात्रा कम हो जाती है। इस प्रकार मुद्रा-सकुचन से प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को ठीक करना सम्भव है किन्तु इस विधि का प्रयोग प्रायः नहीं किया जाता है क्योंकि इससे देश में बेरोजगारी, उत्पादन का गिरना तथा अन्य प्रकार की आर्थिक बुराइयाँ पैदा हो सकती हैं।

(५) विदेशी विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)—विनिमय नियन्त्रण भुगतान सन्तुलन को ठीक करने की सबसे अच्छी विधि समझी जाती है। यह विधि प्रभावशाली भी अधिक होती है और अन्य विधियों के दोषों से मुक्त है। मुद्रा का अवमूल्यन करने से राष्ट्रीय सम्मान को हानि पहुँचती है, मुद्रा सकुचन से देश में उत्पादन गिरता है तथा बेरोजगारी फैलने का भय रहता है, प्रशुल्क तथा अन्य प्रकार के आयात नियन्त्रण विभिन्न देशों में बुरी प्रतियोगिता पैदा करते हैं किन्तु विनिमय नियन्त्रण इन सब दोषों से मुक्त है। इसीलिए आजकल लगभग सभी देशों के द्वारा विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग किया जाता है। विदेशी विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत सरकार विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय का अधिकार स्वय ले लेती है और विदेशी मुद्रा का स्वतन्त्र बाजार बन्द कर दिया जाता है। विदेशी विनिमय प्राप्त करने वालों के लिए यह अनिवार्य होता है कि वह समस्त विदेशी विनिमय केन्द्रीय बैंक को बेच दे। जिन लोगों को विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है वे उसे केवल केन्द्रीय बैंक से ही प्राप्त कर सकते है। इस प्रकार विदेशी विनिमय सम्बन्धी सौदों पर सरकारी नियन्त्रण रहता है। किसी निश्चित काल में केवल उतना ही विदेशी विनिमय खर्च किया जाता है जितना कि उपलब्ध होता है और भुगतान सन्तुलन के असन्तुलित होने का भय लगभग समाप्त हो जाता है। यद्यपि विनिमय नियन्त्रण भुगतान सन्तुलन को ठीक करने की काफी प्रभावशाली विधि है किन्तु उसके कारण विदेशी व्यापार में बाधायें उत्पन्न होती हैं तथा व्यापारियों को असुविधा रहती है। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी विनिमय नियन्त्रण प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को ठीक करने की सर्वश्रेष्ठ विधि है।

परीक्षा प्रश्न

(१) 'भुगतान संतुलन' के क्या-क्या अङ्ग हैं ? विपरीत भुगतान सतुलन के सुधारने के क्या उपाय हैं ? (आगरा बी० ए० १९६४)

(२) व्यापार संतुलन और शोधनाधिक्य मे क्या भेद है ? इस भेद का महत्व बताइये। (आगरा बी० ए० १९५७)

(३) 'भुगतान संतुलन' से आप क्या समझते हैं ? किसी देश के भुगतान संतुलन मे प्रतिकूलता क्यों उदय होती है और इसे किस प्रकार सुधारा जा सकता है ? (आगरा बी० ए० १९५४)

(४) "निर्यात आयातों का भुगतान करते हैं" (Exports Pay for Imports)—स्पष्ट कीजिए कि यह किस प्रकार सम्भव होता है ? अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो में मुद्रा का क्या भाग है ? (आगरा बी० कॉम १९५८)

(५) 'भुगतानों' के सतुलन से क्या आशय है ? भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता का सुधार करने के उपायों का वर्णन करिये। (इलाहाबाद बी० कॉम १९५६)

२६

मुक्त व्यापार एवं संरक्षण

FREE TRADE AND PROTECTION

प्रत्येक देश अपने आर्थिक हितों को ध्यान में रखते हुए एक उचित व्यापारिक नीति (Trade Policy) को अपनाने का प्रयत्न करता है। किसी देश के द्वारा कौन-सी व्यापारिक नीति अपनाई जानी चाहिए, यह बहुत कुछ इस बात के ऊपर निर्भर होता है कि वह देश आर्थिक विकास की किस अवस्था में है। विभिन्न समय में भिन्न-भिन्न व्यापारिक नीतियों को अपनाने के पक्ष में तर्क दिये गए हैं, जिनके द्वारा हम इन नीतियों के आर्थिक महत्व को समझ सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में दो प्रकार की व्यापारिक नीतियाँ अधिक महत्वपूर्ण रही है—स्वतन्त्र व्यापार की नीति (Free Trade Policy) तथा संरक्षण की नीति (Policy of Protection)। व्यापारिक नीति के सम्बन्ध में कोई निश्चय करने से पूर्व यह आवश्यक है कि इन दोनों प्रकार की नीतियों की प्रकृति को भली प्रकार समझ लिया जाये तथा उनके पक्ष और विपक्ष में दिये जाने वाले विभिन्न तर्कों का विश्लेषण किया जाये।

स्वतन्त्र व्यापार का अर्थ (Meaning of Free Trade)—स्वतन्त्र व्यापार की नीति से अभिप्राय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्वतन्त्रता से होता है। इस प्रकार की व्यवस्था में विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं के आयात तथा निर्यात पर किसी भी प्रकार के कृत्रिम प्रतिबन्ध नहीं लगाये जाते हैं और वस्तुएँ स्वतन्त्रतापूर्वक एक देश से दूसरे देश में आ-जा सकती है। जब कोई देश अपने उद्योगों को संरक्षण देने के उद्देश्य से विदेशी व्यापार पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं लगाता है, तो उसकी व्यापारिक नीति को स्वतन्त्र व्यापार की नीति कहा जाता है। एडम स्मिथ (Adam Smith) के अनुसार स्वतन्त्र व्यापार, "व्यापारिक नीति की उस व्यवस्था को कहते हैं जो स्वदेशी और विदेशी वस्तुओं में किसी प्रकार का भेद नहीं करती है और इसलिए न तो विदेशी वस्तुओं पर कोई अतिरिक्त कर भार डाला जाता है और न स्वदेशी वस्तुओं को किसी प्रकार की विशेष सुविधाएँ दी जानी

है।"[1] इसका यह अभिप्राय नहीं कि वस्तुओं पर किसी प्रकार के कर नहीं लगाये जाते हैं बल्कि उन पर जो भी कर लगाये जाते हैं वे केवल आय प्राप्त करने के लिए होते हैं, अपने उद्योगों को संरक्षण देने के लिए नहीं। स्वतन्त्र व्यापार की नीति के अन्तर्गत प्रत्येक देश उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनके पैदा करने में वह विशेष रूप से उपयुक्त होता है। एल्सवर्थ (Ellsworth) के अनुसार, "स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत भौगोलिक विशिष्टीकरण की सम्भावनाओं से सम्पूर्ण लाभ उठाया जा सकता है।"[2]

संरक्षण का अर्थ (Meaning of Protection)—संरक्षण की नीति के अन्तर्गत विदेशी व्यापार की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है और विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं के आयात तथा निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं। संरक्षण की नीति को अपनाने वाला देश वस्तुओं, पूँजी तथा कच्चे माल के आयात-निर्यात पर रोक लगाकर अपने उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने का प्रयत्न करता है। अतः जब कोई देश अपने उद्योगों को संरक्षण देने के उद्देश्य से वस्तुओं की आयात तथा निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाता है, तो उसे संरक्षण की नीति कहा जाता है। संरक्षण की नीति का मुख्य उद्देश्य देश की अर्थ-व्यवस्था को विदेशी प्रतियोगिता के बुरे प्रभाव से बचाना होना है किन्तु कभी-कभी राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी उसका प्रयोग किया जा सकता है। टॉमस (Thomas) के अनुसार संरक्षण का एकमात्र उद्देश्य राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि करना होता है।

मुक्त व्यापार अथवा संरक्षण (Free Trade or Protection)—व्यापारिक नीति के रूप में मुक्त व्यापार अथवा संरक्षण दोनों में से कौन-सी नीति अधिक उपयुक्त है, इस सम्बन्ध में प्राचीन समय से ही काफी वाद-विवाद चला आ रहा है। मरकैन्टीलिस्ट (Mercantilist) के समय में संरक्षण की नीति को देश के हित में समझा जाता था और व्यापारिक प्रतिबन्ध एक सामान्य बात थी। एडम स्मिथ ने संरक्षण की नीति का कड़ा विरोध किया और स्वतन्त्र व्यापार की नीति के अपनाये जाने पर अधिक जोर दिया। इंगलैंड ने सर्वप्रथम मुक्त व्यापार की नीति को अपनाया क्योंकि वह उसके आर्थिक हित में थी। इंगलैंड की देखा-देखी अन्य देशों ने भी स्वतन्त्र व्यापार की नीति को अपना लिया। किन्तु कुछ समय पश्चात् यह अनुभव किया गया कि अविकसित देशों के लिए स्वतन्त्र व्यापार की नीति अधिक उपयुक्त नहीं है। अतः जर्मनी तथा अमेरिका के द्वारा संरक्षण की नीति को

---

1 "That system of commercial policy which draws no distinction between the domestic and foreign commodities and, therefore, neither imposes additional burdens on the latter; nor grants any special favours to the former." —*Adam Smith.*

2 "Free trade permits full advantage be taken out of the possibilities of geographical specialisation."

अपना लिया गया। सन् १८७० के पश्चात् जर्मन तथा अमेरिकन वस्तुओं की प्रतियोगिता के कारण इंगलैंड के लिए स्वतन्त्र व्यापार की नीति को जारी रखना कठिन हो गया और प्रथम महायुद्ध के पश्चात् उसने मुक्त व्यापार की नीति को त्याग दिया और विदेशी आयातों पर कर लगाने आरम्भ कर दिये। सन् १६३० की आर्थिक मन्दी (Depression) के पश्चात् सभी देशों ने मुक्त व्यापार की नीति को त्याग दिया और उसके स्थान पर संरक्षण की नीति को अपना लिया गया। आजकल संसार के सभी देशों ने संरक्षण की नीति को अपनाया हुआ है और स्वतन्त्र व्यापार का केवल एक ऐतिहासिक महत्व रह गया है।

स्वतन्त्र व्यापार के लाभ (Advantages of Free Trade)—

प्राचीन अर्थशास्त्री स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में थे और उन्होंने विदेशी व्यापार सम्बन्धी सभी बाधाओं को अनुचित बतलाया है। उन्होंने मुक्त व्यापार की नीति को अधिक महत्व इसलिए दिया क्योंकि उसके द्वारा श्रम विभाजन के सभी लाभों को प्राप्त किया जा सकता है। एडम स्मिथ ने स्वतन्त्र व्यापार को व्यापार करने वाले दोनों देशों तथा समस्त संसार के लिए उपयोगी बतलाया। उसके अनुसार विदेशी व्यापार पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्धों का होना आर्थिक दृष्टि से अनुचित है। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुक्त व्यापार से निम्नलिखित लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं—

(१) उत्पत्ति के साधनों का आदर्श वितरण (Ideal Distribution of Factors of Production)—स्वतन्त्र व्यापार के द्वारा उत्पत्ति के साधनों का संसार भर में अनुकूलतम वितरण होता है और इस प्रकार साधनों से अधिकतम लाभ उठाया जा सकता है। विदेशी प्रतियोगिता के कारण प्रत्येक देश उसी वस्तु को पैदा करता है, जिसके उत्पादन में उसकी कुशलता सबसे अधिक है और इसलिए वस्तुओं को न्यूनतम मूल्यों पर उत्पन्न किया जाता है क्योंकि प्रत्येक देश केवल उन्हीं वस्तुओं को उत्पन्न करता है, जिनके लिए वह सबसे अधिक उपयुक्त होता है इसलिए विभिन्न देशों में पाये जाने वाले साधनों का सर्वोत्तम प्रयोग करना सम्भव है, जिससे समाज में उत्पादन की मात्रा बढ़ती है।

(२) कार्यकुशलता में वृद्धि (Increased Efficiency)—अकुशल व्यवसाय अपने आप बन्द हो जाते हैं और केवल ऐसे ही उद्योग चलते हैं, जो कम लागत पर वस्तुओं का उत्पादन कर सकते हैं। अनियन्त्रित विदेशी प्रतियोगिता के कारण उद्योगों को अपनी कार्य-कुशलता का स्तर ऊँचा रखना होता है, जिसके लिए प्रत्येक देश के उत्पादक समय-समय पर अपनी उत्पादन विधि में सुधार करते रहते हैं। अतः मुक्त व्यापार की नीति उत्पादन सम्बन्धी सुधारों को प्रोत्साहित करती है।

(३) उपभोक्ता सस्ते मूल्यों पर वस्तुएं प्राप्त कर सकते हैं—स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि इस प्रकार की व्यापारिक नीति के

अन्तर्गत उपभोक्ताओं को सस्ते मूल्यों पर वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं। स्वतन्त्र स्पर्धा होने के कारण वे सस्ते से सस्ते बाजार में अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को खरीद सकते है। वस्तुओं पर आयात-कर न होने के कारण भी वस्तुओं के मूल्य कम रहते हैं, जो उपभोक्ताओं के हित में होता है।

(४) स्वतन्त्र व्यापार एकाधिकारों तथा औद्योगिक संगठनों को बनने से रोकता है—विदेशी प्रतियोगिता के भय के कारण देश में एकाधिकारी संघों के निर्माण में रुकावट पड़ती है, जिससे समाज औद्योगिक एकाधिकारों से उत्पन्न होने वाले दोषों से बच जाता है।

(५) संसार के देश एक दूसरे पर निर्भर हो जाते हैं, जिसके कारण उनके बीच पारस्परिक सद्भावना एवं सहानुभूति उत्पन्न होती है—प्रत्येक देश यह जानता है कि उसका आर्थिक हित दूसरे देशों के ऊपर निर्भर है, इसलिए वे सब मिलकर सामूहिक हितों के लिए कार्य करते है, जिससे सब देशों को लाभ होता है।

संरक्षण के पक्ष में तर्क (Arguments for Protection)—

यद्यपि स्वतन्त्र व्यापार से कुछ महत्वपूर्ण लाभ प्राप्त किये जा सकते है किन्तु उसमे कुछ ऐसे गम्भीर दोष भी हैं, जिनके कारण संसार के विभिन्न देशों के द्वारा उसका परित्याग कर दिया गया है और उसके स्थान पर संरक्षण की नीति को अपना लिया गया हैं। आजकल मुक्त व्यापार के समर्थक बहुत कम पाये जाते हैं और उसका केवल सैद्धान्तिक महत्व रह गया है। आर्थिक राष्ट्रवाद तथा नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था के कारण सभी देशों ने संरक्षण की नीति को अपना लिया है। सन् १७९१ में अमेरिकन अर्थशास्त्री हैमिल्टन (Hamilton) के द्वारा सर्वप्रथम संरक्षण के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया गया था। उसके पश्चात् एक दूसरे अमेरिकन अर्थशास्त्री कैरे (Carey) ने संरक्षण की नीति का बहुत अधिक समर्थन किया। जर्मनी मे फ्रैड्रिक लिस्ट (Fredrich List) ने अपने देश मे संरक्षण की नीति को अपनाने का जोरदार समर्थन किया। इस प्रकार अमेरिका तथा जर्मनी के द्वारा अपने उद्योगो का विकास करने के लिए सर्वप्रथम संरक्षण की नीति को अपनाया गया। प्रथम महायुद्ध के अन्त तक लगभग सभी देशों ने संरक्षण की नीति को अपना लिया।

संरक्षण के समर्थकों ने समय-समय पर संरक्षण की नीति के पक्ष मे बहुत-से तर्क दिये है। इनमें से अधिकांश तर्क मुक्त व्यापार की नीति की आलोचनाओं पर आधारित हैं। संरक्षण के पक्ष में दिये जाने वाले मुख्य तर्क इस प्रकार हैं—

(१) शिशु उद्योग तर्क (Infant Industries Argument)—संरक्षण के पक्ष मे यह तर्क सबसे शक्तिशाली तर्क है और लगभग सभी देशों के द्वारा इसे स्वीकार किया जाता है। शिशु उद्योग तर्क का इतना अधिक महत्व रहा है कि स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों ने भी उसे स्वीकार किया है। सर्वप्रथम इस तर्क को जर्मन अर्थशास्त्री फ्रैड्रिक लिस्ट (Fredrich List) के द्वारा प्रस्तुत किया गया था।

अमेरिका में हैमिल्टन (Hamilton) तथा कैरे (Carey) ने इस तर्क के आधार पर संरक्षण की नीति का समर्थन किया तथा इङ्गलैंड में मिल (J. S. Mill) के द्वारा उसे स्वीकार किया गया। शिशु उद्योग तर्क का आधार इस बात पर है कि संसार के सब देशों के आर्थिक विकास की स्थिति एक-सी नहीं है। विभिन्न कारणों से कुछ देशों में औद्योगीकरण पहले आरम्भ होने के कारण यह देश औद्योगिक क्षेत्र में बहुत आगे निकल गये हैं और इनके उद्योग अधिक शक्तिशाली तथा कार्यकुशल हो गये हैं। इसके विपरीत कुछ देश औद्योगीकरण में पीछे रह गये हैं और उनमें या तो उद्योग-धन्धों का विकास बिल्कुल नहीं हुआ है अथवा बहुत कम विकास हुआ है। ऐसी दशा में अधिक उन्नत देशों के उद्योग इतने शक्तिशाली हो गये हैं कि वे प्रतियोगिता के द्वारा अन्य देशों के शिशु उद्योगों को नष्ट कर देते हैं। इसी कारण शिशु उद्योगों की रक्षा की आवश्यकता होती है।

अल्पविकसित देशों का औद्योगीकरण केवल संरक्षण की नीति के अन्तर्गत ही सम्भव है। इन देशों में नव-स्थापित उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए संरक्षण दिया जाना चाहिए। जिस प्रकार बच्चे को कुछ समय तक संरक्षण की आवश्यकता होती है ठीक उसी प्रकार शिशु उद्योगों को जीवित रखने तथा उन्हें विकास का अवसर देने के लिए संरक्षण की आवश्यकता होती है। प्रत्येक उद्योग को स्थापित करने में कुछ प्रारम्भिक कठिनाइयाँ रहती हैं और कठिनाइयों के इस काल में इन उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाना आवश्यक होता है। प्रो० टॉजिग (Taussig) के अनुसार "आरम्भ में स्वदेशी उत्पादक को कठिनाइयाँ होती हैं और वह विदेशी प्रतियोगिता का सामना नहीं कर पाता है। अन्त में वह सीख लेता है कि अधिकतम लाभ के साथ किस प्रकार वस्तु का उत्पादन किया जाय और उसे विदेशियों की भाँति सस्ती अथवा उनसे भी अधिक सस्ती बाजार में बेचा जाय।"[3] यदि विकासशील देश संरक्षण की नीति का पालन नहीं करते हैं तो इनके नव विकसित उद्योग या तो स्थापित होने से पूर्व ही नष्ट हो जायेंगे अथवा विकास के प्रारम्भिक काल में बन्द हो जायेंगे। इसी प्रकार उन्नत देशों के लिए भी अपने शिशु उद्योगों को *संरक्षण देने की आवश्यकता पड़ती है। संरक्षण के द्वारा ही* कोई देश अपने उद्योगों को पूर्ण विकास का अवसर दे सकता है।

संरक्षण देते समय उद्योगों का चुनाव ठीक प्रकार से किया जाना चाहिए। प्रत्येक उद्योग संरक्षण के लिए उपयुक्त नहीं होते हैं। संरक्षण के लिए ऐसे उद्योगों को चुना जाना चाहिए जिनके विकास के लिए देश में उपयुक्त सुविधायें

---

3 "*At the outset the domestic producer has difficulties and cannot* meet foreign competition. In the end he learns how to produce to the best advantage and then can bring the article to market as cheaply as the foreigner, even more cheaply." —*Taussig.*

उपलब्ध हो किन्तु विदेशी प्रतियोगिता के कारण जिनका विकास न हो सका हो। अर्थात सरक्षित उद्योग वे उद्योग होने चाहिएँ जो कुछ समय पश्चात अपने पैरो पर खड़े हो सके। जे० एस० मिल (J. S. Mill) के अनुसार "यह आवश्यक है कि सरक्षण को उन्ही उद्योगो तक सीमित रक्खा जाय जिनके विषय मे इस विश्वास के लिए काफी आधार हो कि सरक्षण के द्वारा जिस उद्योग का विकास किया जा रहा है वह कुछ समय पश्चात् उसका परित्याग करने मे समर्थ हो सकेगा। स्वदेशी उत्पादको को इस आशा का अवसर नही दिया जाना चाहिए कि सरक्षण उचित प्रयोग के लिए आवश्यक समय से अधिक के लिए दिया जा सकेगा।"[४] सरक्षण स्थायी भी नही होना चाहिए और जैसे ही उद्योग विकसित हो जाय सरक्षण को हटा लेना चाहिए। तब तक उद्योग शिशु अवस्था मे हो तभी तक उन्हे सरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए और जैसे ही वे शिशु अवस्था से निकल कर पूर्ण विकसित अथवा दृढ बन जायें तो सरक्षण तुरन्त हटा लेना चाहिए। अतः सरक्षण की नीति का निर्माण इस आधार पर किया जाना चाहिए—"शिशु का पालन करो, बालक की रक्षा करो और युवक को स्वतन्त्र छोड दो।"[५]

शिशु उद्योगो को सरक्षण देने के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम कठिनाई यह होती है कि शिशु उद्योगो को किस प्रकार चुना जाय। कभी-कभी यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कौन-सा उद्योग शिशु उद्योग है और कौन-सा नही। इस सम्बन्ध मे वर्तमान अर्थशास्त्रियो का विचार है कि ऐसे उद्योगो को शिशु उद्योग कहा जा सकता है जिन्हे प्रत्येक प्रकार की आन्तरिक बचत (Internal Economies) तो प्राप्त हो किन्तु जिन्हे अभी बाहरी बचत (External Economies) प्राप्त न हो सकी हो। इसके अतिरिक्त उद्योगो को सरक्षण देने मे एक अन्य कठिनाई इस कारण होती है कि सरक्षण स्थायी होने की प्रवृत्ति रखता है। किसी उद्योग को एक वार सरक्षण देने के पश्चात् उसे हटाना बहुत कठिन होता है। बेवरिज (Beveridge) के अनुसार "शिशु उद्योग यह कभी अनुभव नही करते कि उनमे शक्ति आ गई है, यदि वे शक्तिशाली हो भी जाते है तो भी वे अपनी युवा-शक्ति का प्रयोग अधिक बडी मात्रा मे और लम्बे समय के लिए संरक्षण प्राप्त करने मे करते है।" इन सब व्यवहारिक कठिनाइयो के होते हुये भी शिशु उद्योगो को सरक्षण के द्वारा ही विकसित किया जा सकता है।

---

4 "It is essential that protection should be confined to cases in which there is good ground of assurance that the industry which it fosters will after a time be able to dispense with it; nor should the domestic producer ever be allowed to expect that it will be constituted to them beyond the time necessary for a fair trial." —*J. S. Mill.*

5 "Nurse the baby, protect the child and free the adult." —*Fredrich List.*

(२) उद्योगों में विभिन्नता का तर्क (Diversification of Industries Argument)—यह तर्क फ्रेड्रिक लिस्ट (Fredrich List) के द्वारा दिया गया था। उनका विचार था प्रत्येक देश को विभिन्न प्रकार के उद्योगों का विकास करके अर्थ-व्यवस्था को सतुलित रखना चाहिए। प्रत्येक देश की अर्थ-व्यवस्था का विभिन्न प्रकार के उद्योगों पर आधारित होना आर्थिक एव सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक है। देश में सरक्षण की नीति के द्वारा ही विभिन्न प्रकार के उद्योगों का विकास करना सम्भव हो सकता है। स्वतन्त्र व्यापार की व्यवस्था मे देश केवल कुछ एक प्रकार के उद्योगों का ही विकास करता है जिसके भयकर परिणाम हो सकते हैं। देश में औद्योगिक विविधता होने से विभिन्न प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं—(i) किसी एक उद्योग के फेल हो जाने पर पर अर्थ-व्यवस्था के ठप्प होने का भय नहीं रहता है। यदि कोई एक उद्योग अथवा कुछ उद्योग बन्द हो जाते है तो अन्य प्रकार के उद्योगों के चलते रहने के कारण देश का आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त नहीं होता है। (ii) सतुलित अर्थ-व्यवस्था स्थापित की जा सकती है जिससे देश की निर्भरता दूसरे देशों पर कम हो जाती है तथा देश आत्म-निर्भर हो सकता है। (iii) देश मे पाये जाने वाले विविध प्रकार के साधनों का पूर्ण उपयोग सम्भव हो सकता है। विभिन्न प्रकार के उद्योगों मे विभिन्न प्रकार के मानवीय तथा प्राकृतिक साधनों का सर्वोत्तम प्रयोग किया जा सकता है। (iv) देश की रक्षा (Defence) के लिए भी विभिन्न प्रकार के उद्योगों का होना आवश्यक है। किसी देश का एक उद्योग पर आधारित होना युद्धकाल मे उसकी सुरक्षा को कमजोर करता है। इन्हीं सब कारणों से देश में विभिन्न प्रकार के उद्योगों का विकास किया जाना चाहिए। आवश्यकता की सभी वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों का विकास करके ही कोई देश अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है। उद्योगों का यह विविधिकरण (Diversification) केवल सरक्षण की नीति के अन्तर्गत ही सम्भव हो सकता है।

(३) लागतों में समानता का तर्क (Equalising the Cost Production)-वस्तुओं की उत्पादन लागत को बराबर करने के लिए भी सरक्षण की नीति को अपनाया जाना चाहिए। किसी वस्तु की देश मे तथा विदेशों में उत्पादन लागत को बराबर करके ही हम अपने देश के उत्पादकों तथा अन्य देश के उत्पादकों में उचित प्रतियोगिता पैदा कर सकते हैं। न्याय की दृष्टि से वस्तुओं को समान आधार पर रखने के पश्चात् ही उन्हें प्रतियोगिता करने के लिए छोड़ना चाहिए। सरक्षण के द्वारा उत्पादन लागतों को समान करके ऐसा किया जा सकता है। यदि किसी वस्तु की उत्पादन लागत देश मे विदेशों की अपेक्षा १०% ऊँची है तो हम उस वस्तु पर १०% का आयात कर लगा कर उनकी स्वदेशी तथा विदेशी लागतों को समान कर सकते हैं। विदेशी वस्तुओं पर आयात कर लगा कर उनकी उत्पादन लागत को घरेलू उत्पादन लागत के बराबर कर देना चाहिए जिससे स्वदेशी तथा विदेशी उत्पादकों को वस्तुओं के बेचने के समान अवसर दिए जा सकें। यदि विदेशी वस्तुओं

की लागत को आयात कर के द्वारा घरेलू लागत के बराबर नही किया जाता है तो विदेशो से आने वाली सस्ती वस्तुएँ हमारे गृह-उद्योगो को नष्ट कर देगी। इस स्थिति से बचने के लिए वस्तु की विदेशी लागत को स्वदेशी लागत के बराबर करना आवश्यक है और यह केवल सरक्षण की नीति के द्वारा ही किया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना चाहिए कि सरक्षण के द्वारा केवल एक सीमा तक ही उत्पादन लागतो को बराबर करना चाहिए। यदि कोई उद्योग इतना अधिक अकुशल है कि उसकी वस्तु की लागत विदेशी वस्तु की लागत से बहुत अधिक ऊँची है तो ऐसी दशा मे उस उद्योग को सरक्षण देना देश के आर्थिक हित मे नही होगा।

(४) स्वदेशी बाजार तर्क (Home Market Argument)—सरक्षण के द्वारा घरेलू बाजार का विस्तार किया जा सकता है तथा नई वस्तुओ के बाजार स्थापित करना सम्भव होता है। यह तर्क अमेरिका मे अधिक प्रचलित रहा है। सरक्षण के द्वारा विदेशो से आयात की जाने वाली वस्तुओ को कम किया जा सकता है अथवा इस प्रकार की आयातो को बिल्कुल रोका जा सकता है। विदेशो से आने वाली वस्तुओ का उत्पादन देश मे किया जाने लगता है और प्रतियोगिता समाप्त हो जाने के कारण नये-नये उद्योग स्थापित होते है जिससे अधिक लोगो को रोजगार मिलता है। अधिक रोजगार से वस्तुओ की माग बढती है और इस प्रकार अन्य वस्तुओ का बाजार विस्तृत हो जाता है। इस तर्क की सबसे बडी कमजोरी यह है कि आयात कम करने से निर्यात भी कम हो जाते है जिसके कारण निर्यात उद्योगो को हानि उठानी पडती है। अत यह तर्क बहुत अधिक प्रभावशाली नही है।

(५) मजदूरी तर्क (Wages Argument)—इस तर्क के अनुसार सरक्षण के द्वारा देश मे मजदूरी की दरो को ऊँचा रक्खा जा सकता है। मजदूरी की दर को गिरने से रोकने के लिए आवश्यक है कि सस्ती मजदूरी वाले देशो से होने वाली आयातो पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाये अथवा आयात कर के द्वारा उनके मूल्यो को बढा दिया जाये। यदि सस्ती वस्तुओ को देश मे बिना रोक-टोक आने दिया जाता है तो उस दश की अपनी वस्तुएँ महगी होने के कारण नही बिक सकेंगी और वहाँ के उत्पादक उत्पादन व्यय को कम करने के लिए मजदूरी की दरो को कम कर देंगे। अत स्वतन्त्र प्रतियोगिता की दशा मे कोई भी देश अपनी मजदूरी की दर को अन्य देशो की अपेक्षा ऊँची नही रख सकता है। एक देश अपने यहाँ मजदूरी के स्तर को अन्य देशो की अपेक्षा ऊँचा तब रख सकता है जब वह ऊँची मजदूरी वाले उद्योगो को सरक्षण दे। हैबर्लर (Haberler) के अनुसार 'अन्य देशो की अपेक्षा मजदूरी का ऊँचा स्तर प्रशुल्क दीवार के पीछे ही बनाये रक्खा जा सकता है।"[6] यही कारण है कि अमेरिका ऊँचे आयात करो के द्वारा जापान की सस्ती

6 "A wage level higher than that of other countries can be maintained only behind a Tariff Wall." —*Haberler.*

वस्तुओं को देश में आने से रोकना है। देश में मजदूरी की ऊँची दरों को संरक्षण के द्वारा गिरने से रोका जा सकता है किन्तु फिर भी यह तर्क अधिक सही नहीं है। किसी देश में मजदूरी की दरों के ऊँचा होने के अन्य कारण भी हो सकते हैं। एक उद्योग में मजदूरी इसलिए भी ऊँची हो सकती है क्योंकि उसमें श्रमिकों की कुशलता अधिक है।

(६) मुद्रा को घर पर रखने का तर्क *(Keeping Money at Home Argument)*—संरक्षण के पक्ष में यह तर्क अमेरिका में कुछ लोगों के द्वारा दिया जाता था। रॉबर्ट इंगरसोल (Robert Ingersol) के अनुसार जब हम तैयार माल विदेशों से मंगाते हैं तो हमें वस्तुएँ प्राप्त होती हैं और विदेशियों को रुपया मिलता है किन्तु जब हम इन वस्तुओं को देश में ही खरीदते हैं तो हमें वस्तुएँ भी प्राप्त होती हैं और मुद्रा भी देश में रहती है। इस प्रकार मुद्रा को देश से बाहर जाने से रोकने के लिए संरक्षण की नीति को अपनाया जाना चाहिए। यह तर्क बहुत अधिक विवेकपूर्ण नहीं है क्योंकि विदेशों से सस्ती वस्तुएँ मंगा कर हम अपनी मुद्रा से अधिक उपयोगिता प्राप्त कर सकते हैं।

(७) राशिपातन सुरक्षा *(Protection Against Dumping)*—संरक्षण की नीति के द्वारा एक देश अपने उद्योगों को राशिपातन के बुरे प्रभाव से बचा सकता है। जब कोई देश दूसरे देश के उद्योगों को नष्ट करने के उद्देश्य से उसके बाजार में अपनी वस्तुओं को उत्पादन लागत से भी कम मूल्य पर बेचने लगता है तो इसे राशिपातन कहा जाता है। इस प्रकार की बुरी प्रतियोगिता से बचने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह देश उस देश से आने वाली सस्ती वस्तुओं पर ऊँचे आयात कर लगा दे। ऐसा करने से वह देश अपने उद्योगों को नष्ट होने से बचा सकता है। किन्तु राशिपातन को रोकने के उद्देश्य से लगाये जाने वाले आयात कर अस्थायी (Temporary) होने चाहिएँ और जैसे ही राशिपातन का भय समाप्त हो जाये उन्हें हटा देना चाहिए।

(८) रोजगार में वृद्धि *(Increase in Employment)*—देश में रोजगार की मात्रा में वृद्धि करने के लिए भी संरक्षण की नीति को अपनाने की बात कही जाती है। कुछ लोगों का विचार है कि संरक्षण के द्वारा देश में रोजगार के नये-नये साधन स्थापित किये जा सकते हैं और बेरोजगारी की समस्या को सुलझाया जा सकता है। इस तर्क के आधार पर यह कहा जाता है कि आयातों पर प्रतिबन्ध लगाने से देश में गृह-उद्योगों का विस्तार होता है जिससे रोजगार की मात्रा में वृद्धि हो जाती है किन्तु आलोचकों ने इस तर्क की कड़ी आलोचना की है और यह बताया है कि संरक्षण के द्वारा देश में रोजगार की कुल मात्रा को नहीं बढ़ाया जा सकता है। आयात कम होने से देश में अयात उद्योग को प्रोत्साहन मिलता है और उनका विस्तार होता है जिसके कारण अधिक लोगों को रोजगार मिलता है किन्तु आयात

कम होने के साथ-साथ हमारी निर्यात भी गिर जाती है जिसके कारण निर्यात उद्योग बन्द होने लगते है और इन उद्योगो मे बेरोजगारी फैलती है। इस प्रकार आयात उद्योगो मे तो रोजगार बढता है किन्तु निर्यात उद्योगों मे रोजगार कम हो जाने के कारण कुल रोजगार की मात्रा मे वृद्धि करना सम्भव नही हो सकता है। प्रो० केन्ज (Keynes) के अनुसार—"यदि आयात मे कमी होने पर निर्यातो मे तुरन्त लगभग उतनी ही कमी आ जाती है तो स्पष्ट है कि ऐसी दशा मे तटकर (Tariff) रोजगार मे वृद्धि करने के लिए पूर्णतया निरर्थक होंगे।"[7] सरक्षण के द्वारा कुल रोजगार को तब बढाया जा सकता है जब कोई देश अपनी आयातो को कम करके भी अपनी निर्यातो मे कोई कमी न होने दे। ऐसा केवल इन दशाओ मे ही सम्भव है—(i) वह देश इतनी महत्वपूर्ण वस्तुओ का निर्माण करता हो जिनके बिना अन्य देशो का काम न चल सके। ऐसी दशा मे आयात कम करने पर भी उस देश की वस्तुओ की माग बराबर बनी रहेगी। (ii) उस देश के पास इतने अधिक साधन हो कि वह अन्य देशो को अपना माल खरीदने के लिए ऋण दे सके। (iii) निर्यातो को आर्थिक सहायता देकर भी कोई देश अपनी निर्यातो के अ नेवार्य स्तर को बनाये रख सकता है। यद्यपि अमेरिका आजकल बहुत कुछ इसी दशा मे है किन्तु फिर भी किसी साधारण देश के लिए इन दशाओ को पूरा करना सम्भव नही हो सकता है। अत सरक्षण के द्वारा रोजगार की मात्रा मे कोई विशेष वृद्धि नही की जा सकती है।

संरक्षण के विपक्ष मे तर्क (Arguments Against Protection)—

यद्यपि सरक्षण की नीति कुछ विशेष दशाओ मे देश के लिए लाभपूर्ण हो सकती है किन्तु अर्थ-व्यवस्था पर उसके अनेक बुरे प्रभाव पडते है। एल्सवर्थ (Elseworth) के अनुसार सरक्षण की नीति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ को कम करती है क्योकि एक ओर तो उत्पादन स्रोत अधिक कुशल उपयोगो से निकल कर कम कुशल उपयोगो मे चले जाते है और दूसरी ओर वस्तुओ तथा सेवाओ के मूल्य मे वृद्धि होने के कारण उपभोक्ताओ की स्वतन्त्रता मे कमी आ जाती है। सरक्षण के विपक्ष मे दिये जाने वाले कुछ प्रमुख तर्क निम्न-लिखित हैं—

(१) उपभोक्ताओं को अधिक मूल्य देने पडते हैं—सरक्षण के अन्तर्गत आयात करो के कारण वस्तुओ की उत्पादन लागत ऊँची रहती है और वस्तुओ के मूल्य उतने ही बढ जाते हैं जितना कि उन पर आयात कर लगाया जाता है। वस्तुओ को देश से बाहर रखा जाता है जिसके कारण उपभोक्ताओ को अधिक मूल्य देकर वस्तुएं प्राप्त करनी होती है। सरक्षण के समर्थको का कहना है कि

7 "If a reduction of imports causes almost atonce a more or less equal reduction of export, obviously a tariff (and many other things) would be completely futile for the purpose of augmenting employment." —*Keynes*

संरक्षण की नीति के अन्तर्गत उपभोक्ताओं को हानि तो होती है किन्तु यह उनके द्वारा भविष्य के आर्थिक विकास के लिए किया जाने वाला एक प्रकार का त्याग है। ऐसा करके ही वे भविष्य में स्वदेशी सस्ती वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए उपयुक्त दशायें उत्पन्न कर सकते हैं।

(२) धन के वितरण को असमान करती है—संरक्षण की नीति के विरोध में यह कहा जाता है कि वह गरीबों को अधिक गरीब तथा अमीरों को अधिक अमीर बनाती है। संरक्षण के अन्तर्गत उपभोक्ताओं को अधिक मूल्य देने पड़ते हैं जिसका लाभ उत्पादकों को होता है। इस प्रकार निर्धन उपभोक्ताओं से अधिक मूल्य लेकर पूंजीपति के लाभों को बढ़ाया जाता है। किन्तु यह तर्क अधिक सही नहीं है क्योंकि अधिक मूल्य के रूप में जो कुछ भी उपभोक्ताओं से लिया जाता है वह केवल पूंजीपति के पास नहीं रहता है बल्कि उसमें से सभी उत्पत्ति के साधनों को हिस्सा मिलता है।

(३) संरक्षण स्थायी होने की प्रवृत्ति रखता है—संरक्षण की नीति में वास्तविक कठिनाई इसलिए होती है कि किसी भी उद्योग को एक बार संरक्षण देने के पश्चात् उसे हटाना बहुत कठिन हो जाता है। वास्तव में उद्योगों को दिया जाने वाला संरक्षण अस्थायी (temporary) होना चाहिए और जैसे ही उद्योग विकसित हो जाये संरक्षण को हटा लेना चाहिए किन्तु व्यवहार में ऐसा करना कठिन होता है। संरक्षित उद्योग कभी-कभी अपने को विकसित नहीं समझते हैं और अधिक तथा लम्बे समय के लिए संरक्षण की मांग करते हैं।

(४) संरक्षण देश में औद्योगिक एकाधिकार को जन्म देता है—संरक्षण की नीति का एक बड़ा दोष यह है कि वह एकाधिकार तथा औद्योगिक संगठनों की स्थापना के लिए उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करता है। आयातों के बन्द हो जाने के कारण विदेशी प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है और उत्पादक आपस में मिलकर ऐसे संगठन बना लेते हैं जिनके द्वारा उपभोक्ताओं का शोषण किया जाता है।

(५) संरक्षण तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के विरुद्ध है—स्वतन्त्र व्यापार की दशाओं में वस्तुओं का उत्पादन तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के अनुसार किया जाता है जिसमें उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं दोनों को लाभ होता है और उत्पादन की मात्रा भी अधिकतम होती है किन्तु संरक्षण की नीति के अन्तर्गत उत्पादन तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के अनुसार नहीं किया जाता है। प्रत्येक देश में प्रत्येक प्रकार की वस्तु को उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि वस्तुएँ न तो सस्ती पैदा की जाती हैं और न उनका उत्पादन ही अधिकतम होता है। इस प्रकार संरक्षण की नीति को अपनाने वाले देश तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन करने में उत्पन्न होने वाले लाभों से वंचित रह जाते हैं।

(६) विदेशी व्यापार कम हो जाता है—संरक्षण की नीति की प्रवृत्ति विदेशी व्यापार को सकुचित करने की होती है। सरक्षण के अन्तर्गत प्रत्येक देश अपनी आयातों को कम करने का प्रयत्न करता है जिसके परिणामस्वरूप उसकी निर्यात भी कम हो जाती है। प्रत्येक देश अपनी आयातों का भुगतान निर्यातों के द्वारा करता है। इसलिए आयातों के कम होने पर निर्यातों का कम होना स्वाभाविक ही है। आयातों तथा निर्यातों के कम होने के कारण संरक्षित देश का विदेशी व्यापार कम हो जाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि संरक्षण की नीति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के रास्ते मे बाधाएँ उत्पन्न करती है।

(७) अर्थ-व्यवस्था मे असन्तुलन उत्पन्न करती है—सरक्षण की नीति के अन्तर्गत देश का सन्तुलित आर्थिक विकास नहीं होता है। सरक्षित उद्योगों के अधिक लाभपूर्ण हो जाने के कारण उत्पत्ति के साधन अन्य उद्योगों से निकलकर सरक्षित उद्योगों मे आने लगते है जिसके कारण अन्य उद्योगों का विकास रुक जाता है और देश की अर्थ-व्यवस्था असन्तुलित हो जाती है। सरक्षित उद्योगों मे होने वाली उत्पादन की वृद्धि उस हानि से कम होती है जो अन्य उद्योगों का विकास रुक जाने के कारण देश को उठानी पड़ती है। हैबर्लर के अनुसार —"अन्य उद्योगों के उत्पादन मे होने वाली कमी सरक्षित उद्योगों के उत्पादन मे होने वाली वृद्धि की अपेक्षा अधिक होती है।"[8] इस प्रकार सरक्षण की नीति देश मे कुल उत्पादन को कम करती है।

(८) औद्योगिक कार्य कुशलता में वृद्धि की सम्भावना कम हो जाती है—सरक्षण के द्वारा अकुशल उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाया जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि इन उद्योगों मे कार्यकुशलता की वृद्धि की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। विदेशी प्रतियोगिता समाप्त हो जाने तथा ऊँचे मूल्यों पर वस्तुओं की माग स्थापित हो जाने के कारण उत्पादक औद्योगिक कार्यकुशलता मे वृद्धि करने की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं देते है और आधुनिकरण तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध की उपेक्षा करते रहते है। ऐसी स्थिति मे औद्योगिक कार्यकुशलता का स्तर सरक्षित देश मे अन्य देशों की अपेक्षा नीचा रहता है।

(९) राजनैतिक भ्रष्टाचार—सरक्षण के कारण देश मे राजनैतिक भ्रष्टाचार मे वृद्धि होती है क्योंकि उद्योगपति सरक्षण को बनाये रखने के लिए सरकारी कर्मचारियों, राजनीतिज्ञों तथा अन्य अधिकारियों को घूँस आदि के द्वारा प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते है जिसके कारण कई बार गलत उद्योगों को सरक्षण दे दिया जाता है अथवा उद्योगों को दिये जाने वाले सरक्षण को अनावश्यक समय तक बनाये रक्खा जाता है।

---

8 "The decrease in production elsewhere is greater than the increase of production in the protected industry."

—*Harbeler*: Theory of International Trade, P. 246.

निष्कर्ष—उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि संरक्षण के पक्ष में दिये जाने वाले तर्क विपक्ष में दिये जाने वाले तर्कों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हैं। यद्यपि संरक्षण की नीति में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ हो सकती हैं किन्तु उन्हें विभिन्न प्रकार के नियन्त्रणों से रोका जा सकता है। संरक्षण को स्थायी बनने से रोकने के लिए सरकार को दृढ़ निश्चय से काम लेना चाहिए और जैसे ही कोई उद्योग विकसित हो जाये उसका संरक्षण तुरन्त हटा लेना चाहिए। औद्योगिक संगठनों को बनने से रोकने के लिए संगठन विरोधी (Anti-Combination) नियम बनाये जा सकते हैं। धन के असमान वितरण को दूर करने के लिए अन्य प्रकार के करों का प्रयोग किया जा सकता है तथा राजनैतिक भ्रष्टाचार को रोकने के लिए अधिकारियों के नैतिक स्तर को ऊँचा किया जाना चाहिए। इस प्रकार उचित प्रतिबन्धों की सहायता से संरक्षण के दोषों से बचा जा सकता है। वर्तमान स्थिति में अल्प-विकसित देशों के लिए औद्योगीकरण के उद्देश्य से संरक्षण की नीति का अपनाया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

संरक्षण तथा अल्प विकसित देश
(Protection and Under-developed Countries)—

अल्प-विकसित देशों के औद्योगिकरण के लिए संरक्षण की नीति अत्यन्त आवश्यक है। *औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों में संरक्षण की आवश्यकता केवल कुछ विशेष परिस्थितियों में ही होती है* किन्तु अल्प विकसित देशों के आर्थिक विकास में संरक्षण की नीति एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इन देशों में उद्योगों को *संरक्षण दिये बिना उनका विकास नहीं किया जा सकता है।* स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में कुछ भी तर्क क्यों न दिये जायें किन्तु इस प्रकार का व्यापार अल्प विकसित देशों के लिए हितकर नहीं है क्योंकि वह उनके औद्योगिक विकास की सम्भावना को कम करता है। अतः भारतवर्ष तथा अन्य अल्प विकसित देशों के संरक्षण के पक्ष में दिया जाने वाला शिशु उद्योग तर्क (Infant Industries Argument) विशेष महत्व रखता है। ये देश अपने नव-विकसित उद्योगों को संरक्षण के द्वारा ही पूर्णरूप से विकसित होने का अवसर दे सकते हैं तथा विभिन्न प्रकार के नये उद्योगों की स्थापना के लिए उपयुक्त वातावरण उत्पन्न कर सकते हैं। प्रो० पीगू (Pigou) के अनुसार—"ऐसे कृषि देश में जहाँ पर औद्योगिक विकास के लिए प्राकृतिक लाभ प्राप्त हों, उत्पादन क्षमता बढ़ाने के लिए संरक्षण के प्रयोग के पक्ष में काफी मजबूत तर्क दिये जा सकते हैं। इस प्रकार के देश में स्वदेशी निर्माण शक्ति के तेजी के साथ विकसित होने से प्राप्त लाभ उस हानि की अपेक्षा कहीं अधिक होता है जो स्वदेशी वस्तुओं के विदेशी वस्तुओं के साथ बदलने पर प्रतिबन्ध लगाने के कारण उत्पन्न होती है।"[9]

---

9 "The case for protection with a view to building up productive power is strong in any agricultural country which seems to possess natural advantages for manufactures. In such a country the immediate loss arising

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि औद्योगिक विकास की सम्भावनाओं वाले कृषि प्रधान देशों के औद्योगिक विकास के लिए सरक्षण की नीति अनिवार्य है।

इस सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण बात यह है कि किसी भी देश मे सरक्षण की नीति को स्थाई स्थान नही दिया जा सकता है। उसका प्रयोग केवल अस्थाई रूप से उद्योगो की सहायता करने के लिए किया जाना चाहिए। केवल उन्ही उद्योगो को सरक्षण दिया जाना चाहिए जिनका भविष्य उज्जवल हो तथा जो आर्थिक विकास अथवा सुरक्षा के लिए या अन्य कारणो से देश के लिए आवश्यक हो। जैसे ही सुरक्षित उद्योग परिपक्व (Maturity) अवस्था को पहुँच जाये वैसे ही सरक्षण हटा लेना चाहिए। इस प्रकार सरक्षण का प्रयोग केवल एक अस्थाई नीति के रूप मे ही किया जा सकता है और उसके स्थाई होने की प्रवृत्ति को रोकने के लिए आवश्यक प्रयत्न किये जाने चाहिएँ।

अल्प विकसित देशो के लिए सरक्षण इसलिए भी आवश्यक है क्योकि आज की दशाओ मे प्रत्येक देश को यथा सम्भव आत्म-निर्भरता प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष तथा तनाव की वर्तमान स्थिति मे कोई भी देश अन्य देशो पर निर्भर नही रह सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा स्वतन्त्र व्यापार आज सम्भव नही है। किसी भी देश की सरकार को सुरक्षा, आत्म-निर्भरता तथा पूर्ण-रोजगार के उद्देश्यो को ध्यान मे रखकर ही अपनी औद्योगिक नीति का निर्माण करना चाहिए। इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए आवश्यक है कि अल्प विकसित देश सरक्षण के द्वारा विभिन्न प्रकार के उद्योगो को स्थापित करके अन्य देशो पर अपनी निर्भरता को कम से कम रखे। इसके अतिरिक्त सरक्षण की नीति अल्प विकसित देशो के नियोजित आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण अग बन गई है। सरक्षण के द्वारा ही यह सम्भव होता है कि नियोजित विकास के लिए आवश्यक उद्योगो का तेजी के साथ विकास किया जाय। अल्प विकसित देशो का आर्थिक विकास उनके औद्योगिक विकास पर निर्भर है और औद्योगिक विकास सरक्षण के बिना असम्भव है। अतः अल्प विकास की दशा मे किसी भी देश के द्वारा सरक्षण की नीति को अपनाया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

संरक्षण की रीतियाँ (Methods of Protection)—

उद्योगों को सरक्षण देने के लिए विभिन्न रीतियो का प्रयोग किया जा सकता है जिनमे से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं—

(१) वैधानिक निषेध (Legislative Prohibition)—कभी-कभी कुछ वस्तुओ की आयात को रोकने के लिए उन पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगा दिया जाना

---

from the check to the exchange of native produce for foreign manufatures may well be outweighed by the gain from the greater rapidity with which the home manufacturing power is developed." —*Pigou.*

है। ऐसी दशा मे इन वस्तुओ का आयात बिलकुल नही किया जा सकता है। ऐसा प्राय उन वस्तुओ के सम्बन्ध मे किया जाता है जिनका प्रयोग देशवासियो के चरित्र अथवा स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालता हो।

(२) **सरक्षण प्रशुल्क** (Protective Tariffs)—सरक्षण देने की यह रीति सबसे प्राचीन तथा अधिक प्रचलित है। देश मे वस्तुओ के आयात को रोकने के लिए उन पर आयात कर लगा दिये जाते है जिससे उनका मूल्य बढ जाता है और माग कम हो जाती है। इस प्रकार के करो का मुख्य उद्देश्य अपने देश के उद्योगो का सरक्षण देना होता है किन्तु कभी-कभी आय की दृष्टि से भी आयात करो को लगाया जाता है। आयात कर प्राय दो प्रकार के होते है—(i) **प्रति-मूल्य कर** (Ad-valorem Duty)—इस प्रणाली मे आयात कर वस्तुओ के मूल्य पर लगाया जाता है। इसमे यह लाभ रहता है कि धनी लोगो के द्वारा प्रयोग की जाने वाली मूल्यवान वस्तुओ पर अधिक कर लगाना सम्भव हो जाता है। (ii) **परिमाण कर** (Specific Duty)—यह वस्तु की मात्रा पर लगाया जाता है। इसका आधार वस्तु का नाप तोल अथवा सख्या होती है। इस प्रकार का कर अधिक सुविधापूर्ण रहता है।

(३) **आयात अभ्यश** (Import Quotas)—वस्तुओ की आयात को कम करने के लिए उसकी आयात की जाने वाली मात्रा निश्चित कर दी जाती है। यह सरक्षण की काफी प्रभावशाली प्रणाली है। इसके अन्तर्गत केवल निश्चित कोटे के अनुसार ही वस्तुओ का आयात किया जा सकता है। कभी वस्तु की आयात की जाने वाली कुल मात्रा निश्चित कर दी जाती है और कभी अलग-अलग देशो के अभ्यश पृथक निश्चित किय जाते है। कभी-कभी एक निश्चित मात्रा तक आयात बिना किसी शुल्क अथवा कम शुल्क पर करने दिया जाता है किन्तु इससे अधिक मात्रा मे वस्तुओ का आयात करने के लिए ऊँची दर पर कर देने होते है। इस प्रकार की प्रणाली मे आयातो का पूर्ण रूप से नियन्त्रण करना सम्भव नही होता है इसलिए सरक्षण की दृष्टि से वही अभ्यश प्रणाली अधिक प्रभावशाली होती है जिसमे एक निश्चित मात्रा तक ही वस्तुओ का आयात करने दिया जाता है और अभ्यश मे अधिक मात्रा मे आयात पूर्णतया वर्जित होता है।

(४) **सरकारी आर्थिक सहायता** (Export Bounties)—निर्यातो को प्रोत्साहन देने का यह एक महत्वपूर्ण तरीका है। इसके अन्तर्गत उद्योगपतियो तथा निर्यातकर्त्ताओ को विशेष छूट, अनुदान, ऋण अथवा अन्य प्रकार की सहायता दी जाती है। इस प्रकार की सहायता का उद्देश्य विदेशी बाजार मे वस्तुओ के मूल्य को कम करना होता है।

(५) **विनिमय नियन्त्रण** (Exchange Control)—विनिमय नियन्त्रण के द्वारा भी उद्योगो को सरक्षण प्राप्त हो सकता है। यद्यपि विनिमय नियन्त्रण को सरक्षण देने के उद्देश्य से नही अपनाया जाता है किन्तु उसके परिणामस्वरूप कुछ

उद्योगो को संरक्षण मिल जाता है। विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत जिन वस्तुओ के आयात के लिए विदेशी विनिमय नही दिया जाता है अथवा कम दिया जाता है उन वस्तुओ का उत्पादन करने वाले उद्योगो को स्वय सरक्षण प्राप्त हो जाता है।

(६) **अवमूल्यन (Devaluation)** – मुद्रा के अवमूल्यन के द्वारा भी वस्तुओ की आयात को कम किया जा सकता है तथा निर्यातो को प्रोत्साहन दिया जा सकता है। अवमूल्यन से विदेशी वस्तुये महगी हो जाती है और वे कम मात्रा मे आयात की जाने लगती है जिसके कारण उन्हे पैदा करने वाले उद्योगो को एक प्रकार का सरक्षण मिल जाता है। हमारी वस्तुओ के मूल्य कम हो जाने के कारण उनकी निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है।

(७) **आयात निर्यात का सरकार के द्वारा किया जाना**—कभी-कभी सरकार आयात निर्यात व्यापार का एकाधिकार अपने हाथ मे ले लेती है। कौन सी वस्तु किस देश से कितनी मात्रा मे मगानी है—यह सब सरकार निश्चित करती है। जिन वस्तुओ को कम मात्रा मे मगवाया जाता है अथवा बिलकुल नही मगाया जाता है उन वस्तुओ को बनाने वाले उद्योगो को एक प्रकार का सरक्षण मिल जाता है। भारतवर्ष मे सरकार ने इसी उद्देश्य से राजकीय व्यापार (State Trading) आरम्भ किया।

(८) **अनुज्ञापन प्रणाली (Licensing System)**—अभ्यश प्रणाली के दोषो को दूर करने तथा अन्य उद्देश्यो के लिए कभी-कभी अनुज्ञापन प्रणाली को अपनाया जाता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार आयातकर्त्ताओ को वस्तुओ का आयात करने के अनुज्ञापन (Licence) देती है। वस्तु की आयात की जाने वाली कुल मात्रा निश्चित करने के पश्चात् उसके अनुसार विभिन्न आयातकर्त्ताओ को अनुज्ञापन दे दिये जाते हैं और केवल अनुज्ञापन प्राप्त आयातकर्त्ताओ को ही वस्तु का आयात करने दिया जाता है। अनुज्ञापन देते समय विभिन्न बातो को ध्यान मे रक्खा जाता है किन्तु सामान्यत किसी पिछले आधार वर्ष मे उस फर्म के द्वारा आयात की गई मात्रा को आधार मानकर वर्तमान वर्ष के लिए अनुज्ञापन दिये जाते है। यद्यपि अनुज्ञापन प्रणाली मे अभ्यश प्रणाली के बहुत से दोष नही पाये जाते है किन्तु इस सम्बन्ध मे सबसे बडी कठिनाई अनुज्ञापनो को न्यायपूर्ण आधार पर बाँटने की होती है। हैबर्लर (Haberler) ने इस कठिनाई की ओर सकेत करते हुए लिखा है कि— "वस्तुओ के आयात-अनुज्ञापन व्यापारियो मे बाँटे जाते हैं, विशेषतया जब वस्तुये उपभोग सम्बन्धी होती हैं। अनुज्ञापन के लिए चुनाव का आधार व्यापारिक योग्यता नही होती है। इसके विपरीत अनुज्ञापन के लिए उन लोगो को चुना जाता है जो अभ्यश प्रणाली के अपनाये जाने के समय उस वस्तु का आयात करते होते हैं अथवा जिनका अधिक प्रभाव होता है अथवा जो रिश्वत देने मे अधिक कुशल होते है।"[10]

10 "The import licenses may be distributed especially if the good is a consumer's good, among traders. .... Skill in trading ceases to be a principle

अनुज्ञापन प्रणाली से पूरा लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि अनुज्ञापन देने के लिए फर्मों (Firms) का चुनाव उचित आधार पर किया जाय।

परीक्षा-प्रश्न

(१) संरक्षण पद्धतियों मे (अ) आयात कर, (ब) लायसेंस तथा, (स) साख राशनिंग पद्धतियों के सापेक्षिक महत्व की चर्चा कीजिए।
(आगरा बी० ए० १६६२)

(२) संरक्षण के पक्ष मे तर्कों की विवेचना करो। उसके विपक्ष में कौन से तर्क हैं?
(आगरा बी० ए० १६६०)

(३) ससार की वर्तमान व्यापारिक दशा मे स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष मे तर्कपूर्ण सुझाव दीजिए।
(आगरा बी० ए० १६५६)

(४) किन परिस्थितियों के अन्तर्गत तट-कर संरक्षण उचित है। देश की आर्थिक उन्नति मे यह किस प्रकार सहायक है? उदाहरण सहित समझाइये।

(५) 'स्वतन्त्र व्यापार' एव 'सरक्षण" मे भेद बतलाइये। किन परिस्थितियों *मे सरक्षण उचित ठहराया जा सकता है? (राजस्थान बी० ए० १६५५)*

(६) सरक्षण से आप क्या समझते हैं? सरक्षण के पक्ष मे कौन से तर्क दिये जाते हैं? क्या आप उनसे सहमत हैं?
(जबलपुर बी० ए० १६५६)

(७) सरक्षण के पक्ष मे कौन-कौन से तर्क दिये जाते हैं? सरक्षण से नियोजन को किस सीमा तक बढावा मिलता है?
(राजस्थान बी० ए० १६५६)

(८) मुक्त व्यापार की नीति एक सर्वोत्तम नीति क्यों मानी जाती है? किन परिस्थितियों मे सरक्षण की नीति आर्थिक दृष्टिकोण से उचित है?
(नागपुर बी० ए० १६५६)

---

of selection, Instead, those who happened tobe importing the good when the quota system came into force or those wi h the most influence or the greatest skill in bribing are the ones selected."

—*Haberler* Theory of International Trade, P. 348.

२७

भारत का विदेशी व्यापार

THE FOREIGN TRADE OF INDIA

प्राचीन काल से ही भारत का विदेशी व्यापार काफी विकसित तथा विस्तृत रहा है। बहुत अधिक समय तक भारत ससार के लिए वस्तुयें बनाने का केन्द्र समझा जाता था और भारत मे बनी हुई वस्तुये लगभग सभी देशो को भेजी जाती थी। ईसा से ३००० वर्ष पूर्व भारत का विदेशी व्यापार मिश्र, रोम, अरब, चीन आदि देशो के साथ काफी विकसित था। इन देशो को भारत से ढाके की मलमल, सूती कपडा, हाथी दाँत का सामान, पीतल तथा अन्य धातुओ का सामान, मसाले, इत्र, कलात्मक वस्तुये, औजार आदि भेजे जाते थे और इनके बदले मे इन देशो से शराब, घोडे, सिल्क तथा अन्य प्रकार की धातुओ का आयात किया जाता था। मुगल काल मे सुरक्षा की कमी तथा राजनैतिक दशाओ की अस्थिरता के कारण भारत के विदेशी व्यापार मे कुछ कमी हो गई थी किन्तु आन्तरिक व्यापार मे पर्याप्त वृद्धि हुई। योरोपीय व्यापारियो के आते ही भारत के विदेशी व्यापार को फिर प्रोत्साहन मिला और वह तेजी के साथ बढने लगा। आरम्भ मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय उद्योगो को प्रोत्साहन दिया जिससे कि उनके बने सामान का निर्यात वे विदेशो को कर सके किन्तु यह स्थिति कुछ समय तक ही रही। इगलैंड मे औद्योगिक क्रांति के पश्चात् कम्पनी की इस नीति मे परिवर्तन हो गया और यहाँ के उद्योगो को नष्ट करके भारत को केवल इगलैंड के उद्योगो के लिए कच्चा माल निर्यात करने वाला देश बना दिया गया। सन् १८६९ मे स्वेज नहर के खुल जाने तथा भारत मे रेलो का विकास हो जाने के कारण हमारे विदेशी व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला और भारत के विदेशी व्यापार मे निरन्तर वृद्धि होने लगी। सन् १८५९ मे हमारा विदेशी व्यापार केवल ८९ करोड़ रुपये का था किन्तु १९१४ मे यह बढकर ३७९ करोड रुपये का हो गया।

सन् १९१४ मे प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो जाने के कारण भारत के विदेशी व्यापार को सामान्य-स्तर पर बनाये रखना कठिन हो गया। युद्धकालीन दशाओ के

कारण हमारा विदेशी व्यापार कम होने लगा। इस काल में भारत के निर्यात और आयात दोनों ही में कमी हुई। सन् १९१३–१४ और १९१८–१९ के बीच हमारे निर्यात २२४ करोड़ रुपये से घट कर केवल १६० करोड़ रुपये रह गये। इसी काल में आयातों की मात्रा १८३ करोड़ रुपये से घटकर केवल ६३ करोड़ रुपये रह गई। यह अनुमान लगाया गया है कि इस काल में भारत के विदेशी व्यापार में लगभग ५०% की कमी हुई। विदेशी व्यापार की इस कमी के कई मुख्य कारण थे। जहाजों की कमी, विदेशी विनिमय सम्बन्धित कठिनाइयाँ, शत्रु देशों के साथ व्यापार का बन्द हो जाना, विदेशी व्यापार पर अनेक प्रतिबन्ध आदि। युद्ध के पश्चात् भारत के विदेशी व्यापार में तेजी आ गई क्योंकि योरुप के युद्ध-विनष्ट देशों में भारतीय आयातों की माग काफी अधिक बढ़ गई थी किन्तु भारत यातायात सम्बन्धी कठिनाइयों तथा ऊँची विनिमय दर के कारण इस तेजी से पूरा लाभ नहीं उठा सका। सन् १९२०–२१ के पश्चात् तेजी का यह क्रम टूट गया और हमारे विदेशी व्यापार में गिरावट आने लगी। सन् १९२२–२३ में फिर विदेशी व्यापार में तेजी का काल आरम्भ हुआ और १९२४–२५ तक हमारे विदेशी व्यापार की दशा काफी सुधर गई। विदेशी व्यापार की यह वृद्धि सन् १९२९ तक बनी रही किन्तु १९२९–३२ के बीच महान् अवसाद के कारण तेजी का यह क्रम टूट गया। अवसाद की दशायें सन् १९३३ में समाप्त हो गईं और १९३३–३४ में विदेशी व्यापार में फिर उद्धार की प्रवृत्ति आरम्भ हुई। विदेशों में भारत के माल की माग बढ़ने लगी और विदेशी व्यापार का यह विस्तार १९३५–३६ तक चलता रहा। सन् १९३६–३७ में फिर मन्दी की प्रवृत्ति आरम्भ हुई जो १९३९ तक चलती रही किन्तु उसके पश्चात् द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हो जाने के कारण भारतीय व्यापार को प्रोत्साहन मिला और भारतीय निर्यातों की माग तथा मूल्य दोनों में वृद्धि हुई।

द्वितीय विश्व-युद्ध का भारतीय विदेशी व्यापार पर प्रभाव
(Effect of II World War on India's Foreign Trade)—

युद्ध आरम्भ होते ही सभी देशों के व्यापार में वृद्धि होने लगी। प्रत्येक देश उन वस्तुओं के आयात का प्रयत्न कर रहा था जिनकी उसके पास कमी थी और जो युद्ध की माग को पूरा करने के लिए आवश्यक थी। सभी वस्तुओं के मूल्य बढ़ गये और उनकी माग में बहुत अधिक वृद्धि हुई। युद्ध के कारण भारतीय विदेशी व्यापार के स्वरूप में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। विदेशी व्यापार में सरकारी हस्तक्षेप होने पर भी देश के कच्चे तथा निर्मित माल के निर्यात में बहुत अधिक वृद्धि हुई। निर्यातों के मूल्य बढ़ जाने पर भी १९३९–४० में उनकी मात्रा पहले की अपेक्षा अधिक थी। यद्यपि युद्ध काल में शत्रु देशों के साथ व्यापार बन्द हो गया था किन्तु फिर भी विदेशी माग अधिक होने के कारण भारतीय व्यापार में बराबर विस्तार होता गया। सन् १९४२–४३ में भारत के विदेशी व्यापार में कुछ कमी हुई

जिसके प्रमुख कारण इस प्रकार थे—(i) जापान के युद्ध मे सम्मिलित हो जाने मे सुदूर-पूर्व के व्यापार का समाप्त हो जाना। (ii) विदेशी विनिमय नियन्त्रण के कारण व्यापार मे बहुत-सी बाधाओ का उत्पन्न होना। (iii) लाइसेन्स प्रणाली (Lincensing system) के परिणामस्वरूप आयात-निर्यात की मात्रा मे कमी। (iv) डॉलर की कमी के कारण अमेरिका से सामान मगाना सम्भव न था। (v) सामान लाने ले जाने के लिए जहाजो की कमी। (vi) शत्रु देशो की कार्यवाही के कारण वस्तुओ का आयात-निर्यात कठिन हो गया था। द्वितीय विश्व-युद्ध काल मे भारत के विदेशी व्यापार मे निम्नलिखित परिवर्तन हुए—

(१) **व्यापार के स्वरूप मे परिवर्तन**—युद्ध के कारण भारत से कुछ नई वस्तुओ का निर्यात किया जाने लगा तथा कुछ पुरानी निर्यातो का महत्व कम हो गया। युद्ध काल मे जूट के सामान के निर्यात मे बहुत अधिक वृद्धि हुई। सूती कपड़े के निर्यात मे भी आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। युद्ध से पूर्व भारत केवल ६ करोड रुपये का कपडा निर्यात करता था किन्तु १९४२–४३ मे ४६ करोड रुपये के कपडे का निर्यात किया गया। कपडे की निर्यात मे इस आकस्मिक वृद्धि का कारण जापान के युद्ध मे सम्मिलित हो जाने से बहुत मे नये बाजारो का भारत के हाथो मे आ जाना था। अमेरिका और योरुप मे भारतीय चाय की माग बहुत अधिक बढ जाने के कारण चाय का निर्यात अधिक मात्रा मे किया जाने लगा। अब भारतवर्ष से कच्चे माल का निर्यात कम हो गया था और तैयार माल अधिक मात्रा मे विदेशो को भेजा जाने लगा था। भारत की आयातो मे भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ और हमारे देश मे तैयार माल की आयात बहुत कम हो गई तथा कच्चे माल का आयात अधिक मात्रा मे किया जाने लगा। इस प्रकार युद्ध ने हमारे देश को एक तैयार माल का आयात तथा कच्चे माल का निर्यात करने वाले देश से बदल कर तैयार माल का निर्यात तथा कच्चे माल का आयात करने वाला देश बना दिया।

(२) **व्यापार की दिशा में परिवर्तन**—युद्ध काल मे भारत की विदेशी व्यापार की दिशा मे भी काफी परिवर्तन हुआ। भारत ने साम्राज्य देशो के साथ अपने व्यापार का विस्तार किया और आस्ट्रेलिया, कनाडा, मिश्र, ईराक तथा अन्य स्टर्लिंग क्षेत्र वाले देशो के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये गये। इस काल की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि अमेरिका के साथ भारत के व्यापार का तेजी के साथ विस्तार हुआ। सन् १९४४–४५ मे अमेरिका के साथ किये जाने वाले व्यापार का मूल्य ९५ करोड रुपये था जबकि उसी वर्ष इगलैंड के साथ १०२ करोड रुपये का व्यापार किया गया। इस प्रकार विदेशी व्यापार मे अमेरिका का स्थान इगलैंड के बराबर आ गया।

(३) **व्यापार सन्तुलन में सुधार**—युद्ध काल मे भारत के व्यापार सन्तुलन मे महत्वपूर्ण सुधार हुआ और वह निरन्तर हमारे देश के पक्ष मे रहने लगा। सन्

१९४३–४४ तक भारत का आयात बराबर गिर रहा था क्योंकि विदेशों से आवश्यकता की वस्तुयें प्राप्त करना सम्भव नहीं था। इसके विपरीत निर्यातों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी जिसके कारण व्यापार-सन्तुलन भारत के पक्ष में था।

द्वितीय विश्व युद्ध काल में भारत के विदेशी व्यापार की स्थिति का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	निर्यात का मूल्य	आयात का मूल्य	कुल व्यापार	व्यापाराशेष
१९४०–४१	१८७	१५७	३४४	+३०
१९४१–४२	२३७	१७३	४१०	+६४
१९४२–४३	१८७	११०	२९७	+७७
१९४३–४४	१९०	११८	३०८	+७२
१९४४–४५	२१०	२०४	४१४	+ ६

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि युद्ध के पहले दो वर्षों में भारत की निर्यात और आयात दोनों ही बढ़ी जिसके परिणामस्वरूप देश के कुल व्यापार का विस्तार हुआ। सन् १९४२–४३ में आयात व निर्यात में भारी कमी हुई और १९४३–४४ में स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। सन् १९४४–४५ में फिर निर्यात और आयात में कुछ वृद्धि हुई। व्यापाराशेष युद्ध-काल में निरन्तर भारत के पक्ष में रहा किन्तु १९४४–४५ में यह अतिरेक बहुत मामूली था।

युद्धोत्तर काल में विदेशी व्यापार

(Foreign Trade in the Post-war Period)—

युद्धोत्तर काल में भारत की आयातों में अत्यधिक वृद्धि हुई। युद्ध काल में आयातों की कमी के कारण देश के उद्योगों को पूँजीगत वस्तुओं तथा कच्चे माल की बहुत अधिक कमी अनुभव हुई जिसके कारण उनका उचित विकास नहीं हो सका। युद्ध समाप्त होते ही इस कमी को दूर करने का प्रयत्न किया गया और हमारे देश में आयातों की माग बहुत अधिक बढ़ गई। आरम्भ में उन वस्तुओं को मँगाया गया जिनकी सैनिक कार्यों के लिए आवश्यकता थी किन्तु इसके पश्चात् खाद्यान्न तथा पूँजीगत वस्तुओं का भारी मात्रा में आयात किया गया। युद्धोत्तर काल में आयातों में इतनी तेजी के साथ वृद्धि हुई कि भारत का व्यापार सन्तुलन विपक्ष में हो गया। आयातों में वृद्धि के साथ-साथ निर्यातों में भी वृद्धि हुई किन्तु आयातों की वृद्धि निर्यातों की वृद्धि की अपेक्षा बहुत अधिक थी। युद्धोत्तर काल में आयातों में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण इस प्रकार थे—(1) उद्योगों के विकास के लिए पूँजीगत वस्तुओं

तथा कच्चे माल की अत्यधिक माग (iii) खाद्य समस्या के कारण देश मे अधिक मात्रा मे अनाज का मगाया जाना, आयातो पर लगे युद्धकालीन प्रतिबन्धो मे कमी, (iv) सरकार की खुली सामान्य अनुज्ञापन प्रणाली (Open General License System)। जहाजो की सुविधायें बढ जाने के कारण लोगो ने सरकार की आयात सम्बन्धी उदार नीति से पूरा-पूरा लाभ उठाया और देश मे आयातो की मात्रा तेजी के साथ बढने लगी।

सन् १९४७ मे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ ही देश का विभाजन हो गया। विभाजन के कारण देश मे कच्चे माल की भारी कमी हो गई। जूट, कपास, चमडा, तिलहन तथा अन्य वस्तुयें जो विभाजन से पूर्व भारत मे इतनी अधिक मात्रा मे पाई जाती थी कि उद्योगो की आवश्यकता पूरी करने के पश्चात् उनका निर्यात भी कर दिया जाता था, अब बहुत कम मात्रा मे हमारे पास रह गई। इसके परिणामस्वरूप एक ओर तो हमारी निर्यात कम हो गई और दूसरी ओर अपने उद्योगो को चलाने के लिए हमे इन वस्तुओ का भारी मात्रा मे आयात करना पडा। विभाजन के कारण देश मे खाद्य सामग्री की और अधिक कमी हो गई और हमे विदेशो से भारी मात्रा मे अनाज मगाना पडा। इन सबका परिणाम यह हुआ कि हमारा व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल रहने लगा।

युद्धोत्तर काल मे भारत के विदेशी व्यापार की स्थिति का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है—

(करोड रुपयो मे)

वर्ष	निर्यात का मूल्य	आयात का मूल्य	कुल व्यापार	व्यापाराशेष
१९४५	२२९	२३२	४६१	—३
१९४६	२६६	२९२	५५८	—२६
१९४७	३२०	३३४	६५४	—१४
१९४८	४२८	४५१	८७९	—२३
१९४९	४२३	५४३	९६६	—१२०

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि युद्धोत्तर काल मे भारत की निर्यात तथा आयात दोनो मे तेजी के साथ वृद्धि हुई किन्तु आयातो मे वृद्धि निर्यातो की वृद्धि की अपेक्षा अधिक तेज थी जिसके कारण व्यापाराशेष निरन्तर देश के विपक्ष मे रहा। व्यापाराशेष का घाटा १९४५ मे ३ करोड से बढकर १९४९ मे १२० करोड़ रुपये हो गया।

अवमूल्यन का विदेशी व्यापार पर प्रभाव
(Effect of Devaluation on Foreign Trade)—

सितम्बर सन् १९४९ में इगलैंड ने अपने डॉलर के घाटे को पूरा करने के लिए पौंड का अवमूल्यन कर दिया जिसके परिणामस्वरूप पौंड के मूल्य को ४·०३ डॉलर से घटा कर २·८ डॉलर कर दिया गया। इगलैंड के साथ ही पाकिस्तान को छोड़कर स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के सभी देशों ने अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर दिया। सन् १९४६ से डॉलर क्षेत्र के साथ भारत का व्यापाराशेष (Balance of Trade) प्रतिकूल हो गया था जिसके कारण भारत के सम्मुख भी डॉलर समस्या थी। इस समस्या को सुलझाने के लिए भारत ने भी इगलैंड के साथ ही अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया और भारतीय रुपये का मूल्य ३०·२२५ सेन्ट (Cents) से घटकर २१ सेन्ट रह गया। रुपये के अवमूल्यन का भारत के विदेशी व्यापार पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। अवमूल्यन करते समय यह आशा की गई थी कि निर्यातों के बढ़ने तथा आयातों के कम हो जाने के कारण भारत के व्यापार सतुलन में काफी सुधार हो जायगा और वास्तव में ऐसा ही हुआ। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भारत से अमेरिका तथा अन्य डॉलर देशों को निर्यात बढ़ने लगा और इन देशों से होने वाली आयात की मात्रा कम हो गई। भारत के व्यापार सतुलन का घाटा कम हो गया और डॉलर समस्या को सुलझाने में काफी सहायता मिली। किन्तु अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भारत पाकिस्तान व्यापार बिल्कुल ठप्प हो गया, क्योंकि पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया। कुछ समय तक भारत-पाकिस्तान व्यापार बिल्कुल स्थगित रहा किन्तु कुछ समझौतों के द्वारा तथा पाकिस्तानी रुपये का अवमूल्यन हो जाने पर यह व्यापार फिर से स्थापित हो गया। अवमूल्यन के पश्चात् भारत के व्यापाराशेष में होने वाला सुधार निम्न तालिका से स्पष्ट है—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	निर्यात एवं पुनर्निर्यात	आयात	व्यापाराशेष
१९४८–४९	६२३	५४३	—१२०
१९४९–५०	४८५	५९४	—१०९
१९५०–५१	६०१	६२३	— २२
१९५१–५२	७३३	९४३	—२१०

उपर्युक्त तालिका को देखने से पता चलता है कि अवमूल्यन के पश्चात् भारत की व्यापाराशेष की स्थिति में काफी सुधार हुआ है। व्यापाराशेष का घाटा जो १९४८–४९ में १२० करोड़ रुपये था १९५०–५१ में कम होकर केवल २२ करोड़ रुपये रह गया। अवमूल्यन का प्रभाव सन् १९५०–५१ तक समाप्त हो

चुका था और इसके पश्चात् व्यापाराशेष का घाटा तेजी के साथ बढ़ने लगा। अवमूल्यन के पश्चात भारत के व्यापाराशेष में होने वाले सुधार के लिए कुछ अन्य कारण भी जिम्मेदार थे —(i) सरकार के द्वारा डॉलर देशों से होने वाली आयातों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और इन आवश्यकताओं को स्टर्लिंग क्षेत्र से पूरा करने का प्रयत्न किया गया। (ii) कोरियन युद्ध आरम्भ हो जाने के कारण अमेरिका तथा अन्य देशों ने स्टॉक जमा करने आरम्भ कर दिये जिसके कारण भारत की निर्यातों की माग काफी बढ़ गई थी। (iii) भारतीय वस्तुओं की माग बढ़ जाने के कारण व्यापार की शर्तें देश के पक्ष में हो गई थी। इन सब कारणों से युद्धोत्तर काल में भारत के विदेशी व्यापार में तेजी के साथ वृद्धि हुई। आयात और निर्यात दोनो ही की प्रवृत्ति बढ़ने की थी। युद्ध समाप्त होने पर १६४५–४६ में हमारे विदेशी व्यापार का कुल मूल्य ४१४ करोड रुपये था जो १६५०–५१ में बढ़कर १२२४.७१ करोड रुपये हो गया। आयातो मे वृद्धि का मुख्य कारण अधिक मात्रा में पूँजीगत वस्तुओं, कच्चे माल तथा खाद्य-सामग्री का आयात किया जाना था।

योजना काल मे विदेशी व्यापार
(Foreign Trade During the Plan Period)—

सन् १६५१ से भारत में नियोजित आर्थिक विकास का कार्य आरम्भ हुआ। नियोजित विकास के पहले दस वर्षों में आर्थिक विकास का भारत के विदेशी व्यापार पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा जिसके कारण व्यापार की मात्रा तथा प्रकृति दोनों में ही परिवर्तन हुए। औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि तथा अर्थ-व्यवस्था का सामान्य विकास होने के कारण आयातो का मूल्य ३६२० करोड रुपये था अर्थात् वार्षिक औसत ७२४ करोड रुपये रहा। अधिक आयात किये जाने के कारण देश का व्यापाराशेष निरन्तर प्रतिकूल रहा और प्रथम योजनाकाल में व्यापाराशेष का कुल घाटा ५२२.२ करोड रुपये था। द्वितीय योजना काल मे निर्यातो मे तेजी के साथ वृद्धि हुई, जिसका मुख्य कारण आर्थिक विकास की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए अधिक मात्रा में पूँजीगत वस्तुओं, कच्चे माल तथा अन्य वस्तुओं का आयात किया जाना था। द्वितीय योजना के पहले दो वर्षों मे आयात ७४६ करोड रुपये से बढ़कर १२३३ करोड रुपये हो गई। इसके पश्चात् के दो वर्षों में आयात का स्तर गिर कर ६२८ करोड रुपये पर आ गया। आयातों में यह कमी मुख्यतया सरकार के द्वारा आयातो पर कड़ा नियन्त्रण किये जाने के कारण हुई। विदेशी विनिमय सकट उत्पन्न हो जाने के कारण सरकार ने आयातो पर विशेष प्रतिबन्ध लगा दिये थे। योजना के अन्तिम वर्ष मे आयात १,१०० करोड रुपये के थे। द्वितीय योजना काल मे कुल मिलाकर ५,३६० करोड रुपये का आयात किया गया और वार्षिक औसत १,०७२ करोड रुपये था जो प्रथम

योजना के वार्षिक औसत की अपेक्षा ५०% अधिक था। आयातों में इस तीव्र वृद्धि के मुख्य कारण इस प्रकार थे—(i) आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अधिक मात्रा में पूँजीगत वस्तुओं का आयात किया जाना। (ii) उद्योगों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए अधिक मात्रा में कच्चे माल तथा अर्धनिर्मित माल का आयात (iii) देश में खाद्य संकट उत्पन्न हो जाने के कारण अधिक मात्रा में अनाज का आयात।

योजना काल के प्रथम दस वर्षों में भारत की निर्यात लगभग स्थिर रही हैं और उनमें प्रयत्न किये जाने पर भी कोई विशेष वृद्धि नहीं की जा सकी। प्रथम योजना काल में निर्यातों का वार्षिक औसत ६०९ करोड़ रुपये था जो कोरियन युद्ध के कारण ही इस स्तर पर बनाये रक्खा जा सका। द्वितीय योजना काल में निर्यातों का वार्षिक औसत ६१८ करोड़ रुपये था जो इससे अधिक हो सकता था। यदि १९५८ में अमेरिका तथा यूरोप में अवसाद की दशाएं उत्पन्न न हुई होती। दूसरी योजना में निर्यातों की मात्रा पहली योजना की अपेक्षा ९% अधिक थी किन्तु निर्यातों के मूल्यों में प्रतिकूल प्रवृत्ति के कारण निर्यातों के कुल मूल्य में कोई विशेष वृद्धि नहीं हो सकी। इस काल में निर्यातों के स्थिर रहने के प्रमुख कारण इस प्रकार थे—(i) देश में वस्तुओं की माग अधिक बढ़ जाने के कारण निर्यात के लिए कम अतिरेक उपलब्ध हो सका। (ii) विदेशों में भारतीय वस्तुओं की माग का कम हो जाना तथा (iii) अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में अन्य देशों से अधिक प्रतियोगिता। इन सब कारणों से योजना काल के प्रथम दस वर्षों में भारत की निर्यातों में कोई विशेष वृद्धि न हो सकी और समस्त संसार की कुल निर्यात में भारत का भाग कम हो गया। इस काल में विश्व निर्यातों (World Exports) की मात्रा दुगनी हो गई किन्तु उनमें भारत का हिस्सा १९५० में २.१ प्रतिशत से घटकर १९६० में केवल १.१ प्रतिशत रह गया।

तीसरी योजना काल में विदेशी व्यापार

(Foreign Trade During III Plan)—

योजना आयोग का अनुमान था कि तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में ५७५० करोड़ रुपये के आयात किये जाने चाहिएँ। पी० एल० ४८० (P. L. 480) के अन्तर्गत किये जाने वाले आयात इसमें पृथक होंगे। इस प्रकार वर्तमान योजना काल में आयातों का वार्षिक औसत ११७० करोड़ रुपये रहने का अनुमान है जो द्वितीय योजना के वार्षिक औसत से लगभग २०० करोड़ रुपये अधिक है। अधिक मात्रा में आयात करने के लिए यह आवश्यक है कि निर्यात में वृद्धि की जाय। तीसरी योजना काल में ३७०० करोड़ रुपये का निर्यात करने का लक्ष्य रक्खा गया है जिसके आधार पर निर्यात का वार्षिक औसत ७४० करोड़ रुपये होगा जो द्वितीय योजना के वार्षिक औसत से १२६ करोड़ रुपये अधिक है। निर्यातों के इस

ऊँचे लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए योजना आयोग ने निम्नलिखित सिफारिशें की है—

(अ) घरेलू उपभोग को उचित सीमाओं के भीतर रखा जाय जिससे कि निर्यातों के लिए अधिक अतिरेक उपलब्ध हो सके।

(ब) आन्तरिक बाजार में अधिक लाभ प्राप्त करने की सम्भावना हो जाने के कारण यह आवश्यक हो गया है कि निर्यातों के सापेक्षिक लाभ को बढ़ाने के लिए प्रयत्न किए जाएँ।

(स) निर्यात उद्योगों में उत्पादन लागत को कम करके उनकी प्रतियोगिता करने की शक्ति को बढ़ाया जाय।

(द) जनता के विचार को निर्यात के पक्ष में किया जाय जिसके कि वह अधिक निर्यातों के कारण होने वाले कष्ट को सहन कर सके। इस राष्ट्रीय अभियान में उद्योग तथा व्यापार का भी सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

योजना काल में विदेशी व्यापार

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापाराशेष
१९५०–५१	६५० ५	६०० ७	— ४९ ८
१९५५–५६	७७४ ४	६०८ ८	—१६५ ६
१९६०–६१	१ १४०·०	६६० २	—४७९ ८
१९६१–६२	१,१०७ ०	६७९ ५	—४२७ ५
१९६२–६३	१,१३५ ६	७१३ ६	—४२२·०
१९६३–६४	१,१४९·०	७९४ १	—३५३·९
१९६४–६४ (अप्रैल से सितम्बर तक)	६८८ ६	४०६ ०	— २८२ ६

(Source · Eastern Economist Annual Number 1965)

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि योजना काल में आयातों की मात्रा बहुत तेजी के साथ बढ़ी है। इसमें से अधिकांश वृद्धि द्वितीय और तृतीय योजना काल में हुई है। निर्यातों में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई है। पहली और दूसरी योजना में निर्यात लगभग स्थिर रहे किन्तु १९६०–६१ के पश्चात् उनमें कुछ वृद्धि हुई है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि लगभग स्थिर निर्यात तथा तेजी के साथ बढ़ती हुई आयात ने देश के सम्मुख एक विशेष समस्या उत्पन्न कर दी है जिसे

निर्यातों को प्रोत्साहन देकर ही सुलझाया जा सकता है क्योंकि आर्थिक विकास के काल में आयातों में कमी करना सम्भव नहीं है।

भारत के विदेशी व्यापार का स्वरूप

(Composition of India's Foreign Trade)—

युद्धोत्तर काल में भारत के विदेशी व्यापार में वृद्धि ही नहीं हुई बल्कि उसकी प्रकृति में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। विशेषतया योजना काल में हमारे निर्यातों तथा आयातों का स्वरूप बिल्कुल बदल गया है। विदेशी व्यापार के स्वरूप में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करने के लिए आयातों तथा निर्यातों का पृथक-पृथक् अध्ययन किया जाना चाहिए।

(1) भारत के आयात (Indian Imports) —

योजना काल में भारत के आयातों की प्रकृति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। आर्थिक विकास के लिए अधिक मात्रा में पूंजीगत वस्तुओं तथा कच्चे माल का आयात किया गया है। इसके विपरीत उपभोग सम्बन्धी वस्तुओं का आयात कम से कम रखने की प्रवृत्ति रही है। देश में खाद्य संकट की स्थिति रहने के कारण अनाज का आयात अधिक मात्रा में किया गया है। योजना काल में भारतीय आयातों का स्वरूप निम्न तालिका में स्पष्ट है—

आयात का स्वरूप

(Structure of Imports)

(१९५१ – ६१)

(करोड़ रुपयों में)

वर्ग (Category)	१९५१–५६ वार्षिक औसत	१९५६–६१ वार्षिक औसत
उपभोग की वस्तुयें	२३५	२४७
कच्चा माल तथा अर्ध निर्मित वस्तुयें	३६४	५०२
पूंजीगत वस्तुयें	१२५	३२३
कुल	७२४	१०७२

(Source : Third Five Year Plan)

उपर्युक्त तालिका को देखने से पता चलता है कि द्वितीय योजना काल में प्रथम योजना काल की अपेक्षा उपभोग की वस्तुओं की आयात में सबसे कम वृद्धि हुई है जो केवल ५% है। कच्चे माल तथा अर्ध निर्मित माल की आयात तेजी के साथ बढ़ी है और उसमें ३५% की वृद्धि हुई है। सबसे अधिक वृद्धि पूंजीगत वस्तुओं

के आयात में हुई है जिनका द्वितीय योजना का वार्षिक औसत प्रथम योजना की अपेक्षा १६०% अधिक है। इससे स्पष्ट होता है कि हमारी आयातों की प्रकृति पूँजीगत वस्तुओं के पक्ष में बदल रही है। नये उद्योग स्थापित हो जाने से कच्चे तथा अर्धनिर्मित माल की माग भी बहुत बढ गई है। आयातों की प्रकृति में यह परिवर्तन एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हुआ है।

तीसरी योजना काल में यह प्रवृत्ति और अधिक बढ गई है। इस योजना में मशीनों तथा पूँजीगत वस्तुओं की आयात का मूल्य १६०० करोड रुपये होने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त देश में पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन बढाने के लिए २०० करोड रुपये का अन्य आवश्यक सामान मगाना पडेगा। इन सबके अतिरिक्त ३६५० करोड रुपये का कच्चा माल, अर्ध निर्मित वस्तुयें तथा आवश्यक उपभोग सामग्री का आयात किया जाना है। इस प्रकार तीसरी योजना में आयातों के कुल मूल्य का ३६% पूँजीगत वस्तुओं की आयात पर व्यय किया जाना है। दूसरी योजना में यह व्यय ३० प्रतिशत था। तीसरी योजना के प्रथम तीन वर्षों में हमारी आयातों का स्वरूप निम्न तालिका से स्पष्ट है—

भारत के आयात व्यापार का स्वरूप

(१६६१-६२ से १६६३-६४ तक)

(करोड रुपयों में)

वस्तुयें	१६६१-६२	१६६२-६३	१६६३-६४
१. खाद्य पदार्थ	१४७·०७	१७६ ४१	१६३ ०१
२. पेय और तम्बाकू	१·६५	१ ६६	१·०७
३. कच्चा माल	१२६·८६	१२७·२०	१२२·५८
४. पैट्रोलियम और सम्बन्धित वस्तुये	६५ ८६	८७·६७	१०४·५२
५. वनस्पति तेल आदि	८·६२	५·६३	४·८७
६. रसायनिक पदार्थ	८६ ७६	१००·५२	८८·४०
७. निर्मित वस्तुयें	२२१ १६	२०३·६५	१६५ ५३
८. मशीनें तथा परिवहन सम्बन्धी सामान	३६७·५२	३८७ ३८	४२१·५७
६. अन्य निर्मित वस्तुये	२१·६६	३०·७३	३५·३८
कुल	१,०८३·२२	१,१२४·४५	१,१३६·६३

(Source : Monthly Statistics of Foreign Trade in India)

उपर्युक्त तालिका के अध्ययन से पता चलता है कि तीसरी योजना के प्रथम तीन वर्षों में भी मशीनरी के आयात में वृद्धि हुई है, खाद्य पदार्थों का आयात भी अधिक किया गया है तथा पैट्रोलियम व उससे सम्बन्धित वस्तुओं का आयात बढ़ा है। अन्य निर्मित वस्तुओं का आयात भी अधिक हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य सब प्रकार की वस्तुओं का आयात १९६३-६४ में १९६१-६२ की अपेक्षा कम रहा है।

योजना काल में लोहे और इस्पात का सामान, धातुयें तथा धातुओं का सामान, मशीनरी तथा परिवहन सम्बन्धी सामान का आयात विशेष रूप से महत्वपूर्ण रहा है। मशीनों की आयात का मूल्य निरन्तर बढ़ता रहा है। सन् १९५०-५१ में केवल ८७·५ करोड़ रुपये की मशीनें आयात की गईं जबकि १९६३-६४ में आयात की जाने वाली मशीनों का मूल्य ४२१·६ करोड़ रुपये था। खनिज तेल की आयात भी तेजी के साथ बढ़ी है और १९५०-५१ में ५५ करोड़ रुपये से बढ़कर १९६३-६४ में १०४·५ करोड़ रुपये हो गई है। इसी प्रकार रसायनिक पदार्थों की आयात में भी अच्छी प्रगति हुई है। दूसरी और तीसरी योजना काल में खाद्य अन्न की आयात में विशेष रूप से वृद्धि हुई है। रुई, जूट, ऊन, सिल्क का धागा, चीनी, रंग तथा अन्य उपभोग सम्बन्धी वस्तुओं की आयात कम हो गई है जिसका प्रमुख कारण देश में इन वस्तुओं का अधिक उत्पादन किया जाना है। फल, सब्ज़ी, तम्बाकू कागज, फोटोग्राफी का सामान आदि की आयात प्रायः स्थिर रही है। रसायनिक खाद, दवाई, अनाज, रबर इत्यादि की आयात में परिवर्तन होते रहे हैं।

(ii) भारतीय निर्यात
(Indian Exports)—

योजना काल में यद्यपि निर्यातों की मात्रा में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई है किन्तु उनके स्वरूप में परिवर्तन अवश्य हुआ है। योजना आयोग के अनुसार नियोजन के प्रथम दस वर्षों में भारतीय निर्यातों के स्वरूप में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ दिखलाई देती हैं—प्रथम, कृषि उत्पादन पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से आधारित वस्तुओं के निर्यात में कोई सुधार नहीं हुआ है। इस श्रेणी में चाय, सूती कपड़ा, जूट का सामान, खाले, मसाले, तम्बाकू इत्यादि आ जाते हैं। इन वस्तुओं का कुल निर्यात *योजना काल में गिरा है। द्वितीय, तैयार माल तथा कच्चे लोहे का निर्यात काफी* बढ़ा है किन्तु यह वृद्धि परम्परागत निर्यातों की गिरावट को पूरा नहीं कर सकी है। नियोजन के प्रथम दस वर्षों में निर्यातों का स्वरूप आगे दी तालिका से स्पष्ट है।

निर्यात का स्वरूप
(Pattern of Exports)
(१९५१—१९६०)

(करोड़ रुपयों में)

वस्तुयें	१९५०–५१	१९५५–५६	१९५८–५९	१९५९–६०
१ कृषि वस्तुयें और सम्बन्धित निर्मित वस्तुयें	४९६·५	४८९·३	४५३·५	४७३·६
२ अन्य निर्मित वस्तुयें	५८·४	६१·०	५३·३	१०५·०
३ खनिज पदार्थ	२३·४	३४·४	४६·२	५३·०
कुल	५७८·३	५८४·७	५५३·०	६३१·६

(Source : Third Five Year Plan)

हमारी सबसे महत्वपूर्ण निर्यात चाय, जूट, जूट का सामान, रुई तथा सूती कपड़ा है। सन् १९५०–५१ में कुल निर्यातों में इनका भाग ६४% था जो इनके महत्व को विदित करता है। सन् १९६१–६२ में इनका भाग गिरकर ५०% रह गया। इस काल में इन तीनों में से चाय का निर्यात अधिक तेजी के साथ बढ़ा है जो १९५०–५१ में ८० करोड़ रुपये से बढ़कर १९६१–६२ में १२१ करोड़ रुपये हो गया। जूट के सामान का निर्यात १९५०–५१ में ११४ करोड़ रुपये था जो १९५१–५२ में एकदम बढ़कर २७० करोड़ रुपये हो गया किन्तु इसके पश्चात् १२० करोड़ रुपये के समीप स्थिर रहा है। रुई और सूती कपड़े का निर्यात १९५०–५१ में १५६ करोड़ रुपये था जो कुछ समय तक गिरने के पश्चात् १९५५–५६ में फिर १७० करोड़ रुपये हो गया, किन्तु १९६१–६२ में यह निर्यात केवल ६७ करोड़ रुपये था। इस प्रकार इन तीन महत्वपूर्ण निर्यातों में चाय की निर्यातों में काफी वृद्धि हुई है, जूट का निर्यात लगभग स्थिर रहा है (केवल १९५१–५२ में वह बहुत ऊँचा था) और सूती कपड़े का निर्यात गिरा है।

इस दशक में कच्ची धातुओं के निर्यात में विशेष वृद्धि हुई है जिनका निर्यात १९५०–५१ में ९·७ करोड़ रुपये से बढ़कर १९५५–५६ में २३ करोड़ तथा १९६१–६२ में २७ करोड़ रुपये हो गया। इसके अतिरिक्त फल, सब्जी, ऊन व ऊन का सामान, कॉफी, मछली, चीनी, जूते, औजार, मशीनें तथा तेल की निर्यात में भी वृद्धि हुई है किन्तु यह वृद्धि बहुत अधिक नहीं है। वनस्पती तेल, तम्बाकू, मसाले, गोंद, लाख इत्यादि का निर्यात गिरा है। ऊनी कपड़ा, अफीम, इमारती लकड़ी आदि का निर्यात लगभग स्थिर रहा है जबकि सीमेंट, कोयला, खनिज तेल और कोक का निर्यात बदलता रहा है। इस विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि

पिछले कुछ वर्षों मे भारतीय निर्यातो का विविधिकरण नहीं हुआ है। अभी भी कुल निर्यात के तीन चौथाई मे केवल १२ वस्तुओं का निर्यात आता है, शेष एक चौथाई भाग मे अन्य एक हजार से भी अधिक वस्तुयें आती है। कुछ नई वस्तुओ का निर्यात आरम्भ हुआ है और उनकी निर्यात मे काफी वृद्धि भी हुई है किन्तु फिर भी उनसे अधिक विदेशी विनिमय साधन प्राप्त नही हो सके हैं।

तीसरी पचवर्षीय योजना काल मे भी भारतीय निर्यातो का स्वरूप लगभग इसी प्रकार का रहा है और उसमे कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नही हुए हैं। द्वितीय योजना की तुलना मे तृतीय योजना काल मे निर्यातों मे वार्षिक औसत वृद्धि १२० करोड रुपये की होती है। यह वृद्धि मुख्यतया कृषि सम्बन्धी वस्तुओ की निर्यात बढा कर ही प्राप्त की जानी है। अन्य प्रकार की वस्तुओ की निर्यात मे कोई विशेष वृद्धि होने की सम्भावना नही है। तीसरी योजना के प्रथम तीन वर्षों मे निर्यातो का स्वरूप निम्न प्रकार रहा है—

निर्यात का स्वरूप
(Pattern of Exports)
(१९६१–६२ से १९६३–६४ तक)

(करोड रुपयो मे)

वस्तुयें	१९६१–६२	१९६२–६३	१९६३–६४
१ खाद्य पदार्थ	२१४ ०	२२३ ९	२४८·५
२. पेय और तम्बाकू	१५ ०	१८·९	२१·७
३ कच्चा माल	११८ ४	१११·१	१३१·५
४. खनिज ईंधन	५ ६	६ ५	७ ७
५ वनस्पति तेल आदि	६·५	१३ ६	२०·४
६. रसायनिक पदार्थ	७·८	७ ८	६ ६
७. निर्मित माल	२६६ ८	२९६ ७	२९९·१
८. मशीने तथा परिवहन सम्बन्धी सामान	४·७	६ ५	६·६
कुल	६६० ३	६८५ ५	७९६·९

(Source Monthly Statistics of the Foreign Trade in India)

उपर्युक्त तालिका के अध्ययन से स्पष्ट है कि तृतीय योजना के पहले तीन वर्षों मे निर्यातों मे कुछ वृद्धि हुई है। यह वृद्धि मुख्यतया निर्मित माल, मशीनें, वनस्पति तेल व खनिज ईंधन की निर्यात मे हुई है। कच्चे माल का निर्यात बहुत कम बढ़ा है, खाद्य पदार्थों का निर्यात मामूली बढ़ा है तथा रसायनिक पदार्थों का

निर्यात गिरा है। तीसरी योजना काल मे निर्यातो को प्रोत्साहित करने के लिए विशेष प्रयत्न किये जा रहे है और उसमे कुछ सफलता भी मिली है किन्तु निर्यातो मे कोई विशेष वृद्धि नही की जा सकी है। सरकार मुख्यतया लोहा, इस्पात तथा इनकी बनी हुई एव निर्मित वस्तुग्रो के निर्यात बढाने का प्रयत्न कर रही है। चीनी, मछली, साईकिल, सिलाई मशीन, बिजली की मोटर, मशीन टूल, प्लास्टिक का सामान तथा अन्य निर्मित वस्तुग्रो के निर्यात मे वृद्धि होने की आशा की जा सकती है।

भारत के विदेशी व्यापार की दिशा
(Direction of India's Foreign Trade)—

द्वितीय विश्व-युद्ध मे पूर्व भारत का साम्राज्य देशो के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था और हमारा अधिकाश विदेशी व्यापार स्टर्लिंग क्षेत्र वाले देशो के साथ होता था किन्तु युद्ध तथा युद्धोत्तर काल मे भारत ने अन्य देशो के साथ भी अपने व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये है। जहाँ तक निर्यातो का सम्बन्ध है इगलैड तथा साम्राज्य देश हमारे निर्यातो का महत्वपूर्ण भाग लेते रहे है। सन् १९०९ से १९१४ के बीच भारतीय निर्यातो मे इन देशो का भाग ४१% था जो १९४५ मे बढकर ६०% हो गया। किन्तु इसी काल मे भारत की आयाते साम्राज्य देशो से गिरी है। सन् १९०९ और १९१४ के बीच भारतीय आयातो का ७० प्रतिशत भाग इगलैड तथा साम्राज्य देशो से आता था किन्तु १९४५ मे इन देशो का भाग घट कर केवल ३७% रह गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इस काल मे साम्राज्य देशो के साथ भारतीय निर्यात मे निरन्तर वृद्धि हुई है किन्तु इन देशो से आयात की मात्रा कम होती गई है।

योजना काल मे विदेशी व्यापार की दिशा
(Direction of Foreign Trade During the Plan Period)—

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात और विशेषतया नियोजित आर्थिक विकास आरम्भ हो जाने पर भारतीय विदेशी व्यापार की दिशा मे कुछ परिवर्तन हुआ है। इस काल मे कुछ नये देशो के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किया गया है, विशेषतया अमेरिका के साथ हमारे व्यापार मे काफी वृद्धि हुई है। पूर्वी यूरोपीय देशो के साथ भी व्यापार बढा है। इन नई प्रवृत्तियो के होते हुए भी हमारा अधिकाश व्यापार इगलैड तथा साम्राज्य देशो के साथ ही होता है।

भारत के विदेशी व्यापार मे सबसे महत्वपूर्ण स्थान इगलैड का है। सन् १९५१–५२ मे भारत ने अपनी आवश्यकताओ का २१ प्रतिशत इगलैड से आयात किया, जो १९५५–५६ मे बढकर २५·४ प्रतिशत हो गया किन्तु १९६१–६२ मे गिरकर १८·७ प्रतिशत रह गया। हमारी निर्यातो मे भी इगलैड महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सन् १९५०–५१ मे भारतीय निर्यातो मे उसका हिस्सा २३·५ प्रतिशत

था जो १६५५–५६ में बढ़कर २८·८ प्रतिशत हो गया और १६६१–६२ में गिरकर २८ प्रतिशत रह गया। दीर्घकालीन प्रवृत्ति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इंगलैंड भारतीय आयातों तथा निर्यातों में अपना महत्वपूर्ण स्थान खोता जा रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व भारतीय आयातों में उसका हिस्सा ३० प्रतिशत तथा निर्यातों में ३४ प्रतिशत था किन्तु १६६१–६२ में यह भाग क्रमशः १८·७ प्रतिशत तथा २४ प्रतिशत था। इंगलैंड से हम मशीनें, औजार, मोटरें, रसायनिक पदार्थ, दवाइयाँ, रंग आदि मंगाते हैं और इसके बदले में जूट का सामान, चाय खालें, गोंद, तेल के बीज आदि का निर्यात ब्रिटेन को किया जाता है।

हमारे व्यापार में दूसरा महत्वपूर्ण देश अमेरिका है जिसके साथ हमारा व्यापार बढ़ता जा रहा है। युद्ध से पूर्व हमारी आयातों में उसका भाग केवल ७ प्रतिशत था किन्तु १६५०–५१ में यह बढ़कर १८·६ प्रतिशत हो गया और १६६१–६२ में २२·८ प्रतिशत था। हमारी निर्यातों में युद्ध से पूर्व अमेरिका का भाग ६ और १० प्रतिशत के बीच रहता था, १६५०–५१ में यह लगभग १६·८ प्रतिशत था और १६६१–६२ में १८ प्रतिशत था। सन् १६४६ में अवमूल्यन के पश्चात् अमेरिका को भारतीय निर्यातों की मात्रा में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है। सन् १६५५–५६ में कुल जूट निर्यात का लगभग ½ अमेरिका ने लिया। इसी वर्ष चाय की कुल निर्यात लगभग ११ करोड़ रुपये थी जिसमें से ६ करोड़ रुपये की चाय अमेरिका को निर्यात की गई। भारतवर्ष अमेरिका को कच्चा जूट, जूट का सामान जानवरों की खालें, लाख, काजू, तेल के बीज, मसाले चन्दन की लकड़ी आदि वस्तुएँ भेजता है तथा अमेरिका से मशीनें, औजार भाप इन्जिन, ट्रैक्टर, तेल निकालने तथा साफ करने वाली मशीनें, मोटरें, दवाइयाँ, रसायनिक पदार्थ, तम्बाकू अनाज, रुई आदि वस्तुयें मंगाता है।

पश्चिमी जर्मनी का स्थान हमारे विदेशी व्यापार में विचित्र है। हमारे आयातों में उसका हिस्सा निरन्तर बढ़ता जा रहा है किन्तु निर्यातों में उसका हिस्सा बहुत कम है। आयातों का १% से भी कम जर्मनी से आता था। १६५०–५१ में उसका भाग १·८ प्रतिशत था जो १६५५–५६ में बढ़कर ८·८ प्रतिशत हो गया और १६६१–६२ में ८·७ प्रतिशत था। इसके विपरीत निर्यातों में पश्चिमी जर्मनी का भाग बहुत कम रहा है और उसमें कोई वृद्धि भी नहीं हुई है। युद्ध से पूर्व हमारी निर्यातों का ५ प्रतिशत पश्चिमी जर्मनी को जाता था। १६५०–५१ में उसका भाग केवल १·८ प्रतिशत रह गया और १६६१–६२ में २·६ प्रतिशत था। इस प्रकार पिछले कुछ वर्षों में पश्चिमी जर्मनी के साथ व्यापार में हमें काफी घाटा रहता है।

भारतीय व्यापार का लगभग आधा भाग इन तीनों देशों के ऊपर निर्भर है। सन् १६५०–५१ में भारतीय आयातों में इन तीनों देशों का हिस्सा ४१· प्रतिशत था जो १६६१–६२ में बढ़कर ४६·६ प्रतिशत हो गया। निर्यातों में तीन

देशों का भाग १९५०–५१ मे ४४·५ प्रतिशत तथा १९६१–६२ मे ४४·५ प्रतिशत था। पिछले कुछ वर्षों मे भारत ने जिन देशों के साथ अपना व्यापार बढाया है उनमे रूस तथा पूर्वी यूरोपीय देश प्रमुख है। इसके विपरीत भारत का व्यापार फ्रास, आस्ट्रेलिया, पाकिस्तान, जापान तथा बर्मा के साथ गिरा है।

प्रथम तथा द्वितीय पचवर्षीय योजनाओ मे भारत के विदेशी व्यापार की दिशा मे होने वाले परिवर्तनो को निम्न तालिका के द्वारा जाना जा सकता है—

भारत के विदेशी व्यापार की दिशा
(Direction of India's Foreign Trade)

(प्रतिशत भाग)

देश/क्षेत्र	निर्यात			आयात		
	१९५२	१९५६	१९६०	१९५२	१९५६	१९६०
१. पूर्वी तथा सुदूर पूर्व के देश	२५ ७	१६·३	१७ ०	१३ ६	१०·८	१३·१
जापान	४ १	४ ९	५·५	२ ४	५·२	५ ४
२ पश्चिमी एशिया	५ ७	५ ८	६ ५	७ ७	१० ८	७·५
३. अफ्रीका	३ ६	३ ९	२ ५	३ ८	४ ०	४·४
४. पश्चिमी योरोप	२९ ६	३९ ८	३८·५	३० १	५०·१	४०·८
इगलैंड	२०·५	२९·८	२७ ५	१८ ५	२५ ०	२०·०
योरोपीय आर्थिक समाज (E.E.C.)	७·५	८ ३	८ ०	८ ८	२०·०	१८ ०
५ पूर्वी योरोप तथा चीन	१ ३	३ ५	८·०	२·२	४ २	३ ७
६ उत्तरी अमरीका	२१·१	१७ ०	१८ ७	३७ ३	१२ ४	२५·२
स० रा० अमरीका	१९·०	१४ ७	१६ ०	३३·६	११ ३	२३ ७
७. लेटिन अमरीका	१ ४	१ ०	२·५	—	०·१	०·१
८ ओसेनिया (Oceania)	४ ३	४ ४	३·१	१ ७	१ ७	२·३
९. अन्य	७·३	८ ३	३ २	३·३	४ ३	३ ३
कुल	१००·०	१०० ०	१००·०	१००·०	१००·०	१०० ०

(Source : Third Five Year Plan)

इस तालिका को देखने से पता चलता है कि भारत की निर्यातों का ३९ प्रतिशत पश्चिमी योरोप को जाता है जिसमे से २८ प्रतिशत इगलैंड लेता है। निर्यातो मे इगलैंड का हिस्सा पिछले कुछ वर्षो से निश्चित रहा है तथा उत्तरी

अमेरिका का भाग कुछ कम हुआ है। योरोपीय आर्थिक समाज वाले देशों का भाग पिछले दस वर्षों मे बदलता रहा है। रूस तथा पूर्वी योरोपीय देशों का भाग भारतीय निर्यात मे बढ़ रहा है। प्रथम योजना के प्रारम्भ मे यह १ प्रतिशत था जबकि दूसरी योजना के अन्त म बढकर ८ प्रतिशत हो गया। आयातो मे पश्चिमी योरोप का भाग १९५२ मे ३०·१ प्रतिशत से बढकर १९५६ मे ५०·१ प्रतिशत हो गया किन्तु द्वितीय योजना काल मे इन देशो का भारतीय आयातो मे भाग गिरा है और १९६० मे इनमे होने वाले आयात का भाग घटकर ४०·४ प्रतिशत रह गया जिसमे से २० प्रतिशत आयात इगलैंड से किया गया। भारत के विदेशी व्यापार मे अमेरिका का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है। अमेरिका से १९५२ मे भारतीय आयातो का ३७·३ प्रतिशत भाग आता था जो १९५६ मे गिरकर १२·४ प्रतिशत रह गया किन्तु १९६० मे बढकर २५·२ प्रतिशत हो गया। पूर्वी एशिया तथा सुदूरपूर्व के देशो से होने वाला व्यापार प्राय स्थिर रहा है, पश्चिमी एशिया की निर्यातें गिरी है तथा निर्यातो मे कोई विशेष वृद्धि नही हुई है। अफ्रीका को निर्यात कम हुई हैं तथा आयातो मे कुछ वृद्धि हुई है। पूर्वी योरोप को निर्यातें कुछ बढी हैं किन्तु आयातें कुछ कम हुई है।

तृतीय योजना काल (Third Plan Period)—

तीसरी पचवर्षीय योजना काल मे भारतीय विदेशी व्यापार की दिशा मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ। प्रथम तथा द्वितीय योजना काल की प्रवृत्तियाँ ही अधिक मजबूत हो गई है। सामान्यत यह कहा जा सकता है कि अमेरिका ने भारतीय विदेशी व्यापार मे प्रथम स्थान प्राप्त कर लिया है क्योकि इस काल मे अमेरिका से हमारी आयाते बहुत तेजी के साथ बढी है। इगलैंड का स्थान दूसरा है, उसके पश्चात् पश्चिमी योरोप के अन्य देश आते है। एक नई प्रवृत्ति यह मिलती है कि भारतीय व्यापार मे रूस भी धीरे-धीरे एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता जा रहा है तथा अन्य एशियायी देशो के साथ भी भारत का व्यापार बढा है। तृतीय योजना के प्रथम तीन वर्षों मे विदेशी व्यापार की दिशा अगले पृष्ठ पर दी तालिका मे विदित है।

अगले पृष्ठ की तालिका के अध्ययन से पता चलता है कि तीसरी योजना के प्रथम तीन वर्षों मे अमेरिका से आयात तेजी के साथ बढी हैं तथा निर्यात की मात्रा भी कुछ बढी है। सन् १९६१–६२ मे अमेरिका से आयात २५५.५ करोड रुपये के थे किन्तु १९६३–६४ मे यह बढकर ३९०.२ करोड रुपये हो गये। इस काल मे इगलैंड की निर्यात कम बढी है तथा आयात १९६१–६२ मे २००.५ करोड रुपये से गिरकर १९६३–६४ मे १९८.९ करोड रुपये रह गई हैं। योरोपीय आर्थिक समाज के देशो को निर्यात कुछ बढी है किन्तु आयात कम हो गई हैं। रूस को निर्यात मे विशेष वृद्धि हुई है और १९६१–६२ मे निर्यात ३२·२ करोड रुपये से बढकर १९६३–६४ मे ५२·३ करोड रुपये हो गई है। इसी काल मे रूस से आयात

भारत के विदेशी व्यापार की दिशा

(Direction of India's Foreign Trade)

(१९६१–६२ से १९६३–६४ तक)

(करोड रुपयों में)

देश/क्षेत्र	निर्यात			आयात		
	६१–६२	६२–६३	६३–६४	६१–६२	६२–६३	६३–६४
१. अमेरिका (U.S A	११५ ७	११४ ३	१२८ ७	२५५·५	३४६ ८	३६० २
२. इगलैंड	१६० ६	१६३ २	१६१ ४	२००·५	१८५·६	१६८ ६
३ योरोपीय आर्थिक समाज (E E C.	५१·८	४८·८	५७·१	१६१ २	१५८ १	१३७·८
४. रूस	३२·२	३८ ३	५२·३	३६·६	५८ ६	६४·०
५ रूस के अतिरिक्त अन्य एशियन देश	१०८·६	६७ १	१४२ ६	१२०·२	१२७·६	११३·६

(Source Monthly Statistics of Foreign Trade in India)

भी बढी है और १९६१–६२ मे ३६ ६ करोड रुपये से बढकर १९६३–६४ मे ६४ करोड रुपये हो गई हैं। अन्य एशियन देशो के साथ निर्यात बढी है किन्तु आयात कम हो गई है। सन् १९६३–६४ मे हमारी कुल आयातो का ३४·१ प्रतिशत अमरीका मे, १४ ७ प्रतिशत इगलैंड से, १२ प्रतिशत योरोपीय आर्थिक समाज के देशो मे ६ ६ प्रतिशत अन्य ऐशियन देशो से तथा ५·६ प्रतिशत रूस से प्राप्त हुआ। इसी वर्ष निर्यातो का २१ प्रतिशत इगलैंड को, १८·५ प्रतिशत अन्य एशियन देशो को, १६·६ प्रतिशत अमरीका को, ७·२ प्रतिशत योरोपीय आर्थिक समाज के देश को तथा ६ प्रतिशत रूस को भेजा गया।

योजना काल मे विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषतायें
(Main Features of Foreign Trade during Plan Period)—

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् तथा विशेषतया योजना काल मे भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा, प्रकृति तथा दिशा सभी मे परिवर्तन हुआ है। योजना काल मे हमारे विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित रही हैं—

(१) व्यापार मे वृद्धि (Expansion of Foreign Trade)—योजना काल मे हमारी आयातो तथा निर्यातो की मात्रा और मूल्य दोनो मे ही विशेष वृद्धि हुई है। इसमे पूर्व जितना विदेशी व्यापार होता था अब उससे बहुत अधिक मात्रा मे व्यापार किया जाता है। देश के आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आयातो मे बहुत तेजी के साथ वृद्धि हुई है। निर्यातो की मात्रा भी बढी है

किन्तु यह वृद्धि अपेक्षाकृत कम रही है। प्रथम योजना आरम्भ होने के समय १६४६–५० में भारत का कुल विदेशी व्यापार १०७६ करोड रुपये का था, किन्तु प्रथम योजना काल का वार्षिक औसत १३३३ करोड रुपये था। प्रथम योजना के दूसरे वर्ष १६५१–५२ में कोरियन युद्ध की असामान्य दशाओं के कारण हमारी निर्यातों में बहुत तेजी के साथ वृद्धि हुई। दूसरी योजना काल में विदेशी व्यापार का औसत बढ़ कर १६८६ करोड रुपये हो गया और तीसरी योजना में विदेशी व्यापार का वार्षिक औसत २०१० करोड रुपये रहने का अनुमान है। इन आँकडों से स्पष्ट है कि योजना काल में हमारे विदेशी व्यापार में काफी वृद्धि हुई है।

(२) **आयातों में निर्यातों की अपेक्षा तेजी के साथ वृद्धि** (Imports increased faster than Exports)—इस काल में हमारे व्यापार की एक विशेषता यह रही है कि आयातों में बहुत तेजी के साथ वृद्धि हुई है किन्तु निर्यातें लगभग स्थिर रही है। केवल तीसरी योजना काल में निर्यातों में कुछ वृद्धि करना सम्भव हो सका है। आयातों में विशेष वृद्धि का प्रमुख कारण आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अधिक मात्रा में विदेशों से सामान का मगाया जाना है। देश में खाद्य सकट की स्थिति के कारण अनाज का आयात भी अधिक किया गया है। निर्यातों में विशेष वृद्धि इसलिए नहीं हो सकी है क्योंकि विदेशी बाजारों में भारतीय वस्तुओं की माग प्राय स्थिर रही है। कुछ नई वस्तुओं का निर्यात आरम्भ किया गया, किन्तु पुरानी वस्तुओं का निर्यात गिर गया। अत इस काल में निर्यातों की अपेक्षा आयातें अधिक तेजी के साथ बढ़ी हैं।

(३) **पूँजीगत वस्तुओं का अधिक मात्रा में आयात** (Increased Import of Capital Goods)—योजना काल में हमारी आयातों के स्वरूप में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। आर्थिक विकास के लिए अधिकाधिक मात्रा में पूँजीगत वस्तुओं का आयात किया गया है तथा उपभोग सम्बन्धी आयातों को कम से कम रखने का प्रयत्न किया गया है। पूँजीगत वस्तुओं के साथ साथ कच्चे माल तथा अर्धनिर्मित वस्तुओं का आयात भी अधिक हुआ है। आजकल भारत मुख्यतया कच्चे माल, मशीनें तथा अन्य पूँजीगत वस्तुओं का आयात करता है तथा तैयार माल का आयात बहुत कम किया जाता है जो देश के औद्योगिकरण का प्रमाण है। औद्योगिक विकास के लिए हमें मशीनें और कच्चा माल बहुत बड़ी मात्रा में आयात करना होता है।

(४) **कुछ नई वस्तुओं का निर्यात** (Export of some new Commodities)—योजना काल में निर्यातों के स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन हुआ है। परम्परागत निर्यातों के स्थान पर अब कुछ नई वस्तुओं का निर्यात आरम्भ हो गया है। निर्मित माल तथा अर्धनिर्मित माल का निर्यात अधिक मात्रा में किया जाने लगा है तथा कृषि पर आधारित वस्तुओं का निर्यात कम होता जा रहा है। कच्चे माल का

निर्यात अब हमारे देश से बहुत कम होने लगा है क्योंकि उसका अधिकांश भाग हमारे उद्योगों के द्वारा प्रयोग कर लिया जाता है। इसके स्थान पर भारत से तैयार माल का निर्यात अधिक मात्रा में किया जाने लगा है।

(५) व्यापाराशेष में निरन्तर तथा बढ़ता हुआ घाटा (Continuous and Increasing Trade Deficit)—योजना काल में भारत का व्यापार सन्तुलन निरन्तर घाटे में रहा है और यह घाटा प्रतिवर्ष बढ़ता रहा है। मुख्यतया डॉलर देशों के साथ हमारा भुगतान सन्तुलन अधिक प्रतिकूल रहा है। व्यापाराशेष के इस घाटे का प्रमुख कारण आयातों का निर्यातों की अपेक्षा अधिक होना है। योजना काल में अधिक मात्रा में मशीनों, खाद्यान्न, जूट व रुई का आयात किया गया है किन्तु निर्यात को बढ़ाना सम्भव नहीं हो सका है। योजना काल की सबसे प्रमुख समस्या यह रही है कि एक ओर तो नियोजित विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हमें अधिक मात्रा में आयात करना पड़ा है और दूसरी ओर प्रयत्न करने पर भी निर्यातों को बढ़ाना सम्भव नहीं हो सका है।

(६) अमरीका का महत्वपूर्ण स्थान—योजनाकालीन व्यापार में अमरीका का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान हो गया है। अब हमारे व्यापार में अमरीका का हिस्सा बहुत अधिक बढ़ गया है और इंगलैंड तथा साम्राज्य देशों का महत्व कुछ कम हो गया है। हमारे देश में अमरीका से बहुत अधिक मात्रा में सामान मंगाया जाने लगा है। अमरीका को होने वाली निर्यातों में भी कुछ वृद्धि हुई है किन्तु आयातों की अपेक्षा वह बहुत कम है।

(७) नये देशों के साथ व्यापार (Trade with new Countries)—योजना काल में भारत के विदेशी व्यापार का विस्तार कुछ नई दिशाओं में हुआ है। भारत ने अपने व्यापारिक सम्बन्ध रूस, पूर्वी योरोप, अफ्रीका तथा मध्य पूर्वी (Middle East) देशों के साथ स्थापित किये हैं। हमारा तैयार माल मध्यपूर्व के देशों को जाने लगा है और वहाँ से हम रुई तथा खनिज तेल का आयात करते हैं। रूस तथा अन्य साम्यवादी देशों के साथ भी हमारे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गये हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य देशों के साथ भी व्यापार का विस्तार करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(८) आयातों तथा निर्यातों पर प्रतिबन्ध (Restrictions on Imports and Exports)—योजना काल में देश के दुर्लभ विदेशी विनिमय साधनों का उचित प्रयोग करने के उद्देश्य से सरकार ने आयातों तथा निर्यातों पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये हैं। डॉलर की कमी के कारण डॉलर क्षेत्र से होने वाली आयातों पर कड़ा नियन्त्रण कर दिया गया है तथा इन क्षेत्रों को निर्यात बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन दिया जा रहा है। सभी प्रकार के कच्चे माल की निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है।

(६) स्टेट ट्रेडिंग कार्पोरेशन की स्थापना (Establishment of State Trading Corporation)—सन् १९५५ में सरकार ने आवश्यक व्यापार को सार्वजनिक क्षेत्र में लाने के लिए एक राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporation) स्थापित की है जो निर्यातों को प्रोत्साहन देने तथा आयातों को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से कार्य कर रही है।

भारत की व्यापारिक नीति (Indian Trade Policy)—

युद्ध तथा युद्धोत्तर काल में भारत की व्यापारिक नीति का विकास निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हुआ है। *द्वितीय युद्ध काल में भारत की व्यापारिक नीति* का उद्देश्य विदेशों से अधिक मात्रा में सैनिक सामान खरीदना तथा विदेशी विनिमय साधनों के प्रयोग में बचत करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार के द्वारा आयातों तथा निर्यातों पर विभिन्न प्रकार के नियन्त्रण लगा दिये गये। युद्ध के उपरान्त भी इन नियन्त्रणों को हटाना सम्भव न हो सका क्योंकि भारत में खाद्यान्न की कमी के कारण हमें बहुत बड़ी मात्रा में विदेशों से अनाज मगाने की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त औद्योगिक विकास के लिए मशीनों का आयात भी आवश्यक था, किन्तु देश की निर्यात क्षमता सीमित थी। इस स्थिति में आयात व निर्यात नियन्त्रण आवश्यक था और इसलिए उसे युद्धोत्तर काल में भी जारी रक्खा गया। योजना काल में आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक विशेष प्रकार की व्यापारिक नीति का निर्माण किया गया। भारत की व्यापारिक *नीति को समझने के लिए आयात तथा निर्यात नीतियों का अलग-अलग अध्ययन* करना आवश्यक है।

आयात नीति (Import Policy)—

आयात नियन्त्रण के विषय में सलाह देने के लिए सरकार ने सन् १९४८ में एक आयात सलाहकार परिषद् स्थापित की। इस परिषद् ने आयातों के लिए अनुज्ञापन देने के उद्देश्य से आयात वस्तुओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया—*(i) ऐसी वस्तुयें जिनके लिए आयात अनुज्ञापन दिये जा सकते हैं।* (ii) वे वस्तुयें जो खुले सामान्य अनुज्ञापन (Open General Licence) के अन्तर्गत आती हैं। (iii) ऐसी वस्तुयें जिनके आयात के लिए केवल सीमित अंश तक ही अनुज्ञापन दिये जा सकते हैं। आयातों के सम्बन्ध में उदार नीति के कारण बहुत अधिक मात्रा में आयात कर लिए गये जिनका भुगतान सीमित विदेशी विनिमय साधनों के द्वारा सम्भव न था। इस कठिनाई से बचने के लिए सन् १९४९–५० में आयात नियन्त्रण को अधिक कड़ा कर दिया गया। कुछ खुले अनुज्ञापन (Open General Lincence) स्थगित कर दिये गये तथा बहुत ही सीमित मात्रा में वस्तुओं को बिना अनुज्ञापन के केवल स्टर्लिंग क्षेत्र से मगाने की आज्ञा दी गई। जून सन् १९४९ में डॉलर क्षेत्र से आयात बिल्कुल बन्द कर दिये गये किन्तु कुछ समय पश्चात् १९४८ में की गई

आयातों से २५% कम के आधार पर डॉलर देशो मे आयात फिर आरम्भ कर दी गई। सितम्बर १९४९ के पश्चात स्थिति मे कुछ सुधार हुआ किन्तु फिर भी आयातो के सम्बन्ध मे उदार नीति अपनाना सम्भव नही था।

सन् १९५० मे सरकार ने श्री० जी० एल० मेहता (G L. Mehta) की अध्यक्षता मे एक आयात नियन्त्रण जाँच समिति (Import Control Enquiry Committee) नियुक्त की जिसने आयात नीति के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण सुझाव दिये है। इस समिति के अनुसार आयात नियन्त्रण के तीन उद्देश्य होने चाहिए—(i) आयातो को कुल उपलब्ध विदेशी विनिमय की सीमाओ के भीतर रखना। (ii) विदेशी विनिमय को इस प्रकार वितरित करना कि उपभोक्ताओ के लिए अनिवार्य वस्तुओ के साथ-साथ कृषि तथा औद्योगिक विकास की आवश्यकताओ को भी पूरा किया जा सके। (iii) विशेष वस्तुओ की कीमतो मे होने वाले परिवर्तनो को नियन्त्रित करना। इस समिति ने व्यवसायिक आयातो को ४०० करोड रुपये की सीमा के भीतर रखने की सिफारिश की। आयातों को विभिन्न श्रेणियो मे बाँट दिया गया तथा प्राथमिकता देने के क्रम को इस प्रकार निश्चित किया गया—(i) आवश्यक कच्चा माल, (ii) मशीनो के पुर्जे, (iii) कृषि यन्त्र, (iv) प्रस्तुत उद्योगो के लिये मशीनरी (v) आवश्यक उपभोग वस्तुये, (vi) वर्तमान उद्योगो के विस्तार के लिए मशीने, (vii) नये उद्योगो के लिए मशीनें, (viii) अन्य आवश्यक सामान।

सन् १९५० तथा १९५१ मे आयात नीति मे फिर सशोधन हुआ और उसे कुछ उदार कर दिया गया। औद्योगिक आवश्यकता की वस्तुओ तथा अन्य अनिवार्य वस्तुओ के आयात के सम्बन्ध मे एक दीर्घकालीन अनुज्ञापन नीति का निर्माण किया गया। जून १९५१ मे आयातो को कुछ और छूट दी गई और लोहा, इस्पात, पीतल का सामान, ताबे का तार, कागज इत्यादि की आयातो को खुले सामान्य अनुज्ञापन के अन्तर्गत सम्मिलित कर दिया गया। सन् १९५५ तथा १९५६ मे उदार आयात नीति को स्वीकार किया गया जिसका उद्देश्य निम्न प्रकार की वस्तुओ का काफी मात्रा मे आयात करना था—(i) औद्योगिकरण का आवश्यकता को पूरा करने के लिए मशीनें तथा कच्चा माल। (ii) लघु उद्योगो के लिए मशीनें व औजार तथा (iii) वे वस्तुएँ जो देश मे उपलब्ध नही है। जिन वस्तुओ का उत्पादन देश मे अधिक मात्रा मे किया जा रहा था उनके अभ्यश को काफी कम कर दिया गया। इस नीति के कारण हमारी आयात बहुत अधिक बढ गई और व्यापाराशेष का घाटा बढने लगा जिसके परिणामस्वरूप सरकार को कडी आयात नीति को अपनाना पडा। दूसरी पचवर्षीय योजना के आरम्भ मे ही विदेशी विनिमय सकट उत्पन्न हो जाने के कारण सरकार को आयात कम करने की नीति को अपनाना पडा।

सन् १९५७ से आयातों की मात्रा को काफी कम कर दिया गया। कुल आयात में उपभोक्ता सम्बन्धी वस्तुओं का अनुपात जो १९५२–५३ में ३०% प्रतिशत था, १९६०–६१ में घट कर १९·७ प्रतिशत रह गया। पूंजीगत तथा मध्यवर्ती वस्तुओं की आयात पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये गये।

मुदालियार समिति की सिफारिशें
(Recommendations of the Mudaliar Committee)—

तृतीय योजना काल में सरकार ने आयात नीति की जांच करने के लिए एक आयात निर्यात नीति समिति (Committee on the Import & Export Policy), जिसे मुदालियार समिति के नाम से जाना जाता है, नियुक्त की जिसके द्वारा अपनी रिपोर्ट मार्च १९६२ में प्रस्तुत की गई। सरकार की वर्तमान आयात व निर्यात नीति का निर्माण मुख्यतः इसी समिति की सिफारिशों के आधार पर हुआ है। समिति ने यह स्वीकार किया है कि चालू आयातों (Maintenance imports) तथा विकास सम्बन्धी आयातों (Development imports) में पूर्णरूप से भेद करना सम्भव नहीं है क्योंकि वे दूसरे से सम्बन्धित हैं। समिति के अनुसार हमारी नीति वर्तमान सभी उद्योगों के लिए कच्चा माल तथा अन्य आवश्यक सामग्री की आयात की सुविधायें देना होनी चाहिए किन्तु निम्न क्षेत्रों में स्थापित होने वाले नये उद्योगों की आवश्यकताओं को प्राथमिकता दी जानी चाहिए—(i) शक्ति तथा परिवहन, (ii) निर्यात उद्योग (iii) वे उद्योग जो ऐसे कच्चे माल तथा अन्य सामान का उत्पादन करते हैं जो इस समय विदेशों से मगाया जाता है (iv) ऐसे उद्योग जो पूर्णतया देशी कच्चे माल पर निर्भर हैं और जो मशीनों की आयात के लिए विदेशी विनिमय का प्रबन्ध स्वयं कर लेते हैं।

मुदालियार समिति ने आयातों को अनुज्ञापन देने के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिफारिशें की हैं—

(१) भविष्य में समस्त वस्तुओं का आयात अनुज्ञापन वार्षिक आधार पर किया जाना चाहिए किन्तु यदि आयातों पर अधिक कड़ा नियन्त्रण करने की आवश्यकता हो तो दूसरी छमाई में आयातों में प्रतिशत कमी की जा सकती है। सरकार ने इस सिफारिश पर पूर्ण रूप से विचार किया किन्तु विदेशी विनिमय संकट तथा अन्य व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण इसे स्वीकार करना सम्भव न हो सका और वर्ष में दो बार अनुज्ञापन देने की नीति को जारी रक्खा गया।

(२) वास्तविक उपभोक्ताओं (Actual users) तथा स्थापित आयातकर्ताओं के प्रारम्भिक लाइसेन्स की अवधि एक वर्ष होनी चाहिए।

(३) बची हुई माल से सम्बन्धित लाइसेन्सों को छोड़ कर अन्य प्रकार के लाइसेन्सों को नया करने की शक्ति क्षेत्रीय लाईसेंसिंग अधिकारी को दे देनी चाहिए।

(४) सामान्यतः स्थापित आयातकर्ताओं के लाईसेन्स की अवधि को नही घटाया जाना चाहिए किन्तु विशेष परिस्थिति मे इनकी अवधि को तीन महिने तक बढाया जा सकता है।

(५) प्रत्येक अनुज्ञापन काल से सम्बन्धित मौद्रिक सीमा की सूचना सभी लाईसेंसिग अधिकारियो को अनुज्ञापन काल के आरम्भ होने के समय मिल जानी चाहिए।

(६) समिति ने आयातकर्ताओं की सहायता करने तथा अनुज्ञापन विधि को सरल बनाने के उद्देश्य से अनुज्ञापन कार्य के विकेन्द्रीकरण करने का सुझाव दिया।

समिति की अधिकाश सिफारिशो को सरकार ने मान लिया है और उन्हे कार्य रूप मे लाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

निर्यात नीति (Export Policy)—

हमारी निर्यात नीति को निर्धारित करते समय निम्नलिखित बातो को ध्यान मे रखा गया है—(i) उपभोग की वस्तुओ तथा कच्चे माल की आन्तरिक आवश्यकताओ को पूरा करना। (ii) अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा-प्रसार की प्रवृतियो को रोकना। (iii) पर्याप्त विदेशी विनिमय साधनो को प्राप्त करना। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात निर्यात नीति का प्रमुख उद्देश्य अधिक मात्रा मे विदेशी विनिमय को अर्जित करना रहा है। योजना काल से पूर्व हमारे देश मे निर्यातो को नियन्त्रित रखने की नीति को अपनाया गया जिसके अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओ के निर्यात अभ्यश निश्चित किये जाते थे। निर्यात अभ्यश प्रति वर्ष घोषित किये जाते थे और इनकी मात्रा वस्तुओ की उपलब्धता तथा उनके मूल्यो पर निर्भर रहती थी। सन् १९४८–४९ मे निर्यातो को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता अनुभव की गई और निर्यात प्रोत्साहन समिति १९४९ की सिफारिश पर निर्यात की जाने वाली बहुत-सी वस्तुओ पर कर कम कर दिये गये अथवा बिलकुल हटा दिये गये। सन् १९५०–५१ मे स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बहुत-सी उपभोग की वस्तुओ का निर्यात बिलकुल बन्द कर दिया गया अथवा उसे स्थगित कर दिया गया।

प्रथम पचवर्षीय योजनाकाल मे निर्यात अभ्यश (Export Quotas) उदार रूप से दिये गये जिससे अधिक मात्रा मे विदेशी विनिमय अर्जित किया जा सके। यद्यपि अभ्यशो मे प्रतिवर्ष परिवर्तन होता रहता था किन्तु फिर भी अधिक मात्रा मे निर्यात करना हमारी निर्यात नीति का मुख्य उद्देश्य रहा है। कुछ नई वस्तुओ के निर्यात की आज्ञा दी गई तथा पुरानी वस्तुओ के बढा दिया गया। निर्यात वस्तुओ के मूल्यो तथा उन पर लगने वाले करो मे भी आवश्यक परिवर्तन किये गये। सन् १९५२–५३ मे जूट के सामान, रुई तथा सूती कपडे पर निर्यात शुल्क

कम कर दिया गया। उत्पादकों को निर्यात के लिए अधिक वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए सुविधायें दी गईं। द्वितीय योजनाकाल में विदेशी विनिमय संकट उत्पन्न हो जाने के कारण निर्यातों की मात्रा में वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक था। सरकार ने एक निर्यात प्रोत्साहन समिति (Export Promotion Committee), जिसे गोरवाला समिति (Gorwala Commitee) भी कहा जाता है, नियुक्त की जिसके द्वारा अपनी रिपोर्ट १९६१ में प्रस्तुत की गई। इस समिति ने निर्यातों को बढ़ाकर ७०० करोड़ रुपये प्रति वर्ष के स्तर पर लाने की सिफारिश की। गोरवाला समिति के अनुसार हमारी निर्यात नीति के लिए यह आवश्यक है कि (i) सभी क्षेत्रों में, विशेषतया कृषि में उत्पादन की निरन्तर वृद्धि की जाय। (ii) मूल्यों को प्रतियोगितात्मक स्तर पर कायम रखा जाय। (iii) घरेलू उपभोग को कम करके भी निर्यात को बढ़ाना चाहिए। (iv) निर्यातों तथा निर्यात बाजारों का विविधिकरण होना चाहिए (v) परम्परागत निर्यात की वस्तुओं के नये उपयोगों की खोज करनी चाहिए। इस समिति ने निर्यातों को प्रोत्साहित करने के लिए अनेक सुझाव दिये। सरकार ने इन सुझावों को मान लिया और उनके आधार पर ही अपनी निर्यात प्रोत्साहन नीति का निर्माण किया। इस सम्बन्ध में सरकार ने निम्न कार्य किये—(i) जूट और इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं के सट्टे को अवैध घोषित कर दिया गया। (ii) सरकार ने निर्मित माल के निर्यात नियन्त्रणों को ढीला कर दिया और अनुज्ञापन की विधि को सरल कर दिया गया। (iii) निर्यात की वस्तुओं के निर्माण के लिए कच्ची सामग्री व बैंकिंग का सामान कन्ट्रोल दरों पर दिया गया तथा व्यापारियों को यातायात की विशेष सुविधायें दी गईं। (iv) यदि भारतीय माल की कोई शिकायत आती थी तो उस पर शीघ्र विचार किया जाता था। (v) निर्यात किये जाने वाले माल पर बिक्री कर हटा दिया गया तथा अन्य करों को भी कम कर दिया गया। (vi) निर्यात प्रोत्साहन के लिए एक निर्यात जोखिम बीमा निगम (Export Risk Insurance Corporation) की स्थापना की गई।

तीसरी पंचवर्षीय योजना काल में निर्यात नीति के विकास के सम्बन्ध में योजना आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं—

(१) निर्यात में वृद्धि करने के लिए यह आवश्यक है कि आन्तरिक उपभोग की वृद्धि को नियन्त्रण में रखा जाय। इसके लिए कुल या प्रति व्यक्ति उपभोग को कम करने की आवश्यकता नहीं है बल्कि उसमें वृद्धि की दर को नीचा रखा जाना चाहिए।

(२) निर्यात सम्बन्धी उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए यह भी आवश्यक है कि निर्यात के लिए अतिरेक प्रतियोगितात्मक मूल्यों पर उपलब्ध हो। इसके लिए विकास सम्बन्धी मुद्रा-प्रसार के दबाव को नियन्त्रण में रखा जाना चाहिए।

(३) यह भी आवश्यक है कि भारतीय उद्योग के काफी बड़े भाग की प्रतियोगिता शक्ति में वृद्धि की जाय। विशेषतया जूट, सीमेंट, साइकिल, बिजली के

मोटर और ट्रान्सफार्मर तथा रेयन आदि की उत्पादन लागत को कम करने के लिए विशेष प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(४) विदेशी विनिमय को बाँटते समय निर्यात उद्योगों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। जहाँ तक भी सम्भव हो सके उद्योगों की सलाह से वस्तुओं की वह मात्रा निश्चित होनी चाहिए जो वे निर्यात के लिए उपलब्ध कर सकेंगे। कुछ उद्योगों मे जहाँ निर्यात के लिए अतिरेक प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक हो, प्रत्येक कारखाने के द्वारा वस्तु की आन्तरिक बाजार मे बेची जाने वाली मात्रा निश्चित कर देनी चाहिए, जिसमे कि शेष उत्पादन निर्यात के लिए उपलब्ध हो सके।

(५) विदेशी बाजारो की खोज करने तथा उनके सम्बन्ध मे आवश्यक सूचनाये उपलब्ध करने मे निर्यात प्रोत्साहन समितियो (Export Promotion Councils) को महत्वपूर्ण कार्य करना चाहिए।

(६) अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निर्यातो के विकास मे राज्य व्यापारिक (State Trading) व्यवस्था महत्वपूर्ण कार्य कर सकती है। सहकारी संस्थाओ के द्वारा निर्यात को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

मुदालियर समिति की सिफारिशे (Recommendations of the Mudaliar Committee)—अभी हाल मे मुदालियर समिति ने हमारी निर्यात नीति की जाँच की है और निर्यात प्रोत्साहन के लिए महत्वपूर्ण सुझाव दिये है। समिति का विचार है कि चौथी पचवर्षीय योजना के अन्त तक निर्यात की मात्रा को दुगना करने के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए निर्यात प्रोत्साहन के क्षेत्र मे कुछ ठोस कार्य किया जाना चाहिए। हमे केवल अपनी परम्परागत निर्यातो को ही नही बढाना है बल्कि नई दिशाओ तथा नई वस्तुओ का निर्यात भी आरम्भ करना है। समिति ने निर्यातो को बढाने के लिए निम्नलिखित सिफारिशे की है—

(१) प्रति वर्ष एक निर्यात योजना तैयार की जानी चाहिए, जिसमे विभिन्न उद्योगो तथा विभिन्न वस्तुओ के निर्यात लक्ष्य निश्चित करने चाहिएँ, जिन्हे निजी क्षेत्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र मे बाँट दिया जाय। समिति ने निर्यात उद्योगो को सहायता दिये जाने तथा उनके द्वारा निर्यात सम्बन्धी वायदो के पूरे किये जाने पर बराबर जोर दिया है।

(२) व्यापारियो के लिए निर्यात व्यापार को लाभपूर्ण बनाने के लिए सरकार को चाहिए कि वह उन्हे विशेष प्रकार की छूट, वित्तीय सहायता तथा अन्य प्रकार के प्रोत्साहन दे।

(३) समिति के विचार से अभी तक जो प्रोत्साहन निर्यातों के लिए दिये गये हैं वे मामूली तथा अपर्याप्त हैं। इसके लिए प्रभावशाली समन्वय करने के लिए उचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

(४) निर्यात प्रोत्साहन डाइरेक्ट्रेट (Export Promotion Directorate) को अधिक शक्तिशाली बनाया जाय तथा उसमें एक नीति निर्धारण केन्द्र (Policy Cell) स्थापित किया जाय।

(५) समिति ने निर्यातकर्त्ताओं को निम्नलिखित सहायता तथा प्रोत्साहन देने की सिफारिश की है—(i) अधिक आयातों के द्वारा इन उद्योगों को अधिक मात्रा में कच्चा माल दिया जाना चाहिए। (ii) एक आयात-निर्यात स्थायीकरण कोष (Import Export Stabilisation Fund) स्थापित किया जाना चाहिए जिसमें से इस प्रकार की अतिरिक्त आयातों का प्रबन्ध किया जाय। (iii) निर्यात कर्त्ताओं को निर्यातों से होने वाले लाभ पर आय-कर से छूट दी जानी चाहिए। (iv) निर्यात प्रोत्साहन नीति को सभी प्रकार के निर्यातों के सम्बन्ध में लागू किया जाना चाहिए। (v) रेलवे को सभी प्रकार की वस्तुओं पर, जो निर्यात की जायें, २५% की किराये में छूट देनी चाहिए। (vi) कुछ उद्योगों की निर्यात सम्बन्धी विशेष कठिनाइयों को दूर किया जाना चाहिए। (vii) निर्यातों पर सेलटैक्स की छूट देने की जिम्मेदारी केन्द्रीय सरकार को अपने ऊपर लेनी चाहिए और इस सम्बन्ध में २% की सामान्य छूट दी जानी चाहिए। (viii) उद्योग तथा व्यापार के नेताओं को घरेलू उपभोग के लिए बेची जाने वाली वस्तुओं पर एक मामूली शुल्क (Cess) लगाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। इसमें होने वाले लाभ से निर्यातों को सहायता दी जानी चाहिए।

(६) समिति ने अन्य बहुत-सी सिफारिशें की हैं जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय मेलों में भाग लेना, भारतीय रुपये में भुगतान की व्यवस्था, राज्य व्यापार, वस्तु विनिमय व्यापार, निर्यात सम्बन्धी जोखिम की गारन्टी, विदेशों में भारत का व्यापारिक प्रतिनिधित्व आदि।

सरकार ने समिति की सभी सिफारिशों पर पूरा ध्यान दिया है और उन्हें कार्यरूप में लाने के लिए यथासम्भव प्रयत्न किये जा रहे हैं

भुगतान सन्तुलन
(Balance of Payments)

भुगतान सन्तुलन (Balance of Payments) व्यापाराशेष (Balance of Trade) की अपेक्षा अधिक व्यापक होता है क्योंकि उसके अन्तर्गत व्यापारिक भुगतानों के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के विदेशी भुगतानों को सम्मिलित किया जाता है। व्यापाराशेष के द्वारा किसी देश की भुगतान सम्बन्धी स्थिति का वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि उसमें केवल वस्तुओं की आयात तथा निर्यात का मूल्य ही सम्मिलित किया जाता है। विभिन्न प्रकार की अदृश्य मदों को उसमें सम्मिलित नहीं किया जाता है। इसीलिए विदेशी भुगतान सम्बन्धी स्थिति का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए भुगतान सन्तुलन का अध्ययन ही अधिक वैज्ञानिक है।

युद्धोत्तर काल मे भारत के सम्मुख विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाई रही है क्योंकि हमारा व्यापाराशेष निरन्तर विपक्ष मे रहा है। द्वितीय पचवर्षीय योजना के आरम्भ से ही देश मे विदेशी विनिमय सकट उत्पन्न हो गया था जिसने हमारे विकास सम्बन्धी प्रयत्नो को सीमित कर दिया है। अभी तक भी यह सकट की स्थिति बनी हुई है और निकट भविष्य मे भी कोई विशेष सुधार होने की सम्भावना नही है। भारत के व्यापार सन्तुलन (Balance of Trade) की स्थिति निम्न तालिका से स्पष्ट है—

भारत का व्यापाराशेष
(India s Balance of Trade)

(करोड रुपयो मे)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापाराशेष
१९४९–५०	६४७ ९	५०६ ०	—१४१ ९
१९५०–५१	६५०·५	६०० ७	— ४९ ८
१९५५–५६	७७४ ४	६०८·८	—१६५·६
१९६०–६१	१,१४०·०	६६०·२	—४७९ ८
१९६१–६२	१,१०७·०	६७९ ५	—४२७ ५
१९६२–६३	१,१३५·६	७१३ ६	—४२२·०
१९६३–६४	१,१४९ ०	७९४ १	—३५४ ९
१९६४–६५ (अप्रैल से सितम्बर तक)	५५३ ३	४१३ ८	—१३९·५

(Source . Eastern Economist–Annual 1914)

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि योजना काल मे आयातो के तेजी के साथ बढने तथा निर्यात के प्राय स्थिर रहने के कारण हमारा व्यापाराशेष निरन्तर विपक्ष मे रहा है। हमारा भुगतान सन्तुलन (Balance of Payments) भी इस काल मे प्रतिकूल ही रहा है, यद्यपि कुछ वर्षो मे अदृश्य मदो से प्राप्त होने वाले अतिरेक के कारण यह घाटा कुछ कम हो गया है। भुगतान सन्तुलन की स्थिति अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका मे दिखलाई गई है।

इस तालिका को देखने से पता चलता है कि हमारे भुगतान सन्तुलन की स्थिति १९४८–४९ से निरन्तर प्रतिकूल चल रही है। प्रथम योजना काल के अन्त तक यह घाटा कुछ कम था जिसका मुख्य कारण अदृश्य मदो से होने वाली बचत

भारत का भुगतान सन्तुलन
(India's Balance of Payments)

(करोड़ रुपयों में)

	१९४८–४९ से १९५०–५१	१९५१–५२ से १९५५–५६	१९५६–५७ से १९६०–६१	१९६१–६२	१९६२–६३	१९६३–६४
व्यापार सन्तुलन	—३७७	—५४२	—२,३३६	—३३८	—४०६	—४२९
अदृश्य मदों से बचत	+११५	+२६७	+ ४७०	— १५	— १६	+ १५
भुगतान सन्तुलन	—२६२	—१५१	—१८७०	—३५३	—४२२	—४१४

थी। सन् १९५६–५७ से लेकर १९६०–६१ तक भुगतान सन्तुलन की स्थिति अत्यन्त गम्भीर थी। इन पाँच वर्षों में हमें भुगतान सन्तुलन में लगभग १८७० करोड़ रुपये का घाटा रहा, जिसके कारण देश में विदेशी विनिमय संकट उत्पन्न हो गया। सरकार ने भुगतान सन्तुलन की स्थिति में सुधार करने के लिए आयातों की मात्रा को कम करने का प्रयत्न किया किन्तु अधिक सफलता नहीं मिल सकी। सन् १९६१–६२ में हमारे भुगतान सन्तुलन का घाटा ३५३ करोड़ रुपये था जो १९५६–५७ से १९६०–६१ तक के पाँच वर्षों के वार्षिक औसत से कुछ ही कम था। सन् १९६३–६४ में यह घाटा बढ़ कर ४१४ करोड़ रुपये हो गया। इससे स्पष्ट है कि द्वितीय तथा तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में विदेशी विनिमय संकट की स्थिति बराबर बनी रही है।

भारत में विदेशी विनिमय संकट
(Foreign Exchange Crisis in India)—

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में विदेशी विनिमय स्थिति सन्तोषजनक थी। इस योजना के पाँच वर्षों में विदेशी विनिमय का कुल घाटा ३१८ करोड़ रुपये था जिसे पूरा करने के लिए हमें १२२ करोड़ रुपया अपने विदेशी विनिमय कोष में से निकालना पड़ा। इसके विपरीत द्वितीय योजना काल में हमें विशेष कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। द्वितीय योजना के पहले दो वर्षों में ही हमारे विदेशी विनिमय कोषों में ४८१ करोड़ रुपये की कमी हो गई और वे निरन्तर गिरते ही गये। तीसरी योजना के आरम्भ तक ये कोष इतने कम हो गये कि अब उन्हें और अधिक कम

करना सम्भव नही था। द्वितीय योजना काल मे विदेशी विनिमय का कुल घाटा २,०५६ करोड रुपये था जबकि योजना आयोग का अनुमान केवल १,१२० करोड रुपये के घाटे का था। घाटे को पूरा करने के लिए हमे विदेशी विनिमय कोषो मे से ६०० करोड रुपया निकालना पडा जिसके परिणामस्वरूप हमारे विदेशी विनिमय कोष द्वितीय योजना के अन्त मे केवल ३०३ ६ करोड रुपये रह गये जबकि आरम्भ मे वे ८२४·६ करोड रुपये थे। इस प्रकार द्वितीय योजना काल मे हमारे विदेशी विनिमय कोषो मे भारी कमी हो गई और देश मे विदेशी विनिमय सकट उत्पन्न हो गया।

विदेशी विनिमय सकट के कारण
(Causes of Foreign Exchange Crises)—

(१) आयातो मे बहुत अधिक वृद्धि (Excessive Increase in Imports)— दूसरी योजना काल मे हमारी आयाते बहुत अधिक तेजी के साथ बढी है। आर्थिक विकास की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए बहुत अधिक मात्रा मे पूँजीगत वस्तुओ तथा कच्चे माल का आयात करना पडा। निजी क्षेत्र मे भी विनियोग के तेजी के साथ बढने के कारण काफी बडी मात्रा म मशीने, औजार तथा कच्चा माल आयात किया गया जिसके कारण विदेशी विनिमय स्थिति और खराब हो गई। आयातो के तेजी के साथ बढने का एक कारण यह भी था कि द्वितीय योजना के पहले दो वर्षो मे सरकार की आयात नीति काफी उदार रही है और इस काल मे इतने अधिक आयात अनुज्ञापन (Import Licences) दिये गये कि उनके भुगतान के लिए विदेशी विनिमय का प्रबन्ध करना कठिन हो गया। इसके अतिरिक्त देश की उत्तरी सीमा पर स्थिति खराब हो जाने के कारण हमे अधिक मात्रा मे सुरक्षा सम्बन्धी सामान विदेशो से आयात करना पडा।

(२) कृषि उत्पादन मे कमी (Poor Agricultural Production)— इस योजना काल मे मौसम खराब रहने के कारण लगातार दो वर्षो तक अच्छी फसल न हो सकी और कृषि उत्पादन मे काफी कमी आ गई जिसके कारण हमे बहुत बडी मात्रा मे विदेशो से अनाज मगाना पडा। भुगतान सतुलन के अनुमान मे केवल ६० लाख टन अनाज मगाने की व्यवस्था की गई थी जबकि वास्तविक आयात लगभग २ करोड टन की थी। अनाज आयातो का इतना अधिक बढ जाने के कारण विदेशी विनिमय स्थिति गम्भीर हो गई। रूई का आयात भी काफी बडी मात्रा म किया गया।

(३) विदेशी विनिमय की आवश्यकताओं का नीचा अनुमान (Under-estimate of Foreign Exchange Requirements)—सरकारी प्रोजेक्टस पर व्यय होने वाले विदेशी विनिमय का सही अनुमान नही लगाया जा सका और उनके लिए जितनी विदेशी मुद्रा की व्यवस्था की गई थी उसमे उन्हे पूरा करना सम्भव

न्ही था। अत. योजना के अन्तर्गत बहुत से प्रोजेक्टस के लिए विदेशी विनिमय के अनुमान को बढ़ाना पड़ा, विशेषतया रेलों के विकास के सम्बन्ध में विदेशी मुद्रा की आवश्यकता काफी बढ़ गई। इस प्रकार बहुत से सरकारी प्रोजेक्टस पर अधिक मात्रा में विदेशी विनिमय व्यय हो जाने के कारण संकट की स्थिति और गम्भीर हो गई।

(८) आयातों के मूल्य में वृद्धि (Increased Cost of Imports)—द्वितीय योजना काल में आयातों की लागत काफी बढ़ गई जिसके कारण हमें अधिक मात्रा में विदेशी विनिमय का व्यय करना पड़ा। आयातों की लागत बढ़ने का मुख्य कारण उनकी कीमतों का बढ़ जाना तथा यातायात व्यय का अधिक होना था। विशेषतया लोहा, इस्पात तथा मशीनों की कीमतें बढ़ गई और हमें ऊँची कीमतों पर ही उन्हें खरीदना पड़ा।

विदेशी विनिमय संकट को दूर करने के लिए किये गये उपाय
(Measures Adopted to Combat Foreign Exchange Crisis)—

विदेशी विनिमय संकट को दूर करने के लिए सरकार के द्वारा बहुत से उपाय किये गये जिनके परिणामस्वरूप स्थिति में कुछ सुधार हुआ किन्तु तृतीय योजना काल में विदेशी विनिमय साधनों की कमी बराबर बनी रही। सरकार के द्वारा किये जाने वाले प्रमुख उपाय निम्नलिखित हैं—

(१) मुद्रा प्रणाली में परिवर्तन (Change in Currency System)—आर्थिक विकास के कामों के लिए अधिक मात्रा में विदेशी विनिमय को मुक्त करने के उद्देश्य से सरकार ने अनुपातिक कोष प्रणाली के स्थान पर न्यूनतम कोष प्रणाली को अपना लिया। पुरानी प्रणाली में विदेशी विनिमय साधनों का काफी बड़ा भाग पत्र मुद्रा कोष के रूप में पड़ा रहता था, किन्तु नई प्रणाली के अन्तर्गत एक न्यूनतम कोष रखने के पश्चात् शेष विदेशी विनिमय का प्रयोग आर्थिक विकास के लिए आवश्यक आयात करने में किया जा सकता है।

(२) योजना में परिवर्तन (Revision of the Plan)—द्वितीय योजना के पहले दो वर्षों के अनुभव ने यह स्पष्ट कर दिया कि इस योजना के सभी प्रोजेक्टस को पूरा करने के लिए इतनी अधिक मात्रा में विदेशी विनिमय की आवश्यकता होगी कि वह हमारी अर्थ-व्यवस्था की क्षमता से बाहर है। अत: मई सन् १९५८ में योजना को कुछ कम किया गया और केवल अत्यन्त आवश्यक प्रोजेक्टस (Core Projects) पर ही साधनों को केन्द्रित करने का निश्चय किया गया। इसके अन्तर्गत इस्पात के कारखाने, कोयला खाने, रेलवे, बन्दरगाहों तथा कुछ शक्ति उत्पन्न करने की योजनाओं को सम्मिलित किया गया।

(३) आयातों पर प्रतिबन्ध (Restriction on Imports)—आयातों को कम करने के लिए सरकार ने १९५८ से अपनी आयात नीति को काफी सख्त कर

दिया। उपभोग सम्बन्धी वस्तुओं के आयात को या तो बिलकुल बन्द कर दिया गया या उसमे काफी कमी की गई। वस्तुओं के आयात अभ्यंश (Import Quotas) कम कर दिये गये तथा खुले सामान्य अनुज्ञापन पद्धति (Open General Lincence System) को बन्द कर दिया गया। इस प्रकार आयातों को कम करके विदेशी विनिमय के व्यय मे कमी करने का प्रयत्न किया गया।

(४) स्थगित भुगतान पद्धति को अपनाना (System of Deferred Payments was Adopted)—विदेशी विनिमय साधनो के वर्तमान प्रयोग मे बचत करने के उद्देश्य से सरकार ने आवश्यक आयातो को स्थगित भुगतान के आधार पर प्राप्त करने का प्रयत्न किया। आयातों के भुगतान को लम्बे समय पर फैला दिया गया। नई योजनाओं के लिए आयात अनुज्ञापन तभी ही दिये गये जबकि इन आयातो का प्रबन्ध स्थगित भुगतान के आधार पर करना सम्भव होता था।

(५) निर्यात प्रोत्साहन (Export Promotion)—अधिक मात्रा मे विदेशी विनिमय साधनो को अर्जित करने के लिए सरकार ने निर्यात प्रोत्साहन नीति को अपनाया। सन् १९५७–५८ मे कुछ वस्तुओ पर निर्यात शुल्क कम कर दिये गये और बहुत-सी वस्तुओ के निर्यात अभ्यंश बढा दिये गये। निर्यात प्रोत्साहन समितियाँ (Exports Promotion Councils) स्थापित की गईं। निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर रेल किराया कम कर दिया गया। बहुत से देशो के साथ द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते (Bilateral Trade Agreements) किये गये तथा विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporation) एवं निर्यात जोखिम बीमा निगम (Export Risks Insurance Corporation) स्थापित की गई।

(६) अधिक विदेशी सहायता (Increased Foreign Assistance)—सरकार ने मित्र देशो से अधिक मात्रा मे विदेशी सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इस दिशा मे हमें काफी सफलता मिली और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक तथा अन्य संस्थाओं से अधिक मात्रा मे ऋण प्राप्त किये जा सके। अधिक मात्रा मे विदेशी सहायता प्राप्त हो जाने के कारण ही हमारे लिए दूसरी योजना के प्रोजेक्टस को पूरा करना सम्भव हो सका है।

तीसरी योजना मे विदेशी विनिमय स्थिति
(Foreign Exchange Situation in the Third Plan)—

तीसरी योजना मे १०,४०० करोड रुपये का कुल विनियोग किया जाना है जिसमे प्रत्यक्ष रूप से २,१०० करोड रुपये के विदेशी विनिमय की आवश्यकता होगी। इसमे १,९०० करोड रुपया मशीनो तथा अन्य प्रकार की पूँजीगत वस्तुओं की आयात पर व्यय किया जाना है और २०० करोड रुपया पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन बढाने के लिए मशीनो के भाग, औजार तथा मध्यवर्ती वस्तुओ के मगाने पर

व्यय होगा। इसके अतिरिक्त ३,६५० करोड़ रुपया ऐसे सामान की आयात पर व्यय होगा जो कि वर्तमान उद्योगों को चलाने तथा उनका उत्पादन बढ़ाने के लिए आवश्यक है। इस प्रकार तीसरी योजना काल में विदेशी विनिमय के कुल भुगतानों का अनुमान ५,७५० करोड़ रुपए है। इसी काल में निर्यातों से ३,८०० करोड़ रुपये से अधिक आमदनी नहीं हो सकती है। अत तृतीय योजना काल में २,००० करोड़ रुपये के विदेशी विनिमय की कमी रहने का अनुमान है जिसे विदेशी सहायता के द्वारा पूरा किया जाना है। देश के विदेशी विनिमय कोषों में कोई कमी नहीं की जा सकती है क्योंकि वे घट कर न्यूनतम सीमा पर आ गये है। इससे स्पष्ट है कि तीसरी योजना काल में हमारे विदेशी विनिमय साधनों पर दबाव बना रहेगा। इस योजना के पहले दो वर्षों में निर्यातों में कोई विशेष वृद्धि नहीं हो सकी है जिसके कारण विदेशी विनिमय की कठिनाई बराबर बनी रही है और विदेशी विनिमय कोष में कुछ कमी हुई है। सन् १९६३-६४ में निर्यातों के बढ़ जाने के कारण स्थिति में कुछ सुधार हुआ था और विदेशी विनिमय साधनों में कुछ वृद्धि हो गई थी। किन्तु सन् १९६४-६५ में भुगतान सन्तुलन की स्थिति फिर खराब हो गई है और घाटे को पूरा करने के लिए विदेशी विनिमय कोषों में कमी करनी पड़ी है। जनवरी सन् १९६५ में हमारी विदेशी विनिमय निधि घट कर केवल १०० करोड़ रुपये रह गई है और भुगतान सन्तुलन की स्थिति चिन्ताजनक हो गई है। इस वर्ष उत्पन्न होने वाले विदेशी विनिमय संकट का मुख्य कारण सरकार के अधिक मात्रा में अनाज तथा कृत्रिम खाद का आयात, जहाजों के किराये में वृद्धि तथा विदेशी ऋणों पर सूद का भुगतान है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) भारत के विदेशी व्यापार में सन् १९४७ के उपरान्त क्या मुख्य परिवर्तन हुए हैं? स्पष्ट कीजिए और समझाइये कि क्या ये परिवर्तन देश के लिए हितकर सिद्ध हुए हैं? (आगरा बी० ए० १९५८)

(२) भारत के विदेशी व्यापार के स्वरूप (Pattern) में जो परिवर्तन सन् १९३९ के बाद हुए हैं उनका वर्णन करिये। (आगरा बी० ए० १९५६ स)

(३) द्वितीय महायुद्ध के पश्चात भारत के व्यापार सन्तुलन में जो गिरावट आती जा रही है उसके कारणों पर संक्षेप में प्रकाश डालिये। इस स्थिति को सुधारने के लिए आप क्या कदम उठायेंगे? (इलाहाबाद बी० ए० १९५४)

(४) भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सन् १९४७ के बाद और सन् १९३९ के पहले के समय में क्या और क्यों अन्तर हुआ? (आगरा बी० ए० १९५७ स)

(५) "कुछ भी हो, व्यापार के सन्तुलन से सम्पूर्ण बातों का ज्ञान नहीं होता है"—भारत व इंगलैंड की स्थिति के दृष्टिकोण से इस कथन की परीक्षा करिए। (आगरा बी० ए० १९५६)

खण्ड २

१

विदेशी विनिमय

FOREIGN EXCHANGE

विदेशी विनिमय शब्द का प्रयोग विस्तृत तथा संकुचित दोनो प्रकार के अर्थों मे किया जा सकता है। विस्तृत अर्थ के अनुसार विदेशी विनिमय से अभिप्राय उन समस्त क्रियाओ से होता है, जिनके द्वारा विदेशी भुगतानो को निबटाया जाता है। उसके अन्तर्गत विदेशी भुगतानों से सम्बन्धित सभी समस्याएँ आ जाती हैं। हार्टले विदर्स (Hartley Withers) के अनुसार, "विदेशी विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिवर्तन का विज्ञान तथा कला है।"[1] विज्ञान के रूप में उसका सम्बन्ध उस विनिमय दर से होता है जिस पर एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा मे बदला जाता है तथा वे सब रीतियाँ भी उसके अन्तर्गत आ जाती हैं, जिनके द्वारा विदेशी भुगतानो की जटिल समस्या को सुलझाया जाता है। कला के रूप मे विदेशी विनिमय का सम्बन्ध उन सब सस्थाओ तथा यन्त्रो (Instruments) से होता है, जिनके द्वारा भुगतानो को निबटाया जाता है। अतः विदेशी विनिमय के अन्तर्गत विदेशी विनिमय दर, विदेशी भुगतानो को निबटाने मे सहायता देने वाली सस्थाएँ तथा वे सब यन्त्र (Instruments) आ जाते है, जिनके द्वारा विदेशी भुगतानो को निबटाया जाता है।

कभी-कभी विदेशी विनिमय शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ मे भी किया है। सकुचित दृष्टि से विदेशी विनिमय से हमारा अभिप्राय—(i) विदेशी विनिमय पत्रो तथा उन बैंक ड्राफ्टो से होता है, जिनका प्रयोग भुगतानो को निबटाने के लिए किया जाता है। जब हम यह कहते हैं कि विदेशी विनिमय बैंक विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करते हैं, तो यहाँ पर हमारा अभिप्राय केवल विदेशी विनिमय पत्रों से होता है। (ii) कभी-कभी विदेशी विनिमय शब्द विदेशी विनिमय दरो को भी बतलाता है। जब यह कहा जाता है कि किसी देश का विदेशी विनिमय उसके पक्ष अथवा विपक्ष मे है, तो उससे हमारा अभिप्राय विदेशी विनिमय दर के पक्ष अथवा विपक्ष मे होने से होता है। (iii) विदेशी विनिमय का प्रयोग उस समस्त व्यवस्था को

---

1 "Foreign Exchange is the Science and Art of International Money changing." —*Hartley Withers.*

बतलाने के लिए भी किया जा सकता है, जिसके द्वारा विदेशी भुगतानों को निबटाया जाता है। प्रो० चैपमैन (Chapman) के अनुसार, "विदेशी विनिमय का अभिप्राय उस मशीनरी से है, जिसके द्वारा विदेशी व्यापार में भुगतान किये जाते हैं।"[2] यद्यपि इन तीनों अर्थों में विदेशी विनिमय शब्द का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु सामान्यतः वह उस समस्त व्यवस्था को बतलाता है, जिसके द्वारा एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा में बदला जाता है। उसके अन्तर्गत उन यन्त्रों, साधनों तथा रीतियों का अध्ययन किया जाता है, जिनके द्वारा विदेशी भुगतानों को निबटाया जाता है।

विदेशी विनिमय की समस्या (Problem of Foreign Exchange)—

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में विदेशी विनिमय की समस्या इसलिए पैदा होती है क्योंकि विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न मुद्रायें चलाई जाती हैं और प्रत्येक देश के व्यापारी अपने ही देश की मुद्रा में भुगतान स्वीकार करते हैं। जब एक देश का व्यापारी दूसरे देश के साथ व्यापार करता है तो उसके सामने विदेशी भुगतानों को निबटाने की समस्या उत्पन्न होती है। मुद्राओं की भिन्नता के कारण विदेशी भुगतानों को निबटाना उतना आसान नहीं होता है जितना कि आन्तरिक भुगतानों को निबटाना। विदेशी भुगतानों को निबटाने के लिए हमें एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा में बदलना होता है। विभिन्न देशों की मुद्राओं के इस क्रय-विक्रय को ही विदेशी विनिमय कहते हैं। विदेशी भुगतानों को निबटाने की समस्या आन्तरिक विनिमय से बिल्कुल पृथक् नहीं की जा सकती है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि आन्तरिक विनिमय में केवल एक मुद्रा का प्रयोग किया जाता है किन्तु विदेशी विनिमय में विभिन्न मुद्राओं का प्रयोग होता है। जब तक एक व्यापारी देश के अन्दर व्यापार करता है तो भुगतान की समस्या सरल होती है किन्तु जैसे ही वह विदेशों से सामान खरीदना चाहता है, भुगतान की समस्या एकदम जटिल हो जाती है क्योंकि उसमें विभिन्न मुद्राओं का प्रयोग करना होता है। स्वर्णमान के युग में विदेशी भुगतानों की समस्या इतनी जटिल न थी जितनी कि आजकल हो गई है।

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की रीतियाँ
(Methods of International Payments)—

प्राचीन समय में विदेशी भुगतानों को निबटाने का प्रमुख तरीका एक देश से दूसरे देश को सोने का निर्यात करना था। सोने के निर्यात तथा आयात के द्वारा विदेशी भुगतानों को निबटाना बहुत आसान होता था किन्तु समय के साथ विदेशी भुगतानों को निबटाने की इस पद्धति में परिवर्तन कर दिया गया। यह अनुभव किया

---

2 "The machinery whereby payments are effected in foreign commerce is known as that of the foreign exchanges." —*Chapman*.

गया कि विदेशी भुगतान करने के लिए सोने का आयात तथा निर्यात करने में बहुत अपव्यय होता है और प्रत्येक देश अपनी आयातो के लिए निर्यातो के द्वारा ही भुगतानो को निबटा सकता है। आधुनिक समय मे विदेशी भुगतानो को करने के लिए विभिन्न प्रकार के साख-पत्रो का प्रयोग किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो को निबटाने के लिए अब सोने का आयात तथा निर्यात नही होता है बल्कि साख-पत्रो के क्रय-विक्रय के द्वारा ही विदेशी भुगतानो को निबटा लिया जाता है। विदेशी भुगतानो को निबटाने की इस नई पद्धति मे—(अ) सोने के प्रयोग मे बहुत अधिक बचत होती है। (ब) एक देश से दूसरे देश को बडी मात्रा मे सोना भेजने मे लगने वाले समय, असुविधा तथा व्यय की बचत होती है। (स) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो को सुविधापूर्ण करके विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो को निबटाने के लिए प्रयोग की जाने वाली विधियाँ इस प्रकार है—(i) विदेशी विनिमय बिल (Foreign Bill of Exchange), (ii) बैंकर्स ड्राफ्ट (Banker's Draft) तथा (iii) टेलीग्राफिक ट्रान्सफर्स (Telegraphic Transfers)।

विदेशी विनिमय बिल (Foreign Bill of Exchange)—

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भुगतानो को सामान्यत विदेशी विनिमय बिलो के द्वारा निबटाया जाता है। जिस प्रकार विदेशी व्यापार मे साख-पत्रो के द्वारा बहुत-से भुगतानो को निबटाया जाता है, ठीक उसी प्रकार विदेशी भुगतानो को निबटाने के लिए विनिमय-पत्रो का प्रयोग होता है। यह एक आश्चर्य की बात है कि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो को निबटाने के लिए मुद्रा का प्रयोग बहुत कम किया जाता है। अधिकाश भुगतानो को केवल साख-पत्रो द्वारा दायित्वो को हस्तान्तरित करके चुका दिया जाता है और मुद्रा का प्रयोग केवल लेन-देन की बाकी को चुकाने मे किया जाता है। इन दायित्वो का हस्तान्तरण मुख्यत. विदेशी विनिमय बिल के द्वारा किया जाता है। विदेशी बिल आन्तरिक बिल से केवल इस बात मे भिन्न होता है कि उसका भुगतान विदेशी मुद्रा मे किया जाता है। विदेशी विनिमय बिल वस्तु के निर्यातकर्त्ता के द्वारा लिखा जाता है और दूसरे देश मे वस्तु के आयात करने वाले व्यक्ति पर लिखा जाता है। इस बिल मे आयातकर्त्ता (Importer) को यह आदेश दिया जाता है कि वह बिल की रकम का भुगतान उसमे लिखे व्यक्ति को निश्चित अवधि के पश्चात् कर दे। बिल प्राय निर्यातकर्त्ता (Exporter) के देश की मुद्रा मे लिखा जाता है और उसमे बिल लिखते समय प्रचलित विनिमय दर को भी बताया जाता है। बिल लिखने के पश्चात् उसका लिखने वाला उसे अपने बैंक के पास ले जाता है और बेचने के लिए प्रस्तुत करता है। यद्यपि बिल को अभी तक आयातकर्त्ता के द्वारा स्वीकार नही किया गया है किन्तु फिर भी बैंक उस बिल को अपने पक्ष मे हस्तान्तरित कराकर उस पर रुपया उधार दे देता है। सुरक्षा की दृष्टि से बैंक बिल

को भुनाने से पूर्व जहाज पर माल लादने का प्रमाण-पत्र तथा बीमे की रसीद भी उसके साथ लेता है। इन सब पत्रों को लेने के पश्चात् बिल की रकम कटौती काट कर निर्यातकर्त्ता को दे दी जाती है।

विनिमय बिल किस प्रकार कार्य करता है ?

(How a Bill of Exchange Works)—

प्रत्येक विदेशी विनिमय बिल दो विदेशी भुगतानों को एक साथ निबटाता है। विनिमय बिल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी भुगतानों को किस प्रकार निबटाता है यह हम एक बिल की दो देशों के बीच कार्य विधि को देखकर ही समझ सकते हैं। मान लिया कि भारत का एक जूट व्यापारी 'अ' १०००) रुपये का जूट का सामान इंगलैंड के व्यापारी 'ब' को निर्यात करता है। भारत का एक दूसरा व्यापारी 'स' इङ्गलैंड के व्यापारी 'द' से १०००) रुपए की कीमत का कपड़ा मंगाता है। इस व्यापार के परिणामस्वरूप 'ब' को एक हजार रुपये के बराबर भुगतान 'अ' को देना है और 'स' को एक हजार रुपये का भुगतान 'द' को भेजना है। यह दोनों ही भुगतान एक विनिमय पत्र के द्वारा निबटाये जा सकते हैं। भारत में जूट का निर्यातकर्त्ता अ' इङ्गलैंड के आयातकर्त्ता 'ब' पर एक विनिमय बिल लिखेगा और उसे बैंक अथवा 'स' व्यापारी को बेचकर अपनी जूट का भुगतान प्राप्त कर लेगा। भारत का 'स' व्यापारी उस बिल को खरीदने के पश्चात इङ्गलैंड के निर्यातकर्त्ता 'द' के पास भेज देगा जो अपने बैंक के द्वारा बिल की रकम को 'ब' से ले लेगा! इस प्रकार सोने के आयात निर्यात के बिना दोनों ऋणों को एक विनिमय पत्र की सहायता से निबटाया जा सकता है। विनिमय बिल की इस कार्य प्रणाली को निम्न प्रकार के चित्र से स्पष्ट किया जा सकता है—
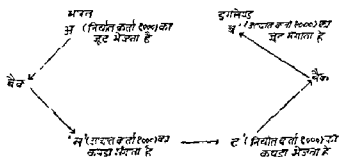
उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ही विनिमय बिल दोनों भुगतानों को निबटा देता है। 'अ' के द्वारा 'ब' पर लिखे गये बिल की सहायता से 'अ' को अपने जूट के सामान का भुगतान प्राप्त हो जाता है और 'द' को अपनी कपड़े की निर्यातों का मूल्य भी प्राप्त हो जाता है अतः एक विनिमय बिल दो

भुगतानो को एक साथ निबटाता है और मुद्रा का कोई आयात तथा निर्यात नही किया जाता है।

बैंकर्स ड्राफ्ट (Banker's Draft)—

जिस प्रकार आन्तरिक क्षेत्र मे बैंक ड्राफ्ट के द्वारा मुद्रा का हस्तान्तरण एक स्थान से दूसरे स्थान को किया जाता है ठीक उसी प्रकार विदशी भुगतानो को निबटाने के लिए भी बैंकर्स ड्राफ्ट का प्रयोग किया जाता है। यह तब ही सम्भव होता है जब बैंक की विदेशो मे शाखाये होती है। यदि किसी व्यापारी को इङ्गलैंड भुगतान भेजना है तो वह उस रकम को भारतवर्ष मे किसी विनिमय बैंक के पास जमा करा देता है और बैंक उसे अपनी इङ्गलैंड की शाखा पर उस रकम का एक ड्राफ्ट लिख देता है। व्यापारी उस ड्राफ्ट को इङ्गलैंड के व्यक्ति के पास भेज देता है जो वहाँ के बैंक से उसका भुगतान ले लेता है। इस प्रकार ड्राफ्ट एक बैंक से उसकी शाखा के लिए या किसी अन्य बैंक के लिए यह आदेश होता है कि ड्राफ्ट की रकम उसके वाहक (Bearer) अथवा उस पर लिखित व्यक्ति को माग करने पर दे दे। यद्यपि यह समझा जाता है कि ड्राफ्ट भुगतानो को तुरन्त निबटा देता है किन्तु वास्तव मे ऐसा नही होता है। जितना समय बैंक ड्राफ्ट के जाने मे लगता है उसका भुगतान उतने ही समय के पश्चात् मिलता है। यदि दो देशो के बीच डाक पहुँचने मे १० दिन लगते है तो किसी व्यक्ति को निश्चित समय पर भुगतान करने के लिए १० दिन पूर्व ड्राफ्ट बनवाना पडेगा।

टैलिग्राफिक ट्रासफर (Telegraphic Transfer)—

आजकल टैलिग्राफिक ट्रासफर के द्वारा विदेशी भुगतानो को निबटाने का प्रचलन बहुत अधिक बढता जा रहा है। इस विधि से विदेशो भुगतानो को तुरन्त निबटाया जा सकता है। टैलिग्राफिक ट्रासफर बैंक का एक प्रकार का दर्शनी ड्राफ्ट होता है जिसे डाक से न भेज कर तार के द्वारा भेजा जाता है। साधारण ड्राफ्ट को भेजने मे काफी समय लग जाता है इसलिए व्यापारी टैलिग्राफिक ट्रासफर के द्वारा अपने विदेशी भुगतानो को निबटाते हैं।

इनके अतिरिक्त विदेशी भुगतानो को निबटाने के लिए साख प्रमाण-पत्र (Letters of Credit), यात्री चैक (Traveller's Cheques) तथा अन्तर्राष्ट्रीय मनीआर्डरो का प्रयोग भी किया जाता है।

विदेशी विनिमय दर (Foreign Rate of Exchange)—

प्रत्येक देश की अपनी अलग मुद्रा होती है और एक देश की मुद्रा को दूसरे देशों मे भुगतान के लिए सामान्यतया स्वीकार नही किया जाता है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो को निबटाते समय एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा मे बदलने की समस्या उत्पन्न होती है। विभिन्न देशो की मुद्राओ को आपस मे

बदलने के लिए हमें यह मालूम होना चाहिए कि एक देश की मुद्रा के बदले में दूसरे देश की मुद्रा की कितनी मात्रा दी जाये। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों को निबटाते समय विदेशी विनिमय दर की आवश्यकता होती है। विदेशी विनिमय दर दो देशों की मुद्राओं का विनिमय अनुपात होती है। वह किसी देश की मुद्रा इकाई के विदेशी मूल्य को सूचित करती है। एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा के साथ जिस दर पर बदली जाती है उसे विदेशी विनिमय दर कहते हैं। प्रो० चैण्डलर (Chandler) के अनुसार, "दो मौद्रिक इकाइयों के बीच विनिमय दर से अभिप्राय एक देश की मुद्रा इकाइयों की उस संख्या से है जो दूसरी मुद्रा की एक इकाई को खरीदने के लिए आवश्यक होती है।"[3] एशचर (Escher) के अनुसार विनिमय दर "एक देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा में व्यक्त किया गया मूल्य है।"[4] आर० एस० सेयर्स (R. S. Sayers) के शब्दों में, "मुद्राओं के एक दूसरे के सम्बन्ध में मूल्यों को विनिमय दरें कहते हैं।"[5] इन परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विदेशी विनिमय दर किसी मुद्रा इकाई का वह मूल्य होता है जो दूसरी मुद्रा में व्यक्त किया जाता है। यह भी कहा जा सकता है कि विनिमय दर वह दर होती है जिस पर विदेशी विनिमय बिलों (Foreign Bills of Exchange) का क्रय-विक्रय किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि इंगलैंड के १ पौंड के बदले में अमेरिका के २ ८ डॉलर प्राप्त होते हैं तो पौंड और डॉलर के बीच विनिमय दर १ पौंड=२ ८ डॉलर होगी।

विदेशी विनिमय दर मुख्यतया मुद्राओं की माग और पूर्ति के ऊपर निर्भर होती है। जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य उसकी माग और पूर्ति के द्वारा निश्चित होता है ठीक उसी प्रकार विदेशी मुद्रा का मूल्य भी उसकी माग और पूर्ति पर आधारित रहता है।[6] अन्य वस्तुओं की भांति विदेशी मुद्रा की भी माग तथा पूर्ति होती है और उसका मूल्य माग व पूर्ति के साम्य के द्वारा ही निश्चित होता है। वस्तुओं का आयात करने वाले विदेशी भुगतानों को निबटाने के लिए विदेशी मुद्रा की माग किया करते हैं और निर्यातकर्त्ताओं के द्वारा विदेशी मुद्रा की पूर्ति की जाती

3 "By the 'Exchange Rate' between two monetary units we mean simply the number of units of one money required to buy one unit of the other." —*L. V Chandler* : The Economics of Money & Banking, P. 464.

4 "The price of the money of one country expressed in the money of the other" —*Escher.*

5 "The prices of currencies, in terms of each other are called foreign exchange rates." —*R S. Sayers.*

6 "The price of a currency is determined, just as the price of anything else is, by the relative strength of the demand for and the supply of that currency in the foreign exchange market."

—*Crowther* : An Outline of Money, P. 216.

है यदि किसी समय पर बाजार मे विदेशी विनिमय की माग उसकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक होती है तो विदेशी मुद्रा का मूल्य बढ जाता है। इसके विपरीत यदि विदेशी विनिमय की पूर्ति माग की अपेक्षा अधिक होती है तो विदेशी मुद्रा का मूल्य गिर जाता है। जब विदेशी मुद्रा की माग और पूर्ति बराबर होती है तो विनिमय-दर साम्य पर होती है, अर्थात् विनिमय दर सममात्र (at par) होती है। जब विदेशी मुद्रा की माग पूर्ति से अधिक होती है तो विनिमय दर समता बिन्दु (Parity Point) से ऊपर चली जाती है और जब उसकी पूर्ति माग से अधिक होती है तो विनिमय दर समता बिन्दु (Parity Point) से नीचे आ जाती है। इस प्रकार विदेशी विनिमय की माग और पूर्ति के अनुसार विनिमय दर मे भी परिवर्तन होते रहते हैं। विदेशी विनिमय की माग और पूर्ति से हमारा अभिप्राय. विदेशी विनिमय बिलो की माँग और पूर्ति से होता है क्योकि उनके द्वारा ही बाजार मे विदेशी मुद्रा की माग तथा पूर्ति की जाती है। यद्यपि अल्पकाल मे विदेशी विनिमय दर विदेशी मुद्रा की माग तथा पूर्ति के अनुसार घटती-बढती रहती है किन्तु दीर्घकाल मे उसकी प्रवृत्ति समता बिन्दु (Parity Point) के समीप रहने की होती है।

विदेशी विनिमय दर के निर्धारण की समस्या को मुख्यतया दो भागो मे अध्ययन किया जा सकता है—

(अ) स्वर्णमान वाले देशो के बीच विनिमय दर का निर्धारण।
(ब) पत्र मुद्रामान वाले देशो के बीच विनिमय दर का निर्धारण।

स्वर्णमान वाले देशों के बीच विनिमय दर
(Exchange Rate between Gold Standard Countries)—

सन् १९१४ से पूर्व अधिकांश योरोपीय देश तथा अमेरिका स्वर्णमान पर थे और इन देशो मे निश्चित वजन तथा शुद्धता वाले सोने के सिक्के चलाये जाते थे। सोना मूल्यमान का कार्य करता था और विभिन्न देशो की मुद्राओ मे पाये जाने वाले सोने की मात्रा तथा शुद्धता निश्चित थी जिसके कारण इन देशो के बीच विनिमय दरो को आसानी से निर्धारित किया जा सकता था। स्वर्णमान वाले देशो के बीच अन्य प्रकार के देशो की अपेक्षा विनिमय दर को निश्चित करना सरल रहता है। स्वर्णमान वाले देशो मे या तो स्वर्ण मुद्रा चलाई जाती है अथवा वहाँ की मुद्रा इकाई को एक निश्चित दर पर सोने मे परिवर्तनीय रक्खा जाता है। ऐसी दशा मे दो देशो के बीच विनिमय दर या तो उनकी मुद्राओ की सोना खरीदने की शक्ति मे समानता स्थापित करके निश्चित की जाती है और या वह उनकी मुद्राओ मे पाये जाने वाले सोने के अनुपात पर आधारित होती है। स्वर्णमान वाले देशो के बीच उनकी मुद्राओ की सोना खरीदने की शक्ति के अनुसार अथवा उनमे पाये जाने वाले शुद्ध सोने की मात्रा के आधार पर स्वर्ण समता बिन्दु निश्चित कर लिया जाता है जिसे विनिमय की टकसाली दर (Mint Par Exchange) कहा जाता

है। इन देशों मे दीर्घकालीन विनिमय दर की प्रवृत्ति इस समता विन्दु (Parity point) के समीप रहने की होती है यद्यपि बाजारी विनिमय दर मुद्राओं की माग व पूर्ति के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है।

विनिमय की टकसाली दर (Mint Par of Exchange) वह दर होती है जिस पर एक देश की मुद्रा की सोना खरीदने की शक्ति दूसरे देश की मुद्रा की सोना खरीदने की शक्ति के बराबर होती है। दोनो देशो की मुद्राओं मे पाये जाने वाले सोने के अनुपात को ही टक-समता (Mint Par) कहते है। प्रो० टामस (Thomas) के अनुसार "विनिमय टकसाली दर वह अनुपात है जो एक ही धातुमान वाले देशो की प्रमाणिक मुद्राओं मे पाई जाने वाली धातु की वैधानिक मात्रा मे होता है।"[7] टक समता को जानने के लिए हमे दोनो देशों के प्रमाणिक सिक्कों मे पाये जाने वाले शुद्ध सोने की मात्रा का पता लगाना होता है। एक देश के प्रमाणिक सिक्कों मे पाये जाने वाले सोने की मात्रा को दूसरे देश के सिक्के की सोने की मात्रा से भाग कर देने पर टक-समता का पता लग जाता है। उदाहरणार्थ, स्वर्णमान काल मे इगलैंड के एक पौंड मे $\frac{११}{१२}$ शुद्धता वाला ७ ९८८०५ ग्रेन सोना पाया जाता था। इस आधार पर १ पौंड मे शुद्ध सोने की मात्रा ७ ३२२३८ ग्रेन होती थी। इसी प्रकार एक फ्रैंक मे $\frac{९}{१०}$ शुद्धता वाला ·३२२/८५ ग्रेन सोना होता था जिसके अनुसार १ फ्रैंक (Franc) मे शुद्ध सोने की मात्रा=२९०३२२५ ग्रेन थी। इग्लैंड और फ्रास के बीच टक-समता (Mint par) को निकालने के लिए पौंड मे पाये जाने वाले शुद्ध सोने की मात्रा का फ्रैंक मे पाये जाने वाले शुद्ध सोने की मात्रा से भाग दे देते है—

$$\text{टक-समता (Mint par)} = \frac{७ ३ २३८}{२ ९०३२२५}$$

$$\text{अर्थात् १ पौंड} = २५·२२१५ \text{ फ्रैंक}$$

दोनो देशो की मुद्राओं को सामान्यतया इस दर पर एक दूसरे के साथ बदला जाना चाहिए। यह एक प्रकार से आदर्श विनिमय दर होती है। वास्तविक विनिमय दर इससे ऊपर या नीचे हो सकती है। जब विदेशी विनिमय दर इस टक-समता के बराबर होती है तो विनिमय दर को सममात्र (Rate of Exchange at par) कहा जाता है।

स्वर्ण बिन्दु (Gold Points)—

स्वर्णमान वाले देशो मे विनिमय दर की दीर्घकालीन प्रवृत्ति टकसाली विनिमय दर (Mint Par of Exchange) के समीप रहने की होती है किन्तु

---

7 "The Mint Par is an expression of the ratio between the statutory bullion equivalents, of the standard monetary units of two countries on the same metallic standard"

—*Thomas* Principles and Arithmetic of Foreign Exchange.

वास्तविक जीवन मे कभी वह उसके बराबर नही रहती है। वास्तविक विनिमय दर कभी टंक-समता (Mint Par) से ऊपर चली जाती है और कभी उससे नीचे आ जाती है। टंक-समता केवल विनिमय दर की सामान्य प्रवृत्ति को बतलाती है और बाजारी विनिमय दर उससे भिन्न हो सकती है। विनिमय दर टक-समता (Mint par) के बराबर तब हो सकती है जब विनिमय बिलो की माग तथा पूर्ति एक दूसरे के बिल्कुल बराबर हो। वास्तविक जीवन मे विदेशी विनिमय की माग तथा पूर्ति मे इस प्रकार का सतुलन बहुत कम होता है। कभी विनिमय बिलो की माग उनकी पूर्ति से अधिक हो जाती है और कभी कम। विभिन्न मुद्राओ की माग तथा पूर्ति मे होने वाले परिवर्तनो के कारण विनिमय दर समता बिन्दु से इधर-उधर बदलती रहती है। स्वर्णमान मे विनिमय दर के घटने-बढने की निश्चित सीमाये होती है और वह कभी भी इन सीमाओ से बाहर नही जा सकती है। विदेशी विनिमय दर के परिवर्तनो की सीमायें स्वर्ण बिन्दुओ (Specie points) के द्वारा निश्चित होती हैं।

स्वर्णमान वाले देशो मे उच्चतम स्वर्ण बिन्दु (Upper Gold Point) तथा निम्नतम स्वर्ण बिन्दु (Lower Gold Point) विनिमय दर परिवर्तनो की दो सीमाये होती हैं। उच्चतम स्वर्ण बिन्दु विनिमय दर की अधिकतम सीमा को निश्चित करता है जिससे ऊपर वह कभी नही जा सकती है। इस बिन्दु को स्वर्ण निर्यात बिन्दु (Gold Export Point) भी कहते है क्योकि इसके पश्चात् सोना देश से बाहर जाने लगता है। निम्नतम स्वर्ण बिन्दु विनिमय दर की न्यूनतम सीमा को निश्चित करता है और उससे नीचे विनिमय दर नही जा सकती है। इस बिन्दु को स्वर्ण आयात बिन्दु (Gold Import Point) भी कह सकते है क्योकि इसके पश्चात् सोना देश मे आने लगता है। स्वर्ण बिन्दुओ को मालूम करने के लिए हमे दोनो देशो के बीच सोने के भेजने का व्यय मालूम होना चाहिए जिसमे पैकिंग, किराया, ब्याज, बीमा आदि सब खर्च सम्मिलित होते हैं। किसी समय पर टंक-समता दर (Mint par of Exchange) मे स्वर्ण भेजने के व्यय को जोड देने से हमे स्वर्ण निर्यात बिन्दु का पता लग जाता है और इसी प्रकार टक-समता दर मे से स्वर्ण भेजने के व्यय को घटा कर स्वर्ण आयात बिन्दु का पता लगाया जा सकता है। यदि इगलैंड और फ्रास के बीच टक-समता दर (Mint par) १००पौण्ड=२५२२ फ्रैंक है और फ्रास से इगलैंड सोना भेजने का व्यय १० फ्रैंक आता है तो इस दशा मे स्वर्ण निर्यात बिन्दु (Gold Export Point) १०० पौंड=२५२२+१०= २५३२ फ्रैंक होगा और स्वर्ण आयात बिन्दु (Gold Import Point) १०० पौंड =२५२२−१०=२५१२ फ्रैंक होगा। इन दोनो देशो मे विनिमय दर कभी भी स्वर्ण निर्यात बिन्दु की अधिकतम सीमा से ऊपर नही जायगी और स्वर्ण आयात की न्यूनतम सीमा से कम नही होगी। इन दोनो सीमाओ के बीच विनिमय दर विदेशी

विनिमय की माग तथा पूर्ति के अनुसार कही भी निश्चित हो सकती है। स्वर्णमान मे विदेशी विनिमय दर के निर्धारण मे इस क्रम को आगे दिये चित्र के द्वारा समझाया जा सकता है—
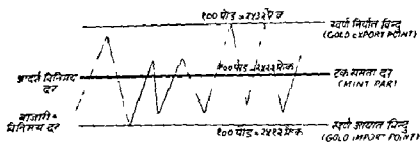
उपर्युक्त चित्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इगलैड और फ्रास मे विनिमय दर कभी भी १०० पौंड=२५३२ फ्रैंक से अधिक तथा १०० पौंड=२५१२ फ्रैंक से कम नही होगी। यदि किसी समय फ्रास मे इगलैड से बहुत अधिक सामान का आयात किया गया है और फ्रास से इगलैड को निर्यात की मात्रा उसकी अपेक्षा कम है तो फ्रास मे पौंड की माग बढ़ जायगी और माग अधिक होने के कारण उसका मूल्य बढने लगेगा। फ्रास के व्यापारी इगलैड को दो प्रकार से भुगतान कर सकते है—विदेशी विनिमय बिल के द्वारा अथवा सोना भेज कर। यदि फ्रास का व्यापारी सोने के द्वारा भुगतान करता है तो उसे १०० पौड के मूल्य का सोना खरीदने के लिए २५२२ फ्रैंक व्यय करने होते हैं और इसके अतिरिक्त १० फ्रैंक उसे सोने को इगलैंड भेजने के लिए खर्च करने पडते हैं। इस प्रकार उस व्यापारी को १०० पौंड का भुगतान इगलैंड मे करने के लिए कुल २५२२+१०=२५३२ फ्रैंक का व्यय करना होगा। यदि उसे १०० पौंड का विनिमय बिल २५३२ फ्रैंक से कम मे मिल जाता है तो वह विनिमय पत्र के द्वारा भुगतान करेगा क्योंकि उसे ऐसा करने मे लाभ है। किन्तु यदि १०० पौंड के बिल के लिए २५३२ फ्रैंक से अधिक मागा जाता है तो वह विनिमय बिल से भुगतान न करके सोना इगलैंड को भेजेगा। इस प्रकार विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु से ऊपर नही जायेगी। इसके विपरीत यदि फ्रास का व्यापार सतुलन पक्ष मे है और इगलैंड के व्यापारियों को फ्रास मे अधिक भुगतान करने हैं तो फ्रैंक की माग बढ जाने के कारण पौंड का मूल्य कम हो जायेगा। इगलैंड का व्यापारी यदि सोने के द्वारा भुगतान करता है तो उसे १०० पौंड के बदले मे इगलैंड मे २५२२ फ्रैंक के मूल्य का सोना मिल जायगा किन्तु इस सोने को फ्रास भेजने मे १० फ्रैंक के बराबर व्यय करना पड़ेगा। इस प्रकार १०० पौंड का व्यय करके वह फ्रास मे केवल २५१२ फ्रैंक का भुगतान ही निबटा सकेगा। अतः यदि उसे १०० पौंड के बदले मे २५१२ फ्रैंक से अधिक मूल्य का विनिमय बिल मिल जाता तो वह विनिमय बिल के द्वारा भुगतान करेगा। किन्तु यदि इससे कम मूल्य का विनिमय बिल ही उसे मिलता है तो वह सोना फ्रास को भेजना अधिक

पसन्द करेगा इस प्रकार पौंड फ्रैंक दर १०० पौंड=२५१२ फ्रैंक से नीचे नही जायगी।

स्वर्णमान वाले देशो मे वास्तविक विनिमय दर टंक-क्षमता से ऊपर नीचे घटती-बढ़ती रहती है किन्तु वह स्वर्ण बिन्दुओ से बाहर नही जा सकती है। विदेशी विनिमय बिलो की माग और पूर्ति मे परिवर्तन होने के कारण विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु तथा स्वर्ण आयात बिन्दु के समीप जा सकती है किन्तु वह वहाँ पर ठहरती नही है और उसकी प्रवृत्ति टक-समता (Mint Par) के समीप आने की होती है। जब विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु के समीप आ जाती है तो कुछ आर्थिक शक्तियाँ उसे गिरा कर टक-समता के समीप लाने की प्रवृत्ति रखती है। इसी प्रकार यदि वह स्वर्ण आयात बिन्दु पर पहुँच जाती है तो वे ही शक्तियाँ उसे ऊपर उठाकर टक-समता के समीप ले आती हैं।

पत्र-मुद्रामान में विनिमय दर निर्धारण

(Determination of Exchange Rate Under Paper Standard)

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रामान वाले देशो के बीच विनिमय दर का निर्धारण स्वर्णमान वाले देशो की अपेक्षा कठिन होता है। स्वर्णमान वाले देशो की मुद्राओ की विनिमय दर उनमे पाये जाने वाले सोने की मात्रा के आधार पर निर्धारित की जा सकती है किन्तु पत्र-मुद्रा वाले देशो की मुद्राओ की विनिमय दर को निकालने के लिए ऐसा नही किया जा सकता है। इन देशो की मुद्राओ मे परस्पर ऐसा कोई सम्बन्ध नही होता है जिनके द्वारा उनके सापेक्षिक मूल्य को ज्ञात किया जा सके। ऐसी स्थिति मे विनिमय दर को निश्चित करने का आधार इन देशो की मुद्राओ की क्रय-शक्ति होती है। पत्र-मुद्रा मान वाले देशो के बीच विनिमय दर क्रय-शक्ति समता बिन्दु (Purchasing Power Parity Point) के द्वारा निश्चित की जाती है और उसकी दीर्घकालीन प्रवृत्ति इसके समीप रहने की होती है किन्तु विदेशी विनिमय बिलो की माग और पूर्ति म होने वाले परिवर्तनो के अनुसार वह बदलती रहती है।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory)—

पत्र-मुद्रामान वाले देशो मे विनिमय दर निर्धारण का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त है। प्रथम महायुद्ध काल मे स्वर्णमान लगभग सभी देशो मे स्थापित कर दिया गया था। स्वर्ण मुद्रायें चलन से हटा ली गई और उनके स्थान पर सभी देशो मे बहुत अधिक मात्रा मे अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा जारी कर दी गई जिसके कारण विभिन्न देशो मे मुद्रा प्रसार की स्थिति पैदा हो गई थी। कुछ देशो मे बहुत अधिक मुद्रा प्रसार था और कुछ मे कम। विभिन्न मुद्राओ की पुरानी टक समता (Mint Par) दरें बेकार हो गई थी और उनकी

वास्तविक विनिमय दरें टक समता से बहुत भिन्न थी। इस प्रकार की स्थिति मे समस्या यह थी कि मुद्रा प्रसार के कारण विभिन्न मुद्राओ के मूल्यो मे होने वाली गिरावट को ध्यान रखते हुए इनके बीच नई विनिमय दरें किस प्रकार मालूम की जाये। स्वीडन के अर्थशास्त्री गस्ताव कैसल (Gustav Cassel) ने इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया और पत्र-मुद्रामान की दशा मे विनिमय दरो के निर्धारण की नई विधि को बतलाया। इस सम्बन्ध मे प्रो० कैसल ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है उसे क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त कहते है।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त के अनुसार दीर्घकाल मे विनिमय दर दोनो मुद्राओ के सापेक्षित मूल्यो के द्वारा निर्धारित होती है जिन्हे उनकी क्रय-शक्ति के द्वारा जाना जा सकता है। गस्ताव कैसल के अनुसार "दो मुद्राओ के बीच की विनिमय दर उनकी आन्तरिक क्रय-शक्ति के अनुपात पर आवश्यक रूप से आधारित होती है।"[८] बैरेट व्हेल (Barret Whale) के अनुसार "विनिमय दरो को सामान्यता विभिन्न राष्ट्रीय मुद्रा इकाइयो की आन्तरिक क्रय-शक्ति के सम्बन्ध को बतलाना चाहिए।"[९] इसी सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए क्राउथर (Crowther) ने लिखा है—"दो मुद्राओ के बीच का विनिमय अनुपात वही होने की प्रवृत्ति रखता है जो उनकी सापेक्षिक क्रय-शक्ति का अनुपात होता है।"[१०] प्रो० टामस (S E. Thomas) ने क्रय-शक्ति समता बिन्दु की व्याख्या इस प्रकार की है—"विनिमय दर उस बिन्दु पर रहने की प्रवृत्ति रखता है जो दो मुद्राओ की सापेक्षिक क्रय-शक्ति की समता को विदित करता है। इस बिन्दु को क्रय-शक्ति समता बिन्दु कहते हैं।"[११]

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न मुद्राओ की क्रय-शक्ति की तुलना करके हम उनके बीच के विनिमय अनुपात को निकाल सकते है। दो पत्र-मुद्रा मान वाले देशो के बीच विनिमय दर को उन दोनो देशो मे वस्तुओ तथा सेवाओ के मूल्यो की तुलना करके निकाला जाता है। विनिमय दर की प्रवृत्ति ऐसे बिन्दु पर रहने की होती है जहां पर दोनो मुद्राओ की क्रय-शक्ति समान होती है।

८ "The rate of exchange between two currencies, must stand essentially on the quotient, of the internal purchasing powers of these currencies"
—*Gustav Cassel*

9 "The exchange rates should normally reflect the relation between the internal purchasing powers of the various national currency units."
—*Barett Whale* · International Trade.

10 "The ratio of exchange between two currencies tends to be same as the ratio between their respective purchasing powers"
—*Crowther* · An Outline of Money, . P. 226.

11 "The rate of exchange tends to rest at that point which expresses equality between the respective purchasing powers of the two currencies This point is called the purchasing power parity."
—*S E. Thomas* ; The Principles and Arithmetic of Foreign Exchange.

इस बिन्दु को क्रय शक्ति समता बिन्दु (Purchasing Power Parity Point) कहते हैं। क्रय-शक्ति समता बिन्दु वह बिन्दु होता है जहाँ पर एक देश की मुद्रा की निश्चित मात्रा की क्रय-शक्ति दूसरे देश की मुद्रा की निश्चित मात्रा की क्रय-शक्ति के बराबर होती है।[11] उदाहरणार्थ, यदि इगलैड और अमरीका के बीच क्रय-शक्ति समता बिन्दु १ पौड=२·८ डॉलर है तो वह इस बात को सूचित करता है इगलैड मे १ पौड की क्रय-शक्ति ठीक उतनी है जितनी कि अमरीका में २·८ डॉलर की है।

क्रय-शक्ति समता बिन्दु दोनो देशो मे वस्तुओ तथा सेवाओ के मूल्यो की तुलना करके निकाला जाता है। यदि भारतवर्ष में १५ रु० से उतना ही गेहूँ खरीदा जा सकता है जितना कि इगलैड मे १ पौड से खरीदा जाता है तो इस स्थिति मे गेहूँ के सम्बन्ध में एक पौड की क्रय-शक्ति १५ रु० की क्रय-शक्ति के बराबर हो जाती है और दोनो मुद्राओ का क्रय-शक्ति समता बिन्दु १ पौड=१५ रुपये के होगा। किन्तु वास्तव मे क्रय-शक्ति समता बिन्दु का निकालना इतना आसान नही है क्योकि उसे किसी एक वस्तु के आधार पर नही निकाला जा सकता है। विभिन्न मुद्राओ की क्रय-शक्ति की तुलना करने के लिए हमे उन सब वस्तुओ तथा सेवाओ को लेना होगा जो इन मुद्राओ के द्वारा खरीदी जाती है। इसीलिए क्रय-शक्ति समता बिन्दु को निकालने के लिए सूचक अको का प्रयोग किया जाता है। दो देशो की मुद्राओ की क्रय-शक्ति की तुलना करने के लिए हमे प्रतिनिधि वस्तुओ का एक ऐसा समूह चुनना पडता है जिसकी दोनो देशो मे काफी माग की जाती हो। यदि भारत मे १०० प्रतिनिधि वस्तुओ के समूह की एक निश्चित मात्रा को १३ रुपये मे खरीदा जा सकता है और इस समूह की उसी मात्रा को इगलैंड मे १ पौड मे खरीदा जाता है तो भारत और इगलैंड के बीच क्रय-शक्ति समता बिन्दु १३ रु०=१ पौड के होगा जो दोनो मुद्राओ के सापेक्षिक महत्व पर आधारित है।

क्रय-शक्ति समता बिन्दु निकालते समय एक बडी कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि दोनो देशो की मुद्राओ की क्रय-शक्ति की तुलना करने के लिए किस प्रकार की वस्तुओ को सम्मिलित किया जाये। केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे सम्मिलित होने वाली वस्तुओ के आधार पर बने हुए सूचक अक मुद्राओ की क्रय-शक्ति का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व नही कर सकते है। प्रो० हॉम (Halm) के अनुसार—"*अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे आने वाली वस्तुओ पर आधारित क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त* बेकार का सत्य है क्योकि विभिन्न बाजारो मे इनके मूल्यो की प्रवृत्ति समान रहने की होती है।"[12] यदि केवल आन्तरिक व्यापार की वस्तुओ को ही सम्मिलित किया

---

12 'Confined to internationally traded commodities the purchasing power parity theory becomes an emp y truism because it is obvious that the national prices of internationally traded goods (adjusted to account for transportation costs, tariffs and other delivery expenses) tend to equality as

जाता है तो क्रय-शक्ति समता का निर्धारण और भी अधिक असन्तोषजनक हो जाता है क्योंकि आन्तरिक व्यापार की वस्तुओं का मुद्रा की विनिमय दर पर कोई सीधा प्रभाव नहीं पड़ता है। इन वस्तुओं के मूल्य विनिमय दर को प्रत्यक्ष रूप से अथवा तुरन्त प्रभावित किये बिना बदल सकते हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं का सम्मिलित किया जाना क्रय-शक्ति समता निकालने के लिए आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय तथा आन्तरिक व्यापार में आने वाली सभी वस्तुओं को सम्मिलित करके क्रय-शक्ति को निकालना भी उचित नहीं होगा क्योंकि ऐसा करने में बहुत-सी वे वस्तुयें भी सम्मिलित हो जायेंगी जिनका विनिमय दर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। क्राउथर (Crowther) के अनुसार क्रय-शक्ति समता निकालने के लिए सभी वस्तुओं के आधार पर सामान्य कीमत-स्तर निकालना उचित नहीं है। इसके दूसरे ओर यह मान लेना भी ठीक नहीं होगा कि केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं के मूल्य ही विनिमय दर को प्रभावित करते हैं। *हमें उन वस्तुओं को भी सम्मिलित* करना चाहिए, जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय *व्यापार सम्भव हो सकता है।*"[13]

क्रय-शक्ति समता बिन्दु (*Purchasing Power Parity Point*) दो देशों के मुद्राओं के बीच आदर्श विनिमय दर को बतलाता है। यह वह दर होती है जिस पर दोनों देशों की मुद्रायें बदली जानी चाहिएँ। वास्तविक विनिमय दर अथवा बाजारी विनिमय दर क्रय-शक्ति समता से अधिक अथवा कम हो सकती है। वास्तविक विनिमय दर विदेशी विनिमय बिलों की माग व पूर्ति के अनुसार क्रय-शक्ति समता बिन्दु से ऊपर-नीचे घटती-बढ़ती रहती है और उनके बराबर प्रायः नहीं होती है। *बाजारी विनिमय दर क्रय-शक्ति समता बिन्दु पर तब होती है जब देश का भुगतान* सन्तुलन बिलकुल सन्तुलित होता है और विनिमय बिलों की माग ठीक उनकी पूर्ति के बराबर होती है। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता है और कभी विनिमय बिलों की माग उनकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक हो जाती है और कभी कम, जिसके कारण विनिमय दर में परिवर्तन होते रहते हैं। जब भुगतान सन्तुलन विपक्ष में होने के कारण देश में विदेशी विनिमय की माग उसकी पूर्ति से अधिक हो जाती है तो विदेशी मुद्रा का मूल्य हमारे लिए बढ़ने लगता है और विनिमय दर देश के लिए प्रतिकूल हो जाती है। इसके विपरीत जब विदेशी विनिमय की माग कम होती है और उसकी पूर्ति अधिक होती है तो *विनिमय दर देश के पक्ष में आ जाती है*। इस

---

between different markets when translated into each other at the current exchange rates."   —*Halm : Economics of Money and Banking*, P. 458

13 "For obviously all prices do not enter into the calculations of those who carry on foreign trade . It is not right, however, to go to the other *extreme and assume that the exchange rate is influenced only by the prices* of things that actually *do* move in international trade; we must take some account of the articles that *might* move."

—*Crowther* An Outline of Money, P. 227.

प्रकार वास्तविक विनिमय दर क्रय-शक्ति समता बि दु के ग्रास-पास घटती-बढ़ती है किन्तु उसकी दीर्घकालीन प्रवृत्ति समता बिन्दु (Parity Point) के समीप रहने की होनी है। विनिमय दर के इन परिवर्तनो को निम्न प्रकार से चित्रित किया जा सकता है—
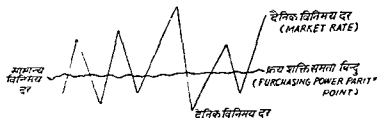
उपर्युक्त चित्र के देखने से पता चलता है कि दैनिक विनिमय दर (Day to Day Rate of Exchange) सामान्य विनिमय दर (क्रय-शक्ति समता बिन्दु) के ग्रास-पास घटती-बढती रहती है। पत्र-मान वाले देशो के बीच विनिमय दर परिवर्तनो की कोई सीमायें नही होती हैं ग्रौर वह कितनी ही ऊपर ग्रयवा नीचे जा सकती है। इसलिए यह कहा जाता है कि पत्र-मुद्रा मान मे विनिमय दरें स्वर्णमान की ग्रपेक्षा ग्रधिक ग्रस्थायी होती है ग्रौर उन्हे स्थिर रखने की एक विशेष समस्या रहती है। यद्यपि विनिमय दर क्रय-शक्ति समता बिन्दु से ऊपर तथा नीचे जा सकती है किन्तु वह उसमे बहुत ग्रधिक ऊपर ग्रयवा नीचे नही रह सकती है ग्रौर उसकी सामान्य प्रवृत्ति क्रय-शक्ति समता बिन्दु के समीप रहने की होती है। पत्र मुद्रा वाले देशो मे सामान्य विनिमय दर (Normal Rate of Exchange) भी बदलती रहती है क्योंकि क्रय-शक्ति समता बिन्दु (Purchasing Power Parity Point) एक परिवर्तनशील बिन्दु है। वह टक-समता (Mint Par) की भाँति स्थिर नहीं रहता ग्रौर विभिन्न देशो के मूल्य-स्तरों मे होने वाले परिवर्तनो के कारण बदलता रहता है।

सिद्धान्त का व्यवहारिक महत्व
(Practical Significance of the Theory)—

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त का प्रयोग निरपेक्ष रूप से नही किया जा सकता है। उसका सबसे बड़ा प्रयोग पूर्व निश्चित विनिमय दरों का मूल्य-स्तरो के परिवर्तनों के ग्रनुसार समायोजन करने मे है। प्रो० कैसल (Cassel) ने भी सिद्धान्त के व्यवहारिक महत्व के सम्बन्ध मे इस बात को स्वीकार किया है कि यह सिद्धान्त केवल पुरानी विनिमय दरो को नई परिस्थितियो के ग्रनुसार ठीक करने मे ही सहायता दे सकता है। उनके ग्रनुसार "क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त निर्पेक्ष मूल्य-स्तर के सम्बन्ध मे लागू नही किया जा सकता है। उसका प्रयोग केवल मूल्य-स्तर

के परिवर्तनों के सम्बन्ध में ही किया जा सकता है।"[१४] क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त की सहायता से दो ऐसे देशों की मुद्राओं के बीच विनिमय दर को मालूम नहीं किया जा सकता है जिनकी मुद्राओं में पहले कोई सम्बन्ध न रहा हो। "क्रय-शक्ति समता बिन्दु को निकालने के लिए हमें ऐसी विनिमय दर का पता होना चाहिए कि वह किसी सन्तुलन की स्थिति को बतलाती हो। इस विनिमय दर की सहायता से ही हम उस दर का पता लगा सकते हैं जो दोनों देशों की मुद्राओं की बदली हुई क्रय-शक्ति के सम्बन्ध में उसी सन्तुलन को बतलाती है।"[१५] यदि हमें दो देशों की मुद्राओं की पुरानी विनिमय दर का पता है तो हम उनके सामान्य मूल्य-स्तर में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार उसे घटा-बढ़ा कर नई सन्तुलन दर का पता लगा सकते हैं। दो देशों की मुद्राओं के बीच क्रय-शक्ति समता बिन्दु का पता लगाने के लिए हम उस देश के वर्तमान सूचक अंक को, जिसकी मुद्रा में विनिमय दर को व्यक्त किया जाना है, पूर्व निश्चित समता दर से गुणा कर देते हैं और दूसरे देश के वर्तमान सूचक अंक में उसे भाग दे दिया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि इगलैंड और अमरीका के बीच स्वर्णमान छोड़ने से पूर्व समता दर १ पौंड = ४.८६६ डॉलर थी और स्वर्णमान छोड़ने के पश्चात् इगलैंड का सूचक अंक बढ़कर २५० हो जाता है और अमरीका का सूचक अंक १२५ होता है तो नई समता दर (New Parity Point) को इस प्रकार निकाला जायगा—

$$१ \text{ पौंड} = \frac{४.८६६ \times १२५}{२५०}$$

$$= २.४३३ \text{ डॉलर}$$

अब दोनों देशों के बीच नयी विनिमय दर १ पौंड = २.४३३ डॉलर होगी।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त की आलोचनायें
(Criticisms of Purchasing Power Parity Theory)—

आलोचकों के अनुसार क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त विनिमय दर निर्धारण तथा उसमें होने वाले परिवर्तनों की सन्तोषजनक विवेचना नहीं करता है। मुख्यत निम्नलिखित आधार पर इस सिद्धान्त की आलोचना की गई है—

(१) यह सिद्धान्त यह तो बताने का प्रयत्न करता है कि विनिमय दरों में क्यों और किस प्रकार परिवर्तन होते हैं किन्तु उसे विनिमय दरों के निर्धारण का

14 The Purchasing power parity theory "cannot...... be applied to absolute levels of prices, but only to changes in the price levels"
—*Gustav Cassel* Money and Foreign Exchange After 1914.

15 "It is only when we know the exchange rate which represents a certain equilibrium that we can calculate the rate which represents the same equilibrium at an altered value of the monetary units of the two countries."
— *Gustav Cassel* : Money and Foreign Exchange After 1914.

सन्तोषजनक सिद्धान्त नही माना जा सकता है। वह केवल यह बतलाता है कि मुद्राओ की क्रय-शक्ति के बदलने पर उनकी विनिमय दर बदल जाती है किन्तु यह नही बतलाता कि विनिमय दरो का निर्धारण किस प्रकार होता है। दो देशो की मुद्राओ की विनिमय दर इन मुद्राओ की माग और पूर्ति पर आधारित होती है। मूल्य स्तर मे होने वाले परिवर्तन विनिमय दर को प्रभावित कर सकते है किन्तु उसे निर्धारित नही करते है। प्रो० हॉम (Halm) के अनुसार "दो देशो की मुद्रा इकाईयो के बीच की सन्तुलन दर एक देश की दूसरे देश की वस्तुओ के लिए माग मे होने वाली प्रत्येक वृद्धि अथवा कमी से प्रभावित होती है चाहे मूल्य-स्तर स्थिर ही रहे।"[16] विनिमय दर निर्धारण की समस्या मूल्य निर्धारण की समस्या का ही एक भाग है और उसे इससे पृथक् करके अध्ययन नही किया जा सकता है। अन्य वस्तुओ के मूल्यों की भाँति विदेशी मुद्रा का मूल्य भी उसकी माग तथा पूर्ति के द्वारा निश्चित होता है। विनिमय दर निर्धारण का सन्तोषजनक सिद्धान्त वही हो सकता है जो विनिमय बाजार मे विदेशी विनिमय की माग तथा पूर्ति का उचित विश्लेषण करता हो। क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त केवल मुद्राओ की क्रय-शक्ति की विवेचना करता है और उनकी माग तथा पूर्ति से उसका कोई सम्बन्ध नही है।

(२) प्रो० कैसल (Cassel) ने इस सिद्धान्त मे इस बात को मान लिया है कि मूल्य-स्तर मे होने वाले परिवर्तन तो विनिमय दर को प्रभावित करते है किन्तु विनिमय दर के परिवर्तनो का मूल्य-स्तर पर कोई प्रभाव नही पडता है। किन्तु वास्तव मे ऐसा नही होता है और विनिमय दर के परिवर्तन भी मूल्य-स्तर पर प्रभाव डालते है। जब किसी मुद्रा का विदेशी मूल्य बदलता है तो उसका प्रभाव उसके आन्तरिक मूल्य पर पडता है। प्राय यह देखा जाता है कि अवमूल्यन के कारण देश मे मुद्रा प्रसार की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है और मुद्रा की आन्तरिक क्रय-शक्ति भी कम हो जाती है। क्राउथर (Crowther) के अनुसार 'किसी देश की मुद्रा के विनिमय मूल्य की गिरावट उस देश के कीमत-स्तर मे सापेक्षिक वृद्धि करने की प्रवृत्ति रखती है।'[17] इसी प्रकार किसी देश की मुद्रा के विदेशी मूल्य के बढ जाने पर उस देश का मूल्य-स्तर गिर जाता है और उसकी मुद्रा की आन्तरिक क्रय-शक्ति बढ जाती है। अत: विनिमय दर के परिवर्तनो का प्रभाव आन्तरिक मूल्य-स्तर पर पडता है।

---

16 "The equilibrium rate of exchange between the monetary units of two countries is affected by every increase or decrease of one country's demand for other country's products even though the price levels may stay the same." —*Halm* : Monetary Theory, P. 205.

17. "A fall in the exchange value of a country's currency will tend to initiate a relative increase in that country's price level."
—*Crowther* : An Outline of Money, P. 230.

(३) इस सिद्धान्त मे मुद्रा की क्रय-शक्ति को नापने तथा उसकी तुलना करने के लिए सूचक अंको का प्रयोग किया जाता है किन्तु सही सूचक अंक बनाना बहुत कठिन होता है। अत सूचक अंको के आधार पर निर्धारित विनिमय दरें भी बहुत अधिक सही नही हो सकती है। सूचक अंक विनिमय दरो के निर्धारण का उचित आधार नही हो सकते है। प्रायः सूचक अंको मे ऐसी वस्तुओ को सम्मिलित किया जाता है जिनका विदेशी व्यापार से कोई भी सम्बन्ध नही होता है। अन्तर्राष्ट्रीय तुलना के लिए सूचक अंको मे केवल वे ही वस्तुएँ सम्मिलित की जानी चाहिएँ जिनका आयात-निर्यात किया जाता हो अथवा जिनकी विदेशी व्यापार मे आने की सम्भावना हो। वास्तव मे केवल इन वस्तुओ के आधार पर सूचक अंक नही बनाये जाते हैं। अत सामान्य सूचक अंक मुद्राओ की अन्तर्राष्ट्रीय क्रय-शक्ति को नापने का ठीक साधन नही है। क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त के अनुसार निश्चित विनिमय दरे दोषपूर्ण सूचक अंको पर आधारित होती है इसलिए वे मुद्राओ के विदेशी मूल्यो को ठीक-ठीक नही बता सकती है।

(४) इस सिद्धान्त मे क्रय-शक्ति परिवर्तनो को विनिमय दर मे होने वाले परिवर्तनो का एकमात्र कारण माना गया है। किन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है। क्योकि विनिमय दरो पर अनेक कारणो का प्रभाव पडता है और मुद्रा की क्रय-शक्ति का परिवर्तन उनमे से केवल एक है। वास्तव मे भुगतान सन्तुलन की किसी भी मद मे परिवर्तन होने से विनिमय दर बदल सकती है। इनमे से बहुत से परिवर्तन ऐसे हो सकते है जिनका आन्तरिक मूल्य-स्तर पर तो कोई प्रभाव नही पडता है किन्तु विदेशी विनिमय की माग तथा पूर्ति को वे बदल देते है। ऐसी दशा मे क्रय-शक्ति समता का वास्तविक विनिमय दर से कोई सम्बन्ध नही रहता है। स्वीडन के अर्थ-शास्त्री ओहलिन (Ohlin) ने क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त की इसी आधार पर आलोचना की है।

(५) इस सिद्धान्त का व्यवहारिक महत्व बहुत कम है क्योकि आजकल लगभग सभी देशो म नियन्त्रित विनिमय दरे स्थापित की हुई है जिनकी क्रय-शक्ति समता के साथ कोई सम्बन्ध नही होता है। यह सिद्धान्त केवल स्वतन्त्र दशाओ मे विनिमय निर्धारण के विषय मे हमे बतला सकता है किन्तु वह कृत्रिम प्रबन्धित विनिमय दरो के विषय मे हमे कुछ नही बतलाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि क्रय-शक्ति समता स्वतन्त्र विनिमय बाजार की दशाओ मे विनिमय दर की दीर्घकालीन प्रवृत्ति को बतलाती है। अल्पकाल मे विनिमय दरे क्यो बदलती है इसका विश्लेषण यह सिद्धान्त नही करता है।

निष्कर्ष—

उपर्युक्त दोषो के होते हुए भी क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त काफी महत्वपूर्ण है। मूल्य-स्तरो के परिवर्तनो के विनिमय दर पर पड़ने वाले प्रभावो के विश्लेषण के

रूप मे वह एक महत्वपूर्ण सत्य है। यद्यपि उसका व्यवहारिक महत्व कम हो जाता है किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से वह अधिक दोषपूर्ण नही है। दो देशो के बीच समता दर को निश्चित करने का यह एक अच्छा साधन प्रस्तुत करता है। किसी निश्चित समय पर पाई जाने वाली विनिमय दर क्रय-शक्ति समता दर से इधर-उधर हो सकती है किन्तु उसकी सामान्य प्रवृत्ति इस समता दर के समीप रहने की होती है। यद्यपि हम क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त से अधिक आशा नही कर सकते है और क्रय-शक्ति समता के द्वारा न तो सन्तुलन दर (Equilibrium Rate) को ही निर्धारित किया जा सकता है और न उसमे होने वाले परिवर्तनो को जाना जा सकता है किन्तु फिर भी कुछ विशेष परिस्थितियो में इस सिद्धान्त का काफी महत्व है। प्रो० हॉम (Halm) के अनुसार "क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त का उपयोग उस समय लाभपूर्ण होता है जब हम पूर्ण रूप से अन्धकार में हो जैसा कि लम्बे काल तक विनिमय नियन्त्रण अपनाये जाने अथवा भीषण मुद्रा प्रसार के पश्चात् हुआ करता है। ऐसे समय मे क्रय-शक्ति समता कम से कम विनिमय दर के उस अनुमानित क्षेत्र को जानने मे सहायता दे सकती है जिसके अन्दर सन्तुलित दर का पता लगाया जा सकता है।"[१८]

विदेशी विनिमय का भुगतान सतुलन सिद्धात (Balance of Payment Theory)—

कुछ आधुनिक अर्थशास्त्रियो के अनुसार विदेशी विनिमय दर दो देशो के भुगतानो के सन्तुलन के द्वारा निश्चित होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार विनिमय दर उस बिन्दु पर निश्चित होती है जहाँ पर एक देश को प्राप्त होने वाले भुगतान उसके द्वारा किये जाने वाले भुगतानो के ठीक बराबर होते हैं। इस सिद्धान्त का मुख्य आधार यह है कि हम विदेशियो को न तो उनसे अधिक भुगतान देते है और न कम जितना कि हमे उनसे प्राप्त होता है, अर्थात् निर्यात आयातो के लिए भुगतान करते हैं। यदि भारत अमेरिका के साथ अपनी वस्तुओ तथा सेवाओ का विनिमय करता है तो भारत व्यापारिक सन्तुलन की स्थिति मे तब हो सकता है जबकि वह अमेरिका को ठीक उतना ही भुगतान करता है जितना कि उससे उसे प्राप्त होता है। किसी भी देश के भुगतानो का सन्तुलन दीर्घकाल मे होना आवश्यक है। 'भारत और अमेरिका के बीच भुगतानो की तुलना करना तभी सम्भव हो सकता है जब हमे दोनो देशो के बीच किसी विनिमय दर का मालूम हो। बिना विनिमय दर के इस प्रकार की तुलना करना सम्भव नही है क्योकि अमेरिका भारत की मुद्रा मे भुगतान

18 "Nevertheless, the purchasing power approach may be used with advantage when we are entirely in the dark as after long periods of exchange control or after violent inflations Then it is valuable to use it for finding at least the approximate range within which the equilibrium rate should be located." —*G. N Halm* : Economics of Money & Banking, P. 458

करता है और भारत अमेरिका की मुद्रा में। किन्तु यदि हमें यह मालूम है कि डॉलर और रुपया किस दर पर बदले जाते हैं तो हम इन दोनों देशों के भुगतानों की तुलना कर सकेंगे। भारत सन्तुलन की स्थिति में तब होगा जब उसके द्वारा अमेरिका को किये जाने वाले भुगतानों और वहाँ से प्राप्त होने वाले भुगतानों का मूल्य उसकी अपनी मुद्रा में एक दूसरे के बराबर हो और जिस विनिमय दर पर भी यह सन्तुलन स्थापित होता है उस सन्तुलित विनिमय दर कहते हैं।

सन्तुलित विनिमय दर को जानने से पूर्व हमें विभिन्न अनुमानित विनिमय दरों पर भारत और अमेरिका की एक दूसरे की मुद्राओं की माग का अध्ययन करना होता है। इस सम्बन्ध में हमें यह मालूम करना होता है कि विभिन्न विनिमय दरों पर भारत अमेरिका की मुद्रा की कितनी कितनी मात्रा की माग करता है। इसी प्रकार यह भी मालूम किया जाता है कि विभिन्न विनिमय दरों पर अमेरिका में भारतीय मुद्रा की कितनी माग की जाती है। इस प्रकार विभिन्न अनुमानित विनिमय दरों पर अमेरिका और भारत की एक दूसरे की मुद्रा की माग की तालिकाएँ बना ली जाती हैं। इन माग तालिकाओं (Demand Schedules) की सहायता से ऐसी विनिमय दर का पता लगाया जाता है जिस पर भारत और अमेरिका एक दूसरे की मुद्राओं की माग बराबर होती है। इसी विनिमय दर पर दोनों का भुगतान सन्तुलन (Balance of Payments) सन्तुलित होता है। इस दर को सन्तुलित विनिमय दर कहा जाता है और दीर्घकाल में विदेशी विनिमय दर इसी बिन्दु पर रहने की प्रवृत्ति रखती है।

विदेशी विनिमय दरों में उच्चावचन
(Fluctuations in the Rate of Exchange)

विदेशी विनिमय दरें प्रायः बहुत कम स्थिर रहती हैं और विनिमय बिलों की माग तथा पूर्ति के अनुसार उनमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। यद्यपि दीर्घकाल में विनिमय दरों की सामान्य प्रवृत्ति सन्तुलित दर (Equilibrium Rate) के समीप रहने की होती है किन्तु अल्पकाल में विनिमय दरों में काफी उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। स्वर्णमान वाले देशों में वास्तविक विनिमय दर टकसमता (Mint Par) और पत्र मुद्रामान वाले देशों में क्रय-शक्ति समता बिन्दु (Purchasing Power Parity Point) से ऊपर-नीचे घटती बढ़ती रहती है। विनिमय दर के इन परिवर्तनों का देश के विदेशी व्यापार तथा उसकी आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ता है। स्वर्णमान व्यवस्था में विनिमय दरों को स्थिर रखने की कोई विशेष समस्या नहीं थी क्योंकि इस प्रकार की पद्धति में विनिमय दरों में सामान्य स्थिरता स्वयं स्थापित हो जाती थी। स्वर्णमान वाले देशों में विनिमय दरें प्रायः स्थिर रहती थी और उनमें परिवर्तन केवल स्वर्णाङ्कों (Specie Points) की सङ्कुचित सीमाओं के भीतर ही होते थे। किन्तु पत्र मुद्रामान की व्यवस्था में

वनिमय दरो मे बहुत अधिक परिवर्तन होते है और इन परिवर्तनो की कोई निश्चित सीमायें भी नही होती है। इस प्रकार पत्र मुद्रा वाले देशो मे विनिमय दरो की अस्थिरता बहुत बढ जाती है जो इनके आर्थिक जीवन पर अत्यन्त बुरा प्रभाव डालती है।

विनिमय दरो मे होने वाले अनियमित तथा आकस्मिक परिवर्तन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे अनिश्चितता एव अरक्षा उत्पन्न करते है जिसके कारण विदेशी व्यापार मे जोखिम बढ जाती है और उसके विस्तार मे बाधाये उत्पन्न होती हैं। अस्थिर विनिमय दरें अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे पूंजी के दीर्घकालीन विनियोग मे भी रुकावट पैदा करती हैं। विनिमय दरो के परिवर्तन आन्तरिक अस्थिरता को उत्पन्न करते है और उनका देश की अर्थ-व्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। इन्ही सब कारणो से विदेशी विनिमय की स्थिरता विभिन्न राष्ट्रो के आर्थिक विकास तथा विदेशी व्यापार के विस्तार के लिए आवश्यक है। विनिमय दरो मे स्थिरता स्थापित करना पत्र मुद्रा मान वाले देशो की एक प्रमुख समस्या है। लगभग सभी देशो मे विनिमय प्रबन्ध तथा नियन्त्रण के द्वारा विदेशी विनिमय दरो मे सामान्य स्थिरता स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है। विनिमय दरो मे स्थिरता लाने के लिए प्रयोग की जाने वाली विभिन्न विधियो का अध्ययन करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि विदेशी विनिमय दरो मे परिवर्तन क्यो होते है।

विनिमय दरों में परिवर्तनो के कारण (Causes of the Fluctuations in the Rates of Exchange)—स्वर्णमान तथा पत्र मुद्रा मान दोनो प्रकार की व्यवस्थाओ मे अल्पकालीन विनिमय दर सन्तुलन स्तर (Equilibrium Level) से ऊपर-नीचे घटती-बढती रहती है। विनिमय दर को प्रभावित करने वाले कारणो को निम्न वर्गों मे बाँटा जा सकता है—

(अ) विदेशी मुद्रा की माग तथा पूर्ति को प्रभावित करने वाले कारण।
(ब) चलन सम्बन्धी स्थिति को प्रभावित करने वाले कारण।
(स) राजनैतिक स्थिति।

(अ) विदेशी मुद्रा की माग तथा पूर्ति की स्थिति
(Demand and Supply Conditions of Foreign Exchange)—

विदेशी मुद्रा की माग तथा पूर्ति मे होने वाले परिवर्तन विनिमय दर पर बहुत अधिक प्रभाव डालते है। जब विदेशी मुद्रा की माग उसकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक हो जाती है तो विनिमय दर बढ जाती है और मांग के पूर्ति से कम हो जाने की दशा में वह गिर जाती है। अल्पकाल मे विदेशी मुद्रा की माग तथा पूर्ति मे असाम्य की सम्भावना बहुत अधिक बढ जाती है और इसी कारण दैनिक विनिमय दर घटती-बढती रहती है। विदेशी मुद्रा की माग तथा पूर्ति पर अग्रलिखित बातो का प्रभाव पडता है—

(१) व्यापारिक प्रभाव (Trade Influences)—विदेशी व्यापार की स्थिति का विनिमय दर पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। विदेशी विनिमय बाजार में बिलों की माग तथा पूर्ति मुख्यतया आयात तथा निर्यात की मात्रा के ऊपर निर्भर होती है। यदि देश में आयात अधिक किया जाता है और निर्यात कम होता है तो ऐसी दशा में विदेशी मुद्रा की माग अधिक होने के कारण उसका मूल्य बढ़ जाता है और विनिमय दर देश के विपक्ष में हो जाती है। इसके विपरीत यदि किसी देश से निर्यात अधिक किये जाते हैं और आयात कम होती है तो विदेशी मुद्रा की माग कम होने के कारण उसका मूल्य गिर जाता है और विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है। उदाहरणार्थ, यदि भारत से इङ्गलैंड को निर्यात अधिक की जाती हैं और वहाँ से आयात कम होती हैं तो इङ्गलैंड में रुपये की माग अधिक होने के कारण रुपये का मूल्य बढ़ जायगा और विनिमय दर भारत के पक्ष में हो जायगी। यदि इङ्गलैंड से हम अधिक आयात करते हैं और उस देश को हमारी निर्यात कम होती हैं तो भारत में पौंड की माग अधिक होने के कारण उसका मूल्य बढ़ जायगा और विनिमय दर भारत के विपक्ष में हो जायेगी। व्यापारिक स्थिति का ज्ञान करते समय हमें दृश्य तथा अदृश्य दोनों प्रकार की आयातों व निर्यातों को सम्मिलित करना चाहिए।

(२) स्टॉक एक्सचेंज सम्बन्धी प्रभाव (Stock Exchange Influences)—स्टॉक एक्सचेंज पर होने वाले विभिन्न प्रकार के सौदों के कारण भी विदेशी मुद्रा की माग तथा पूर्ति में परिवर्तन होते रहते हैं। स्टॉक एक्सचेंज पर स्टॉक, शेयर्स, प्रतिभूतियों आदि का क्रय विक्रय, ऋणों का लेन-देन तथा सट्टे के उद्देश्य से विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय किया जाता है। इन सौदों का प्रभाव विदेशी मुद्राओं की माग तथा पूर्ति पर पड़ता है जिसके कारण विनिमय दर में परिवर्तन होते हैं। यदि भारत का कोई विनियोगी इङ्गलैंड की कम्पनियों के अंश खरीदता है अथवा ब्रिटिश सरकार की प्रतिभूतियों को लेता है तो भारत में पौंड की माग बढ़ जायेगी और उसका मूल्य बढ़ने लगेगा। इसके विपरीत यदि इङ्गलैंड के पूंजीपति भारतीय कम्पनियों के अंश अथवा भारतीय सरकार की प्रतिभूतियों को खरीदते हैं तो इङ्गलैंड में रुपये की माग बढ़ जायेगी और उसका मूल्य बढ़ने की प्रवृत्ति रक्खेगा। जब हमारे देश में विदेशी प्रतिभूतियों पर ब्याज आता है अथवा खरीदे हुए अंशों (Shares) पर लाभ अंश मिलता है तो इससे देश में विदेशी मुद्रा की पूर्ति बढ़ती है। इसी प्रकार विदेशी ऋणों के आने-जाने का भी विदेशी विनिमय की माग तथा पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है।

(३) मध्यस्थों की क्रियाएँ (Arbitrage Operations)—कुछ लोग सट्टे के उद्देश्य से भी विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय किया करते है। जब उन्हें किसी मुद्रा के मूल्य की भविष्य में बढ़ने की आशा होती है तो वे उस मुद्रा को खरीदने लगते हैं जिसके कारण उस मुद्रा विशेष की माग बढ़ जाती है और उसका मूल्य

बढने लगता है। इसके विपरीत जब किसी मुद्रा के मूल्य के गिरने की सम्भावना होती है तो यह लोग उस मुद्रा को बेचने लगते है और बाजार मे उसकी पूर्ति मे कृत्रिम वृद्धि हो जाने के कारण उसका मूल्य घट जाता है। मध्यस्थो की क्रियाओ (Arbitrage Operations) के कारण भी विदेशी मुद्राओ का क्रय-विक्रय हुआ करता है। कुछ लोग विभिन्न बाजारो मे मुद्राओ के मूल्यो के अन्तर से लाभ उठाने के लिए भी विदेशी मुद्राओ का क्रय-विक्रय करने लगते है। यदि न्यूयर्क मे पौण्ड का मूल्य (१ पौड=२·९ डॉलर) अधिक है और उसी समय पेरिस के बाजार मे पोड कुछ कम मूल्य (१ पौड=२·८ डॉलर) पर बिक रहा है तो यह लोग पेरिस मे पोड खरीद कर उसे तुरन्त अमेरिका मे बेच देगे और उससे लाभ प्राप्त करेगे। इस प्रकार के विदेशी मुद्राओ के क्रय-विक्रय को अन्तर पणन (Arbitrage Operations) कहा जाता है। इन क्रियाओ का भी विदेशी मुद्राओ की माग तथा पूर्ति पर प्रभाव पडता है।

(४) **बैंकिंग सम्बन्धी प्रभाव** (Banking Influences)—बैंकिंग सम्बन्धी प्रभाव मुख्यत. दो प्रकार के होते है—(अ) बैंको द्वारा विनियोग तथा धन का हस्तातरण, (ब) बैंक दर परिवर्तन। जब बैंक अपने धन का विनियोग दूसरे देशो मे करते हैं अथवा साख प्रमाण पत्र (Letters of Credit), ड्राफ्ट तथा यात्री चैक आदि जारी करते है तो इसके लिए रुपया विदेशो को भेजना होता है जिसके कारण विदेशी बिलो की माग बढ जाती है और विनिमय दर भी बढने लगती है। यदि विदेशी बैंक हमारे यहाँ विनियोग बढाते है अथवा साख पत्रो के द्वारा धन का हस्तातरण करते है तो विदेशी मुद्रा की पूर्ति हमारे देश मे बढ जाती है और उसका मूल्य गिरने लगता है। सरकार के हिसाब मे रुपये के हस्तातरण का प्रभाव भी विदेशी विनिमय की माग तथा पूर्ति पर पडता है। सरकार के द्वारा विदेशो मे ऋणो का प्राप्त होना अथवा विदेशो का ऋण दिया जाना, सूद का लेन-देन तथा ऋणो के भुगतान सभी विनिमय दर को प्रभावित करते है।

बैंक दर परिवर्तनो का भी विनिमय दर पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। बैंक दर परिवर्तन देश मे साख की मात्रा मे परिवर्तन करने है जिनके कारण मूल्य स्तर बदलता है और मुद्रा का विदेशी मूल्य भी बदल जाता है। बैंक दर कम होने से साख का विस्तार होता है, मूल्य-स्तर बढने लगता है और मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिनके कारण विनिमय दर गिर जाती है। इसके अतिरिक्त बैंक दर गिरने से सूद की दर कम हो जाती है, विदेशी विनियोग कम होते हैं और विदेशी पूँजी देश मे भागने लगती है जिसके कारण विदेशी मुद्रा की माग बढ जाती है और उसका मूल्य बढने लगता है। इसके विपरीत बैंक दर के बढने पर सूद की दर ऊँची होने के कारण विदेशी विनियोगो को प्रोत्साहन मिलता है और विदेशी पूँजी देश मे आने लगती है जिसके कारण हमारे देश मे विदेशी मुद्रा की पूर्ति बढ

जाती है और उसका मूल्य गिरने लगता है। बैंक दर बढने से देश मे मुद्रा संकुचन की स्थिति पैदा हो जाती है, मूल्य स्तर गिरता है और हमारी मुद्रा का विदेशी मूल्य बढ जाता है।

(ब) चलन सम्बन्धी स्थिति (Currency Conditions)—

देश मे चलन सम्बन्धी परिवर्तनो के कारण मुद्रा की क्रय-शक्ति बदलती रहती है जिसका प्रभाव विनिमय दर के ऊपर भी होता है। मुद्रा के आन्तरिक मूल्य मे होने वाले परिवर्तन उसके विदेशी मूल्य मे भी उसी प्रकार के परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। अत मुद्रा की मात्रा मे होने वाले परिवर्तन तथा देश की मौद्रिक नीति विनिमय दर पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाल सकती है। चलन सम्बन्धी प्रभावो के अन्तर्गत मुद्रा प्रसार, मुद्रा संकुचन तथा अवमूल्यन आदि को सम्मिलित किया जाता है। (i) **मुद्रा प्रसार अथवा मुद्रा सकुचन**—मुद्रा प्रसार की स्थिति में वस्तुओ के मूल्य बढ जाते हैं जिसके कारण विदेशियो के लिए हमारा बाजार माल बेचने का अच्छा बाजार बन जाता है और हमारी आयातो मे वृद्धि होती है। मूल्य अधिक होने के कारण विदेशी हमारे देश से बहुत कम सामान खरीदते है और हमारे निर्यात कम हो जाती है। आयात बढने तथा निर्यात कम होने के कारण विनिमय बिलो की माग उनकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक हो जाती है और विदेशी मुद्रा का मूल्य बढने लगता है। इसके विपरीत मुद्रा संकुचन की स्थिति मे हमारा मूल्य-स्तर नीचा होने के कारण निर्यातो को प्रोत्साहन मिलता है और आयातें कम हो जाती हैं। इसके परिणामस्वरूप विदेशी मुद्रा का मूल्य गिरने लगता है। (ii) **अवमूल्यन (Devaluation)**— मुद्रा के अवमूल्यन का भी विदेशी विनिमय दर के उपर प्रभाव पडता है। मुद्रा का अवमूल्यन होने से हमारी निर्यातो को प्रोत्साहन मिलता है और आयातें कम हो जाती है। निर्यात अधिक होने के कारण विदेशी मुद्रा की पूर्ति अधिक हो जाती है और आयात कम होने से उसकी माग कम रहती है जिसके कारण विदेशी मुद्रा का मूल्य गिर जाता है और विनिमय दर हमारे पक्ष म आ जाती है। इस प्रकार मुद्रा तथा चलन की दशाओ म परिवर्तन होने के कारण विनिमय दर मे भी परिवर्तन आते रहते है।

(स) राजनैतिक कारण (Political Causes)—

राजनैतिक परिस्थितियो का भी विनिमय दर पर प्रभाव पडता है। सरकार की व्यापारिक नीति, देश मे शान्ति व सुरक्षा की स्थिति, सरकार की वित्त नीति आदि का प्रभाव विनिमय दर पर पडता है। (i) **व्यापारिक नीति**—सरकार देश मे सरक्षण की नीति को अपनाकर निर्यातो को प्रोत्साहित तथा आयातो को हतोत्साहित कर सकती है। आयातो तथा निर्यातो के यह परिवर्तन विदेशी मुद्रा की माग तथा पूर्ति को प्रभावित करते हैं और इनके कारण विनिमय दर बदल जाती है। (ii) **शान्ति व सुरक्षा की दशायें**—यदि देश मे शान्ति व सुरक्षा की उचित व्यवस्था है, सरकार

स्थायी तथा टिकाऊ है और उसकी आर्थिक नीति उचित है तो ऐसी दशा मे विदेशियो का विश्वास उस देश की मुद्रा मे बढता है और विदेशी पूँजी देश मे आने लगती है जिसके कारण विनिमय दर पक्ष मे हो जाती है। इसके विपरीत यदि देश मे अशान्ति है और सरकार स्थायी नही है तथा वह उचित नीति का पालन नही करती है तो विदेशी पूँजी देश से भागने लगेगी और विनिमय दर हमारे विपक्ष में हो जायेगी। (iii) **सरकार की वित्त नीति**—यदि सरकार देश के बजट मे घाटे की व्यवस्था करती है तो उसके कारण मुद्रा का आन्तरिक मूल्य बदल जाता है जिसका प्रभाव उसके विदेशी मूल्य पर भी पडता है। इस प्रकार राजनैतिक दशाओ तथा सरकारी नीति का भी विनिमय दर पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है।

विनिमय दर परिवर्तनो की सीमायें

(Limits of Fluctuations in Foreign Exchang Rate)—

उपर्युक्त सभी कारणो से विनिमय दर मे परिवर्तन हुआ करते हैं और वह सन्तुलन स्तर (Equilibrium Level) से ऊपर नीचे घटती-बढती रहती है। विनिमय दर मे परिवर्तन कितने कम अथवा अधिक होते हैं—यह इस बात पर निर्भर है कि देश स्वर्णमान पर हैं अथवा उन्होंने पत्र-मुद्रा प्रणाली को अपनाया हुआ है। स्वर्णमान मे विनिमय दरो मे अधिक परिवर्तन नही होते है और इन परिवर्तनो की सीमायें निश्चित होती हैं। स्वर्णमान की स्थिति मे विनिमय दर परिवर्तनो की सीमायें स्वर्णाङ्को (Specie Points) के द्वारा निश्चित होती है और वास्तविक विनिमय दर कभी भी स्वर्ण-निर्यात बिन्दु (Gold Export Point) से ऊपर तथा स्वर्ण-आयात बिन्दु (Gold Import Point) से नीचे नही जाती है। विनिमय दर के इन सीमाओ से बाहर निकलने पर सोने का आयात अथवा निर्यात आरम्भ हो जाता है जिसके कारण विनिमय दर फिर सामान्य स्तर पर आ जाती है। एक देश के लिए विनिमय दर पक्ष मे तब होती है जब वह स्वर्ण आयात बिन्दु के समीप होती है और जब विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु के समीप आ जाती है तो वह देश के लिए विपक्ष मे हो जाती है।

पत्र-मुद्रामान वाले देशो मे विनिमय दर परिवर्तन की कोई सीमायें नही होती हैं और वह सतुलित दर (Equilibrium Rate) से कितनी भी ऊपर तथा नीचे जा सकती है। पत्र-मुद्रा की दशा मे विनिमय दर के लिए स्वर्णाङ्को (Specie Points) जैसी कोई सीमायें नही होती है इसीलिए पत्र-मुद्रामान मे स्वर्णमान की अपेक्षा विनिमय दरो मे अधिक अस्थिरता रहती है। पत्र-मुद्रा वाले देशों मे विनिमय दर विदेशी बिलों की माग तथा पूर्ति के अनुसार घटती-बढती रहती है और केवल सरकारी नियन्त्रण तथा प्रबन्ध के द्वारा ही विनिमय दर मे स्थिरता स्थापित की जा सकती है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'मुद्रा की क्रय-शक्ति समानता' सिद्धान्त क्या है ? स्पष्ट कीजिये कि यह दो अथवा अधिक मुद्राओं के आपसी मूल्य को विदेशी विनिमय के हेतु किस प्रकार स्थापित करता है। (आगरा बी० ए० १९६३)

(२) विदेशी विनिमय दर कैसे निश्चित की जाती है ? (आगरा बी० ए० १९६२)

(३) किसी देश की करेंसी का विदेशी विनिमय मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ? (आगरा बी० ए० १९५९)
(राजस्थान बी० काम १९५५)

(४) क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त को समझाइए और स्पष्ट कीजिए कि व्यावहारिक रूप से यह सिद्धान्त कहाँ तक लागू हो सकता है ? (आगरा बी० ए० १९५८)

(५) स्वर्णमान एवं रजतमान वाले देशों के बीच विनिमय दर किस प्रकार निर्धारित होती है ? (आगरा बी० काम १९५९ स)

(६) विदेशी विनिमय के सम्बन्ध में क्रय-शक्ति समता के सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं ? विनिमय दर इस समता से कब भिन्न होती है ? (आगरा बी० काम १९५८ स)

(७) 'विदेशी विनिमय' से आप क्या समझते हैं ? उन विभिन्न घटकों का वर्णन करिए जो विदेशी विनिमय दरों में परिवर्तन ला देते हैं। (आगरा बी० काम १९५८)

(८) विनिमय दरों के परिवर्तन से विदेशी व्यापार किस प्रकार प्रभावित होता है ? विवेचना करिये। (राजस्थान बी० ए० १९५९)

(९) क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त का विवेचन करिये और इसके दोष बताइये। (राजस्थान बी० ए १९५८)

(१०) विदेशी विनिमय दरों का निर्धारण किस प्रकार होता है ? (राजस्थान बी० काम १९५८)

(११) विदेशी विनिमय के क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त को बताइये व समझाइये। इसकी सीमाओं पर भी प्रकाश डालिए। (सागर बी० ए० १९५८)

(१२) अपरिवर्तनशील पत्र मुद्राओं में विनिमय दर किस प्रकार निर्धारित होती है ? (सागर बी० काम १९५९)

(१३) विनिमय की टक समता को समझाइये। विनिमय दर में उच्चावचन क्यों होते हैं ? (सागर बी० काम १९५८)

(१४) विदेशी विनिमय दरें किस प्रकार निर्धारित होती हैं ? व्याख्या करिए ।
(विक्रम बी० ए० १९५९)

(१५) उन घटकों को संक्षेप में समझाइये जो कि विदेशी विनिमय दरों में परिवर्तन ला देते हैं । क्या इन परिवर्तनों की कुछ सीमाएँ भी हैं ? विवेचन करिये । (राजस्थान बी० काम १९५५)

(१६) विदेशी विनिमय दरों के उतार-चढाव के कारणों का आलोचनात्मक विवेचन करिये । क्या आपके विचार में इस प्रकार के उतार-चढ़ाव की सीमायें होती हैं ? (सागर बी० ए० १९५९)

तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों की तुलना के द्वारा निर्धारित नहीं होते हैं बल्कि उन्हें राष्ट्रीय आवश्यकता के अनुसार निश्चित किया जाता है।"[2] प्रो० हॉम (Halm) के अनुसार "विनिमय नियन्त्रण से हमारा अभिप्राय उन विधियों से है जिनके द्वारा स्वतन्त्र विदेशी विनिमय बाजार का स्थान विवेचनात्मक नियन्त्रणों को दे दिया जाता है। क्रेता तथा विक्रेताओं को असीमित मात्रा में विदेशी विनिमय खरीदने तथा बेचने की आज्ञा नहीं दी जाती है। या तो खरीदी जाने वाली मात्रा, या मूल्य जिस पर उसे खरीदा जा सकता है अथवा दोनों पर प्रत्यक्ष प्रतिबन्ध होते हैं।"[3] पॉल ईन्जिग (Paul Einzig) ने विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत विनिमय बाजार में किये जाने वाले प्रत्येक हस्ताक्षेप को सम्मिलित किया है। क्राउथर (Crowther) ने भी विनिमय नियन्त्रण शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में किया है और उसके अन्तर्गत हस्ताक्षेप, विनिमय प्रतिबन्ध तथा विनिमय प्रबन्ध आदि को विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत सम्मिलित किया है।

विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत सरकार के द्वारा विदेशी विनिमय के क्रय विक्रय का एकाधिकार प्राप्त कर लिया जाता है। विदेशी विनिमय का खुला बाजा बन्द कर दिया जाता है और विदेशी विनिमय व्यवसाय या तो केन्द्रीय बैंक अथव सरकार द्वारा अधिकृत किसी अन्य संस्था के द्वारा किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को जो भी विदेशी विनिमय अपनी वस्तुओं के बदले में अथवा अन्य प्रकार से प्राप्त होता है, उसे केन्द्रीय बैंक को निश्चित दर पर देश की मुद्रा के बदले में बेचना पड़ता है और जिन लोगों को विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है वे उसे केवल केन्द्रीय बैंक से ही प्राप्त कर सकते हैं। स्वतन्त्र विनिमय बाजार में लोगों को विदेशी विनिमय सम्बन्धी सौदे करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है किन्तु विनिमय नियन्त्रण की व्यवस्था में यह स्वतन्त्रता बिल्कुल समाप्त हो जाती है और विदेशी विनिमय व्यवसाय पर सरकार का नियन्त्रण रहता है। विनिमय नियन्त्रण के द्वारा सरकार विदेशी विनिमय की माग तथा पूर्ति में सन्तुलन स्थापित करके विनिमय दर में स्थिरता स्थापित करने का प्रयत्न करती है।

---

2 "Exchange control, the means of dealing with balance of payments difficulties, . . . disregards market forces and substitutes them with the arbitrary decisions of Government officials Imports and other international payments are no longer determined by international price comparisions, but by considerations of national need."

—*P. T. Ellsworth* The International Economy, P 332.

3 "When referring to exchange control we mean measures which replace the free foreign exchange market with discriminatory regulations. Buyers and sellers are no longer permitted to purchase and sell foreign exchange in unlimited amounts. Either the quantities purchased or the prices at which they can be purchased or both are now subject to direct regulations" —*Halm* Economics of Money and Banking, P. 465.

विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य (Objects of Exchange Control)—

विदेशी विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जा सकता है जिनमें से प्रमुख इस प्रकार है—

(१) विदेशी विनिमय दर को स्थिर रखना—विनिमय नियन्त्रण का मुख्य उद्देश्य विनिमय दरों में स्थिरता स्थापित करना होता है। पत्र मुद्रा मान में अनियन्त्रित विदेशी विनिमय व्यवसाय के कारण विनिमय दरों में बहुत अधिक परिवर्तन होते हैं जिनका देश की अर्थ-व्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। सरकार विदेशी विनिमय सम्बन्धी स्थिरता लाने के लिए विनिमय दर को किसी एक निश्चित दर पर स्थिर कर देती है और विनिमय नियन्त्रण के द्वारा विनिमय दर को इस निश्चित बिन्दु पर बनाये रखने का प्रयत्न करती है। कभी-कभी विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग विदेशी विनिमय दर को सन्तुलित दर से उपर (over-valuation) अथवा उससे नीचे (under-valuation) रखने के लिए भी किया जाता है। क्राउथर के अनुसार इसकी आवश्यकता किसी मुद्रा की विनिमय दर को स्वतन्त्र बाजार के स्तर से ऊँचे स्तर पर या उससे नीचे स्तर पर बनाये रखने के लिए हो सकती है।[4]

(२) व्यापार सन्तुलन के घाटे को दूर करना—विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग व्यापार सन्तुलन के घाटे को दूर करने तथा उसे सन्तुलित करने के लिए भी किया जाता है। विभिन्न प्रकार के व्यापारिक प्रतिबन्ध होते हुए भी यह सम्भव हो सकता है कि देश का व्यापार सन्तुलन इतना अधिक असन्तुलित हो जाय कि उसे अन्य उपायों से ठीक न किया जा सके। ऐसी दशा में सरकार विनिमय नियन्त्रण की सहायता से इस असन्तुलन को दूर करने का प्रयत्न करती है। विनिमय नियन्त्रण की व्यवस्था में केन्द्रीय बैंक ही विदेशी विनिमय को बेचने तथा खरीदने का काम करता है। केन्द्रीय बैंक उतनी मात्रा में ही विदेशी विनिमय बेचता है जितना कि उसे प्राप्त होता है और इस प्रकार आयातों को कम करके वह व्यापार सन्तुलन के घाटे को दूर कर सकता है।

(३) अल्प पूर्ति वाली मुद्राओं का उचित प्रयोग—कोई देश विनिमय नियत्रण का प्रयोग इस उद्देश्य के लिए भी कर सकता है कि अल्प पूर्ति वाली मुद्राओं को केवल लड़ाई का सामान अथवा आर्थिक विकास के लिए पूँजीगत वस्तुएँ मगाने के लिए ही काम में लाया जाय। द्वितीय विश्व-युद्ध काल में इङ्गलैंड, भारत तथा अन्य देशों ने विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग इस उद्देश्य प्राप्ति के लिए किया। भारतवर्ष में विनिमय नियन्त्रण के द्वारा यह यह प्रयत्न किया गया कि डॉलर साधनों

4 "It may be desired to maintain the exchange. Value of a currency at a level higher than would prevail in a free market. Alternatively, it may be desired to depress the exchange value of the currency below the free level." —*Crowther*: An outline of Money, P. 236.

को अनावश्यक प्रयोगों में न लगाकर विकास के लिए पूँजीगत वस्तुयें मगाने में लगाया जाय।

(४) देश से पूँजी के बाहर जाने को रोकना—विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग विदेशी पूँजी को देश से बाहर जाने से रोकने तथा विदेशों में देशी पूँजी के विनियोग को रोकने के लिए भी किया जा सकता है। विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत देश से बाहर पूँजी के जाने पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं जिनके कारण देश से पूँजी का बाहर जाना रुक जाता है।

(५) गृह उद्योगों को संरक्षण देने के लिए—विनिमय नियन्त्रण के द्वारा देश के उद्योगों को संरक्षण भी दिया जा सकता है। यदि किसी देशी उद्योग पर विदेशी प्रतियोगिता का बुरा प्रभाव पड रहा है तो केन्द्रीय बैंक उस उद्योग के द्वारा निर्मित वस्तु को विदेशों से आयात करने के लिए विदेशी विनिमय न देकर उस उद्योग को संरक्षण दे सकता है। किन्तु इस उद्देश्य के लिए विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग बहुत कम किया जाता है।

(६) *व्यापारिक भेद-भाव करने के लिए*—*आंशिक विनिमय नियन्त्रण का* प्रयोग विभिन्न देशों के बीच व्यापारिक भेद-भाव करने के लिए भी किया जा सकता है। विनिमय नियन्त्रण की सहायता से एक देश से आने वाली वस्तुओं को रोका जा सकता है तथा दूसरे देश से होने वाली आयातों को प्रोत्साहित किया जा सकता है।

विनिमय नियन्त्रण की रीतियाँ (Methods of Exchange Control)—

विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत वे सभी उपाय आ जाते हैं जिनके द्वारा विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी मुद्रा की माग तथा पूर्ति को प्रभावित किया जा सकता है। *ये उपाय मुख्यतः दो प्रकार के हो सकते है—(अ) परोक्ष उपाय तथा* (ब) प्रत्यक्ष उपाय।

(अ) परोक्ष उपाय (Indirect Methods)—इसके अन्तर्गत वे उपाय आ जाते है जिनका प्रयोग तो किसी और उद्देश्य से किया जाता है किन्तु जिनका प्रभाव विनिमय दर पर भी पडता है। परोक्ष उपाय केवल आंशिक रूप से ही विदेशी विनिमय बाजार को प्रभावित कर सकते हैं। परोक्ष उपायों में दो का महत्व अधिक रहा है—

(१) प्रशुल्क कर (Tariffs and Quotas)—कोई देश बाहर से आने वाले *सामान पर आयात कर लगा कर अथवा उसके अभ्यंश (Quota) निश्चित करके* अपनी आयात की मात्रा को कम कर सकता है, आयातों के कम हो जाने से विदेशी भुगतानों में भी कमी होती है और विदेशी मुद्रा की माग गिर जाती है। इस प्रकार आयात करों के द्वारा विदेशी मुद्रा की माग को कम करके उसके मूल्य को बढ़ने से रोका जा सकता है। इसका प्रभाव देशी मुद्रा के मूल्य में वृद्धि करने का होता है।

इसके दूसरी ओर निर्यातों पर लगाये गये कर देश की मुद्रा के मूल्य को कम करने की प्रवृत्ति रखते हैं। इस नीति की सफलता इस बात पर निर्भर रहती है कि अन्य देश समान अनुपात में प्रशुल्क करो मे वृद्धि न करें। यदि अन्य देशो के द्वारा भी प्रशुल्क करो को उसी अनुपात मे बढा दिया जाता है तो इस नीति का विनिमय दरो पर कोई प्रभाव नही पड सकेगा।

(ii) **ब्याज की दरों में परिवर्तन** (Changes in the rate of Interest)—ब्याज की दरों मे परिवर्तन करके भी विनिमय दरो को प्रभावित किया जा सकता है। यह प्रभाव पूँजी के आवागमन तथा विनियोगो के द्वारा होता है। देश मे ब्याज की दर बढा देने से विदेशी पूँजी आकर्षित होती है और उस देश के बैंको के लिए भी यह लाभपूर्ण हो जाता है कि वे अपनी पूँजी का विनियोग देश मे ही करें। इस प्रकार पूँजी को देश से बाहर जाने से रोका जा सकता है तथा विदेशी पूँजी को आकर्षित किया जा सकता है जिसके परिणामस्वरूप देश मे विदेशी मुद्रा की माग कम हो जाती है और उसकी मूल्य वृद्धि रुक जाती है। ब्याज की दर मे वृद्धि करने से हमारी मुद्रा की विदेशो मे माग बढती है और उसकी पूर्ति कम हो जाती है जिसके कारण उसके मूल्य मे वृद्धि होती है।

परोक्ष उपायो की सफलता का क्षेत्र सीमित होता है और वे विनिमय बाजार का स्वतन्त्रता मे किसी प्रकार की बाधा नही डालते हैं। उनका प्रयोग तो किसी अन्य कारणो से किया जाता है किन्तु वे विनिमय दर को भी प्रभावित कर सकते हैं। परोक्ष उपायो के द्वारा विनिमय दर का प्रबन्ध नही किया जाता है बल्कि उनकी सहायता से केवल विनिमय दर को प्रभावित किया जाता है। इस प्रकार के उपायो का प्रयोग केवल सीमित मात्रा मे किया जाता है क्योंकि बहुत कम देशो के लिए अपनी आयातो मे काफी कमी करना सम्भव होता है। निर्यातो को आर्थिक सहायता भी सीमित मात्रा मे ही दी जा सकती है और आन्तरिक स्थिरता को ध्यान मे रखते हुए ब्याज की दरो मे अधिक वृद्धि करना भी सम्भव नही होता है। अत: परोक्ष उपायो को विनिमय नियन्त्रण का दृढ साधन नही माना जा सकता है और उनके द्वारा विनिमय दरो को अधिक सीमा तक प्रभावित करना सम्भव नही होता है।[५] इसीलिए विनिमय नियन्त्रण के प्रत्यक्ष उपायो को काम मे लाना आवश्यक हो जाता है।

(ब) **प्रत्यक्ष उपाय** (Direct Methods)—विनिमय नियन्त्रण के प्रत्यक्ष उपाय अधिक प्रभावशाली होते हैं और उनके द्वारा विनिमय दरों का सम्पूर्ण नियन्त्रण किया जा सकता है। प्रत्यक्ष उपायो के अन्तर्गत वे उपाय आते हैं जिन्हें

5 "These methods of indirect control, therefore, though they are by no means negligible are not nearly strong or precise enough instruments for a government that aspires to bring the exchange rate under close control"
—*Crowther* : An Outline of Money, P. 247 & 243.

विनिमय दर को प्रभावित करने के निश्चित उद्देश्य से प्रयोग किया जाता है। प्रत्यक्ष उपाय भी दो प्रकार के हो सकते हैं—(i) हस्तक्षेप (Intervention) तथा (ii) प्रतिबन्ध (Restriction)। हस्तक्षेप की नीति के अन्तर्गत सरकार विनिमय दर को ऊँचा या नीचा रखने के लिए विदेशी विनिमय बाजार में सीधा हस्तक्षेप करती है। जब सरकार हस्तक्षेप के द्वारा विनिमय दर को ऊँचे स्तर पर रखने का प्रयत्न करती है तो इसके कारण देश की मुद्रा की माग गिर जाती है और सरकार को ऊँची दर पर देशी *मुद्रा की समस्त पूर्ति को खरीदने के लिए तैयार रहना* चाहिए। इसके विपरीत जब विनिमय दर को नीचे स्तर पर रखने का प्रयत्न किया जाता है तो देशी मुद्रा की माग बढ़ जाती है और सरकार को निश्चित दर पर अपनी मुद्रा को किसी भी सीमा तक बेचने के लिए तैयार रहना चाहिए। इस प्रकार हस्तक्षेप की नीति की सफलता सरकार के विदेशी विनिमय साधनों तथा देशी मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि करने की क्षमता पर निर्भर होती है।

प्रतिबन्ध की नीति के अन्तर्गत सरकार के द्वारा विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय तथा विदेशी भुगतानों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। प्रतिबन्धों के द्वारा सरकार विदेशी विनिमय की माग तथा पूर्ति को प्रभावित करके विनिमय दर में स्थिरता लाने का प्रयत्न करती है। सन् १९३९ के पश्चात् विभिन्न देशों में हस्तक्षेप (Intervention) के द्वारा विनिमय दरों में स्थिरता स्थापित करने में अधिक सफलता न मिल सकी और इन देशों में प्रतिबन्ध (Restriction) की अधिक प्रभावशाली नीति का प्रयोग किया जाने लगा। प्रतिबन्ध की नीति के द्वारा देश की मुद्रा की माग में किसी प्रकार की कृत्रिम वृद्धि करने का प्रयत्न नहीं किया जाता है बल्कि सरकार देशी मुद्रा की पूर्ति को बाजार में जाने से रोकती है और इस प्रकार देशी मुद्रा के मूल्य को गिरने से रोका जाता है। प्रतिबन्ध की नीति के अन्तर्गत विदेशी विनिमय व्यापार का केन्द्रीयकरण कर दिया जाता है और उसका क्रय-विक्रय सरकार अथवा उसकी प्रतिनिधि संस्था के द्वारा ही किया जा सकता है। देशी मुद्रा को किसी अन्य देश की मुद्रा के बदले में प्रस्तुत करने के लिए सरकार की आज्ञा लेना आवश्यक कर दिया जाता है। सरकार की आज्ञा के बिना विदेशी विनिमय के सौदों को करना गैरकानूनी करार दे दिया जाता है। विनिमय प्रतिबन्धों का प्रयोग सर्वप्रथम जर्मनी तथा आस्ट्रिया में किया गया। सन् १९३१ के सकटकाल में तथा सन् १९४१ के युद्ध के पश्चात् इसका प्रयोग अन्य देशों में भी किया जाने लगा। विनिमय प्रतिबन्धों का मुख्य उद्देश्य (i) देश के स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय कोषों की रक्षा करना, (ii) देश से पूँजी के भागने को रोकना तथा (iii) अल्प-पूर्ति वाली मुद्राओं का उचित प्रयोग करना होता है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निर्यातकर्त्ताओं के लिए यह आवश्यक कर दिया जाता है कि वे अपने समस्त विदेशी विनिमय को निश्चित दर पर केन्द्रीय बैंक को अनिवार्य रूप से

बेच दें। आयातकर्त्ताओं को अपनी आवश्यकता के लिए विदेशी विनिमय केन्द्रीय बैंक से प्राप्त करना होता है।

विनिमय नियन्त्रण के विभिन्न रूप (Various Forms of Exchange Control)—स्वर्णमान के पतन के पश्चात् लगभग सभी देशों के द्वारा किसी न किसी रूप में विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग किया जाने लगा है। व्यवहारिक रूप में विभिन्न देशों में तथा विभिन्न समय में भिन्न-भिन्न प्रकार से विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग किया गया है। विनिमय नियन्त्रण के विभिन्न रूप इस प्रकार हैं—

(१) **विनिमय उद्बन्धन (Exchange Pegging)**—विनिमय नियन्त्रण की यह विधि काफी पुरानी है। इस विधि का प्रयोग मुख्यतया युद्ध काल में विनिमय परिवर्तनों को कम करने के लिए किया गया। इगलैंड के द्वारा प्रथम महायुद्ध काल में इसका प्रयोग किया गया और द्वितीय विश्व-युद्ध काल में भी उसे अपनाया गया। इस विधि के अन्तर्गत सरकार विनिमय दर को किसी निश्चित दर पर स्थिर रखने का प्रयत्न करती है। यह निश्चित दर जब सन्तुलित दर (Equilibrium rate) से ऊपर होती है तो इसे विनिमय दर को 'ऊपर टाँकना' (Pegging up) कहते हैं और जब विनिमय दर को सन्तुलित दर से नीचे रखने का प्रयत्न किया जाता है तो उसे विनिमय दर को 'नीचे अटकाना' (Pegging down) कहते हैं। इस प्रकार की नीति के अन्तर्गत सरकार निश्चित दरों पर विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करके विनिमय दर को एक निश्चित बिन्दु पर स्थिर रखती है। द्वितीय विश्व-युद्ध काल में भारतीय सरकार ने भी इस नीति के द्वारा रुपये के मूल्य को १ शिलिंग ६ पैंस पर स्थिर रक्खा। विनिमय उद्बन्धन की नीति की सफलता उसको अपनाने वाले देश के पास मौद्रिक साधनों की उपलब्धता पर निर्भर होती है।

(२) **विनिमय समानीकरण कोष (Exchange Equalisation Fund)**—इन्हें कभी-कभी विनिमय स्थायीकरण कोष (Exchange Stabilisation Fund) भी कहा जाता है। इस प्रकार के कोष की स्थापना सर्वप्रथम इगलैंड में पौंड के मूल्य में स्थिरता लाने के लिए की गई। विनिमय समानीकरण कोष विदेशी विनिमय बाजार में आवश्यकता के अनुसार अपने देश की मुद्रा को निश्चित दरों पर बेच और खरीद कर उसके विदेशी मूल्य में स्थिरता स्थापित करता है। मध्य यूरोप में आर्थिक संकट के कारण १९३१ में इगलैंड से विदेशी पूँजी भागने लगी और सभी देशों ने अपने कोषों को लन्दन से हटाने का प्रयत्न किया। विदेशी पूँजी के भागने के कारण पौंड की परिवर्तनशीलता को स्थगित करना पड़ा और इगलैंड में स्वर्णमान टूट गया। विदेशी मुद्रा की माग अधिक होने से पौंड के मूल्य में बहुत अधिक गिरावट आ गई। कुछ समय पश्चात् विश्वास पुनः स्थापित हो गया और भागी हुई पूँजी फिर इगलैंड वापस लौटने लगी। विदेशी पूँजी के भारी मात्रा में आने के कारण पौंड का मूल्य बढ गया। इस प्रकार स्वर्णमान के पतन के पश्चात् इंगलैंड के पौंड के

मूल्य मे भारी परिवर्तन हो रहे थे और वहाँ की सरकार ने अप्रैल सन् १६३२ मे पौंड के मूल्य मे स्थिरता लाने के लिए एक विनिमय समानीकरण कोष स्थापित किया। इसके पश्चात् जनवरी सन् १६३४ मे अमरीका में भी इसी प्रकार का एक कोष स्थापित किया गया। तत्पश्चात् सन् १६३५ मे कनाडा तथा उसी वर्ष मे अर्जेन्टाइना और बेल्जियम ने भी समानीकरण कोष स्थापित किये। सन् १६३६ मे फ्रास तथा स्विटजरलैंड ने भी अपनी मुद्राओ के मूल्य को स्थिर रखने के लिए इस प्रकार के कोष स्थापित किये। इन कोषो की कार्यविधि का ज्ञान इंगलैंड के विनिमय समानीकरण कोष की कार्य प्रणाली का विश्लेषण करके प्राप्त किया जा सकता है।

इंगलैंड के विनिमय समानीकरण कोष का मुख्य उद्देश्य पौंड के क्रय-विक्रय के द्वारा विनिमय दर मे स्थिरता स्थापित करना था। इस कोष की स्थापना सन् १६३२ मे १७.५ करोड पौंड की पूँजी से की गई जो सन् १६३७ तक बढ कर ५७.५ करोड पौंड हो गई। इस कोष म सोना तथा ब्रिटिश सरकार के कोषागार विपत्र (Treasury bills) रक्खे जाते थे। आरम्भ मे कोष की पूँजी विदेशो मे नही थी किन्तु कुछ समय पश्चात् कोष ने विदेशो मे भी अपनी पूँजी जमा करली थी। कोष का प्रबन्ध ब्रिटिश ट्रेजरी के द्वारा किया जाता था। यह कोष विनिमय के बदले मे स्टर्लिंग का क्रय-विक्रय करता था। जब विनिमय बाजार मे पौंड की पूर्ति अधिक हो जाने के कारण उसका मूल्य गिरने की प्रवृत्ति दिखलाता था तो यह कोष निश्चित दर पर विदेशी विनिमय के बदले मे पौंड की अतिरिक्त पूर्ति को स्वय खरीद लेता था और इस प्रकार पौंड के मूल्य को गिरने से रोका जाता था। इसी प्रकार जब पौंड की माग अधिक होती थी तो यह कोष अपने पास से पौंड को निश्चित दर पर बेचने लगता था और उसके मूल्य मे होने वाली वृद्धि को रोकता था। इस प्रकार विनिमय समानीकरण कोष पौंड की माग तथा पूर्ति मे सन्तुलन स्थापित करके उसके मूल्य को स्थिर रखता था।

आरम्भ मे यह कोष पौंड को केवल डॉलर के बदले मे ही बेचा करता था क्योंकि डॉलर सोने मे परिवर्तनशील था। सन् १६३३ मे अमेरिका के स्वर्णमान त्याग देने के कारण इस कोष ने पौंड के बदले मे फ्रैंक स्वीकार करना आरम्भ कर दिया किन्तु सन् १६३६ मे फ्रास ने भी स्वर्णमान को छोड दिया और कोष के सम्मुख एक कठिन समस्या उत्पन्न हुई कि वह पौंड के बदले मे कौन-सी विदेशी मुद्रा को स्वीकार करे। इस कठिनाई को दूर करने के लिए इगलैंड, अमेरिका तथा फ्रास के बीच एक मौद्रिक समझौता हुआ जिसके अनुसार प्रत्येक देश को यह अधिकार दे दिया गया कि वह दूसरे की प्राप्त मुद्रा को २४ घण्टे के भीतर उस देश के केन्द्रीय बैंक को देकर उसके बदले मे सोना प्राप्त कर सकता है।

इस कोष का मुख्य उद्देश्य विनिमय दर मे होने वाले अल्पकालीन परिवर्तनो को दूर करना था और वह विनिमय दर की दीर्घकालीन प्रवृत्तियो मे किसी प्रकार

की बाधाये उत्पन्न नही करता था। कोष का प्रयोग इस प्रकार किया जाता था कि पूँजी का विनियोग करने वालो की घबराहट तथा सट्टेबाजो की क्रियाओं का विदेशी विनिमय दर पर कोई हानिकारक प्रभाव न पड सके। इस कोष की कार्य-प्रणाली को गुप्त रखा जाता था जिससे कि वह अधिक प्रभावशाली हो सके। इस प्रणाली के द्वारा मुद्राओ के विदेशी मूल्य मे होने वाले परिवर्तनो को काफी सीमा तक दूर किया जा सका। द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ होने तक यह कोष सफलतापूर्वक कार्य करते रहे किन्तु युद्धकालीन स्थिति के कारण विनिमय दरो मे इतने अधिक परिवर्तन होने लगे कि इन कोषो की उपयोगिता समाप्त हो गई।

(३) अवरुद्ध खाता (Blocked Account)—इसके अन्तर्गत विदेशियो की जमा रकम तथा उनको प्राप्त होने वाले भुगतानो को अवरुद्ध खाते मे जमा कर दिया जाता है और एक निश्चित काल तक इस रकम को विदेशो मे नही ले जाया जा सकता है किन्तु इस रकम को देश के भीतर खर्च करने पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही रखा जाता है। विदेशी विनिमय सम्बन्धी स्थिति के सुधर जाने पर इस राशि को मुक्त कर दिया जाता है और इसके हस्तातरण की सुविधायें दी जाती हैं। इस प्रणाली का प्रयोग सर्वप्रथम जर्मनी मे किया गया। सन् १९३१ मे जब जर्मन मार्क के मूल्य मे स्थिरता लाने के लिए वहाँ की सरकार ने विनिमय नियन्त्रण की नीति को अपनाया तो विदेशियो की सम्पत्ति, प्रतिभूतियाँ तथा मुद्राये सरकार के अवरुद्ध खाते नामक एक अलग कोष मे जमा कर दी गई और उन्हे जर्मनी से बाहर ले जाने की आज्ञा नही दी जाती थी। जर्मन नागरिक अपने विदेशी ऋण सरकार को चुका देते थे और सरकार उस राशि को विदेशियो के नाम से अवरुद्ध खाते मे जमा करती जाती थी। इस प्रकार विदेशियो को तुरन्त भुगतान नही मिल सकते थे और वे या तो उस राशि को जर्मनी मे ही खर्च कर लेते थे अथवा उसे कम मूल्य पर बेच देते थे। इस नीति का विकास जर्मनी मे डा० शाट (Schacht) के द्वारा किया गया।

(४) आयात नियन्त्रण (Import Control)—विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत विदेशी व्यापार पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं। सरकार विदेशी व्यापार का नियमन करके विनिमय दर के परिवर्तनो को कम करने का प्रयत्न करती है। आयात करो मे वृद्धि करके अथवा आयात सम्बन्धी अभ्यश निश्चित करके सरकार आयात की मात्रा को कम करती है। निर्यातो को प्रोत्साहन देने के लिए निर्यात-करो को कम किया जाता है तथा निर्यातो को आर्थिक सहायता (Export Bounties) भी दी जाती है। इस प्रकार के प्रतिबन्धो से व्यापार सतुलन को प्रतिकूल होने से रोका जाता है और विनिमय दर को स्थिर रखा जाता है।

उपर्युक्त सभी उपायो को विनिमय नियन्त्रण के एकपक्षीय उपाय (Unilateral Methods) कहा जाता है क्योंकि इनका प्रयोग कोई भी देश अकेला ही कर सकता

है और इनके प्रभाव भी मुख्यतया उसी देश के ऊपर पड़ते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ द्विपक्षीय (Bilateral) तथा बहुपक्षीय (Multilateral) उपाय भी होते हैं जो दो अथवा दो से अधिक देश मिलकर प्रयोग करते है। यह प्रयोग केवल आपसी समझौते अथवा सहयोग के द्वारा ही सम्भव होता है। द्वि-पक्षीय अथवा बहु पक्षीय उपाय इस प्रकार हैं—

(१) निकासी समझौते (Clearing Agreements)—निकासी समझौते की व्यवस्था के अन्तर्गत दोनो देशो के आयातकर्त्ता अपनी आयातो के मूल्यों को अपने देश के केन्द्रीय बैंक मे जमा कर देते हैं। केन्द्रीय बैंक इस रकम से निर्यात-कर्त्ताओ के भुगतानो को निबटा देता है। इस प्रकार एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा मे बदलने की आवश्यकता को समाप्त कर दिया जाता है और विदेशी भुगतानो को निबटाने के लिए विनिमय बाजार का प्रयोग नहीं किया जाता है। निकासी समझौतों के द्वारा व्यापारिक असन्तुलन को दूर किया जा सकता है और विदेशी विनिमय को स्थिर रखने मे सहायता मिलती है किन्तु वे विदेशी व्यापार को वस्तु विनिमय मे बदलने की प्रवृत्ति रखते हैं। इसलिए उनका प्रयोग विशेष परिस्थितियो मे ही किया जाना चाहिए।

(२) यथास्थित समझौते (Standstill Agreements)—सर्वप्रथम सन् १९३१ के आर्थिक सकट मे जर्मनी के द्वारा इस प्रकार के समझौतो का प्रयोग किया गया। यथास्थित समझौतो का उद्देश्य दो देशो के बीच पूंजी के हस्तान्तरण को रोकना अथवा उसे कुछ समय के लिए स्थगित करना होता है। इस प्रकार का समझौता करने वाले देशो के बीच पूंजी के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाते है *और अल्पकालीन ऋणों को या तो दीर्घकालीन ऋणों मे परिवर्तित कर* दिया जाता है अथवा उसको धीरे-धीरे भुगतान की सुविधा दी जाती है। उपर्युक्त व्यवस्था से ऋणी देश को अपनी स्थिति सुधारने के लिए कुछ समय मिल जाता है जिसमे वह अन्य प्रकार के नियन्त्रणो के द्वारा अपने भुगतान सन्तुलन को सन्तुलित करने का प्रयत्न करता है।

(३) विलम्बित भुगतान (Transfer Moratoria)—विनिमय नियन्त्रण की इस पद्धति म विदेशी भुगतानो को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया जाता है। इस व्यवस्था मे आयातकर्ता तथा अन्य व्यक्ति अपने विदेशी ऋणो का भुगतान देश की मुद्रा मे एक निश्चित सस्था को कर देते है और आपत्ति काल समाप्त हो जाने के पश्चात् ऋणी को इस जमा रकम को विदेशो मे भेजने की सुविधायें दी *जाती हैं। विलम्बित भुगतान के काल मे किसी भी प्रकार का मुद्रा हस्तान्तरण* विदेशो को नही किया जा सकता है।

विनिमय नियन्त्रण का मूल्यांकन (Evaluation of Exchange Control)—

यद्यपि हस्तक्षेप (Intervention) को सामान्यतया हानिरहित कहा जा सकता है किन्तु फिर भी उसके द्वारा किसी मुद्रा के मूल्य को बहुत लम्बे समय तक

कृत्रिम स्तर पर बनाये रखना कठिन होता है क्योंकि यदि देश के साधनों पर एक ही दिशा में दबाव रहता है तो वे जल्दी या देर से समाप्त हो जायेंगे। हस्तक्षेप के द्वारा स्थायी रूप से केवल विनिमय बाजार से दैनिक उच्चावचनों को दूर करने के उद्देश्य को ही प्राप्त किया जा सकता है।[6] इस उद्देश्य की प्राप्ति में भी बाधाएं उत्पन्न हो सकती हैं। सर्वप्रथम तो किसी भी मुद्रा की सन्तुलित विनिमय दर (Equilibrium Rate) का पता लगाना कठिन होता है। यदि किसी प्रकार सन्तुलन दर को मालूम भी कर लिया जाय तो एक अन्य कठिनाई राष्ट्रीय तथा विदेशी मुद्रा के साधनों की उस मात्रा का अनुमान लगाने में होती है जो विनिमय दर को सन्तुलन दर के समीप रखने के लिए आवश्यक होगी। सरकार के द्वारा इन साधनों का अनुमान प्रायः आवश्यकता से कम लगाया जाता है जिसके कारण हस्तक्षेप की नीति की असफलता की सम्भावना बढ जाती है।

जहाँ तक विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange Restriction) का सम्बन्ध है, उसके बारे में यह कहा जा सकता है कि वह अन्य प्रकार के आर्थिक नियन्त्रणों की भाँति ही अप्रिय है क्योंकि वह नागरिकों को वह सब कुछ नहीं करने देता है जिसे वे करना चाहते हैं।[7] किन्तु अप्रिय होते हुए भी कुछ विशेष परिस्थितियों में उसका प्रयोग अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। सकटकालीन स्थिति में विनिमय नियन्त्रण किसी देश की कठिनाइयों को दूर करने की अस्थाई विधि के रूप में अनिवार्य होता है। जब किसी देश पर विदेशी ऋणों का भार अधिक होता है तो वह देश अपनी मुद्रा के विदेशी मूल्य को ऊँचे टाँग कर (Pegging up) के द्वारा इस प्रकार के ऋणों के भार को कम कर सकता है। इसी प्रकार जब किसी देश के भुगतान सन्तुलन में बहुत बडा घाटा हो जाता है तो उसके लिए विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। जब कोई देश युद्धकालीन स्थिति के कारण अथवा आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए यह अनुभव करता है कि उसके लिए आयातों को कम करना सम्भव नहीं और निर्यातों में भी कोई विशेष वृद्धि नहीं की जा सकती है तो उसे इस कठिनाई से बाहर निकलने के लिए विनिमय नियन्त्रण का सहारा लेना पडता है। इस प्रकार जब किसी देश से पूँजी का निर्यात इतनी बडी मात्रा में किया जाने लगता है कि वह उसके लिए एक समस्या बन जाता है तो ऐसी स्थिति में भी उसे विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग करना पड़ता है।

---

6 "The one object that can be permanently persued by means of Intervention is that of removing day-to-day fluctuations from the exchange market." —*Crowther* : An Outline of Money, P. 271.

7 "It will be generally agreed that Restriction is an unpleasant thing, like any other form of economic regulation that forbids the citizenry to do what they want to do and creates a new categories of criminal offence" —*Crowther* : An Outline of Money, P 271.

विनिमय नियन्त्रण केवल एक अस्थायी विधि के रूप मे ही स्वीकार किया जा सकता है और उसका प्रयोग सकट काल मे अथवा किसी विशेष कठिनाई को दूर करने के लिए ही किया जाना चाहिए। जहां तक सम्भव हो सके उससे बचना चाहिए किन्तु परिस्थितियां उसे आवश्यक बना देती है।[८] अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा पूंजी के आयात व निर्यात मे हस्तक्षेप करने से यह क्रियायें सीमित हो जाती है और उनसे मिलने वाले लाभ कम हो जाते है। कभी-कभी विनिमय नियन्त्रण देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर भी बुरा प्रभाव डाल सकता है। इस प्रकार की नीति के परिणामस्वरूप देश मे भयकर मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। विनिमय नियन्त्रण अर्थ-व्यवस्था की सामान्य प्रवृत्तियो मे हस्तक्षेप करता है जिसके कारण साधनो की प्रवृत्ति उन उद्योगो की ओर जाने की हो जाती है जो आर्थिक दृष्टि से लाभपूर्ण नही है। इस प्रकार साधनो का अपव्यय होता है। विनिमय नियन्त्रण द्विपक्षीय व्यापार (Bilateral Trade) को प्रोत्साहित करता है और बहुपक्षीय व्यापार को हतोत्साहित करता है जिसके कारण बहुपक्षीय आधार पर किये जाने वाले व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ समाप्त हो जाते है। इस मूल्याकन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग सीमित रूप से किया जाना चाहिए और एक अस्थाई विधि के रूप मे ही उसका प्रयोग उचित है।

भारत में विनिमय नियन्त्रण
(Exchange Control in India)

भारतवर्ष मे विनिमय नियन्त्रण सर्वप्रथम सितम्बर १९३९ मे अपनाया गया। इसका उद्देश्य डॉलर के दुर्लभ साधनो को अनावश्यक प्रयोग से बचाना था जिससे कि उन्हे आवश्यक युद्ध-सामग्री खरीदने के लिए प्रयोग किया जा सके। इसीलिए आरम्भ मे स्टर्लिङ्ग सौदो पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नही रक्खा गया। विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग मुख्यत डॉलर तथा अन्य बडी मुद्राओ (Hard Currencies) के प्रयोग मे बचत करने के लिए किया गया। युद्ध समाप्त होने पर भारत की विदेशी विनिमय स्थिति मे काफी सुधार हो गया था किन्तु फिर भी विनिमय नियन्त्रण को जारी रक्खा गया। इगलैंड से सामान खरीदने की माग बहुत अधिक बढ गई थी किन्तु इतनी मात्रा मे स्टर्लिग विधि को मुक्त करना सम्भव नही था। इसके साथ भारत का भुगतान सन्तुलन भी विपक्ष मे हो गया था। ऐसी स्थिति मे स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के साथ होने वाले सौदो को नियन्त्रित करना भी आवश्यक हो गया और सन् १९४७ मे विनिमय नियन्त्रण को स्टर्लिग देशो के साथ

8 "There is consequently only one general judgement that can be expressed about exchange control in general, and that is that it should be avoided whenever possible, but that circumstances may often make it necessary"
—*Crowther*. An Outline of Money, P. 275.

होने वाले सौदो पर भी लागू कर दिया गया और १६५१ मे पाकिस्तान तथा अफगानिस्तान के साथ किये जाने वाले सौदे भी विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत ले लिए गये।

आर्थिक नियोजन आरम्भ हो जाने के पश्चात् विनिमय नियन्त्रण का महत्व काफी बढ गया है और वह योजनाओ को कार्य-रूप मे लाने का एक साधन बन गया है। द्वितीय योजना के आरम्भ मे ही हमने आर्थिक विकास के लिए पूंजीगत वस्तुये तथा अन्य प्रकार का आवश्यक सामान मगाने पर अपनी स्टर्लिंग निधि का बहुत बडा भाग व्यय कर दिया था। इस योजना के अन्त तक हमारा स्टर्लिंग कोष इतना कम हो गया था कि अब उसमे से स्टर्लिंग निकाल कर आर्थिक विकास के लिए व्यय करना सम्भव नही था। इसके अतिरिक्त हमने आर्थिक विकास के लिए बहुत बडी मात्रा मे विदेशी ऋण भी लिया हुआ था जिसके भुगतान व सूद इत्यादि के लिए भी काफी बडी मात्रा मे विदेशी विनिमय की आवश्यकता थी। हमे आर्थिक विकास के लिए अधिक मात्रा मे आयातो का प्रबन्ध भी करना था। ऐसी कठिन परिस्थिति मे विनिमय नियन्त्रण ही हमारी सहायता कर सकता था। योजना काल मे विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग आर्थिक विकास की विशेष आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए किया गया। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए विनिमय नियन्त्रण को अधिक कडा एव विस्तृत कर दिया गया जिससे कि विदेशी मुद्रा के दुर्लभ साधनो का प्रयोग आर्थिक विकास की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए ही किया जा सके। सुलभ मुद्रा (Soft Currency) तथा दुर्लभ मुद्रा (Hard Currency) के भेद को समाप्त कर दिया गया और सभी प्रकार की विदेशी मुद्रा के व्यय पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

सन् १६४७ के विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम (Foreign Exchange Regulation Act, 1947) के अन्तर्गत भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक को भारत मे विदेशी विनिमय तथा विदेशी प्रतिभूतियो के सौदो, विदेशियो को किये जाने वाले भुगतानो, करैन्सी नोटो, सोने तथा बहुमूल्य पत्थरो के आयात व निर्यात, विदेशियो को प्रतिभूतियो के हस्तान्तरण आदि को नियन्त्रित करने का अधिकार दे दिया गया। इस प्रकार के सभी सौदे सामान्यता रिजर्व बैंक से लाइसेन्स प्राप्त बैंको के द्वारा ही किये जा सकते हैं। विदेशी मुद्राओ को खरीदने के लिए रिजर्व बैंक से परमिट प्राप्त करना होता है जिसके आधार पर केवल अधिकृत व्यापारियों से ही विदेशी विनिमय खरीदा जा सकता है। स्टर्लिंग क्षेत्र मे रहने वाले लोगो को कुछ छूट दी गई है। उनके लिए आज्ञा पत्र आवश्यक नही है और वे १५० पौंड प्रति मास तक अपने परिवार के व्यय के लिए भेज सकते हैं, इस अधिनियम के अन्तर्गत निम्नलिखित व्यवस्थायें की गई है—

(१) भारत मे रहने वाले विदेशी केवल सीमित मात्रा मे ही मुद्रा अपने देशो को भेज सकते हैं। सामन्यता कुल आय मे से जीवन निर्वाह के उचित व्यय को

घटा कर शेष रकम को भेजने की आज्ञा दी जाती है। इस प्रतिबन्ध के कारण जब कोई फर्म विदेशियो की सेवायें प्राप्त करना चाहती है तो उसे रिजर्व बैंक की पूर्व स्वीकृति लेनी होती है।

(२) अपने देश को लौटने वाले विदेशियो को अपनी बचत, प्राविडेन्ट फण्ड, अपनी सम्पत्ति को बेचकर प्राप्त होने वाली आय आदि को अपने देश की मुद्रा मे ले जाने का अधिकार है किन्तु उसकी अधिकतम सीमा ५००० पौंड निश्चित कर दी गई है।

(३) विदेशी अशधारियो तथा जमा के स्वामियो को लाभांश एव ब्याज की रकम को देश से बाहर भेजने की पूरी स्वतन्त्रता है। विदेशी मुद्राओं मे बीमे की रकम भी बिना किसी प्रतिबन्ध के भेजी जा सकती है।

(४) केवल अनुज्ञापन प्राप्त आयातो के भुगतान के लिए ही विदेशी विनिमय प्राप्त किया जा सकता है। यदि वस्तुए बिना अनुज्ञापन के मगाई जाती हैं और यदि वे खुले सामान्य अनुज्ञापन (Open General Licence) के अन्तर्गत नहीं आती है तो ऐसी आयातो के भुगतान के लिए विदेशी विनिमय नही दिया जाता है।

(५) स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर पूँजी के भेजने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है और केवल विशेष परिस्थिति मे ही ऐसा किया जा सकता है।

(६) विदेशी व्यापारिक सस्थाओ को अपने लाभ को प्रधान कार्यालयो को भेजने की छूट दी गई है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) विदेशी विनिमय दरों के उतार-चढ़ाव के कारणो का सावधानी से विवेचन करिये। (आगरा बी० ए० १९६५)

(२) विनिमय नियन्त्रण क्यों आवश्यक है ? भारत मे इस नियन्त्रण की कार्यवाही पर प्रकाश डालिये। (आगरा बी० ए० १९६०)

(३) विनिमय नियन्त्रण के क्या उद्देश्य हैं ? विनिमय नियन्त्रण के साधनो का वर्णन कीजिये। (आगरा बी० ए० १९५७)

(४) आप विनिमय नियन्त्रण से क्या समझते हैं और यह क्यों आवश्यक हो गया है ? (सागर बी० कॉम० १९५४)

(५) विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य एव विधियाँ बताइये तथा भारतीय उदाहरण देकर अपने उत्तर को स्पष्ट कीजिए। (राजस्थान बी० कॉम० १९५७)

(६) विनिमय नियन्त्रण क्या है ? द्रव्य के विदेशी विनिमय मे स्थिरता लाने मे यह कहाँ तक सहायक होता है ? (आगरा बी० ए० १९५८ स)

(७) विनिमय समानीकरण कोषो के उद्देश्य, स्वभाव एवं सीमायें दीजिए। (आगरा बी० ए० १९५५)

३

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

INTERNATIONAL MONETARY FUND

आर्थिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता प्रथम महायुद्ध के पश्चात् लगभग सभी देशों के द्वारा अनुभव की जाने लगी। इस उद्देश्य प्राप्ति के लिए कई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन भी बुलाये गये किन्तु इस दिशा में कोई ठोस कार्य नहीं किया जा सका। प्रथम महायुद्ध के कारण उत्पन्न मौद्रिक तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी समस्याओं को स्वर्णमान की स्थापना के द्वारा सुलझाने का प्रयत्न किया गया। सन् १९२८ के पश्चात् संसार के अधिकांश देशों में स्वर्णमान स्थापित हो जाने के कारण मौद्रिक स्थिरता की समस्या को काफी सीमा तक सुलझा लिया गया। किन्तु युद्धोत्तरकालीन स्वर्णमान अधिक समय तक न चल सका और सितम्बर सन् १९३१ में इंगलैंड ने स्वर्णमान को छोड़ दिया तथा १९३३ में अमेरिका और १९३६ में फ्रांस के द्वारा भी उसे त्याग दिया गया। स्वर्णमान के पतन के पश्चात् विदेशी विनिमय दरों की व्यवस्था फिर बिगड़ने लगी और उनमें भारी परिवर्तन होने लगे। विनिमय दरों की अत्यधिक अस्थिरता के कारण अधिकांश देशों के द्वारा विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control) की नीति को अपना लिया गया। विनिमय नियन्त्रण के कारण अब विदेशी विनिमय को स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त नहीं किया जा सकता था जिसके कारण विदेशी व्यापार में बाधायें उत्पन्न हो गईं और उसकी मात्रा घटने लगी। कुछ देशों ने विनिमय नियन्त्रण के द्वारा अपनी विनिमय दर को सन्तुलित दर (Equilibrium rate) से ऊपर बनाये रखने का प्रयत्न किया जिसका इन देशों की अर्थ-व्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। कुछ अन्य राष्ट्रों ने विनिमय नियन्त्रण का दुरुपयोग किया और उसके द्वारा अपनी मुद्रा के मूल्य को कम करके निर्यातों को प्रोत्साहन देना चाहा तथा आयातों को कम करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार की नीति के प्रतिक्रियास्वरूप कुछ अन्य देशों ने अपनी मुद्रा का और अधिक अवमूल्यन कर दिया और इस प्रकार विभिन्न देशों में विनिमय अवमूल्यन की एक होड़ लग गई जिसके बहुत घातक परिणाम हुए। कुछ देशों ने भारी आयात कर लगा कर इस स्थिति से अपने उद्योगों की रक्षा की।

स्वर्णमान का पतन हो जाने से संसार की मौद्रिक तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई और विभिन्न देशों के बीच अनुचित प्रतिस्पर्धा होने लगी। प्रत्येक देश अपने हितों की वृद्धि करने में लगा हुआ था और दूसरे देशों के हितों की कोई परवाह नहीं की जाती थी। ऐसी दशा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अनिश्चितता बढ़ जाने के कारण उसकी मात्रा बहुत अधिक कम हो गई और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूँजी का आवागमन भी बहुत कम होने लगा। कुछ बड़े-बड़े देशों ने विदेशी विनिमय की स्थिरता को प्राप्त करने के लिए एकपक्षी (Unilateral) उपाय किये किन्तु उनमें बहुत अधिक सफलता न मिल सकी और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अभाव अनुभव किया जाने लगा। इंगलैंड, अमेरिका तथा फ्रांस ने विदेशी विनिमय की समस्या को सुलझाने के लिए विनिमय समानीकरण कोष (Exchange Equalisation Funds) स्थापित किये किन्तु उनकी सफलता केवल अल्पकालीन थी और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के अभाव के कारण इस समस्या को स्थायी रूप से नहीं सुलझाया जा सका। यह अनुभव किया गया कि इस प्रकार की मौद्रिक अव्यवस्था विभिन्न देशों के बीच आपसी समझौते के द्वारा ही दूर की जा सकती है। यदि प्रत्येक देश अपनी अलग-अलग नीति को अपनाता है और दूसरों के हितों का ध्यान नहीं रखता है तो ऐसी दशा में मौद्रिक व्यवस्था का अस्त-व्यस्त हो जाना स्वाभाविक ही है। इस अनुभव का प्रथम प्रमाण सितम्बर सन् १९३६ का त्रिमुखी (Tripartite) समझौता था जो इंगलैंड, फ्रांस और अमेरिका के बीच किया गया और जिसके अन्तर्गत वे एक दूसरे के परामर्श के बिना अपनी विनिमय दरों को नहीं बदल सकते थे। किन्तु उस समय भी यह अनुभव किया गया कि इस प्रकार के सहयोग का आधार अधिक विस्तृत होना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की आवश्यकता—

द्वितीय विश्व-युद्ध काल में विदेशी विनिमय सम्बन्धी स्थिति बहुत अधिक बिगड़ गई, विदेशी व्यापार की स्वतन्त्रता समाप्त हो गई तथा उसका क्षेत्र सीमित होने लगा। विभिन्न देशों में पत्र-मुद्रा प्रसार होने के कारण मूल्य-स्तरों में बहुत वृद्धि हो गई थी और विनिमय दरों में अत्यधिक परिवर्तन होने लगे थे। विदेशी विनिमय की अस्थिरता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अनिश्चितता बढ़ गई और उसकी मात्रा कम हो गई। इस प्रकार की स्थिति का अधिक समय तक बना रहना संसार के आर्थिक हितों में नहीं था और मौद्रिक तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी स्थिरता को स्थापित करने के उपाय सोचे जाने लगे। इसके अतिरिक्त यह अनुभव किया जाने लगा कि युद्धकालीन विध्वंस के कारण युद्धोत्तर काल में आर्थिक पुनर्वास तथा पुनर्निर्माण की गम्भीर समस्यायें उत्पन्न होंगी जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के द्वारा ही सुलझाया जा सकेगा। यह भी अनुभव किया गया कि वर्तमान युद्ध बहुत कुछ आर्थिक कारणों से पैदा होते हैं और विभिन्न देशों के *आर्थिक विकास की*

असमानताओं को दूर करके युद्ध की सम्भावना को कम किया जा सकेगा। युद्ध के पश्चात् संसार के अल्प विकसित क्षेत्रों में आर्थिक विकास के लिए बहुत बडी मात्रा मे विदेशी पूंजी के विनियोग की आवश्यकता होगी। इन सब समस्याओं को पारस्परिक सहानुभूति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के द्वारा ही सुलझाया जा सकता था। अत कुछ बडे-बड़े देशो मे युद्ध काल मे ही अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की योजनायें बनाई जाने लगी। इस सम्बन्ध में सन् १९४३ मे दो योजनायें प्रकाशित की गई जिनमे से एक ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रस्तुत "केन्ज योजना" (Keynesian Plan) थी तथा दूसरी अमेरिका द्वारा निर्मित "व्हाइट योजना" (White Plan) थी। दोनो ही योजनाओं मे एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा को स्थापित करने का सुझाव दिया गया था। इन दोनो मे से किसी भी योजना को स्वीकार नहीं किया गया क्योंकि उनमे से प्रत्येक योजना मे अपने देश के हितो को प्राथमिकता दी गई थी।

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की विभिन्न योजनाओं पर विचार करने के लिए अमेरिकन सरकार ने जुलाई सन् १९४४ मे ब्रेटन वुडस (Bretton Woods) नामक स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा परिषद् बुलाई। इस परिषद् मे ४४ मित्र-राष्ट्रों ने अपने प्रतिनिधि भेजे। भारत ने भी इस अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे भाग लिया। ब्रेटन वुडस सम्मेलन ने विभिन्न योजनाओं पर विचार करने के पश्चात जिस योजना को स्वीकार किया उसे ब्रेटन वुडस समझौते (Bretton Woods Agreement) के नाम से जाना जाता है। ब्रेटन वुडस योजना के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एव विकास बैंक (International Bank of Reconstruction and Development) की स्थापना का निश्चय किया गया। इन दोनो संस्थाओं की स्थापना का निश्चय सन् १९४२ मे हुआ और इन्होंने सन् १९४७ से अपना कार्य आरम्भ कर दिया।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund)—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना दिसम्बर सन् १९४५ में हुई। आरम्भ मे ब्रेटन वुडस समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले ४४ राष्ट्र इसके सदस्य बन गये किन्तु इसके पश्चात् सदस्यों की सख्या निरन्तर बढती रही है। ३० अप्रैल १९६२ को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्यो की सख्या ७६ थी। इसके पश्चात् कुछ और देश भी कोष के सदस्य बने हैं जिसके कारण उसका कार्य-क्षेत्र बढता जा रहा है। प्रो० हॉम (Halm) के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष केन्द्रीय बैंको का बैंक है तथा ससार की मौद्रिक व्यवस्था की सबसे बडी सस्था है।"[1] जिस प्रकार किसी देश का

1 "The International Monetary Fund will be a bank of central banks, the capstone to the world's monetary system"

—*Halm* : Monetary Theory, P. 264.

केन्द्रीय बैंक सदस्य बैंकों के रक्षित कोषों को एक जगह इकट्ठा (Pool) कर लेता है, उसी प्रकार मुद्रा कोष भी सदस्य देशों के केन्द्रीय बैंकों के विदेशी विनिमय साधनों को एक जगह इकट्ठा करता है जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास विभिन्न देशों की मुद्रायें जमा रहती हैं। आवश्यकता पड़ने पर वह उस मुद्रा को उधार देता है जिसकी किसी विशेष केन्द्रीय बैंक को आवश्यकता होती है। क्राउथर (Crowther) के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का मुख्य उद्देश्य घाटे वाले देशों को उन मुद्राओं को उपलब्ध करना है जिनकी आवश्यकता उन्हें इस घाटे को पूरा करने के लिए होती हैं।"[2] इन समानताओं के होते हुए भी मुद्रा कोष और केन्द्रीय बैंक में कुछ भिन्नतायें पाई जाती हैं। वह केन्द्रीय बैंक की भांति मुद्रा का निर्माण नहीं कर सकता है और सदस्य देशों की आवश्यकताओं को अपने साधनों से ही पूरा कर सकता है। मुद्रा कोष केन्द्रीय बैंक की भांति अपने सदस्य देशों के केन्द्रीय बैंकों को किसी विशेष प्रकार की आर्थिक नीति अपनाने के लिए बाध्य भी नहीं कर सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य
(Purposes of the International Monetary Fund)—

ब्रेटन वुड्स समझौते (Bretton Woods Agreement) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष निम्नलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करेगा—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग स्थापित करना तथा एक ऐसी स्थाई संस्था के रूप में कार्य करना जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं को आपसी सहयोग तथा परामर्श से सुलझाया जा सके।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार तथा सन्तुलित विकास की सुविधायें देना जिससे रोजगार और वास्तविक आय के ऊंचे स्तर को बनाये रक्खा जा सके।

(३) विनिमय स्थिरता को स्थापित करना तथा सदस्य देशों में विनिमय दरों को कम करने की प्रतियोगिता को रोकना।

(४) बहुमुखी भुगतानों (Multilateral Payment) की व्यवस्था को स्थापित करने में सहायता देना।

(५) कोष के साधनों को सदस्य देशों को पर्याप्त सुरक्षा के आधार पर उपलब्ध करना जिससे कि उन्हें हानिकारक उपायों के बिना ही शोधनाशेष (Balance of Payments) को ठीक करने का अवसर दिया जा सके।

(६) सदस्य देशों के अन्तर्राष्ट्रीय शोधनाशेष में असन्तुलन की अवधि तथा अंश को कम करना।

---

2 "The main purpose of the I. M. F....... is to provide countries that have deficits with the foreign currencies they require to cover those deficits." —*Crowther*: An Outline of Money. P. 330.

मुद्रा कोष की पूँजी (Capital of I. M. F)—

स्थापना के समय मुद्रा कोष की कुल पूँजी १०,००० मिलियन डॉलर्स निश्चित की गई थी जिसे सदस्य देशों से चन्दे के रूप में प्राप्त किया जाना था। प्रत्येक देश अपने अभ्यंश के अनुसार अपनी मुद्रा तथा सोना कोष मे जमा रखता है, जिसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास विभिन्न देशों की मुद्रायें तथा सोना जमा रहता है। सबसे अधिक अभ्यंश २७५० मिलियन डॉलर्स अमेरिका का निश्चित किया गया था। ब्रिटेन का अभ्यंश १३५० मिलियन डॉलर्स, रूस का १२०० मिलियन डॉलर्स, फ्रांस का ४५० मिलियन डॉलर्स तथा भारत का अभ्यंश ४०० मिलियन डॉलर्स निश्चित किया गया। इसी प्रकार अन्य सदस्य देशों के अभ्यंश भी निश्चित कर दिये गए। ३० अप्रैल सन् १९६२ को मुद्रा कोष की सदस्य संख्या तथा उनके अभ्यंशो मे वृद्धि हो जाने के कारण, उसकी पूँजी बढ कर १५,०५६·६ मिलियन डॉलर्स हो गई थी। मुद्रा कोष की सदस्य संख्या निरन्तर बढती जा रही है क्योंकि नये देश उसके सदस्य बने रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप कोष के साधन भी बढ रहे हैं।

विभिन्न देशों के अभ्यंश निर्धारित करने का कोई निश्चित सिद्धान्त नही है किन्तु प्रत्येक सदस्य देश का अभ्यंश निश्चित करते समय उस देश की स्वर्ण तथा डॉलर निधि, राष्ट्रीय आय, उसके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आकार तथा उसके आर्थिक महत्व को ध्यान मे रखा जाता है। प्रत्येक ५ वर्ष के पश्चात् किसी भी देश के अभ्यंश को ⅘ बहुमत से बदला जा सकता है। सदस्य देश की प्रार्थना पर भी अभ्यंश मे परिवर्तन किया जा सकता है। देशो के निश्चित अभ्यंश का कुछ भाग सोने मे तथा कुछ सदस्य देशों की मुद्राओं के रूप मे जमा किया जाता है। प्रत्येक देश को अपने अभ्यंश का २५% अथवा अपनी कुल स्वर्ण तथा डॉलर निधि का १०% (दोनों मे जो भी कम हो) सोने मे अथवा अमेरिकन डॉलर मे तथा शेष अपनी मुद्रा मे जमा करना होता है। किसी भी देश का मतदान अधिकार (Voting Right) उसके अभ्यंश की मात्रा के अनुसार निश्चित होता है। भारतवर्ष सन् १९४५ मे इस कोष का सदस्य बन गया और ४०० मिलियन डॉलर के अभ्यंश का १०% सोने मे तथा शेष भारतीय मुद्रा मे जमा कर दिया गया।

सन् १९५९ मे मुद्रा कोष के सब सदस्यो के अभ्यंशों मे ५०% की वृद्धि करने का निश्चय किया गया जिसके परिणामस्वरूप कोष के साधन उसी अनुपात मे बढ गये हैं। अभी हाल मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की एक बैठक मे यह निश्चय किया गया कि सदस्य देशो के अभ्यंशो मे इस प्रकार की वृद्धि की जाये, जिससे कि ऐसे विकासशील देशो को लाभ पहुँच सकें जो शोधनाशेष की कठिनाइयों मे फँसे हुए है। इस निश्चय के परिणामस्वरूप सभी सदस्यो के अभ्यंशो मे २५% की सामान्य वृद्धि की गई है तथा १६ देशो के अभ्यंशो मे विशेष वृद्धि करने की व्यवस्था

की जा रही है। अभ्यशो की यह वृद्धि इसलिए की गई है जिससे कि कोष के साधनों मे पर्याप्त वृद्धि की जा सके। सदस्यो के अभ्यशो के २५% बढ जाने से कोष के साधनो मे १५०० मिलियन डॉलर्स की वृद्धि होने की ग्राशा है।

स्वर्ण समता दरों का निर्धारण (Determination of Par Values)—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष विदेशी विनिमय की स्थिरता स्थापित करने के लिए दो प्रमुख कार्य करता है—(i) विभिन्न देशो की मुद्राग्रो की स्वर्ण समता दरो को निश्चित करता है तथा (ii) उन देशो को विदेशी मुद्रायें उधार देता है जिन्हे उस मुद्रा का घाटा होता है।

मुद्रा कोष के सम्मुख सबसे पहली समस्या सदस्य देशो की मुद्राओं की समता दरो को निश्चित करना था। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सभी सदस्यो को अपनी मुद्राओ के स्वर्ण अथवा डॉलर मूल्य को निश्चित करके मुद्रा कोष को उसकी सूचना देना आवश्यक था। प्रत्येक देश को मुद्रा कोष का सदस्य बनते समय अपनी मुद्रा के स्वर्ण मूल्य (Gold Parity) को निश्चित करना होता है और इसे सामान्यत स्थिर रखना होता है। इस प्रकार सब देशो की मुद्राओ के स्वर्ण मूल्य निश्चित हो जाने से विनिमय दरो के निर्धारण मे कोई कठिनाई नही होती है। मुद्रा कोष की योजना मे भी सोना विभिन्न मुद्राओ के सापेक्षिक मूल्यो को निर्धारित करने का कार्य करता है और स्वर्ण समता दरो के द्वारा ही विनिमय की स्थिरता को प्राप्त किया जाता है।

मुद्राओ का सोने के साथ यह सम्बन्ध हमेशा के लिए निश्चित नही है और उसमे आवश्यकता पडने पर परिवर्तन किया जा सकता है। कोई भी सदस्य देश अपनी मुद्रा की स्वर्ण समता दर को शोधनाशेष मे आधारभूत असतुलन (Fundamental Disequilibrium) को दूर करने के लिए बदल सकता है। जिस समय कोई सदस्य देश यह अनुभव करता है कि उसके शोधनाशेष की स्थिति मे कोई आधारभूत असन्तुलन उत्पन्न हो गया है तो वह अपनी मुद्रा के समता मूल्य मे परिवर्तन करने का प्रस्ताव रख सकता है किन्तु यह प्रस्तावित परिवर्तन केवल शोधनाशेष के आधारभूत असन्तुलन को दूर करने के लिए ही होना चाहिए।[3] कोई भी देश अपनी मुद्रा के समता मूल्य को बदलने के लिए एकपक्षी निर्णय (Unilateral Decision) नही ले सकता है बल्कि ऐसा करने से पूर्व उसे मुद्रा कोष की स्वीकृति लेनी होगी। यदि मुद्रा की स्वर्ण समता दर मे यह परिवर्तन १०% या उससे कम है तो मुद्रा कोष इसका कोई विरोध नही करेगा। किन्तु यदि प्रस्तावित परिवर्तन १०% से अधिक है किन्तु २०% से अधिक नही है तो ऐसी

3 "Changes in par values may be made only on the initiative of the member and in order to correct a fundamental disequilibrium, and, with minor exceptions, only with the approval of the Fund."

—I. M. F Annual Report 1956, P 82.

दशा मे मुद्रा कोष उसे मान भी सकता है और अस्वीकार भी कर सकता है किन्तु प्रत्येक दशा मे उसे अपना निर्णय ७२ घण्टो मे बतला देना चाहिए। यदि यह परिवर्तन २०% से अधिक है तो कोष इस बारे मे निर्णय करने के लिए अधिक समय लगा सकता है।

मुद्रा कोष के साधनो का प्रयोग (Utilisation of Fund's Resources)—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रमुख कार्य सदस्य देशों की मुद्राओ का एक दूसरे के लिए क्रय-विक्रय करना है। कोई भी देश विदेशी विनिमय की अस्थायी कमी को दूर करने के लिए मुद्रा कोष से अपनी मुद्रा अथवा सोन के बदले मे विदेशी विनिमय खरीद सकता है। जब किसी देश को अन्य किसी सदस्य देश की मुद्रा की आवश्यकता होती है तो कोष उस दश की मुद्रा के बदले मे उसे विदेशी विनिमय उपलब्ध करने की व्यवस्था करता है। कोई भी देश अपने अभ्यश (Quota) के २००% से अधिक मूल्य का विदेशी विनिमय मुद्रा कोष से नही खरीद सकता है किन्तु इसमे से एक वर्ष मे केवल २५% का ही प्रयोग किया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे यह प्रतिबन्ध है कि मुद्रा कोष के पास किसी भी सदस्य देश की मुद्रा की कुल मात्रा उसके अभ्यश का २००% से अधिक नही होनी चाहिए।[4] असामान्य परिस्थिति तथा अत्यधिक आवश्यकता के समय ये शर्ते ढीली भी की जा सकती है। ऋण सम्बन्धी यह प्रतिबन्ध इसलिए लगाये गए है कि मुद्रा कोष के पास किसी सदस्य देश की मुद्रा की कमी न होने पाये तथा कोई देश अनावश्यक रूप से मुद्रा कोष के ऋणो के ऊपर निर्भर न हो जाये और देश अपनी स्थिति को स्वय सुधारने का प्रयत्न करे। मुद्रा कोष से मिलने वाली सहायता अस्थायी होती है और दीर्घकालीन तथा बडी मात्रा के ऋणो को हतोत्साहित किया जाता है।

प्रत्येक देश जब मुद्रा कोष से ऋण लेता है तो उसे इन ऋणो पर ¾% का सेवा शुल्क (Service charges) देना होता है। सदस्य देश बिना आवश्यकता के मुद्रा कोष स बार बार विदेशी विनिमय न खरीदे इसके लिए यह व्यवस्था की गई है कि जैसे-जैसे मुद्रा कोष का ऋण बढता जाता है सदस्य देश को बढती हुई दर पर ब्याज देना होता है। ब्याज की यह दर ½% से आरम्भ होकर २½% तक जाती है। इसके अतिरिक्त सदस्य देशो के द्वारा लिए जाने वाले विदेशी विनिमय ऋणो के प्रयोग पर भी नियन्त्रण रक्खा जाता है। कोई भी सदस्य देश मुद्रा कोष से लिए गये ऋणो का प्रयोग मुद्रा कोष के उद्देश्यो के विपरीत नही कर सकता है। यदि

4 "A member country can purchase foreign currencies from the I M F providing the purchases do not swell the I. M. F's holdings of that currency by more than 25% of the country's quota during the twelve month's preceding and so long as the purchases do not cause the I. M. F. to hold that currency to an amount greater than 200% of the country's quota."

—*Coulborn*. A Discussion of Money, P 295.

कोई देश मुद्रा कोष के द्वारा दी गई सुविधाओं का दुरुपयोग करता है तो कोष उसे इस प्रकार की सुविधायें देने से इन्कार कर सकता है।

दुर्लभ मुद्रायें (Scarce Currencies)—

मुद्रा कोष के विधान में दुर्लभ मुद्राओं के सम्बन्ध में भी व्यवस्था की गई है। यदि बहुत-से देश एक ही मुद्रा को बराबर कोष से उधार लेते रहते हैं तो मुद्रा कोष के पास उस मुद्रा की कमी हो जायेगी और वह उसकी माग को पूरा नही कर सकेगा। ऐसी स्थिति मुख्यतया अमेरिकन डॉलर के सम्बन्ध मे उत्पन्न हो सकती है। कोष के पास प्रत्येक देश की मुद्रा एक सीमित मात्रा मे ही होती है। यदि कभी भी किसी देश की मुद्रा की माग उसकी पूर्ति की अपेक्षा इतनी अधिक बढ जाती है कि मुद्रा कोष के लिए अपने साधनो से उसकी माग को पूरा करना सम्भव न हो सके तो ऐसी दशा मे कोष उस मुद्रा वाले देश से ऐसी दुर्लभ मुद्रा को उधार ले सकता है अथवा वह उसे सोने के बदले मे खरीद सकता है। यदि फिर भी उस मुद्रा की माग को पूरा नही किया जा सकता है तो मुद्रा कोष उस मुद्रा-विशेष को दुर्लभ मुद्रा (Scarce Currency) घोषित कर सकता है। किसी भी मुद्रा को दुर्लभ मुद्रा घोषित कर देने से मुद्रा कोष को उस मुद्रा के राशनिंग का अधिकार मिल जाता है। ऐसी दशा मे सदस्य देशो की दुर्लभ मुद्रा की माग की पूर्ण पूर्ति नही की जाती है और उन्हे अल्प-मुद्रा वाले देश से आने वाली आयातो पर प्रतिबन्ध लगाकर अपने शोधना-शेष (Balance of Payment) को सतुलित करने का अधिकार होता है।

इसके विपरीत यह भी सम्भव हो सकता है कि मुद्रा कोष के पास ऐसी मुद्रायें बहुत अधिक मात्रा मे जमा हो जायें जिनकी माग नही है। ऐसी स्थिति मे कोष अपना कार्य सफलतापूर्वक नही कर सकेगा। मुद्रा कोष की तरलता (Liquidity) को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसके पास किसी भी सदस्य देश की मुद्रा बहुत अधिक मात्रा मे जमा न होने पाये। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए कोष के विधान मे मुद्राओं की 'पुन खरीदने' की व्यवस्था (Repurchase Provision) की गई है। यदि कोष के पास किसी देश की मुद्रा उसके अभ्यश (Quota) से अधिक मात्रा मे आ जाती है तो वह देश सोने के बदले अपने अभ्यश मे अधिक मुद्रा को खरीद सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक देश प्रति वर्ष सोने अथवा परिवर्तनीय मुद्रा के बदले कोष के पास से अपनी मुद्रा की कुल मात्रा का एक निश्चित भाग पुन खरीदेगा।

मुद्रा कोष का प्रबन्ध (Management of the Monetary Fund)—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रबंध एक गवर्नर मण्डल (Board of Governors) तथा कार्यकारिणी सचालक समिति (Executive Directors) के द्वारा किया जाता है। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स पर प्रत्येक सदस्य देश के द्वारा एक गवर्नर ५ वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता है। इस बोर्ड की बैठक कम से कम साल भर

मे एक बार होती है। गवर्नर मण्डल मुद्रा कोष के सचालन सम्बन्धी आधारभूत नीति का निर्माण करता है तथा सामान्य देखभाल रखता है। मुद्रा कोष का दैनिक प्रबन्ध एक कार्यकारिणी सचालक समिति के द्वारा किया जाता है। इस समिति मे १२ सदस्य होते है जिनमे ५ स्थायी तथा ७ अस्थायी डाइरेक्टर्स रहते हैं। स्थायी सदस्य उन पाँच बडे-बडे देशो के द्वारा नियुक्त किये जाते हैं जिनके अम्यश (Quotas) सबसे अधिक है—आजकल भारतवर्ष भी उनमे से एक है। इनके अतिरिक्त २ डाइरेक्टस की नियुक्ति लेटिन अमेरिका वाले देशो के द्वारा की जाती है तथा ५ अन्य सदस्य देशो के द्वारा चुने जाते है। इस समय कोष का प्रधान कार्यालय अमेरिका मे है।

मुद्रा कोष की योजना मे सोने का स्थान
(Place of Gold in I. M F. Scheme)—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की योजना मे सोने का महत्वपूर्ण स्थान है। सोना विभिन्न देशो की मुद्राओ के मूल्यो को नापने के आधार का कार्य करता है और सदस्य देशो की विनिमय दरें उनकी मुद्राओ के स्वर्ण मूल्य की सहायता से निश्चित की जाती है। इस योजना मे सोने का महत्व निम्न बातो से स्पष्ट होता है—

(अ) विभिन्न मुद्राओ की समता दरें (Par Values) स्वर्ण के द्वारा निश्चित की जाती हैं। सदस्य देश अपनी मुद्रा के स्वर्ण समता मूल्य (Gold Parity) से बहुत ऊँचे अथवा नीचे मूल्य पर सोने का क्रय-विक्रय नही कर सकते है।

(ब) सोना अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि का कार्य करता है क्योकि मुद्रा कोष के साधनो का एक भाग सोने के रूप मे रहता है। सदस्यो को अपने अम्यश (Quota) का एक चौथाई भाग सोने के रूप मे जमा करना होता है। इसके अतिरिक्त सदस्य देश सोने के बदले मे कोई भी मुद्रा इस कोष से खरीद सकते हैं। मुद्रा कोष भी सोने मे भुगतान करके दुर्लभ मुद्राओं को खरीद सकता है।

(स) मुद्रा कोष से लिए गये ऋणो पर दिये जाने वाले ब्याज का भुगतान भी सोने मे करना होता है। इस सम्बन्ध मे उन सदस्य देशो को कुछ छूट दी जाती है जिनकी स्वर्ण निधि उनके कोटे के आधे से कम होती है।

उपर्युक्त बातो के आधार पर कभी-कभी यह कहा जाता है कि मुद्रा कोष की योजना म भी सोने का उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है जितना कि स्वर्णमान मे था। कुछ लोगो का तो यह विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की योजना स्वर्ण-मान का ही एक विशेष रूप है क्योकि इसमे सोना अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यमान का कार्य करता है तथा उसके द्वारा निश्चित दरो पर विभिन्न मुद्राओ का क्रय-विक्रय किया जा सकता है।

क्या मुद्रा कोष एक स्वर्णमान योजना है ?—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष योजना तथा स्वर्णमान मे इतनी अधिक समानता पाई जाती है कि कुछ एक अर्थशास्त्रियो के अनुसार मुद्रा कोष एक स्वर्णमान योजना

है। जॉन एच० विलयम्स (John H Williams) ने आरम्भ में ही व्हाइट योजना तथा कीन्स योजना को मुख्यता स्वर्णमान योजनायें समझा है।[५] विलयम्स के अनुसार वह देश जो कोष से अन्ततः विदेशी विनिमय को खरीदने वाला (Net Purchaser from the Fund) होता है उसकी स्थिति स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण खोने वाले देश (Gold losing country) की भांति होती है क्योंकि ऐसे देश में साख का सकुचन होना स्वाभाविक है। इसके विपरीत अपनी मुद्रा को अन्ततः बेचने वाले देश (Net Seller to the Fund) की स्थिति एक स्वर्ण प्राप्त करने वाले देश (Gold Receiving Country) की भांति होती है जिसमे साख का विस्तार होता रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कार्य प्रणाली बहुत कुछ स्वर्णमान की भांति ही चलती है। इस योजना मे भी विभिन्न मुद्राओं का विनिमय मूल्य सोने मे निश्चित किया जाता है और स्वर्णमान की भांति अधिक्य वाले देशो (Surplus countries) मे साख का विस्तार होता है तथा घाटे वाले देशो (Deficit countries) मे उसका सकुचन होना है जिनका देश के मूल्य-स्तर तथा अन्य प्रकार के भुगतानो पर प्रभाव पड़ता रहता है। कॉलबोर्न (Coulborn) ने भी मुद्रा कोष योजना को स्वर्णमान का एक रूप माना है। उनके अनुसार 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष स्वर्ण निधिमान के विनिमय समानीकरण कोषो का विलयन करके बनाई हुई एक सस्था है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण मे रख दिया गया है।'[६] उन्होंने मुद्रा कोष योजना को अर्ध-स्वर्णमान का ही खेल बतलाया है जिसे अब पचास देश खेलने का प्रयत्न कर रहे है जबकि पहले केवल छ प्रमुख खिलाडी होते थे।[७]

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष योजना तथा स्वर्णमान मे इन समानताओं के होते हुये भी मुद्रा कोष की योजना को स्वर्णमान नही कहा जा सकता है। स्वर्णमान मे मुद्रा का विदेशी मूल्य सोने के साथ स्थायी रूप से बधा होता था और उसमे किसी भी प्रकार का परिवर्तन करना सम्भव नही था किन्तु मुद्रा कोष की योजना मे विनिमय दरे इतनी दृढ (Rigid) नहीं होती हैं। प्रो० हॉम के अनुसार 'कोष स्वर्णमान की विनिमय की दृढता के स्थान पर सदस्य देशो की विनिमय दरो मे

---

5 'John H. Williams, on the other hand, considered the new currency proposals (White Plan and Keynes Plan) from the very beginning as "essentially gold standard plans"

—Quoted by *Holm* in Economics of Money & Banking on P. 505.

6 "The I. M. F is essentially an amalgamation of the Exchange Equalisation Accounts of gold reserve standard days put under international control." —*Coulborn*. A Discussion of Money, P. 299.

7 "There are now fifty countries trying to play the semi Gold Standard game, whereas there used to be six principal players and a few lesser ones. Yet it is the same game, and chief players are the same, as the voting strength shows." —*Coulborn* A Discussion of Money, P. 299.

प्रबन्धित लोच के सिद्धान्त को स्थापित करता है।'[8] इस योजना मे विभिन्न मुद्राओ की विनिमय दरें निश्चित करने के लिए उनके स्वर्ण मूल्यो का प्रयोग अवश्य किया जाता है किन्तु सोने के साथ मुद्राओ का सम्बन्ध स्थिर नही होता है और आवश्यकता पड़ने पर उसमे परिवर्तन करना सम्भव होता है। मुद्रा कोष की व्यवस्था मे कोई भी सदस्य देश अपने शोधनाशेष (Balance of Payment) के आधारभूत असन्तुलन को ठीक करने के लिए अपनी मुद्रा के स्वर्ण मूल्य को बदल सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष योजना की यह लोच उसे स्वर्णमान से बिलकुल भिन्न कर देती है। इसके अतिरिक्त स्वर्णमान की भाँति मुद्रा कोष की योजना मे विदेशी विनिमय का आधिक्य अथवा घाटा होने पर साख का विस्तार तथा सकुचन स्वय (automatic) नही होता है। मुद्रा कोष के अन्तर्गत प्रत्येक देश स्वतन्त्र आर्थिक नीति का पालन कर सकता है और उसे अन्तर्राष्ट्रीय कारणो से मुद्रा प्रसार अथवा सकुचन करने के लिए बाध्य नही किया जा सकता है। इन सब भिन्नताओ के कारण मुद्रा कोष की योजना और स्वर्णमान मे बहुत अन्तर है। जे० एम० केन्ज (J M Keynes) का यह कहना ठीक है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रस्ताव स्वर्णमान के ठीक विपरीत है।'[9] अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष योजना मे स्वर्णमान न स्थापित होते हुये भी सदस्य देशो को स्वर्णमान के कुछ लाभ अवश्य प्राप्त हो जाते हैं।

मुद्रा कोष की सफलतायें (Achievements of the I. M. F.)—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने महत्वपूर्ण कार्य किया है और वह अपने आधारभूत उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहा है। मुद्रा कोष का एक प्रमुख उद्देश्य सदस्य देशो की विनिमय दरो का इस प्रकार प्रबन्ध करना रहा है कि उनमे स्थिरता तथा लोच के गुणो को उत्पन्न किया जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष विदेशी विनिमय दरो को स्थिर रखने मे काफी सफल रहा है। मुद्रा कोष की स्थापना के पश्चात् विनिमय दरें प्राय. स्थिर रही हैं और उनमे होने वाले परिवर्तन बहुत कम हो गये हैं। विनिमय दरों मे स्थिरता के साथ लोच का गुण भी रहा है और मुद्रा कोष ने सदस्य देशो की विनिमय दरो को आवश्यकता पड़ने पर बदलने की पर्याप्त सुविधायें दी हैं। फ्रास प्रथम देश था जिसने अपनी विनिमय दर मे परिवर्तन किया। सितम्बर सन् १९४९ मे इङ्गलैड तथा कुछ अन्य देशो के द्वारा अपनी मुद्राओ का अवमूल्यन किया गया। इन आवश्यक परिवर्तनो के अतिरिक्त विनिमय दरें प्रायः स्थिर रही हैं। यह मुद्रा कोष की एक महत्वपूर्ण सफलता है।

---

8 "The Fund substitutes for the gold standard's rigidity the principle of managed flexibility in the adjustment of exchange values of the member currencies " —*Halm*: Economics of Money & Banking, P. 504

9 Lord Keynes is basically right when he calls the Fund proposal "the exact opposite of the gold standard."
—*J. M. Keynes*: Speech delivered before the House of Lords, May 23, 1944.

इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का विचार है कि विदेशी विनिमय की स्थिरता पूर्णतया मुद्रा कोष के प्रयत्नों के कारण स्थापित नहीं हुई है बल्कि इस स्थिरता को बहुत कुछ विनिमय नियन्त्रण (Exchange control) के द्वारा बनाये रखा जा सका है और इसमें सन्देह है कि स्वतन्त्र दशाओं में कोष इस स्थिरता को बनाये रख सकेगा अथवा नहीं। विदेशी विनिमय की स्थिरता के अतिरिक्त मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को स्थापित करने में भी सफल रहा है और उसके द्वारा विभिन्न देशों में आपसी सम्पर्क स्थापित किया जा सका है तथा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक मामलों को सदस्य देशों के द्वारा परामर्श एवं सहयोग से सुलझाना सम्भव हो सका है। किन्तु फिर भी मुद्रा कोष की सफलतायें सीमित रही हैं और उसके बहुत से उद्देश्यों को प्राप्त करना सम्भव नहीं हो सका है। कोष विभिन्न मुद्राओं की बहु-मुखी परिवर्तनशीलता (Multilateral convertibility) को स्थापित करने में नितान्त असफल रहा है और अभी भी अधिकांश भुगतानों का आधार द्विमुखी (Bilateral) है। मुद्रा कोष विदेशी व्यापार के स्वतन्त्र प्रवाह को प्रोत्साहित करने में भी सफल नहीं हो सका है। विदेशी विनिमय नियन्त्रण (Exchange control) का प्रयोग कम नहीं किया जा सका है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी विभिन्न प्रकार के नियन्त्रणों का प्रयोग अभी भी किया जाता है। मुद्रा कोष की सफलता के विषय में क्राउथर (Crowther) का विचार है कि 'यह कोष छोटे तथा अल्पकालीन असन्तुलनों को तो ठीक कर सकता है किन्तु किसी बड़े असन्तुलन की अवस्था में या तो उसे निष्क्रिय रहना पड़ेगा अथवा वह स्वयं समाप्त हो जायेगा।'[10]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पक्ष में निम्न-लिखित बातें कही जा सकती हैं—

(१) मुद्रा कोष ने घातक नीतियों को अपनाए बिना अन्तर्राष्ट्रीय सन्तुलन को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया है। विनिमय दरों में प्रतियोगितात्मक कमी करने की नीतियों का प्रयोग मुद्रा कोष की स्थापना के पश्चात् नहीं किया गया है और वह इस प्रकार की नीतियों के बिना ही अन्तर्राष्ट्रीय सन्तुलन स्थापित करने में काफी सीमा तक सफल रहा है।

(२) विनिमय नियन्त्रण यद्यपि अभी पाया जाता है किन्तु उसे कम करने का प्रयत्न मुद्रा कोष के द्वारा अवश्य किया गया है। विनिमय नियन्त्रण को निश्चित रूप से हतोत्साहित किया जाता है और केवल विशेष परिस्थितियों में ही उसका प्रयोग करने दिया जाता है।

---

10 "It is clear that the Fund will be of assistance only in relation to small and short disturbances of equilibrium .... In a major disturbance, the fund will either have to stand aside impotently or it will be swamped." —*Crowther* : An Outline of Money, P. 335.

(३) मुद्रा कोष ने पूर्ण रोजगार तथा विकास को विनिमय स्थिरता की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है। इसीलिए विनिमय दरो को दृढ नही रखा जाता है और उनमे आवश्यक परिवर्तन करने की सुविधायें मुद्रा कोष के द्वारा दी जाती है। विनिमय दरो मे इस प्रकार की लोच उत्पन्न हो जाने से विभिन्न देशो मे पूर्ण रोजगार के स्तर को बनाए रखना तथा आर्थिक प्रगति की दर को तेज करना सम्भव हो सका है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की आलोचनाएँ (Criticism of I. M. F.)—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष वर्तमान मौद्रिक व्यवस्था के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण एव उपयोगी संस्था है किन्तु उसकी कार्य-प्रणाली मे कुछ दोष रहे हैं। मुद्रा कोष की व्यवस्था की आलोचना निम्न आधार पर की गई है—

(१) सदस्य देशों के अभ्यंशों का आधार वैज्ञानिक नहीं है—मुद्रा कोष मे विभिन्न देशो के अभ्यश वैज्ञानिक आधार पर निश्चित नही किये गये है। अभ्यश ठीक प्रकार से निश्चित न होने के कारण मुद्रा कोष का नियन्त्रण केवल कुछ एक प्रभावशाली राष्ट्रो के हाथ मे आ गया है। कुछ बड़े-बडे देशो के अभ्यश बहुत कम निश्चित किये गये है जबकि कुछ छोटे तथा प्रभावशाली देशो के अभ्यंश बहुत अधिक हैं। अभ्यश निश्चित करते समय सदस्य देश की स्वर्ण तथा डॉलर निधि को विशेष महत्व दिया गया है जो उसकी विदेशी विनिमय की आवश्यकता का सही आधार प्रस्तुत नही करता है। वास्तव मे अभ्यश निश्चित करने का आधार या तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा या व्यापाराशेष की स्थिति एव विदेशी विनिमय की आवश्यकता होनी चाहिए किन्तु इनमे से किसी भी आधार को स्वीकार नही किया गया है।

(२) मुद्रा कोष के द्वारा दी जाने वाली सहायता अपर्याप्त रही है—सदस्य देशो की मुद्रा कोष से मिलने वाली सहायता उनके शोधनाशेष (Balance of Payments) के वास्तविक घाटे की तुलना मे बहुत कम रही है। विशेषतया अल्प-विकसित देशो को मुद्रा कोष से पर्याप्त सहायता नही मिल सकी है। इन देशो मे आर्थिक विकास की आवश्यकता को पूरा करने के लिए बहुत बडी मात्रा में आयात की जा रही है जिसके कारण इनके शोधनाशेष मे निरन्तर घाटे की स्थिति बनी रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष इन देशो की सीमित मात्रा मे ही सहायता कर सका है।

(३) कोष डॉलर समस्या को सुलझाने में असमर्थ रहा है—डॉलर की कमी की समस्या वास्तविक तथा महत्वपूर्ण है और कुछ विशेषज्ञो के अनुसार डॉलर सकट अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था के टूट जाने का कारण बन सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की योजना इस समस्या को सुलझाने मे प्रभावशाली नही

हो सकती है। समार मे डॉलर की इतनी अधिक कमी होने पर भी मुद्रा कोष डॉलर को दुर्लभ मुद्रा घोषित नही कर सका है।

(४) कार्यकारिणी की सदस्यता न्यायपूर्ण नहीं है—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कार्यकारिणी (Board of Executive Directors) की सदस्यता इस प्रकार रखी गई है कि उसमे अमेरिकन हितो की रक्षा की जा सके। इसके लिए लैटिन अमेरिका के लिए दो स्थान सुरक्षित रक्खे गये हैं। अभ्यशो का उचित निर्धारण न होने तथा कार्यकारिणी मे अमेरिका के हितो की विशेष सुरक्षा के दो ऐसे कारण है जिनके परिणामस्वरूप रूस ने मुद्रा कोष की सदस्यता को अस्वीकार कर दिया है।

(५) भेदभावपूर्ण नीति—ऋणो को प्रदान करने तथा अन्य प्रकार की सुविधाएँ देने मे मुद्रा कोष ने भेदभावपूर्ण नीति को अपनाया है। इसका स्पष्ट उदाहरण कुछ देशो के साथ किया जाने वाला पक्षपात है। सन् १९४८ मे फ्रास ने कोष की आज्ञा के बिना फ्रैंक का अवमूल्यन किया किन्तु मुद्रा कोष ने उसे किसी प्रकार का दण्ड नही दिया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कोष अमेरिका के पक्ष के देशो के साथ रियायती व्यवहार करता है।

(६) मुद्राकोष अपने उद्देश्यो की प्राप्ति में अधिक सफल नहीं रहा है—जिन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए मुद्रा कोष की स्थापना की गई है उनमे से केवल कुछ उद्देश्यो को ही वह आंशिक रूप स प्राप्त कर सका है। विदेशी विनिमय दरो मे स्थिरता स्थापित करने तथा विनिमय नियन्त्रण के प्रयोग को कम करने में मुद्रा कोष विशेष रूप से असफल रहा है। चैण्डलर (L. V. Chandler) के अनुसार 'कोष सभी सदस्य देशो की मुद्राओ के समता मूल्यों (Per values) को बनाये रखने तथा उनकी वास्तविक विनिमय दर को इन मूल्यों से १% के भीतर रखने मे सफल नहीं हो सका है।'[११] मुद्रा कोष को कार्य करते हुए लगभग २० वर्ष होने को आये हैं किन्तु अभी तक भी विनिमय नियन्त्रण (Exchange control) के प्रयोग मे कोई कमी नहीं हुई है और उसका प्रयोग बढता ही जा रहा है। बहुमुखी भुगतान के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार मे भी मुद्रा कोष को कोई विशेष सफलता नहीं मिली है। इस क्षेत्र मे अपनी असफलता को मुद्रा कोष ने अप्रैल १९५४ मे प्रकाशित अपनी रिपोर्ट मे स्वय स्वीकार किया है—"यह खेदपूर्ण तथ्य है कि युद्ध समाप्ति के सात वर्ष पश्चात् भी बहुपक्षीय व्यापार तथा

11 "The Fund has not succeeded in getting all its members to maintain par values for their currencies and to maintain their actual exchange rates within 1% of those levels. In 1958 a total of 17 members had no par values; these included such important countries as Canada, France and Italy. Moreover several members have altered their exchange rates after only nominal consultation with the Fund"

—*L. V. Chandler*: The Economics of Money and Banking, P. 524.

परिवर्तनशीलता की दिशा में थोड़ी-सी तथा निरन्तर प्रगति हो सकी है।"[12] इस विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुद्रा कोष से जो आशायें लगाई गई थी उन्हें वह अधिक सीमा तक पूरा नही कर सका है।

भारत और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

(India and the International Monetary Fund)

भारतवर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बनना चाहिए अथवा नही, इस सम्बन्ध मे कुछ समय तक वाद-विवाद चलता रहा किन्तु अन्त मे भारत ने मुद्रा कोष का सदस्य होना स्वीकार कर लिया और दिसम्बर सन् १९४५ मे हमारे देश ने मुद्रा कोष मे अपना ४०० मिलियन डॉलर का अभ्यंश (Quota) जमा कर दिया। इस समय भारत कोष का चौथा स्थायी सदस्य है और उसे कोष मे सचालक मण्डल पर एक कार्यकारी सचालक (Executive Director) नियुक्त करने का अधिकार है। कोष का सदस्य होते समय भारत ने अपने रुपये का स्वर्ण समता मूल्य (Gold Parity) ३३०'८५२ रुपये=१०० डॉलर निश्चित कर दिया और उसकी सूचना मुद्रा कोष को दे दी गई। इस समता दर के अनुसार एक भारतीय रुपया ०'२६८६१ ग्राम स्वर्ण अथवा ३१ २५ सेन्ट के बराबर हो गया। रुपये की यह स्वर्ण समता दर १ रुपया=१ शिलिंग ६ पैंस की विनिमय दर पर आधारित थी। अवमूल्यन के पश्चात् रुपये का मूल्य घट कर ०.१८६६२१ ग्राम अथवा २१ सेन्ट के बराबर रह गया। मुद्रा कोष का सदस्य हो जाने पर भारतीय रुपये का स्टलिंग के साथ सम्बन्ध टूट गया और भारतवर्ष मे स्वर्ण समता मान स्थापित कर दिया गया। अब रिजर्व बैंक का भारतीय रुपये के मूल्य को १ शि० ६ पैंस पर बनाये रखने का उत्तरदायित्व समाप्त हो गया और भारतीय रुपया एक स्वतन्त्र मुद्रा हो गई। १९४६ मे जब पौंड का अवमूल्यन किया गया तो भारतवर्ष के लिए अपने रुपये का अवमूल्यन करना अनिवार्य नही था और रुपये का अवमूल्यन इसलिए किया गया था क्योंकि ऐसा करना भारत के आर्थिक हित मे था।

मुद्रा कोष मे प्राप्त सहायता—

प्रारम्भ मे भारतवर्ष का अभ्यंश ४०० मिलियन डॉलर निश्चित किया गया था जिसके आधार पर वह ५०० मिलियन डॉलर का विदेशी विनिमय शोधनाशेष के अस्थायी घाटे को पूरा करने के लिए मुद्रा कोष से उधार ले सकता था। सन् १९५९ मे सदस्य देशो के अभ्यशो मे ५०% की वृद्धि हो जाने के कारण भारतवर्ष का अभ्यंश भी बढकर ६०० मिलियन डॉलर हो गया है। इसमे २५% की वृद्धि और की गई है जिसके परिणामस्वरूप भारत का अभ्यंश ७५० मिलियन डॉलर हो गया

12 "It is melancholy fact that seven years after the end of the war there has been little secure or sustained progress towards multilateral trade and convertibility." —VII Report of I. M. F., April 1954.

है। भारत ने मुद्रा कोष की सदस्यता से पूरा-पूरा लाभ उठाया है और सन् १६४८ में २·८ करोड डॉलर; १६४६ में ७·२ करोड डॉलर; १६५७ में २० करोड डॉलर और १६६२ में २५ करोड डॉलर का ऋण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से लिया। सन् १६६१–६२ के अन्त तक कुल मिलाकर ५५ करोड डॉलर का विदेशी विनिमय भारत ने मुद्रा कोष से लिया। इसमें मुख्यतया डॉलर और स्टर्लिङ्ग लिया गया है। अभी हाल में मुद्रा कोष ने भारत को २० करोड डॉलर का विशेष ऋण दिया है जिसका आधा भाग कनाडा, पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस, इटली, जापान और आस्ट्रेलिया की मुद्राओं में प्राप्त किया जा सकता है। इस ऋण के मिलने से भारत की वर्तमान विदेशी विनिमय की कठिनाई को दूर करने में काफी सहायता मिलेगी। भारतवर्ष अपने ऋणों का भुगतान ठीक समय पर करता रहा है और १६६२ में उसने मुद्रा कोष से १२·७५ करोड रुपये की अपनी मुद्रा को पुनः खरीदा।

मुद्रा कोष की सदस्यता से भारत को लाभ
(Advantages from I. M. F. Membership)—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता से भारतवर्ष को बहुत अधिक लाभ हुआ है। मुद्रा कोष की सदस्यता से प्राप्त होने वाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

(१) रुपये के विदेशी मूल्य में स्थिरता—मुद्रा कोष की सदस्यता के कारण भारतीय रुपये के विदेशी मूल्य को स्थिर रक्खा जा सका है। सन् १६४६ के अवमूल्यन के अतिरिक्त हमारे रुपये का विदेशी मूल्य प्रायः स्थिर रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सहायता के बिना भारतीय रुपये के विदेशी मूल्य में इस प्रकार की स्थिरता को बनाए रखना सम्भव नहीं हो सकता था।

(२) शोधनाशेष (Balance of Payment) के घाटे को पूरा करने में सहायता—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने विदेशी मुद्राओं का ऋण देकर हमारे शोधनाशेष के घाटे को पूरा करने में बडी सहायता दी है। योजना काल में भारत का शोधनाशेष निरन्तर घाटे में रहा है। यह घाटा मुख्यतया अमेरिका के साथ बहुत अधिक रहा है। मुद्रा कोष ने समय-समय पर डॉलर ऋण देकर इस घाटे को पूरा करने में बडी सहायता की है।

(३) आर्थिक विकास की समस्याओं को हल करने में सहायता—मुद्रा कोष की सदस्यता के फलस्वरूप भारत में कई विशेषज्ञ मण्डल आये हैं जिन्होंने देश की आर्थिक दशाओं तथा हमारी विकास योजनाओं की जाँच की है और इस बारे में कुछ महत्वपूर्ण सुझाव भी दिये हैं। विशेषतया मुद्रा कोष ने पचवर्षीय योजनाओं के अर्थ-प्रबन्ध पर भारतीय सरकार को सलाह दी है।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की सदस्यता—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य होने के कारण ही भारतवर्ष विश्व बैंक का सदस्य भी हो सका है। विश्व बैंक ने

हमारी विकास योजनाओं को पूरा करने के लिए भारी मात्रा में वित्तीय सहायता दी है और इस प्रकार मुद्रा कोष की सदस्यता आर्थिक विकास के लिए लाभकारी सिद्ध हुई है।

(५) भारत मे नये मुद्रामान का आरम्भ—मुद्रा कोष की सदस्यता के साथ ही भारतवर्ष में एक नये मुद्रामान का आरम्भ हुआ है। स्टर्लिंग विनिमय मान का स्थान स्वर्ण समता मान ने ले लिया है। भारतीय रुपये का स्टर्लिङ्ग के साथ सम्बन्ध समाप्त हो गया है और वह एक स्वतन्त्र मुद्रा हो गई है।

परीक्षा-प्रश्न

१. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना किन मुख्य उद्देश्यों से की गई थी ? इस कोष से भारत को क्या लाभ हुआ है ? (आगरा बी० ए० १९६४)

२. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष क्या है ? यह किस प्रकार कार्य करता है ? इस कोष से भारत को क्या लाभ हुआ है ? समझाइये। (आगरा बी० ए० १९५९)

३. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कार्य-प्रणाली की विवेचना करिये और यह समझाइये कि वह अपने उद्देश्यों मे कहाँ तक सफल हुआ है ? (राजस्थान बी० ए० १९५८)

४. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष विनिमय दरों को स्थिर रखने में क्या सहायता करता है ? (आगरा बी० ए० १९५६ स)

५. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये और इसकी तुलना अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान से कीजिए। (सागर बी० काम १९५५)

६. उन परिस्थितियों को समझाइये जिनके कारण मुद्रा कोष की स्थापना हुई थी। इस कोष का सदस्य बनने से भारत को हुए लाभ-हानियों का विवेचन करिये। (गोरखपुर बी० काम० १९५९)

७. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के क्या उद्देश्य हैं ? यह अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान से किस प्रकार भिन्न है ? (बिहार बी० ए० १९५८)

८. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्यों एवं कार्यों का विवेचन करिये। वह विदेशी विनिमय दरों में किस प्रकार स्थायित्व रखता है ? (राजस्थान बी० काम० १९५४)

४

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक

(INTERNATIONAL BANK FOR RECONSTRUCTION AND DEVELOPMENT)

ब्रेटन वुड्स समझौते (Bretton Woods Agreement) के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साथ-साथ पुनर्निर्माण एवं विकास के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना करने का निश्चय भी किया गया। इस बैंक की स्थापना युद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग की समस्याओं को सुलझाने के लिए की गई है। जबकि मुद्रा कोष का उद्देश्य सदस्य देशों के शोधनाशेष के असन्तुलन को दूर करने में सहायता करना है, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का उद्देश्य विभिन्न देशों में दीर्घकालीन विनियोगों को प्रोत्साहन देना है जिससे कि युद्ध-ध्वसित देशों का पुनर्निर्माण किया जा सके तथा पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास में सहायता दी जा सके। इस बैंक का मुख्य उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों के पुनर्निर्माण तथा आर्थिक विकास के लिए दीर्घकालीन पूँजी की व्यवस्था करना है। वह दीर्घकालीन विदेशी विनियोगों को प्रोत्साहित एवं विस्तृत करने के लिए कार्य करता है।[1] यह कार्य मुद्रा कोष के द्वारा नहीं किया जा सकता है क्योंकि यदि वह दीर्घकालीन ऋण देना आरम्भ कर देता है तो उसकी तरलता समाप्त हो जायगी। सदस्य देशों को दीर्घकालीन ऋणों की इतनी अधिक आवश्यकता है कि यदि इस प्रकार के ऋण देने के लिए एक पृथक संस्था स्थापित न की जाती तो वे मुद्रा कोष की सुविधाओं का प्रयोग इस उद्देश्य के लिए करने का प्रयत्न करते। इसके अतिरिक्त यह भी सोचा गया कि केवल व्यक्तिगत ऋणों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की आवश्यकताओं को पूरा नहीं किया जा सकता है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की व्यवस्था करने के लिए एक विशेष संस्था के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना की गई। यह बैंक अपने साधनों में से प्रत्यक्ष विनियोग करके अथवा

---

1 'The International Bank for Reconstruction and Development has the purpose of facilitating and promoting long term foreign investment.'

—*Halm* : Monetary Theory, P. 290.

सदस्य देशो के द्वारा लिए जाने वाले ऋणो की गारन्टी देकर इस कार्य को करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के उद्देश्य (Purposes of the Bank)—

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित है—

(१) विश्व बैंक का सर्वप्रथम उद्देश्य युद्ध-ध्वंसित अर्थ-व्यवस्थाओ के पुनर्निर्माण (Reconstruction) मे सहायता करना तथा अल्प-विकसित (Under-developed) देशो की अपने प्राकृतिक साधनो के अधिकतम शोषण और विकास के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करना है।

(२) ससार के विभिन्न देशो मे पूँजी के विनियोग के लिए सुविधायें प्रदान करना, व्यक्तिगत ऋणो की गारन्टी (Guarantee) देकर अथवा उनमे सम्मिलित होकर पिछड़े हुए देशो मे उत्पादक कार्यों के लिए विदेशी पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहन देना और यदि व्यक्तिगत ऋण पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध न हो तो उत्पादन कार्यों के लिए समुचित शर्तों पर अपने पास से ऋण देना।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दीर्घकालीन सन्तुलित विकास की व्यवस्था करना जिससे कि सदस्य देशो मे उत्पत्ति, जीवन-स्तर तथा श्रमिको की कार्य-दशाओ को उन्नत किया जा सकेगा।

(४) सदस्य देशो की युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्थाओ को शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था मे परिवर्तित करने की सुविधाये देना।

उपर्युक्त उद्देश्यो को देखने से पता चलता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के उद्देश्य एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनो का मुख्य उद्देश्य सदस्य देशो की राष्ट्रीय आय तथा वहाँ के निवासियो के जीवन-स्तर को ऊँचा करना है। दोनो ही सस्थाएँ सदस्य देशो को ऋण देती है, मुद्रा-कोष अल्प काल के लिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक दीर्घकाल के लिए। कोष शोधनादोष के घाटे को ठीक करने के लिए ऋण देता है और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक विनियोग के लिए। मुद्रा कोष विभिन्न देशो के बीच व्यापार की बाधाओ को दूर करता है और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक दीर्घकाल मे सन्तुलित विदेशी व्यापार स्थापित करने का प्रयत्न करता है। यद्यपि दोनो सस्थाएँ लगभग एक ही प्रकार के उद्देश्यो के लिए कार्य कर रही है किन्तु दोनो का कार्य क्षेत्र अलग-अलग है।

विश्व बैंक की पूँजी (Capital of World Bank)—

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की अधिकृत पूँजी १०,००० मिलियन डॉलर है जो १ लाख डॉलर वाले एक लाख हिस्सो मे बँटी हुई है। इन एक लाख अशो (Shares) मे से ६१,००० अश मूल सदस्यो द्वारा खरीदे गए और शेष ६००० अन्य सदस्यो के लिए छोड़ दिए गए है। बैंक की पूँजी मे सदस्यो के $\frac{3}{4}$ मताधिक्य (Majority) से

वृद्धि की जा सकती है। सन् १६६४ में इस बैंक के सदस्यों की संख्या १०२ थी। बैंक की पूंजी में सदस्य देशों के अभ्यंश (Quotas) निश्चित किये हैं और इनके अनुसार ही विभिन्न राष्ट्रों ने बैंक के अंश खरीदे हैं। कुछ सदस्य देशों के अभ्यंश मिलियन डॉलर्स में इस प्रकार हैं—अमेरिका ३४३५, इङ्गलैंड १३००, चीन ६००, भारत ४००, फ्रांस ४५० इत्यादि। बैंक की पूंजी का केवल $\frac{1}{5}$ भाग ही एकत्रित किया गया है जिसमें से बैंक सदस्य राष्ट्रों को स्वयं ऋण दे सकता है तथा पूंजी के $\frac{4}{5}$ भाग को, जो अनएकत्रित (Uncalled) है बैंक के द्वारा ऋणों की गारन्टी करने के लिए प्रयोग किया जाता है। सदस्य देशों को अपने अंशों का २०% अदा करना होता है तथा शेष ८०% बैंक के द्वारा माग करने पर देना पड़ेगा। इस २०% भाग में से १८% सदस्य देश की मुद्रा में तथा २% सोने में अथवा अमेरिकन डॉलर में देना होता है। बैंक के सदस्यों का दायित्व सीमित रखा गया है। जिन देशों ने ३१ दिसम्बर सन् १६४५ तक बैंक की सदस्यता स्वीकार कर ली थी वे बैंक के मूल सदस्य (Original Members) हैं। केवल वे ही राष्ट्र बैंक के सदस्य बन सकते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य हों। सन् १६५६-६० में बैंक की अधिकृत पूंजी को बढ़ाकर २१,००० मिलियन डॉलर्स कर दिया है और उसी अनुपात में सदस्य देशों के अभ्यंशों में भी वृद्धि कर दी गई है।।

ऋण देने के लिए बैंक के साधनों के तीन स्रोत हैं—बैंक की चुकता पूंजी (Paid up Capital) जो सदस्य देशों के अभ्यंशों का २०% है, अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी-बाजारों में बैंक के द्वारा लिए जाने वाले ऋण तथा बैंक की अपनी शुद्ध आय। इन तीनों में से बैंक के ऋण उसका सबसे बड़ा साधन है। बैंक अपने ऋण-पत्रों (Bonds) को बेचकर विभिन्न देशों में ऋण प्राप्त करता है। इसके लिए उसे उस सदस्य देश से पूर्व स्वीकृति लेनी होती है जहाँ वह अपने ऋण-पत्र बेचना चाहता है। बैंक ने मुख्यतया संयुक्त राज्य अमेरिका तथा स्वीटजरलैंड में अपने ऋण-पत्र बेचकर साधन प्राप्त किये हैं।

बैंक की कार्य-विधि (Functioning of the Bank)—

विश्व बैंक के द्वारा दी जाने वाली सहायता मुख्यतया तीन प्रकार की होती है—

(अ) व्यक्तिगत ऋणों की गारन्टी करना; (ब) अपनी पूंजी में से प्रत्यक्ष ऋण देना तथा (स) उधार ली गई पूंजी में से ऋण देना।

(अ) गारन्टी करना—विश्व बैंक व्यक्तिगत ऋणों की गारन्टी देकर विदेशी पूंजी के विनियोग को प्रोत्साहित करता है। बैंक किसी भी ऋण की गारन्टी तब ही कर सकता है जबकि उस देश की स्वीकृति प्राप्त कर ली गई हो जिसके मुद्रा बाजार में वह ऋण लिया जाना है अथवा जिस देश की मुद्रा में वह ऋण दिया जा रहा है। ऋणों की गारन्टी करने से पहले बैंक यह देखता है कि ऋण लेने वाले देश की

आवश्यकता कहाँ तक वास्तविक है और ऋण देने वाले की शर्तें कहाँ तक उचित है। बैंक स्वय ऋण देने की अपेक्षा गारन्टी करके व्यक्तिगत ऋणों को प्रोत्साहित करता है। बैंक अपने पास से ऋण तब ही देता है जबकि किसी देश को उचित शर्तों पर व्यक्तिगत ऋण प्राप्त न हो रहे हो। व्यक्तिगत ऋणों की गारन्टी देने के लिए बैंक सदस्य देशो से कमीशन लेता है जिसकी दर पहले १० वर्षों के लिए १% से लेकर १½% तक होती है।

(ब) अपनी पूँजी मे से प्रत्यक्ष ऋण देना— बैंक सदस्य देशो की विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपनी पूँजी मे से भी ऋण दे सकता है। यदि बैंक यह देखता है कि किसी देश को उचित शर्तों पर पर्याप्त मात्रा मे व्यक्तिगत ऋण प्राप्त नही हो रहे है तो बैंक उसे अपने पास से ऋण दे सकता है। इस कार्य के लिए बैंक अपनी बेची हुई पूँजी के २०% भाग का प्रयोग कर सकता है। बैंक के द्वारा अपने पास से दिये गए ऋणों की मात्रा सीमित ही रहती है क्योंकि वह इस प्रकार के ऋणों को प्रोत्साहित नही करता है। बैंक का उद्देश्य स्वय ऋण देना नही है बल्कि सदस्य राष्ट्रो को व्यक्तिगत ऋण दिलाना है।

(स) उधार ली गई पूँजी में से ऋण देना— बैंक सदस्य राष्ट्रो को ऋण देने के लिए अन्य राष्ट्रो मे ऋण भी ले सकता है। इस प्रकार के ऋण देने से पूर्व बैंक को उस देश की स्वीकृति लेनी पडती है जिसके मुद्रा बाजार से वह ऋण लिया जाना है। यदि ऋण देने वाले देश की मुद्रा के अतिरिक्त किसी अन्य देश की मुद्रा मे ऋण लिया जाता है तो उस देश की स्वीकृति भी लेनी होती है जिस देश की मुद्रा मे वह ऋण लिया जा रहा है।

उपर्युक्त तीनो विधियो से बैंक आर्थिक विकास तथा पुनर्निर्माण के लिए विदेशी विनियोगो को प्रोत्साहित करता है। ऋणों को देने मे बैंक सामान्य जोखिम उठाने के लिए तैयार रहता है किन्तु इस बात पर जोर देता है कि उसके द्वारा दिये गए ऋणों का प्रयोग केवल देश की उत्पादन क्षमता को बढाने के लिए ही किया जाय। प्रत्येक ऋण को देने से पूर्व बैंक ऋण लेने वाले देश की आर्थिक स्थिति तथा जिस योजना के लिए ऋण लिया जा रहा है उसकी दृढता के बारे मे जाँच करता है। यह भी जाँच की जाती है कि ऋण लेने वाले देश मे उस ऋण का भुगतान करने की क्षमता है अथवा नही। ऋण सम्बन्धी प्रार्थना-पत्र की जाँच करने के लिए एक ऋण समिति (Loan Committee) नियुक्त की जाती है जिसमे बैंक के विशेषज्ञ होते हैं तथा एक प्रतिनिधि ऋण लेने वाले देश का होता है। यह समिति प्रार्थी देश की सामान्य आर्थिक स्थिति की जाँच करती है और जिस योजना के लिए ऋण लिया जा रहा है उसके उचित अथवा अनुचित होने का अन्तिम निर्णय करती है। इस समिति की सिफारिश पर ही प्रार्थी देश को ऋण दिया जाता है।

ऋण देने की विधि (Method of Granting Loans)—

बैंक के द्वारा किसी सदस्य देश को ऋण देने की विधि को चार अवस्थाओं में बांटा जा सकता है। सर्वप्रथम बैंक प्रार्थी देश की एक प्रारम्भिक जांच करता है तथा उससे ऋण के सम्बन्ध में बातचीत करता है। इस अवस्था में बैंक के अधिकारी ऋण के लिए प्रार्थी देश की भुगतान क्षमता की जांच करते हैं। प्रारम्भिक जांच का उद्देश्य यह जानना होता है कि प्रार्थी देश कहां तक दिये जाने वाले ऋण का उचित प्रयोग करने की क्षमता रखता है तथा वह ऋण की वापसी और उस पर ब्याज का भुगतान उस मुद्रा में कर सकेगा कि नहीं, जिस मुद्रा में ऋण दिया जा रहा है। यदि प्रार्थी देश ने बैंक से पहले ऋण लिया हुआ है और बैंक को उसकी भुगतान क्षमता तथा ऋण के उचित प्रयोग के बारे में पर्याप्त जानकारी है तो ऐसी दशा में प्रारम्भिक जांच देश के वर्तमान आर्थिक विकास तक ही सीमित रहती है। दूसरी अवस्था में बैंक का मिशन उस प्रॉजेक्ट की जांच करता है जिसके लिए ऋण लिया जा रहा है। इस बात की जांच की जाती है कि प्रॉजेक्ट योजना ठीक प्रकार बनी है अथवा नहीं, क्या उसके लिए आवश्यक स्थानीय पूंजी पर्याप्त मात्रा में मिल सकेगी, क्या प्रॉजेक्ट का उचित प्रबन्ध एवं निरीक्षण किया जा सकेगा, इत्यादि। इन सब बातों से सन्तुष्ट होने के पश्चात् तीसरी अवस्था में ऋण सम्बन्धी शर्तों के बारे में बातचीत आरम्भ होती है। इसके अन्तर्गत कुल विनियोग का बैंक के द्वारा दिया जाने वाला भाग, ब्याज की दर, ऋण का समय तथा जमानत आदि के सम्बन्ध में निश्चय किया जाता है। चौथी और अन्तिम अवस्था ऋण के प्रबन्ध की होती है जो बैंक के द्वारा दिये जाने वाले ऋणों की एक विशेषता है। बैंक के प्रतिनिधि ऋणी देश में जाते हैं और इस बात की जांच करते है कि ऋण की रकम का प्रयोग किस उद्देश्य के लिए किया जा रहा है और वह कहां तक ऋण सम्बन्धी समझौते के अनुसार है। इसके अतिरिक्त बैंक उस प्रॉजेक्ट की प्रगति रिपोर्ट नियमित रूप से चाहता है और इस प्रकार प्रॉजेक्ट पूरा होने तक अपने को उससे सम्बन्धित रखता है।

ऋण देने के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय बैंक निम्नलिखित नीतियों का अनुसरण करता है—

(१) बैंक को ऋण के भुगतान की सम्भावनाओं की ठीक प्रकार से जांच करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में बैंक को प्रार्थी देश के प्राकृतिक साधनों, वर्तमान उत्पादन क्षमता, साधनों का प्रयोग करने की क्षमता तथा ऋण सम्बन्धी पिछला विवरण आदि का पता लगाना चाहिए।

(२) बैंक को केवल विशिष्ट योजनाओं के लिए ही ऋण देना चाहिए। यह योजनाएँ आर्थिक तथा तकनीकी दृष्टि से ठीक होनी चाहिएँ और ऊँची प्राथमिकता वाली होनी चाहिएँ। बैंक अपने साधनों को विशेष रूप से ऐसी योजनाओं पर

केन्द्रित करना है जो देश की उत्पादन क्षमता में वृद्धि करने वाली हो और शिक्षा, स्वास्थ्य, गृह-निर्माण आदि सामाजिक योजनाओं के लिए वित्त प्रदान नहीं करता है। बैंक के अधिकांश ऋण शक्ति तथा यातायात के विकास के लिए दिये गए हैं जो आर्थिक विकास का आधार हैं।

(३) बैंक किसी प्रॉजेक्ट की लागत के विदेशी विनिमय भाग को पूरा करने के लिए ही ऋण देता है और वह सामान्यता यह आशा करता है कि ऋणी देश स्थानीय साधनों को स्वयं अर्जित करेगा।

(४) बैंक ऋणी देश से यह आशा नहीं करता है कि वह ऋण की रकम को किसी विशेष देश में ही व्यय करे। वास्तव में वह इस बात को चाहता है कि ऋण की रकम से मशीनें आदि सस्ते से सस्ते बाजार में खरीदी जाएँ किन्तु वे अच्छे प्रकार की होनी चाहिएँ।

(५) बैंक अपने सम्बन्ध को ऋणी देश के साथ बराबर बनाए रखता है जिसमें कि वह प्रॉजेक्ट की प्रगति की जाँच कर सके और देश की वित्तीय स्थिति तथा आर्थिक विकास से सम्बन्धित आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त कर सके।

(६) बैंक परोक्ष रूप से स्थानीय व्यक्तिगत उद्योग को प्रोत्साहित करने को विशेष महत्त्व देता है।

उपर्युक्त ऋण नीतियों का उद्देश्य बैंक के द्वारा ऋण देने में गलतियों की सम्भावना को कम करना है। बैंक ने सर्वप्रथम ऋण योरुप के उन देशों को दिये जिनकी अर्थ-व्यवस्थाएँ द्वितीय युद्ध के कारण बर्बाद हो गई थी। ये ऋण मुख्यता पुनर्निर्माण के आवश्यक सामग्री खरीदने के लिए दिये गए। बैंक ने इस उद्देश्य के लिए कुल मिलाकर ५०० मिलियन डॉलर का ऋण दिया। सन् १९४८ में विश्व बैंक ने विकास के लिए ऋण देने आरम्भ किए और उसके साधनों का अधिकाधिक भाग अल्प-विकसित देशों में लगने लगा। दिसम्बर सन् १९६१ तक बैंक ने ५० से अधिक देशों को ३०० से भी अधिक ऋण दिए जिनकी रकम ६,००० मिलियन डॉलर से अधिक थी। बैंक के द्वारा विकास के लिए दिये जाने वाले ऋणों का लगभग एक तिहाई भाग विद्युत शक्ति के विकास के लिए तथा दूसरा तिहाई भाग यातायात एवं सन्देशवाहन के सुधार के लिए दिया गया। शेष एक तिहाई भाग उद्योग, कृषि तथा सिंचाई आदि के विकास के लिए दिया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के द्वारा दिये गए ऋण—दिसम्बर १९६१ तक

(Loans granted by International Bank—upto Dec 1961)

	मिलियन डॉलर्स
(१) पुनर्निर्माण के लिए ऋण	४९७
(२) आर्थिक विकास के लिए ऋण	५,१७२
(i) यातायात एवं सन्देशवाहन	१,८४७

(ii)	विद्युत शक्ति	१,७४१
(iii)	उद्योग	८८३
(iv)	कृषि एवं जंगल	४६६
(v)	सामान्य विकास	२०५

तकनीकी सहायता (Technical Assistance)—

ऋणों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय बैंक सदस्य देशों को विभिन्न प्रकार की तकनीकी सहायता भी देता है। इसके अन्तर्गत बैंक विकास क्षमताओं के सम्पूर्ण आर्थिक सर्वेक्षण, क्षेत्रीय जांच तथा विशेष प्रॉजेक्ट सम्बन्धी परामर्श आदि की सुविधाएँ देता है। बैंक ने अभी हाल में एक विकास सम्बन्धी परामर्श सेवा स्थापित करने का निश्चय किया है जिसमें अर्थशास्त्री, परामर्शदाता, प्रबन्धक आदि रक्खे जायेंगे जो सदस्य देशों की सरकारों को विभिन्न योजनाओं में उचित चुनाव करने में सहायता देंगे जिससे कि केवल अधिक प्राथमिकता वाली योजनाओं को ही आरम्भ किया जा सके। इसके अतिरिक्त बैंक अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में भी योगदान देता है। भारत और पाकिस्तान के बीच सिन्धु नदी के पानी के बटवारे की समस्या को सुलझाने तथा मिश्र के द्वारा स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के लिए दिये जाने वाले मुआवजे की रकम निश्चित करने में बैंक ने बड़ी सहायता दी है।

बैंक का प्रबन्ध तथा व्यवस्था
(Management of the World Bank)—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की भाँति ही विश्व बैंक के संचालन के लिए भी एक गवर्नर मण्डल (Board of Governors) तथा एक संचालक मण्डल (Board of Executive Directors) होता है। गवर्नर मण्डल बैंक की सामान्य नीति का निर्धारण करता है तथा बैंक का दैनिक संचालन कार्य संचालक मण्डल के द्वारा किया जाता है। गवर्नर मण्डल में प्रत्येक सदस्य देश के द्वारा नियुक्त एक गवर्नर तथा एक यथाक्रम गवर्नर (Alternate Governor) होते हैं जिनकी नियुक्ति ५ वर्ष के लिए की जाती है। इस मण्डल की वर्ष में एक बार बैठक होनी आवश्यक है जिसमें बैंक की प्रगति रिपोर्ट पर विचार किया जाता है तथा उसकी सामान्य नीति सम्बन्धी प्रश्नों को निश्चित किया जाता है। बैंक के संचालक मण्डल (Board of Executive Directors) में १२ सदस्य होते हैं जिनमें से ५ स्थायी डाइरेक्टर्स पांच बड़े-बड़े अभ्यंश वाले देशों के द्वारा नियुक्त किये जाते हैं तथा शेष ७ डाइरेक्टर्स अन्य सदस्य देशों के द्वारा चुने जाते हैं। इनके अतिरिक्त बैंक की एक सलाहकार समिति (Advisory Council) भी होती है जिसमें कम से कम ७ सदस्य होते हैं। यह समिति संचालक-मण्डल द्वारा निर्वाचित की जाती है और इसके सदस्य, बैंकिंग, वाणिज्य, उद्योग, कृषि तथा श्रम आदि विषयों के विशेषज्ञ होते हैं और

इनका निर्वाचन अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर किया जाता है। यह समिति बैंक को उसकी सामान्य नीति के सम्बन्ध मे सलाह देती है। बैंक की एक ऋण समिति (Loan Committee) भी होती है जो ऋण सम्बन्धी प्रार्थना-पत्रो की जाँच करती है। इस समिति की सिफारिश पर ही बैंक के द्वारा ऋण दिये जाते हैं।

बैंक की सफलताएँ (Achievements of the World Bank)—

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एव विकास बैंक की स्थापना के समय उससे बडी आशाये लगाई थी। उस समय बैंक की उपयोगिता तथा महत्व को बतलाते हुए लॉड केन्ज (Lord Keynes) ने कहा था कि 'इस महान योजना से ससार को मिलने वाले लाभो को मुश्किल से ही बढाकर कहा जा सकता है। स्वतन्त्र किये गए क्षेत्रो मे इसके द्वारा निर्माण के लिए साधन उपलब्ध हो सकेगे। प्रत्येक देश मे उत्पादको के सामान के लिए क्रय-शक्ति उपलब्ध होगी। यह सस्था ऋणी तथा ऋणदाता देशो के बीच भुगतान मे सतुलन बनाये रखने के लिए एक शक्तिशाली ाधन हो सकेगी। वर्तमान काल मे रोजगार की व्यवस्था करने तथा भविष्य मे म्पत्ति बढाने के लिए इतने बडे पैमाने पर इतना महान् प्रस्ताव कभी नही रखा या है।' कुरीहारा (Kurihara) के अनुसार 'विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय रोजगार को स्थर रखने की दिशा मे एक आशावादी पग है।'[2] इन शब्दो स विश्व बैंक योजना ी महानता तथा महत्व का पता चलता है।

बैंक की कार्य-प्रणाली का मूल्याकन करने से पता चलता है कि वह आर्थिक वकास तथा पुनर्निर्माण के लिए काफी उपयोगी सस्था रही है। युद्ध-ध्वसित देशो : पुनर्निर्माण तथा पिछडे हुए देशो के आर्थिक विकास मे वह पर्याप्त सहायता दे का है। आरम्भ मे बैंक ने योरोप के देशो के पुनर्निर्माण की ओर अधिक ध्यान दया और मई से लेकर अगस्त सन् १६४७ तक पुनर्निर्माण के लिए चार बड़े-बडे ऋण फ्रास, डेनमार्क, नीदरलैण्ड तथा लक्जेमबर्ग को दिये गए जिनकी कुल राशि ४६७ मिलियन डॉलर थी। सन् १६४८ से बैंक ने अल्प विकसित देशो के विकास की ओर ध्यान दिया और बहुत से देशो को आर्थिक विकास के लिए पूँजी उपलब्ध करने मे सहायता दी। सन् १६६१ के अन्त तक आर्थिक विकास के लिए दिये जाने वाले ऋणो की मात्रा ५१७२ मिलियन डॉलर्स थी जिनमे से अधिकाश ऋण बिजली, यातायात, सदेशवाहन, कृषि तथा वनो के विकास के लिए दिये गए। सन् १६६४ मे विश्व बैंक के द्वारा दिये गए ऋणो का कुल योग ७२८ मिलियन डॉलर्स था।

अब बैंक ने अल्प-विकसित देशो को ऋण देने के लिए एक नया तरीका निकाला है। इन देशो के बैंको तथा अन्य वित्तीय सस्थाओ के द्वारा कुछ ऐसी

2 "The International Bank is a hopeful step in the direction of international employment stabilisation."

—*Kurihara*: Monetary Theory & Public Policy, P. 385

संस्थाएँ स्थापित की गई हैं जिन्हें विश्व बैंक ऋण देता है और वे फिर छोटी-छोटी योजनाओं के लिए ऋण देती हैं। ऐसा करने में बैंक बहुत-सी छोटी-छोटी योजनाओं की छानबीन करने से बच गया है। डेनमार्क, मैक्सिको तथा तुर्की आदि देशों में इस प्रकार की वित्तीय संस्थाएँ स्थापित की गई हैं। भारतवर्ष में भी इसी प्रकार की संस्था औद्योगिक साख तथा वित्त निगम (Industrial Credit & Finance Corporation of India) के नाम से स्थापित की गई है।

बैंक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलित विकास के लिए भी कार्य करता है। इसके लिए बैंक किसी एक देश को अत्यधिक मात्रा में ऋण दिये जाने को रोकता है तथा राजनैतिक उद्देश्यों से किये जाने वाले विदेशी विनियोगों को रोकने का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त बैंक ने बहुमुखी आधार पर (Multilateral Basis) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास करने का प्रयत्न भी किया है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बैंक बंधे हुए ऋणों (Tied Loans) को नहीं देता है। बैंक के द्वारा दिये गए ऋणों को किसी भी देश में प्रयोग किया जा सकता है चाहे वह ऋण किसी भी देश से क्यों न लिया गया हो।

बैंक अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग को ऊँचे स्तर पर बनाए रखने में सहायता देता है। अल्प-विकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए पूँजी की माँग बहुत अधिक है और अमेरिका जैसे देशों के वित्तीय साधन भी बहुत अधिक हैं। अतः अमेरिका से बहुत बड़ी मात्रा में ऋण मिलने की सम्भावना हो सकती है और बैंक इस सम्बन्ध में काफी सहायता कर सकता है। बैंक की गारन्टी पर ऋण देने वाले देश अधिक मात्रा में ऋण दे सकते हैं क्योंकि बैंक के द्वारा दिये गए ऋणों की जोखिम सब सदस्य देशों के द्वारा उठाई जाती है। उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में काफी सफल रहा है। कुछ विशेषज्ञों के मतानुसार ब्रेटन वुड्स की दोनों संस्थाओं में से मुद्रा कोष की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक अधिक सफल रहा है। डी. कॉक (De Kock) के अनुसार "बैंक ने अपने विशिष्ट क्षेत्र में काफी मात्रा में सफलता प्राप्त कर ली है और वह स्पष्टतया अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के यंत्र में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन गया है।"[3]

बैंक की आलोचनाएँ (Criticisms of the World Bank)—

यद्यपि विश्व बैंक आर्थिक विकास के लिए एक अत्यन्त उपयोगी संस्था रही है किन्तु फिर भी उसकी कार्य-विधि में कुछ दोष पाये जाते हैं। बैंक की आलोचना मुख्यतया अग्रलिखित आधार पर की गई है—

---

3 "The bank has achieved a great measure of success in its particular sphere and has demonstrably become an essential cog in the machinery of international payment." —*De Kock* : Central Banking, P. 317

(१) अपर्याप्त पूंजी (Inadequate Capital)—देखने से तो बैंक की पूंजी बहुत मालूम होती है किन्तु वास्तव में विदेशी विनियोग की आवश्यकता की तुलना मे वह बहुत कम है। अल्प-विकसित देशो के विकास के लिए ऋणों की माग इतनी अधिक है कि बैंक उसे अपने सीमित साधनो से पूरा नही कर सकता है। बैंक की यह आलोचना प्रारम्भिक वर्षो मे तो कुछ ठीक थी किन्तु अब इसका कोई महत्व नही है क्योंकि (i) अब बैंक के साधनो मे काफी वृद्धि हो गई है। बैंक की पूंजी को दुगुना कर दिया गया है और सदस्य देशों के अम्यश भी उसी अनुपात मे बढा दिये गए हैं। (ii) बैंक केवल विशिष्ट, अत्यन्त आवश्यक तथा उत्पादक योजनाओ के लिए ही ऋण देता है और वह भी विदेशी विनिमय की आवश्यकता तक ही सीमित होता है। (iii) बैंक का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तिगत विनियोग को प्रोत्साहित करना है।

(२) बैंक ने अल्प विकसित देशों के विकास के लिए महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया है (Bank has not played a significant role in the development of under-developed countries)—आलोचको के अनुसार आर्थिक विकास के क्षेत्र मे विश्व बैंक से जो आशाये लगाई गई थी उन्हे वह अधिकाश रूप से पूरा नही कर सका है। पहले पाँच वर्षो मे बैंक ने केवल ८७६ मिलियन डॉलर्स के ऋण दिये जो आर्थिक विकास के लिए पूंजी की आवश्यकता की तुलना मे बहुत कम थे। इस आलोचना का भी अब कोई महत्व नही है। सन् १९४८ के पश्चात् बैंक के अधिकाधिक साधन अल्प विकसित देशो के विकास के लिए प्रयोग किये जा रहे है और आर्थिक विकास के लिए दिये जाने वाले ऋणो की मात्रा तेजी के साथ बढी है। जून १९६१ के अन्त तक ५६७० मिलियन डॉलर्स के ऋण इस उद्देश्य के लिए दिये जा चुके हैं। इससे स्पष्ट है कि बैंक अब आर्थिक विकास के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। इसके अतिरिक्त अल्प-विकसित देशो के आर्थिक विकास के क्षेत्र मे विश्व बैंक के महत्व को केवल उसके द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता के आधार पर नही आंका जा सकता है। उसके द्वारा दी जाने वाली तकनीकी सहायता भी काफी महत्वपूर्ण है।

(३) भेदभाव पूर्ण नीति (Discriminating Policy)—अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की आलोचना इस आधार पर भी की गई है कि वह ऋण देने मे अमेरिका तथा यूरोपीय देशो के लिए अधिक उदार रहा है। आरम्भ मे बैंक के द्वारा जितने भी ऋण दिये गए वे सब योरोप के देशो के लिए थे। यद्यपि अब बैंक ने एशिया और अफ्रीका के देशों को अधिक मात्रा मे ऋण देने प्रारम्भ कर दिये है किन्तु फिर भी श्वेत राष्ट्रो को दिये जाने वाले ऋणो का अनुपात अधिक है। बैंक की यह आलोचना भी अधिक महत्वपूर्ण नही है क्योंकि वह राजनैतिक दृष्टि से तटस्थ रहा है और ससार के सभी भागो मे ऋण देता रहा है। अग्रलिखित आँकडो से यह बात स्पष्ट होती है—

विश्व बैंक के द्वारा दिये गए ऋण

१९६३ और १९६४

क्षेत्र	१९६४		१९६३	
	ऋणों की संख्या	रकम मिलियन डॉलर्स	ऋणों की संख्या	रकम मिलियन डॉलर्स
अफ्रीका	१०	२०७ ३	२	११·०
एशिया और मध्यपूर्व	११	२ १ २	१०	२ ४ ०
ऑस्ट्रेलिया	१	३२ ५	१	८ ०
योरोप	३	१६३ ५	१०	२०१ ०
पश्चिमि गोलार्ध	६	१०३·३	१५	३०४·०
योग	३१	७२७·८	३८	७८८ ०

उपर्युक्त आँकड़ों को देखने से पता चलता है कि बैंक सभी देशों मे ऋण देता रहा है। विश्व बैंक से ऋण लेने वाले देशों की संख्या ५० से भी अधिक है। इसके अतिरिक्त पिछले १० वर्षों मे संसार के अल्प-विकसित देशों की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है और बैंक के कुल ऋणों का काफी बड़ा भाग एशिया तथा मध्यपूर्व के देशों को मिल रहा है। योरोपीय देशों को दिये जाने वाले ऋणों की मात्रा निरन्तर गिर रही है। अत विश्व बैंक के ऊपर यह आरोप लगाना कि वह श्वेत देशों की ओर अधिक उदार रहा है सर्वथा भ्रमात्मक है।

(४) बैंक की ऋण देने की नीति अत्यन्त जटिल है (Bank's lending Policies are Complicated)—बहुत से आलोचकों का मत है कि विश्व बैंक की ऋण देने की नीति कुछ इस प्रकार की है कि अल्प-विकसित देशों को उसमे वित्तीय सहायता लेने मे काफी कठिनाई होती है। अत्यन्त आवश्यक तथा उत्पादक योजनाओ के लिए ऋण देने की नीति मे इन देशों के लिए अपनी योजनाओं की प्राथमिकता तथा उत्पादकता को प्रमाणित करना कठिन हो जाता है। कभी-कभी सामान्य विकास जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य तथा गृह-निर्माण आदि के लिए भी साधनों की आवश्यकता होती है किन्तु बैंक इस प्रकार के ऋण नहीं दे सकता है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत उद्योगों को ऋण देने के लिए बैंक सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक की गारन्टी चाहता है जो इस प्रकार के ऋणों के रास्ते मे बड़ी बाधा उत्पन्न करती है। बैंक इस बात पर भी जोर देता है कि उसके द्वारा दिये गए ऋणों का भुगतान उसी मुद्रा मे होना चाहिए जिसमे कि ऋण दिया गया है। बहुत से अल्प-विकसित देशों के लिए दुर्लभ मुद्राओं मे भुगतान करना काफी कठिन हो जाता है। यद्यपि बैंक के

ऊपर लगाये गए इन आरोपों में काफी सत्यता है किन्तु फिर भी यह कहना होगा कि बैंक अपने नियमों की सीमाओं में रहते हुए जो कुछ भी अल्प-विकसित देशों के लिए कर सकता है, वह बराबर कर रहा है। बैंक इन देशों की कठिनाइयों के प्रति जागरूक है और इसीलिए उसने अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation) तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद (International Development Association) आदि की स्थापना की है जिनके द्वारा वह अल्प विकसित देशों की आवश्यकताओं को अधिक सीमा तक पूरा कर सकेगा।

(५) बैंक की ब्याज की दर ऊँची है (Rate of Interest charged by the Bank is high)— विश्व बैंक की आलोचना इस आधार पर भी की गई है कि उसके द्वारा ऋणों पर लिए जाने वाले ब्याज की दर ऊँची है। जिस दर पर पूँजी-बाजार से ऋण लिए जा सकते हैं उसकी तुलना में बैंक की ब्याज की दर बहुत कम नहीं है और इसमें बैंक का कमीशन सम्मिलित हो जाने से बैंक से प्राप्त किये जाने वाले ऋण की लागत काफी अधिक हो जाती है। यह भी कहा जाता है कि बैंक ने काफी मात्रा में कोष जमा कर लिया है जिसकी रकम जून १९६१ के अन्त तक ६०० मिलियन डॉलर्स थी, और अब बैंक के लिए हानि की कोई विशेष सम्भावना भी नहीं है। ऐसी स्थिति में बैंक को अपनी ब्याज की दर कम कर देनी चाहिए। यद्यपि बैंक के द्वारा ब्याज की दर कम करने के पक्ष में महत्वपूर्ण तर्क दिये जा सकते हैं किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बैंक की ब्याज की दर उन दर से सम्बन्धित है जिस पर वह स्वयं उधार ले सकता है। इसके अतिरिक्त अल्प-विकसित देशों को इससे कम ब्याज पर ऋण मिलने का कोई अन्य स्रोत भी नहीं है।

बैंक की कार्य-प्रणाली में चाहे कुछ भी दोष रहे हों किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि पिछले १८ वर्षों में बैंक ने अल्प-विकसित देशों के विकास के लिए काफी कुछ किया है। मुद्रा कोष की सीमित सफलता की तुलना में यह कहना होगा कि विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में सबसे अधिक सफल रहा है। इसकी सबसे बड़ी सफलता अल्प-विकसित देशों में व्यक्तिगत विदेशी विनियोग को प्रोत्साहित करने में रही है। वह योरोप और अमेरिका से अल्प-विकसित देशों में विकास के लिए विनियोग कराने का एक महत्वपूर्ण माध्यम रहा है। बैंक की स्थापना के पश्चात् काफी मात्रा में विदेशी पूँजी अल्प-विकसित देशों में लगाई जा चुकी है। इसका श्रेय विश्व बैंक को ही जाता है क्योंकि उसने व्यक्तिगत विनियोग के लिए उचित सुविधायें देकर उसे पिछड़े हुए देशों के विकास के क्षेत्र में आकर्षित किया है। बैंक ने पुनर्निर्माण एवं आर्थिक विकास के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया है और वह बहुत से देशों में उपयोगी एवं उत्पादक योजनाओं के लिए वित्तीय सहायता तथा टैक्निकल परामर्श देने में काफी सफल रहा है।

भारत और विश्व बैंक
(India and the World Bank)

भारत सन् १९४९ मे विश्व बैंक का सदस्य बन गया था। उसे बैंक की मौलिक सदस्यता प्राप्त है। विश्व बैंक मे भारत का ग्रम्यश ८०० मिलियन डॉलर्स है ग्रौर वह बैंक की कार्यकारणी का स्थायी सदस्य है। भारत ने विश्व बैंक की सदस्यता से पूरा-पूरा लाभ उठाया है ग्रौर १९५८ से वह बैंक से सबसे ग्रधिक ऋण लेने वाला देश हो गया है। मार्च सन् १९६४ के अन्त तक भारत को अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से ४०३·५ करोड रुपये के ऋण प्राप्त हो चुके हैं। ग्रारम्भ से ही बैंक ने भारत के ग्राथिक विकास मे विशेष रूप से सहायता की है। विश्व बैंक से भारत को निम्न-लिखित ऋण प्राप्त हो चुके है—

विश्व बैंक के द्वारा भारत को दिये गये ऋण
(३० जून १९६२ तक)

मद	ऋणों की संख्या	ऋणों की रकम (मिलियन डॉलर्स)
यातायात	१३	४४७·४
उद्योग	१०	२७१·२
शक्ति	५	८१·१
कृषि	१	७·२
बहुमुखी योजनाएँ	१	१०·५
योग	३०	८१७·४

प्राप्त हुये ऋणों का विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है—

यातायात के विकास के लिए—

भारत को विश्व बैंक से सर्वप्रथम ऋण रेलो के विकास के लिए प्राप्त हुग्रा। द्वितीय विश्व-युद्ध मे ग्रत्यधिक प्रयोग किये जाने के कारण भारतीय रेलो की दशा काफी खराब हो गई थी। रेलो के पुनर्निर्माण तथा विकास के लिए विश्व बैंक ने ग्रगस्त १९४९ मे ३·४ करोड डॉलर का ऋण भारत को दिया। यह ऋण १५ वर्ष की ग्रवधि के लिए था ग्रौर इस पर भारत को ३% व्याज तथा १% कमीशन देना होता है। इस ऋण की सहायता से भारत ने ग्रमेरिका तथा कनाडा से ४०० इन्जन, बायलर तथा ग्रन्य सामान खरीदा है। ऋण का भुगतान १९५० से ग्रारम्भ हो गया है। द्वितीय योजना काल मे रेलो के विस्तार एवं विकास के लिए विश्व बैंक ने १९५९-६० मे २९५ मिलियन डॉलर का एक ग्रौर ऋण भारत को

दिया। तृतीय योजना काल मे रेलो की माल ढोने की शक्ति मे वृद्धि करने, नई पटरियाँ बिछाने तथा रेल मार्गों का विद्युतिकरण करने के लिए ४०० मिलियन डॉलर की विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होगी। इसके लिए विश्व बैंक ५० मिलियन डॉलर का ऋण दे चुका है और शेष के मिलने की आशा है। रेलो के विकास के लिए विश्व बैंक के द्वारा कुल ३७६ मिलियन डॉलर्स के ऋण स्वीकृत किये जा चुके हैं।

वायु यातायात का विकास करने के लिए मार्च सन् १६५७ मे विश्व बैंक ने ५.६ मिलियन डॉलर का एक ऋण भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय वायु परिवहन निगम (Air India International Corporation) को दिया है जिससे ३ जेट यान, १० अतिरिक्त इन्जन तथा अन्य सामान खरीदा गया है।

कृषि विकास के लिए—

सितम्बर सन् १६४६ मे १ करोड डॉलर का ऋण कृषि विकास तथा सुधार के लिए विश्व बैंक के द्वारा दिया गया। यह ऋण ७ वर्ष की अवधि के लिए था और इस पर ब्याज तथा कमीशन ३½% की दर से देना होता था। इस ऋण से भारत ने काँस वाली भूमि को तोडने के लिए ट्रैक्टर्स तथा अन्य प्रकार की मशीनें अमेरिका से खरीदी हैं। इस ऋण ने भारत को अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन मे बडी सहायता दी है। ऋण का भुगतान जून सन् १६५२ से आरम्भ हो गया था।

बहुमुखी योजनाओं के लिए—

भारत की नदी घाटी योजनाओं को पूरा करने के लिए भी विश्व बैंक से कई ऋण प्राप्त हुये है। सन् १६५० मे १.८५ करोड डॉलर का एक ऋण दामोदर घाटी योजना को पूरा करने के लिए विश्व बैंक से मिला। यह ऋण २० वर्ष की अवधि के लिए है और इस पर ४% के हिसाब से ब्याज देना होता है। इस ऋण का प्रयोग बोकारो बिजली घर के लिए अमेरिका से एक थर्मल प्लांट (Thermal Plant) खरीदने के लिए किया गया। सन् १६५३ मे दामोदर घाटी योजना के लिए ही एक अन्य ऋण १.६५ करोड डॉलर का २५ वर्ष की अवधि के लिए विश्व बैंक से प्राप्त हुआ।

औद्योगिक विकास के लिए—

विश्व बैंक ने भारत मे लोह-इस्पात उद्योग के विकास के लिए ६८.७ मिलियन डॉलर्स के तीन ऋण इन्डियन आयरन एन्ड स्टील वर्क्स को दिये। पहला ऋण जिसकी राशि २६.२ मिलियन डॉलर थी १६५२ मे दिया गया। इस ऋण का प्रयोग बर्नपुर की स्टील मिल का विकास करने के लिए किया गया। २० मिलियन डॉलर्स का दूसरा ऋण १६५६ मे प्राप्त हुआ और २२ दिसम्बर १६६१ को इस कम्पनी को १६.५ मिलियन डॉलर का तीसरा ऋण कोयले की खानो के विकास के लिए दिया गया।

शक्ति के विकास के लिए—

सन् १९५४ मे विश्व बैंक ने १६·२ मिलियन डॉलर का ऋण टाटा कम्पनी को ट्राम्बे बिजलीघर के विकास के लिए दिया। ९·८ मिलियन डॉलर का दूसरा ऋण इसी केन्द्र की उत्पादन शक्ति बढाने के लिए दिया गया। २५ मिलियन डॉलर का एक और ऋण कोयना परियोजना (Koyna Project) के निर्माण के लिए भारत सरकार को दिया गया।

बन्दरगाहो के विकास के लिए—

सन् १९५८ मे भारत को विश्व बैंक से ६४ मिलियन डॉलर के ऋण बन्दरगाहो के विकास के लिए दिये गये। कलकत्ता बन्दरगाह के विकास के लिए २९ मिलियन डॉलर का एक ऋण जून १९५८ मे तथा २१ मिलियन डॉलर का दूसरा ऋण जुलाई १९६१ मे प्राप्त हुआ। मद्रास बन्दरगाह के विकास के लिए १४ मिलियन डॉलर का ऋण विश्व बैंक ने १९५८ मे दिया।

अन्य ऋण—

निजि उद्योगो के लिए वित्त की व्यवस्था करने के लिए ६० मिलियन डॉलर के चार ऋण भारतीय औद्योगिक साख एव विनियोग निगम (Industrial Credit and Investment Corporation) को विश्व बैंक ने दिये हैं जिनका प्रयोग भारतीय उद्योगो को ऋण देने के लिए किया जा रहा है।

भारत सहायता क्लब (Aid India Club)—

विश्व बैंक ने निजि तथा सार्वजनिक क्षेत्र को बहुत-से ऋण देने के अतिरिक्त भारत की पचवर्षीय योजनाओ मे भी काफी दिलचस्पी ली है। अगस्त सन् १९५८ मे उसने अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय वार्ताएँ आरम्भ की जिनका मुख्य उद्देश्य भारत की द्वितीय पचवर्षीय योजना के लिए आवश्यक विदेशी विनिमय की व्यवस्था करना था। इसके लिए कनाडा, जर्मनी, जापान, इङ्गलैंड तथा अमेरिका का एक सम्मेलन वाशिङ्गटन मे बुलाया गया। इस सम्मेलन के परिणामस्वरूप भारत सहायता क्लब (Aid India Club) की स्थापना हुई जिसने द्वितीय व तृतीय पचवर्षीय योजनाओ की विदेशी विनिमय की आवश्यकता को पूरा करने के लिए यथेष्ट रूप से प्रयत्न किया है। भारत सहायता क्लब मे अमेरिका, इङ्गलैंड, पश्चिमी जर्मनी, जापान, फ्रास तथा कनाडा शामिल हैं। कुछ अन्य देश भी इस क्लब मे सम्मिलित हो गये है। अब भारत सहायता क्लब के सदस्यो की सख्या १० है। इस क्लब की मिटिंगें समय-समय पर होती रहती हैं, जिनमे भारत की विदेशी विनिमय की आवश्यकताओ पर विचार किया जाता है और विदेशी विनिमय सम्बन्धी सहायता देने का प्रस्ताव किया जाता है। भारत सहायता क्लब ने अपनी एक बैठक मे तृतीय योजना के पहले तीन वर्षों के लिए २६२७ करोड रुपये की सहायता देने का निश्चय किया। मई सन् १९६४ मे फिर इस सघ की बैठक हुई और तृतीय योजना के चौथे वर्ष

के लिए ४६० करोड़ रुपए की सहायता निश्चित की गई है। सन् १९६३-६४ में ३१६ करोड़ रुपये की विदेशी विनिमय सहायता इस क्लब से मिली है। तीसरी योजना के अन्तिम वर्ष (१९६५-६६) के लिए भारत सहायता क्लब ने १०२७ मिलियन डॉलर की सहायता देने का निश्चय किया है। उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विश्व बैंक ने भारत सहायता क्लब की स्थापना करके भारत के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है।

टैक्निकल सहायता (Technical Assistance)—

आर्थिक विकास के लिए विभिन्न प्रकार के ऋणों के अतिरिक्त हमें विश्व बैंक से टैक्निकल सहायता भी मिली है। विश्व बैंक समय-समय पर विशेषज्ञ मण्डल भारत भेजता रहा है जिन्होंने विभिन्न आर्थिक पहलुओं पर अपने विचार व्यक्त किये हैं तथा भारत सरकार को परामर्श दिया है। इस प्रकार विश्व बैंक ने आर्थिक सहायता के साथ-साथ हमारी पंचवर्षीय योजनाओं के कुशल संचालन के लिए मार्ग दर्शन भी किया है। सन् १९५७-५८ में विश्व बैंक ने अपना एक स्थायी प्रतिनिधि भारत भेजा जो योजनाओं तथा आर्थिक नीतियों के सम्बन्ध में परामर्श देता है। इसके अतिरिक्त विश्व बैंक ने भारतीय अधिकारियों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध अमेरिका में किया है।

आलोचनाएँ (Criticisms)—

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष को अपनी विकास योजनाओं को पूरा करने में विश्व बैंक से बड़ी सहायता मिली है किन्तु फिर भी बैंक की कार्य-प्रणाली की कुछ आलोचनाएँ की गई हैं जो इस प्रकार है—

(१) बैंक निश्चित योजनाओं के लिए ही ऋण देता है—सन् १९५६ से पूर्व विश्व बैंक के द्वारा दिये गये ऋण केवल निश्चित उद्देश्यों के लिए ही होते थे जिससे भारतवर्ष को उनके प्रयोग में बड़ी कठिनाई होती थी। सन् १९५६ में दूसरी पंचवर्षीय योजना के लिए ऋण के प्रार्थना-पत्र में भारत ने बैंक से यह अनुरोध किया कि निश्चित उद्देश्यों वाले ऋणों (Specific Loans) के स्थान पर सामान्य ऋण (Block Loans) दिये जाने चाहिएँ जिससे उनका आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जा सके।

(२) बैंक के द्वारा दिये जाने वाले ऋणों पर ब्याज अधिक है—विश्व बैंक से प्राप्त होने वाले ऋणों पर भारत को प्राय २·५% से लेकर ४·७५% तक ब्याज देना पड़ता है। आलोचकों का मत है कि ब्याज की यह दर अल्प-विकसित देशों के लिए ऊँची है और बैंक को अपनी ब्याज की दर कम करनी चाहिए। किन्तु विश्व बैंक ने इस सम्बन्ध में कोई भी कमी करने से मना कर दिया है।

(३) ऋण देने में पक्षपात—कुछ आलोचकों ने बैंक की ऋण देने की नीति को दोषपूर्ण बतलाया है। बैंक के द्वारा दिये गये ऋणों को देखने से पता

चलता है कि एशियाई देशों को अपेक्षाकृत कम ऋण मिले है। एक अनुमान के अनुसार बैंक ने जितने ऋण दिये है उनका २४% अमरीकी देशों को, १५% यूरोपीय देशो को और केवल ६% एशियाई देशों को प्राप्त हुआ है।

(४) बैंक की ऋण नीति निजि उद्योगों के पक्ष मे है—यह भी कहा गया है कि विश्व बैंक निजि उद्योगो को ऋण देना अधिक पसन्द करता है और इस प्रकार समाजवाद की स्थापना के रास्ते मे बाधाये उत्पन्न करता है। बैंक ने सरकार की औद्योगिक नीति की आलोचना करके भारत के आन्तरिक मामलो मे अनावश्यक हस्तक्षेप किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (Industrial Finance Corporation)—

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना विश्व बैंक से सम्बद्ध संस्था के रूप में जुलाई सन् १९५५ मे की गई। यद्यपि विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी की व्यवस्था सन्तोषजनक रूप से कर रहा है किन्तु फिर भी उसकी कार्य-प्रणाली मे कुछ दोष अनुभव किये गये—(i) विश्व बैंक केवल सदस्य सरकारो को ही ऋण देता है या सदस्य सरकारों की गारन्टी पर ऋण दे सकता है। इस प्रकार की व्यवस्था निजि विनियोगकर्त्ताओ को हतोत्साहित करती है क्योंकि उन्हे यह डर रहता है कि सरकारी गारन्टी लेने से उनके व्यवसाय मे सरकारी हस्तक्षेप हो सकता है। (ii) विश्व बैंक केवल निश्चित ब्याज पर ही ऋण देता है और वह जोखिम वाली पूंजी प्रदान नही कर सकता है। व्यक्तिगत व्यवसायो को स्थापित करने तथा उनका विस्तार करने के लिए स्थिर पूंजी की आवश्यकता होती है जो विश्व बैंक प्रदान नही करता है। इन कठिनाइयो के कारण ही यह आवश्यकता अनुभव हुई कि एक ऐसी विशेष अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्था स्थापित की जाय जो अल्प-विकसित देशों मे निजी उद्योग को बिना सरकारी गारन्टी के पूंजी उधार दे सके।

सदस्यता तथा व्यवस्था (Membership and Organization)—

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम विश्व बैंक की एक सम्बद्ध संस्था के रूप में कार्य करती है। विश्व बैंक का संचालक मण्डल (Board of Governors) ही अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम का संचालक मण्डल है। किन्तु फिर भी यह निगम एक पृथक व स्वतन्त्र संस्था है जिसकी पूंजी विश्व बैंक से बिल्कुल अलग रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम का अपना अलग प्रधान होता है जो निगम के व्यवसाय के लिए उत्तरदायी होता है।

आरम्भ मे अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की अधिकृत पूंजी १०० मिलियन डॉलर्स रखी गई जो सदस्य देशों से चन्दे के रूप मे ली गई। प्रत्येक देश का अभ्यंश उसके विश्व बैंक की पूंजी मे अभ्यंश के अनुपात मे निश्चित किया गया है। सदस्य देश अभ्यंश का भुगतान सोने या डॉलर मे करते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका का अभ्यंश ३५ मिलियन डॉलर्स है जो सबसे अधिक है। इंगलैंड का अभ्यंश १४

मिलियन डॉलर्स है तथा भारत का अभ्यंश ४·४ मिलियन डॉलर्स निश्चित किया गया है अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की सदस्यता विश्व बैंक की सदस्यता से अलग है। विश्व बैंक के सभी सदस्यों को वित्त निगम की सदस्यता प्राप्त करना आवश्यक नहीं है। सन् १९६४ मे अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की सदस्यता बढकर ७८ हो गई है। ३१ दिसम्बर १९६४ को अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की अधिकृत पूंजी ११० मिलियन डॉलर्स थी।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के उद्देश्य (Aims and Objects of I. F. C.)—

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम का मुख्य उद्देश्य सदस्य देशो मे उत्पादक निजि उद्योगो को प्रोत्साहित करके आर्थिक विकास की गति को बढाना है। यह निगम विशेष रूप से अल्प-विकसित देशो के आर्थिक विकास को ओर अधिक ध्यान देती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निगम निम्नलिखित कार्य करती है—

(अ) निगम बिना सरकार की गारन्टी के व्यक्तिगत उत्पादक उपक्रमो मे पूंजी का विनियोग करती है।

(ब) यह निगम मध्यवर्ती संस्था के रूप मे विनियोगो के अवसरों, देशी व अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तिगत पूंजी तथा अनुभवी व्यवस्थापको को परस्पर मिलाने का कार्य करती है।

(स) स्वदेश तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे व्यक्तिगत पूंजी के विनियोग को प्रोत्साहित करती है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम से आर्थिक सहायता प्राप्त करने की शर्तें (Conditions of Eligibility for Financial Assistance from I. F. C.)—

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम ने कुछ ऐसी शर्तें लगाई हैं जो निगम से आर्थिक सहायता चाहने वाले प्रत्येक उपक्रम को पूरी करनी होती है। यह शर्तें उपक्रम के आकार, प्रकृति, उद्देश्य तथा स्थान के सम्बन्ध मे हैं।

(१) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम से सहायता चाहने वाला उपक्रम किसी सदस्य देश मे या उसके अधिकृत क्षेत्र मे स्थित होना चाहिए। यह निगम मुख्यतया अपने विनियोगो को कम विकसित देशो मे केन्द्रित करना चाहती है। वित्तीय सहायता केवल उसी उपक्रम को दी जाती है जो उत्पादक निजी उद्योग की स्थापना, विस्तार अथवा सुधार देश के आर्थिक विकास मे सहायता देने के उद्देश्य से कर रहा हो।

(२) वित्त निगम आर्थिक सहायता के लिए उद्योग, कृषि, वित्तीय, वाणिज्य तथा अन्य प्रकार के निजि उपक्रमो मे से किसी को भी चुन सकती है जो देश के लिए उत्पादक तथा उपयोगी हो किन्तु प्रारम्भ मे वह औद्योगिक उपक्रमो के विकास के लिए सहायता देना चाहती है।

(३) आर्थिक सहायता प्राप्त करने के लिए उपक्रमों का व्यक्तिगत होना आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम केवल निजि उद्योगो के विकास के लिए ही

वित्त व्यवस्था करती है। वह सरकारी अथवा अर्ध सरकारी उद्योगो के लिए कुछ नही करती है।

(४) वित्त निगम से सहायता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उपक्रमो का प्रबन्ध कुशल एव अनुभवी होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उपक्रम का एक कुशल सचालक मण्डल (Board of Directors) भी होना चाहिए जो उस व्यवसाय को ठीक प्रकार चला सके।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के विनियोग के साथ-साथ उसी समय व्यक्तिगत विनियोग भी किया जाना चाहिए। वित्त निगम व्यक्तिगत विनियोग-कर्त्ताओ के साथ मिल कर ही विनियोग करती है और उनसे आधे से अधिक पूंजी लगाने की आशा करती है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम का कार्यवाहन (Working of I.F C) —

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम को कार्य करते हुए लगभग ६ वर्ष हो गये हैं। इस काल मे उसने सदस्य देशो के निजि उद्योगो के विकास के लिए बहुत-सा विनियोग किया है। आरम्भ मे दी जाने वाली आर्थिक सहायता कम थी किन्तु धीरे-धीरे उसमे वृद्धि होती जा रही है। इसके अतिरिक्त पहले तीन वर्षो मे उसकी क्रियाओ का क्षेत्र केवल अमेरिकन देश थे किन्तु अब वह एशिया व अफ्रीका के देशो मे भी विनियोग कर रही है। सन् १९६४ तक अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम ने ३० देशो मे १२७·४ मिलियन डॉलर्स का विनियोग किया है। सन् १९६४ मे वित्त निगम के द्वारा किये गये विनियोग की मात्रा २५·४ मिलियन डॉलर्स थी।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के विनियोग

(सन् १९६४ और १९६३ मे) (मिलियन डॉलर्स मे)

क्षेत्र	१९६४		१९६३	
	विनियोग की सख्या	रकम	विनियोग की संख्या	रकम
अफ्रीका	४	५ ८९	२	२·८८
एशिया और मध्य पूर्व	२	१·८७	५	७ ७९
योरोप		२·०२	३	१·५३
पश्चिमी गोलार्द्ध	१०	१५ ६०	४	२·२६
कुल	१९	२५·३८	१४	१४·४६

आलोचनायें (Criticism)—

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम को अपने उद्देश्यो की पूर्ति करने मे बहुत कम सफलता मिली है। स्थापना के समय निगम से जो आशायें लगाई गई थी उन्हें वह

पूरा नही कर सकी है। निगम के द्वारा किये जाने वाले विनियोगो की मात्रा बहुत कम है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम कोई महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नही कर सकी है, यह इस बात से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सब सदस्य राष्ट्रो ने इस निगम की सदस्यता प्राप्त करना आवश्यक नही समझा है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की आलोचनायें निम्नलिखित आधार पर की गई हैं—

(१) ऋण सम्बन्धी शर्तें बहुत कठोर हैं— अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम जिन शर्तो पर आर्थिक सहायता देता है वे इतनी सख्त हैं कि बहुत से प्रार्थी उद्योग उन्हे पूरा नही कर सकते हैं। उदाहरणार्थ निगम की इस शर्त ने कि मूलधन व ब्याज का भुगतान अमेरिकन डॉलर्स मे ही लिया जायगा, बहुत राष्ट्रों को वित्त निगम के पास सहायता के लिए जाने से रोक दिया है। विशेषतया अर्ध-विकसित देशो के लिए डॉलर का प्रबन्ध करना काफी कठिन होता है इसलिए वे निगम की सुविधाओ से लाभ नही उठा सके हैं।

(२) ब्याज की दर अधिक है—अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम ऋणो पर ६% से ९% तक का ब्याज लेती है जो काफी ऊँची दर है यद्यपि यह ब्याज की दर बाजार मे प्रचलित दर से अधिक ऊँची नही है किन्तु फिर भी यदि निगम का उद्देश्य अल्प-विकसित देशो के आर्थिक विकास मे सहायता करना है तो उसे कम ब्याज पर वित्त की व्यवस्था करनी चाहिए।

(३) भेद-भाव पूर्ण नीति—अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम अमेरिका तथा उसके गुट मे सम्मिलित देशो को ऋण देने मे अधिक उदार रहती है और एशिया तथा अफ्रीका के देशो को इस सम्बन्ध मे काफी निराशा हुई है। इसके द्वारा स्वीकृत ऋणों का ७१% भाग लैटिन अमेरिकन देशो को मिला है। इसके अतिरिक्त अमेरिकन गुट मे सम्मिलित देश जैसे पाकिस्तान, आस्ट्रेलिया आदि को अधिक ऋण दिये गये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ
(International Development Association)

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना विश्व बैंक की एक सम्बद्ध संस्था के रूप मे की गई थी। इसका प्रमुख उद्देश्य कम उन्नत देशों के विकास के लिए ऐसी शर्तों पर वित्त की व्यवस्था करना है जिससे कि इन देशो के शोधनाशेष पर कम बुरा प्रभाव पडे। विश्व बैंक के द्वारा प्रदान किये जाने वाले ऋणो की शर्तें अल्प-विकसित देशो के लिए अधिक अनुकूल नहीं हैं। ऋण लेने वाले देशों के भुगतान सतुलन पर प्रायः इनका बुरा प्रभाव पडता है। बहुत दिनो से एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी जो अल्प-विकसित देशों को विकास के लिए आसान शर्तों पर ऋण दे सके। अल्प-विकसित देशो मे सामाजिक पूंजी का निर्माण करने के लिए ऐसी परियोजनायें हो सकती है जैसे सड़को का निर्माण,

गन्दी बस्तियो की सफाई, शिक्षा व स्वास्थ्य से सम्बन्धित कार्यक्रम इत्यादि जो इन देशो के आर्थिक विकास मे बडी सहायता दे सकते हैं किन्तु जिनके लिए विश्व बैंक ऋण नही दे सकता है। ऐसी योजनाओ के लिए वित्त की व्यवस्था करने के लिए एक पृथक अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सस्था की आवश्यकता थी। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विश्व बैंक से सम्बद्ध एक अन्य सस्था की स्थापना के लिए एक प्रस्ताव १ अक्तूबर १९५९ को विश्व बैंक के सदस्यो के द्वारा सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया जिसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ की स्थापना की गई। इस सस्था ने अपना कार्य नवम्बर १९६० से आरम्भ किया।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ की सदस्यता विश्व बैंक के सभी सदस्यो के लिए खुली है। सदस्यो के अभ्यश विश्व बैंक मे उनके अभ्यशो के अनुपात मे निश्चित किये गये हैं। सन् १९६४ के अन्त तक इस सघ के सदस्यो की सख्या बढकर ९४ हो गई थी। अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ की पूँजी १००० मिलियन डॉलर निश्चित की गई थी जो सदस्यो स अभ्यशो के रूप मे प्राप्त की गई है। अमेरिका का अभ्यश ३२० मिलियन डॉलर तथा इगलैंड का १३१ मिलियन डॉलर निश्चित किया गया है। १९६४ के अन्त तक अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ के साधन बढकर १५९५ ६ मिलियन डॉलर्स हो गये थे जो परिवर्तनशील मुद्राओ म हैं।

उद्देश्य (Aims and Objects)—

अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ की स्थापना कम उन्नत देशो मे विकास को प्रोत्साहित करके तथा उत्पादन को बढाकर इन देशो मे रहने वाले लोगो के जीवन-स्तर मे वृद्धि करने के लिए की गई है। उसका उद्देश्य विकास के लिए आवश्यक परियोजनाओ को पूरा करने के लिए ऐसी शर्तों पर ऋण देना है जिनका इन देशो के भुगतान सतुलन पर कम दबाव पडे। यह शर्तें विश्व बैंक की परम्परागत शर्तों की तुलना मे सरल एव लोचपूर्ण होती है। इस सघ का उद्देश्य केवल अपने सदस्य देशो को विकास सम्बन्धी ऋण देना है।

ऋण-सम्बन्धी नीति (Lending Policy)—

अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ की ऋण देने की शर्तें काफी सरल हैं और उनका ऋणी देश के भुगतान सतुलन पर अधिक बुरा प्रभाव नही पडता है। इस सघ के द्वारा दी जाने वाली वित्तीय सहायता की तीन प्रमुख विशेषतायें हैं जो उसे अन्य प्रकार के विकास सम्बन्धी ऋणो से पृथक करती हैं—प्रथम, अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ के द्वारा दिये जाने वाले समस्त ऋणो पर कोई ब्याज नही लिया जाता है केवल $\frac{3}{4}\%$ वार्षिक सेवा शुल्क उस रकम पर लिया जाता है जो सदस्य देश के ऊपर बाकी होती है। द्वितीय, ऋणो के भुगतान का समय ५० वर्ष है जो काफी लम्बा है। तृतीय, पहले दस वर्षों तक ऋणो की वापसी नहीं होती है। उसके बाद दस वर्ष तक प्रति वर्ष ऋण का १% लौटाना होता है। स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ काफी सरल शर्तो पर सदस्य देशो को ऋण देता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ केवल उन्ही उद्देश्यो के लिए ऋरण दे सकता है जो क्षेत्र की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखते हुए आर्थिक विकास की दृष्टि से ऊँची प्राथमिकता वाले हो। विकास सघ को यह अधिकार है कि वह किसी भी परियोजना के लिए ऋरण दे सकता है यदि वह उस क्षेत्र के विकास मे महत्वपूर्ण योग दे सकती है चाहे वह प्रत्यक्ष रूप से उत्पादक हो अथवा नही। इस प्रकार जल, स्वास्थ्य, गृह-निर्माण, शिक्षा आदि से सम्बन्धित योजनाओ के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ से आर्थिक सहायता मिल सकती है। विकास सघ से आर्थिक सहायता मिलने के लिए केवल एक शर्त है कि वह योजना विकास की दृष्टि से ऊँची प्राथमिकता वाली होनी चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ का कार्यवाहन (Working of I. D A.)—

सन् १९६४ मे अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ को कार्य करते हुए ४ वर्ष हो गये है। इस अवधि मे उसने २७ देशो को १००२ मिलियन डॉलर्स के ७० विकास सम्बन्धी ऋरण दिये है। इसकी बहुत बड़ी मात्रा ७७७ ६ मिलियन डॉलर्स एशियाई देशो को प्राप्त हुए हैं। सबसे अधिक ऋरण ४३५ ९ मिलियन डॉलर्स के यातायात के विकास के लिए दिये गये हैं। उद्देश्यो के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के द्वारा दिये गये ऋरणो का विवरण निम्नलिखित है—

१. यातायात	४३५·९	मिलियन डॉलर्स
२ उद्योग	१११ ५	,,
३. बिजली	९९·७	,,
४. टैलिकम्युनिकेशन	७ / ०	,,
५ जल पूर्ति	६२·९	,,
६ शिक्षा	२९ १	,,

भारत और अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ (India & I. D. A.)—

भारत को अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ की सदस्यता से काफी लाभ हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ के द्वारा दिये जाने वाले ऋरणो का ४८ प्रतिशत भारत को मिला है। सन् १९६४ के अन्त तक भारत को विकास सघ से ४८५ मिलियन डॉलर्स के ऋरण प्राप्त हो चुके है। इसी काल मे सघ के द्वारा दिये जाने वाले कुल ऋरणो की मात्रा १००२ मिलियन डॉलर्स रही है। इससे स्पष्ट है कि भारत अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ से काफी बड़ी मात्रा मे आर्थिक सहायता प्राप्त कर चुका है। भारत को मिलने वाले ऋरणो का उद्देश्य के अनुसार विवरण आगे दी तालिकानुसार है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ ने भारत को बड़ी-बड़ी सड़को, रेलो तथा तार द्वारा सदेशवाहन की सुविधाओ के विकास के लिए ऋरण दिये है। उत्तर प्रदेश मे ट्यूबवैल द्वारा सिंचाई योजना, गुजरात मे शैत्रुजी सिंचाई योजना, उडीसा मे शालाडी (Salandi) सिंचाई योजना, पजाब मे बाढ सुरक्षा योजना, बिहार मे सोन सिंचाई योजना, महाराष्ट्र में पुर्ना प्रॉजेक्ट, दूसरी कोयना योजना, दुर्गापुर पावर एक्सटेन्शन

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ से प्राप्त ऋण
(१९६४ के अन्त तक)

उद्देश्य	ऋणों की संख्या	रकम (मिलियन डॉलर्स मे)
यातायात	४	२०७ ५
शक्ति	३	५६ ०
उद्योग	१	६०·०
कृषि	६	५६ ५
टैलिकम्युनिकेशन	२	७५·०
योग	१६	४८५·०

कोठागुडेम शक्ति योजना, बम्बई बन्दरगाह विकास योजना, वर्तमान औद्योगिक क्षमता का पूर्ण शोषण करने के लिए आवश्यक कच्चा माल व अन्य सामान आयात करने की सुविधाये देने की योजना के लिए भारत को अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ से ऋण प्राप्त हो चुके हैं।

परीक्षा-प्रश्न

(१) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक के विधान एवं कार्यों का वर्णन कीजिये। (आगरा बी० ए० १९६२)

(२) विकास तथा पुनर्निर्माण के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के कार्यों की व्याख्या कीजिये। (आगरा बी० ए० १९६०)

(३) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के क्या मुख्य कार्य हैं ? भारत को इस बैंक से क्या लाभ हुआ है ? वर्णन कीजिये। (आगरा बी० ए० १९५९ स)

(४) भारत के विश्व बैंक के सम्बन्ध अन्य ६८ सदस्य देशों की अपेक्षा सम्भवतः सबसे अधिक घनिष्ट हैं। इस देश को स्वीकार किये गये विभिन्न ऋणों के संदर्भ मे उक्त कथन की आलोचना करिए।

(राजस्थान बी० काम० १९५९)

(५) "दो मौद्रिक संस्थाओं (अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं अन्तर्राष्ट्रीय बैंक) की स्थापना वर्तमान युग में एक देवी वरदान सिद्ध हुई है।" इस कथन के संदर्भ मे इन दोनों संस्थाओं के उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए और यह बताइये कि भारत उनसे किस सीमा तक लाभान्वित हुआ है।

(बिहार बी० काम० १९५९)

(६) पुनर्निर्माण तथा विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक पर एक टिप्पणी लिखिये और बताइये कि भारत को उसकी सदस्यता से किस प्रकार लाभ प्राप्त हुआ है ? (विक्रम बी० ए० १९६०)

५

राष्ट्रीय आय

NATIONAL INCOME

राष्ट्रीय आय देश की आर्थिक समृद्धि का सूचक होती है। किसी देश की राष्ट्रीय आय जितनी अधिक होती है वह आर्थिक दृष्टि से उतना ही अधिक समृद्धिशाली तथा विकसित होता है। अल्प विकसित देशों की राष्ट्रीय आय बहुत कम होने के कारण ही वहाँ के लोग गरीब हैं और उन्हे निम्न स्तर पर रहना पडता है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति की आर्थिक सम्पन्नता उसे प्राप्त होने वाली आय पर निर्भर होती है ठीक इसी प्रकार एक राष्ट्र की सम्पन्नता भी उसके द्वारा प्रति वर्ष उपार्जित आय पर निर्भर रहती है। किसी देश की आर्थिक सम्पन्नता केवल उसकी राष्ट्रीय आय के आकार पर ही निर्भर नहीं होती है बल्कि वह उसकी प्रगति की दर तथा समाज मे उसके वितरण पर भी आश्रित रहती है। यदि किसी देश की राष्ट्रीय आय अधिक है और उसमे प्रति वर्ष सामान्य गति से वृद्धि होती रहती है तथा समाज मे राष्ट्रीय आय का बटवारा भी समान है तो ऐसी दशा मे उस देश का आर्थिक कल्याण अधिकतम होता है। इसके विपरीत वे देश गरीब तथा अविकसित होते हैं जिनकी राष्ट्रीय आय कम है और उसमे धीमी गति से वृद्धि होती है। अत. आर्थिक निर्देशाक (Economic Indicators) के रूप मे राष्ट्रीय आय का अध्ययन एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। किसी देश की राष्ट्रीय आय सम्बन्धी प्रवृत्तियो का अध्ययन करके हम उसकी आर्थिक स्थिति तथा प्रगति का पता लगा सकते हैं।

राष्ट्रीय आय का अर्थ (Meaning of National Income)—

वर्तमान समाज मे उत्पादन सामूहिक रूप से किया जाता है। प्रत्येक देश मे उत्पत्ति के साधनो के सामूहिक प्रयत्न से प्रति वर्ष जो वस्तुयें तथा सेवायें उत्पन्न की जाती हैं, वह उस देश का वार्षिक उत्पादन होता है। इस वार्षिक उत्पादन के शुद्ध मूल्य को ही राष्ट्रीय आय कहते हैं। इसमे साल भर मे उत्पादित कुल सामान तथा उपयोग की गई कुल सेवायें सम्मिलित होती हैं। किसी देश मे उत्पत्ति के साधन मिलकर प्रतिवर्ष जो वस्तुयें उत्पन्न करते हैं और जिन सेवाओं का प्रयोग किया जाता

है, उनके कुल मूल्य में से पूँजीगत वस्तुओं का घिसावट व्यय निकाल कर जो शेष रहता है वह उस देश की राष्ट्रीय आय होती है। अर्थात् वह सम्पूर्ण शुद्ध आय जो एक निश्चित काल से देश में उत्पत्ति के साधनों के सामूहिक प्रयत्नों द्वारा उत्पन्न की जाती है, उसे राष्ट्रीय आय अथवा राष्ट्रीय लाभांश (National Dividend) कहते हैं। राष्ट्रीय आय के विचार को दो प्रकार से समझा जा सकता है—(i) विस्तृत दृष्टिकोण तथा (ii) सकुचित दृष्टिकोण। विस्तृत दृष्टिकोण से राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत प्रति वर्ष उत्पादित कुल वस्तुओं तथा सेवाओं को सम्मिलित किया जाता है। सकुचित अर्थ में राष्ट्रीय आय में केवल उन वस्तुओं तथा सेवाओं को सम्मिलित किया जाता है जिनका विनिमय मुद्रा के बदले में होता है। प्रो० मार्शल ने राष्ट्रीय आय की परिभाषा विस्तृत दृष्टिकोण से की है किन्तु प्रो० पीगू के द्वारा उसकी परिभाषा सकुचित दृष्टिकोण से की गई है।

मार्शल के विचार (Marshall s View)—

प्रो० मार्शल ने किसी देश में उत्पन्न की जाने वाली समस्त वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया है। उनके अनुसार, "किसी देश का श्रम तथा पूँजी वहाँ के प्राकृतिक साधनों पर कार्य करके प्रति वर्ष वस्तुओं का एक शुद्ध समूह उत्पन्न करते हैं, जिसमें मूर्त और अमूर्त वस्तुयें तथा सब प्रकार की सेवायें सम्मिलित होती हैं। शुद्ध उत्पत्ति का यह योग ही मार्शल के अनुसार एक वर्ष का राष्ट्रीय लाभांश होता है।"[1] शुद्ध उत्पत्ति को निकालने के लिए हमें कुल वार्षिक उत्पादन में से मशीनों तथा अन्य प्रकार की पूँजीगत वस्तुओं का घिसावट व्यय निकाल देना चाहिए और विदेशी विनियोगों से होने वाली शुद्ध आय को उसमें जोड़ देना चाहिए। राष्ट्रीय आय की गणना के विषय में लिखते हुए मार्शल ने बतलाया है कि "वे सब सेवायें जो एक मनुष्य अपने स्वयं के लिए ही करता है या वह अपने मित्रों अथवा सम्बन्धियों के लिए बिना किसी पारितोषण के लोभ से करता है, वे सब लाभ जो अपनी निजि सम्पत्ति (फर्नीचर, कपड़े आदि) या सार्वजनिक सम्पत्ति, जैसे—चुंगी-रहित पुलों से प्राप्त होते हैं, राष्ट्रीय लाभांश में नहीं जोड़े जाते हैं, वरन् उनका हिसाब अलग रक्खा जाता है। इस प्रकार प्रो० मार्शल ने देश के समस्त उत्पादन में प्राप्त होने वाली आय को, चाहे वह उत्पादन भौतिक वस्तुओं के रूप में हो अथवा अभौतिक वस्तुओं के रूप में, राष्ट्रीय आय में शामिल किया है।

---

1 "The Labour and Capital of the country, acting on its natural resources produce annually a net aggregate of commodities material and immaterial including services of all kinds This is the true net annual income or revenue of the country or the national dividend "

—*Marshall* Principles of Economics, P. 523.

मार्शल की परिभाषा मे सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो कोई दोष नही है किन्तु व्यवहारिक जीवन मे उसके आधार पर राष्ट्रीय आय का नापना और निर्धारित करना प्राय: असम्भव है। किसी देश की एक वर्ष मे उत्पत्ति की कुल मात्रा की गणना करना बहुत कठिन कार्य है। बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी भी उत्पन्न की जाती हैं जो उत्पादकों द्वारा स्वयं प्रयोग कर ली जाती है। ऐसी वस्तुओ की न तो मात्रा निश्चित करना ही सम्भव होता है और न उनका मूल्य ही कभी आंका जाता है। अत: उत्पत्ति के इस भाग का सही अनुमान लगाना सम्भव नही होता है। इन कठिनाइयो के अतिरिक्त राष्ट्रीय आय को वस्तुओं तथा सेवाओ के रूप मे व्यक्त करने से उसकी उपयोगिता बहुत सीमित हो जाती है। इन सब दोषों के कारण ही प्रो० पीगू ने मार्शल की राष्ट्रीय आय की परिभाषा मे सुधार करने का प्रयत्न किया है।

पीगू का दृष्टिकोण (Pigous's View)—

प्रो० पीगू ने राष्ट्रीय आय को मुद्रा के माप-दण्ड से नापने का प्रयत्न किया है। वैसे तो उन्होने मार्शल की राष्ट्रीय लाभाश को नापने की प्रणाली को ही अपनाया है किन्तु वे राष्ट्रीय आय को मुद्रा के रूप मे व्यक्त किये जाने के पक्ष मे हैं। पीगू के अनुसार, "राष्ट्रीय आय किसी देश की भौतिक आय (Objective Income) का, जिसमे विदेशों से प्राप्त आय भी सम्मिलित होती है, वह भाग है जो मुद्रा मे नापा जा सकता है।"[2] इस परिभाषा के आधार पर राष्ट्रीय लाभाश मे, देश मे उत्पन्न की गई कुल आय का केवल वह भाग ही शामिल किया जाता है जिसे मुद्रा के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है। उत्पादन का वह भाग जिसे मुद्रा मे नही नापा जा सकता है, उसे राष्ट्रीय लाभाश मे सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए। पीगू की इस परिभाषा मे कुछ दोष अवश्य हैं, जिनका उन्होने स्वयं उल्लेख किया है। उनका कहना है कि इस परिभाषा के आधार पर बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ और सेवाये लाभाश मे सम्मिलित नही की जा सकगी, जिनका उसमे सम्मिलित की जाने वाली वस्तुओ और सेवाओ से गहरा सम्बन्ध है और जो किसी प्रकार भी उनमे भिन्न नहीं है। वास्तव में ऐसी वस्तुओ तथा सेवाओ को जिनका मुद्रा मे विनिमय किया जाता है, उन वस्तुओ तथा सेवाओ से पृथक् नही किया जा सकता है जिनका मुद्रा मे विनिमय नही किया जाता है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे एक ही वस्तु दोनो श्रेणियो मे आ सकती है। यदि कोई व्यक्ति मकान खरीदता है तो उस मकान से प्राप्त होने वाली सेवाओ को राष्ट्रीय लाभाश मे सम्मिलित किया जायेगा किन्तु यदि वही मकान उसे उपहारस्वरूप प्राप्त हो जाता है, तो उसकी सेवाओ को राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित नही किया जायेगा। इसी प्रकार यदि कोई

2 "National dividend is that part of the objective Income of the community, including of course income derived from abroad which can be measured in money." —*A. C. Pigou*: Economics of Welfare, P. .1.

व्यक्ति नौकरानी रखता है तो उसकी सेवायें राष्ट्रीय लाभांश का भाग हैं क्योंकि उनके बदले में वेतन दिया जाता है किन्तु यदि वह व्यक्ति अपनी नौकरानी से शादी कर लेता है तो अब उसकी सेवायें निःशुल्क प्राप्त होने के कारण राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं की जायेंगी और राष्ट्रीय लाभांश उसी अनुपात में कम हो जायेगा। इस प्रकार पीगू की परिभाषा बहुत ही संकीर्ण तथा विरोधाभास (Paradox) से पूर्ण है। किन्तु इन सब दोषों के होते हुए भी राष्ट्रीय लाभांश की मुद्रा के रूप में इस परिभाषा को सामान्यतया अर्थशास्त्रियों के द्वारा माना गया है क्योंकि उसके आधार पर राष्ट्रीय आय का नापना सरल है।

मार्शल और पीगू के विचारों में काफी समानता पाई जाती है। दोनों में ही राष्ट्र की कुल वार्षिक उत्पत्ति को राष्ट्रीय आय का आधार माना गया है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि दोनों ने राष्ट्रीय आय की परिभाषा उत्पत्ति के दृष्टिकोण से की है। अन्तर केवल इतना है कि मार्शल ने कुल वार्षिक उत्पत्ति को राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित किया है किन्तु पीगू ने उसमें उत्पत्ति के उस भाग को ही सम्मिलित किया है, जिसका मुद्रा के द्वारा विनिमय किया जाता है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से मार्शल की परिभाषा अच्छी है किन्तु व्यवहारिक दृष्टिकोण में पीगू की परिभाषा को श्रेष्ठ माना जाता है।

फिशर का दृष्टिकोण (Fisher's View)—

प्रो० फिशर ने मार्शल व पीगू दोनों से भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उन्होंने उपभोग के दृष्टिकोण से लाभांश की परिभाषा करने का प्रयत्न किया है और उत्पत्ति के स्थान पर उपभोग को लाभांश का आधार माना है। उनके अनुसार राष्ट्रीय लाभांश में कुल उत्पत्ति का मूल्य सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए बल्कि उत्पत्ति के उस भाग का मूल्य ही उसमें शामिल किया जाना चाहिए, जिसका उस वर्ष में वास्तव में उपभोग किया जाता है। फिशर के अनुसार, "राष्ट्रीय लाभांश अथवा आय में केवल सेवायें जैसी कि वे उपभोक्ताओं को प्राप्त होती हैं, शामिल की जाती हैं चाहे वे सेवायें भौतिक परिस्थितियों से उत्पन्न हुई हैं अथवा मानवीय कारणों से।"[3] उन्होंने आगे चलकर कहा है कि एक प्यानो (Piano) या एक ओवरकोट (Overcoat) जो इस साल मेरे लिए बनाया गया है, इस वर्ष की आय का हिस्सा नहीं है बल्कि वह केवल पूँजी में वृद्धि है। केवल वे सेवायें जो इस वर्ष के अन्दर मुझे इन वस्तुओं से प्राप्त हुई हैं, आय हैं। प्रो० फिशर का विचार

---

3 ". . . national dividend, or income, consists solely of services as received by ultimate consumers, whether from their material or from their human environment. Thus, a piano or an overcoat made for me this year is not a part of this year's income but an addition to capital. Only the services rendered to me during this year by these things are income."

—*Irving Fisher* : The Nature of Capital and Income, P. 104.

अधिक वैज्ञानिक तथा तर्कपूर्ण है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह अधिक उपयोगी नहीं है क्योंकि उसके आधार पर राष्ट्रीय आय की ठीक-ठीक गणना करना सम्भव नहीं है।

कोलिन क्लार्क का मत (Colin Clark s View)—

वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने भी राष्ट्रीय आय को मुद्रा के रूप में नापने के विचार का समर्थन किया है। प्रो० कोलिन क्लार्क (Colin Clark) ने राष्ट्रीय आय की परिभाषा इसी दृष्टिकोण से की है, जो इस प्रकार है—"किसी समय विशेष में राष्ट्रीय आय उन वस्तुओं और सेवाओं के मौद्रिक मूल्य द्वारा सूचित की जाती है, जो समय विशेष में उपभोग के लिए उपलब्ध होती है, ऐसा मूल्य उनकी वर्तमान बिक्री कीमत पर निकाला जाता है। इसमें पूँजी की उस वृद्धि को जोड़ा जाता है जिसका मूल्य नये पूँजी माल की कीमत के रूप में चुकाया जा चुका है। इसमें से प्रस्तुत पूँजीगत माल की घिसावट (Depreciation) और पुराने पड़ने (Obsolescence) के व्यय को निकाल दिया जाता है। इस प्रकार की जोड़ और घटा की कीमत भी चालू कीमतों के आधार पर आँकी जाती है।"[4] कोलिन क्लार्क के अनुसार ऐसी सेवाओं की कीमत जो राज्य के द्वारा बिना लाभ के आधार पर प्रस्तुत की जाती हैं, जैसे डाक, तार आदि की सेवायें, उनके वास्तविक भाड़ों की दर पर निकाली जाती है। जिन वस्तुओं पर कर लगाये जाते हैं उन वस्तुओं की कीमत निकालते समय इन करों की आय को बिक्री मूल्य में सम्मिलित नहीं किया जाता है।

डा० राव (V. K R V Rao) ने भी कोलिन क्लार्क से मिलता-जुलता विचार दिया है। उनके अनुसार राष्ट्रीय आय वस्तुओं और सेवाओं के प्रवाह के मौद्रिक मूल्य द्वारा सूचित होती है। इस मूल्य को चालू कीमतों के आधार पर निकाला जाता है और उसमें उन आयातों का मूल्य सम्मिलित नहीं किया जाता है जो बिक्री के लिए उपलब्ध हैं अथवा जिन्हें बेचा जा सकता है। इस प्रकार वस्तुओं और सेवाओं का जो मौद्रिक मूल्य आता है, उसमें से इन मदों को निकाल दिया जाता है—(i) समय-विशेष में पूँजीगत माल के घिसावट व्यय का मौद्रिक मूल्य। (ii) ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का मौद्रिक मूल्य जो उत्पादन कार्य में व्यय की गई हैं। (iii) ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का मौद्रिक मूल्य जो वर्तमान पूँजी स्टाक को

4 "The national income for any period consists of the money value of goods and services becoming available for consumption during that period, reckoned at their current selling value, plus additions to capital reckoned at prices actually paid for the new capital goods, minus depreciation and obsolescence of existing capital goods and adding the net accretion of, or deducting the net drawings upon stocks, also reckoned at current prices."

—*Colin Clark.*

बनाये रखने के लिए व्यय की गई हैं। (iv) राज्य को परोक्ष करों से प्राप्त आय। (v) व्यापार संतुलन की अनुकूलता का मौद्रिक मूल्य। (vi) देश के विदेशी ऋण की शुद्ध वृद्धि।[५]

राष्ट्रीय आय को नापने की रीतियाँ

(Methods of Calculating National Income)—

किसी देश की राष्ट्रीय आय को नापने के लिए निम्न विधियों का प्रयोग किया जा सकता है—

(१) उत्पत्ति गणना प्रणाली (Census of Production Method)—इस प्रणाली मे देश के समस्त उद्योगों, कृषि तथा अन्य प्रकार के व्यवसायों की कुल उपज का मूल्य चालू कीमतों पर निकाल लिया जाता है। इसमे से चल पूँजी की स्थान-पूर्ति और अचल पूँजी का मूल्य ह्रास, घिसावट व प्रतिस्थापन का मूल्य घटा देते हैं। इस प्रकार कुल उपज (Gross produce) मे से ये सब व्यय घटा कर जो शुद्ध उत्पत्ति (Net produce) बचती है, वह उस वर्ष की राष्ट्रीय आय होती है। इस शुद्ध राष्ट्रीय आय में से ही लगान, ब्याज, मजदूरी, लाभ, कर आदि के भुगतान किये जाते हैं। इस प्रणाली का प्रयोग सर्वप्रथम १६०७ मे ब्रिटिश उत्पत्ति गणना के लिए किया गया था किन्तु राष्ट्रीय आय गणना की यह रीति काफी लम्बी तथा कठिन है।

(२) आय गणना प्रणाली (Census of Income Method)—इस प्रणाली के अन्तर्गत किसी समय-विशेष मे लोगों को प्राप्त होने वाली सम्पूर्ण आय की गणना की जाती है और देशवासियों की आय का यह योग ही राष्ट्रीय आय होती है। राष्ट्रीय आय को निकालने के लिए आय-कर देने वाले व्यक्तियों की आय तथा आय-कर न देने वाले व्यक्तियों की आय को जोड दिया जाता है। समाज मे जो लोग आय-कर देते हैं उनकी आय का अनुमान तो आय-कर लेखों (Income Tax Returns) से लगा लिया जाता है किन्तु आय-कर न देने वाले व्यक्तियों की आय का अनुमान लगाना कठिन होता है। इसके लिए किसी वर्ग की औसत आय को व्यक्तियों की सख्या से गुणा किया जाता है और इस प्रकार आय-कर न देने वाले व्यक्तियों की आय का अनुमान लगाया जाता है। आय-कर देने वाले और आय-कर न देने वाले व्यक्तियों की आय का कुल योग ही देश की राष्ट्रीय आय होती है। इस रीति के द्वारा राष्ट्रीय आय की गणना करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि किसी व्यक्ति की आय को दो बार न गिना जाये। यह प्रणाली प्राय. उन देशों के लिए अधिक उपयुक्त होती है, जिनमे अधिकांश लोग आय-कर देते हैं। भारतवर्ष के लिए यह प्रणाली उपयुक्त नहीं है क्योंकि यहाँ पर आय-कर न देने वालों की सख्या बहुत अधिक है।

---

5 *Dr. V K R. V. Rao* National Income of British India

(३) व्यवसायिक गणना प्रणाली (Occupational Census Method)—इस प्रणाली में व्यवसायिक गणना के द्वारा उनमें लगे हुए व्यक्तियों की आय का अनुमान लगाया जाता है। विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में लगे हुए लोगों की आय को आंका जाता है और इस प्रकार प्राप्त आयों का कुल योग ही राष्ट्रीय आय होती है। उदाहरणार्थ कृषि, उद्योग, यातायात, व्यापार तथा स्वतन्त्र व्यवसाय (Libqral Arts) आदि में लगे हुए लोगों की, उनके व्यवसाय के आधार पर आयों की तालिकायें (Inventories) बना ली जाती हैं और फिर इन सबका योग मालूम कर लेते हैं और आयों का यह कुल योग देश की राष्ट्रीय आय होती है। लार्ड स्टाम्प (Lard Stamp) के अनुसार आय गणना करते समय वृद्ध अवस्था में प्राप्त होने वाली पेंशन, धोखे व जालसाजी से प्राप्त धन आदि उसमें सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि वह व्यवसायिक आय नहीं है।

(४) उत्पादन पद्धति और आय पद्धति का मिश्रण (Combination of Production Method and Income Method)—यद्यपि राष्ट्रीय आय गणना की उक्त तीन पद्धतियाँ ही प्रमुख हैं, किन्तु कभी-कभी राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाते समय उत्पादन गणना प्रणाली तथा आय गणना प्रणाली दोनों को मिलाकर भी प्रयोग किया जाता है। प्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री डा० वी० के० आर० वी० राव ने भारत की राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए उत्पादन पद्धति तथा आय पद्धति दोनों का प्रयोग किया है। उन्होंने भारत की राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए कृषि उपज सम्बन्धी सरकारी आंकड़ों का प्रयोग किया है और देश में खनिज, उद्योग तथा अन्य व्यवसायों के उत्पादन का अनुमान स्वयं लगाया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने आय-कर के आंकड़ों, सरकारी कर्मचारियों के वेतन तथा श्रमिकों की मजदूरियों का भी उपयोग किया है।

यह कहना कठिन है कि इन सब रीतियों में से कौन-सी सबसे अधिक उपयुक्त है। सामान्यत: उत्पत्ति गणना प्रणाली तथा व्यवसायिक गणना प्रणाली को अधिक अच्छा तथा व्यवहारिक माना जाता है क्योंकि आय गणना प्रणाली में एक ही आय को एक से अधिक बार गिनने की सम्भावना बराबर रहती है। यदि पूर्ण सावधानी से काम लिया जाये तो तीनों ही रीतियों से लगभग एक ही राष्ट्रीय आय प्राप्त होती है। आजकल उत्पत्ति गणना प्रणाली का अधिक प्रयोग किया जाता है। भारत की राष्ट्रीय आय समिति ने भी इसी पद्धति की सहायता से राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया है।

राष्ट्रीय आय के अध्ययन का महत्व

(Importance of National Income Study)—

किसी देश की आर्थिक स्थिति का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसकी राष्ट्रीय आय का अध्ययन करना आवश्यक समझा जाता है। राष्ट्रीय आय के अध्ययन

के द्वारा हम देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति तथा भविष्य की विकास सम्बन्धी प्रवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। किसी देश की राष्ट्रीय आय के आकार पर ही उस देश की विकास क्षमता, वहाँ के लोगों का रहन सहन स्तर तथा उनका आर्थिक कल्याण निर्भर रहता है। सामान्यतः राष्ट्रीय आय के अध्ययन से निम्न लाभ प्राप्त होते हैं—

(१) **राष्ट्रीय आय की सहायता से देश के आर्थिक कल्याण को नापा जा सकता है—** किसी देश की राष्ट्रीय आय तथा उसके आर्थिक कल्याण में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है इसीलिए कुछ अर्थशास्त्रियों ने राष्ट्रीय आय को आर्थिक कल्याण का माप माना है। 'अन्य बातें समान रहने पर' किसी देश की राष्ट्रीय आय जितनी अधिक होती है उसका आर्थिक कल्याण भी उतना ही अधिक होता है। यद्यपि प्रत्येक दशा में राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण में एक ही दिशा तथा एक ही अनुपात में परिवर्तन होने सम्भव नहीं है किन्तु फिर भी अन्य बातें समान रहने पर राष्ट्रीय आय के बढ़ जाने पर आर्थिक कल्याण बढ़ जाता है और उसके कम होने पर घट जाता है।

(२) **राष्ट्रीय आय से देश के रहन-सहन के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं—** राष्ट्रीय आय के आँकड़े हमें किसी देश के लोगों के रहन-सहन के बारे में ज्ञान प्राप्त करने में सहायता देते हैं। देश में प्रति व्यक्ति आय जितनी अधिक होती है लोगों का जीवन-स्तर भी उतना ही ऊँचा होता है। प्रति व्यक्ति आय का कम होना जीवन स्तर के निम्न होने का सूचक माना जाता है इसीलिए विभिन्न देशों में राष्ट्रीय आय को बढ़ाकर प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि करने का प्रयत्न किया जाता है। किन्तु प्रति व्यक्ति आय का अधिक होना अथवा उसमें होने वाली प्रत्येक वृद्धि को सदैव ऊँचे रहन-सहन स्तर का सूचक नहीं माना जा सकता है। यदि देश में धन के वितरण की असमानतायें बहुत अधिक हैं और केवल कुछ व्यक्तियों को ही देश की अधिकांश आय प्राप्त होती है और अधिकांश व्यक्तियों को उसका थोड़ा-सा भाग ही मिल पाता है तो ऐसी दशा में प्रति व्यक्ति आय अधिक होने पर भी लोगों का रहन-सहन का स्तर नीचा रहेगा और राष्ट्रीय आय में होने वाली वृद्धि सामान्य लोगों के रहन-सहन को ऊँचा नहीं उठा सकेगी।

(३) **राष्ट्रीय आय के अध्ययन से किसी देश की आर्थिक विकास सम्बन्धी प्रवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं—** किसी राष्ट्र की आय उसकी आर्थिक प्रगति का सूचक होती है। प्रायः अधिक राष्ट्रीय आय वाले देश आर्थिक दृष्टि से उन्नत माने जाते हैं और जिनकी आय कम होती है वे देश कम उन्नत तथा पिछड़े हुए होते हैं। अतः राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से हम उस देश के आर्थिक विकास की स्थिति के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। राष्ट्रीय आय किसी देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति के बारे में ही नहीं बतलाती है बल्कि उसके द्वारा हम उसकी विकास क्षमता का

अनुमान भी लगा सकते है। देश मे बचत की मात्रा राष्ट्रीय ग्राय के आकार पर निर्भर होती है। राष्ट्रीय ग्राय के अधिक होने पर देश मे बचत की सम्भावना अधिक रहती है और देश मे पूंजी का निर्माण अधिक मात्रा मे किया जा सकता है जिसके कारण आर्थिक प्रगति की दर भी अधिक होती है। इसके विपरीत कम राष्ट्रीय ग्राय वाले देशो मे पूंजी का निर्माण कम होने के कारण उनकी विकास क्षमता भी सीमित होती है। यही कारण है कि अधिक राष्ट्रीय ग्राय वाले देश कम ग्राय वाले देशो की अपेक्षा तेजी के साथ प्रगति करते हैं। राष्ट्रीय ग्राय के आंकडो से यह भी पता लगाया जा सकता है कि देश का विकास समुचित आधार पर हो रहा है कि नही ? यदि राष्ट्रीय ग्राय में निरन्तर वृद्धि होती है और प्रति व्यक्ति ग्राय भी बढ रही है तो यह इस बात का सूचक है कि देश की आर्थिक प्रगति हो रही है।

(४) राष्ट्रीय ग्राय के आंकड़े किसी देश की अर्थ-व्यवस्था के दोषों को स्पष्ट करते हैं और उन्हें दूर करने के उपाय बताते हैं—राष्ट्रीय ग्राय के आंकडो से यह पता चलता है कि कालातर मे धन का वितरण किस प्रकार का था और उसमे परिवर्तन की क्या प्रवृत्तियां पाई जाती है। इसके आधार पर देश मे धन के वितरण सम्बन्धी दोषो को दूर किया जा सकता है। राष्ट्रीय ग्राय के आंकडे देश की आर्थिक नीति के निर्माण तथा आर्थिक नियोजन मे बड़ी सहायता देते हैं। इन आंकडो के द्वारा समाज मे विभिन्न वर्गों की बचत क्षमता का अनुमान लगाया जा सकता है जिससे देश मे उचित कर-नीति के निर्माण मे बडी सहायता मिलती है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि किसी देश के आर्थिक जीवन मे राष्ट्रीय ग्राय के आंकडो का बडा महत्वपूर्ण स्थान होता है। वे प्रमुख आर्थिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियो के द्योतक होते हैं। राष्ट्रीय ग्राय के आंकडे देश की वर्तमान आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति का ज्ञान ही नही कराते हैं बल्कि उनकी सहायता से भविष्य की विकास सम्बन्धी प्रवृत्तियो का ज्ञान भी प्राप्त किया जा सकता है।

भारत की राष्ट्रीय ग्राय (National Income Estimates in India)—

सर्वप्रथम दादा भाई नौरोजी ने सन् १८६७–७० के काल के लिए भारत की राष्ट्रीय ग्राय का अनुमान लगाया जिसके आधार पर प्रति व्यक्ति ग्राय २० रुपये प्रति वर्ष निकाली गई। इसके पश्चात राष्ट्रीय ग्राय के कई गैर सरकारी अनुमान लगाये गये किन्तु इन सब मे इतनी अधिक भिन्नता थी कि उनके आधार पर भारत की राष्ट्रीय ग्राय का सही ज्ञान प्राप्त करना असम्भव था। सन् १९०० मे लार्ड कर्जन के अनुमान के अनुसार प्रति व्यक्ति ग्राय ३० रुपया प्रति वर्ष थी। सन् १९१३–१४ मे वाडिया और जोशी के अनुमान के आधार पर राष्ट्रीय ग्राय १०८७ करोड रुपये तथा प्रति व्यक्ति ग्राय ४४ रु० ५ आने ६ पाई थी। सन् १९२२ मे फिंडले शिराज के

अनुमान के अनुसार कुल राष्ट्रीय आय ८८३ करोड रुपये तथा प्रति व्यक्ति आय १०७ रुपये थी। डा० राव ने १९३१–३२ मे प्रति व्यक्ति आय का अनुमान ६५ रुपये प्रति वर्ष लगाया। सन् १९३७–३८ मे सर जेम्स ग्रिग (Sir James Grigg) के अनुसार प्रति व्यक्ति आय ५६ रुपये प्रति वर्ष थी। राष्ट्रीय आय के इन सब अनुमानो मे इतनी अधिक भिन्नता पाई जाती है कि इनके आधार पर विभिन्न समय मे भारत की राष्ट्रीय आय की तुलना करना सम्भव नही है।

इन प्रारम्भिक अनुमानो मे भिन्नता के कई कारण थे। विभिन्न समय मे मूल्य-स्तर की भिन्नता के कारण राष्ट्रीय आय के अनुमानो मे भिन्नता का होना स्वाभाविक ही था। विभिन्न अनुमानकर्ताओ के दृष्टिकोण मे भिन्नता होने के कारण भी इन अनुमानो मे अन्तर पाया जाता था। राष्ट्रीय दृष्टिकोण वाले अनुमान-कर्ताओ के अनुमान प्राय. सरकारी अनुमानो से कम होते थे क्योकि वे इस बात को सिद्ध करना चाहते थे कि ब्रिटिश सरकार के शासन-काल मे भारत की समृद्धि नही बढी है जबकि सरकार यह दिखलाना चाहती थी कि प्रगति हुई है। इसके अतिरिक्त विभिन्न अनुमानकर्त्ताओ ने अलग अलग क्षेत्र लिए थे तथा अनुमान मे सम्मिलित की जाने वाली मदो मे भी भिन्नता थी जिसके कारण इन अनुमानो का भिन्न होना स्वाभाविक था। आँकडो का अभाव तथा अविश्वसनीयता भी राष्ट्रीय आय के अनुमानो की भिन्नता के लिए जिम्मेदार थी। इन सब अनुमानो मे से डा० वी० के० आर० वी० राव का अनुमान अधिक वैज्ञानिक तथा विश्वसनीय समझा जाता है। उन्होने ग्रामीण क्षेत्रो की प्रति व्यक्ति आय ५१ रुपये और नागरिक क्षेत्रो की १६६ रुपये आँकी थी और इस आधार पर औसत प्रति व्यक्ति आय ६५ रुपया निकलती है।

राष्ट्रीय आय समिति १९४९ (National Income Committee)—

स्वतन्त्रता के पश्चात सरकार ने राष्ट्रीय आय की गणना के महत्व को स्वीकार किया और उनका अधिक वैज्ञानिक आधार पर सगठन करने का प्रयत्न किया गया। सन् १९४९ मे सरकार ने राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित आँकडो मे सुधार के सुझाव देने तथा अधिक वैज्ञानिक ढङ्ग से राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए प्रो० पी० सी० महलनबिस (P. C Mahalnobis) की अध्यक्षता मे एक राष्ट्रीय आय समिति नियुक्त की जिसने अप्रैल सन् १९५१ मे अपनी प्रथम रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट मे १९४८–४९ मे भारत की राष्ट्रीय आय का अनुमान दिया गया था। इस समिति के अनुसार १९४८–४९ की अनुमानित राष्ट्रीय आय ८६५० करोड रुपये तथा प्रति व्यक्ति आय २४६·९ रुपये थी। राष्ट्रीय आय समिति ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट सन् १९५४ मे प्रस्तुत की जिसमे १९५०–५१ तक की राष्ट्रीय आय के आँकडे दिये गए थे। तब से राष्ट्रीय आय का अनुमान प्रति वर्ष सेन्ट्रल स्टेटिस्टीकल आर्गनाइजेशन (Central Statistical Organisation) के राष्ट्रीय

आय यूनिट (National Income Unit) के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इसके द्वारा दिये गए राष्ट्रीय आय के अनुमान स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व के अनुमानों से अधिक सन्तोषजनक, विश्वसनीय तथा अधिकृत है। सन् १६४८–४६ से भारत की राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय के अनुमान निम्नलिखित तालिका मे दिये गए है—

भारत की राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय
(१६४८–४६ से १६६३–६४ तक)
(India's National Income & Per Capita Income)
Year 1948–49 to 1963–64.

वर्ष	राष्ट्रीय आय (करोड़ रुपयों में)		प्रति व्यक्ति आय (रुपयों में)	
	१६४८–४६ के मूल्यों पर	वर्तमान मूल्यों पर	१६४८–४६ के मूल्यों पर	वर्तमान मूल्यों पर
१६४८–४६	८६५०	८६५०	२४६·८	२४६·६
१६५०–५१	८.५०	६५३०	२.७ ५	२६६·५
१६५५–५६	१०४८०	६६८०	२६७·८	२५५·०
१६६०–६१	१२७३०	१४१४०	२६३·२	३२५·७
१६६१–६२	१३०६०	१४८००	२६४·३	३३३·६
१६६२–६३	१३३७०	१५४००	२६४ ७	३३६·४
१६६३–६४	१३६४०	—	३०० ४	—

प्रमुख प्रवृत्तियाँ (Main Trends)—

(१) राष्ट्रीय आय (National Income)—ऊपर दी गई तालिका के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि हमारी राष्ट्रीय आय १६४८–४६ से निरन्तर बढ रही है किन्तु प्रगति की दर विभिन्न वर्षों मे भिन्न-भिन्न रही है। सन् १६४८–४६ मे वर्तमान मूल्यो पर हमारी राष्ट्रीय आय ८६५० करोड रुपये थी जो १६६२–६३ मे (वर्तमान मूल्यों पर) बढकर १५४०० करोड रुपये हो गई थी। इन १४ वर्षों मे राष्ट्रीय आय मे ७८ प्रतिशत की वृद्धि हुई है, अर्थात् वार्षिक औसत वृद्धि ५.५ प्रतिशत रही है। सन् १६४८–४६ के मूल्यों के आधार पर भी राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हुई है, यद्यपि वह उस वृद्धि की अपेक्षा कम है जो राष्ट्रीय आय मे वर्तमान मूल्यो के आधार पर हुई है। १६४८–४६ के मूल्यो के आधार पर १६६२–६३ मे राष्ट्रीय आय १३३७० करोड रुपये थी जो १६४८–४६ की राष्ट्रीय आय की तुलना मे ५४ ५ प्रतिशत अधिक थी। इस आधार पर राष्ट्रीय आय की वार्षिक वृद्धि का औसत ३·६ प्रतिशत है। इससे स्पष्ट है कि वर्तमान मूल्यो के आधार पर भारत की राष्ट्रीय आय

मे तेजी के साथ वृद्धि हुई है। इसकी तुलना मे १९४८–४९ के मूल्यो के आधार पर राष्ट्रीय आय कम तेजी के साथ बढ़ी है। इसका प्रमुख कारण हमारे कीमत-स्तर का उत्पादन की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ बढ़ना है। सन् १९५५–५६ मे वर्तमान मूल्यो पर राष्ट्रीय आय १९४८–४९ के मूल्यो पर राष्ट्रीय आय से कम थी किन्तु इसके पश्चात् वर्तमान मूल्यो पर राष्ट्रीय आय मे १९४८–४९ के मूल्यो पर राष्ट्रीय आय से अधिक तेजी के साथ वृद्धि हुई है जो इस बात का प्रमाण है कि १९५५–५६ के पश्चात् हमारे देश मे कीमतें राष्ट्रीय उत्पादन से अधिक तेजी के साथ बढ़ी हैं।

(२) प्रति व्यक्ति आय (Per Capita Income)–इन वर्षों मे प्रति व्यक्ति आय भी निरन्तर बढ़ती रही है। वर्तमान मूल्यो के आधार पर प्रति व्यक्ति आय १९४८–४९ मे २४९·६ रुपये से बढ़कर १९६२–६३ मे ३३९·४ रुपये हो गई थी। निश्चित मूल्यो के आधार पर (१९४८–४९ के मूल्यो के आधार पर) प्रति व्यक्ति आय इसी काल मे २४९ ६ रुपये से बढ़कर २९०·७ रुपये हो गई थी। अतः निश्चित मूल्यो के आधार पर १४ वर्ष मे प्रति व्यक्ति आय मे १८% की वृद्धि हुई है। इस आधार पर प्रति व्यक्ति आय की वार्षिक वृद्धि केवल १ ३% है। निश्चित मूल्यो के आधार पर राष्ट्रीय आय मे वृद्धि ३ ९ प्रतिशत प्रति वर्ष रही है किन्तु प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि केवल १·३ प्रतिशत प्रति वर्ष है। इस अन्तर का प्रमुख कारण हमारे देश की जनसख्या मे तेजी के साथ वृद्धि होना है। यद्यपि हमारी राष्ट्रीय आय बढ रही है किन्तु जनसख्या मे वृद्धि की दर अधिक होने के कारण प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि की दर अत्यन्त धीमी है।

(३) राष्ट्रीय आय के औद्योगिक स्रोत (National Income by Industrial Origin)—किसी देश की राष्ट्रीय आय विभिन्न आर्थिक क्रियाओ के द्वारा प्राप्त की जाती है। भारत मे चार प्रमुख क्षेत्र हैं जिनसे हमारी राष्ट्रीय आय प्राप्त होती है। वह इस प्रकार हैं—कृषि खानें तथा उद्योग, वाणिज्य एव यातायात तथा अन्य सेवाएँ। सन् १९४८–४९ से लेकर १९६२–६३ तक हमारी राष्ट्रीय आय का स्रोतों (Sources) के अनुसार बटवारा अगले पृष्ठ पर दी तालिकानुसार रहा है—

उक्त तालिका के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अभी भी कृषि हमारी राष्ट्रीय आय का मुख्य स्रोत है और राष्ट्रीय आय का ४५% से लेकर ५०% तक कृषि से प्राप्त होता है। सन् १९४८-४९ मे राष्ट्रीय आय का ४९·१ प्रतिशत कृषि से प्राप्त हुआ। इसकी तुलना मे १९६२-६३ यह अनुपात कुछ घट कर ४५·३ प्रतिशत रह गया है। खानो तथा उद्योगो से भारतीय राष्ट्रीय आय का १६% से लेकर २०% तक प्राप्त होता रहा है। देश मे औद्योगिकरण होने के कारण यह अनुपात निरन्तर बढ रहा है। सन् १९४८-४९ मे राष्ट्रीय आय का १७ १ प्रतिशत खानो व उद्योगो से प्राप्त होता था किन्तु १९६२–६३ मे यह अनुपात बढ़कर

राष्ट्रीय आय के औद्योगिक श्रोत – अनुपातिक वितरण
वर्तमान मूल्यों पर

(National Income by Industrial Origin-Percentage Distribution)
(At Current Prices)

	१९४८-१९४९	१९५०-१९५१	१९५५-१९५६	१९६०-१९६१	१९६१-१९६२	१९६२-१९६३
(१) कृषि	४९·१	५१ ३	४५·३	४८·७	४७·०	४५·३
(२) खानें एव उद्योग	१७ १	१६ १	१ ८ ५	१८ ४	१९ ५	२०·१
(३) वाणिज्य, यातायात एव सदेशवाहन	१८ ५	१७·७	१८·९	१६·६	१६·८	१७·०
(४) अन्य सेवाएँ	१५ ५	१५ १	१७ ३	१६·७	१७ २	१८ १
(५) विदेशो से प्राप्त शुद्ध आय	—०·२	—० २	—० ०	—०·४	—० ५	—०·५
राष्ट्रीय आय	१०० ०	१००·०	१०० ०	१०० ०	१००·०	१००·०

२० १% प्रतिशत हो गया है। इन वर्षो मे वाणिज्य, यातायात एव सदेशवाहन से प्राप्त होने वाला अनुपात कुछ कम हो गया है तथा अन्य सेवाओ से प्राप्त होने वाला अनुपात कुछ बढ़ा है।

राष्ट्रीय आय और आर्थिक नियोजन

(National Income & Economic Planning)—

आर्थिक नियोजन का उद्देश्य देश मे आर्थिक विकास के द्वारा राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि करना होता है। आर्थिक विकास की योजनाओ मे राष्ट्रीय आय की वृद्धि के लक्ष्य निश्चित किये जाते है और फिर इन लक्ष्यो को योजना काल मे पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है। भारतवर्ष मे भी योजना कमीशन ने राष्ट्रीय आय की वृद्धि के लक्ष्य निश्चित किये है जिन्हे विभिन्न योजना काल मे पूरा किया जाता है और इस प्रकार देश की राष्ट्रीय आय मे एक नियमित गति से निरन्तर वृद्धि होने की आशा है। योजना आयोग ने राष्ट्रीय आय मे वृद्धि का दीर्घकालीन लक्ष्य इस प्रकार निश्चित किया है—सन् १९५०-५१ की तुलना मे १९७५-७६ मे राष्ट्रीय आय तीन गुणा हो जायगी और इसी काल मे प्रति व्यक्ति आय दुगनी हो जाने का अनुमान है। इस काल मे जनसख्या मे ५०% की वृद्धि होने की आशा है। विभिन्न योजनाओ मे राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय सम्बन्धी लक्ष्य निम्न प्रकार निश्चित किए गये है—

(सन् १६५२-५३ के मूल्यों के आधार पर)

	प्रथम योजना १६५१-५६	दूसरी योजना १६५६-६१	तीसरी योजना १६६१-६६	चौथी योजना १६६६-७१	पाँचवीं योजना १६७१-७६
(१) राष्ट्रीय आय योजना काल से अन्त मे (करोड रुपए)	१०,८००	१३,४८०	१७,२६०	२१,६८०	२७ २७०
(२) जनसख्या (करोडो मे)	३८·४	४० ८	४३·४	४६ ५	५०·०
(३) प्रति व्यक्ति आय (रुपये)	२८१	३३१	३६६	४६६	५४६

(१) प्रथम योजना (First Plan)—राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय के इन लक्ष्यो को कहाँ तक पूरा करना सम्भव हो सकेगा यह विभिन्न पचवर्षीय योजनाओ की प्रगति से स्पष्ट किया जा सकता है। प्रथम पचवर्षीय योजना मे राष्ट्रीय आय मे १५% की वृद्धि का लक्ष्य रक्खा गया था किन्तु इस योजना के पांच वर्षों मे देश की राष्ट्रीय आय मे १८% की वृद्धि हुई है। प्रति व्यक्ति आय मे ११% की वृद्धि हुई जबकि अनुमान केवल ७% की वृद्धि का ही था। प्रथम योजना मे केवल मौद्रिक आय मे ही वृद्धि नही हुई है बल्कि वास्तविक आय भी बढी है क्योकि एक अनुमान के अनुसार प्रथम योजना के अन्त मे उसके आरम्भ की अपेक्षा कीमत-स्तर १३% नीचा था। इन सब आँकडो से विदित होता है कि प्रथम योजना काल मे राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय मे सन्तोषजनक वृद्धि हुई है। प्रथम योजना की इस सफलता को देख कर ही राष्ट्रीय आय के लक्ष्यो को कुछ ऊँचा कर दिया गया था।

(२) द्वितीय योजना (Second Plan)—द्वितीय पचवर्षीय योजना मे राष्ट्रीय आय मे २५% की वृद्धि का लक्ष्य रक्खा गया था। यह अनुमान था कि राष्ट्रीय आय प्रथम योजना के अन्त मे १०,८०० करोड रुपये से बढ कर दूसरी योजना के अन्तिम वर्ष मे १३,४८० करोड रुपये हो जायेगी। इसी प्रकार प्रति व्यक्ति आय (१६५२-५३ के मूल्यों के आधार पर) प्रथम योजना के अन्त मे २८१ रुपये से बढ कर दूसरी योजना के अन्त मे ३३१ रुपये हो जाने का अनुमान था। किन्तु योजना कमीशन के यह अनुमान सही साबित न हो सके। जनसख्या तेजी के साथ बढने तथा बचत व विनियोग की दर कम रह जाने के कारण राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि की दर निश्चित लक्ष्यो की अपेक्षा कम थी। दूसरी योजना काल मे राष्ट्रीय आय मे केवल २०% की वृद्धि हो सकी जबकि लक्ष्य २५% की वृद्धि का निश्चित किया गया था।

प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि केवल ६·७% की हुई जबकि लक्ष्य १०% की वृद्धि का था। इसका मुख्य कारण जनसख्या मे तेजी के साथ वृद्धि होना था।

(३) तृतीय योजना (Third Plan)—तृतीय योजना मे राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय के दीर्घकालीन लक्ष्यो मे भी परिवर्तन कर दिया गया। पीछे दी गई तालिका मे दीर्घकालीन लक्ष्य १९५२–५३ के मूल्यो के आधार पर निश्चित किये गये थे, किन्तु तीसरी योजना मे लक्ष्य १९६०–६१ के मूल्यो के आधार पर निश्चित किये गये हैं। नये लक्ष्य इस प्रकार है—

(सन् १९६०-६१ के मूल्यों के आधार पर)

•	तीसरी योजना के अन्त में	चौथी योजना के अन्त मे	पाँचवीं योजना के अन्त में
राष्ट्रीय आय	१९,००० करोड रु०	२५,००० करोड रु०	३३,००० करोड रु०
प्रति व्यक्ति आय	३८५ रु०	४५० रु०	५३० रु०

तृतीय योजना काल मे राष्ट्रीय मे ३०% तथा प्रति व्यक्ति आय मे १७% की वृद्धि का लक्ष्य रक्खा गया था किन्तु इस योजना के पहले दो वर्षो मे आर्थिक विकास की दर विशेष रूप से धीमी रही है जिसके कारण राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय मे बहुत कम वृद्धि हो सकी है। १९६१–६२ मे राष्ट्रीय आय मे २·६%, १९६२–६३ मे २·४% तथा १९६३–६४ मे ४·३% की वृद्धि हुई है जो ६% प्रतिवर्ष के लक्ष्य से बहुत कम है। योजना के चौथे और पांचवे वर्षो मे राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर के कुछ बढने की सम्भावना है किन्तु फिर भी निर्धारित लक्ष्यो को प्राप्त नही किया जा सकेगा।

(४) चौथी योजना (Fourth Plan)—चौथी योजना पर २१,५०० करोड रुपया व्यय किये जाने का अनुमान है। यदि साधनो की स्थिति अनुकूल रही तो इसमे १०० करोड रुपये की वृद्धि की जा सकती है। इस योजना काल मे राष्ट्रीय आय मे ६·५% प्रति वर्ष की वृद्धि होने का लक्ष्य रक्खा गया है। ऐसा अनुमान है कि तीसरी योजना के अन्त मे राष्ट्रीय आय १९००० करोड के स्थान पर १७,४०० करोड रुपये ही हो सकेगी। अतः यह आवश्यक है कि शेष दो योजनाओ मे प्रगति की औसत दर ७·५% प्रतिवर्ष होनी चाहिए। चतुर्थ योजना काल मे राष्ट्रीय आय मे ३५% की वृद्धि होने का अनुमान है।

भारत की राष्ट्रीय आय की अन्य देशों से तुलना—

यद्यपि पिछले वर्षो से हमारे देश मे आर्थिक नियोजन के द्वारा राष्ट्रीय आय मे वृद्धि का प्रयत्न किया जा रहा है और उसमे काफी सफलता भी मिली है किन्तु भारतवर्ष की राष्ट्रीय आय की अन्य देशो से तुलना करने से पता चलता है कि अभी हम बहुत पीछे है और हमारे देश मे तेजी से प्रगति होने की आवश्यकता है।

जनसंख्या के अधिक तेजी के साथ बढने के कारण हमारे यहां प्रति व्यक्ति आय मे अधिक वृद्धि करना सम्भव नही हो सका है। अभी भी एक औसत अमेरिकन की आय एक औसत भारतीय से ३१ गुना है तथा एक औसत अंग्रेज की १४ गुना है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि हमारा देश आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछडा हुआ है। अन्य देशो की अपेक्षा हमारी राष्ट्रीय आय कम है और उसमे वृद्धि की गति भी अपेक्षाकृत धीमी है तथा प्रति व्यक्ति आय तो बहुत ही कम है। नीचे दी गई तालिका मे भारत की राष्ट्रीय आय की तुलना कुछ अन्य देशो के साथ की गई है—

देश	वर्ष	जनसंख्या (करोडों में)	कुल राष्ट्रीय आय (करोड रुपयो मे)	प्रति व्यक्ति आय (रुपयों मे)
आस्ट्रेलिया	१९५३	० ८८	३,९२९	४,४६०
कनाडा	१९५४	१ ५२	९,१९९	६,०५६
फ्रास	१९५४	४ २७	१५,७५०	३,६८६
जापान	१९५४	८·८२	८,१२९	९२२
न्यूजीलैण्ड	१९५४	०·२१	१,०५८	५,०६२
स्विटजरलैण्ड	१९५४	०·५०	२,४०७	४,८१२
ब्रिटेन	१९५४	५ ११	२०,७२०	४,०५७
अमेरिका	१९५४	१६ २४	१,४२,६५७	८ ७०४
भारत	१९६३–६४	४३ ६	१३,९४०	३००·४

देश मे राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय मे तेजी से वृद्धि करने के लिए सभी दिशाओ मे उत्पादन मे वृद्धि की जानी चाहिए। कृषि, उद्योग तथा अन्य सभी व्यवसायो मे तेजी के साथ धन का उत्पादन होना आवश्यक है। देश मे विनियोग की मात्रा मे वृद्धि होनी चाहिए। यद्यपि पिछले वर्षो मे हमारे यहां विनियोग बढ कर राष्ट्रीय आय का १३% हो गया है किन्तु हमे २०% विनियोग करने के लक्षय को शीघ्र प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। जनसख्या वृद्धि पर नियन्त्रण किया जाना चाहिए। प्रति व्यक्ति आय मे पर्याप्त वृद्धि करने के लिए आवश्यक है कि देश मे तेजी के साथ बढती हुई जनसख्या को रोका जाय। हमारे देश मे सरकार *परिवार नियोजन के द्वारा जनसख्या की वृद्धि की दर को कम करने का प्रयत्न कर रही है* किन्तु इसमे अधिक सफलता नही मिल सकी है। कार्यक्षमता में वृद्धि के द्वारा भी राष्ट्रीय उत्पादन को तेजी के साथ बढाना सम्भव हो सकेगा। इसके लिए श्रमिकों की शिक्षा, स्वास्थ्य तथा चिकित्सा आदि का प्रबन्ध होना चाहिए। धन के वितरण की असमानताओ को दूर करना—समाज मे धन का समान वितरण तथा सब लोगो को उन्नति का समान अवसर मिलने से प्रगति के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा किया जा सकता है। इन सब उपायो के द्वारा हम लोगो की आय मे तेजी के साथ वृद्धि कर सकेंगे तथा उनके रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठा सकेंगे।

विषय-सूची

१

राजस्व-परिभाषा एवं महत्व

Public Finance-Definition and Importance

वर्तमान काल में राजस्व के अध्ययन का महत्व काफी बढ़ गया है और उसे अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। यद्यपि प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने राजस्व के अध्ययन की आवश्यकता पर जोर दिया है किन्तु एक विधिवत् विज्ञान के रूप में उसका विकास वर्तमान काल में ही हुआ है। ग्रीक (Greek) सभ्यता के प्राचीन काल में राज्य अर्थशास्त्र (Political Economy) मुख्यतया इस बात का अध्ययन करता था कि नगर राज्य (City States) किस प्रकार अपनी आय तथा व्यय का प्रबन्ध करते हैं। ऐडम स्मिथ तथा अन्य प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने भी अर्थशास्त्र के इस पक्ष के अध्ययन पर काफी बल दिया है और राजस्व के महत्व को स्पष्ट करने के लिए ही उन्होंने अर्थशास्त्र को राज्य अर्थशास्त्र (Political Economy) का नाम दिया था। ऐडम स्मिथ के अनुसार राज्य अर्थशास्त्र को उन साधनों तथा विधियों का अध्ययन करना चाहिये जिनके द्वारा कोई राज्य अपनी आय प्राप्त करता है तथा उसे समाज की भलाई के लिए व्यय करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत राजस्व का अध्ययन कोई नई बात नहीं है और वह काफी प्राचीन समय से ही अर्थशास्त्र के अध्ययन का एक भाग रहा है।

यद्यपि राजस्व विज्ञान उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव-समाज, किन्तु केवल वर्तमान काल में ही उसे एक विज्ञान का रूप दिया जा सका है और उसके क्षेत्र एवं महत्व को विस्तारपूर्वक समझाने का प्रयत्न किया गया है। राज्यों की स्थापना के साथ-साथ उनके खर्च को पूरा करने के लिये साधनों की आवश्यकता अनुभव हुई और राज्य की आय के स्रोतों की खोज की जाने लगी। इसके साथ ही राज्य की आय तथा व्यय का अध्ययन करने वाले शास्त्र की आवश्यकता भी अनुभव हुई। काफी समय तक राज्य की क्रियाओं के सीमित होने के कारण राजस्व सम्बन्धी समस्याओं के वैज्ञानिक अध्ययन पर अधिक जोर नहीं दिया गया और राजस्व विज्ञान केवल प्रारम्भिक अवस्था में ही रहा। वर्तमान काल में राज्य की क्रियाओं के विस्तृत हो जाने के कारण तथा प्रजातन्त्रीय प्रणाली के विकास के साथ-साथ राज्य की आय तथा व्यय के उचित प्रबन्ध की आवश्यकता अनुभव हुई और राजस्व सम्बन्धी समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाने लगा। वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने राजस्व के बढ़ते हुये महत्व के कारण उसे एक विधिवत् विज्ञान का रूप देने का प्रयत्न किया है।

राजस्व की परिभाषा :

राजस्व एक ऐसा विषय है जो अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्र की सीमाओं पर स्थित है। यद्यपि राजस्व का सम्बन्ध अर्थशास्त्र तथा राजनीति-शास्त्र दोनों से ही है किन्तु सामान्यतया उसे अर्थशास्त्र का ही अंग माना जाता है। राजस्व अर्थ-शास्त्र की वह शाखा है जो लोक सत्ताओं की आय तथा व्यय का अध्ययन करती है। वह इस बात का अध्ययन करता है कि राज्य सरकारें किस प्रकार अपनी आय प्राप्त करती है और कैसे उसका व्यय करती हैं। डॉ० डाल्टन (Dr. Dalton) के अनुसार "राजस्व लोक सत्ताओं की आय तथा व्यय का अध्ययन करता है और यह भी बतलाता है कि इन दोनों में किस प्रकार समायोजन किया जाता है।"[1] लोक सत्ताओं की वित्तीय समस्यायें राजस्व की विषय सामग्री है। यह लोक सत्ताओं की आय, व्यय तथा ऋणों का अध्ययन करता है। लोक सत्ताओं के अन्तर्गत नगरपालिकाओं से लेकर राष्ट्रीय सरकार तथा अन्तर्राष्ट्रीय सरकार सभी सम्मिलित हैं। लुट्ज (Lutz) ने राजस्व की परिभाषा इस प्रकार दी है—"राजस्व उन साधनों की प्राप्ति, संरक्षण तथा व्यय के विषय में बताता है, जिनकी सार्वजनिक अथवा सरकारी कार्यों को चलाने के लिये आवश्यकता होती है।"[2] आर्मिटेज स्मिथ के अनुसार, "सरकारी व्यय तथा आय के सिद्धान्तों की प्रकृति की जाँच करना ही राजस्व है।"[3] बैस्टाबल (Bastable) के अनुसार राजस्व का विषय इस बात का अध्ययन करना है कि राज्य को किस प्रकार धन प्राप्त होता है और वह किस प्रकार उसका व्यय करता है। फिन्डले शिराज (Findlay Shirras) ने राजस्व की परिभाषा बड़े सरल शब्दों में की है। उनके अनुसार, 'राजस्व सार्वजनिक संस्थाओं की आय तथा व्यय के सिद्धान्तों का अध्ययन है।"[4]

उपरोक्त सभी परिभाषाओं में राजस्व को राज्य सरकारों की आय तथा व्यय का अध्ययन करने वाला शास्त्र बतलाया गया है। यह इस बात का अध्ययन करता है कि सार्वजनिक संस्थायें किस प्रकार अपनी आय प्राप्त करती है और कैसे जनहित में उसका व्यय किया जाता है। अर्थशास्त्र की भांति ही राजस्व का उद्देश्य न्यूनतम लागत पर आर्थिक कल्याण को अधिकतम करना है। यद्यपि विभिन्न अर्थशास्त्रियों में

---

1. "Public Finance deals with the income and expenditure of public authorities and with the manner in which the one is adjusted with the other." —*Dalton*

2. "Public Finance deals with the provision, custody and disbursement of the resources needed for the conduct of public or governmental functions." —*H. L. Lutz*

3. "The investigations into the nature and principles of state expenditure and state revenue is called Public Finance. —*Armitage Smith*

4. "The study of the principles underlying the spending and raising of funds by public authorities." —*Findlay Shirras*

राजस्व की विषय सामग्री के बारे में कोई मौलिक भेद नहीं है किन्तु फिर भी कुछ अर्थशास्त्रियों ने राजस्व को केवल सरकारों की आय तथा व्यय के अध्ययन तक ही सीमित रक्खा है तथा कि कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों ने उनके क्षेत्र को विस्तृत कर दिया है और उनके अनुसार राजस्व समस्त सार्वजनिक संस्थाओं की आय तथा व्यय का अध्ययन है जिसमें सार्वजनिक सम्पत्तियाँ तथा अर्ध-सरकारी संस्थायें भी आ जाती है। किन्तु अब यह वाद-विवाद भी लगभग समाप्त हो गया है और अधिकांश अर्थशास्त्री इस बात से सहमत है कि राजस्व का सम्बन्ध केवल सरकारी आय तथा व्यय से है और अन्य प्रकार की संस्थाओं की आय तथा व्यय से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

राजस्व के विभाग :

अध्ययन की सुविधा के लिये राजस्व को चार भागों में बाँटा जा सकता है। यह विभाग परस्पर सम्बन्धित हैं और एक दूसरे पर निर्भर हैं। प्रत्येक विभाग की सविस्तार विवेचना करने से ही राजस्व की विषय-सामग्री को ठीक प्रकार समझा जा सकता है। राजस्व के यह विभाग इस प्रकार हैं--

(१) लोक व्यय (Public Expenditure)—लोक व्यय के अन्तर्गत सार्वजनिक व्यय से सम्बन्धित सिद्धान्तों तथा समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। सरकार को विभिन्न प्रकार के कार्यों को करने के लिये काफी बड़ी मात्रा में धन का व्यय करना पड़ता है। सार्वजनिक व्यय किन-किन मदों पर किया जाता है, यह व्यय किन सिद्धान्तों के अनुसार होना चाहिये और इसका देश की अर्थ-व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता है? इन सब बातों का अध्ययन लोक व्यय के अन्तर्गत किया जाता है। आजकल सार्वजनिक व्यय का महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है और उससे सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन राजस्व का मुख्य विषय बन गया है। वर्तमान सरकारों के द्वारा किये जाने वाले व्यय को किस प्रकार जनहित में किया जाय, यह लोक व्यय की प्रमुख समस्या है।

(२) लोक आय (Public Revenues)—राजस्व के इस विभाग के अन्तर्गत इस बात का अध्ययन किया जाता है कि राज्य सरकारें किस प्रकार अपने व्यय को पूरा करने के लिये आय प्राप्त करती हैं। सार्वजनिक व्यय के लिये सरकार को आय के साधन जुटाने होते हैं। यह आय किन-किन स्रोतों से प्राप्त की जाती है, सार्वजनिक आय के कौन के साधन उत्तम है तथा सार्वजनिक आय किन सिद्धान्तों के अनुसार प्राप्त की जानी चाहिये, इन सबका अध्ययन लोक आय के अन्तर्गत किया जाता है। संक्षेप में सरकारों के द्वारा आय प्राप्त करने से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन राजस्व के इस विभाग में होता है।

(३) लोक ऋण (Public Debt)—सार्वजनिक ऋणों का अध्ययन भी राजस्व का एक महत्वपूर्ण भाग है। यदि सरकारी आय व्यय की अपेक्षा कम रहती है तो सरकार को जनता से ऋण लेना पड़ता है। सार्वजनिक ऋण क्यों लिये जाते हैं

किन कामो के लिये सरकार को ऋण लेना चाहिये और किन के लिये नही, सार्वजनिक ऋणों का भुगतान किस प्रकार किया जाता है तथा सरकारी ऋणों का देश की अर्थ-व्यवस्था पर क्या प्रभाव पडता है ? इन सभी बातो का अध्ययन लोक ऋण विभाग मे किया जाता है। आजकल आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये सार्वजनिक ऋणो का स्थान काफी महत्वपूर्ण हो गया है। देशवासियो से तथा विदेशों से, सरकार के द्वारा भारी मात्रा मे ऋण लिये जाते है। इस प्रकार के ऋणो का जनहित मे किस प्रकार प्रबन्ध किया जाय, यह लोक ऋण की मुख्य समस्या है।

(४) सार्वजनिक प्रशासन (Public Administration)—सरकारी आय तथा व्यय का उचित प्रबन्ध करने के लिये सार्वजनिक प्रशासन की कार्यक्षमता काफी महत्व रखती है। अपनी आय को एकत्रित करने तथा राजस्व सम्बन्धी अन्य क्रियाओं को करने के लिये सरकार के द्वारा जो शासन व्यवस्था स्थापित की जाती है, उसका अध्ययन राजस्व के इस विभाग मे किया जाता है। सरकारी बजट का अध्ययन इस विभाग का मुख्य उद्देश्य है। सरकार की आय तथा व्यय का बजट किस प्रकार बनाया जाता है, बजट का सतुलन कैसे होता है, सार्वजनिक ऋणो का प्रबन्ध कैसे किया जाता है, सरकारी लेखो और उनके अकेक्षण का उत्तरदायित्व किन के ऊपर है, राजस्व की इन सब व्यवहारिक समस्याओ का अध्ययन सार्वजनिक प्रशासन विभाग मे किया जाता है।

उपरोक्त चारो विभाग राजस्व विज्ञान का अध्ययन क्षेत्र निश्चित करते हैं। पहले तीनो विभाग मुख्यत अर्थशास्त्र से सम्बन्धित हैं और उनकी विभिन्न समस्याओ का अध्ययन अर्थशास्त्र के अन्तर्गत होता है किन्तु चौथे विभाग का अध्ययन राजनीति-शास्त्र के भीतर आ जाता है, यद्यपि उसका कुछ भाग जो बजट व्यवस्था से सम्बन्धित होता है, उसका अध्ययन अर्थशास्त्र मे ही किया जाता है।

लोक तथा निजी अर्थ-प्रबन्ध का भेद

ऊपर से देखने मे दोनो प्रकार के अर्थ-प्रबन्धो मे कोई आधारभूत अन्तर नही दिखलाई पडता है। निजी और लोक अर्थ-प्रबन्ध लगभग एक ही प्रकार के सिद्धान्तो पर आधारित है और दोनो प्रकार के अर्थ-प्रबन्ध मे बहुत कम मौलिक भेद पाया जाता है। दोनो ही आय और व्यय से सम्बन्धित हैं और दोनो को ही आय तथा व्यय मे समायोजन स्थापित करने की समस्या का अध्ययन करना पडता है। दोनो मे आर्थिक प्रबन्ध का ठीक न होना भयकर परिणाम पैदा कर सकता है। दोनो प्रकार के अर्थ-प्रबन्धो को अधिकतम सन्तुष्टि के सिद्धान्त के अनुसार चलाया जाता है। एक व्यक्ति अपनी आय को इस प्रकार खर्च करने का प्रयत्न करता है कि उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो और सरकार भी अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से अपना व्यय करती है। इन सब समानताओ के होते हुये भी निजी अर्थ-प्रबन्ध और राजस्व को एक दूसरे के अनुरूप नही माना जा सकता है। दोनो मे कुछ

ऐसी विशेषताये है जो उन्हे एक दूसरे से अलग कर देती है। लोक तथा निजी अर्थ प्रबन्ध मे मुख्यतया निम्नलिखित भेद पाये जाते है:—

(१) एक व्यक्ति अपनी आय के अनुसार व्यय को निश्चित करता है किन्तु सरकार अपनी आय को व्यय के अनुसार निश्चित करती हैं। व्यक्तिगत अर्थ प्रबन्ध के अन्तर्गत व्यय आय के अनुसार ही किया जा सकता है क्योकि व्यक्ति की आय मे अधिक वृद्धि करना सभव नही होता है। निजी अर्थ प्रबन्ध मे आय की मात्रा व्यय की सीमा को निश्चित करती है किन्तु सरकार एकत्रित की जाने वाली आय की मात्रा को अपने व्यय के अनुसार निश्चित करती है। व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्ध मे आय की मात्रा निश्चित होती है और समस्या केवल व्यय को आय अनुसार करने की होती है। यदि व्यय अधिक होता है तो उसे घटा कर आय के बराबर कर दिया जाता है। किन्तु राजस्व मे पहले व्यय की मात्रा निश्चित की जाती है और फिर उसके लिये आय के साधनो की खोज की जाती है। ऐसा इसलिये होता है क्योकि सरकार अपनी आय को काफी सीमा तक बढा कर व्यय के बराबर कर सकती है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति अपने साधनो के अनुसार व्यय करता है और सरकार अपने व्यय के अनुसार साधनो को जुटाती है। यदि उपलब्ध साधन व्यय की आवश्यकता से कम होते हैं तो इस घाटे को अधिक कर लगाकर अथवा ऋण लेकर पूरा किया जाता है।

निजी अर्थ-प्रबन्ध और सार्वजनिक अर्थ-प्रबन्ध के इन भेद की कुछ सीमाये भी है। कभी-कभी व्यक्ति को भी अपने व्यय के अनुसार आय मे परिवर्तन करने पडते है। उदाहरणार्थ विवाह के पश्चात व्यक्ति को अपने बढे हुए व्यय को पूरा करने के लिये आय के नये साधनो की खोज करनी पडती है और वृद्ध अवस्था मे वह व्यय कम हो जाने के कारण कम घटे काम करने का निश्चय कर सकता है। सरकार को भी कुछ दशाओ मे अपने व्यय मे आय के अनुसार परिवर्तन करना पडता है। बुरे समय मे जब सरकार की आय कम होती है तो उसके लिये व्यय मे कमी करना अनिवार्य हो जाता है किन्तु समृद्धिकाल मे वह अपनी क्रियाओ का विस्तार कर सकती है।

(२) राजस्व के अन्तर्गत सरकार की आय के साधन बहुत अधिक लोचदार होते हैं किन्तु निजी अर्थ-प्रबन्ध मे आय के साधन लगभग बेलोचदार होते हैं। आय मे वृद्धि करने के लिये लोक सत्ता व्यक्ति की अपेक्षा बहुत अच्छी स्थिति मे होती है क्योकि उसके समक्ष पूरे समाज का धन होता है जिसमे से वह अपनी आय प्राप्त कर सकती है। इसके अतिरिक्त सरकार विदेशो से भी ऋण प्राप्त कर सकती है। यदि किसी वर्ष यह देखा जाता है कि सरकार की उपलब्ध आय अनुमानित व्यय से कम है तो इस घाटे को तीन प्रकार से पूरा किया जा सकता है। सरकार विदेशो से ऋण ले सकती है और इस घाटे को विदेशी ऋणो के द्वारा पूरा किया जा सकता है। अपने नागरिको से ऋण लेकर अथवा उन पर अधिक कर लगा कर भी सरकार अपनी

आय में वृद्धि कर सकती है। यदि इन साधनों से पर्याप्त आय नहीं मिलती है तो नये नोट छाप कर भी सरकार बजट के घाटे को दूर कर सकती है। किन्तु एक व्यक्ति को आय बढ़ाने के यह सब साधन उपलब्ध नहीं होते हैं इसलिये उसकी आय प्रायः बेलोच होती है।

(३) एक व्यक्ति अपनी आय को इस प्रकार खर्च करता है कि उसे विभिन्न मदों से सम-सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो. किन्तु सार्वजनिक व्यय के सम्बन्ध में इस उद्देश्य को बहुत कम प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि सार्वजनिक व्यय का उद्देश्य भी व्यक्तिगत व्यय की भांति अधिकतम सामाजिक सन्तुष्टि प्राप्त करना होता है किन्तु इसे वास्तव में पाना बहुत कम सम्भव होता है। जब व्यक्ति के द्वारा व्यय किया जाता है तो वह विभिन्न मदों में प्राप्त होने वाली उपयोगिता की तुलना कर सकता है किन्तु सरकारी व्यय के सम्बन्ध में कुछ व्यवहारिक कठिनाइयों के कारण इस प्रकार की तुलना करना सम्भव नहीं होता है। सरकार को, भावनावश, विशेष हितों की रक्षा करने के हेतु अथवा राजनैतिक दबाव के कारण प्रायः बेकार के खर्च करने पड़ जाते हैं जो सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार नहीं होते हैं और जिनके *कारण सार्वजनिक व्यय से अधिकतम सामाजिक सन्तुष्टि नहीं प्राप्त होती है।* इस प्रकार की प्रवृत्तियां नये प्रजातन्त्रीय देशों में अधिक पाई जाती हैं।

(४) अर्थ-प्रबन्ध में निजी दृष्टिकोण सरकारी दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक संकुचित तथा अल्पकालीन होता है। सरकारें व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक लम्बे समय तक रहती हैं इसलिये वे वित्तीय मामलों में अधिक दीर्घकालीन दृष्टिकोण अपनाती हैं। व्यक्ति, जीवन की अनिश्चितता के कारण केवल निकट भविष्य के बारे में ही सोच सकता है और उसका अर्थ-प्रबन्ध अधिक दीर्घकालीन नहीं होता है। अधिकांश व्यक्ति अधिक निकट भविष्य से आगे की नहीं सोच सकते हैं और इसलिये वे भविष्य को वर्तमान की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण समझते हैं। इसके विपरीत सरकार स्थाई तथा दीर्घकालीन योजनायें बना सकती है और सार्वजनिक व्यय करते समय उसे समाज की वर्तमान तथा भविष्य की आवश्यकताओं के बीच एक प्रकार का सतुलन बनाये रखना पड़ता है। लोक अर्थ-प्रबन्ध के अन्तर्गत उन योजनाओं पर भी व्यय करना आवश्यक होता है जिनसे तुरन्त कोई लाभ नहीं होता है किन्तु दीर्घकाल में वे राष्ट्र को उन्नत तथा शक्तिशाली बनाती हैं। इसी कारण वर्तमान सरकारें नये वन लगाने, सार्वजनिक निर्माण के कार्यों तथा सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं पर काफी धन व्यय करती हैं। सरकार को भविष्य के हितों का रक्षक माना जाता है और इसी लिये वह अर्थ-प्रबन्ध में दीर्घकालीन दृष्टिकोण अपनाती है।

(५) निजी अर्थ-प्रबन्ध में गोपनीयता रहती है किन्तु लोक अर्थ-प्रबन्ध में प्रचार को अधिक आवश्यक समझा जाता है। एक व्यक्ति सामान्यतया अपनी आय तथा व्यय सम्बन्धी बातें दूसरों को नहीं बतलाता है क्योंकि उसकी साख इसी गोपनीयता पर आधारित होती है। इसके विपरीत सरकारी आय तथा व्यय के बारे में

किसी प्रकार की गोपनीयता नहीं रक्खी जाती है और उसका अधिक से अधिक प्रचार किया जाता है जिससे सामान्य जनता को भी उसका ज्ञान कराया जा सके। सरकारी बजट प्रकाशित किये जाते हैं, जनता को उनकी आलोचना करने का अवसर दिया जाता है तथा उनमें परिवर्तन के लिये सुझाव मांगे जाते हैं। कभी-कभी ऐसे अवसर अवश्य आते हैं जब सरकार को भी अपनी आय तथा व्यय के सम्बन्ध में गोपनीयता रखनी पड़ती है। ऐसा प्राय युद्ध काल तथा अन्य प्रकार के आपत्ति काल में करना पड़ता है।

(६) निजी तथा सरकारी बजटों में मौलिक भेद पाया जाता है। एक व्यक्ति का बजट यदि बचत दिखलाता है तो वह उस व्यक्ति की दूरदर्शिता तथा कुशल अर्थ-प्रबन्ध को बतलाता है किन्तु सरकारी बजट में बचत का होना वित्त मन्त्री की अकुशलता का प्रतीक है। लोक वित्त में बजट का सतुलित होना ही अच्छा माना जाता है और उसमें अतिरेक का होना इस बात का प्रमाण है कि सरकार जनहित के लिये पर्याप्त व्यय नहीं कर रही है। कभी-कभी तो घाटे के बजट को ही देश के आर्थिक हित में समझा जाता है।

उपरोक्त बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लोक अर्थ-प्रबन्ध व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्ध से काफी भिन्न है। यद्यपि दोनों लगभग एक ही प्रकार के सिद्धांतों पर आधारित हैं किन्तु फिर भी उनकी प्रकृति भिन्न-भिन्न है। इसी अन्तर के कारण राजस्व के लिये एक पृथक शास्त्र की आवश्यकता होती है। दोनों की कार्य-विधि में ही अन्तर नहीं है बल्कि दोनों अलग-अलग दृष्टिकोण को लेकर चलते हैं। निजी अर्थ-प्रबन्ध व्यक्तिगत लाभ पर आधारित होता है। एक व्यक्ति अपनी आय तथा व्यय का प्रबन्ध इस प्रकार करता है कि उसे अधिकतम व्यक्तिगत लाभ प्राप्त हो सके किन्तु सरकार का दृष्टिकोण लाभ प्राप्त करने का नहीं होता है। लोक अर्थ-प्रबन्ध का उद्देश्य अधिकतम सार्वजनिक कल्याण होता है चाहे उसे प्राप्त करने में सरकार को हानि हो अथवा लाभ। इस प्रकार निजी तथा लोक अर्थ-प्रबन्ध को एक स्तर पर नहीं रक्खा जा सकता है।

राजस्व का सिद्धान्त :

राजस्व का उद्देश्य तथा उसे नियमित करने वाला सिद्धांत क्या होना चाहिये, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न रहा है। प्राचीन समय के सभी अर्थशास्त्री राज्य की आर्थिक तथा सामाजिक क्रियाओं को सीमित रखने के पक्ष में थे और उन्होंने यह बतलाया कि सरकार को कम से कम कर लगाने चाहिये और कम के कम व्यय करना चाहिये। इसी को वे राजस्व का सर्वोत्तम सिद्धान्त मानते थे। जे० बी० से (J. B Say) के अनुसार "अर्थ-प्रबन्ध की वही योजना सबसे उपयुक्त है, जिसमें न्यूनतम व्यय किया जाता है और सब करों में वही कर सबसे अच्छा है, जिसकी मात्रा सब से कम हो।" उस समय यह समझा जाता था कि सरकार के द्वारा कम से कम कर लगाये जाने

चाहिये और कर का भार लोगों में उनकी कर-दान क्षमता के अनुसार बांटा जाना चाहिये। प्राचीन विचारधारा के अनुसार प्रत्येक कर बुरा समझा जाता था। एक दूसरी धारणा यह थी कि सरकारी व्यय सदैव अनुत्पादक कार्यों के लिये किया जाता है जबकि व्यक्तिगत व्यय उत्पादक कार्यों के लिये होता है। यह दोनों ही विचार दोषपूर्ण थे। सभी कर आवश्यक रूप से बुरे नहीं होते हैं। ऐसे बहुत से कर हैं जिनसे समाज को लाभ होता है। शराब पर लगाया जाने वाला कर, शराब के उपभोग को रोकता है और उससे समाज को वास्तविक लाभ होता है। आयात करों से उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है जिससे राष्ट्रीय आय बढ़ती है। इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि सरकार एक व्यक्ति की अपेक्षा अच्छे उद्देश्यों के लिये व्यय करे। व्यक्ति अपने धन को शराब अथवा घुड़दौड़ आदि पर खर्च करके उसका अपव्यय कर सकता है किन्तु यदि उसी धन को सरकार कर के रूप में लेकर उससे बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करती है अथवा उस गरीबों की भलाई के लिये खर्च करती है तो उससे समाज की उत्पादन क्षमता बढ़ती है। किन्तु सभी करों को अच्छा भी नहीं कहा जा सकता है। कुछ ऐसे कर हैं जो वास्तव में समाज को हानि पहुँचाते हैं क्योंकि उनका धन के उत्पादन तथा बचत पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार सभी सरकारी व्यय अच्छा नहीं होता है अनावश्यक युद्ध पर किया जाने वाला व्यय समाज को बहुत हानि पहुंचा सकता है। कोई कर अच्छा है अथवा बुरा और सरकारी व्यय लाभ पूर्ण है अथवा नहीं, इसे जानने के लिये हम अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त का प्रयोग करना पड़ता है।

राजस्व का सही सिद्धान्त यह है कि सरकार को अपना अर्थ-प्रबन्ध इस प्रकार करना चाहिये जिससे समाज को अधिकतम लाभ प्राप्त हो। राजस्व में हमारा उद्देश्य यह जानना होना चाहिये कि सार्वजनिक आय तथा व्यय से जनता को कितना शुद्ध लाभ प्राप्त होता है। यह लाभ जितना अधिक से अधिक प्राप्त किया जा सके उतना ही अच्छा है। राज्य की क्रियाओं और उसके अर्थ-प्रबन्ध का आधार यह होना चाहिये कि सरकार जनता की भलाई के लिये होती है और उसकी क्रियाओं तथा व्यय को जाचने के लिये यह देखा जाना चाहिये कि उनसे समाज को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से कुछ लाभ होता है अथवा नहीं। यदि राजस्व को विज्ञान की एक शाखा के रूप में अध्ययन किया जाता है तो अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त उसका आधारभूत नियम होना चाहिये और राजस्व के अन्तर्गत की जाने वाली प्रत्येक क्रिया इसी सिद्धान्त के अनुसार की जानी चाहिये। राजस्व का उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करना होना चाहिये। धन को व्यय करते समय, करों को एकत्रित करते समय तथा सार्वजनिक ऋणों का प्रबन्ध करने में सरकार को समाज के अधिकतम लाभ का ध्यान रखना चाहिये।

अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त :

राजस्व को किस सिद्धान्त के अनुसार चलाया जाना चाहिये, इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में कुछ मतभेद रहा है। प्राचीन लेखकों ने न्यूनतम सामूहिक त्याग के

सिद्धान्त (Principle of Least Aggregate Sacrifice) को राजस्व का आधार माना है। कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों ने राजस्व सम्बन्धी क्रियाओं को मितव्ययिता के सिद्धान्त के अनुसार चलाये जाने की बात कही। किन्तु यह दोनों ही सिद्धान्त प्राचीन विचारधारा पर आधारित हैं जब सरकार का कार्य क्षेत्र सीमित होता था और राज्य द्वारा किये जाने वाले व्यय को मितव्ययिता पूर्ण नहीं समझा जाता था। अब परिस्थिति बदल चुकी है और इन दोनों में से कोई भी सिद्धान्त राजस्व का आधार नहीं हो सकता है।

वर्तमान अर्थशास्त्रियों के अनुसार राजस्व का सिद्धान्त अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त होना चाहिये। इस सिद्धान्त का निर्माण सर्वप्रथम डा० डाल्टन ने किया। उनके अनुसार सरकारी आय तथा व्यय से सामूहिक फल के रूप में समाज को अधिकतम लाभ प्राप्त होना चाहिये। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार को अपना अर्थ-प्रबन्ध इस प्रकार करना चाहिये जिससे समाज को अधिकतम लाभ प्राप्त हो। यह नियम व्यक्तिगत व्यय के अधिकतम सन्तुष्टि नियम का ही एक रूप है। जिस प्रकार एक व्यक्ति अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिये अपने व्यय को विभिन्न मदों पर इस प्रकार फैलाता है कि उसे सम-सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो, इसी प्रकार सरकार को भी अपने व्यय से अधिकतम सामाजिक सन्तुष्टि प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये और उसे अपने सम्पूर्ण व्यय को विभिन्न मदों (जैसे सुरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य, समाज सेवाओं आदि) पर इस प्रकार बाटना चाहिये कि प्रत्येक पर किये जाने वाले सीमान्त व्यय से बराबर सामाजिक उपयोगिता प्राप्त हो क्योंकि तभी अधिकतम सामाजिक लाभ के उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकेगा। यदि यह देखा जाता है कि सुरक्षा पर आवश्यकता से अधिक धन व्यय हो रहा है और स्वास्थ्य तथा शिक्षा विभागों पर धन की बहुत कमी है तो ऐसी स्थिति में सुरक्षा से थोडा व्यय हटाकर शिक्षा तथा स्वास्थ्य पर किया जाना चाहिये, ऐसा करने से सामाजिक लाभ में वृद्धि की जा सकेगी। यदि यह देखा जाता है कि कर इस प्रकार एकत्रित किये जा रहे है कि उनसे धन के उत्पादन पर बुरा प्रभाव पडता है अथवा उनका भार अमीरों की अपेक्षा गरीबों पर अधिक पडता है तो ऐसी दशा मे कर नीति मे परिवर्तन होना चाहिये।

सरकार के द्वारा आय प्राप्त करने अथवा व्यय करने का परिणाम सदा ही क्रय शक्ति का हस्तातरण होता है। जब सरकार कर लगाकर अथवा अन्य विधियों से आय प्राप्त करती है तो क्रय शक्ति जनता से सरकार को हस्तातरित हो जाती है और जब सरकार द्वारा व्यय किया जाता है तो वही क्रयशक्ति फिर जनता के पास लौट आती है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह उन्ही लोगो के पास लौटे जिनसे कि ली गई थी। इस प्रकार सरकारी आय तथा व्यय समाज के विभिन्न वर्गों के बीच क्रयशक्ति को हस्तातरित करते हैं जिसके कारण धन के उत्पादन और वितरण मे महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। वह परिवर्तन कहाँ तक सामाजिक लाभ को बढाते हैं, इसी आधार

पर उनकी उपयोगिता निश्चित की जाती है। यदि इन परिवर्तनों से सामाजिक लाभ मे वृद्धि होती है तो सरकारी आय तथा व्यय अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त के अनुकूल है अन्यथा नही।

इस सम्बन्ध मे हमे यह ध्यान रखना चाहिये कि कर की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई समाज के ऊपर पहली की अपेक्षा अधिक भार डालती है। इसी प्रकार सरकार के द्वारा किया जाने वाला प्रत्येक अतिरिक्त व्यय समाज को पहले की अपेक्षा कम उपयोगिता देता है। करो मे वृद्धि लोगो के द्वारा किये जाने वाले त्याग को बढाती है और सरकारी व्यय के बढने से उन्हे घटती हुई उपयोगिता प्राप्त होती है। सामाजिक लाभ को अधिकतम करने के लिये यह आवश्यक है कि करो को और सरकारी व्यय को उसी सीमा तक बढाना चाहिये जहाँ पर कर की एक और इकाई के कारण किया जाने वाला त्याग, व्यय की एक और इकाई मे प्राप्त होने वाली उपयोगिता के ठीक बराबर हो। जहाँ पर अतिरिक्त कर के लिय किया जाने वाला त्याग अतिरिक्त व्यय मे प्राप्त होने वाली उपयोगिता के साथ सतुलित हो जाता है, वही पर सामाजिक लाभ अधिकतम होता है। जब तक करो के लिय किया जाने वाला सीमान्त सामाजिक त्याग कम होता है और व्यय से प्राप्त होने वाली सीमान्त सामाजिक उपयोगिता अधिक, तब तक कर और व्यय दोनो को बढाते रहना चाहिये। किन्तु जब दोनो एक दूसरे के बराबर हो जाँय तो उसके पश्चात करो म अथवा सरकारी व्यय म वृद्धि नही की जानी चाहिये अन्यथा प्राप्त होने वाला सामाजिक लाभ कम हो जायगा। सामाजिक लाभ अधिकतम वही होता है जहाँ पर करो के लिये किया जाने वाला सीमान्त सामाजिक त्याग और सरकारी व्यय से प्राप्त होने वाली सीमान्त सामाजिक उपयोगिता ठीक एक दूसरे के बराबर होत है। इसी को अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त कहते हैं।

सार्वजनिक व्यय को उतना ही बढाना चाहिये कि सब दिशाओ मे किये जाने वाले व्यय से सीमान्त सामाजिक लाभ बराबर हो और वह अतिरिक्त आय प्राप्त करने के कारण होने वाले सीमान्त सामाजिक त्याग के साथ सन्तुलित हो जाय। केवल ऐसी दशा मे ही सार्वजनिक व्यय से अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त किया जा सकेगा। किन्तु करो के सीमान्त त्याग और व्यय की सीमान्त उपयोगिता को सतुलित करने मे अनेक व्यवहारिक कठिनाइयाँ आती है। व्यय की सीमान्त उपयोगिता को नापना जितना कठिन है उतना ही करो के सीमान्त त्याग का अनुमान लगाना। हमे देखना तो यह होता है कि राजस्व के अन्तगत की जाने वाली समस्त क्रियाओ का सामूहिक प्रभाव क्या पडता है ? क्या उनके कारण सामाजिक लाभ अधिकतम होता है अथवा नहीं ?

इस सिद्धान्त को कार्यरूप म लाते समय, सामाजिक लाभ को जाचने के लिये निम्नलिखित बातो का प्रयोग किया जा सकता है—

(१) समाज को विदेशी आक्रमणों तथा आन्तरिक झगडों से सुरक्षा करने की आवश्यकता—समाज को सुरक्षित रखने के लिये जो भी व्यय किया जाता है वह

अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त के अनुकूल है। सैनिक शक्ति तथा पुलिस इत्यादि पर किया जाने वाला व्यय सामाजिक लाभ को बढ़ाता है क्योंकि उससे समाज की रक्षा होती है।

सामाजिक लाभ को आर्थिक दृष्टिकोण से भी नापा जा सकता है। इसके लिये दो बातों का ध्यान रखना जाना चाहिये—उत्पादन में वृद्धि तथा धन के वितरण में सुधार।

(२) धन के उत्पादन में वृद्धि—यदि सरकारी व्यय इस प्रकार किया जाता है कि उससे श्रमिकों की कुशलता बढ़ती है और धन के उत्पादन में वृद्धि होती है तो वह अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त के अनुकूल है। उत्पादन व्यवस्था में सुधार करके, साधनों के अपव्यय को कम करके, प्रति व्यक्ति उत्पादन को बढ़ाकर अथवा बेरोजगारी को दूर करके यदि उत्पादन में वृद्धि की जाती है तो इस पर किया जाने वाला सरकारी व्यय सामाजिक लाभ में वृद्धि करता है।

(३) धन के वितरण में सुधार—यदि सरकारी आय प्राप्त करने से तथा उसका व्यय करने से धन के वितरण की असमानताओं को कम किया जाता है तो वे सामाजिक लाभ को बढ़ाती है किन्तु यदि इनका परिणाम धन के वितरण की असमानताओं को बढ़ाने का होता है तो इन्हें अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं कहा जा सकता है।

इनके अतिरिक्त इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिये कि सरकार भविष्य के हितों की संरक्षक होती है। समाज निरंतर जीवित रहता है इसलिये सार्वजनिक व्यय को करते समय भविष्य के हितों को भी ध्यान में रखना चाहिये। सरकार को चाहिये कि वह भविष्य में प्राप्त होने वाले अधिक सामाजिक लाभ को वर्तमान में मिलने वाले कम सामाजिक लाभ पर प्राथमिकता दे। यदि सार्वजनिक व्यय इस दृष्टिकोण से किया जाता है तो उससे सामाजिक लाभ में वृद्धि होगी।

२

लोक व्यय

Public Expenditure

सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त का विकास वर्तमान काल मे ही हुआ है। प्राचीन अर्थशास्त्री लोक व्यय की वृद्धि के पक्ष मे नही थे और उनका सरकारी व्यय के सम्बन्ध मे एक ही सिद्धान्त था कि, 'उसे जितना कम से कम रक्खा जाय उतना ही अच्छा है।' सरकार का कार्यक्षेत्र अत्यन्त सकुचित होने के कारण उस समय लोक-व्यय के सिद्धान्त के अध्ययन की कोई आवश्यकता नही समझी जाती थी। उन्नीसवी शताब्दी तक सरकार के कार्यों को कम से कम रखने का प्रयत्न किया गया। केवल शांति तथा सुरक्षा को बनाए रखना ही सरकार का एकमात्र कर्तव्य समझा जाता था। एडम स्मिथ (Adam Smith) तथा उनके साथियों ने आर्थिक एव सामाजिक जीवन मे सरकार के द्वारा किसी प्रकार का हस्तक्षेप किये जाने का विरोध किया। यह समझा जाता था कि व्यक्ति सरकार की अपेक्षा धन का व्यय अधिक अच्छी प्रकार से करता है। इसलिए सार्वजनिक व्यय को कम से कम रखने की बात कही जाती थी।

प्रजातन्त्रीय शासन तथा कल्याणकारी राज्यो के विकास के साथ-साथ सरकार के कार्य क्षेत्र मे वृद्धि होने लगी और उसके साथ लोक व्यय का महत्व भी बढ़ता गया। जर्मन अर्थशास्त्रियों ने सर्वप्रथम व्यक्तिवादी विचारधारा का विरोध किया और आर्थिक तथा सामाजिक जीवन मे सरकारी हस्तक्षेप को आवश्यक बतलाया। वैगनर (Wagner) के द्वारा 'सरकार की बढ़ती हुई क्रियाओं' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। उन्होने बतलाया कि सरकार के कार्य बहुत अधिक बढ गये है। कुछ कार्य सरकार के द्वारा अनिवार्य रूप से किये जाने चाहिये क्योंकि उन्हे किसी व्यक्ति के द्वारा नही किया जा सकता है। सार्वजनिक स्वास्थ्य, नि शुल्क शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा, आदि कुछ इसी प्रकार के कार्य है। इन विचारो के परिणामस्वरूप सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों मे सरकार के कार्यों मे व्यापक वृद्धि हुई। बीसवी शताब्दी मे व्यक्तिवाद का सिद्धांत कमजोर पड गया और यह समझा जाने लगा कि सरकार का कार्यक्षेत्र केवल शान्ति एव सुरक्षा की स्थापना तक ही सीमित नही है बल्कि उसे विभिन्न प्रकार की आर्थिक तथा सामाजिक सेवाओ का प्रबन्ध भी करना चाहिये।

सरकार के इस बढते हुये उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिये अधिक मात्रा में सार्वजनिक व्यय की आवश्यकता पडी और धीरे-धीरे उसका महत्व बढने लगा।

वर्तमान विचारधारा के अनुसार सरकार को आर्थिक तथा सामाजिक जीवन को सुधारने में महत्वपूर्ण योग देना चाहिये। कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि सरकार विभिन्न प्रकार की समाज सेवाओं का प्रबन्ध करे तथा उन उद्योगों को स्वयं चलाये जिनको व्यक्तिगत आधार पर न चलाया जा सकता हो अथवा जिन्हें व्यक्तियों के हाथों में छोड़ना समाज की दृष्टि से उचित न हो। इस प्रकार आधुनिक सरकारों के कार्यों में काफी वृद्धि हो गई है और वे निरन्तर बढ़ते ही जा रहे हैं। इन बढ़ते हुये कामों को पूरा करने के लिये सार्वजनिक व्यय भी तेजी के साथ बढ़ रहा है। आजकल यह समझा जाता है कि सार्वजनिक व्यय यदि ठीक प्रकार से किया जाय तो उससे समाज को बहुत लाभ हो सकता है। प्रो० कीन्ज (Keynes) के अनुसार सार्वजनिक व्यय ही एक साधन है जिसके द्वारा पूर्ण रोजगार स्थापित किया जा सकता है। अतः यह कहा जा सकता है कि सार्वजनिक व्यय किसी समाज के लिये बुरा नहीं है बल्कि वह उसकी आर्थिक नीति का एक भाग होना चाहिये।

सार्वजनिक व्यय सरकार के द्वारा विभिन्न प्रकार के कार्यों को पूरा करने के लिये किया जाता है। सर्वप्रथम सरकार को बहुत से ऐसे कार्य करने होते हैं जिन्हें पूरा करना आरम्भ काल से ही सरकार का कर्तव्य रहा है। इन्हें सरकार के प्रारम्भिक कार्य कहा जा सकता है। इनके अन्तर्गत शान्ति तथा सुरक्षा की व्यवस्था करना, न्याय का प्रबन्ध करना तथा ऋण सेवाएँ आदि आ जाते हैं। वर्तमान सरकारें देश की रक्षा के लिए अपनी आय का काफी बड़ा भाग खर्च करती है। आन्तरिक शान्ति को बनाए रखने तथा न्याय का प्रबन्ध करने पर भी सरकार के व्यय में काफी वृद्धि हुई है। बहुत-सा रुपया सरकार को सार्वजनिक ऋणों के प्रबन्ध तथा उन पर सूद आदि के भुगतान के लिये खर्च करना पड़ता है। इन प्रारम्भिक कार्यों के अतिरिक्त भी सरकार को कुछ अन्य प्रकार के कार्य करने पड़ते है जिनकी उत्पत्ति आर्थिक तथा सामाजिक विकास के साथ-साथ हुई है। इसके अन्तर्गत बहुत सी प्रकार की समाज सेवाएं आ जाती है जिनका प्रबन्ध करना सरकार के लिये अनिवार्य हो गया है। वर्तमान सरकारों का काफी बड़ा व्यय शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा तथा अन्य प्रकार की समाज सेवाओं का प्रबन्ध करने पर किया जाता है। आर्थिक विकास की आवश्यकता ने सरकारों के लिये यह भी जरूरी कर दिया है कि वे सार्वजनिक व्यवसायों का विकास तथा प्रबंध करें जिसके अन्तर्गत सार्वजनिक सेवाएं, यातायात, संदेश-वाहन, सिंचाई तथा सार्वजनिक क्षेत्र में चलने वाले उद्योग आ जाते है।

लोक व्यय मे वृद्धि के कारण!

वर्तमान काल मे सार्वजनिक व्यय तेजी के साथ बढ़ता जा रहा है। सभी देशों में कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की स्थापना के लिये प्रयत्न किये जा रहे है जिसके कारण सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में राज्य के कार्यों में निरंतर वृद्धि हुई है। अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि सरकार को केवल बाह्य तथा

आन्तरिक भय से ही देश की रक्षा नहीं करती है बल्कि उसे अपनी कल्याणकारी सेवाओं का विकास करके लोगों के जीवन को भी सुधारना चाहिये। वर्तमान काल में बीमार, वृद्ध, निर्धन तथा बेकार लोगों की देखभाल करना समाज का कर्तव्य समझा जाता है। सरकार का यह उत्तरदायित्व है कि वह प्रत्येक नागरिक के लिये प्रारम्भिक आवश्यकताओं–पर्याप्त भोजन, रहने का प्रबन्ध, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि का उचित प्रबन्ध करे। सरकार की इस बढ़ती हुई जिम्मेदारी को पूरा करने के लिये अधिकाधिक मात्रा में लोकव्यय किया जा रहा है। लोकव्यय के बढ़ने की यह प्रवृत्ति विश्वव्यापी है। विगत वर्षों में सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होने के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) क्षेत्र तथा जनसंख्या में वृद्धि (Increase in Area and Population)—सार्वजनिक व्यय के बढ़ने का मुख्य कारण राष्ट्रों के क्षेत्र तथा जनसंख्या में वृद्धि होना है। किसी भी सरकार का व्यय देश के क्षेत्रफल तथा जनसंख्या की मात्रा पर निर्भर होता है। राष्ट्र का क्षेत्रफल जितना छोटा होता है तथा जनसंख्या जितनी कम होती है उतना ही वहाँ की सरकार को कम व्यय करना पड़ता है। आधुनिक काल में राज्यों के क्षेत्रफल में काफी वृद्धि हुई है जिसके कारण उनका सुरक्षा आदि पर व्यय बढ़ गया है। इसके अतिरिक्त सभी देशों की जनसंख्या पहले की अपेक्षा काफी बढ़ गई है और वह निरन्तर बढ़ती जा रही है। जिसके कारण सरकार को अधिक लोगों के लिये सामाजिक सेवाओं का प्रबन्ध करना पड़ता है। ऐसी दशा में सार्वजनिक व्यय का तेजी के साथ बढ़ना स्वाभाविक है इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि जनसंख्या के बढ़ने के साथ साथ सरकार का प्रति व्यक्ति भी बढ़ता है।

(२) सुरक्षा तथा युद्ध का बढ़ता हुआ व्यय (Increased Expenditure on Defence and Wars)—वर्तमान सरकारों का सुरक्षा सम्बन्धी व्यय काफी तेजी के साथ बढ़ रहा है। विश्वव्यापी युद्धों का बार-बार होना तथा युद्ध की सम्भावना के निरन्तर बने रहने के कारण सभी देशों को अपनी रक्षा के लिये काफी बड़ी मात्रा में व्यय करना पड़ता है। बड़े-बड़े राष्ट्र अपनी शक्ति को बनाए रखने के लिये तथा दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण करने के लिये बहुत बड़ी मात्रा में सेनाओं तथा युद्ध सामग्री का प्रबन्ध करते हैं। छोटे राष्ट्रों को अपनी सुरक्षा के लिये अनिवार्य रूप से सैनिक व्यय करना पड़ता है। तटस्थ देशों को भी सैनिक दृष्टि से हर समय तैयार रहना होता है जिस से कि कोई उन पर आसानी से आक्रमण न कर सके। इस प्रकार सभी राष्ट्रों के रक्षा तथा युद्ध सम्बन्धी व्यय में भारी वृद्धि हुई है। आज के युद्ध काफी महँगे पड़ते हैं। नये नये हथियारों के विकास ने युद्ध का रूप ही बदल दिया है जिसके कारण वर्तमान युद्धों पर असीमित मात्रा में धन व्यय किया जाता है।

(३) कल्याणकारी सेवाएँ (Welfare Activities)—आजकल सरकार को आर्थिक तथा सामाजिक कल्याण का साधन माना जाता है। यह समझा जाने लगा है

कि लोक व्यय के द्वारा सरकार बहुत सी आर्थिक तथा सामाजिक बुराइयों को दूर कर सकती है। समाजवादी प्रवृत्तियो के कारण सरकार को जनता के स्वास्थ्य तथा शिक्षा की व्यवस्था, सस्ता खाना तथा मकान, निःशुल्क डाक्टरी सहायता, बुढ़ापे की पेन्शन, बेकारी का भत्ता तथा अन्य प्रकार की कल्याणकारी सेवाओं का प्रबन्ध करना होता है। इन सब सामाजिक सेवाओ पर सरकार का व्यय बडी तीव्र गति से बढ़ रहा है।

(४) आर्थिक विकास तथा नियोजन (Economic Development and Planning)—वर्तमान समय मे आर्थिक विकास को सरकार की जिम्मेदारी समझा जाने लगा है और इसके लिये बहुत सी सरकारें प्रयत्नशील हैं। रूस मे नियोजन की सफलता को देखकर अल्पविकसित देशो में यह अनुभव किया जाने लगा है कि वे भी आर्थिक नियोजन के द्वारा अपने रहन सहन के स्तर को ऊँचा उठा सकते हैं। बहुत से देशो मे आर्थिक विकास के लिये बडी-बडी योजनाएँ बनाई जा रही है जिन पर सरकार को बहुत बडी मात्रा मे व्यय करना पडता है। कृषि, उद्योग तथा यातायात आदि के विकास पर सार्वजनिक व्यय बडी तेजी के साथ बढ रहा है।

(५) राष्ट्रीय आय तथा रहन-सहन के स्तर मे वृद्धि (Rise in National Income & Standard of Living)—लगभग सभी देशो मे प्राकृतिक साधनों के पूर्ण शोषण के द्वारा अधिकाधिक मात्रा मे धन पैदा किया जा रहा है। कृषि तथा उद्योग दोनो की उत्पादन क्षमता मे वृद्धि हुई है जिसके कारण सभी देशो मे राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय बढ गई है। पहले की अपेक्षा अब लोगो में अधिक करदान क्षमता है और लोक आय बढती जा रही है। लोक आगम की इस निरंतर वृद्धि ने भी काफी सीमा तक लोक व्यय को प्रोत्साहित किया है।

(६) प्रजातन्त्रवाद का भार (Incidence of Democracy) – प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली के विकास के साथ-साथ लोक व्यय मे काफी वृद्धि हुई है। प्रजातन्त्रीय प्रणाली राजनैतिक दलो पर आधारित होती है। इसमे से प्रत्येक दल जनता का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और इसके लिये वह लोक व्यय के द्वारा लोगो को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाना चाहता है। विभिन्न राजनैतिक दल सरकार से सार्वजनिक भलाई के कामो पर अधिक से अधिक व्यय करने की माग करते रहते हैं। प्रजातन्त्रीय प्रणाली के कारण सरकार को शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सामाजिक सुरक्षा आदि पर अधिकाधिक व्यय करना पडता है क्योंकि इसके बिना वे जनता को सन्तुष्ट नही कर सकते है। यही कारण है कि सरकार के सार्वजनिक कार्यो मे गहन तथा विस्तृत दोनो प्रकार की वृद्धि हुई है।

(७) नागरिक प्रशासन के व्यय में वृद्धि (Increasing Civil Expenditure)—लोकतन्त्रीय संस्थाओ के विकास के साथ-साथ सरकार को चुनाव, राज्य सभाओं, मन्त्रि-मण्डलो तथा विभिन्न प्रकार की कमेटियो पर काफी व्यय करना पडता है। प्रशासन सम्बन्धी व्यय के बढने का एक अन्य कारण सरकार के कार्यो मे वृद्धि होना

है जिन्हे पूरा करने के लिये एक विस्तृत प्रशासन व्यवस्था की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक व्यय पर ठीक नियन्त्रण न होने के कारण बहुत सा धन बेकार व्यय हो जाता है। निरन्तर बढ़ता हुआ मूल्य स्तर भी प्रशासन व्यय मे वृद्धि का कारण है। सरकार को बार-बार अपने कर्मचारियो का वेतन तथा महँगाई भत्ता बढ़ाना पडता है जिसके कारण सरकारी व्यय बढ जाता है। मूल्य स्तर ऊंचा होने पर सरकार का व्यय इसलिये भी बढ जाता है क्योंकि उसे सभी सामान बढे हुये मूल्यों पर खरीदना पड़ता है।

उपरोक्त सभी कारणों से सार्वजनिक व्यय मे निरंतर वृद्धि होती जा रही है और वर्तमान विचारधारा के अनुसार इसे समाज के लिए अच्छा समझा जाता है। किन्तु फिर भी लोक व्यय को किसी भी सीमा तक बढने देना उचित नहीं है। लोक व्यय को कहा तक बढने दिया जाय या उसकी क्या सीमा होनी चाहिये, अर्थात् राष्ट्रीय आय का अधिक से अधिक कितना प्रतिशत लोक व्यय होना चाहिये, इन प्रश्नो का उत्तर आसानी से नही दिया जा सकता है। राष्ट्रीय आय के किसी निश्चित प्रतिशत को लोक व्यय की सीमा नही कहा जा सकता है। किसी भी राष्ट्र के लोक व्यय की मात्रा वहाँ की परिस्थितियों पर निर्भर होती है। देश की जनसख्या, आर्थिक विकास की स्थिति, सरकार के प्रति जनता का विश्वास, लोगो की करदान क्षमता, सरकार के उद्देश्य तथा कर्त्तव्य आदि अनेक बातों का लोक व्यय की मात्रा पर प्रभाव पड़ता है।

सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि करना समाज के लिये लाभपूर्ण हो सकता है किन्तु एक सीमा के पश्चात् यदि उसे बढाया जाता है तो वह सामाजिक लाभ को कम कर सकता है। सार्वजनिक व्यय भी 'अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त' (Theory of Maximum Social Advantage) के अनुसार किया जाना चाहिये। लोक व्यय को उसी सीमा तक बढाना चाहिय जहा तक कि उसमे वृद्धि करने से सामाजिक लाभ बढता हो। डॉ० डाल्टन के अनुसार, "सार्वजनिक व्यय को वहाँ तक बढाना चाहिये जहाँ पर सब दिशाओं मे किये जाने वाले लोक व्यय से प्राप्त सीमान्त सामाजिक लाभ सब प्रकार के तरीकों से अतिरिक्त आय इकट्ठा करने से उत्पन्न सीमान्त सामाजिक अनुपयोगिता अथवा कष्ट के ठीक बराबर हो जाय और उसके साथ सन्तुलित हो जाय।"[1]

लोक व्यय के सिद्धान्त

लोक व्यय को नियन्त्रित करने का सामान्य सिद्धान्त यह होना चाहिये कि जो भी व्यय किया जाय उससे अधिकतम कुल लाभ प्राप्त हो। दूसरे शब्दो मे

1 "Public expenditure should be carried just so far that the marginal social advantages of expenditure in all directions are equal, and just balance the marginal social disadvantages of all methods of raising additional public incomes." —*Dalton*

अधिकतम सामाजिक लाभ (Maximum Social Advantage) के सिद्धान्त के अनुसार ही लोक व्यय को सामान्यतः नियन्त्रित किया जाना चाहिये। व्यवहारिक दृष्टि से इस सम्बन्ध मे कुछ नियम बनाए जा सकते है जिनका पालन सरकार को लोक व्यय करते समय करना चाहिये। फिन्डले शिराज (Findlay Shirras) ने लोक व्यय के निम्नलिखित नियम बतलाये है —

(१) लाभ का सिद्धांत (Canon of Benefit) :—इस सिद्धात के अनुसार लोक व्यय सम्पूर्ण समाज के लाभ के लिये किया जाना चाहिये। किसी विशेष वर्ग अथवा व्यक्ति के हित को ध्यान मे रखकर इस प्रकार का व्यय नही होना चाहिये। लोक व्यय को इस प्रकार करना चाहिये कि उससे समाज को अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो। सक्षेप मे सार्वजनिक व्यय 'अधिकतम सामाजिक लाभ' के सिद्धात के अनुसार किया जाना चाहिये। रुपये का व्यय जनहित को बढाने के लिए होना चाहिये और उसके परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के सामाजिक लाभ प्राप्त होने चाहिये जैसे अधिक उत्पादन, समाज की रक्षा, आय के वितरण की असमानता को दूर करना इत्यादि। विभिन्न मदो पर होने वाले व्यय से प्राप्त लाभ की तुलना करके सार्वजनिक व्यय को विभिन्न प्रकार के कामो पर ठीक से बाँटा जाना चाहिये। निकलसन (Nicholson) के अनुसार 'उपयोगितावादी सिद्धान्त के आधार पर लोक व्यय का आदर्श तब प्राप्त किया जा सकता है जब प्रत्येक मद पर किए जाने वाले सीमान्त व्यय से प्राप्त सामाजिक उपयोगिता बराबर हो।"[2]

(२) मितव्ययिता का सिद्धात (Canon of Economy) :—इस सिद्धात के अनुसार सरकार को अपना व्यय करते समय मितव्ययिता से काम लेना चाहिए और जहा तक सभव हो सके बेकार के खर्च से बचना चाहिये। किसी भी व्यय की मद पर सरकार को उसमे अधिक व्यय नही करना चाहिए जितना कि उस पर आवश्यक है। करदाताओ से प्राप्त आय को लापरवाही से खर्च नही किया जाना चाहिये। सार्वजनिक व्यय के सम्बन्ध मे मितव्ययिता के सिद्धान्त का विशेष महत्व है क्योकि सरकारी कर्मचारी दूसरो के धन का व्यय करते हैं। इसलिये इस सम्बन्ध मे उनका लापरवाह होना स्वाभाविक है। मितव्ययिता प्राप्त करने के लिये खर्च के दोहराव से बचना चाहिये तथा बेकार के खर्चों को नही होने देना चाहिये। अपव्यय को रोकने के लिये लोक व्यय पर तथा सरकारी कर्मचारियो पर पूरा नियन्त्रण रहना चाहिये।

सार्वजनिक व्यय को इस प्रकार किया जाना चाहिये कि उससे समाज की उत्पादन शक्ति का विकास हो। उत्पादन शक्ति तथा बचत करने की क्षमता पर इस का बुरा प्रभाव नही पडना चाहिये। लोक व्यय के परिणामस्वरूप भविष्य मे आय

---

2 "The ideal of public expenditure on the utilitarian principle would be attained when the public utility of the marginal expenditure in each case is equal." —*Nicholson.*

बढ़नी चाहिये, उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं होनी चाहिए। लोक व्यय का वर्तमान तथा भविष्य की आवश्यकताओं के बीच ठीक बँटवारा होना चाहिये। यदि लोक व्यय का उत्पादन अथवा लोगों की बचत पर बुरा प्रभाव पड़ता है तो वह मितव्यायिता के सिद्धांत के विरुद्ध होगा।

(३) **स्वीकृति का सिद्धांत** (Canon of Sanction) :—इस सिद्धान्त के अनुसार व्यय करने वाले अधिकारियों को व्यय करने से पूर्व उचित स्वीकृति प्राप्त करनी चाहिये जिससे की लोक व्यय पर ठीक ठीक नियन्त्रण रक्खा जा सके। प्रत्येक सरकारी सत्ता को एक सीमा तक व्यय करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये किन्तु उससे अधिक व्यय करने के लिये पार्लियामेंट अथवा अन्य उच्चतम सत्ता से स्वीकृति प्राप्त करना अनिवार्य होना चाहिये। सार्वजनिक धन के बेकार व्यय को रोकने के लिये ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक है। व्यय बजट में पूर्व निश्चित रकम के अनुसार किया जाना चाहिये और समुचित सत्ता से स्वीकृति प्राप्त किये बिना कोई व्यय नहीं होना चाहिये। पूर्व स्वीकृति के साथ-साथ लोक व्यय का लेखा-परीक्षण (Auditing) भी आवश्यक है। सभी प्रकार के सरकारी व्यय के खातों का वार्षिक परीक्षण होना चाहिये तथा इस बात की जांच भी की जानी चाहिये कि धन का अनुचित प्रयोग तो नहीं किया गया है।

(४) **आधिक्य का सिद्धांत** (Canon of Surplus) —इस सिद्धांत के अनुसार लोक व्यय इस प्रकार किया जाना चाहिये कि घाटे की अर्थ-व्यवस्था (Deficit Financing) की आवश्यकता न पड़े। व्यक्ति की भाँति सरकार को भी अपनी आय के अनुसार ही व्यय करना चाहिये। जहां तक सम्भव हो सके सरकार को अपना बजट सतुलित रखना चाहिये। अच्छा यो यह है कि उसमें कुछ आधिक्य (Surplus) को बनाये रखा जाय। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि प्रतिवर्ष कोई बहुत बड़ा आधिक्य प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाये क्योंकि ऐसा बजट सार्वजनिक हित में नहीं होगा। आवश्यकता इस बात की है कि निरन्तर घाटे से बचा जाय। फिण्डले शिराज के अनुसार सन्तुलित बजट ही सबसे अच्छा है किन्तु वे यह नहीं कहते कि सरकार को कभी भी ऋण नहीं लेना चाहिये। उनका अभिप्राय यह है कि उत्पादक कार्यों के लिये ही उधार लिया जाना चाहिये तथा सरकार में ऋणों का भुगतान करने की क्षमता होनी चाहिये।

(५) **लोच का सिद्धांत** (Canon of Elasticity) —सार्वजनिक व्यय में लोच का गुण होना भी आवश्यक है। लोच से अभिप्राय य है कि लोक व्यय म आवश्यकता के अनुसार घटने तथा बढ़ने की क्षमता होनी चाहिये। जब सरकार की आय कम हो जाय तो लोक व्यय को कम करना सम्भव होना चाहिये। इसी प्रकार अच्छे समय में जब सरकार की आय बढ़ रही हो तो सार्वजनिक व्यय म वृद्धि करना सम्भव होना चाहिये। इस प्रकार सार्वजनिक व्यय में बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार घटने बढ़ने की क्षमता होनी चाहिए। यदि सार्वजनिक व्यय का स्तर इतना निश्चित हो जाता है

कि उसमे कोई परिवर्तन करना संभव नही है तो असामान्य परिस्थितियो मे काफी कठिनाई हो सकती है।

उपरोक्त सिद्धांतो के अतिरिक्त भी कुछ और बातें हैं जिन्हें लोक व्यय करते समय ध्यान मे रखा जाना चाहिये—(i) सार्वजनिक व्यय को व्यक्तिगत व्यय का स्थान नही लेना चाहिये (ii) सार्वजनिक व्यय को पूरा करने के लिये लोगो की आय का बहुत बडा भाग नही लिया जाना चाहिये (iii) केन्द्रीय, राज्य तथा स्थानीय सरकारो के द्वारा किये जाने वाले व्यय मे दोहरापन नही होना चाहिये । (iv) लोक व्यय इस प्रकार करना चाहिए कि उसका धन के उत्पादन तथा वितरण पर कोई बुरा प्रभाव न पड़े।

लोक व्यय का वर्गीकरण :

विभिन्न अर्थशास्त्रियों के द्वारा लोक व्यय का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया गया है। उद्देश्यो की भिन्नता के कारण यह वर्गीकरण एक दूसरे से काफी भिन्न हैं। कुछ एक महत्वपूर्ण वर्गीकरण निम्न प्रकार है .—

(१) प्लेहन (Plehn) ने सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण उस लाभ के आधार पर किया है जो समाज को विभिन्न प्रकार के व्यय से प्राप्त होता है। उनके अनुसार लोक व्यय चार प्रकार का हो सकता है। (i) सामूहिक लाभ के लिये किया जाने वाला व्यय। सुरक्षा पर किया जाने वाला व्यय इस प्रकार का है क्योंकि उससे समाज के सभी लोगो को लाभ होता है। (ii) ऐसा व्यय जिससे किसी वर्ग विशेष को लाभ हो सकता है किन्तु जिसे सामान्य लाभ के लिये ही समझा जाना चाहिए क्योकि जिन लोगो को इस व्यय से लाभ होता है उनमे अपने पैरो पर खडे होने की क्षमता नहीं होती है। गरीबो की भलाई के लिए किया जाने वाला व्यय इस वर्ग के अन्तर्गत आता है। (iii) वह लोक व्यय जिससे एक साथ कुछ लोगो को विशेष लाभ प्राप्त होता हो तथा सब लोगो को सामान्य लाभ मिलता हो। न्याय की व्यवस्था पर किया जाने वाला इसी प्रकार का व्यय है। (iv) केवल कुछ लोगो को विशेष लाभ पहुचाने के लिए किया जाने वाला व्यय जैसे राजकीय उद्योगो पर होने वाला व्यय।

उपरोक्त वर्गीकरण बहुत ठीक नही है क्योकि प्रत्येक प्रकार के लोक व्यय मे सामूहिक लाभ का अंश होना चाहिये। प्राप्त होने वाले लाभ को वर्गीकरण का आधार बनाना बहुत कठिन है। निकलसन (Nicholson) के अनुसार यह सभी प्रकार के लोक व्यय सामूहिक लाभ प्रदान करते है किन्तु साथ ही वे कुछ व्यक्तियो, वर्गो तथा स्थानो को विशेष लाभ भी पहुचाते हैं। सुरक्षा से सामूहिक लाभ होता है किन्तु उससे व्यक्तिगत लाभ भी हो सकता है। निर्धन व्यक्तियों पर किए जाने वाले व्यय से व्यक्तिगत तथा सामूहिक लाभ दोनो ही प्राप्त होते है। इन्ही कारणो से लाभ को वर्गीकरण का आधार बनाना उचित नही है।

(२) निकलसन (Nicholson) ने सरकारी सेवाओ के बदले में प्राप्त होने वाली आय को आधार बना कर सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण किया है। उनके

अनुसार लोक व्यय को इन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(i) व्यय जिसके बदले में कोई प्रत्यक्ष आमदनी प्राप्त नहीं होती है जैसे युद्ध पर किया जाने वाला व्यय अथवा गरीबों तथा पीड़ितों की सहायता में लगाया जाने वाला धन (ii) व्यय जिससे सरकार को कोई प्रत्यक्ष आमदनी तो नहीं होती है किन्तु उससे लोक आगम को अप्रत्यक्ष लाभ होता है। नि.शुल्क शिक्षा पर होने वाला व्यय इस प्रकार का है। (iii) व्यय जिसमें कुछ प्रत्यक्ष आय प्राप्त होती है। सशुल्क शिक्षा पर किया जाने वाला व्यय इसके अन्तर्गत आयेगा। (iv) व्यय जिससे पूरी आमदनी प्राप्त होती है जैसे सार्वजनिक सेवाओं, डाक, तार, रेल आदि पर किया जाने वाला व्यय।

यह वर्गीकरण स्पष्ट नहीं है क्योंकि इसमें विभिन्न प्रकार के व्यय के भेद को नहीं बतलाया गया है।

(३) ऐडम्स (Adams) ने लोक आगम का एक अन्य वर्गीकरण दिया है। उन्होंने सरकार के कार्यों को वर्गीकरण का आधार बनाया है। उनके अनुसार लोक व्यय निम्न प्रकार का हो सकता है—(i) रक्षा सम्बन्धी कार्यों पर किया जाने वाला व्यय। इसके अन्तर्गत सेना, पुलिस तथा न्यायालयों पर होने वाला व्यय आता है जिसमें बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा होती है तथा आन्तरिक शान्ति बनी रहती है। (ii) वाणिज्य सम्बन्धी कार्यों पर होने वाला व्यय जैसे व्यापार तथा उद्योग के विकास के लिये व्यय, (iii) विकास सम्बन्धी कार्यों पर व्यय जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन आदि पर व्यय। इस वर्गीकरण की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि लोक व्यय की विभिन्न मदों को इन वर्गों के अन्तर्गत लाना सम्भव नहीं है क्योंकि एक वर्ग में आने वाले कार्यों को दूसरे वर्ग से स्पष्टतया अलग नहीं किया जा सकता है।

(४) फिण्डले शिराज (Findlay Shirras) ने लोक व्यय का सबसे अच्छा वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार लोक व्यय को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(i) प्रारम्भिक (Primary) तथा (ii) गौण (Secondary) प्रारम्भिक व्यय सरकार का वह खर्चा होता है जिसे करना उसके लिये अनिवार्य होता है जैसे सुरक्षा, शान्ति तथा न्याय की व्यवस्था, नागरिक प्रशासन का व्यय तथा ऋणों को चुकाने से सम्बन्धी व्यय। गौण व्यय के अन्तर्गत सरकार का सामाजिक व्यय आ जाता है जैसे शिक्षा, जन स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा आदि पर किया जाने वाला है। यद्यपि यह वर्गीकरण अन्य वर्गीकरणों से अधिक सन्तोषजनक है किन्तु इसमें भी विभिन्न प्रकार के व्यय को अलग-अलग वर्गों में रखना काफी कठिन है।

उपरोक्त वर्गीकरणों के अतिरिक्त जे एस मिल (J S Mill), रोशे (Roscher) तथा डाल्टन (Dalton) आदि विद्वानों ने लोक व्यय का वर्गीकरण अपने अपने ढंग से करने का प्रयत्न किया है। सार्वजनिक व्यय को उत्पादन की दृष्टि से दो वर्गों में बांटा जा सकता है—(अ) उत्पादक (Productive) तथा (ब) रक्षक (Protective)। सरकार का उत्पादक व्यय वह होता है जो ऐसी मदों पर किया जाता है जिससे तुरन्त या कुछ समय पश्चात समाज की उत्पादन क्षमता में वृद्धि हो जाती

है। इस प्रकार के व्यय से उन व्यक्तियों, व्यवसायों तथा क्षेत्रों की उत्पादकता मे वृद्धि होती है जिनके लाभ के लिये यह व्यय किया गया है। सरकार का कुछ व्यय ऐसा भी होता है जिससे समाज की उत्पादन क्षमता मे तो कोई प्रत्यक्ष वृद्धि नही होती है किन्तु उससे व्यक्तियो तथा उद्योगो की किसी आकस्मिक कठिनाई अथवा सकट से रक्षा की जाती है। इस प्रकार के लोक व्यय को रक्षात्मक व्यय कहा जा सकता है।

लोक व्यय के प्रभाव :

लोक व्यय समाज के आर्थिक जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। इन प्रभावों को तीन वर्गों मे बाँटकर अध्ययन किया जा सकता है—

(अ) धन के उत्पादन पर प्रभाव, (ब) धन के वितरण पर प्रभाव, (स) अन्य प्रभाव।

सार्वजनिक व्यय का उत्पादन पर प्रभाव :

प्राचीन विचारधारा के अनुसार सार्वजनिक व्यय उत्पादन अथवा राष्ट्रीय कल्याण मे कोई वृद्धि नही कर सकता है, इसलिये उन्होने लोक व्यय को कम से कम रखने की बात कही। यह समझा जाता था कि सार्वजनिक व्यय मे जितना धन खर्च होता है, वह राष्ट्रीय आय से कम हो जाता है। यह गलत विचारधारा महान आर्थिक मन्दी (Great Economic Depression) के समय तक प्रचलित रही। किन्तु उसके पश्चात सार्वजनिक व्यय के महत्व को ठीक प्रकार समझने का प्रयत्न किया गया और यह अनुभव किया जाने लगा कि लोक व्यय लोगो की आर्थिक क्रियाओ को प्रभावित करके उनके कल्याण मे वृद्धि कर सकता है। आधुनिक विचारधारा के अनुसार लोक व्यय उत्पत्ति की कुल मात्रा तथा उसकी प्रकृति दोनो को प्रभावित करता है। सार्वजनिक व्यय का उद्देश्य उत्पादन मे अधिक से अधिक वृद्धि करना होना चाहिये।

यद्यपि सार्वजनिक व्यय उत्पादन म वृद्धि कर सकता है किन्तु वर्तमान सरकारो के द्वारा किये जाने वाले व्यय का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा होता है जो प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक कल्याण को नहीं बढाता है। सेनाओ तथा शस्त्रो के सग्रह पर किया जाने वाला व्यय इस प्रकार के व्यय का महत्वपूर्ण उदाहरण है। प्राय यह समझा जाता है कि इस प्रकार का व्यय आर्थिक दृष्टि स बेकार है क्योकि वह प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक कल्याण मे किसी प्रकार की वृद्धि नही करता है। किन्तु फिर भी सुरक्षा तथा युद्ध आदि पर किये जाने वाले व्यय को बेकार का व्यय नही कहा जा सकता है क्योकि यदि इस प्रकार का व्यय युद्ध को रोकने मे सफल हो जाता है तो देश युद्ध के कारण होने वाली आर्थिक बर्बादी से बच जायगा। वैसे भी इस प्रकार का व्यय देश मे शाति तथा सुरक्षा को स्थापित करके आर्थिक विकास के लिये उपयुक्त वातावरण पैदा करता है। किन्तु इस प्रकार का व्यय बहुत अधिक मात्रा मे नहीं किया जाना चाहिये। यदि सरकार के अधिकाश साधन इस दिशा म लगाये जाते है तो उससे लोगों का आर्थिक कल्याण कम होगा।

सार्वजनिक व्यय के उत्पत्ति पर पड़ने वाले प्रभावों को निम्नलिखित वर्गों में बाटा जा सकता है—

(१) काम करने तथा बचत करने की क्षमता पर प्रभाव।

(२) काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव।

(३) विभिन्न व्यवसायों तथा क्षेत्रों के बीच आर्थिक साधनों के वितरण पर प्रभाव।

(१) काम करने तथा बचत करने की क्षमता पर प्रभाव (Effects on the Capacity to Work and Save) —सार्वजनिक व्यय लोगों की कार्य-कुशलता में वृद्धि करके उनकी काम करने की शक्ति को बढ़ा सकता है। लोगों की कार्यकुशलता के बढ़ने के साथ-साथ उनकी आमदनी भी बढ़ती है जिसके कारण उनकी बचत करने की शक्ति में वृद्धि होती है। सरकार के द्वारा बहुत सा ऐसा व्यय किया जाता है जो लोगों की कार्यकुशलता को बढ़ाने वाला होता है। सार्वजनिक व्यय के द्वारा कार्य-कुशलता में वृद्धि होती है अथवा नहीं यह इस बात पर निर्भर है कि सरकार के द्वारा किया जाने वाला व्यय लोगों के पास किस रूप में पहुंचता है। यदि सरकार लोगों को नकद अनुदान के रूप में रुपया देती है तो उससे कार्यकुशलता में वृद्धि नहीं होती है बल्कि वह लोगों के लिये काम करने की आवश्यकता को कम करके उन्हें आलसी तथा अपव्ययी बना सकता है। इस प्रकार के व्यय से काम करने तथा बचत करने की शक्ति में कोई वृद्धि नहीं होती है बल्कि वह किसी सीमा तक कम होती है। यही धन यदि सरकार नकद रूप में न देकर उनके लिये सस्ते मकान, स्वास्थ्य तथा शिक्षा आदि का प्रबन्ध करती है तो उससे लोगों की कार्य-कुशलता निश्चित रूप से बढ़ेगी जिसके कारण उनकी काम करने तथा बचत करने की शक्ति बढ़ जायगी। इस प्रकार के सार्वजनिक व्यय का उत्पत्ति पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। लगभग सभी प्रकार का लोक व्यय लोगों की बचत करने की क्षमता को बढ़ाता है। वह धन जिस व्यक्ति से कर के रूप में लिया जाता है उसकी बचत करने की शक्ति कम हो जाती है किन्तु जिसकी भलाई के लिये उसका व्यय किया जाता है उसकी बचत करने की क्षमता में वृद्धि होती है।

(२) बचत करने तथा काम करने की इच्छा पर प्रभाव (Effects on the Will to Save and Work) —लोक व्यय का प्रभाव लोगों की काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर भी पड़ता है। सार्वजनिक व्यय से भविष्य में प्राप्त होने वाले लाभ की आशा, काम करने तथा बचत करने की इच्छा को प्रभावित करती है। यदि भविष्य में प्राप्त होने वाले लाभ बिना किसी शर्त के मिलते हैं और उनका लोगों के भावी कार्य तथा उनकी बचत से कोई सम्बन्ध नहीं होता है तो इस प्रकार के सार्वजनिक व्यय से लोगों की काम करने तथा बचत करने की इच्छा में किसी प्रकार की वृद्धि होने की आशा नहीं की जा सकती है। युद्ध, पेन्शन तथा युद्ध सम्बन्धी ऋण पर दिया जाने वाला सूद इसी प्रकार का लोक व्यय है। निश्चित तथा बिना शर्त सरकार से प्राप्त होने वाला धन लोगों की काम करने तथा बचत करने की

इच्छा को किसी प्रकार भी नही बढ़ाता है। इसके विपरीत लोगो की आमदनी को माग वेलोच होने की दशा मे वह उनकी काम करने तथा बचत करने की इच्छा को कम कर सकता है।

सरकार से प्राप्त होने वाले सभी अनुदान अथवा सहायता लोगो को बिना शर्त नही मिलते। लोक व्यय से प्राप्त होने वाले बहुत से लाभ ऐसे होते हैं जिन्हे प्राप्त करने के लिये कुछ शर्तो को पूरा करना पडता है। बीमारी अथवा अनिश्चित बेरोजगारी की दशा मे मिलने वाले लाभ इसी प्रकार के होते हैं क्योकि उन्हे व्यक्ति नियमित रूप से प्राप्त नही कर सकता बल्कि कुछ विशेष दशाओं म ही उसे यह लाभ मिल सकते हैं। लोक व्यय से प्राप्त होने वाले इस प्रकार के आकस्मिक तथा कुछ शर्तों को पूरा करने के पश्चात् मिलने वाले लाभ लोगों की वर्तमान काम करने तथा बचत करने की शक्ति कम नही करते हैं। इसी प्रकार यदि भविष्य मे प्राप्त होने वाले अनुदान की मात्रा निश्चित नही है और वह लोगो के द्वारा किये जाने वाले काम तथा बचत की मात्रा के साथ बढती है तो इस प्रकार का सार्वजनिक व्यय लोगो की काम करने तथा बचत करने की इच्छा को बढायेगा। इसके विपरीत यदि अनुदान की मात्रा काम तथा बचत की मात्रा मे वृद्धि होने पर घटती है तो वह निश्चित रूप से लोगो की काम तथा बचत करने की इच्छा को कम करने वाला होगा।

(३) लोक व्यय तथा आर्थिक साधनों का पुनर्वितरण (Effects on the Division of Economic Resources)—सार्वजनिक व्यय के कारण समाज मे आर्थिक साधनो का पुनर्वितरण हो सकता है। सरकार के द्वारा बहुत सा ऐसा व्यय किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक साधन कुछ व्यवसायो तथा क्षेत्रों मे हट कर अन्य व्यवसायो तथा क्षेत्रो मे लग जाते है। साधनो का यह पुनर्वितरण उत्पत्ति की मात्रा मे वृद्धि करके समाज के लिये लाभदायक हो सकता है। जब सरकार कुछ उद्योगों को सरक्षण, अनुदान अथवा सहायता देती है या स्वय कुछ उद्योग स्थापित करती है तो श्रम तथा पूँजी अन्य उद्योगो मे हट कर इन उद्योगो मे आने लगते हैं। इस पुनर्वितरण से कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओ तथा सेवाओ के उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। इसका परिणाम यह भी हो सकता है कि समाज के साधनों को वर्तमान आवश्यकताओ को पूरा करने मे न लगा कर भविष्य की आवश्यकताओ को पूरा करने मे लगा दिया जाय। पूँजीवादी व्यवस्था मे भविष्य की आवश्यकताओ की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है और अधिकाश साधनो का प्रयोग वर्तमान आवश्यकताओ को पूरा करने म किया जाता है। लोक व्यय के द्वारा इस प्रवृत्ति को रोका जा सकता है तथा वर्तमान और भविष्य की आवश्यकताओ के बीच आर्थिक साधनो का उचित रूप से बटवारा किया जा सकता है।

(४) सार्वजनिक व्यय का धन के वितरण पर प्रभाव (Effects of Public Expenditure on the Distribution of Wealth)—लोक व्यय समाज मे धन के वितरण पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव डाल सकता है। यदि व्यय इसप्रकार किया जाता है कि उससे निर्धन तथा कम आय वाले लोगो को लाभ होता है और इस व्यय

को पूरा करने के लिये आमदनी अमीरो पर कर लगा कर प्राप्त की जाती है तो इस प्रकार के लोक व्यय की प्रवृत्ति धन के वितरण की असमानताओ को कम करने की होती है। समाज सेवाओ पर किये जाने वाले व्यय का यही प्रभाव होता है क्योकि उसका लाभ अमीरो की अपेक्षा गरीब लोगो को अधिक मिलता है। शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा आदि पर किया जाने वाला व्यय गरीब लोगो की आमदनी को बढा कर समाज मे धन की असमानताओं को दूर करता है और गरीब तथा अमीरो के बीच की आर्थिक खाई को कम करता है। इसके अतिरिक्त सरकार लोगो को अनुदान के रूप मे धन का सीधा हस्तान्तरण करके उनकी आय मे वृद्धि कर सकती है। यह अनुदान प्रगामी (Progressive), प्रतिगामी (Regressive) तथा आनुपातिक (Proportional) हो सकता है। यदि अनुदान की रकम लोगो की आय कम होने के साथ बढती है तो उसे प्रगामी अनुदान कहा जायगा और यदि आमदनी कम होने के साथ अनुदान भी कम होता है तो वह प्रतिगामी है। यदि आय के निश्चित अनुपात मे अनुदान दिया जाता है तो वह अनुपातिक अनुदान होता है। अनुदान जितना अधिक प्रगामी होगा उतनी ही जल्दी वह धन की असमानताओ को दूर करेगा। समाज मे धन का अधिक न्यायपूर्ण वितरण करने के लिए सरकार के द्वारा दिये जाने वाले अनुदान अधिक से अधिक प्रगामी होने चाहियें तथा राज्य को अपना व्यय इस प्रकार करना चाहिये कि उसका अधिक से अधिक लाभ निर्धन लोगो को हो।

लोक व्यय के अन्य प्रभाव :

समाज मे वृत्तिहीनता (Unemployment) तथा रोजगार स्तर की अस्थिरता के दोषो को दूर करने के लिये भी सार्वजनिक व्यय का प्रयोग किया जा सकता है। वर्तमान अर्थशास्त्रियो के अनुसार लोक व्यय आर्थिक स्थिरता (Economic Stability) तथा पूर्ण रोजगार (Full Employment) प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। रोजगार के स्तर की अस्थिरता पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की एक विशेषता है। अनियोजित अर्थ-व्यवस्था मे रोजगार के स्तर मे उतार-चढाव आते रहते हैं जिसके कारण लोगो को काफी कठिनाई होती है। मूल्य-वृद्धि काल मे आर्थिक क्रियायें इतनी अधिक बढ जाती हैं कि समाज लगभग पूर्ण वृत्ति (Full Employment) की अवस्था पर पहुँच जाता है किन्तु यह समृद्धि काल बहुत थोडे समय के लिये रहता है। कुछ समय पश्चात् मूल्य गिरने लगते है और उत्पादन व रोजगार की मात्रा कम हो जाती है। समाज मे बेरोजगारी बढ जाती है और लोग आर्थिक सकट मे फस जाते है। रोजगार की मात्रा मे होने वाले इन परिवर्तनो को लोक व्यय के द्वारा काफी सीमा तक दूर किया जा सकता है और समाज मे आर्थिक स्थिरता कायम की जा सकती है।

सरकार अपने व्यय के द्वारा श्रम की माग को अधिक नियमित तथा स्थाई करके वृत्तिहीनता को कम कर सकती है। आर्थिक स्थिरता स्थापित करने तथा पूर्ण रोजगार को प्राप्त करने मे सार्वजनिक व्यय निम्न प्रकार से सहायता दे सकता है—

(१) सरकार विभिन्न प्रकार के कर्मचारियो के लिये अपनी माग को स्थिर रख कर रोजगार स्तर मे होने वाले परिवर्तनो को कम कर सकती है। सरकार को

चाहिये कि वह अपने अधीन काम करने वाले कर्मचारियों की मांग को स्थिर रखे और उसमें अनावश्यक गिरावट न आने दे।

(२) सरकारी क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्तियों का रोजगार व्यक्तिगत उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों के रोजगार के साथ इस प्रकार सम्बन्धित किया जा सकता है कि व्यक्तिगत क्षेत्र में होने वाली रोजगार की कमी को सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि के द्वारा पूरा किया जा सके। सरकार को अपना साधारण व्यय विभिन्न समय में इस प्रकार बांटना चाहिये कि विभिन्न प्रकार के श्रमिकों के लिये सरकारी मांग व्यक्तिगत मांग में विपरीत दशा में बदले। सार्वजनिक व्यय के उचित वितरण के द्वारा इस उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है।

(३) सार्वजनिक व्यय के द्वारा आर्थिक मन्दी (Economic Depression) के कारण उत्पन्न होने वाली बेरोजगारी को कम किया जा सकता है। प्रो० कीन्ज (Keynes) के अनुसार अवसाद काल में बेरोजगारी का मुख्य कारण सक्रिय-मांग (Effective Demand) का कम होना है निजी क्षेत्र में विनियोग कम हो जाने से लोगों की आय कम हो जाती है और वे कम वस्तुओं की मांग करने लगते हैं। सक्रिय मांग कम होने से उत्पादन तथा रोजगार गिर जाता है। इस प्रकार की बेरोजगारी को दूर करने का एकमात्र उपाय विनियोग में वृद्धि करना है। अवसाद काल में निजी विनियोग की कमी को सार्वजनिक व्यय में वृद्धि करके पूरा किया जा सकता है। सरकार नए कारखाने लगा कर तथा जनहित कार्यों पर अधिक व्यय करके समाज में विनियोग की मात्रा को गिरने से रोक सकती है और इस प्रकार रोजगार के स्तर में स्थिरता स्थापित की जा सकती है। इस प्रकार सरकार सार्वजनिक व्यय के सम्बन्ध में उचित नीति को अपना कर आर्थिक मन्दी के कारण समाज में मानव साधनों के होने वाले अपव्यय को रोक सकती है।

परीक्षा प्रश्न

१. सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।

२. सार्वजनिक व्यय के निजी क्षेत्र के उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों की व्याख्या कीजिए।

३. कल्याणकारी राज्य की स्थापना में सार्वजनिक व्यय का क्या महत्व है ?

४. व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक व्यय के अन्तर को स्पष्ट कीजिए। भारतवर्ष में लोक व्यय को किस प्रकार कम किया जा सकता है ?

५ वर्तमान काल में बहुत से देशों में सार्वजनिक व्यय में अत्यधिक वृद्धि क्यों हुई है ?

६. वर्तमान काल में किसी राष्ट्र की उत्पादन क्षमता को बढ़ाने में लोक व्यय क्या योग दे सकता है ?

७. आय के वितरण पर लोक व्यय के प्रभावों की व्याख्या कीजिए।

3

लोक आगम
Public Revenue

सरकार को अपने विभिन्न कार्यों को सफलतापूर्वक करने के लिये आय की आवश्यकता होती है। राज्य को कितनी आय की आवश्यकता होगी यह उसके द्वारा किये जाने वाले कार्यों की सीमा तथा प्रकृति पर निर्भर होता है। प्राचीन समय मे जब सरकार का कार्य-क्षेत्र सीमित था तो उसका काम बहुत कम आय से चल जाता था किन्तु आजकल सरकार को अधिकाधिक मात्रा म आय की आवश्यकता होती है। वर्तमान समय म राज्य की क्रियाओ म वृद्धि हो जाने के कारण सरकार को बढती हुई मात्रा में आय की आवश्यकता होती है जिसके लिये वह सभी उपलब्ध साधनो से अधिकाधिक मात्रा मे आय प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। एक व्यक्ति की भांति सरकार की आय के भी विभिन्न साधन होते है। लोक आय के साधनों का वर्गीकरण विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने विभिन्न प्रकार से किया है। प्रत्येक वर्गीकरण अलग-अलग उद्देश्य को लेकर किया गया है। ऐडम स्मिथ के अनुसार राज्य की आय के दो प्रमुख साधन होते है—(1) राज्य की अपनी भूमि तथा पूजी से प्राप्त होने वाली आय (ii) लोगो के धन तथा सम्पत्ति से प्राप्त की जाने वाली आय जिससे उनका अभिप्राय करो से होने वाली आय से था। उनका विचार था कि प्रथम स्रोत से प्राप्त होने वाली आय स्थाई तथा पर्याप्त नही होती, इसलिये सरकार को करो से प्राप्त होने वाली आय पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

सैलिगमैन (Seligman) ने लोक आगम को तीन भागो मे बाटा है—(१) नि शुल्क आय (Gratuitous Revenue) (२) प्रसंविदक आगम (Contractual Revenue) और (३) अनिवार्य आय (Compulsory Revenue)। नि शुल्क आय के अन्तर्गत सरकार को प्राप्त होने वाले नि शुल्क उपहार तथा सहायतार्थ मिलने वाला धन सम्मिलित होता है। इस प्रकार की आय लोग अपनी इच्छा से सरकार को देते हैं और उसके लिये उन पर किसी प्रकार का दबाव नही डाला जाता। वर्तमान समय मे इस प्रकार की आय का महत्व काफी कम हो गया है। दूसरे प्रकार की आय के अन्तर्गत सरकार की व्यवसायिक आय सम्मिलित होती है जो सरकार को सार्वजनिक सम्पत्ति अथवा सार्वजनिक उद्योगो तथा सेवाओ से प्राप्त होती है। डाक, तार, रेल तथा सरकारी उद्योगो से प्राप्त आय को सैलिगमैन ने प्रसंविदक आय कहा है। यह एक प्रकार का मूल्य है

जो केवल उन्ही लोगो से लिया जाता है जो सरकारी सेवाओं अथवा सार्वजनिक उद्योगो की वस्तुओ का प्रयोग करते है। अनिवार्य आय के अन्तर्गत सरकारी सम्पत्ति, जुर्मानो तथा करो से प्राप्त होने वाली आय को सम्मिलित किया जाता है। लोक सत्ता होने के कारण सरकार लोगो से कोई भी सम्पत्ति, सेवा अथवा वस्तु माग सकती है और इसके लिये मावजा देना भी आवश्यक नही होता है। इस प्रकार की आय सरकार की विशेष स्थिति और उसके विशेष अधिकार के कारण प्राप्त होती है। बेस्टेबिल (Bastable) ने लोक आत को दो भागो मे बाँटा है। एक वह आय जो राज्य को एक बहुत बड़े प्रमण्डल (Corporation) की भाति वस्तुये तथा सेवायें उपलब्ध करने के कारण होती है और दूसरी वह आय "जो सरकार अपनी सत्ता के कारण समाज की आय मे से ले लेती है।' इसमे से पहले प्रकार की आय सरकार को अपने विशेष अधिकारो के कारण प्राप्त होती है जिसके अन्तर्गत करो से प्राप्त होने वाली आय आ जाती है। लुट्ज (Lutz) ने सरकारी आगम को निम्नलिखित भागो मे बाटा है—(१) व्यवसायिक आय, (२) प्रशासन सम्बन्धी आय, (३) कर, (४) सार्वजनिक ऋण, (५) सहायतार्थ मिलने वाला धन।

साधारणतया लोक आगम को दो भागो मे बाटा जा सकता है—

(अ) करो से प्राप्त आय।

(ब) करो के अतिरिक्त अन्य प्रकार के साधनो से प्राप्त आय जिसके अन्तर्गत (i) शुल्क (Fees), (ii) मूल्य (Prices), (iii) विशेष अभिनिर्धारण (Special Assessments), (iv) जुर्मान (Fines & Penalties) आदि को सम्मिलित किया जाता है।

(१) कर (Taxes)—कर एक अनिवार्य भुगतान है जो व्यक्ति सरकार के द्वारा सार्वजनिक भलाई के लिये किये गये व्यय को पूरा करने के लिये करता है। डाल्टन के अनुसार, "कर एक अनिवार्य अंशदान (Contribution) है जो किसी सार्वजनिक सत्ता के द्वारा लगाया जाता है और जिसका कर दाता को बदले मे प्राप्त होने वाली सेवाओं की मात्रा से कोई सम्बन्ध नही होता है और जिसे किसी कानूनी अपराध की सजा के रूप मे नही लगाया जाता है।"[1] सभी लोगो को सरकार से अपने जीवन तथा सम्पत्ति का सरक्षण प्राप्त होता है। इस प्रकार की सार्वजनिक सेवाओ के बदले मे सरकार कर लेती है किन्तु करदाता को कर के बदले मे प्राप्त होने वाले लाभ से कर का कोई सम्बन्ध नही होता है। प्रो० टॉजिग (Prof. Taussig) के अनुसार, "कर को अन्य प्रकार के सरकारी भुगतानो से अलग करने वाली मुख्य विशेषता यह है कि करदाता तथा सार्वजनिक सत्ता के बीच प्रत्यक्ष रूप से किसी प्रकार का 'जैसे को

---

1 "A tax is a compulsory contribution imposed by a public authority irrespective of the exact amount of service rendered to the taxpayer in return and not imposed as a penalty for any legal offence."
—*Dalton*

तैसा' (Quid Pro Quo) का सम्बन्ध नही होता है।"[2] कर की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(ग्र) कर एक ग्रनिवार्य भुगतान है—कर सार्वजनिक सत्ता के द्वारा लगाया जाता है ग्रौर उसका भुगतान करना लोगो के लिए ग्रनिवार्य होता है। करो के सम्बन्ध मे कर देने वालो की इच्छा का कोई महत्व नही होता है। कर लगाते समय करदाता से यह नही पूछा जाता है कि वह कर देना चाहता है ग्रथवा नही। कर की मात्रा, उसे इकट्ठा करने का ढग तथा उसके भुगतान का समय सरकार के द्वारा निश्चित किया जाता है ग्रौर उसमे करदाता से किसी प्रकार की सलाह नहीं ली जाती है। ठीक समय पर कर का न देना जुर्म है ग्रौर उसके लिए सजा दी जाती है।

(ब) कर का सम्बन्ध उससे प्राप्त होने वाले लाभ से कुछ नहीं होता है—कर की प्रमुख विशेषता यह है कि करदाता को प्राप्त होने वाले लाभ ग्रौर उसके द्वारा दिये जाने वाले कर मे किसी प्रकार का सम्बन्ध नही होता है। करदाता को कर से लाभ प्राप्त हो ग्रथवा नही किन्तु उसे कर ग्रवश्य देना पडता है। कोई व्यक्ति, जिसके स्कूल जाने वाले बच्चे न हो, इस ग्राधार पर कर देने से इकार नही कर सकता है क्योकि कर से प्राप्त ग्राय को बच्चो के स्कूल चलाने के लिये व्यय किया जाता है। प्राय जो लोग ऊचा कर देते हैं उन्हे करो के व्यय से होने वाला लाभ बहुत कम प्राप्त होता है ग्रौर जो लोग कम कर देते हैं उन्हे इस लाभ का ग्रधिक भाग मिलता है। कोई भी व्यक्ति करो के बदले मे किसी विशेष प्रकार की सुविधा का दावा नही कर सकता है। ग्राय कर देने वाले इस बात की माग नही कर सकते हैं कि उनके घर पर एक विशेष पुलिस का ग्रादमी नियुक्त किया जाय।

(स) कर प्रत्येक करदाता की मौद्रिक स्थिति पर बुरा प्रभाव डालता है—कर देने से लोगो के पास क्रयशक्ति कम हो जाती है ग्रौर उनके रहन-सहन के स्तर मे कमी ग्राती है जिसके कारण उन्हे तकलीफ होती है। इसीलिये लोगो मे करो से बचने की प्रवृत्ति बहुत ग्रधिक पाई जाती है।

(२) शुल्क (Fees)—शुल्क वह भुगतान है, जो व्यक्ति सरकार से प्राप्त किसी विशेष लाभ के बदले मे ग्रथवा सरकार के द्वारा किसी जनहित सेवा पर किये जाने वाले व्यय के लिये सरकार को देता है। सरकार कुछ ग्रनिवार्य सेवायें जनहित के लिये उपलब्ध करती है। इन ग्रनिवार्य सेवाग्रो के बदले मे सरकार जो भुगतान लेती है उसे शुल्क कहते हैं। इस प्रकार की सेवाय व्यवसायिक दृष्टिकोण से सम्पन्न नही की जाती है बल्कि उनका सम्पन्न करना सरकार के लिए शासक के नाते ग्रनिवार्य होता है। इनके लिए व्यक्ति से लिया जाने वाला भुगतान प्राय: उनकी उत्पादन लागत से कम होता है। न्याय शुल्क (Court Fee) तथा शिक्षा शुल्क इसी प्रकार के भुगतान हैं। शुल्क की

---

2 "The essence of a tax, as distinguished from other charges by the government, is the absence of a direct 'quid pro quo' between the tax-payer and the public authority." —*Taussig*

कुछ विशेषतायें इस प्रकार हैं—(i) वह अनिवार्य भुगतान नहीं होता है और इस दृष्टि से कर मे बिल्कुल भिन्न होता है। (ii) वह किसी विशेष लाभ के बदले में दिया जाने वाला भुगतान है। जो लोग शुल्क देते हैं वे उसके बदले मे सरकार से विशेष लाभ प्राप्त करते हैं। (ii) शुल्क अनिवार्य रूप से सेवा लागत के अनुपात मे नही होता है। वह उससे अधिक भी हो सकता है और कम भी किन्तु प्राय: वे सेवा लागत से कम ही होते हैं।

(३) मूल्य (Price & Rates)—मूल्य वह भुगतान है जो सरकार अपनी वस्तुओ तथा सेवाओ को बेचने के बदले मे प्राप्त करती है। यह एक प्रकार से सरकार की व्यवसायिक आय है। सरकार कुछ उद्योग तथा व्यवसाय भी चलाती है। इन उद्योगो की वस्तुओ तथा सार्वजनिक सेवाओ को बेचकर सरकार को जो आय प्राप्त होती है उसे इस मद मे सम्मिलित किया जाता है। जैसे सरकारी जंगलो से लकडी बेचना, सार्वजनिक उद्योगो द्वारा निर्मित नमक, कृत्रिम खाद, लोहे आदि को बेचना तथा डाक, तार, रेल आदि की सेवायें उपलब्ध करना। इन सब वस्तुओ तथा सेवाओ के बदले मे सरकार मूल्य लेती है। इस प्रकार के व्यवसायो से सरकार लाभ भी प्राप्त कर सकती है इसलिए मूल्य उत्पादन लागत से प्राय. अधिक होते हैं। इस प्रकार के भुगतान की दो मुख्य विशेषतायें हैं—(i) यह भुगतान अनिवार्य नही होता है। यदि कोई व्यक्ति सफर नही करता है तो उससे रेल किराया नही लिया जायगा। (ii) मूल्य किसी निश्चित वस्तु अथवा सेवा के हस्तातरण के बदले मे दिया जाता है।

(४) विशेष अभिनिर्धारण (Special Assessments)—सरकार को विशेष अभिनिर्धारणो से भी आय प्राप्त होती है। इस प्रकार की आय मे कर, शुल्क तथा मूल्य तीनो ही गुण पाये जाते हैं। इसके अन्तर्गत वे भुगतान आ जाते हैं जो सम्पत्ति के मालिको को अपनी सम्पत्ति मे सार्वजनिक सत्ता के द्वारा किये जाने वाले सुधारो के बदले मे सरकार को देने पड़ते है। किसी क्षेत्र मे विशेष प्रकार का सुधार करने के बदले मे सरकार वहा के निवासियो पर विशेष दायित्व लगा सकती है जिसको उनके लिये अनिवार्य होता है। यदि किसी बगीचे अथवा पार्क का निर्माण किया जाता है या कोई सडक बनाई जाती है तो उस क्षेत्र की सम्पत्ति को इस सुधार से लाभ होता है और इसलिए सरकार इस सुधार के बदले मे वहा की सम्पत्ति के मालिको पर विशेष अभिनिर्धारण लगा सकती है। सैलिगमैन के अनुसार विशेष अभिनिर्धारण ऐसी "अनिवार्य देन है जो वर्ग विशेष द्वारा प्राप्त विशेष लाभ की आनुपातिक होती है और सम्पत्ति के ऐसे विशिष्ट सुधार के व्यय को पूरा करती है जो लोकहित के दृष्टिकोण से किया जाता है।"

उपरोक्त प्रकार के आगम के अतिरिक्त भी सरकार को अन्य प्रकार से आय प्राप्त हो सकती है—जैसे स्वेच्छा से मिले उपहार अथवा सहायतार्थ दिया गया धन। पत्र मुद्रा के प्रयोग के कारण अब सरकार को उन छापेखानो से भी आय प्राप्त होने लगी है जिनका प्रयोग वह पत्र मुद्रा छापने के लिए करती है। किन्तु इस प्रकार से

आय अधिक महत्वपूर्ण नही होती है। लोग आगम की विभिन्न मदो मे कर सबमे अधिक महत्वपूर्ण है। करो से प्राप्त होने वाली आय लोक आगम का बहुत बडा भाग होती है और उनके सम्बन्ध मे ही राजस्व की जटिल समस्यायें उत्पन्न होती हैं।

यद्यपि अध्ययन की दृष्टि से लोक आगम को विभिन्न भागो मे बाँटा जा सकता है किन्तु वास्तव मे विभिन्न मदो मे भेद करना बहुत कठिन है। लोक आगम के विभिन्न साधनो के बीच कोई पूर्णतया स्पष्ट भेद नहीं है और एक दूसरे की सीमा के भीतर आ जाते हैं। शुल्क, मूल्य और कर मे भेद करना बहुत कठिन है। यदि सरकार सेवा लागत मे बहुत ऊचे शुल्क लगाती है तो वे करो की भाँति हो जाते हैं। विशेष अभिनिर्धारणो को कर, शुल्क तथा मूल्य से पृथक करना सम्भव नहीं होता है क्योंकि उनमे तीनो के गुण पाये जाते है। विभिन्न साधनो के बीच की सीमाओं की अस्पष्टता के कारण ही डॉ० डाल्टन ने कहा है—"इसमे सन्देह नहीं है कि लोक आगम के साधनो का वर्गीकरण किया जा सकता है, किन्तु अधिकाश दशाओं मे उनके बीच का भेद स्पष्ट नही होता है और दूसरे वर्गीकरणो की भाँति यहा भी वर्गीकरण की अपेक्षा वर्गीकरण की खोज अधिक लाभदायक है।"

अच्छी आगम प्रणाली के गुण

सरकार को अपने विभिन्न कार्यों को करने के लिए पर्याप्त मात्रा मे आय का मिलना आवश्यक है। यह एक अच्छी लोक आगम प्रणाली के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। यदि आगम प्रणाली ऐसी है कि उसके द्वारा सरकार को आवश्यकतानुसार धन प्राप्त हो जाता है तो सरकार अपने विभिन्न प्रकार के उत्तरदायित्वो को भली प्रकार निभा सकेगी किन्तु यदि उसकी आय प्रणाली दोषपूर्ण है तो वह समय पर पर्याप्त धन न मिलने के कारण बहुत से अनिवार्य कार्य भी नही कर सकेगी और लोक हितकारी राज्य की स्थापना सम्भव नहीं होगी। लोक आगम प्रणाली ऐसी होनी चाहिये जिसमे सरकार को निरन्तर पर्याप्त मात्रा मे सुविधाजनक तरीके पर आय प्राप्त होती रहे। ऐडम स्मिथ (Adam Smith) ने एक अच्छी लोक आगम प्रणाली के चार गुण बतलाये हैं—(i) समानता (Equality), (ii) निश्चितता (Certainty), (iii) सुविधा (Convenience) और (iv) मितव्ययिता (Economy)। इसके अतिरिक्त एक अच्छी लोक आगम प्रणाली मे लोच (Elasticity) और विविधता के गुण भी होने चाहियें। फिन्डले शिराज (Findlay Shirras) ने पर्याप्तता (Sufficiency) और उत्पादकता (Productivity) को भी एक अच्छी आगम प्रणाली का आवश्यक गुण माना है। जिस आय प्रणाली मे उक्त लिखित सभी गुण हो उसे लोक आगम की अच्छी प्रणाली माना जाता है।

लोक आगम का महत्व

लोक आगम को वास्तव मे राजस्व का जीवन स्रोत माना जाना चाहिये। इसके बिना राज्य के द्वारा किसी भी प्रकार की क्रियाओं का किया जाना असम्भव है। आजकल लोक व्यय का महत्व दिन प्रतिदिन बढता जा रहा है और वर्तमान सरकारें

अधिकाधिक मात्रा मे लोक व्यय करके अपने विस्तृत कार्यों को सम्पन्न करती है। किन्तु लोक आय ही लोक व्यय को सम्पन्न करने का एकमात्र साधन है। जिस प्रकार उत्पत्ति के बिना उपभोग सम्भव नही है ठीक उसी प्रकार लोक आय के बिना लोक व्यय नही किया जा सकता है। कोई सरकार कितनी भी प्रगतिशील क्यो न हो किन्तु यदि उसकी आय के साधन सीमित है तो उसे अनिवार्य रूप से अपनी क्रियाओं का क्षेत्र तथा अपने व्यय को सीमित करना पडेगा। इस प्रकार लोक आगम लोक व्यय की सीमायें निश्चित करता है। अधिक लोक आय होने पर ही अधिक मात्रा मे सार्वजनिक व्यय किया जा सकेगा। वर्तमान सरकारो के बढते हुये व्यय को पूरा करने के लिए लोक आगम की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिससे सरकार को निरतर बढती हुई मात्रा मे आय प्राप्त होती रहे।

राज्यो की स्थापना के साथ-साथ ही लोक आगम की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी। आरम्भ से ही सरकारो को समाज मे कुछ अनिवार्य कार्य करने होते थे जिनके लिए उन्हे लोक आगम की आवश्यकता होती थी किन्तु प्राचीन समय मे सरकार का कार्य-क्षेत्र सीमित होने के कारण सरकार को बहुत कम व्यय करना पडता था और इसलिए लोक आगम का महत्व कम था। सरकार के कार्यों मे वृद्धि होने के साथ-साथ लोक आगम का महत्व भी बढने लगा और आय के नये साधनो की खोज की जाने लगी। इसके साथ ही लोक आगम के अध्ययन का महत्व भी बढता गया। वर्तमान समय मे सरकार का कार्य-क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत हो जाने के कारण, लोक आगम का विशेष महत्व हो गया है और वैज्ञानिक खोज के द्वारा सरकारी आय के वर्तमान साधनो को अधिक उत्पादक बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है तथा नये साधनो की खोज की जा रही है। उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजस्व के अध्ययन मे लोक आगम का विश्लेषण एक विशेष महत्व रखता है।

४

करारोपण

Taxation

प्राचीन काल मे प्रत्येक कर को समाज मे बुरा समझा जाता था और वही सरकार सबसे अच्छी मानी जाती थी जो कम से कम कर लगाती हो, किन्तु वर्तमान समय मे करारोपण का महत्व बहुत अधिक बढ गया है। प्रत्येक सरकार अपने बढते हुये व्यय को पूरा करने के लिए अधिक से अधिक कर लगाती है और आय मे वृद्धि करने के लिए नये-नये करो की खोज की जाती है। आजकल करो को समाज के हित मे समझा जाता है क्योकि उनसे प्राप्त आय को सरकार जनहित कार्यों मे अथवा आर्थिक विकास के लिये लगाती है जिससे समाज प्रगति करता है। करों का प्रयोग धन और सम्पत्ति की असमानताओ को दूर करने के लिए भी किया जाता है जिसके कारण वे समाजवाद स्थापित करने का महत्वपूर्ण साधन बन गए है। इसके अतिरिक्त करो के देने से लोगो मे नागरिकता की भावना दृढ होती है और वे यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि सरकार करो के द्वारा प्राप्त उनके धन का प्रयोग किस प्रकार करती है।

लोक आगम के विभिन्न साधनो मे करारोपण प्रमुख साधन माना जाता है। वर्तमान राज्यो को प्राप्त होने वाली आय का एक बहुत बडा भाग करो के द्वारा प्राप्त होता है। राजस्व के अध्ययन मे करारोपण एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। करारोपण प्रणाली की कुशलता पर ही सरकार की आय निर्भर होती है। यदि करारोपण प्रणाली ऐसी नही है जिसके द्वारा कर के लिये समाज के प्रत्येक वर्ग के पास पहुँचा जा सके अथवा ऐसी है जिसमे कर ठीक प्रकार से एकत्रित नही किये जाते हैं या उनके इकट्ठा करने का व्यय बहुत अधिक आता है तो ऐसी दशा मे सरकारी आय उतनी नही हो पाती है जितनी कि होनी चाहिये। इसी प्रकार यदि सरकार के द्वारा ऐसे कर लगाए जाते है या करारोपण इस प्रकार किया जाता है कि धन के उत्पादन, वितरण तथा लोगो की बचत पर उसका बुरा प्रभाव पड़ता है तो उससे समाज को हानि होगी। करारोपण का न्यायपूर्ण होना भी आवश्यक है जिससे कि लोगो के ऊपर उनकी कर दान क्षमता से अधिक भार न डाला जा सके। इस प्रकार करो के सम्बन्ध मे राजस्व की सबसे जटिल समस्यायें उत्पन्न होती हैं। करारोपण सम्बन्धी विभिन्न समस्याओ का अध्ययन करना तथा उन्हे सुलझाने के उपायो को

खोज करना राजस्व के अध्ययन का प्रमुख कार्य है। आरंभ से ही अर्थशास्त्रियो ने करारोपण की समस्याओ को सुलझाने का प्रयत्न किया है और समय-समय पर करारोपण सम्बन्धी विभिन्न नियमो का निर्माण किया गया है। यद्यपि इनमे से बहुत से सिद्धांत असन्तोषजनक है किन्तु फिर भी वे करारोपण की प्रकृति तथा उसके उद्देश्यो पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। करारोपण की समस्याओ का अध्ययन करने के लिये करारोपण सम्बन्धी सिद्धातो की खोज करना आवश्यक है।

करारोपण के सिद्धांत :

करारोपण के सिद्धातो का अध्ययन करते समय हमारे सम्मुख ऐसी समस्यायें आती है, जैसे करों का वास्तविक उद्देश्य क्या होना चाहिए, करो का न्यायपूर्ण आधार क्या है, सरकार को कितने कर लगाने चाहियें तथा करो का भार किस प्रकार लोगो मे बांटा जाय ? इस प्रकार के प्रश्नो का उत्तर देने मे काफी कठिनाइया आती हैं। करारोपण की समस्यायें केवल आर्थिक ही नही है बल्कि उनका नैतिक तथा राजनैतिक पक्ष भी काफी महत्वपूर्ण है। करारोपण के सिद्धातो का निर्माण करते समय इन सभी बातो को ध्यान मे रक्खा जाना चाहिये। आरम्भ से लेकर अब तक विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने करारोपण सम्बन्धि बहुत से सिद्धात बतलाए हैं जिनमे से कुछ एक काफी महत्वपूर्ण है और उनके द्वारा करो की प्रकृति तथा उनके उद्देश्यो को समझा जा सकता है। एक अच्छी करारोपण प्रणाली का विकास करने के लिए कर सम्बन्धी विभिन्न सिद्धांतो का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

ऐडम स्मिथ के करारोपण सिद्धाँत :

सर्वप्रथम ऐडम स्मिथ ने करो की प्रकृति तथा उनके उद्देश्यो का विधिवत् अध्ययन किया और करारोपण के कुछ आधारभूत सिद्धात बतलाये। उनके अनुसार यदि करारोपण करते समय इन सिद्धातो का पालन किया जाता है तो इस प्रकार से लगाये गए कर समाज के लिए लाभपूर्ण हो सकते है। ऐडम स्मिथ के करारोपण सिद्धात आरम्भ से ही बहुत प्रसिद्ध रहे है और उन्हे अभी तक भी एक अच्छी कर प्रणाली का आधार माना जाता है। यद्यपि उनके पश्चात अन्य अर्थशास्त्रियो ने भी कुछ करारोपण सम्बन्धी नियम बतलाए हैं किन्तु ऐडम स्मिथ के नियमो का महत्व किसी प्रकार भी कम नही हुआ है। ऐडम स्मिथ के अनुसार करारोपण के निम्नलिखित आधारभूत सिद्धान्त है।

(१) शोधन-क्षमता सिद्धान्त (Canon of Ability on Equality) :— इस सिद्धांत के अनुसार करारोपण इस प्रकार होना चाहिये कि सभी कर के भार को समान रूप से बाँटा जा सके। विभिन्न लोगो पर कर का भार इस प्रकार पडना चाहिये कि उन्हे कर देने मे समान त्याग करना पडे। यह तभी सम्भव हो सकता है जब सभी लोगो पर उनकी कर दान क्षमता के अनुसार कर लगाया जाय। इस सिद्धात के अनुसार सब लोगो से बराबर कर नही लेना चाहिये बल्कि प्रत्येक व्यक्ति द्वारा दिया जाने वाला कर उसकी करदान क्षमता के अनुसार निश्चित

होना चाहिये। जिन लोगो की कर-दान क्षमता अधिक है उन्हे अधिक कर देना चाहिये और जिनकी कर-दान क्षमता अधिक है उन्हें कम।

ऐडम स्मिथ के अनुसार "राज्य के नागरिकों को सरकारी व्यय को पूरा करने के लिये, राज्य के संरक्षण मे प्राप्त होने वाली आय के अनुपात मे कर देना चाहिये।" यद्यपि शोधन क्षमता का कोई निश्चित माप सम्भव नही है किन्तु ऐडम स्मिथ ने व्यक्ति को प्राप्त होने वाली आय को उसकी शोधन क्षमता का आधार माना है। धनी लोगो को क्योंकि अधिक आय प्राप्त होती है इसलिये उनकी शोधन क्षमता भी अधिक है और उन पर ऊंचे कर लगाये जाने चाहियें। इसके विपरीत निर्धन लोगो की आय कम होने के कारण उनकी शोधन क्षमता कम होती है इसलिए उन पर कम कर लगाए जाने चाहियें। इस दृष्टिकोण से प्रगामी कर प्रणाली ही उपयुक्त है जिसमें अमीरों पर ऊँची दर मे कर लगाये जाते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार कर के भार का बटवारा इस प्रकार होना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति को कर देते समय समान त्याग करना पड़े।

(२) निश्चितता का सिद्धांत (Principle of certainty) :—ऐडम स्मिथ के अनुसार करो के सम्बन्ध मे निश्चितता का होना आवश्यक है। करो की मात्रा, उनको देने का समय तथा उन्हे चुकाने की विधि स्पष्ट रूप से निश्चित होनी चाहिये। ऐसा होने से कर-दाता तथा सरकार दोनों ही अपनी आय तथा व्यय मे उचित सतुलन बनाये रख सकेगे। ऐडम स्मिथ ने निश्चितता को करारोपण का दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त माना है। उनके अनुसार कर-दाता को यह मालूम होना चाहिये कि उसे कितना कर देना है जिससे कि वह अपने व्यय मे आय के अनुसार परिवर्तन कर सके। सरकार को भी निश्चित रूप से यह पता होना चाहिए कि उसे करो से कितनी आय प्राप्त होने जा रही है जिससे कि वह अपने बजट मे आवश्यक सतुलन स्थापित कर सके। कर देने वालो को यह भी पता होना चाहिये कि उन्हे कब कर देना है और कर का भुगतान किस प्रकार किया जाता है। ऐसा होने से करदाताओं को काफी सुविधा होगी और वे अपना पारिवारिक बजट ठीक प्रकार से बना सकेंगे।

(३) सुविधा का सिद्धान्त (Principle of Convenience) :—ऐडम स्मिथ ने सुविधा को एक अच्छी कर प्रणाली का महत्वपूर्ण गुण माना है। उनके अनुसार प्रत्येक कर इस प्रकार और ऐसे समय लगाया जाना चाहिये कि कर-दाता को अधिक से अधिक सुविधा मिल सके। कर भुगतान का समय तथा उसे देने की विधि करदाताओं की सुविधा के अनुसार होनी चाहिये। उदाहरणार्थ आय कर उस समय लगाया जाना चाहिये जब लोगो को आय प्राप्त होती है और भूमि का लगान वसूल करने का ठीक समय फसल कटने पर है। यदि करो को इकट्ठा करते समय करदाताओं की सुविधा का ध्यान नही रखा जाता है तो कर देने का कष्ट बहुत अधिक बढ जायेगा।

ऐडम स्मिथ के अनुसार प्रत्येक कर का देना लोगों के लिए कष्टदायक होता है। सरकार को यह प्रयत्न करना चाहिये कि करो के होने से लोगो को देने वाले कष्ट को कम से कम रक्खा जाय। ऐसा तभी सभव हो सकता है जब कर देने का समय और उसकी भुगतान विधि को करदाताओं की सुविधाओं के अनुसार निश्चित किया जाय। करो की वसूली करते समय करदाता की सुविधा का पूरा पूरा ध्यान रक्खा जाना चाहिए और उसे किसी प्रकार की अनावश्यक असुविधा अथवा कष्ट नही होने देना चाहिये।

(४) मितव्ययिता का सिद्धांत (Principle of Economy) :—ऐडम स्मिथ ने करो को एकत्रित करने मे मितव्ययिता पर अधिक जोर दिया है। उनके अनुसार कर प्रणाली मितव्ययितापूर्ण होनी चाहिए। करो को इस प्रकार एकत्रित किया जाना चाहिए कि जनता से वसूल की जाने वाली रकम का अधिक से अधिक भाग सरकारी खजाने मे आ जाय—अर्थात् कर वसूल करने मे कम से कम व्यय होना चाहिये। ऐडम स्मिथ के अनुसार "प्रत्येक कर इस प्रकार लगाया जाना चाहिए कि लोगो की जेबो से, सरकारी खजाने मे जाने वाली रकम के अतिरिक्त, कम से कम निकाला जाय।" करो को एकत्रित करने का व्यय इतना अधिक नही होना चाहिए कि करों के रूप मे वसूल की गई रकम का बहुत बडा भाग उसमे खर्च हो जाय। करो को जितना मितव्ययितापूर्ण ढग से इकट्ठा किया जायगा उतना ही उनके द्वारा अधिक सामाजिक लाभ प्राप्त हो सकेगा। इस दृष्टिकोण से कुछ एक उत्पादक कर बहुत से अनुत्पादक करो की अपेक्षा अच्छे हैं। यह सिद्धान्त करो के एकत्रण में अपव्यय को रोकने पर विशेष जोर देता है।

ऐडम स्मिथ के करारोपण सिद्धांत प्राचीन समय से लेकर अब तक करारोपण का आधार रहे हैं। इन सिद्धांतों के द्वारा यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि कर किस प्रकार लगाये जाने चाहिएँ और इसलिए एक अच्छी कर प्रणाली के निर्माण मे उनका बहुत अधिक महत्व है। ऐडम स्मिथ के बाद के अर्थशास्त्रियो के अनुसार एक अच्छी कर प्रणाली इन चार सिद्धांतों के अतिरिक्त कुछ अन्य सिद्धांतो पर भी आधारित होनी चाहिये। ऐडम स्मिथ के करारोपण सम्बन्धी सिद्धातो मे वर्तमान अर्थशास्त्रियो ने निम्नलिखित सिद्धान्तो को और जोड दिया है।

(५) उत्पादकता का सिद्धान्त (Principle of Productivity) :—इस सिद्धान्त के अनुसार करों मे उत्पादकता का गुण होना चाहिये अन्यथा सरकार को करो से पर्याप्त आय प्राप्त नही हो सकेगी। कर ऐसा होना चाहिये जो सरकार की सामान्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पर्याप्त आय दे सके। एक अच्छी कर प्रणाली वही है जिसके द्वारा सरकार के लिये आवश्यकतानुसार आय एकत्रित की जा सके। उत्पादकता का अर्थ केवल वर्तमान समय मे करो से पर्याप्त आय प्राप्त होने तक ही सीमित नही है बल्कि भविष्य मे भी उनके द्वारा लोक आगम का प्रवाह बना रहना चाहिये। इस सम्बन्ध मे लोगों की उत्पादन क्षमता पर करो के पडने वाले प्रभावो का अध्ययन करना आवश्यक है। करो की उत्पादकता लोगो की उत्पादन क्षमता पर निर्भर होती है। यदि करो का प्रभाव लोगों की उत्पादन क्षमता

को कम करने का होता है तो ऐसी दशा म भविष्य मे करो से प्राप्त आय गिर जायगी और उनकी उत्पादकता भी कम हो जायगी। करो की उत्पादकता को बनाए रखने के लिये यह आवश्यक है कि कर-दाताओ की कार्यकुशलता तथा उत्पादन शक्ति पर उनका कम से कम बुरा प्रभाव पड़े। पू जी के सचय पर भी उनका बुरा प्रभाव नही पड़ना चाहिये। ऐसा होना सरकार और कर-दाताओ दोनो के हित मे है।

(६) लोच का सिद्धान्त (Principle of Elasticity) —इस सिद्धान्त के अनुसार कर प्रणाली म लोच का गुण अवश्य होना चाहिये। लोच से हमारा अभिप्राय विस्तार तथा सकुचन की क्षमता से होता है। कर ऐसा होना चाहिये कि उससे प्राप्त आय को सरकार की बढती हुई आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये आसानी के साथ बढाया जा सके। राज्य की आवश्यकताओ तथा कर दाताओ की शक्ति व योग्यता के अनुसार कर मे घटने बढने की क्षमता होनी चाहिये। सरकार को बदलती हुई परिस्थितियो के कारण अपनी आय मे परिवर्तन करना आवश्यक हो सकता है। सकट काल मे बढे हुये व्यय को पूरा करने के लिये राज्य को अपनी आय मे वृद्धि करना अनिवार्य हो जाता है। इसके विपरीत राज्य की दशा अच्छी होने पर लोगों को कर सम्बन्धी छूट भी दी जा सकती है। यह तब ही सम्भव हो सकता है जबकि कर प्रणाली मे पर्याप्त लोच पाई जाती हो। जिन करो से प्राप्त आय को आवश्यकता पडने पर नही बढाया जा सकता है उन्हे अच्छा नही समझा जाता है—भूमि लगान इसी प्रकार का कर है क्योकि उससे प्राप्त आय प्राय निश्चित रहती है। इसके विपरीत आय कर काफी लोचपूर्ण है क्योकि उससे प्राप्त आय को आवश्यकता पडने पर आसानी से बढाया जा सकता है।

(७) सरलता का सिद्धान्त (Principle of Simplicity) —करो मे सरलता का गुण भी होना चाहिये। कर प्रणाली इतनी साधारण होनी चाहिये कि उसे आसानी से समझा जा सके। यदि कर प्रणाली को एक साधारण व्यक्ति भी समझ लेता है तो ऐसी प्रणाली को अच्छा माना जायगा किन्तु एक जटिल तथा अस्पष्ट कर प्रणाली सरकार और कर-दाताओ के पारस्परिक सम्बन्धो को बिगाड सकती है और असतोष उत्पन्न करती है जिससे लोगो म करो से बचने की प्रवृत्ति बढती है। इसलिये कर प्रणाली का सरल होना अत्यन्त आवश्यक है। करो का ढाँचा इतना सरल होना चाहिये कि सामान्य नागरिक भी उसे आसानी से समझ सके।

(८) विविधता का सिद्धान्त (Principle of Diversity) —कर प्रणाली मे विविधता का अभिप्राय यह है कि सरकार अपनी आय प्राप्त करने के लिये विभिन्न प्रकार के करो का प्रयोग करे। करो म विविधता का होना इसलिये आवश्यक है कि समाज के सभी वर्गो से किसी न किसी प्रकार के कर के द्वारा कुछ अवश्य लिया जा सके। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को, जिसे सरकार क सरक्षण मे कुछ भी आय प्राप्त होती हो, अपनी क्षमता के अनुसार राज्य को कुछ न कुछ अवश्य देना चाहिय। यह तब ही सम्भव हो सकता है जब देश म विभिन्न प्रकार

के कर लगाये जाते हो। एक अच्छी कर प्रणाली वही है जिसमे विभिन्न प्रकार के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो का न्यायपूर्ण मिश्रण पाया जाता हो और जो समाज के सभी वर्गों तक पहुच सके तथा उनकी कर दान क्षमता के अनुकूल हो जिससे कि कर भार को लोगों के बीच न्यायपूर्ण ढग मे बाटा जा सके। कर प्रणाली मे इस प्रकार की विविधता पाई जानी चाहिये कि कोई न कोई कर समाज के प्रत्येक वर्ग को अवश्य देना पड़े।

(६) वांछनीयता का सिद्धान्त (Principle of Expediency) —इस सिद्धात के अनुसार करो को उचित आधार पर लगाया जाना चाहिये जिससे कि कर-दाताओं के लिये वाछनीयता को भली प्रकार सिद्ध किया जा सके। जिन करो की वांछनीयता को सिद्ध नही किया जायगा उसका लोग विरोध करेंगे। कर लगाते समय कर दाताओ को सन्तुष्ट रखना अत्यन्त आवश्यक है। जिन करो का वे विरोध करते हो उन्हे न लगाया जाय क्योकि ऐसे करो को लगाने से जनता को अधिक कष्ट होता है। प्राय नये करो को पसन्द नही किया जाता है। पुराने कर को अच्छा माना जाता है क्योंकि वह कर-दाताओ को अधिक कष्ट नही देता है। सरकार को नये कर लगाते समय विशेष सावधानी से काम लेना चाहिये और ऐसे करो को ही लगाना चाहिये जो कम से कम विरोध उत्पन्न करते हो। जहाँ तक सम्भव हो सके पुराने करो के द्वारा अथवा उनमे कुछ संशोधन करके ही सरकार को अपनी आय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये क्योकि इस प्रकार के करो के लोग आदि हो जाते हैं और उन्हे पुराने करो को देने मे कम से कम कष्ट होता है।

उपरोक्त सभी सिद्धान्त कर प्रणाली के आवश्यक गुणो को बताते हैं किन्तु किसी एक कर मे इन सभी गुणो का पाया जाना असम्भव है। कोई भी ऐसा कर नही है जो करारोपण के सभी सिद्धान्तो को सन्तुष्ट करता है। प्रत्येक कर मे कोई न कोई कमी अवश्य पाई जाती है, इसलिये हम व्यक्तिगत करों को न देखकर सम्पूर्ण कर प्रणाली के गुणो को देखना चाहिये। कर प्रणाली को सामूहिक रूप मे करारोपण के अधिकाश सिद्धान्तो के अनुकूल होना चाहिये तथा उसका उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करना होना चाहिये।

करारोपण मे न्याय :

करो के सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह पैदा होता है कि कर क्यो लगाये जाते हैं और उनका न्यायपूर्ण आधार क्या होना चाहिये ? करो का न्यायपूर्ण आधार होना अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा लोगो को करो के सम्बन्ध मे सन्तुष्ट नहीं किया जा सकेगा। आरम्भ से ही करो के सम्बन्ध मे न्याय का प्रश्न विचारशील रहा है और न्याय की समस्या को सुलझाने के लिये विभिन्न सिद्धान्तो का निर्माण किया गया है। इनमे से कुछ प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार है—

(अ) लाभ का सिद्धान्त (Benefit Theory) :—इस सिद्धान्त के अनुसार कर सरकार से प्राप्त होने वाले लाभ के बदले मे दिया जाने वाला भुगतान है। करों

को न्यायपूर्ण बनाने के लिये नागरिकों द्वारा करों के रूप में दी जाने वाली रकम, उनके द्वारा सरकार से प्राप्त लाभ के अनुपात में होनी चाहिये। जिन लोगों को सरकार की क्रियाओं से अधिक लाभ प्राप्त होता है उन्हें अधिक कर देने चाहियें। यह सिद्धान्त एक बेकार का सिद्धान्त है और इसे करारोपण का आधार नहीं बनाया जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार कर लगाने में गरीबों को अधिक कर देने पड़ेंगे और अमीरों को कम जो किसी भी राज्य के उद्देश्यों के अनुकूल नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति को सरकार से प्राप्त होने वाले लाभ को नापना भी सम्भव नहीं है। यद्यपि करारोपण के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त का कोई व्यवहारिक महत्व नहीं है किन्तु फिर भी सरकार के द्वारा लगाये जाने वाले अन्य प्रकार के भुगतान सरकार से प्राप्त लाभ के आधार पर ही निश्चित किये जाते हैं।

(ब) सेवा की लागत का सिद्धान्त (Cost of Service Principle)—इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार जो सेवायें करती है उनकी वास्तविक लागत के अनुपात में कर लगाये जाने चाहियें। सरकार एक प्रकार से वस्तुओं और सेवाओं की विक्रेता है और व्यक्ति जो कुछ कर के रूप में देता है वह सरकार के द्वारा की जाने वाली सेवाओं का भुगतान है। कर सेवा लागत के अनुपात में होने चाहिये। किन्तु इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई सरकार के द्वारा की जाने वाली सेवाओं की लागत को निश्चित करने में होती है। कुछ सेवाओं के सम्बन्ध में (जैसे सैनिक तथा पुलिस सेवायें) उत्पादन लागत को नहीं नापा जा सकता है और फिर यह जानना तो बिल्कुल असम्भव है कि किसी व्यक्ति को उनमें से कितनी लागत की सेवायें प्राप्त होती हैं। केवल उन सेवाओं की लागत का अनुमान लगाया जा सकता है जिन्हें सरकार मूल्य के आधार पर उपलब्ध करती है जैसे बिजली, रेल तथा डाक आदि की सेवायें। अतः सेवा लागत के आधार पर करों को लगाना सम्भव नहीं है और व्यवहारिक दृष्टि से सेवा लागत के सिद्धान्त का महत्व बहुत कम है।

(स) कर देने की योग्यता का सिद्धान्त (Ability to Pay or Faculty Theory)—कर दान योग्यता का सिद्धान्त न्याय का सबसे प्रचलित तथा सतोषजनक समझा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार करारोपण लोगों की कर-दान क्षमता पर आधारित होना चाहिए। प्रत्येक करदाता को अपनी कर देने की योग्यता के अनुसार कर देना चाहिए। जिन लोगों की कर-दान योग्यता अधिक हो उनसे अधिक कर लिया जाना चाहिए तथा कम कर-दान योग्यता वाले लोगों पर कम कर लगने चाहिये। यह सिद्धान्त करों का सबसे न्यायपूर्ण आधार निश्चित करता है। किन्तु कर-दान योग्यता को नापना आसान नहीं है और इस सम्बन्ध में बहुत सी व्यवहारिक कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। सर्वप्रथम प्रश्न तो यह होता है कि किसी व्यक्ति की कर दान क्षमता को नापने का क्या आधार होना चाहिए? कर दान योग्यता का आधार निश्चित करने के लिए हम दो प्रकार के दृष्टिकोण अपना सकते है:—

(अ) व्यक्तिगत दृष्टिकोण (Subjective Aspect)।
(ब) बाहरी दृष्टिकोण (Objective Aspect)।

व्यक्तिगत दृष्टिकोण (Subject Aspect)—कर देने मे करदाता को त्याग करना पडता है और व्यक्ति के द्वारा की जाने वाली त्याग की मात्रा अथवा उसे होने वाली असुविधा उसकी कर-दान क्षमता का प्रतीक माना जा सकता है। किसी व्यक्ति को कर देने मे कितना त्याग करना पडता है उससे व्यक्ति की कर देने की क्षमता का अनुमान लगाया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे तीन विभिन्न विचार पाये जाते है.—

(अ) समान त्याग का सिद्धान्त (Principle of Equal Sacrifice)।

(ब) समानुपातिक त्याग का सिद्धान्त (Principle of Proportional Sacrifice)।

(स) न्यूनतम कुल त्याग का सिद्धान्त (Principle of Minimum Sacrifice)।

समान त्याग के सिद्धान्त के अनुसार कर देने मे सब लोगो को समान त्याग करना चाहिए। कर के द्रव्य भार (Money Burden) का बटवारा इस प्रकार करना चाहिए कि प्रत्येक करदाता को समान त्याग करना पडे अर्थात् कर प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिससे प्रत्येक करदाता को बराबर कष्ट सहना पडे। यह सिद्धान्त आनुपातिक कर प्रणाली के पक्ष मे है जिसमे करो की मात्रा आय मे होने वाली वृद्धि के अनुपात मे बढती है। समानुपातिक त्याग के सिद्धान्त के अनुसार करो का वास्तविक भार करदाताओ पर समान नही होना चाहिये बल्कि वह उनकी आय अथवा उनके द्वारा प्राप्त आर्थिक कल्याण के अनुपात मे होना चाहिए। अधिक आय वाले लोगो के ऊपर कर का भार अधिक पडना चाहिए और कम आय वाले लोगो पर कम। यह सिद्धात प्रगतिशील कर प्रणाली के पक्ष मे है जिसमे कर की दर व्यक्ति की आय मे वृद्धि के साथ बढती जाती है। न्यूनतम कुल त्याग के सिद्धात के अनुसार कर के भार को इस प्रकार बाटा जाना चाहिए कि समाज पर कर का सम्पूर्ण वास्तविक भार कम से कम रहे। जो लोग कर का अधिक भार उठा सकते हो उनके कधो पर अधिक भार रखा जाना चाहिए। गरीबो से कर नही लिए जाने चाहियें और अमीरो को बहुत ऊचे कर देने चाहियें। मार्शल, पीगू तथा डाल्टन ने इसी सिद्धात को करारोपण का उचित आधार माना है। किन्तु यह सभी सिद्धात केवल सैद्धान्तिक महत्व रखते है और व्यवहारिक दृष्टि से कर-दान क्षमता को नापने मे कोई सहायता नही दे सकते हैं। वास्तव मे त्याग अथवा असुविधा एक आतरिक अनुभव की बात है और उसे निश्चित रूप से नापना सम्भव नही है।

बाहरी दृष्टिकोण (Objective Aspect)—किसी व्यक्ति की कर-दान क्षमता को उसके पास होने वाले धन अथवा उसे प्राप्त होने वाली आय के द्वारा भी नापा जा सकता है। इस प्रकार कर योग्यता को नापने के तीन मुख्य आधार हो सकते है—(i) सम्पत्ति, (ii) उपभोग, (iii) आय इन तीनो मे से कौनसा व्यक्ति की कर-दान योग्यता का उचित आधार हो सकता है, इस बारे मे काफी मतभेद पाया जाता है। पहले सम्पत्ति को व्यक्ति की कर-दान योग्यता का प्रतीक समझा जाता था किन्तु

अनुभव के आधार पर यह देखा गया कि अकेले सम्पत्ति के आधार पर किसी व्यक्ति की कर-दान योग्यता को निश्चित करना बहुत ठीक नहीं है क्योंकि यह सम्भव हो सकता है कि एक व्यक्ति के पास सम्पत्ति न हो और फिर भी उसकी कर-दान योग्यता काफी हो। हजारों रुपये मासिक आय वाले व्यक्ति की कर-दान योग्यता उस विधवा की अपेक्षा कहीं अधिक है जिसके पास मकान है। इस दोष को दूर करने के लिए उपभोग अथवा व्यय को कर-दान क्षमता को नापने का आधार माना गया किन्तु अन्त में उसे भी छोड़ दिया गया क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि अधिक व्यय वाले व्यक्ति की कर दान योग्यता भी अधिक है। एक निधन व्यक्ति को जिसका परिवार काफी बड़ा है, धनी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक व्यय करना पड़ता है किन्तु उसकी कर-दान योग्यता बहुत कम होती है। अन्त में व्यक्ति की आय को कर-दान योग्यता नापने के लिए प्रयोग किया जाने लगा और संसार के लगभग सभी देशों में आय के आधार पर कर-दान योग्यता को निश्चित किया जाता है। किसी व्यक्ति की कर-दान योग्यता उसके द्वारा सरकार के संरक्षण में प्राप्त होने वाली आय पर निर्भर होती है। किन्तु आय को कर-दान योग्यता के आधार के रूप में प्रयोग करते समय इन बातों का ध्यान रखना चाहिये—(अ) आय सम्पत्ति से प्राप्त की जाती है अथवा व्यक्तिगत श्रम के द्वारा। सम्पत्ति से प्राप्त आय पर कर की दर ऊंची होनी चाहिए। (ब) व्यक्ति के ऊपर आश्रितों की संख्या को भी ध्यान में रखना चाहिए। एक अविवाहित व्यक्ति को विवाहित व्यक्ति की अपेक्षा अधिक कर देना चाहिए। (स) एक न्यूनतम छूट की सीमा होनी चाहिए जिसे समाज के वर्तमान रहन-सहन स्तर के द्वारा निश्चित किया जाना चाहिए। (द) अमीरों पर कर लगाते समय प्रगामी कर सिद्धान्त का प्रयोग किया जाना चाहिये।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी न्याय सम्बन्धी सिद्धांत हैं किन्तु वे अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। यहां पर उनकी संक्षेप में व्याख्या की जा सकती है।

(द) वित्तीय सिद्धान्त (Financial Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार कर सरकार के लिये एक वित्तीय साधन है जिसके द्वारा वह कम से कम विरोध के साथ अपनी आय प्राप्त कर सकती है। कर इसलिये लगाये जाते हैं क्योंकि उनसे सरकार को आय प्राप्त होती है। यह सिद्धान्त करारोपण का उचित आधार प्रस्तुत नहीं करता है क्योंकि करों का प्रयोग अन्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये भी किया जा सकता है।

(य) 'जैसा पाओ वैसा छोड़ो' सिद्धान्त (Leave as you found them principle)—इस सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान धन के वितरण में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिये। करों के द्वारा धन के वितरण की असमानताओं को न बढ़ाना चाहिये और न कम किया जाय। कर प्रणाली ऐसी होनी चाहिये जो लोगों को वैसा ही छोड़ दे जैसा कि वह उन्हें पाती है। यह सिद्धान्त आजकल नहीं माना जाता है और इसके स्थान पर एक भिन्न सिद्धांत का निर्माण किया गया है

जिसे सामाजिक-राजनैतिक सिद्धात (Socio-Political Theory) कहा जाता है। इस सिद्धात के अनुसार कर सरकार के हाथो मे विभिन्न सामाजिक तथा राजनैतिक उद्देश्यो को प्राप्त करने का निश्चित अस्त्र है जिनका प्रयोग धन की असमानताओ को दूर करने अथवा उद्योगो को बढाने के लिये किया जा सकता है।

कर उपभोग को नियन्त्रित करने के लिए—इस सिद्धात के अनुसार करो का प्रथम उद्देश्य हानिकारक वस्तुओ जैसे शराब तथा अन्य नशीले पदार्थों के उपभोग को नियन्त्रित करना है। किन्तु यह विचार एक तर्फा है और करो के अन्य महत्वपूर्ण उपयोगो को इस मे कोई स्थान नही दिया गया है।

इन सभी सिद्धातो का महत्व वर्तमान समय मे काफी कम हो गया है। अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धात करारोपण का उचित सिद्धाँत समझा जाता है और सभी देशो में कर प्रणाली का निर्माण इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है। किन्तु अध्ययन की दृष्टि से अन्य सिद्धाँत भी अपना स्थान रखते है।

करों का वर्गीकरण

किसी भी देश की कर प्रणाली विभिन्न प्रकार के करो का मिश्रण होती है। इन करो की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए तथा कर प्रणाली मे विभिन्न करो के महत्व को जानने के लिये करो का वर्गीकरण किया जाता है। करो के सम्बन्ध मे कई प्रकार के वर्गीकरण मिलते है जो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करते है। कुछ एक वर्गीकरण इस प्रकार हैं—

(क) प्रत्यक्ष और परोक्ष कर

कर का भार किस व्यक्ति पर पडता है और इस भार को एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर टाल सकता है अथवा नही इस आधार पर करो को दो वर्गों मे बाँटा जा सकता है—प्रत्यक्ष कर (Direct Tax) तथा परोक्ष कर (Indirect Tax)। प्रत्यक्ष कर वह कर होता है जो उसी व्यक्ति पर लगाया जाता है जिसके द्वारा कर का भार सहन किया जाना चाहिये। इस प्रकार के कर का भार कर देने वाले व्यक्ति पर ही होता है और वह किसी प्रकार भी उसे अन्य व्यक्तियो पर नही टाल सकता है। इस प्रकार के करो म कर देने वाला ही कर के भार को सहन करता है। दूसर शब्दो मे कराघात (Impact of Tax) और करापात (Incidence of Tax) एक ही व्यक्ति पर पडते हैं। ऐसे करो को जिनके भार का विवर्तन (Shifting) सम्भव नहीं होता है प्रत्यक्ष कर कहा जाता है। आय कर तथा मृत्यु कर इसी प्रकार के कर होते हैं। इस प्रकार के कर अधिकाश धनिक वर्ग पर लगाये जाते हैं। इसके विपरीत परोक्ष कर वह होता है, जो एक व्यक्ति पर लगाया जाता है किन्तु आंशिक अथवा सम्पूर्ण रूप से दूसरे व्यक्ति के द्वारा सहन किया जाता है। इस प्रकार के कर इस उद्देश्य से लगाये जाते हैं कि उनके भार को दूसरे व्यक्तियो पर टाल दिया जायगा। परोक्ष कर के सम्बन्ध मे कर देने वाला एक व्यक्ति होता है और उसे सहन करने वाला दूसरा व्यक्ति अर्थात इन करो का कराघात

और कराघात अलग-अलग व्यक्तियों पर पड़ता है। कर देने वाला कर के भार को सहन नहीं करता है बल्कि वह उसे अन्य व्यक्तियों पर टाल देता है। ऐसे कर को जिसके भार को दूसरे के कन्धों पर टाला जा सकता हो, परोक्ष कर कहते हैं। मनोरंजन कर तथा वस्तुओं के उत्पादन अथवा आयात पर लगाये जाने वाले कर परोक्ष कर होते हैं। ऐसे करो का भुगतान एक वर्ग के लोगों के द्वारा किया जाता है किन्तु उन्हें दूसरे वर्ग के लोगों के कन्धों पर डाल दिया जाता है। कभी-कभी एक ही कर विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष हो सकता है। यदि कोई कर सरकार इस उद्देश्य से लगाती है कि उसका भार उन्हीं लोगों पर पड़े जो कि उसे देते हैं किन्तु आर्थिक तथा सामाजिक दशाओं के कारण कर-दाता के लिये कर के भार को अन्य व्यक्तियों पर टालना सम्भव हो जाता है तो ऐसा कर सरकार के दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष है किन्तु कर-दाताओं के दृष्टिकोण से परोक्ष होगा। इसी प्रकार यदि किसी कर को इस उद्देश्य से लगाया जाता है कि उसके भार को अन्य व्यक्तियों पर टाल दिया जाय किन्तु परिस्थितिवश ऐसा करना सम्भव नहीं होता है तो ऐसी दशा में वह कर सरकार की दृष्टि से परोक्ष होगा तथा कर-दाताओं की दृष्टि से प्रत्यक्ष।

यद्यपि एक अच्छी कर प्रणाली वही होती है जिसमें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष, दोनों प्रकार के करों का उचित प्रयोग किया जाता हो किन्तु यह बताना बहुत कठिन है कि इन दोनों प्रकार के करों में से कौनसा अधिक अच्छा है। कर प्रणाली में दोनों प्रकार के करों के महत्व को समझने के लिये उनमें से प्रत्येक के लाभ तथा दोषों का अध्ययन किया जा सकता है।

प्रत्यक्ष करों के लाभ

प्रत्यक्ष करों के सम्बन्ध में बहुत से लाभ बतलाये जाते हैं जिनके आधार पर वर्तमान कर प्रणाली में उनकी उपयोगिता को सिद्ध किया जा सकता है। कुछ प्रमुख लाभ इस प्रकार हैं —(i) **प्रत्यक्ष कर अधिक न्यायपूर्ण होते हैं** क्योंकि उन्हें कर दाता की आय अथवा सम्पत्ति के अनुपात में लगाया जाता है। इस प्रकार के कर प्राय प्रगामी दर (Progressive Rate) के अनुसार लगाये जाते हैं जिसके कारण वे अधिक न्यायशील हो जाते हैं। धनी लोगों को इस प्रकार के कर अधिक मात्रा में देने होते हैं तथा कम आय वालों के लिये कर की दर नीची रखी जाती है। (ii) **इस प्रकार के कर बहुत अधिक लोचदार होते हैं** और उनसे होने वाली आय को आवश्यकता के अनुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। देश में धन की वृद्धि के साथ साथ इन करों से होने वाली आय अपने आप बढ़ जाती है। (iii) **प्रत्यक्ष कर परोक्ष करों की अपेक्षा अधिक उत्पादक होते हैं** क्योंकि उनसे सरकार बढ़ती हुई मात्रा में आय प्राप्त कर सकती है। आय प्राप्त करने की दृष्टि से प्रत्यक्ष करों को अच्छा समझा जाता है। (iv) **इस प्रकार के कर अधिक निश्चित होते हैं।** कर-दाता को निश्चित रूप से यह पता होता है कि उसे कब और कितना कर देना है। इसी प्रकार सरकार भी प्रत्यक्ष करों से प्राप्त आय का अनुमान लगा

सकती है। (v) प्रत्यक्ष कर अधिक मितव्ययितापूर्ण होते हैं क्योंकि उनका एकत्रण व्यय बहुत कम आता है। इस प्रकार के कर बहुत कम लोगो से इकट्ठे करने होते हैं और उन्हे आय के स्रोत पर ही ले लिया जाता है। इसलिये उनके इकट्ठा करने पर बहुत कम खर्च आता है। (vi) इस प्रकार के कर लोगों मे नागरिकता की भावना उत्पन्न करते हैं। प्रत्यक्ष कर इस प्रकार लिये जाते हैं कि कर-दाता को कर देते समय उनके भार का पूरा अनुभव होता है। इन करों को देते समय लोग यह अनुभव करते हैं कि वे देश मे सुरक्षा तथा न्याय को स्थापित करने के लिये कुछ दे रहे हैं और इसीलिये वे इस बात मे काफी दिलचस्पी लेते हैं कि सरकार करो के द्वारा प्राप्त उनके धन का व्यय किस प्रकार करती है? यदि सरकार उसका अपव्यय करती है तो लोग उसके विरोध मे अपना असन्तोष प्रकट करते हैं जिससे राजस्व की कुशलता मे वृद्धि होती है।

प्रत्यक्ष करों के दोष :

प्रत्यक्ष करो के सम्बन्ध मे पाये जाने वाले कुछ दोष इस प्रकार हैं—(i) वे असुविधाजनक होते हैं। प्रत्यक्ष कर लोगो के द्वारा महसूस किये जाते हैं और उन्हे देते समय कष्ट होता है इसलिए लोग उन्हे पसन्द नही करते हैं। इस प्रकार के करों मे वृद्धि करने से असन्तोष उत्पन्न होता है जिसके कारण सकटकाल मे सरकार की आय बेलोचदार हो जाती है। (ii) इन करों को ठीक-ठीक निश्चित करना संभव नहीं होता है और उन्हे मनचाही दरो पर लगाया जाता है जिसके कारण उनमे न्याय-शीलता का गुण कम हो जाता है। (iii) इस प्रकार के करो के अपवंचन (Evasion) का भय अधिक रहता है। करदाता झूठे हिसाब देकर इन करो से बचने का प्रयत्न करते हैं जिसके कारण सरकार को इन करो से उतनी आय नहीं होती है जितनी कि होनी चाहिये। (iv) प्रत्यक्ष करों के द्वारा समाज के सभी वर्गों तक नहीं पहुँचा जा सकता है। विशेषकर निर्धन व्यक्तियो पर इस प्रकार के कर नही लगाये जा सकते है। (v) इन करो से होने वाली आय सरकार के लिए अपर्याप्त रहती है। व्यवहारिक अनुभव यह बतलाता है कि कोई भी सरकार केवल प्रत्यक्ष करो से अपनी सम्पूर्ण आय प्राप्त नही कर सकती है।

परोक्ष करो के लाभ :

परोक्ष करो का महत्व दिन प्रतिदिन बढता जा रहा है और वर्तमान सरकारें अपनी आय बढ़ाने के लिये इस प्रकार के करो का अधिकाधिक मात्रा मे प्रयोग कर रही हैं। इन करो के कुछ प्रमुख गुण इस प्रकार हैं:—(i) परोक्ष कर अधिक सुविधाजनक होते हैं क्योंकि वे ऐसे समय लिए जाते है जब उनका देना कर-दाता के लिए सुविधापूर्ण होता है। वस्तुओ पर कर उस समय लिया जाता है जब उपभोक्ता उसे खरीदता है। इस प्रकार के कर एकदम नही लिए जाते हैं बल्कि उन्हे थोड़ा-थोड़ा करके लिया जाता है। (ii) यह कर लोगो को महसूस नहीं होते हैं। परोक्ष कर इस प्रकार लिए जाते हैं कि उन्हे देते समय लोगों को यह अनुभव नही होता

है कि वे कर दे रहे हैं। उदाहरणार्थ कपड़ा, चीनी, मिट्टी के तेल आदि पर हम प्रतिदिन कर देते हैं किन्तु हमें इस बात का अनुभव नहीं होता है। इस प्रकार के करों की दर में वृद्धि करने पर असन्तोष तथा उत्तेजना नहीं फैलती है और सरकार इनसे बढ़ती हुई मात्रा में आय प्राप्त कर सकती है। (iii) **इस प्रकार के करों से बचना बहुत कठिन होता है** क्योंकि वे वस्तुएं खरीदते समय लिये जाते हैं। अपवचन की सम्भावना कम होने के कारण सरकार को परोक्ष करों से काफी आमदनी प्राप्त हो जाती है। (iv) **परोक्ष करों के द्वारा समाज के सभी वर्गों तक पहुँचा जा सकता है।** गरीब से गरीब व्यक्ति को भी इन करों का कुछ न कुछ भाग अवश्य देना पड़ता है। समाज के धनी तथा निर्धन वर्ग दोनों को ही यह कर देने होते हैं। (v) **इनका प्रयोग सामाजिक उद्देश्यों के लिये भी किया जा सकता है।** हानिकारक वस्तुओं पर लगाये गये परोक्ष कर, इन वस्तुओं के प्रयोग को कम करते हैं और इस प्रकार वे एक महत्वपूर्ण सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। (vi) **यदि इन करों को आवश्यकता की वस्तुओं पर लगाया जाय तो वे काफी लोचदार होते हैं** और सरकार उनसे अधिकाधिक मात्रा में आय प्राप्त कर सकती है।

परोक्ष करों के दोष

परोक्ष करों में कुछ दोष भी पाये जाते है—(i) **इस प्रकार के कर अधिक न्यायपूर्ण नहीं होते हैं** क्योंकि इन्हें लगाते समय लोगों की कर दान योग्यता को ध्यान में नहीं रखा जाता है। परोक्ष कर प्रायः सामान्य उपभोग की वस्तुओं पर लगाये जाते हैं जिसके कारण उनका भार अमीरों की अपेक्षा गरीब लोगों पर अधिक पड़ता है। (ii) **वे मितव्ययितापूर्ण नहीं होते हैं** क्योंकि उन्हें एकत्रित करने का व्यय बहुत आता है। परोक्ष कर असंख्य लोगों से इकट्ठा करने पड़ते है जिसके कारण उन्हें एकत्रित करने के लिये सरकार को काफी व्यय करना पड़ता है। (iii) **वे अनिश्चित होते हैं।** करदाता को यह पता नहीं होता कि उसे कितनी मात्रा में परोक्ष कर देने हैं। सरकार भी परोक्ष करों से होने वाली आय का अनुमान ठीक-ठीक नहीं लगा सकती है। (iv) **इन करों के कारण वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं** जिससे व्यापार को हानि होती है और उपभोक्ताओं के रहन सहन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। (v) **मुद्रा सकुचन काल में इन करों से होने वाली आय गिर जाती है।** मन्दी के काल में वस्तुओं की माग कम हो जाती है जिसके कारण वस्तु करों से होने वाली आय में भारी कमी आ जाती है। (vi) **यह कर नागरिक भावना को जाग्रत नहीं करते हैं**— इन्हें देते समय कर-दाता को कष्ट का अनुभव नहीं होता है इसलिये वह सरकार के द्वारा किये जाने वाले व्यय के प्रति उदासीन रहता है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष करों में कौन अधिक लाभ-पूर्ण है यह बताना बहुत कठिन है। दोनों ही प्रकार के करों से कुछ लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं किन्तु उनके दोषों से सतर्क रहना भी आवश्यक है। वास्तव में प्रत्यक्ष और परोक्ष करों के बीच एक को छोड़कर दूसरे को छाटने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। किसी देश की कर प्रणाली में दोनों प्रकार के कर महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। एक आदर्श कर प्रणाली

वही मानी जाती है जिसमे प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो का उचित सम्मिश्रण पाया जाता हो।

(ख) आनुपातिक कर तथा प्रगतिशील कर :

करो को एक दूसरे दृष्टिकोण से आनुपातिक तथा प्रगतिशील करों मे बांटा जा सकता है।

(१) आनुपातिक कर (Proportional Tax):—आनुपातिक कर वह कर होता है जो आय के अनुपात मे लगाया जाता है। इस प्रकार के कर ठीक उसी अनुपात मे बढते हैं जिस अनुपात में व्यक्ति की आय अथवा सम्पति मे वृद्धि होती है। आनुपातिक कर वे कर होते हैं जो सब प्रकार की आयो पर एक ही दर अथवा प्रतिशत के हिसाब से लिये जाते है और आमदनी के घटने बढने पर कर दर मे कोई परिवर्तन नही होता है। यदि प्रत्येक कर-दाता को अपनी आय का २% कर के रूप मे देना पडे तो इस प्रकार का कर आनुपातिक होगा क्योकि कर की दर का सम्बन्ध आय की मात्रा से कुछ नही है। इस प्रकार के कर की दर आमदनी के बढने के साथ नही बढती है और आमदनी का ठीक वही प्रतिशत कर के रूप मे लिया जायगा चाहे आमदनी कितनी ही हो। आनुपातिक कर इस प्रकार होता है—

कर की दर ६¼ प्रतिशत

आय	कर की मात्रा
१०० रु०	६·२५ रु०
२०० रु०	१२·५० रु०
५०० रु०	३१·२५ रु०

आनुपातिक कर इस विचार पर आधारित है कि समाज मे धन का वर्तमान वितरण उचित है और उसे करारोपण के द्वारा नही बदला जाना चाहिये। विभिन्न व्यक्तियो की आय का अनुपात कर देने के पश्चात् भी उसी प्रकार बना रहता है जैसा कि कर देने से पूर्व था। आरम्भ मे अर्थशास्त्रियो के द्वारा आनुपातिक करो को उचित बताया जाता था क्योकि वे धन के वितरण को नहीं बदलते हैं किन्तु शीघ्र ही यह अनुभव किया जाने लगा कि इस प्रकार के करो का भार धनी व्यक्ति की अपेक्षा निर्धन व्यक्तियो पर अधिक पडता है। आनुपातिक कर के कुछ लाभ इस प्रकार हैं—(i) वह बहुत सरल होता है और प्रत्येक व्यक्ति अपने कर का अनुमान आसानी से लगा सकता है। (ii) इस प्रकार का कर समाज मे धन के वितरण को नही बदलता है। किन्तु आनुपातिक कर का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह न्यायपूर्ण नही होता है क्योंकि लोगो की कर-दान क्षमता उससे अधिक अनुपात मे बढती है जिसमे कि उनकी मौद्रिक आय मे वृद्धि होती है।

(२) प्रगतिशील कर (Progressive Tax) :—आनुपातिक करो के दोषो को दूर करने के लिए प्रगतिशील कर प्रणाली को अपनाने के लिये कहा जाता है। प्रगतिशील कर वह कर होता है जिसके द्वारा आय के बढने के साथ-साथ उसका

अधिकाधिक भाग कर के रूप मे लिया जाता है। प्रगतिशील करो के सम्बन्ध मे आय मे वृद्धि या कमी के साथ कर की दर में भी परिवर्तन होता है। विभिन्न आय वालों को एक ही दर पर कर नहीं देना पडता है। जैसे-जैसे आय बढती जाती है उनके साथ-साथ कर की दर भी बढती जाती है। उदाहरणार्थ—

आय	कर की दर
५००० रु० तक	१०%
५००१ से १०,००० तक	१५%
१०,००१ से १५,००० तक	२२%

इसी प्रकार आय के बढने के साथ-साथ कर की दर में वृद्धि होती है और बहुत ऊंची आय वालों को अपनी आय का काफी बडा भाग कर के रूप में देना पडता है। प्रगामी कर इस विचार पर आधारित है कि आय के बढने के साथ लोगों की कर दान क्षमता उससे अधिक अनुपात में बढती है जिस अनुपात में आय मे वृद्धि होती है। इसीलिये अमीरो पर कर की दर अधिक रक्खी जाती है और कम आय वालों पर कम। इस प्रकार का कर आधुनिक युग मे अच्छा समझा जाता है क्योंकि वह समानता तथा न्यायशीलता के सिद्धान्त के अनुकूल होता है।

प्रगतिशील करों के पक्ष मे दिये जाने वाले कुछ तर्क इस प्रकार हैं —(Arguments in Favour of Progressive Tax System) :— (i) इस प्रकार का कर समानता के सिद्धांत (Canon of Equity) के अनुसार होता है। मौद्रिक आय के सम्बन्ध मे भी घटती हुई उपयोगिता का नियम लागू होता है और लोगों की आय के बढने के साथ-साथ उनके लिए मुद्रा की उपयोगिता कम होती जाती है। अमीरो के लिये गरीबों की अपेक्षा मुद्रा की उपयोगिता बहुत कम होती है इसलिए कर के भार को समान रूप से बाँटने के लिए अमीरो पर अधिक कर लगाए जाने चाहियें और गरीबों पर कम। इस प्रकार की व्यवस्था प्रगामी कर के द्वारा ही सम्भव हो सकती है।

(ii) यह कर अधिक न्यायपूर्ण है। नैतिक दृष्टि से वही कर अधिक न्यायपूर्ण होता है जो अमीरो पर अधिक से अधिक तीव्रता के साथ पडता हो क्योंकि उनकी कर देने की योग्यता बहुत अधिक होती है। प्रगामी करो के द्वारा ही अमीरों से अधिक और गरीबो से कम कर लिए जा सकते हैं।

(iii) प्रगतिशील कर समाज में धन के वितरण को ठीक करने मे सहायता देते हैं। वर्तमान समाज मे धन का वितरण बहुत अधिक असमान है और करारोपण का उद्देश्य इस असमानता को दूर करना होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रगतिशील कर प्रणाली सबसे अधिक उपयुक्त है।

(iv) इस प्रकार के कर काफी लोचपूर्ण तथा उत्पादक होते हैं। कर की दर मे जरा सी वृद्धि करने से सरकार को बहुत अधिक मात्रा मे आय प्राप्त हो सकती है। समाज मे लोगों की आय मे वृद्धि होने पर इन करो से होने वाली आय स्वयं बढती जाती है।

(v) यह कर अधिक मितव्ययितापूर्ण होता है क्योकि सरकार को उसे एकत्रित करने मे कम व्यय करना पडता है।

प्रगतिशील करो के दोष :

प्रगतिशील करो के विपक्ष मे निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं :—

(i) कर की प्रगतिशीलता की दर को ठीक प्रकार निश्चित नही किया जा सकता है। कोई कर कितना प्रगामी होना चाहिये इसे निश्चित करने का कोई वैज्ञानिक आधार नही है। प्रगतिशीलता की दर (Rate of Progression) को प्राय: मनमाने ढग से निश्चित किया जाता है जिसके कारण लोगो के साथ कितना भी अन्याय किया जा सकता है।

(ii) इस प्रकार के कर समाजवाद के सिद्धांत के अनुकूल हैं इसलिए पूंजी-पति वर्ग इसका विरोध करता है।

(iii) प्रगतिशील कर व्यवसायियो के प्रोत्साहन को कम करता है। अधिक आय पर कर दर बहुत ऊँची होने के कारण एक सीमा के पश्चात लोग अपनी आय मे वृद्धि करने के प्रति उदासीन हो जाते हैं।

(iv) इन करो का पूँजी के सचय पर बुरा प्रभाव पडता है। जिन लोगो मे बचत करने की क्षमता होती है उन्ही लोगो पर प्रगामी कर अधिक तीव्रता के साथ पडता है जिसके कारण समाज मे पूँजी के सचय मे रुकावट होती है।

(v) इस प्रकार के कर अमीर लोगो को कर से बचने के लिये अनैतिक विधियो का प्रयोग करने के लिये प्रोत्साहित करते हैं। कर की दर ऊँची होने के कारण उससे बचने के लिये सभी तरीको का प्रयोग किया जाता है।

(३) प्रतिगामी कर (Regressive Tax)—प्रतिगामी कर प्रगतिशील कर का बिल्कुल विपरीत होता है। इस प्रकार के कर की दर आय के बढने के साथ कम होती जाती है। प्रतिगामी कर वह कर होता है। जिसका भार धनी वर्ग की अपेक्षा गरीब वर्ग पर अधिक पडता हो। इस प्रकार के कर का न्याय मे कोई स्थान नही है। कोई भी शिक्षित समाज ऐसे कर को नही लगाता है जिसकी दर आय मे वृद्धि के साथ बढती हो किन्तु फिर भी वस्तुओ पर लगाये गए कुछ करो का भार अमीरो की अपेक्षा गरीबो पर अधिक होता है। यदि कर उस वस्तु पर लगाया जाता है जिसका अधिक प्रयोग गरीब लोगो के द्वारा किया जाता है तो ऐसा कर प्रभाव मे प्रतिगामी कर के समान होता है। भारतीय नमक कर इसी प्रकार का कर था और गरीबो को उसका अधिक भार सहन करना पडता था इसीलिए उसका भारी विरोध किया गया। प्रतिगामी करो के पक्ष मे कुछ भी कहना सभव नही है क्योकि ऐसे कर न्याय के विरुद्ध होते हैं और जनता उन्हे सहन नही कर सकती इस प्रकार के करो का भार उन कन्धो पर अधिक पडता है जो उसे सहन नही कर सकते। किन्तु कभी-कभी इन करों का लाभपूर्ण प्रयोग भी किया जा सकता है। यदि कुछ वस्तुओ का प्रयोग निर्धन वर्ग मे कम करने के लिये उन्हे काम मे लाया

जाना है तो वे समाज हित मे हो सकते हैं। उदाहरणार्थ यदि शराब अथवा तम्बाकू का प्रयोग निर्धन वर्ग मे कम करने के लिये, इन वस्तुओं की उस श्रेणी पर अधिक कर लगाया जाता है जो गरीब वर्ग प्रयोग करता है तो उसके परिणामस्वरूप इन वस्तुओं का प्रयोग कम हो सकता है। किन्तु साधारणतया इस उद्देश्य के लिए इन करो का प्रयोग नहीं किया जाता है और वर्तमान कर प्रणाली मे प्रतिगामी करों का कोई स्थान नहीं है। प्राय उन्हे घृणा की दृष्टि मे देखा जाता है।

(४) अधोगामी कर (Degressive Tax)—जो कर कम प्रगतिशील होते हैं और जिनकी दर आय मे वृद्धि के साथ बहुत ही मन्द गति मे बढती है, ऐसे करो को अधोगामी कर कहा जाता है। इस प्रकार के करो की दर आय के बढने पर बढती तो है किन्तु कर मे वृद्धि की दर आय के बढने के साथ कम होती जाती है। अमीर लोगो पर ऐसे कर का भार अपेक्षाकृत कम पडता है और वे उतना त्याग नहीं करते हैं जितना कि उन्हे करना चाहिये। कर एक सीमा तक प्रगामी हो सकते हैं और उस के पश्चात आनुपातिक। कर की दर आय की वृद्धि की एक सीमा तक तो बढती है किन्तु उसके पश्चात एक ही दर मे कर लिया जाता है। ऐसे करो के सम्बन्ध मे कम आय वाले व्यक्तियो को अधिक आय वाले व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक त्याग करना पडता है। अधोगामी कर न्याय के विरुद्ध होते हैं इसलिए उन्हे अधिक पसन्द नहीं किया जाता है। लगभग प्रत्येक प्रगामी कर अन्तिम भाग मे अधोगामी होने की प्रवृत्ति रखता है क्योंकि एक सीमा के पश्चात इन करों की दर आनुपातिक हो जाती है।

एक तथा अनेक-कर प्रणाली

एक कर प्रणाली मे केवल एक कर लगाया जाता है और राज्य की समस्त आय इसी एक कर के द्वारा प्राप्त की जाती है। इसके विपरीत अनेक कर प्रणाली विभिन्न प्रकार के करो पर आधारित होती हैं और सरकार अपनी-अपनी आमदनी प्राप्त करने के लिये अनेक प्रकार के कर लगाती है। आरम्भकाल से ही कर प्रणाली को सरल बनाने का प्रयत्न किया गया है और इसलिये प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने एक कर प्रणाली को अपनाने पर अधिक जोर दिया। निर्बाधावादी अर्थशास्त्रियों (Physiocrats) के अनुसार एक कर प्रणाली ही उत्तम है क्योंकि उसके द्वारा सरकार सीधा उन लोगों तक पहुंच सकती है जो समाज मे अतिरेक (Surplus) उत्पन्न करते हैं। इन अर्थशास्त्रियो का मत था कि कर केवल अतिरेक मे से ही दिया जा सकता है। इसलिये सरकार को उन्ही लोगो पर कर लगाना चाहिये जो अतिरेक उत्पन्न करते है। अन्य लोगो के ऊपर कर लगाने का परिणाम यह होगा कि उसे दूसरे लोगो पर टाल दिया जायगा। क्वेस्ने (Quesney) तथा टरगाट (Turgot) आदि निर्बाधावादियो ने केवल आर्थिक लगान पर एक कर लगाने का सुझाव दिया क्योंकि इनके अनुसार सभी करो का भार अन्त मे लगान पर पड़ता है।

भूमि का लगान ही यह अतिरेक है जो समाज के द्वारा उत्पन्न किया जाता है और जिसमे से कर दिया जा सकता है। उन्होने इस प्रकार के कर का सुभाव इसलिये दिया क्योकि उसके भार को न तो अन्य लोगो पर टालना सभव है और न ही वह समाज ने बचत पर कोई बुरा प्रभाव डालता है। हैनरी जार्ज (Henry George) ने भी भूमि पर एक कर लगाने की प्रणाली का समर्थन किया है। वे समाजवादी विचारधारा के व्यक्ति थे और उनका कहना था कि सरकार को कर के द्वारा भूमि के कुल लगान या उसके मूल्य मे होने वाली अनर्जित वृद्धि (unearned increment) को ले लेना चाहिये क्योकि ऐसा करना न्याय की दृष्टि से उचित है। भूमि पर एक कर लगाये जाने की प्रणाली मे अनेक दोष पाये जाते है। केवल भूमि के लगान पर कर लगा कर एक आधुनिक सरकार के व्यय को पूरा करने के लिये पर्याप्त आय नही प्राप्त की जा सकती। इस प्रकार के कर को न्याय-पूर्ण भी नही कहा जा सकता क्योकि इस प्रणाली के अन्तर्गत केवल एक प्रकार की सम्पत्ति पर कर लगाया जाता है तथा अन्य प्रकार की सम्पत्ति वाले लोग कर से बच जाते हैं। कर से बचने के लिये लोग अपने धन को भूमि मे न लगा कर अन्य प्रकार की सम्पत्ति मे लगाने का प्रयत्न करेंगे। कर के भार का वितरण भी ठीक प्रकार से नहीं हो सकेगा क्योकि एक धनी व्यक्ति को, जिसके पास भूमि नही है, कोई कर नही देना होगा तथा एक निर्धन व्यक्ति को जिसने अपनी समस्त पूंजी मकान अथवा भूमि खरीदने मे लगा दी है, कर देना पड़ेगा।

वर्तमान काल मे कुछ समाजवादी लेखको ने केवल आय पर कर लगाने का सुझाव दिया है। उनके अनुसार आय को कर का आधार बनाकर कर एक कर प्रणाली के दोषो को दूर किया जा सकता है। इस प्रकार के कर से पर्याप्त आय भी प्राप्त की जा सकती है और इसे प्रतिगामी बना कर तथा इसमे समस्त प्रकार की आय को सम्मिलित करके कर के भार को विभिन्न लोगो पर उचित ढग से बाटा जा सकता है। किन्तु फिर भी आय कर को दोष-रहित नही कहा जा सकता है। केवल आय पर कर लगाने की व्यवस्था मे भी अनेक दोष पाये जाते हैं—(i) इस कर के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को असुविधा होगी क्योकि यह कर सभी लोगो को देना होगा। (ii) इस प्रकार के कर को विशेषतया छोटी आय वालो से एकत्रित करने मे काफी व्यय करना होगा तथा प्रशासन सम्बन्धी अनेक कठिनाइया उत्पन्न हो जायेंगी। (iii) एक ही प्रकार का कर होने के कारण उससे बचने की सम्भावना बढ जायेगी। (iv) इस प्रकार का कर लोगो की आय को कम करके बचत को हतोत्साहित करता है। (v) केवल आय पर कर लगाया जायगा तो धन तथा सम्पत्ति के उत्तराधिकारी कर से बच जायगे।

उपरोक्त सभी दोषो के अतिरिक्त एक-कर प्रणाली के विरुद्ध तथा अनेक कर प्रणाली के पक्ष मे अग्रलिखित तर्क भी दिये जाते है.—

(१) एक-कर प्रणाली व्यक्तियो के बीच असमानता उत्पन्न करती है जिसे केवल अनेक-कर प्रणाली के द्वारा ही दूर किया जा सकता है।

(२) इस प्रणाली मे कर से बच निकलने की सम्भावना काफी बढ़ जाती है क्योकि उसे रोकने के लिये अन्य प्रकार का कोई कर नही होता।

(३) इस प्रकार की कर प्रणाली मे लोच का अभाव रहता है।

इन्ही सब कारणो मे अनेक-कर प्रणाली (Multiple Tax System) को एक-कर प्रणाली (Single Tax System) की अपेक्षा अधिक अच्छा समझा जाता है। एक कर प्रणाली केवल सिद्धान्तवादियो का स्वप्न है और उसे व्यवहारिक रूप देना सम्भव नही है। व्यवहारिक जीवन मे अनेक-कर प्रणाली ही अधिक सफल हो सकती है। अनेक-कर प्रणाली के पक्ष म निम्नलिखित बाते कही जा सकती हैं—(i) इस प्रकार की प्रणाली मे कर-अपवंचन (Tax Evasion) को काफी सीमा तक रोका जा सकता है। (ii) कर नीति को भेद-रहित बनाया जा सकता है। (iii) एक प्रकार के कर से उत्पन्न होने वाले दोष दूसरे प्रकार के करो के द्वारा दूर हो जाते हैं जिसके कारण कर प्रणाली अधिक न्यायपूर्ण हो जाती है। (iv) विभिन्न प्रकार के करो के द्वारा सरकार पर्याप्त आमदनी प्राप्त कर सकती है। यही कारण है कि आजकल सभी देशो मे अनेक-कर प्रणाली को अपनाया जाता है।

एक-कर प्रणाली के दोष तथा व्यवहार म उत्पन्न होने वाली कठिनाइयो के कारण आर्थर यग (Arthur Young) ने करो के भार को अधिक से अधिक मदो पर बाँटने का जोरदार समर्थन किया है। उन्होने लिखा है कि यदि "मुझे एक अच्छी कर-प्रणाली की परिभाषा करनी पडे तो वह यह होगी कि करो का थोडा-थोडा भार बहुत सी मदो पर बाट दिया जाय और बहुत बडा भार किसी एक मद पर न लादा जाय।"[1] उनका यह विचार भ्रमात्मक है क्योकि यह हमे दूसरी सीमा पर ले जाता है। अनेक-कर प्रणाली को अपनाते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि करो की सख्या बहुत अधिक न हो जाय क्योकि करो की सख्या अधिक होने से उन्हे इकट्ठा करने पर व्यय बहुत अधिक आता है तथा व्यवहारिक कठिनाइया बढ जाती हैं। अत: कर प्रणाली न तो एक कर पर आधारित होनी चाहिये और न बहुत अधिक करो पर। सरकार को अपनी अधिकाश आय के लिये केवल कुछ एक करो पर निर्भर रहना चाहिये। वास्तव मे सबसे अच्छी कर प्रणाली न तो एक-कर प्रणाली है और न अनेक-कर प्रणाली, बल्कि इनके बीच की कोई व्यवस्था ही सकती है। बेस्टाबेल (Bastabale) ने बहु-कर प्रणाली (Plural Tax System) को सबसे अच्छा बतलाया है। उनके अनुसार कर प्रणाली ऐसी होनी चाहिये जिसमे कुछ बडे-बड़े कर ऐसे हो जिनका भार केवल धनी लोगो पर पड़े जैसे आय-कर, मृत्यु-कर आदि

1 "If I were to define a good tax-system, it should be that of bearing lightly on an infinite number of points, heavily on none."
—*Arthur Young*

तथा थोडे से कर ऐसे चाहियें जिनका भार समाज के प्रत्येक व्यक्ति पर पडे जैसे उपभोग सम्बन्धी वस्तुओं पर लगाये जाने वाले कर।

एक अच्छी कर प्रणाली की विशेषतायें :

किसी देश की कर प्रणाली को अच्छा अथवा बुरा कहने से पूर्व हमें उसकी विस्तृत जाच करनी चाहिये। कर प्रणाली में कुछ ऐसे कर हो सकते है जो एक दृष्टि से अच्छे सुविधाजनक हो किन्तु किसी अन्य दृष्टिकोण से वे उतने उपयुक्त न हो। इसलिये कर प्रणाली का अध्ययन सम्पूर्ण रूप से किया जाना चाहिये। किसी एक या दो करो को देख कर यह कह देना कि कर प्रणाली अच्छी है अथवा बुरी, उचित नही है। यद्यपि यह कहना अत्यन्त कठिन है कि कौनसी कर प्रणाली अच्छी है किन्तु फिर भी कुछ सामान्य गुणो के आधार पर कर प्रणाली की प्रकृति के विषय मे कुछ अवश्य कहा जा सकता है। सामान्यतया एक अच्छी कर प्रणाली वही है जो करारोपण के सिद्धान्तो के अनुकूल हो। अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक अच्छी कर प्रणाली मे निम्नलिखित विशेषतायें होनी चाहियें.—

(१) **प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करो का उचित मिश्रण**—एक अच्छी कर प्रणाली के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसमे प्रत्यक्ष (Direct) तथा परोक्ष (Indirect) दोनो प्रकार के कर सम्मिलित हो। समाज मे कर के भार को कम से कम रखने के लिये यह जरूरी है कि उसे समाज के सभी वर्गों पर बाटा जाय। समाज मे सभी लोगों को अपनी क्षमता के अनुसार कर देने चाहिये। किसी एक वर्ग पर कर के भार को डालना नैतिक तथा व्यवहारिक दृष्टि से उचित नही है इसलिये कर के भार को सभी लोगो पर समान रूप से बाटा जाना चाहिये। प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनो प्रकार के करो के द्वारा ही समाज के प्रत्येक वर्ग तक पहुँचा जा सकता है। प्रत्यक्ष करो का भार केवल अमीर लोगों पर होता है और उनके द्वारा अन्य वर्ग के लोगो को कर प्रणाली के अन्तर्गत नही लाया जा सकता है। केवल परोक्ष करो के द्वारा ही गरीब तथा मध्यम श्रेणी के लोगो तक पहुचा जा सकता है। अत एक अच्छी कर प्रणाली मे प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनो ही प्रकार के कर होने चाहिये और इन करो को इस प्रकार लगाया जाना चाहियें कि करो का भार किसी विशेष वर्ग पर केन्द्रित न होकर समाज मे सभी लोगो पर समान रूप से तथा कम से कम पड़े।

(२) **उत्पादकता (Productivity)**—अच्छी कर प्रणाली की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता उसकी उत्पादकता है। कर प्रणाली ऐसी होनी चाहिये कि वह सरकार के लिये पर्याप्त मात्रा मे आय उपार्जन कर सके। ऐडम्स (Adams) के अनुसार 'एक अच्छी आगम प्रणाली को सरकार की उचित आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त होना चाहिये।'[२] इसके लिये यह आवश्यक है कि सरकार अपनी अधिकाश आय बहुत से सापेक्षिक रूप से अनुत्पादक करो से प्राप्त करने की अपेक्षा कुछ एक उत्पादक करो

---

2 "A good revenue system must be adequate to the just wants of the State" Adams

से प्राप्त करे। किन्तु इसके साथ यह भी आवश्यक है कि समाज की उत्पादन शक्ति पर करो का बुरा प्रभाव न पड़े जिससे कि भविष्य मे आय का प्रवाह बना रहे। केवल आमदनी को ध्यान मे रख कर ऐसे करो को न लगाया जाय जिनका बचत की मात्रा अथवा धन के उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ता हो।

(३) कर प्रणाली लोचदार होनी चाहिये (Elasticity)—एक अच्छी कर प्रणाली मे लोच का गुण होना भी आवश्यक है। कर प्रणाली ऐसी होनी चाहिये कि करो से प्राप्त होने वाली आय को आवश्यकता के अनुसार घटाया बढाया जा सके। कर प्रणाली मे ऐसे करो की मात्रा कम से कम होनी चाहिये जिनसे प्राप्त होने वाली आय को घटाना बढाना सम्भव न हो। भूमि का लगान इसी प्रकार का कर है। ऐसे करो के कारण कर प्रणाली मे लोच का गुण कम हो जाता है। इसके विपरीत यदि कर प्रणाली मे लोचदार करो की मात्रा को अधिक रक्खा जाय तो सरकार के लिये असामान्य परिस्थिति मे अधिक आय प्राप्त करना सम्भव हो सकेगा।

(४) कर प्रणाली सुविधापूर्ण होनी चाहिये (Convenience)—कर प्रणाली करदाताओ के दृष्टिकोण से सुविधापूर्ण होनी चाहिये। करदाताओ को अनावश्यक कष्ट से बचाने के लिये यह जरूरी है कि करो की वसूली इस प्रकार की जाय कि लोगो को कर देने मे कम से कम असुविधा हो। कर लगाते समय करदाताओ की सुविधा का ध्यान रखना आवश्यक है। कर ऐसे समय लिये जाने चाहिये जब लोग उन्हे आसानी से दे सके। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि करो की मात्रा तथा उन्हे वसूल करने का समय निश्चित हो। डाल्टन (Dalton) के अनुसार एक अच्छी कर प्रणाली वही है जिसमे करो को कम से कम महसूस किया जाय अर्थात् जिसमे लोगो को कम से कम असुविधा हो।

(५) कर प्रणाली सरल (Simple), निश्चित (Certain) तथा मितव्ययिता-पूर्ण (Economical) होनी चाहिये—एक अच्छी कर प्रणाली सरकार तथा करदाताओ दोनो के दृष्टिकोण से साधारण होनी चाहिये। कर प्रणाली का निश्चित होना भी आवश्यक है। सरकार को यह मालूम होना चाहिये कि उसे करो से कब और कितनी आय प्राप्त होनी है। इसी प्रकार कर-दाताओ को भी यह पता होना चाहिये कि उन्हे कब और कितना कर देना है। कर प्रणाली को मितव्ययितापूर्ण होनी चाहिये जिससे कि करो को इकट्ठा करने मे कम से कम अपव्यय हो तथा उन्हे सस्ते ढग से इकट्ठा किया जा सके।

(६) कर प्रणाली अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त (Theory of Maximum Social Advantage) के अनुकूल होनी चाहिये—कर प्रणाली ऐसी होनी चाहिये जिसका समाज के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन पर कम से कम बुरा प्रभाव पडे। करो को इस प्रकार लगाया जाना चाहिये कि वे देश के व्यापार तथा उद्योगो के विकास मे कम से कम बाधा उत्पन्न करें। समाज मे बचत की मात्रा तथा लोगो की उत्पादन शक्ति पर भी उन का बुरा प्रभाव नही पडना चाहिये जिससे

राष्ट्रीय आय मे कमी न हो और उत्पत्ति के स्रोत सूखने न पायें। संक्षेप मे कर प्रणाली आर्थिक रूप से उचित होनी चाहिये और देश की आर्थिक उन्नति मे बाधक नही होनी चाहिये। ऐसी कर प्रणाली ही अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करने मे सहायक हो सकती है। डा० डाल्टन (Dalton) के अनुसार, 'सबसे अच्छी कर प्रणाली वही है जिसका सबसे अच्छा प्रभाव पडता हो या जिसके बुरे प्रभाव कम से कम हो।'[3]

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अच्छी प्रणाली वही है जो करारोपण के सिद्धान्तो के अधिक से अधिक अनुकूल हो। किन्तु व्यवहारिक रूप मे ऐसी आदर्श कर प्रणाली की व्यवस्था करना सम्भव नही है। कोई भी कर प्रणाली करारोपण के सब सिद्धान्तो को सन्तुष्ट नही कर सकती है। वास्तव मे ऐडम स्मिथ के द्वारा बताये गये करारोपण के सिद्धान्त कुछ सीमा तक एक दूसरे के विरोधी है। यह सम्भव हो सकता है कि एक कर किसी एक सिद्धान्त के अनुकूल हो किन्तु वह अन्य सिद्धान्तो को सन्तुष्ट न करता हो। ऐसी दशा मे यही कहा जा सकता है कि जो प्रणाली अधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्तो को सन्तुष्ट करती हो, वही अच्छी कर प्रणाली है।

कर-दान क्षमता

वर्तमान समय मे कर-दान क्षमता का विचार काफी महत्वपूर्ण हो गया है। लगभग सभी देशो मे कल्याणकारी राज्य (Welfare State) स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है जिसके कारण सरकार के कार्यो तथा उनके उत्तरदायित्वो मे निरन्तर वृद्धि हो रही है। सरकार को बढते हुये कामो को पूरा करने के लिये अधिकाधिक साधनो की आवश्यकता होती है। करारोपण वर्तमान राज्यो की आय का मुख्य साधन है किन्तु कोई भी सरकार करो को किसी भी सीमा तक नही बढा सकती है। प्रत्येक समाज की कर देने की क्षमता होती है जिससे अधिक मात्रा मे लोगो पर कर नही लगाये जा सकते हैं। कर-दान क्षमता उस सीमा को बताती है जहा तक सरकार समाज को किसी प्रकार की हानि पहुँचाये बिना करो मे वृद्धि कर सकती है। इस सीमा के पश्चात् करो मे वृद्धि करना जनता मे असन्तोष उत्पन्न करता है तथा सामाजिक लाभ को कम करता है।

सरकार को करो मे कितनी आमदनी प्राप्त हो सकती है यह लोगो की कर-दान क्षमता के ऊपर निर्भर होता है। जिन देशो मे समाज की कर-दान क्षमता अधिक है वहाँ पर सरकार करो के द्वारा अधिक आय प्राप्त कर लेती है। इसके विपरीत कम कर-दान क्षमता वाले देशो मे करो से कम आमदनी प्राप्त की जा सकती है। प्रत्येक राज्य सरकार यह जानना चाहती है कि वह करो की मात्रा को कहा तक बढा सकती है अर्थात् करारोपण से कितनी अधिकतम आय प्राप्त की जा सकती है।

---

3 "The best system of taxation is that which has the best or the least bad effects." —*Dalton*

कर-दान क्षमता के विचार के महत्व को बतलाते हुये फिन्डले शिराज (Findlay Shirras) ने कहा है कि "सरकार के लिये मोटे तौर से भी यह जानना बुद्धिमानी होगी और साथ ही उपयोगी भी, कि साधारण और असाधारण दोनों ही परिस्थितियों मे करो के द्वारा देश किस सीमा तक अदायगी कर सकता है।" विशेषतया सार्वजनिक ऋण से लदे हुये बजटों को सन्तुलित करने की आवश्यकता ने तथा सरकारो के तेजी के साथ बढते हुये व्यय ने कर-दान क्षमता को करारोपण की एक वास्तविक तथा स्थिर समस्या बना दिया है।

कर-दान क्षमता का अर्थ :

कर-दान क्षमता से अभिप्राय किसी समाज की कर देने की शक्ति से होता है। यह उस सीमा को बताती है जहा तक सरकार जनता से करारोपण के द्वारा आय प्राप्त कर सकती है। राष्ट्रीय आय में से वह खर्च काट कर जो देश की पूजी तथा लोगों की योग्यता को स्थिर बनाये रखने के लिये आवश्यक है, जो कुछ शेष बचता है, वही लोगों की कर देने की क्षमता का सूचक है। कर-दान क्षमता के अर्थ के विषय मे अर्थशास्त्रियो में काफी मत-भेद पाया जाता है। फिन्डले शिराज के अनुसार "कर-दान क्षमता से अभिप्राय धन की उस अधिकतम मात्रा से है, जो असहनीय कष्ट का अनुभव किये बिना, किसी देश के नागरिक सार्वजनिक व्यय के लिये दे सकते है।"[४] इस विचार को अधिक स्पष्ट करते हुये उन्होंने आगे चल कर कहा है कि "कर-दान क्षमता उत्पत्ति का उस न्यूनतम उपभोग पर कुल अतिरेक (Surplus) है जो उस उत्पादन को करने के लिये आवश्यक होता है यदि लोगों के जीवन-स्तर मे कोई परिवर्तन न हो।"[५] इस विचार के अन्तर्गत न्यूनतम उपभोग मे कार्य-कुशलता सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा पूजी की वृद्धि एव उसके Replacement के लिये किया जाने वाला व्यय आ जाता है। सर जोसिया स्टाम्प (Sir Josiah Stamp) के अनुसार, "कर-दान क्षमता कुल उत्पादन का कुल उपभोग के ऊपर आधिक्य है। यह वह अधिकतम रकम है जो किसी देश के नागरिक, बिना वास्तव मे आनन्द-रहित और दलित जीवन बिताये और बिना आर्थिक सगठन मे बहुत उथल-पुथल किये, लोक सत्ता के व्यय को पूरा करने के लिये दे सकते हैं।"[६] उपरोक्त

4 "Taxable Capacity may be defined as the maximum amount which the citizens of a country can contribute towards the expenses of public authorities without having to undergo an unbearable strain " —*Findlay Shirras*

5 "It is the total surplus of production over the minimum consumption required to produce that volume of production, the standard of living remaining intact " —*Findlay Shirras*

6 "Taxable capacity is the margin of total production over total consumption .... It is the maximum amount which the citizens of a country can contribute towards the expenses of the public authorities, without having a really unhappy and down-trodden existence and without dislocating the economic organisation too much." —*Sir Josiah Stamp.*

परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कर-दान क्षमता किसी देश के नागरिकों की कर देने की अधिकतम सीमा को बताती है। एलिन्जर (Ellinger) के अनुसार, "वह सीमा तब पहुंच जाती है जब सरकारी कोष में जनता से इतना अधिक रुपया आ जाय कि लोगों का उत्पत्ति करने का प्रोत्साहन कम हो जाय, पूंजी में आवश्यक वृद्धि न की जा सके तथा बढ़ती हुई जनसंख्या को काम पर न लगाया जा सके।"[७] सर ड्रमण्ड फ्रेजर (*Sir Drummond Fraser*) के अनुसार, "जब करदाताओं को कर देने के लिये बैंकों से उधार लेने पर बाध्य होना पड़े तो करदान क्षमता की सीमा आ जाती है।" इन परिभाषाओं में कर-दान क्षमता के अर्थ को अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त करना सम्भव नहीं हो सका है। स्टाम्प का 'आनन्द रहित और दलित जीवन', शिराज का 'न्यूनतम उपभोग' तथा 'असहानीय कष्ट' आदि ऐसे वाक्य हैं जिनकी वैज्ञानिक परिभाषा नहीं दी जा सकती और न उन्हें ठोस शब्दों में व्यक्त ही किया जा सकता है। किन्तु फिर भी कर-दान क्षमता के विचार की उपयोगिता तथा व्यवहारिक महत्व कम नहीं है। वह उस अधिकतम सीमा की ओर संकेत करती है जहां तक, लोगों के आर्थिक कल्याण को कोई विशेष हानि पहुंचाये बिना, सरकार करारोपण कर सकती है।

कुछ लेखकों ने निरपेक्ष (Absolute) तथा सापेक्ष (Relative) कर-दान क्षमता में भेद किया है। निरपेक्ष कर-दान क्षमता का अर्थ है कि एक विशेष समुदाय करों के रूप में, कोई बुरा प्रभाव डाले बिना कितना अदा कर सकता है। सापेक्षिक कर-दान क्षमता यह बताती है कि दो या दो से अधिक समुदायों को करों के रूप में किसी सामान्य व्यय के लिये किस अनुपात में योग-दान देना चाहिये। डा० डाल्टन (Dalton) निरपेक्ष कर-दान क्षमता का व्यवहारिक जीवन में कोई महत्व नहीं समझते हैं क्योंकि उसका कोई निश्चित माप सम्भव नहीं है। उनके अनुसार सापेक्षिक कर-दान क्षमता एक वास्तविकता है जिसे अन्य प्रकार से भी अच्छी तरह व्यक्त किया जा सकता है किन्तु निरपेक्ष कर-दान क्षमता एक कोरा भ्रम है जिसके कारण बड़ी त्रुटियां उत्पन्न हो सकती है।"[८] डाल्टन का विचार है कि राजस्व के सिद्धान्तों के विवेचन में कर-दान क्षमता को कोई स्थान नहीं दिया जाना चाहिए। इसके विपरीत **फिण्डले शिराज** के मतानुसार निरपेक्ष कर-दान क्षमता का भारी व्यवहारिक महत्व है। उन्होंने निरपेक्ष कर-दान क्षमता के विचार को वास्तविक माना है और कहा है कि प्रत्येक राज्य को निरपेक्ष कर-दान क्षमता का अनुमान लगाने का

---

7 "*The limits would be reached when so much is taken out of* the tax-payer's pockets that the incentive to produce is reduced and insufficient remains to be provide the necessary capital, to make up the wastage and to set to work new workers in an increasing population." —*Ellinger*

8 "My general conclusion is that relative taxable capacity is a reality which can, however, be equally well expressed in other terms, while absolute taxable capacity is a myth, which is apt to endanger grave errors." —*Dalton : Principles of Public Finance, p. 171*

प्रयत्न करना चाहिये। उनके अनुसार निरपेक्ष कर-दान क्षमता "किसी असहनीय कष्ट का अनुभव किये बिना देश के नागरिकों द्वारा सार्वजनिक खर्च के लिये दिया गया अधिक से अधिक धन है।"

विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गई कर-दान क्षमता की परिभाषाओं में काफी मतभेद पाया जाता है। उनमें से किसी को भी पूर्णतया वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। इसीलिये डा० डाल्टन का यह मत है कि 'विचारों की स्पष्टता को बनाये रखने के लिये कर-दान क्षमता के वाक्य को राजस्व के गम्भीर वाद-विवाद से बाहर निकाल देना चाहिये।'[9] डा० एडास्कर के अनुसार अधिकांश अर्थशास्त्री कर-दान क्षमता का अर्थ स्पष्ट रूप से नहीं कर सके हैं, इसीलिये 'कर-दान क्षमता' वाक्य का काफी दुरुपयोग किया गया है। उन्होंने इसके स्थान पर 'राजस्व की अधिकतम सीमा' (Optimum of Public Finance) वाक्य का प्रयोग करने की सलाह दी है। एडास्कर के अनुसार राजस्व की अधिकतम सीमा तब पहुँचती है जबकि राज्य द्वारा जनता से वसूल किये गये धन की अन्तिम इकाई से ठीक उतनी ही उपयोगिता प्राप्त होती है जितनी कि उसके व्यक्तिगत व्यय के द्वारा होती। जब राजस्व की अधिकतम सीमा पहुच जाय तो सरकार को जनता से और अधिक करों के रूप में नहीं लेना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से सामाजिक लाभ कम हो जायगा। राजस्व की अधिकतम सीमा पर सामाजिक लाभ सबसे अधिक होता है।

यद्यपि करदान क्षमता की सैद्धान्तिक रूप से परिभाषा की जा सकती है किन्तु व्यवहारिक जीवन में उसे नापना अत्यन्त कठिन है। अर्थशास्त्रियों ने करदान क्षमता को नापने की विधि का पता लगाने का प्रयत्न किया है। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि किसी देश में उत्पन्न होने वाले कुल धन में से यदि उसके न्यूनतम उपभोग को निकाल दिया जाय तो उसकी करदान क्षमता का पता लग जाता है। न्यूनतम उपभोग के अन्तर्गत समाज की कार्यकुशलता सम्बन्धी आवश्यकताओं पर तथा उत्पत्ति के श्रोत को बनाए रखने के लिये किया जाने वाला पूँजीगत व्यय सम्मिलित होता है। सामान्य काल में करदान क्षमता का अनुमान लगाते समय पूँजी की वृद्धि की व्यवस्था अवश्य की जानी चाहिये क्योंकि किसी भी समाज की प्रगति के लिए पूँजी तथा आय में एक निश्चित दर से वृद्धि होना आवश्यक है। किन्तु युद्धकाल या अन्य प्रकार के आपत्तिकाल में करदान क्षमता का अनुमान लगाने में पूँजी की वृद्धि का व्यय उसमें अलग रक्खा जा सकता है। इस प्रकार किसी भी समाज के लिये करदान क्षमता की दो सीमायें हो सकती हैं—एक युद्ध कालीन और दूसरी शान्ति-कालीन।

---

9 In the interest of clear thinking it would be well that the phrase taxable capacity should be banished from all serious discussions of public finance."

—*Dalton : Principles of Public Finance, p. 171*

करदान क्षमता को प्रभावित करने वाली बातें :

किसी देश की करदान क्षमता वहाँ के आर्थिक वातावरण पर निर्भर होती है। भिन्न-भिन्न काल में तथा अलग-अलग राष्ट्रों के लिये यह वातावरण अलग-अलग होता है और इसलिये उनकी करदान क्षमता में भी काफी अन्तर पाया जाता है। करदान क्षमता का अध्ययन करते समय हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि वह करदान की एक प्रवैगिक (Dynamic) सीमा है जो परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है और जिस पर विभिन्न प्रकार के तत्वों का प्रभाव पड़ता है। करदान क्षमता मुख्यतया निम्नलिखित बातों पर निर्भर होती है :—

(१) राष्ट्रीय आय तथा जनसंख्या का आकार (National Income and Size of Population) —करदान क्षमता राष्ट्रीय आय की मात्रा तथा उसकी वृद्धि की दर से प्रभावित होती है। अधिक राष्ट्रीय आय होने पर देश की करदान क्षमता बढ़ जाती है। राष्ट्रीय आय के साथ-साथ जनसंख्या की वृद्धि भी करदान क्षमता पर अपना प्रभाव डालती है। यदि किसी देश की जनसंख्या राष्ट्रीय आय में होने वाली वृद्धि की अपेक्षा तेजी के साथ बढ़ती है तो उस देश की करदान क्षमता कम हो जाती है। किन्तु यदि राष्ट्रीय आय में वृद्धि जनसंख्या की अपेक्षा तेजी के साथ होती है तो करदान क्षमता बढ़ जाती है। यही कारण है कि औद्योगिक देशों में कृषि-प्रधान देशों की अपेक्षा करदान क्षमता अधिक होती है। किसी देश में जितनी अधिक जनसंख्या होगी उतना ही अधिक वह समुदाय कर देने की क्षमता रखता है किन्तु इसके साथ यह आवश्यक है कि वह देश विकसित होना चाहिये तथा व्यक्तिगत आय का स्तर भी ऊँचा होना चाहिये। किसी देश की राष्ट्रीय आय की गणना मात्र से ही उसकी करदान क्षमता का ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। इसके साथ हमें यह भी देखना होगा कि उस राष्ट्रीय आय का व्यय किस प्रकार की वस्तुओं पर किया जा रहा है। यदि राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा भाग अनावश्यक वस्तुओं पर व्यय होता है तो उस देश की करदान क्षमता अधिक होती है।

(२) धन का वितरण (Distribution of Wealth) —देश में धन के वितरण पर भी करदान क्षमता निर्भर होती है। सामान्यतया धन के वितरण की समानता किसी समुदाय की करदान क्षमता को कम करती है। यदि किसी देश में धन के वितरण में काफी असमानता है और अधिकांश धन कुछ अमीर लोगों के हाथों में ही केन्द्रित है तो ऐसी दशा में सरकार इन धनी लोगों पर ऊँचे कर लगा कर काफी मात्रा में धन इकट्ठा कर सकती है जिसके कारण उस समाज की करदान क्षमता बढ़ जाती है। इसके विपरीत यदि धन बहुत से हाथों में फैला हुआ है तो देश की करदान क्षमता कम होती है और सरकार करों से अधिक आमदनी प्राप्त नहीं कर सकती।

(३) कर प्रणाली (Tax System) :—करदान क्षमता अधिक होने के लिये यह आवश्यक है कि कर-प्रणाली वैज्ञानिक ढंग से संगठित हो। यदि कर-प्रणाली में

प्रत्यक्ष एवं परोक्ष करो का उचित मिश्रण किया गया है तो निश्चय ही करों में अधिक आय प्राप्त की जा सकेगी। इसके विपरीत यदि एक ही प्रकार के करो पर जोर दिया जाता है तो करारोपण मे अधिक आय प्राप्त नही की जा सकेगी। कर-प्रणाली मे विभिन्न प्रकार के करो का ऐसा मिश्रण होना चाहिये कि किसी न किसी प्रकार के कर के द्वारा समाज के प्रत्येक व्यक्ति तक पहुंचा जा सके। वे कर जिनका भारी विरोध किया जाता है अथवा जिनका आर्थिक क्रियाओं पर बुरा प्रभाव पडता है, कर-दान क्षमता को कम करते है। करो को इकट्ठा करने के ढंग का भी करदान क्षमता पर प्रभाव पडता है। वैज्ञानिक ढंग से एकत्रित किये गये कर समाज की कर-दान क्षमता मे वृद्धि करते हैं।

(४) करो कर उद्देश्य (Purpose of Taxation) —कर जिस उद्देश्य के लिये लगाये जा रहे है, इस बात का लोगो की कर देने की इच्छा पर गहरा प्रभाव पडता है। यदि कर किसी ऐसे उद्देश्य मे लगाया जा रहा है जिससे समाज का कल्याण होने की सम्भावना है अथवा लोगो के कष्ट को दूर करके उन्हे किसी विशेष प्रकार की सुविधायें दी जानी हैं तो ऐसी स्थिति मे लोग अपनी इच्छा से ही अधिक मात्रा मे कर देने को तैयार हो जायेंगे। एक अच्छे उद्देश्य से लगाया गया कर किसी समुदाय की कर-दान क्षमता को बढा देता है। प्रायः देखा जाता है कि अकाल, बीमारी आदि को दूर करने के लिये या शिक्षा का प्रसार करने के लिये करो मे वृद्धि करना आसान होता है किन्तु युद्ध व्यय, सरकारी कर्मचारियो का वेतन बढाने या विदेशियो की सहायता के लिये लगाये जाने वाले करो का घोर विरोध होता है।

(५) आय की स्थिरता (Stability of Income) :—स्थिर आय वाले समुदाय की कर-दान क्षमता अधिक होती है। किसी देश के निवासियो की आय मे जितनी अधिक स्थिरता होती है उतनी ही अधिक उनकी करदान क्षमता भी होती है। केवल स्थिर आय पर ही दीर्घकालीन आर्थिक व्यवस्थायें आधारित हो सकती हैं। देश के लोगो की आय का अनिश्चित होना उनकी करदान क्षमता पर बुरा प्रभाव डालता है। औद्योगिक देशो मे लोगो की आय प्रायः निश्चित होती है इसलिये उनकी करदान क्षमता भी अधिक रहती है। कृषि व्यवसाय मे अनिश्चितता होने के कारण लोगो की आय स्थिर नही रहती है और उन की कर-दान क्षमता कम हो जाती है। भारत मे लोगो की करदान क्षमता के कम होने का एक मुख्य कारण उनका कृषि पर निर्भर रहना है।

(६) मनोवैज्ञानिक तथा राजनैतिक स्थिति (Psychological and Political Conditions) :—करदान क्षमता मनोवैज्ञानिक तथा राजनैतिक दशाओ से भी प्रभावित है। यद्यपि इस प्रकार के प्रभावों को आर्थिक रूप से नापना सम्भव नही है किन्तु फिर भी उनका महत्व काफी अधिक है। सरकार के प्रति लोगो की मनोवृत्ति उनकी कर-दान क्षमता को प्रभावित करती है। यही कारण है कि एक लोकप्रिय

सरकार जनता को आसानी से अधिक कर देने के लिये तैयार कर लेती है। किन्तु एक विदेशी सरकार के लिये ऐसा करना सभव नही होता क्योंकि उसके प्रति लोगो की श्रद्धा नही होती । युद्धकाल मे अथवा किसी अन्य राष्ट्रीय आपत्तिकाल मे लोगो की करदान क्षमता बढ जाती है क्योंकि वे देशप्रेम के कारण लडाई के व्यय को पूरा करने के लिए अधिक मात्रा मे त्याग करने को तैयार हो जाते है। अपना बहुत सा धन जिसे वे शान्तिकाल मे पूँजीगत वस्तुओ की वृद्धि अथवा अपने जीवन स्तर को बढाने म लगाते, उसे वे करो के रूप मे युद्ध के लिये दे देते हैं। राष्ट्रीयता की भावना ही लोगो को प्रेरित करती है कि वे अपने देश को युद्ध मे विजयी करने अथवा शान्तिकाल मे उसके विकास के लिये करो का अधिक बोझ उठाये।

(७) मुद्रा स्फीति (Inflation) —मुद्रास्फीति का कर-दान क्षमता पर बुरा प्रभाव पडता है। मुद्रास्फीति के कारण जनता की क्रयशक्ति कम हो जाती है और उसे न्यूनतम जीवन स्तर को बनाये रखने के लिये भी काफी खर्च करना पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप उसकी करदान क्षमता घट जाती है।

किसी देश की कर-दान क्षमता को जानने के लिये हमे उपरोक्त सभी बातो पर ध्यान देना चाहिये। इनके अतिरिक्त (i) औद्योगिक सगठन (ii) लोगो का जीवन स्तर (iii) देश का आर्थिक विकास (iv) सार्वजनिक व्यय की प्रकृति तथा (v) सार्वजनिक ऋण को प्रकृति आदि का भी करदान क्षमता पर प्रभाव पडता है । वास्तव मे करदान क्षमता वह अतिरेक है जो कोई समाज एक निश्चित काल मे अपनी उत्पादन क्रियाओ द्वारा पैदा करता है। कोई भी कारण जो देश की उत्पत्ति अथवा उसके न्यूनतम उपभोग को प्रभावित करते हों, उस देश की करदान क्षमता पर भी अपना प्रभाव डालेगे।

परीक्षा प्रश्न

1. Distinguish between direct and indirect taxes. Give the merits and demerits of direct taxes. (Agra 1966)

   'प्रत्यक्ष' तथा 'परोक्ष' करो के अन्तर को समझाइये। प्रत्यक्ष करो के गुण तथा अवगुणो का वर्णन कीजिये।

2. Discuss the principle of 'ability to pay' and show what steps should be taken so that taxation may be based on this principle (Agra 1956 Old Scheme)

   'कर देने की योग्यता' के सिद्धांत की व्याख्या कीजिये। करारोपण को इस सिद्धांत पर आधारित करने के लिये क्या किया जाना चाहिये ?

3. *Expllain the merits and demerits of direct and indirect taxes.* (Agra 1955 Pt. I)

   प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो के गुण और अवगुणों को समझाइये।

4 Discuss Adam Smiths' Canon's of Taxation. How would you measure the ability of an individual to pay taxes? (Agra 1950)

एडम स्मिथ के करारोपण सिद्धान्तो की व्याख्या कीजिये। किसी व्यक्ति की कर देने की योग्यता को आप किस प्रकार नापेंगे ?

5 Which out of the Progressive and Proportional Systems of Taxation would you prefer and why ? (Agra 1952)
प्रगतिशील तथा आनुपातिक कर प्रणालियों मे से आप किसे पसन्द करेंगे और क्यों ?

6 What is a tax, and what are the principles adopted by the State in imposing tax or taxes on the citizens (Agra 1959)
कर किसे कहते हैं ? सरकार नागरिकों पर कर लगाते समय कौनसे सिद्धांतों का पालन करती है ?

7 What are, in your opinion, the characteristics of a good tax system ? (Madras, B A. 951)
आपके विचार मे एक अच्छी कर-प्रणाली की क्या विशेषतायें हैं ?

8 Discuss the various factors determining taxable capacity. Show that the conception of taxable capacity is a purely relative one. (Madras, B A 1952)
उन विभिन्न तत्वो की व्याख्या कीजिये जो कर-दान क्षमता को निश्चित करती हैं। यह विदित कीजिये कि कर-दान क्षमता का विचार पूर्णतया सापेक्षिक है।

५

कर का भार
Incidence of Taxation

कर के भार की समस्या इस बात को जानने से सम्बन्धित है कि करो का मौद्रिक भार कौन सहन करता है अथवा वह किस प्रकार विभिन्न लोगों के बीच बाटा जाता है। कर का भार सदैव उस व्यक्ति पर नही पडता है जो उसे सर्वप्रथम देता है। अधिकाश दशाम्रो मे यह भार दूसरे लोगों के द्वारा सहन किया जाता है। कर लगाने वाली सत्ता के लिये यह जानना आवश्यक है कि जो कर वह लोगों पर लगाती है उसका भार अन्त मे कहाँ पडता है। जब किसी व्यक्ति पर सरकार कर लगाती है तो वह उसे दूसरे व्यक्तियो पर टालने की कोशिश करता है। कभी वह ऐसा करने मे सफल हो जाता है और कभी नही। प्रत्यक्ष कर का भार उसी व्यक्ति को सहन करना पडता है जिस पर वह लगाया जाता है क्योंकि इस प्रकार के कर को टालना सम्भव नही होता है किन्तु परोक्ष करो का भार टाला जा सकता है और वह उन व्यक्तियों पर नही होता है जो उन्हे अदा करते हैं। प्रत्येक कर के विषय मे यह जानना आवश्यक है कि उसका अन्तिम भार कौन सहन करता है? यही कर भार की समस्या है। डाल्टन के अनुसार, "किसी कर के भार की समस्या सामान्यतया इस बात को जानने की है कि उस कर को कौन देता है।"[1] कर का भार उन लोगों पर होता है जो उसके प्रत्यक्ष मौद्रिक भार (Direct money burden) को सहन करता है। ऐडम्स के अनुसार, 'करों के भार का अभिप्राय उनके भुगतान के पड़ने के अन्तिम स्थान से है।'[2]

कर का दबाव (Impact) और भार (Incidence)—कर भार की समस्या को ठीक प्रकार से समझने के लिये हमे कर के भार (Incidence of Tax) तथा कर के दबाव (Impact of Tax) के भेद को स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिये। कर का दबाव उस व्यक्ति पर होता है जो उसका सर्वप्रथम भुगतान करता है अर्थात् जिससे कर लिया जाता है किन्तु कर का भार उस व्यक्ति पर पडता है जो उसे अन्त मे सहन करता है। उदाहरणार्थ उत्पादन कर (Excise Duty) का दबाव उत्पादकों पर होता है क्योंकि वे उसका सर्वप्रथम भुगतान करते हैं किन्तु उसका भार उपभोक्ताओं

1 "The problem of the incidence of a tax is commonly conceived as the problem of who pays it." —*Dalton*

2 "By the incidence of taxes is meant the final resting place of their payment." —*Adams*

पर पड़ता है क्योंकि ऐसे करो को उन पर टाल दिया जाता है। प्रत्यक्ष करो के सम्बन्ध में कर का दबाव तथा भार एक ही व्यक्ति पर होता है। जो व्यक्ति आयकर देता है वह उसके भार को भी सहन करता है क्योंकि यह कर उसे अपनी जेब से देना पड़ता है और वह इसके भार को अन्य व्यक्तियो पर नही टाल सकता है। किन्तु परोक्ष करो के सम्बन्ध में कर का दबाव उस व्यक्ति पर होता है जो उसे पहले देता है और उसका भार उस व्यक्ति पर होता है जिस पर उसे टाल दिया जाता है अर्थात् जो उसे अन्त में सहन करता है।

कर का मौद्रिक भार तथा वास्तविक भार

प्रत्येक कर का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष भार होता है जो मौद्रिक तथा वास्तविक दोनों प्रकार का हो सकता है। कर के रूप में एक व्यक्ति जो कुछ रकम सरकारी खजाने में जमा करता है वह उस कर का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार (direct money burden) है। जब कोई व्यापारी अपनी वस्तुओं के स्टाक पर कर देता है तो वह वस्तु के मूल्य को प्राय कर की मात्रा से अधिक बढ़ाता है क्योंकि उसे अपने स्टाक को बेचने में कुछ समय लगता है और इस समय के लिये उस टैक्स के रूप में दी गई रकम पर ब्याज खोना पड़ता है। इस ब्याज को भी वह कर के साथ वस्तु के मूल्य में शामिल कर देता है। वस्तु का मूल्य कर के अतिरिक्त जितना अधिक बढ़ाया जाता है वह कर का अप्रत्यक्ष मौद्रिक भार (indirect money burden) है। कर का प्रत्यक्ष वास्तविक भार (direct real burden) आर्थिक कल्याण के उस त्याग को बताता है जो किसी व्यक्ति को कर का भुगतान करने के कारण करना होता है। कर देने में प्राय निर्धन व्यक्तियो को धनी व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक मात्रा में आर्थिक कल्याण का त्याग करना पड़ता है। जब किसी वस्तु पर कर लगता है तो उसका मूल्य बढ़ जाता है जिसके कारण उपभोक्ताओं को मजबूर होकर उस वस्तु का उपभोग कम करना पड़ता है। उपभोक्ताओं द्वारा किया जाने वाला इस प्रकार का त्याग कर का अप्रत्यक्ष वास्तविक भार (indirect real burden) होता है।

कर का भार उसके प्रभाव से अलग होता है—कर के भार तथा कर के प्रभाव (effects of tax) के भेद को भी स्पष्ट रूप से समझना आवश्यक है। कर के भार से अभिप्राय कर के मौद्रिक भार से होता है किन्तु 'कर के प्रभाव' के अन्तर्गत हम कर लगने के कारण उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के प्रभावो का अध्ययन करते है। जब कोई कर लगाया जाता है तो उसका प्रभाव धन की उत्पत्ति तथा वितरण पर हो सकता है। वह लोगों की काम करने की इच्छा तथा शक्ति पर बुरा प्रभाव डाल सकता है, वह उनकी बचत करने की इच्छा तथा शक्ति को भी प्रभावित कर सकता है। करों का प्रभाव समाज में धन के वितरण पर भी होता है। इनके अतिरिक्त करो के अन्य आर्थिक प्रभाव भी हो सकते है। इन सब प्रकार के प्रभावो का अध्ययन 'कर के प्रभाव' (effects of tax) के अन्तर्गत आ जाता है किन्तु 'कर के भार' (incidence of tax) के अन्तर्गत केवल कर के मौद्रिक भार का अध्ययन किया जाता है।

कर भार की समस्या के अध्ययन का महत्व :

कर भार की समस्या करारोपण की एक प्रमुख समस्या है। विभिन्न करो के भार का अध्ययन किये बिना यह नही बताया जा सकता कि कोई कर लोगो के आर्थिक कल्याण को किस प्रकार प्रभावित करेगा तथा उसका भार समाज के किन वर्गों पर अधिक और किन वर्गों पर कम पडेगा। प्रत्येक कर को लगाने से पूर्व सरकार यह निश्चय करती है कि उसका भार किन लोगो पर पडना चाहिये। यदि सरकार यह चाहती है कि कर का भार उन लोगो पर ही पडे जो उसे देते है तो वह प्रत्यक्ष करो का प्रयोग करती है और यदि वह चाहती है कि कर के भार को अन्य व्यक्तियो पर टाल दिया जाय तो अप्रत्यक्ष करो का प्रयोग अधिक उपयोगी होता है। कर भार का अध्ययन करके ही सरकार यह निश्चय करती है कि कब और किन लोगो पर किस प्रकार के कर लगाये जाये। कर प्राय अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से लगाये जाते है। सामाजिक लाभ को अधिकतम करने के लिये यह आवश्यक है कि कर अमीरो पर लगाये जाये और उनसे होने वाली आमदनी को गरीबो की भलाई के लिये व्यय किया जाय। अमीरो पर कर लगाते समय इस बात का ध्यान रक्खा जाना चाहिये कि उनके ऊपर लगाये गये करो का भार उन पर ही पडे और वे उसे दूसरो के कन्धो पर न टाल सके। प्रत्येक कर का स्थान एक धनी व्यक्ति का घर होना चाहिये। करारोपण के समय यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कर का भार गरीबो पर कम से कम पडे अन्यथा उनके स्वास्थ्य तथा क्षमता पर बहुत बुरा प्रभाव पडेगा। करारोपण के इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये कर भार की समस्या का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। राजस्व मन्त्री के लिये यह जानना आवश्यक है कि प्रत्येक कर का भार कितना है तथा वह किन लोगो पर पडता है जिनसे कि वह ऐसी कर प्रणाली का विकास कर सके जो देश के सामाजिक हित मे हो। आधुनिक समाज मे कर लगाने का उद्देश्य केवल एक निश्चित आय प्राप्त करना नही है बल्कि उसका उद्देश्य यह भी है कि कर उन्ही लोगो पर लगाये जाये जो उन्हे आसानी से सहन कर सकते है। आजकल करो को सामाजिक न्याय स्थापित करने का साधन माना जाता है। इसके लिये आवश्यक है कि समाज म करों के भार का उचित वितरण हो। यह तभी सम्भव है जब सरकार प्रत्येक कर लगाने से पूर्व उसके भार के वितरण के बारे मे पूरी खोज करे। यह जानने के लिये कि कर करदाता की योग्यता के अनुकूल है अथवा नही हमे यह पता लगाना आवश्यक है कि अन्त म कर किसको देना पडता है।

कर के भार को टालना

कर के भार को किसी अन्य व्यक्ति पर ढकेल देने को कर का टालना या कर परिवर्तन (shifting of tax) कहते हैं। जब किसी व्यक्ति पर कोई कर लगाया जाता है तो वह अपने ऊपर लगाये गये कर के भार को दूसरे लोगो पर टालने का प्रयत्न करता है। किन्तु वह सदैव उसमे सफल नही होता है। कुछ कर ऐसे होते है जिनके भार को बिलकुल नही टाला जा सकता है और कर देने वाले को ही उनका

भार सहन करना पडता है। ऐसा प्रत्यक्ष करो के सम्बन्ध मे होता है। आय कर, मृत्यु कर तथा सम्पत्ति कर आदि के भार को टाला नही जा सकता है। इसके विपरीत कुछ कर ऐसे होते हैं जिनके भार को कर देने वाला दूसरो पर टालने मे सफल हो जाता है। इन करो के सम्बन्ध मे कर देने वाला केवल कर के दबाव को सहन करता है उसके भार को नही। कर का भार वह किसी दूसरे व्यक्ति पर डाल देता है और दूसरा व्यक्ति किसी तीसरे व्यक्ति पर और तीसरा चौथे पर। इस प्रकार कर का भार टाला जाता रहता है और वह अन्त मे ऐसे व्यक्ति पर पडता है जो उसे नहीं टाल पाता। वस्तुओ पर लगाये गये कर इसी प्रकार के होते हैं और इन का भार अन्त मे उपभोक्ताओं पर पडता है। अन्य प्रकार के परोक्ष करो के सम्बन्ध मे भी कर देने वाला कर के भार को अपने कन्धो से उठा कर दूसरो के कन्धो पर डालने मे सफल हो जाता है।

कर विवर्तन की दिशा।

कर के भार को आगे अथवा पीछे दोनो ओर ढकेला जा सकता है। प्रत्येक व्यापारी अपनी वस्तु पर लगाये गये कर के भार को आगे अथवा पीछे की ओर ढकेलने की कोशिश करता है। वह किस दिशा मे कर भार को टालने मे सफल होता है, यह वस्तु की माग तथा पूर्ति की दशाओ पर निर्भर होता है। यदि वस्तु की माग बेलोच है और उत्पादक समझता है कि वह वस्तु को बढे हुए मूल्य पर बेच सकता है तो ऐसी दशा मे कर के भार को आगे की ओर ढकेला जाता है और मूल्य के साथ जोडकर उसे उपभोक्ताओ पर डाल दिया जाता है। इसके विपरीत लोचदार मांग (Elastic demand) वाली वस्तुओ पर लगाये गये कर के भार को आगे टालना सभव नही होता। व्यापारी जानता है कि वह वस्तु को बढे हुए मूल्य पर नही बेच सकेगा, इसलिए वह कर के भार को पीछे की ओर टालने का प्रयत्न करता है। उत्पादको से वस्तु को कम मूल्य पर लेकर वह कर भार को उन पर टालने मे सफल हो जाता है। जब किसी वस्तु पर लगाये गये कर के भार को उपभोक्ताओ पर टाला जाता है तो इस आगे की ओर टालना कहते हैं और यदि कर के भार को उत्पादको पर डाला जाता है तो उसे पीछे की ओर टालना कहते हैं।

कर के भार को प्राय दो प्रकार से टाला जा सकता है—(i) वस्तु के मूल्य मे वृद्धि करके अथवा (ii) वस्तु की मात्रा या गुण को घटा कर। विक्रेता प्राय कर के भार को उपभोक्ताओ पर डालने के लिये वस्तु के मूल्य को बढा देता है किन्तु कर विवर्तन के लिये वस्तु के मूल्य मे वृद्धि करना सदा आवश्यक नही होता है। यह भी सभव हो सकता है कि वस्तु के पैकेट अथवा बोतल मे वस्तु की मात्रा कुछ कम कर दी जाय अथवा वस्तु के गुण मे कोई कमी की जाय या गुण और मात्रा दोनो मे कमी कर दी जाय। कभी-कभी ऐसा होता है कि कर के भार को सम्पूर्ण रूप मे उपभोक्ता अथवा उत्पादक पर ढकेल दिया जाता है किन्तु कुछ परिस्थितियो मे यह भी हो सकता है कि कर का भार कुछ उपभोक्ता पर तथा कुछ उत्पादक पर डाला जाय।

ऐसा भी हो सकता है कि उपभोक्ता तथा उत्पादक के साथ कर के भार का कुछ अंश विक्रेता भी सहन करे।

कर का सम्मिश्रण सिद्धांत :

इस सिद्धान्त के अनुसार कर विवर्तन (Shifting) के द्वारा करो का भार अपने आप समाज के विभिन्न वर्गों के ऊपर बराबर फैल जाता है। कर का भार इस प्रकार सारे समुदाय मे फैल जाता है कि प्रत्येक करदाता पर कर का एक छोटा सा अनुपात ही पड़ता है जिसे वह सहन कर सकता है और उसे करना चाहिये। इस सिद्धात के मानने वालो का विचार है कि समाज मे कर के भार का वितरण करने के लिये हमे किसी प्रकार की खोज अथवा विशेष अध्ययन की आवश्यकता नही है क्योकि प्रत्येक कर का भार स्वय पूरे समाज पर न्याय-पूर्ण ढग से फैल जाने की प्रवृत्ति रखता है। विनिमय की क्रियाओ के द्वारा कर भार विभिन्न व्यक्तियो मे फैलता चला जाता है और अन्त मे वह विभिन्न वर्गों के बीच कुछ इस प्रकार बट जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति पर उतना ही भार पडता है जितना कि उसमे उठाने की सामर्थ्य है। अत. कर के भार के विषय मे चिन्तित होना बेकार है। लार्ड मैंसफील्ड के अनुसार, "किसी स्थान पर लगाया हुआ कर किसी भील मे गिरते हुए पत्थर के समान है जो उसमे वृत्त बनाता है। एक वृत्त दूसरे वृत्त की उत्पत्ति करता है तथा उसको आगे बढाता है और केन्द्र से लगाकर समस्त परिधि मे हलचल मच जाती है।" भील मे उठने और फैलने वाले इन वृत्तो के समान कर सारे समुदाय मे फैल जाता है।

यद्यपि प्राचीन अर्थशास्त्रियों का विश्वास इस प्रकार के सिद्धात मे था किन्तु वर्तमान समय मे इस सिद्धात की कड़ी आलोचना की गई है। यह कहना उचित नही है कि कर विवर्तन के द्वारा कर का भार अपने आप कर-दाताओ की क्षमता के अनुसार बट जाता है। यदि ऐसा होता तो वित्त मन्त्रियो को यह जानने की आवश्यकता न होती कि किसी कर का भार समाज के किन लोगो पर पडता है और उसका अन्तिम विश्राम स्थान कहाँ है। आज कोई भी व्यक्ति इस बात मे विश्वास नही कर सकता कि करो का भार स्वय न्यायोचित ढग से पूरे समाज पर फैल जाता है। कर के भार के वितरण की समस्या इतनी आसान नही है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धांत इस बात को मानकर चलता है कि समाज मे पूर्ण प्रतियोगिता रहती है, वास्तव मे इस प्रकार की दशाये नही पाई जाती और प्रतियोगिता की अपूर्णता कर विवर्तन के रास्ते मे बाधाय उत्पन्न कर सकती है। यह सिद्धात वास्तविक अनुभव तथा विश्वास के विपरीत है और इसका केवल सीमित प्रयोग ही किया जा सकता है। इन्ही कारणो से इस सिद्धात को नही माना जाता।

कर भार का आधुनिक सिद्धान्त :

आधुनिक अर्थशास्त्रियो के अनुसार समाज मे कर के भार को करदाताओ की क्षमता के अनुसार न्यायपूर्ण ढग से बांटा जाना चाहिये और इसके लिये कर भार की

समस्या का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन किया जाना चाहिये। प्रत्येक कर के बारे में यह खोज की जानी चाहिये कि उसका भार अन्त में किस व्यक्ति पर पड़ता है, क्या विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाला कर का भार उन लोगों की कर-दान क्षमता के अनुकूल है, वे लोग तो कर विवर्तन नहीं कर रहे हैं जिन्हें कर के भार को स्वयं सहन करना चाहिये। वर्तमान सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु के भार को निश्चित करते समय हमें वस्तु की माँग तथा पूर्ति की विशेषताओं को ध्यान में रखना चाहिये।

कुछ मुख्य करों के सम्बन्ध में कर भार की समस्या

वस्तुओं पर लगाये गये कर का भार .

प्रत्येक व्यक्ति अपने ऊपर लगे हुये कर के भार को दूसरे व्यक्तियों पर डालने का प्रयत्न करता है। उत्पादक वस्तुओं पर लगे हुये कर को विक्रेताओं पर तथा विक्रेता उस कर को उपभोक्ताओं पर डालने का प्रयत्न करते हैं। कर का भार डालने में उन्हें कहाँ तक सफलता मिलती है, कर विवर्तन किस दिशा में किया जाता है तथा वह किस अंश तक होता है, यह सब निम्नलिखित बातों पर निर्भर है:--

(१) कर की प्रकृति (Nature of Tax) —कर विवर्तन इस बात पर निर्भर होता है कि कर किसी एक वस्तु पर लगाया जाता है अथवा किसी वर्ग की सभी वस्तुओं पर लगा दिया गया है। किसी एक वस्तु पर लगाये गये कर को आसानी से टाला नहीं जा सकता किन्तु एक वर्ग की सभी वस्तुओं पर लगाये गये कर को उपभोक्ताओं पर टालना सम्भव होता है। यदि कर केवल एक वस्तु पर लगाया गया है और वह वस्तु ऐसी है जिसके स्थान पर अन्य वस्तुओं का प्रयोग किया जा सकता है तो ऐसी दशा में कर के भार को उपभोक्ताओं पर नहीं टाला जा सकेगा क्योंकि कर लगने से वस्तु का मूल्य बढ़ने पर लोग उसके स्थान पर प्रतिस्थापित वस्तुओं (Substitutes) का प्रयोग आरम्भ कर देंगे। ऐसी दशा में उत्पादक माँग गिर जाने के डर से वस्तु का मूल्य नहीं बढ़ायेगा और कर के भार को स्वयं सहन करेगा। उदाहरणार्थ चाय पर लगने वाले कर के कारण यदि चाय का मूल्य बढ़ता है तो लोग चाय के स्थान पर कॉफी (Cofee) का प्रयोग करने लगेंगे क्योंकि उस पर कर नहीं लगाया गया है। ऐसी स्थिति में कर विवर्तन सम्भव नहीं होता और कर के भार को उत्पादक अथवा विक्रेता को ही सहन करना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि कर ऐसी वस्तु पर लगाया गया है जिसका प्रतिस्थापन नहीं है या किसी वर्ग की सभी वस्तुओं पर कर लगा दिया गया है तो ऐसी दशा में उपभोक्ता अपनी माँग को कम नहीं कर सकेंगे। उत्पादक या विक्रेता वस्तु के मूल्य को बढ़ा देंगे और इस प्रकार कर के भार को उपभोक्ताओं पर टालना सम्भव हो जायगा।

(२) कर का आकार (Size of the Tax).—यदि कर की मात्रा बहुत अधिक है तो उत्पादक या विक्रेता उस कर के सम्पूर्ण भार को स्वयं न उठाकर उसे उपभोक्ताओं पर टालने का प्रयत्न करेगा किन्तु यदि कर की मात्रा वस्तु के मूल्य की

अपेक्षा बहुत कम है तो वह कर के भार को उपभोक्ताओं पर डालना पसन्द नहीं करेगा और उसे स्वयं सहन कर लेगा।

(३) कर का रूप (Form of Tax)—कर किस रूप मे लगाया गया है इस बात का भी विवर्तन पर प्रभाव पडता है। कर या तो वस्तु के मूल्य के अनुसार (ad velorem) लगाया जा सकता है और या उसकी मात्रा के अनुसार (Specific)। यदि वस्तु की मात्रा के अनुसार कर लगाया जाता है तो उस वस्तु के सभी उत्पादकों को एक ही दर से कर देना होगा चाहे वे वस्तु की सस्ती किस्म बना रहे हो अथवा महगी। ऐसी दशा मे सस्ती किस्म की वस्तु के उत्पादक कर के भार को सहन नहीं कर सकेंगे क्योंकि कर की मात्रा उनके मुनाफे के अनुपात मे बहुत अधिक है। उत्पादन जारी रखने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वे कर को वस्तु के मूल्य मे जोड कर उपभोक्ताओ पर टाल दे। यदि कर वस्तु के मूल्य के अनुपात मे लगाया जाता है तो सस्ती किस्म की वस्तु पैदा करने वाले उत्पादकों को अनुपात से अधिक कर का भार सहन नहीं करना पडेगा। ऐसी दशा मे उत्पादक कर के भार को स्वय सहन करना पसन्द करेगे अथवा उसके बहुत कम अश का विवर्तन हो सकेगा क्योंकि यदि कर के कारण वस्तु के मूल्य को बढाया जाता है तो कर की दर मे वृद्धि हो जायगी और माग के गिरने की सम्भावना बढ जायगी। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि मूल्यानुसार (ad velorem) लगे हुये करो का विवर्तन बहुत कम अश तक *किया जा सकता है किन्तु मात्रा अनुसार (Specific) लगे हुये करो को आसानी से* तथा अधिक अश तक टाला जा सकता है।

(४) करारोपण का उद्देश्य (Object of Taxation)—कर किस उद्देश्य मे लगाया गया है, इसका प्रभाव कर विवर्तन पर पडता है। कुछ कर इसी उद्देश्य से लगाये जाते है कि उनके भार को आगे की ओर टाल दिया जाय। ऐसे करो के सम्बन्ध मे कर विवर्तन आसानी से हो जाता है और अधिक अश तक किया जा सकता है। वस्तुओ पर लगाये गये करो का उद्देश्य यही होता है कि उनके भार को अन्य व्यक्तियो पर टाला जा सके, इसीलिये कर ऐसी वस्तुओ पर लगाया जाता है जिनका विनिमय किया जाता हो। वस्तुओ का विनिमय किया जाना कर विवर्तन मे बडी सहायता देता है। इसके विपरीत कुछ करो को लगाने का उद्देश्य यह होता है कि कर देने वाला उनके भार को स्वय सहन करे जैसे आय कर। ऐसे कर के भार को दूसरे व्यक्तियो पर टालना सम्भव नही होता।

(५) मांग और पूर्ति की लोच (Elasticity of Demand & Supply):—वस्तुओ पर लगाये गये करो के विवर्तन पर वस्तु की माग तथा पूर्ति की लोच का गहरा प्रभाव पडता है। किसी वस्तु की माग जितनी अधिक लोचदार होगी उतनी ही अधिक प्रवृत्ति कर के भार की उत्पादकों पर पड़ने की होगी और माग जितनी बेलोच होगी उतना ही अधिक भार उपभोक्ताओ पर पड़ेगा। यदि वस्तु की पूर्ति लोचदार होती है तो कर का भार उपभोक्ताओ पर पड़ता है यदि बेलोच होती है

तो उत्पादकों पर। जिन वस्तुओं की माग अधिक लोचपूर्ण होती है उनके मूल्य में वृद्धि करना सम्भव नही होता क्योंकि मूल्य बढ जाने की दशा मे उनकी माँग काफी कम हो जाती है। उत्पादक वस्तु की माग को कम करना पसन्द नही करेंगे। इसलिये कर लगने पर भी इस प्रकार की वस्तुओं का मूल्य नही बढता है और कर का भार उत्पादक अथवा विक्रेता स्वयं सहन करते हैं और उसे उपभोक्ताओं पर टालना सम्भव नही होता। किन्तु बेलोचदार माग वाली वस्तुओ के मूल्य में वृद्धि करके कर विवर्तन किया जा सकता है और ऐसी वस्तुओं पर लगे हुये कर के भार को उपभोक्ताओं को सहन करना पडता है। जिन वस्तुओं की पूर्ति लोचदार होती है, उन पर लगे हुये कर के भार को सहन करने के लिय उत्पादकों को मजबूर नहीं किया जा सकता क्योंकि कर के कारण यदि इन वस्तुओं की उत्पादन लागत बढती है तो उत्पादक उनकी पूर्ति को कम कर देगे। इस प्रकार की वस्तुओ पर लगाये गये कर का भार अधिकांश रूप म क्रेताओं को सहन करना पडता है। किन्तु बेलोचदार पूर्ति वाली वस्तुओं के सम्बन्ध मे उत्पादकों को कर का भार उठाने के लिय मजबूर किया जा सकता है क्योंकि उनके लिये पूर्ति को घटाना सम्भव नही होता। डाल्टन के अनुसार, "विक्रेता पूर्ति को कम करके कर भार को खरीदारों पर डालने का प्रयत्न करते है, खरीदने वाले अपनी माग को कम करके उसे विक्रेताओ पर डालना चाहते हैं। अपने उद्देश्यो को कम से कम लागत पर पूरा करने की दोनो वर्गों की सापेक्षिक क्षमता इसका परिणाम निश्चित करती है।"[3]

(६) उत्पत्ति के नियमों का प्रभाव (Effect of the Laws of Returns)— कर विवर्तन पर उत्पत्ति के नियमो का प्रभाव भी पडता है। वस्तुओ पर कर लगाने से पूर्व यह देखा जाता है कि उनका उत्पादन उत्पत्ति-ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) के अनुसार हो रहा है या उत्पत्ति-वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns) के अनुसार। उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाली वस्तु की लागत उत्पत्ति की मात्रा के बढने पर बढती है और घटने पर घटती है। हम देख चुके है कि कर का प्रभाव वस्तु के मूल्य को बढाने का होता है जिसके कारण उसकी माग कम हो जाती है। माँग कम होने पर उत्पादन कम किया जायगा और वस्तु की लागत भी कम हो जायगी। ऐसी दशा म कर लगने से वस्तु का मूल्य कर की मात्रा से कुछ कम बढेगा और कर का सम्पूर्ण भार क्रेताओ पर नही डाला सकेगा। इसके विपरीत यदि वस्तु का उत्पादन उत्पत्ति वृद्धि नियम के अनुसार हो रहा है तो कर के कारण कम उत्पत्ति होने पर वस्तु की उत्पादन लागत बढ जायगी और वस्तु का मूल्य कर की मात्रा से अधिक बढेगा जिसके कारण उपभोक्ताओ

---

3 "The sellers in short, try to put the incidence on buyers by reducing supply, the purchasers try to put on the sellers by reducing demand The relative ability of two groups to carry out their objects with the minimum cost to themselves, determines the results."

—*Dalton Public Finance, p. 54*

को कर का अधिक भार सहन करना पडेगा। यदि वस्तु का उत्पादन उत्पत्ति समता नियम (Law of Constant Returns) के अनुसार हो रहा है तो उपभोक्ताओ को कर की मात्रा के बराबर भार सहन करना पड़ेगा क्योंकि वस्तु का मूल्य उतना ही बढेगा जितना कि उस पर कर लगाया गया है। इसलिये यह कहा जाता है कि उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाली वस्तुओ पर कर लगाना चाहिए तथा उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओ को आर्थिक सहायता मिलनी चाहिये।

एकाधिकार पर कर का भार·

एकाधिकार पर लगाये गये कर का भार कर की प्रकृति पर निर्भर होता है। एकाधिकार पर कर प्राय. दो प्रकार से लगाया जा सकता है —

(अ) एकाधिकारी लाभ पर कर (Tax on Monopoly Profit)।

(ब) उत्पत्ति की मात्रा पर कर (Tax on Quantity of Output)।

एकाधिकारी लाभ पर कर या तो एक मुश्त रकम के रूप म लिया जा सकता है या उसके लाभ के अनुपात मे। दोनो ही दशाओ मे एकाधिकारी के लिये इस कर को टालना सम्भव नही होता क्योकि ऐसा करने से उसका एकाधिकारी लाभ कम होने की सम्भावना रहती है। प्रत्येक एकाधिकारी अपने लाभ को अधिकतम करने के उद्देश्य स वस्तु को ऐसे मूल्य पर बेचता है और उसकी उतनी ही मात्रा बेचता है जिससे कि उसे अधिकतम लाभ हो सके। वस्तु के मूल्य मे कोई भी परिवर्तन उसके हित मे नही होता क्योकि उसके कारण उसका लाभ कम हो सकता है। जब एकाधिकारी के लाभ पर कर लगाया जाता है और उसका उत्पादन की मात्रा से कोई सम्बन्ध नही होता तो कर का भार एकाधिकारी को स्वय सहन करना पडता है क्योकि वह अपनी वस्तु के मूल्य को नही बढा सकता। पहले से ही वह वस्तु का ऐसा मूल्य निश्चित कर चुका है जिस पर उसे बेचकर वह अधिकतम एकाधिकारी आय प्राप्त कर रहा है। कर लगने के पश्चात् यदि वह मूल्य को बढाता है तो वस्तु की माँग कम हो जाने के कारण उसकी कुल बिक्री गिर जायेगी और वह अधिकतम लाभ प्राप्त नही कर सकेगा। इसलिये वह वस्तु के मूल्य मे कोई वृद्धि नही करेगा और उसे पूर्व निश्चित मूल्य पर ही बेचता रहेगा। यदि उसके मुनाफे पर प्रगतिशील दर (Progressive Rate) से भी कर लगाया जाता है तब भी वह उसे स्वय सहन कर लेगा क्योकि वस्तु के मूल्य में वृद्धि करना उसके हित मे नही है। अतः एकाधिकारी के लाभ पर लगाये गये कर का भार उसे स्वय सहन करना पडता है क्योकि उसे उपभोक्ताओ पर नही टाला जा सकता।

जब कर उत्पत्ति की मात्रा के आधार पर लगाया जाता है तो वह उत्पत्ति लागत मे सम्मिलित हो जाता है। ऐसी दशा मे वस्तु का मूल्य बढ जाता है और कर के भार को उपभोक्ताओ पर टाला जा सकता है। कर के कारण वस्तु का मूल्य कितना बढता है यह दो बातों पर निर्भर है—(अ) वस्तु की माग तथा पूर्ति की लोच (ब) उत्पत्ति के नियम। वस्तु की मांग बेलोचदार होने की दशा मे वस्तु के मूल्य को

कर की मात्रा के बराबर बढ़ाया जा सकता है क्योंकि उसकी माँग के कम होने की कोई सम्भावना नहीं होती। ऐसी दशा में कर का सम्पूर्ण भार उपभोक्ताओं पर पड़ेगा। यदि माग लोचदार है तो वस्तु के मूल्य को बढ़ाना सम्भव नहीं होगा क्योंकि मूल्य बढ़ने पर उसकी माग काफी गिर जायेगी। कर का भार कुल या आंशिक रूप में एकाधिकारी को ही सहन करना पड़ेगा। वस्तु की पूर्ति लोचदार होने पर उत्पादक की स्थिति मजबूत रहती है और वह मूल्य बढ़ाकर कर-भार को उपभोक्ताओं पर डाल देता है किन्तु बेलोच पूर्ति की दशा में वह ऐसा नहीं कर सकता और उसे कर का भार स्वयं सहन करना पड़ेगा। यदि वस्तु की माग उसकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक लोचदार होती है तो कर का भार उत्पादक पर अधिक पड़ता है और यदि पूर्ति माग की अपेक्षा अधिक लोचदार है तो कर का अधिक भार उपभोक्ताओं को सहन करना पड़ता है।

एकाधिकारी के उत्पादन पर लगाये गये कर का भार किस प्रकार उत्पादक तथा उपभोक्ताओं के बीच बटता है, इस पर उत्पत्ति के नियमो (Laws of Returns) का भी प्रभाव पड़ता है। जिन वस्तुओं का उत्पादन उत्पत्ति ह्रास नियमो के अनुसार होता है उनके मूल्य म कर के कारण अधिक वृद्धि होती है और एकाधिकारी काफी सीमा तक कर क भार को उपभोक्ताओ पर टालने में सफल हो जाता है। किन्तु उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का मूल्य अपेक्षाकृत कम बढ़ता है और एकाधिकारी कर के भार को उपभोक्ताओ पर नहीं डाल पाता। यदि वस्तु की सीमान्त उत्पादन लागत स्थिर रहती है तो वस्तु का मूल्य कर की मात्रा के आधे के बराबर बढ़ता है और कर का भार उत्पादक तथा उपभोक्ताओं के बीच आधा-आधा बट जाता है।

आयात-निर्यात करो का भार :

आयात करो (Import Duties) का भार प्राय अपने देश के उपभोक्ताओं पर ही पड़ता है। आयातकर्ता कर की रकम को वस्तु के मूल्य में जोड़ कर विक्रेताओं से वसूल कर लेता है और विक्रेता उसे मूल्य के साथ उपभोक्ताओं पर टाल देते हैं। इस प्रकार आयात कर का भार अन्तिम रूप से उपभोक्ताओ को सहन करना पड़ता है और उसे आसानी से विदेशी उत्पादको पर नहीं डाला जा सकता। किन्तु सदैव ऐसा नहीं होता। कर के भार को उपभोक्ताओं पर टालना तब ही सम्भव होता है जब वस्तु की माग आयात करने वाले देश में बेलोचदार हो और उसकी कोई प्रतिस्थापन वस्तुयें उपलब्ध न हो। इसके विपरीत यदि वस्तु की माग आयात करने वाले देश के लिये लोचदार है तथा निर्यात करने वाले देश के लिये अपनी वस्तु का कोई और बाजार नहीं है तो ऐसी दशा में विदेशी उत्पादको को कर का भार सहन करना पड़ेगा और उसे उपभोक्ताओ पर नहीं टाला जा सकेगा। इस प्रकार की स्थिति प्रायः बहुत कम होती है और आयात कर का भार सामान्यतया उपभोक्ताओं को ही सहन करना पड़ता है।

निर्यात कर (Export Duty) का भार अधिकांश रूप से माल भेजने वाले को सहन करना पड़ता है क्योंकि वह उसे मूल्य के साथ जोड़कर विदेशी उपभोक्ताओं पर नहीं डाल सकता। निर्यातकर्ता के लिये उसकी वस्तु का मूल्य विदेशी बाजार में प्राय: निश्चित होता है और वह उसे प्रभावित नहीं कर सकता। यदि कर के कारण वह अपनी वस्तु के मूल्य में वृद्धि करता है तो उपभोक्ता उसके स्थान पर किसी अन्य वस्तु का प्रयोग आरम्भ कर सकते हैं अथवा उसी वस्तु को किसी अन्य सस्ते देश से मंगा सकते हैं। ऐसी दशा में निर्यातकर्त्ता अपनी वस्तु के मूल्य को नहीं बढ़ायेगा और अपने लाभ में से ही कर की रकम को अदा करेगा। किन्तु यदि उत्पादक की स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में काफी मजबूत है तो वह मूल्य को प्रभावित करके कर-भार को विदेशी उपभोक्ताओं पर डालने में सफल हो सकता है। ऐसा तब होता है जब या तो हमारे पास उस वस्तु के उत्पादन का एकाधिकार हो या विदेशियों की मांग हमारी वस्तु के लिये इतनी बेलोचदार हो कि मूल्य बढ़ने पर उसकी मांग में कोई कमी न हो। किन्तु ऐसी दशा बहुत कम पाई जाती है और निर्यात करों का भार मुख्यतया निर्यातकर्त्ता ही सहन करते हैं। इस प्रकार निर्यात व आयात करों का भार भी वस्तु की मांग व पूर्ति की लोच के अनुसार उत्पादकों और उपभोक्ताओं के बीच में बंट जाता है। डाल्टन के अनुसार—"आयातों तथा निर्यातों पर कर विनिमय के रास्ते में एक प्रकार की बाधा है। इस प्रकार की किसी भी बाधा का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार विनिमय करने वाले दोनों वर्गों के बीच उनकी सापेक्षिक मांग की लोच के उलटे अनुपात में बंटता है। दूसरे शब्दों में वह उनकी उन सापेक्षिक आवश्यकताओं की तीव्रता के सीधे अनुपात में बांटा जाता है जिनकी सन्तुष्टि विनिमय के द्वारा होती है।"[४]

आय-कर का भार :

आय कर (Income Tax), अतिरिक्त लाभ कर (Excess Profit Tax), अति कर (Super Tax) तथा पूंजी लाभ कर (Capital Gains Tax), ये सब प्रत्यक्ष कर हैं और इनके भार को उन्हीं लोगों को सहन करना पड़ता है जो इनका सर्वप्रथम भुगतान करते हैं। सामान्यत: इस प्रकार के करों के भार को हस्तान्तरित करना सम्भव नहीं होता। जब आय कर एक सामान्य कर के रूप में सभी प्रकार के व्यवसायों से प्राप्त आय पर लगाया जाता है तो कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं रहता जिसमें कर न देना पड़ा हो, और ऐसी दशा में साधनों को एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में हस्तान्तरित करके आय कर को नहीं टाला जा सकता। वेतन अथवा मजदूरी पर लगाये गए

4 "Taxes on imports and exports may then be regarded as obstacles to exchange and in accordance with the preceding theory, the direct money burden of any such obstacle is divided between the two parties to the exchange in inverse proportion to the elasticities of their respective demands. In other words, it is divided in direct proportion to the urgencies of their respective needs, which are satisfied by exchange" —*Dalton.*

आय कर को श्रमिक अपने मालिक पर टकेलने का प्रयत्न करता है किन्तु वह ऐसा करने में सफल नहीं होता । श्रमिकों को मजदूरी उनकी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार ही दी जाती है। मजदूरी पर आय कर लग जाने से श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि नहीं हो सकती क्योंकि आय कर लग जाने के पश्चात् उत्पादक के लिये इन श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता नहीं बढ़ती ।

व्यवसायियों के लाभ पर लगाये गए आय कर को टाला जा सकता है अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार पाये जाते हैं। व्यवसायी-वर्ग तो यह समझता है कि वह अपने आय कर को वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि करके उपभोक्ताओं पर टाल देता है। इस सम्बन्ध में यह बताया जाता है कि जब कोई व्यवसायी कीमतें निश्चित करने के लिए अपने लागत व्यय का अनुमान लगाता है, तो वह प्रायः कम से कम अप्रत्यक्ष रूप से, उस आय कर को भी सम्मिलित कर लेता है जो उसे देना पड़ेगा और यदि बाजार की परिस्थितियां अनुकूल हुई तो वह कीमतें ऐसे स्तर पर निश्चित करेगा कि उसकी उत्पादन लागत तथा अनुमानित आय कर दोनों ही निकल आयें। किन्तु अर्थशास्त्री इस बात से सहमत नहीं हैं और उनके अनुसार आय कर के भार को सामान्य परिस्थिति में टालना सम्भव नहीं है। पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में कोई भी व्यवसायी वस्तु के मूल्य को प्रभावित करने की शक्ति नहीं रखता। उसे अपनी वस्तु को प्रतियोगी मूल्य पर ही बेचना पड़ेगा। यदि कर के कारण वह अपनी वस्तु के मूल्य में वृद्धि करता है तो उसकी वस्तु को नहीं खरीदा जायगा। प्रतियोगिता-पूर्ण बाजार में वस्तु का मूल्य किसी समय भी सीमान्त लागत के बराबर आ सकता है और सीमान्त लागत में आय कर सम्मिलित नहीं होता क्योंकि सीमान्त उत्पादक का मुनाफा इतना कम होता है कि वह आय कर के अन्तर्गत नहीं आता । एकाधिकारी भी अपनी आय अथवा मुनाफे पर लगे हुये कर को उपभोक्ताओं पर नहीं टाल सकता है क्योंकि मूल्य में वृद्धि करने से उसकी बिक्री तथा आय कम हो जाने का भय रहता है। किन्तु यदि कोई व्यवसायी किसी एक स्थान पर अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा में काम कर रहा है तो वह वस्तु के मूल्य में वृद्धि करके आय कर के भार का कुछ अंश तक उपभोक्ताओं पर टालने में सफल हो जाता है क्योंकि उसके ग्राहकों को उससे इतना लगाव हो सकता है कि वे वस्तु का थोड़ा सा मूल्य बढ़ जाने पर अन्य विक्रेताओं के पास न जायें। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अल्पकाल में पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार, दोनों प्रकार की दशाओं में आय कर का भार कर देने वालों को ही सहन करना पड़ता है। यह सम्भव हो सकता है कि दीर्घकाल में आय कर का लोगों की काम करने तथा विनियोग करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पड़े और कुल रोजगार तथा आय की मात्रा घट जाय। ऐसी दशा में आय कर का भार सम्पूर्ण समाज को सहन करना पड़ेगा। किन्तु ऐसा तब होता है जब आय कर की दरें काफी ऊंची हों। आय कर की नीची अथवा सामान्य दरों का समाज पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता ।

भूमि पर कर का भार :

प्राचीन काल से ही यह विचार रहा है कि भूमि पर लगने वाला कर सबसे उत्तम है क्योंकि उसके भार को टाला नहीं जा सकता और उसे भूमि-पतियों को ही सहन करना पड़ता है। यदि कर भूमि के शुद्ध लगान (Economic Rent) पर लगाया जाता है तो उसके भार को टालना सभव नहीं होता और उसे भूमि-पतियों को ही सहन करना पड़ेगा। यह धारणा इस मान्यता पर आधारित है कि भूमि में अधिकतम लगान लिया जा रहा है। यदि लगान अधिकतम से कम होगा तो भूमिपति लगान में वृद्धि करके भार को हस्तान्तरित करने में सफल हो जायगा और ऐसी स्थिति में कर के भार का कुछ अंश किसानों को भी सहन करना पड़ेगा। भूमि कर के भार को मूल्य के साथ जोड़कर उत्पादित वस्तुओं के उपभोक्ताओं पर भी नहीं डाला जा सकता क्योंकि लगान एक प्रकार की बचत है और उसके घटने-बढ़ने का वस्तु के मूल्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। लगान किसी भी प्रकार वस्तु के मूल्य को प्रभावित नहीं करता वह तो स्वयं उससे प्रभावित होता है। इस प्रकार भूमि के लगान पर कर लगने से अथवा कर की दर में वृद्धि होने पर वस्तु के मूल्य के बढ़ने की कोई सभावना नहीं होती और इस प्रकार कर-भार का विवर्तन सभव नहीं है।

यदि सब प्रकार की भूमि पर एक साथ कर नहीं लगाया जाता और किसी एक प्रकार की वस्तु को उत्पन्न करने वाली भूमि पर ही कर लगाया जाता है तो कर के भार को उत्पादित वस्तुओं के मूल्य में जोड़ कर उपभोक्ताओं पर टाला जा सकता है। उदाहरणार्थ यदि चावल उत्पन्न करने वाली भूमि पर कर लगाया जाता है किन्तु अन्य प्रकार की फसलें उत्पन्न करने वाली भूमि पर कर नहीं लगाया जाता तो ऐसी दशा में चावल के उपभोक्ताओं को कर का भार सहन करना पड़ेगा। यदि वे चावल के लिये अधिक मूल्य देने को तैयार नहीं होंगे तो चावल के स्थान पर अन्य फसलें पैदा की जाने लगेंगी। भूमि पर अन्य प्रकार से भी कर लगाया जा सकता है। यदि भूमि में लगी हुई पूंजी पर कर लगाया जाता है तो उसके भार का विवर्तन सरलतापूर्वक किया जा सकता है। भूमिपति इस कर को देने के लिये भूमि जोतने वालों को मजबूर कर सकता है क्योंकि यदि वह भूमि में पूंजी का विनियोग नहीं करता तो भूमि की उत्पादन शक्ति गिर जायगी। इसी प्रकार यदि भूमि की उपज के अनुपात में कर लगाया जाता है तो उसके भार को आसानी से उपभोक्ताओं पर टाला जा सकता है। कर के भार का कितना विवर्तन करना सम्भव होगा, यह इस बात पर निर्भर है कि उत्पादित वस्तु की माग कितनी लोचदार है। यदि वस्तु की माग बेलोच है तो उसके मूल्य में आसानी से वृद्धि की जा सकेगी और कर का सम्पूर्ण भार उपभोक्ताओं को सहन करना पड़ेगा और यदि वस्तु की माँग लोचदार है तो कर का अधिकांश भार भूमिपति अथवा किसान को सहन करना पड़ेगा। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भूमि कर के विवर्तन का प्रश्न एक जटिल समस्या है किन्तु अधिकांश दशाओं में इस कर के भार को भूमिपति ही सहन करता है।

मकानों पर कर का भार :

मकान पर लगने वाले कर का भार मकान मालिक तथा किरायेदारों को सहन करना पड़ता है। कभी-कभी मकान बनाने वाले श्रमिकों को भी उसका कुछ भार सहन करना पड़ सकता है। यदि कोई व्यापारी मकान में रहता है तो वह कर के भार को अपनी वस्तुओं के खरीदारों पर भी डाल सकता है। यह सम्भव है कि किसी मौहल्ले अथवा स्थान पर काम करने वाले व्यापारी के ग्राहक वस्तुओं के मूल्य में थोड़ी वृद्धि होने पर भी अन्य दुकानदारों के पास जाना पसन्द न करें। ऐसा या तो इसलिये होता है कि वे उस दुकानदार से खरीदने के आदि हो गये हैं या उन्हें उसमें अधिक विश्वास है अथवा वे दूर के दुकानदारों तक जाने के कष्ट से बचना चाहते हैं। इस स्थिति में दुकानदार के लिए यह सम्भव हो जाता है कि वह अपने ऊपर पड़ने वाले मकान-कर के भार को कुछ अंश तक वस्तुओं का मूल्य बढ़ा कर उपभोक्ताओं पर टाल दे।

मकान मालिक तथा किरायेदारों के बीच कर का भार मकानों की माग की लोच तथा उनकी पूर्ति के अनुसार बटता है। यदि मकानों की मांग बेलोच है तो मकान मालिक किराये में वृद्धि करके कर भार का अधिकांश किरायेदारों पर टाल देंगे। प्रायः मकानों की मांग बेलोच होती है इसलिए कर का अधिकांश किरायेदारों को ही सहन करना पड़ता है। यदि किराया नियंत्रण कानून के कारण अथवा किसी अन्य कारण से मकान मालिक के लिये किराये में वृद्धि करना सम्भव नहीं है तो कर का भार उसे स्वयं सहन करना पड़ेगा। अगर किसी स्थान पर मकानों की माग उनकी पूर्ति की अपेक्षा कम है तो मकान मालिक किराये को नहीं बढ़ा सकेंगे और कर का सम्पूर्ण भार मकान मालिक पर ही पड़ेगा। किन्तु ऐसी स्थिति में मकान मालिक नए मकानों का निर्माण बन्द कर देंगे और मकानों की कमी के कारण किराये बढ़ जायगे और अन्त में किरायेदारों को ही कर का भार सहन करना पड़ेगा।

मृत्यु कर

मृत्यु कर मरने वाले व्यक्ति के द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति पर लगाया जाता है। एक सीमा निश्चित कर दी जाती है और जो लोग भी उससे अधिक मूल्य की जायदाद मरते समय छोड़ते हैं, उन पर बढ़ती हुई दर से यह कर लगाया जाता है। यह कर या तो जायदाद कर (Estate Duty) के रूप में लगाया जाता है या उत्तराधिकार कर (Inheritance Tax) के रूप में लिया जाता है। जायदाद कर मरने वाले की कुछ सम्पत्ति पर उसका बटवारा होने से पूर्व लिया जाता है किन्तु उत्तराधिकार कर उत्तराधिकारियों को प्राप्त होने वाली सम्पत्ति पर लगाया जाता है। इन करों का भार किस पर पड़ता है? उत्तराधिकारी इस कर को सहन करता है अथवा मरने वाला? सामान्यतया यह माना जाता है कि मरने पर सभी ऋणों का भुगतान हो जाता है और मृत व्यक्ति पर किसी प्रकार का भार नहीं डाला जा सकता। इसलिए

मृत्यु कर के भार का मृत व्यक्ति पर पड़ने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता और इस प्रकार के कर का भार उत्तराधिकारियों को ही सहन करना पड़ता है। यदि मरने वाले व्यक्ति ने इस कर के भुगतान के लिये किसी प्रकार का बीमा कराया हुआ है तो ऐसी दशा में कर भार मृत व्यक्ति ही सहन करता है क्योंकि वह अपने जीवन काल में उस बीमे की किस्त देता रहा है जिसकी रकम से कर का भुगतान किया जाता है। अन्त में यही कहा जा सकता है कि मृत्यु कर, चाहे जिस रूप में भी लगाया जाय, एक प्रत्यक्ष कर है जिस के भार को टालना बिल्कुल सम्भव नहीं है। इस कर का भार उसी व्यक्ति पर पड़ता है जो उसे देता है।

विक्री कर :

यह कर वस्तुओं की विक्री पर लगाया जाता है और इसे व्यापारियों से वसूल किया जाता है। अप्रत्यक्ष कर होने के कारण इस के भार के टाले जाने की काफी सम्भावना है। प्राय. कर का भार उन व्यापारियो के द्वारा सहन नहीं किया जाता जो कर का भुगतान करते है। विक्री कर का प्रारम्भिक भार तो विक्रेताओं पर पड़ता है किन्तु उसे वस्तुओं के मूल्य में जोड़ कर उपभोक्ताओं से वसूल कर लेते हैं। कभी-कभी व्यापारियों को भी उसका कुछ अंश सहन करना पड सकता है। व्यापारी किस सीमा तक विक्री कर को उपभोक्ताओं पर टालने में सफल होंगे यह वस्तुओं की माँग की लोच पर निर्भर होता है। यदि कर की मात्रा बहुत कम है और उसे सुविधा से वसूल नहीं किया जा सकता तो व्यापारी वस्तु के मूल्य को बढ़ाने की अपेक्षा कर के भार को स्वयं सहन कर लेंगे। किन्तु यदि कर की रकम काफी है तो वे उसे उपभोक्ताओं पर टालने का पूरा प्रयत्न करेंगे। जिन वस्तुओं की माँग बेलोच होती है उन पर लगे कर को आसानी से उपभोक्ताओं पर डाला जा सकता है। किन्तु लोचदार माग वाली वस्तुओं के सम्बन्ध में कर का सम्पूर्ण भार टालना सम्भव नहीं होता और उसे व्यापारी तथा उपभोक्ता दोनों ही सहन करते हैं। कुछ दशाओं में कर के भार का विवर्तन पीछे की ओर भी किया जा सकता है और व्यापारी उत्पादक को वस्तु कम मूल्य पर देने के लिये बाध्य कर सकता है। ऐसा लोचदार माग तथा बेलोचदार पूर्ति वाली वस्तुओं के सम्बन्ध में ही होता है। समाज की दृष्टि से बिक्री कर लोगों के व्यय पर एक प्रकार का कर है। व्यक्तिगत व्यय का घटना स्वाभाविक है किन्तु यदि उसे सार्वजनिक व्यय की वृद्धि के द्वारा सन्तुलित कर दिया जाय तो उत्पत्ति तथा रोजगार की मात्रा पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा।

परीक्षा प्रश्न

1. What do you mean by the incidence of a tax? Discuss the incidence of the sales tax. (Madras B. A. 1954)

   कर-भार से आप क्या समझते हैं? बिक्री कर के भार की व्याख्या कीजिये।

2. What do you understand by incidence of taxation ? How would you determine the incidence of central excise on tobacco or Vanaspati in India. (Agra B. A. II 1961)

   कर-भार से आपका क्या मतलब है ? भारत मे तम्बाकू अथवा वनस्पति पर उत्पादन-कर का भार आप किस प्रकार निर्धारित करेंगे ?

3. Discuss the problem of incidence of taxation under a competitive Economy ? (Agra B. A. II 1953)

   एक प्रतियोगितापूर्ण अर्थव्यवस्था मे कर-भार की समस्या की व्याख्या कीजिये।

4. Distinguish incidence from the effects of taxation. On what does the incidence of a tax depend ? (Agra B. Com , 1952)

   कर-भार तथा कर के प्रभावों मे अन्तर कीजिये। किसी कर का भार किन बातों पर निर्भर होता है ?

5. What are the general principles that determine the incidence of taxation ? On whom does the incidence of the following taxes rest—(a) A tax on land, (b) A tax on buildings (c) Custom duties. (Madras B. A. 1951)

   कौन से सामान्य सिद्धान्त कर-भार को निश्चित करते हैं ? निम्नलिखित करों का भार किस पर पड़ता है—(अ) भूमि पर कर (ब) मकानों पर कर (स) आयात-निर्यात कर।

—:o:—

६

उत्पत्ति तथा वितरण पर करारोपण का प्रभाव

Effects of Taxation on Production & Distribution

कर हमारे आर्थिक जीवन पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव डालते हैं। उनके कारण समाज मे धन की उत्पत्ति तथा वितरण मे परिवर्तन हो सकता है। वे लोगो की काम करने की तथा बचत करने की इच्छा को भी प्रभावित कर सकते हैं। कुछ कर आर्थिक जीवन पर अच्छा प्रभाव डालते हैं और कुछ बुरा। करारोपण इस प्रकार किया जाना चाहिये कि उससे बुरे प्रभाव बिल्कुल उत्पन्न न हों। डा० डाल्टन के अनुसार 'आर्थिक दृष्टि से सबसे अच्छी कर प्रणाली वह है जिसका सबसे अच्छा अथवा कम से कम बुरा प्रभाव पडता हो।"[1] कर प्रणाली की जांच करते समय हमे केवल करों के कारण उत्पन्न होने वाले प्रभावो को ही नही देखना चाहिये बल्कि करारोपण से होने वाली आय को खर्च करने के जो प्रभाव पडते है उन्हे भी ध्यान मे रखना चाहिये। यह सम्भव हो सकता है कि सार्वजनिक व्यय से होने वाला लाभ करो मे होने वाली हानि की अपेक्षा अधिक हो और दोनो मिलकर सामाजिक लाभ मे वृद्धि करते हो।

करो के आर्थिक प्रभावो को अध्ययन की दृष्टि मे निम्नलिखित भागो मे बाटा जा सकता है—

(अ) उत्पत्ति पर प्रभाव (Effects on Production)।

(ब) वितरण पर प्रभाव (Effects on Distribution)।

(स) अन्य प्रभाव (Other Effects)।

उत्पत्ति पर पडने वाले प्रभावो को भी तीन वर्गों मे विभक्त करके अध्ययन किया जा सकता है—(i) काम करने तथा बचत करने की शक्ति पर प्रभाव (ii) काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव (iii) आर्थिक साधनो के वितरण पर प्रभाव।

काम करने तथा बचत करने की शक्ति पर प्रभाव :

कर लोगो की काम करने तथा बचत करने की शक्ति को कम करके देश मे धन के उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय को कम कर सकते हैं। उन करो को आर्थिक दृष्टि

1. "The best system of taxation from the economic point of view is that which has the best or the least bad economic effects."

—*Dr. Dalton*

मे अच्छा नही समझा जाता है जिनका काम करने तथा बचत करने की शक्ति पर बुरा प्रभाव पडता है। वे सभी कर लोगो की काम करने की शक्ति को कम करते हैं जिनके कारण उनकी कार्य-कुशलता कम होती हो अथवा जो उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालते हो। यदि कर लग जाने के कारण लोगो को अपनी आवश्यकताओं पर किया जाने वाला व्यय कम करना पडता है तो ऐसा कर अवश्य ही उनकी कार्य-कुशलता को कम करेगा। जब कम आय वाले लोगो पर कर लगाया जाता है तो उनके परिणामस्वरूप उनका आवश्यक वस्तुओ का उपभोग घट जाता है जिनके कारण उनकी कार्यकुशलता तथा काम करने की शक्ति कम हो जाती है। यदि जीवन रक्षक अथवा कार्य-क्षमता सम्बन्धी वस्तुओं पर किसी प्रकार का कर लगाया जाता है तो उसका भी यही परिणाम होता है। गरीबो पर इस प्रकार कर नही लगाना चाहिये कि उनकी आय तथा व्यय मे कमी होने के कारण कार्यकुशलता कम हो जाय। यही *कारण है कि गरीबों को बहुत सी प्रकार के करो से मुक्त रक्खा जाता है।* कुछ करो का काम करने की शक्ति पर अच्छा प्रभाव भी पड सकता है। यदि ऐसी वस्तुओ पर कर लगाया जाता है जिनके प्रयोग का लोगो के स्वास्थ्य तथा कार्यकुशलता पर बुरा प्रभाव पडता है तो कर लग जाने के कारण इन वस्तुओं का प्रयोग कम हो जाता है और लोगो की कार्यकुशलता मे वृद्धि होती है। शराब, भग तथा अन्य नशीली वस्तुओं पर लगाये जाने वाले करो का यही प्रभाव होता है। इसलिये उन्हे सामाजिक दृष्टि से अच्छा समझा जाता है।

कर केवल लोगो की काम करने की शक्ति को ही कम नही करते बल्कि वे उनकी बचत करने की शक्ति पर भी बुरा प्रभाव डालते हैं। लगभग सभी प्रकार के करो का प्रभाव लोगो की बचत करने की क्षमता को कम करने का होता है। कर लगने से करदाताओं की आमदनी अनिवार्य रूप से घट जाती है और उनकी बचत करने की शक्ति कम हो जाती है। जो लोग अपनी आमदनी मे से कुछ बचा रहे हैं उन पर लगने वाला प्रत्येक कर बचत करने की क्षमता को कम करता है। जिस रकम को इन लोगो के द्वारा पहले बचाया जाता था अब वही रकम सरकार कर के रूप मे ले लेती है। विशेषतया धनी वर्ग तथा मध्यम श्रेणी के लोगो पर लगने वाले कर बचत की मात्रा को कम करते है। कर की दर जितनी अधिक ऊंची होती है उतनी ही अधिक वह इन लोगो की बचत करने की क्षमता को कम करती है। केवल गरीबो पर लगने वाले कर बचत करने की क्षमता को कम नही करते क्योकि इन लोगो की आमदनी इतनी कम होती है कि इनके लिये किसी भी प्रकार की बचत करना असम्भव है।

काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव -

एकमुश्त के लिये लगाये जाने वाले कर का काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर कोई प्रभाव नही पडता किन्तु एक स्थाई कर उन लोगो की आमदनी को कम करता है जिन पर वह लगाया जाता है और आमदनी की यह कमी उनकी काम

करने तथा बचत करने की इच्छा को प्रभावित करती है। कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि आमदनी कम हो जाने पर करदाता अधिक काम करेंगे जिससे कि वे अपनी आय के पहले स्तर को फिर से स्थापित कर सकें। यह प्राय: उन लोगों के सम्बन्ध में ठीक होता है जिनके आश्रितों की संख्या काफी है या जो भविष्य में निश्चित आय प्राप्त करने के उद्देश्य से बचत करते हैं। इन लोगों के लिये आमदनी की माग की लोच कम होती है इसलिये वे आमदनी मे होने वाली कमी को अधिक परिश्रम के द्वारा पूरा करने की कोशिश करते है। ऐसे लोगो की काम करने की इच्छा पर करारोपण का अच्छा प्रभाव पड़ता है और उसमे वृद्धि होती है। किन्तु उन लोगो के सम्बन्ध मे जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी है और जिनके लिये आमदनी की माग की लोच काफी है, ऊंचे कर काम करने तथा बचत करने की इच्छा को कम करते है। किसी विशेष कर का लोगो की काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर क्या प्रभाव पडेगा, यह कर की प्रकृति तथा करदाताओं के लिये आमदनी की माग की लोच पर निर्भर होता है। यदि आय की माग बेलोच है तो कर के कारण उत्पन्न होने वाली आय की प्रत्येक कमी करदाताओ को अधिक परिश्रम तथा उद्योग करने के लिये प्रोत्साहित करती है। किन्तु यदि व्यक्ति के लिये आय की मांग लोचदार है तो ऐसी स्थिति मे कर के कारण लोगों की काम करने की इच्छा कम हो सकती है।

करारोपण का बचत करने की इच्छा पर सामान्यतया बुरा प्रभाव पडता है। केवल उन लोगो को छोड कर जो भविष्य मे निश्चित आय प्राप्त करने के उद्देश्य से बचाते हैं, अन्य सभी लोगो की बचत करने की इच्छा, नये करो के लगने से कम हो जाती है। प्रत्येक कर लोगो की वर्तमान आय को कम करता है और यदि भविष्य मे किसी अत्यन्त आवश्यक कार्य के लिये धन की आवश्यकता नही है तो करदाता अपने वर्तमान उपभोग को कम नही करेगा और स्वाभाविक रूप से वह बचत को कम करने का निश्चय करेगा। कर लोगों की बचत करने की इच्छा को इसलिये भी कम करते हैं क्योकि लोग यह सोचते हैं कि भविष्य मे बचत होने वाली आमदनी पर भी इसी प्रकार कर लगाया जायगा और वे इस कारण धन के वर्तमान प्रयोग को बचत की अपेक्षा अधिक महत्व देने लगते हैं। यद्यपि सभी कर लोगो की बचत करने की इच्छा को कम करते हैं किन्तु उनमे से कुछ प्रकार के कर अन्य प्रकार के करो की अपेक्षा अधिक बुरा प्रभाव डालते है। वस्तुओ पर लगने वाले कर लोगों की क्रय-शक्ति को कम करके उनकी बचत करने की इच्छा को कुछ कम करते है किन्तु आमदनी अथवा सचित धन पर लगाये जाने वाले कर लोगो की बचत करने की इच्छा पर बहुत बुरा प्रभाव डालते है। इसीलिये व्यय कर (Expenditure Tax) को आय तथा बचत पर लगाये जाने वाले कर की अपेक्षा अधिक अच्छा समझा जाता है।

साधनो के वितरण पर प्रभाव .

करारोपण आर्थिक साधनो के वितरण को प्रभावित करके भी उत्पत्ति पर अपना प्रभाव डाल सकते है। बहुत से कर साधनो के वर्तमान वितरण को बदल कर

उन्हे विभिन्न व्यवसायो मे नये ढग से बाट देते हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि जब साधनो के स्वाभाविक वितरण मे कोई परिवर्तन होता है तो वह उत्पादन को कम कर देता है। इसलिये कर लगाते समय इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि ऐसे कर लगाये जायें जिनका साधनो के वितरण पर कम से कम प्रभाव पड़े। आकस्मिक धन तथा भूमि के मूल्य पर लगने वाले कर इसी प्रकार के होते हैं। किन्तु फिर भी कुछ अन्य कारणो से ऐसे कर लगाने पडते हैं जिनके कारण उद्योग तथा व्यवसायो के बीच साधनो का पुनर्वितरण हो जाता है। जब किसी वस्तु पर कर लगता है तो उसकी उत्पादन लागत बढ जाती है जिसके कारण उसका मूल्य भी बढता है। मूल्य वृद्धि उसकी माग को कम कर देती है और उस वस्तु का उत्पादन कम मात्रा मे होने लगता है। उत्पादन मे लगे हुए कुछ साधन बेकार हो जाते हैं और उन्हे अन्य उद्योग अथवा व्यवसाय मे जाना पड़ता है। यदि उत्पादक कर का भार स्वय सहन करने का निश्चय करते हैं तो कुछ सीमान्त उत्पादको को व्यवसाय छोड़ना पडेगा और वे अपने साधनों को दूसरे व्यवसाय मे लगाने का प्रयत्न करेंगे। इसी प्रकार यदि उत्पादन पर कर केवल एक क्षेत्र मे लगाया जाता है और अन्य क्षेत्र कर से मुक्त रहते हैं तो ऐसी दशा मे व्यवसायी अपने साधनो को करारोपित क्षेत्र से हटा कर कर-मुक्त क्षेत्रो मे लगाने का प्रयत्न करेंगे। व्यवहारिक दृष्टि से साधनो का पुनर्वितरण काफी कठिन हो सकता है क्योकि श्रम तथा पूंजी कुछ उद्योगो के लिये विशिष्ट (Specific) हो जाते हैं और उन्हे वहाँ से हटा कर अन्य उद्योगो मे नहीं लगाया जा सकता है। किन्तु नये साधनों के पुनर्वितरण मे इस प्रकार की कोई कठिनाई नही होती।

साधनों का पुनर्वितरण प्राय उत्पत्ति पर बुरा प्रभाव डालता है किन्तु कभी-कभी समाज को इससे लाभ भी हो सकता है। यदि करारोपण के कारण उत्पत्ति के साधन, समाज की दृष्टि से कम उपयोगी उद्योगो से हट कर अधिक उपयोगी उद्योगो म लग जाते हैं तो उससे समाज को लाभ होता है। उदाहरणार्थ यदि शराब पर कर लगने से शराब के उत्पादन मे लगे हुये साधन अन्य उपयोगी वस्तुओ के उत्पादन मे लग जाते है तो उससे सामाजिक लाभ मे वृद्धि होती है। इसी प्रकार यदि कर के कारण भूमि कम उपयोगी प्रयोग से हटा कर अधिक उपयोगी प्रयोग मे लगाई जाती है तो उससे समाज को लाभ होता है। इसके विपरीत यदि कर के कारण उत्पत्ति के साधन उपयोगी वस्तुओ के उत्पादन से हट कर कम उपयोगी अथवा हानिकारक वस्तुओ के उत्पादन मे लगाये जाते हैं तो उससे समाज को नुकसान होता है।

धन के वितरण पर प्रभाव :

जिस प्रकार उत्पत्ति की दृष्टि से हमे ऐसी कर प्रणाली को चुनना चाहिये जिसका उत्पादन पर सबसे कम बुरा प्रभाव पड़े ठीक उसी प्रकार वितरण की दृष्टि से कर प्रणाली ऐसी होनी चाहिये जिसकी प्रकृति धन के वितरण को असमानताओ को कम करने की हो। जर्मन अर्थशास्त्री वैगनर (Wagner) ने सर्वप्रथम इस बात पर जोर दिया कि करारोपण का प्रयोग वितरण की असमानताओं को दूर करने के लिये

किया जाना चाहिये। आजकल करारोपण को धन के वितरण की असमानताओं को दूर करने का एक मुख्य साधन माना जाता है। एक अच्छी कर प्रणाली वह है जो धन के वितरण की असमानताओं को दूर करने में सहायता दे। यदि किसी देश में ऐसे कर लगाये जाते है जिनके कारण धन की असमानतायें बढती हैं तो वे निश्चित रूप से समाज के लिये हानिकारक होंगे। विभिन्न प्रकार के करो का धन के वितरण पर विभिन्न प्रभाव पडता है। कर जितनी अधिक प्रगतिशील दर से लगाया जाता है उतना ही वह असमानताओं को जल्दी समाप्त करता है। इसके विपरीत प्रतिगामी (Regressive), आनुपातिक (Proportional) तथा मामूली प्रगतिशील कर धन के वितरण की असमानताओं को बढाते हैं। वितरण की दृष्टि से कर अधिक प्रगतिशील दर से लगाये जाने चाहियें किन्तु ऐसे करो का उत्पादन पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। प्रो० पीगू के अनुसार धन के वितरण की असमानताओं को कम करना तब तक ठीक होता है जब तक कि ऐसा करने से राष्ट्रीय लाभाश की मात्रा मे कोई कमी न हो। देश के लिये कर-प्रणाली का चुनाव करते समय हमे उत्पादन तथा धन के वितरण दोनो को ध्यान मे रखना चाहिये।

प्रतिगामी (Regressive) तथा आनुपातिक कर निश्चित रूप से धन के वितरण की असमानताओं को बढाते हैं इसलिये किसी देश की कर-प्रणाली मे उनकी सख्या कम से कम होनी चाहिये। एक अच्छी कर-प्रणाली मे अधिकाश कर प्रगतिशील (Progressive) होने चाहियें जिससे कि सम्पूर्ण कर-प्रणाली की प्रवृत्ति प्रगामिता की ओर हो। सामान्यतया, आमतौर मे प्रयोगो मे आने वाली वस्तुओ पर लगाये जाने वाले कर प्रतिगामी होते है क्योकि इनका भार निर्धन व्यक्तियो पर अधिक पडता है और धनी व्यक्तियो पर कम। बिक्री कर (Sales Tax) तथा व्यक्तिगत व्यय पर लगने वाला कर भी प्रतिगामी होता है क्योकि आमदनी के बढने के साथ साथ उसका व्यय किया जाने वाला प्रतिशत घटता जाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उपभोक्ताओ पर लगने वाले सभी कर प्रतिगामी होते हैं क्योकि वे आनुपातिक होने के कारण उपभोक्ताओ के विभिन्न वर्गों मे भेद नही करते हैं और सभी कर दाताओ पर एक दर से लगाये जाते हैं। ऐसे कर धन की वितरण की असमानताओं को बढाते है इसलिए उनकी मात्रा कम से कम रक्खी जानी चाहिये।

लोगो की आय तथा धन पर लगने वालो करो को काफी प्रगतिशील बनाया जा सकता है। वर्तमान आय कर प्राय: प्रगतिशील है क्योकि उसके अन्तर्गत अधिक आय वालो पर कम आय वालो की अपेक्षा ऊँची दर से कर लगाया जाता है, जिनकी आमदनी बहुत अधिक होती है उन पर अतिरिक्त कर (Super Tax) भी लगाया जा सकता है। उत्तराधिकारी कर (Inheritance Tax) तथा अन्य प्रकार के सम्पत्ति कर भी प्रगतिशील होते है। क्योकि यह सब कर बढती हुई दर से लगाये जाते हैं। प्रमण्डल कर (Corporation Tax) तथा भूमि मूल्यो कर लगाने वाले करो को भी काफी सीमा तक प्रगतिशील बनाया जा सकता है। सामान्यतया प्रत्यक्ष करो (Direct Taxes) मे प्रगतिशीलता अधिक पाई जाती है इस

लिए उनका प्रयोग धन के वितरण की असमानताओं को दूर करने के लिए किया जा सकता है। कभी-कभी संरक्षण प्रशुल्क (Protective Tariffs) को भी इस उद्देश्य के लिये काम में लाया जा सकता है। यदि संरक्षण ऐसे उद्योगों को दिया जाता है जिनमें मजदूरी की दर अन्य उद्योगों की अपेक्षा अधिक है तो इसका प्रभाव इन उद्योगों को प्रोत्साहित करने का होगा और श्रमिक कम मजदूरी वाले उद्योगों को छोड़कर अधिक मजदूरी वाले उद्योगों में आ जायेंगे जिसके कारण धन के वितरण की असमानतायें कम हो जायेंगी। इस उद्देश्य की पूर्ति उन वस्तुओं पर कर लगा कर भी की जा सकती है जिनका प्रयोग केवल धनी लोगों के द्वारा किया जाता हो।

कर के अन्य प्रभाव :

धन के उत्पादन तथा वितरण पर पड़ने वाले प्रभावों के अतिरिक्त, कर हमारे आर्थिक जीवन पर अन्य प्रकार के प्रभाव भी डालते हैं। कर समाज में लोगों के उपभोग, रोजगार के स्तर तथा व्यवसाय की मात्रा को प्रभावित करते हैं। कुछ लोगों का यह विश्वास है कि करारोपण के कारण समाज में बेरोजगारी बढ़ती है। उनका यह कहना है कि करारोपण के द्वारा सरकार जो रुपया लेती है यदि वह व्यवसायियों के पास रहता तो उसका विनियोग रोजगार के नये अवसर उत्पन्न करने के लिए किया जाता। इस विचार में सत्यता का बहुत कम अंश पाया जाता है। यद्यपि बहुत ऊँचे कर तथा आकस्मिक लगने वाले करों का रोजगार की मात्रा पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है किन्तु यह कहना कि करों के कारण बेरोजगारी बढ़ती है, कुछ ठीक नहीं। सरकार करों के रूप में जो रुपया लेती है उसके व्यय के द्वारा भी समाज में रोजगार बढ़ता है। जब रुपया लोगों की भलाई के लिये खर्च किया जाता है तो उस के कारण रोजगार के नये अवसर उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक क्षेत्र में नये तथा ऐसे उद्योग लगाये जा सकते हैं जिन्हें जोखिम अधिक होने के कारण व्यक्तिगत व्यवसायियों के द्वारा न लगाया जाता। ऐसी दशा में लोगों को नया काम मिलता है और रोजगार तथा व्यापार के स्तर में वृद्धि होती है। किन्तु फिर भी करारोपण का प्रभाव रोजगार की मात्रा पर कुछ न कुछ अवश्य पड़ता है। विशेषतया वे कर जो उपभोग तथा विनियोग को कम करने वाले होते हैं, व्यवसाय तथा रोजगार की मात्रा को भी कम करते हैं। किन्तु यह कमी सार्वजनिक क्षेत्र में होने वाले विस्तार के साथ सन्तुलित हो जाती है।

करों का लोगों के उपभोग तथा रहन सहन के स्तर पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक कर की प्रवृत्ति उपभोग को कम करने की होती है जिसके कारण लोगों के आर्थिक कल्याण को नुकसान पहुँच सकता है। निर्धन लोगों पर लगने वाले कर उन्हें अपना रहन-सहन का स्तर नीचा करने पर मजबूर करते हैं। आवश्यकता की वस्तुओं पर लगाने वाले करों का भी यही परिणाम होता है। कर केवल उपभोग की मात्रा को ही प्रभावित नहीं करते हैं बल्कि वे उसकी प्रवृत्ति को भी बदल देते हैं।

करों का यह परिणाम हो सकता है कि लोग कुछ वस्तुओं का कम प्रयोग करने लगें तथा कुछ का अधिक। यदि कर का प्रभाव हानिकारक वस्तुओं के प्रयोग को कम करने का होता है तो उस से समाज को लाभ होता है किन्तु ऐसे कर आय की दृष्टि से अच्छे नहीं होते। शराब तथा अन्य नशीली वस्तुओं के लगने वाले करों का प्रभाव इसी प्रकार का होता है।

किसी देश के लिए अच्छी कर प्रणाली का चुनाव करते समय करो के सभी प्रकार के प्रभावो को ध्यान मे रखा जाना चाहिये। कर प्रणाली ऐसी होनी चाहिये जिसका उत्पादन पर कम से कम बुरा प्रभाव पडे और जो बचत तथा विनियोग की मात्रा मे कोई विशेष कमी न करती हो। अच्छी कर प्रणाली वही है जिसकी प्रवृत्ति धन के वितरण की असमानताओं को दूर करने की हो। इसके साथ-साथ करारोपण का रोजगार, व्यवसाय तथा उपभोग के स्तर पर भी बुरा प्रभाव नही पडना चाहिये। यद्यपि इन सब उद्देश्यो को एक साथ प्राप्त करने सम्भव नही है किन्तु फिर भी इन सब मे इस प्रकार का समन्वय स्थापित किया जाना चाहिये जिससे सामाजिक लाभ को अधिकतम किया जा सके।

७

लोक ऋण

Public Debt

सार्वजनिक ऋण वर्तमान सरकारों की आय का एक महत्वपूर्ण साधन है। सरकार के निरन्तर बढ़ते हुये व्यय को केवल करारोपण तथा शुल्कों से प्राप्त आय से पूरा नहीं किया जा सकता। अतः सरकार को आय प्राप्त करने के अन्य स्रोतों का प्रयोग करना पड़ता है। सामान्य साधनों से प्राप्त आय के अतिरिक्त प्रायः सरकार को सार्वजनिक ऋणों से भी आय प्राप्त करनी होती है। *आगम का यह साधन राज्य* के अन्य आय के साधनों से थोड़ा भिन्न है क्योंकि इस प्रकार के ऋणों पर सरकार को लम्बे समय तक व्याज देना पड़ता है तथा अवधि समाप्त होने पर मूलधन उन लोगों को लौटाना होता है जिनसे उसे उधार लिया गया है। *इसलिये सरकार को साधारण परिस्थिति में ऋण नहीं लेना चाहिये और साधारण व्यय को आय के सामान्य* साधनों से पूरा करना चाहिये। सार्वजनिक ऋण केवल असामान्य परिस्थिति में अथवा *असाधारण व्यय को पूरा करने के लिये ही लिया जाना चाहिये।* कभी-कभी सरकार को रुपये की तुरन्त आवश्यकता होती है और इतनी जल्दी करों आदि से आय प्राप्त करना सम्भव नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में सरकार सार्वजनिक ऋण के द्वारा धन प्राप्त करके अपनी *आवश्यकता पूरी करती है।* कुछ आर्थिक कारणों से कभी-कभी सरकार ऋणों के द्वारा आय प्राप्त करना करों की अपेक्षा अधिक अच्छा समझती है। वर्तमान काल में सार्वजनिक ऋणों का सबसे महत्वपूर्ण कारण युद्ध तथा आर्थिक विकास पर किया जाने वाला व्यय है। सरकार का व्यय युद्ध के कारण अथवा आर्थिक विकास तथा पुनर्निर्माण की योजनाओं को पूरा करने के लिये इतना अधिक बढ़ गया है कि उसे आय के सामान्य साधनों के द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के व्यय को सरकार प्रायः जनता से अथवा विदेशों से ऋण लेकर पूरा करती है।

सार्वजनिक ऋण के द्वारा आय प्राप्त करने की प्रणाली का आरम्भ वर्तमान शताब्दी में ही हुआ है। १८वीं शताब्दी तक कोई इसे जानता भी नहीं था। जब कभी युद्ध आदि के कारण सरकार पर कोई आकस्मिक व्यय पड़ता था तो उसे संचित सरकारी कोष के द्वारा पूरा किया जाता था। सरकार अपनी अतिरिक्त आय को खजाने के रूप में जमा रखती थी और इसका प्रयोग आकस्मिक तथा असामान्य व्यय को पूरा करने के लिये किया जाता था। कभी-कभी इस प्रकार के व्यय को पूरा करने

के लिये राजा अपनी निजी साख के आधार पर उधार भी लेता था। वर्तमान काल में सचित कोष तथा राजा की निजी साख का स्थान सार्वजनिक ऋण ने ले लिया है। आधुनिक सरकारों के उत्तरदायित्व मे वृद्धि होने के साथ-साथ उन पर ऋणों का भार भी निरन्तर बढता जा रहा है। आजकल सभी बडी-बडी सरकारो पर भारी मात्रा मे राष्ट्रीय ऋण होते हैं।

व्यक्तिगत ऋण तथा सार्वजनिक ऋण में भेद :

लोक ऋण तथा व्यक्तिगत ऋण मे कुछ अश तक समानता पाई जाती है क्योंकि दोनो प्रकार के ऋण उस समय लिये जाते हैं जब सामान्य आय के द्वारा व्यय को पूरा करना सम्भव नही होता तथा दोनो प्रकार के ऋणो के सम्बन्ध व मूलधन व ब्याज के भुगतान की समस्या होती है। इस समानता के होते हुए भी दोनों प्रकार के ऋणों मे कुछ आधारभूत अन्तर पाये जाते है जो निम्न प्रकार हैं—

(१) सरकार के हाथ मे राजसत्ता होती है इसलिए वह जनता को ऋण देने के लिये मजबूर कर सकती है। वह ऋण पर कम ब्याज लेने के लिये भी लोगो को बाध्य कर सकती है और यदि चाहे तो ऋण की वापसी से भी इकार कर सकती है, यद्यपि ऐसा सामान्य परिस्थिति मे नही किया जाता। व्यक्ति की भांति सरकार पर ऋण चुकाने के लिये जोर नही डाला जा सकता। इसके विपरीत व्यक्ति किसी को ऋण देने के लिये बाध्य नही कर सकता और न ऋण का भुगतान करने मे इकार कर सकता है। वह ऋणदाता की इच्छा के विरुद्ध ऋण पर ब्याज की दर भी कम नही कर सकता।

(२) सरकार का जीवन निरन्तर चलता रहता है इसलिये वह स्थायी तथा दीर्घकालीन ऋण ले सकती है एव ऋणो के भुगतान के लिये स्थायी सौदा कर सकती है किन्तु व्यक्ति के लिये दीर्घकालीन ऋण लेना सम्भव नही होता। इसलिये व्यक्तिगत ऋणो के सम्बन्ध मे समय सीमा का होना आवश्यक है किन्तु सरकारी ऋणो के सम्बन्ध मे वह जरूरी नही है।

(३) सरकार आन्तरिक (Internal) तथा बाहरी (External) दोनो प्रकार के ऋण ले सकती है। देश के भीतर वह अपने आधीन नागरिको से तो ऋण लेती ही है किन्तु आवश्यकता पडने पर वह अन्य देशो मे रहने वाले लोगो से तथा विदेशी सरकारो से भी ऋण ले सकती है। इसके अतिरिक्त सरकार अधिक मात्रा मे नोट छाप कर भी जनता से अप्रत्यक्ष ऋण ले सकती है; किन्तु एक व्यक्ति के ऋण लेने के साधन सीमित होते हैं। वह केवल देश के भीतर अन्य लोगो से ऋण ले सकता है। उसके लिये न तो अपने प्रतिज्ञा-पत्र (I. O. U's) छाप कर चलाना सम्भव होता है और न वह विदेशो से ऋण ले सकता है।

(४) सरकार के द्वारा लिया गया ऋण प्रायः जनता की भलाई के लिये खर्च किया जाता है जिसका लाभ ऋणदाताओ को भी होता है किन्तु व्यक्ति ऋण की रकम को अपनी भलाई के लिये व्यय करता है जिससे ऋणदाता को कोई लाभ नही होता।

(५) सार्वजनिक ऋण का भुगतान प्रायः जनता पर करारोपण के द्वारा किया जाता है। ऋण के भुगतान की रकम का कुछ भाग उन लोगो से भी आता है जिन्हे कि भुगतान किया जाना है क्योकि करदाता सरकार के ऋणदाता भी हो सकते हैं। अत सरकार को ऋण देने वाले लोगो को ऋण के भुगतान का पूरा लाभ नही मिलता बल्कि यह उतना कम हो जाता है जितना कि उन्हे कर के रूप मे देना पडता है। व्यक्तिगत ऋण के सम्बन्ध मे ऐसा नही होता क्योंकि व्यक्ति अपने ऋण के भुगतान का भार किसी भी प्रकार ऋणदाता पर नही डाल सकता।

(६) सार्वजनिक ऋणो पर व्यक्तिगत ऋणों की अपेक्षा ब्याज की दर कम होती है। सरकार को अपनी साख के कारण काफी कम ब्याज पर रुपया मिल जाता है किन्तु व्यक्ति की साख सरकार की अपेक्षा बहुत कम होती है इसलिये उसे ऋणो पर अधिक ब्याज की दर देनी पडती है।

(७) लोक ऋणो के भुगतान का देश की अर्थव्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अधिक मात्रा म ऋणो का भुगतान करने पर देश की अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो सकती है तथा राष्ट्रीय आय पर भी इसका बुरा प्रभाव पड सकता है। व्यक्तिगत ऋणो के भुगतान से इस प्रकार के कोई प्रभाव नही पडते उनका प्रभाव केवल भुगतान करने वाल व्यक्तियो तक ही सीमित रहता है।

(८) सार्वजनिक ऋणो का उद्देश्य भी सामान्यत. व्यक्तिगत ऋणो के उद्देश्य से भिन्न होता है। सरकार के द्वारा लिये जाने वाले अधिकाश ऋण उत्पादक कार्यों के लिये होते है किन्तु व्यक्तिगत ऋण उत्पादक तथा अनुत्पादक दोनो ही प्रकार क उद्देश्यो के लिये लिया जा सकता है।

ऋण कब लेना चाहिये

वर्तमान सरकारो के वित्त मे सार्वजनिक ऋण ने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। सभी सरकारो को अपने व्यय के कुछ भाग को पूरा करने के लिये लोक ऋणो पर निर्भर रहना पडता है। आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार निश्चित सीमाओ के भीतर लोक ऋण आवश्यक तथा लाभपूर्ण होता है। सार्वजनिक ऋणो का देश की अर्थव्यवस्था पर गहरा प्रभाव पडता है इसलिये सरकार के द्वारा ऋण केवल विशेष परिस्थितियो मे ही लिया जाना चाहिये। लोक-ऋण से पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिये सरकार को उसका प्रयोग आय के अन्य साधनो के पूरक क रूप मे करना चाहिये। अपना व्यय पूरा करने के लिये सरकार को आय, करो तथा लोक ऋण के बीच चुनाव करना पडता है इसलिये यह जानना आवश्यक है कि किन परिस्थितियो मे सरकार को ऋण लेना चाहिये।

आधुनिक वित्त सिद्धान्त के अनुसार सरकार के द्वारा किये जाने वाले सामान्य खर्चे, जो काफी नियमित रूप से किये जाते हो, आय के सामान्य स्रोतो से पूरे किये जाने चाहिये जिसके अन्तर्गत कर, शुल्क तथा उद्योगों आदि से प्राप्त आय आती है। आकस्मिक व्यय (Extra-Ordinary Expenditure) को पूरा करने के लिये सरकार

ऋण ले सकती है। ऐसे खर्चे को पूरा करने के लिये, जिसका लाभ भविष्य की पीढ़ियों को मिलाना है, सरकार जनता से ऋण ले सकती है। सरकार के द्वारा निम्न प्रकार के व्यय को पूरा करने के लिये ऋण लिया जा सकता है—

आकस्मिक सकटकाल मे सरकार को बहुत अधिक व्यय करना पडता है। इस प्रकार के सकटकालीन व्यय को पूरा करने के लिये सरकार ऋण ले सकती है। युद्ध भूकम्प, बाढ तथा दुर्भिक्ष आदि के समय मे सरकार को भारी मात्रा मे सार्वजनिक ऋण लेना पडता है क्योंकि आय के सामान्य साधनो से विपत्तिकालीन व्यय को पूरा नही किया जा सकता। जब कोई देश युद्ध मे फस जाता है तो उसे देश की रक्षा करने के लिये बहुत बडी मात्रा मे व्यय करना पडता है। करो से प्राप्त आय के द्वारा युद्ध के व्यय को पूरा नही किया जा सकता इसलिये सरकार के लिये ऋण लेना आवश्यक हो जाता है। वास्तव मे लोक ऋण का विकास ही युद्ध व्यय को पूरा करने के लिये किया गया था।

सार्वजनिक निर्माण कार्यो के लिये भी सरकार के द्वारा ऋण लिया जाना उचित है। रेलें, सडके, हवाई अड्डे तथा सिचाई साधनो के निर्माण पर सरकार को भारी मात्रा मे व्यय करना पडता है जिसे सामान्य आय से पूरा करना सभव नही होता। इस प्रकार के निर्माण कार्यो पर किया जाने वाला व्यय उत्पादक व्यय होता है इसलिये उसे सार्वजनिक ऋण से पूरा किया जा सकता है। युद्ध व्यय का कुछ भाग सार्वजनिक ऋण तथा कुछ करो के द्वारा पूरा किया जा सकता किन्तु सार्वजनिक निर्माण पर किया जाने वाला उत्पादक व्यय लोक ऋण से ही पूरा किया जाना चाहिये करो से नही। यदि इस प्रकार के व्यय को पूरा करने के लिये कर लगाये जायगे तो करो की मात्रा बहुत अधिक हो जायगी जिसे किसी भी प्रकार उचित नही कहा जा सकता। जनता की भलाई के कामो पर, जैसे हस्पताल, स्कूल आदि का निर्माण, किया जाने वाला व्यय भी लोक ऋण से पूरा किया जा सकता है।

देश के आर्थिक विकास के सम्बन्ध मे किये जाने वाला व्यय भी लोक ऋण के द्वारा पूरा किया जा सकता है। आर्थिक साधनो के विकास के लिये सरकार को बहुत बडी मात्रा मे व्यय करना होता है जिसे करो के द्वारा पूरा नही किया जा सकता है। इस प्रकार के व्यय का बहुत बडा भाग सार्वजनिक ऋण के द्वारा पूरा किया जाता है। अल्प विकसित देशो मे विकास योजनाओ पर किये जाने वाले व्यय का अधिकाश लोक ऋण के द्वारा पूरा किया जाता है।

बजट के अस्थाई घाटे को पूरा करने के लिए भी लोक ऋण का प्रयोग किया जा सकता है। कभी-कभी सरकार, को रुपये की तुरन्त आवश्यकता होती है किन्तु इतनी जल्दी करो आदि से आय प्राप्त करना सभव नही होता है। ऐसी परिस्थिति मे सरकार को ऋण लेना पडता है। सरकार प्रायः करो से प्राप्त होने वाली आय के आधार पर अल्पकालीन ऋण लेती रहती है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सरकार का तमाम चालू खर्च करों के द्वारा पूरा किया जाना चाहिये। यह एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है जिसका पालन आवश्यक सामान्य व्यय को ऋणों के द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता है क्योंकि ऐसा करने से सरकार पर ऋणों का भार निरन्तर बढ़ता जायगा। आकस्मिक आपत्ति के कारण उत्पन्न चालू व्यय को पूरा करने के लिए सार्वजनिक ऋण लिया जा सकता है। आपत्तिकालीन व्यय तथा सार्वजनिक निर्माण एवं आर्थिक विकास के लिए किया जाने वाला व्यय लोक ऋण के द्वारा पूरा किया जा सकता है।

लोक ऋण का वर्गीकरण

लोक-ऋण का कोई एक-सा वर्गीकरण नहीं मिलता। विभिन्न लेखकों ने उनका वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया है। ऋणों का वर्गीकरण प्रायः ऋण की अवधि, भुगतान की शर्तें, ऋण के उद्देश्य आदि को आधार मान कर किया जाता है। लोक ऋण के कुछ प्रमुख वर्गीकरण निम्न प्रकार हैं—

ऐच्छिक तथा अनिवार्य ऋण

लोक ऋण (i) ऐच्छिक तथा (ii) अनिवार्य हो सकते हैं। ऐच्छिक ऋण वह होता है जिसे लोग अपनी स्वतन्त्र इच्छा से देते हैं और उन पर ऋण देने के लिए किसी प्रकार का दबाव नहीं डाला जाता। इसके विपरीत अनिवार्य ऋण वह होता है जिसमें रुपया देने के लिए लोगों को मजबूर किया जाता है। प्राचीन काल में सरकारें इस प्रकार के ऋण लिया करती थीं किन्तु वर्तमान काल में इस प्रकार के ऋणों का महत्व समाप्त हो गया है। युद्ध काल तथा अन्य प्रकार की संकट-कालीन स्थिति में सरकार जनता से अनिवार्य ऋण ले सकती है। वास्तव में अनिवार्य ऋण को सार्वजनिक ऋण कहना उचित नहीं है क्योंकि इसमें करारोपण का अंश आ जाता है।

कोषित तथा अकोषित ऋण

कोषित ऋण (Funded Debt) को निश्चितकालीन अथवा दीर्घकालीन ऋण भी कहा जाता है। इस प्रकार के ऋण का भुगतान निश्चित काल के पश्चात् होता है तथा उन शर्तों के अनुसार होता है जो ऋण लेते समय सरकार के द्वारा घोषित की जाती हैं। कोषित ऋण प्रायः दीर्घकालीन ऋण होते हैं और इनके भुगतान के लिये सरकार ऋण लेते समय एक अलग कोष स्थापित कर देती है जिसमें प्रति वर्ष किसी साधन की आय जमा होती रहती है। कोष बना देने से ऋण का भुगतान सुविधापूर्वक हो जाता है। इस प्रकार का ऋण इतना दीर्घकालीन तथा स्थायी होता है कि सरकार को उसके मूलधन को चुकाने की जिम्मेदारी नहीं लेनी पड़ती और वह केवल ऋण पर ब्याज चुकाने की जिम्मेदारी लेती है। इंगलैंड के कनसोल (Consol) इसी प्रकार के ऋण का उदाहरण हैं। रेल, नहरें तथा अन्य उत्पादक साधनों के निर्माण के लिये सरकार इसी प्रकार के ऋणों के द्वारा रुपया प्राप्त करती है।

इसके विपरीत अकोपित ऋण (Unfunded Debt) अल्पकालीन होता है। इस प्रकार के ऋण अपेक्षाकृत थोड़े समय मे चुका दिये जाते है और इनके भुगतान के लिये सरकार किसी प्रकार के कोष का निर्माण नही करती। ऋण पर ब्याज सरकार अपनी सामान्य आय मे से देती है तथा समय आने पर इन ऋणो के मूलधन का भुगतान अन्य ऋणो से प्राप्त आय के द्वारा कर दिया जाता है। इसलिये कभी-कभी इन्हे चालू ऋण (Floating Debt) भी कहा जाता है। भारतवर्ष मे अरोपित ऋण (Unfunded Debt) तथा चालू ऋण (Floating Debt) मे भेद किया जाता है। चालू ऋण प्रायः उस ऋण को कहा जाता है जो कम अवधि के लिये लिया जाय तथा जिसका भुगतान एक साल के भीतर कर दिया जाय। भारतीय सरकार के ट्रेजरी बिल्स (Treasury Bills) जिनकी अवधि तीन माह होती है तथा रिजर्व बैंक से ली जाने वाली काम चलाऊ पेशगी (Ways and Means Advance) इस प्रकार के ऋणो के उदाहरण हैं।

आन्तरिक तथा विदेशी ऋण

सार्वजनिक ऋण आन्तरिक तथा विदेशी हो सकते है। यह इस बात पर निर्भर है कि ऋण कहाँ से लिया गया है। सरकार के द्वारा अपने देश के मुद्रा बाजार से लिया जाने वाला ऋण आन्तरिक ऋण कहलाता है। यह ऋण सरकार अपने देश मे रहने वाले लोगो से लेती है। जब सरकार किसी अन्य देश की सरकार या दूसरे देश मे रहने वाले लोगो से ऋण लेती है तो वह विदेशी ऋण कहलाता है। विदेशी ऋण प्राय तब लिये जाते है जब आन्तरिक ऋण से प्राप्त रकम अपर्याप्त होती है। आन्तरिक ऋण मे अपने देश की मुद्रा प्राप्त होती है तथा उसका भुगतान भी देश की मुद्रा मे ही किया जाता है। किन्तु विदेशी ऋण मे विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है और उसका भुगतान करते समय देश के विदेशी विनिमय साधनो पर भार पड़ता है। आन्तरिक ऋण तथा उसके ब्याज के भुगतान के परिणामस्वरूप देश के भीतर ही राष्ट्रीय आय का पुन वितरण होता है किन्तु विदेशी ऋणो के भुगतान मे धन निश्चित रूप से दूसरे देशो को हस्तातरित हो जाता है। इसलिये आन्तरिक ऋण की अपेक्षा विदेशी ऋण अधिक खतरनाक होता है और उसका लेना अच्छा नही माना जाता।

उत्पादक तथा अनुत्पादक ऋण :

ऋण लेने के उद्देश्य के आधार पर सार्वजनिक ऋणों को उत्पादक (Productive) तथा अनुत्पादक (Unproductive) वर्गों मे बाँटा जा सकता है। उत्पादक कार्यों मे लगाने के उद्देश्य से जो ऋण लिया जाता है उसे उत्पादक ऋण कहते हैं। सार्वजनिक निर्माण के कार्यों मे लगने वाला ऋण प्राय. इसी प्रकार का होता है। उत्पादक ऋण का प्रयोग कारखानो की स्थापना, नहर, रेलें, सड़कें आदि के निर्माण तथा अन्य प्रकार की उत्पादक योजनाओ के निर्माण के लिये किया जाता है। इसके विपरीत अनुत्पादक ऋण वह ऋण होता है जिसके पीछे आमदनी देने

वाला कोई साधन नहीं होता । अनुत्पादक कार्यों के लिये लिया जाने वाला ऋण इसी प्रकार का होता है । उदाहरणार्थ लड़ाई के लिये लिया जाने वाला ऋण अनुत्पादक ऋण है क्योंकि उसके परिणामस्वरूप देश की उत्पादन शक्ति में कोई वृद्धि नहीं होती ।

ऐच्छिक ऋण तथा अनिवार्य ऋण :

ऐच्छिक ऋण वह होता है जिसमें लोग रुपया अपनी इच्छा से देते हैं और इसके लिए उन पर किसी प्रकार का सरकारी दबाव नहीं डाला जाता । सरकार के द्वारा किये जाने वाले अधिकांश ऋण ऐच्छिक ही होते हैं क्योंकि उनमें रुपया देने के लिये सरकार किसी को बाध्य नहीं करती । इन ऋणों पर सरकार निश्चित दर से ब्याज देती है और जो चाहे उसमें रुपया दे सकता है । कभी-कभी जनता की इच्छा के विरुद्ध भी सरकार उनसे ऋण ले सकती है । इस प्रकार के ऋण को अनिवार्य ऋण कहा जाता है । प्राचीन काल में इस प्रकार के ऋणों के काफी उदाहरण मिलते हैं । वर्तमान समय में सरकार ऐच्छिक ऋणों के द्वारा ही धन प्राप्त करती है किन्तु आपत्ति-काल में वह लोगों से अनिवार्य रूप से ऋण ले सकती है । द्वितीय महायुद्ध में भारत सरकार ने अतिरिक्त लाभ प्राप्त करने वालों से युद्ध कोष में अनिवार्य रूप से रुपया जमा कराया था जिसका भुगतान कुछ समय के पश्चात् कर दिया गया था । इस प्रकार के ऋण को अनिवार्य ऋण कहा जा सकता है ।

सार्वजनिक ऋण से लाभ .

वर्तमान समय में सार्वजनिक ऋणों की मात्रा में भारी वृद्धि तथा उनका प्रचलन इस बात का प्रमाण है कि वे एक विकसित तथा प्रगतिशील समाज के लिये आवश्यक है और यदि उन्हें निश्चित सीमाओं के भीतर रखा जाये तो उनसे समाज को काफी लाभ मिल सकता है । सार्वजनिक ऋण से प्राप्त होने वाले लाभ निम्न प्रकार है—

(१) लोक ऋण सरकार को आकस्मिक सकट से बाहर निकालने में सहायता देता है । कभी-कभी सरकार पर ऐसे आकस्मिक व्यय आ जाते हैं जिनके लिये अन्य साधनों से रुपये की व्यवस्था करना सम्भव नहीं होता । ऐसी स्थिति में लोक ऋण ही एकमात्र साधन है जिसके द्वारा सरकार धन प्राप्त करके आकस्मिक खर्चों को पूरा करती है । आय तथा व्यय के अस्थाई घाटे को दूर करने के लिये भी सरकार को ऋणों का सहारा लेना पड़ता है । कर इकट्ठा करने में कुछ समय लगता है किन्तु सरकार को व्यय तुरन्त करना होता है । इस प्रकार के घाटे को पूरा करने के लिये सरकार केन्द्रीय बैंक अथवा जनता से अल्पकालीन ऋण ले लेती है और करों का रुपया आने पर उसे वापस लौटा दिया जाता है ।

(२) लोक ऋण की सहायता से सरकार सार्वजनिक निर्माण के काम कर सकती है । रेलें, नहरें तथा अन्य प्रकार की उत्पादक योजनाओं को केवल दीर्घकालीन

ऋणो के द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। सार्वजनिक ऋण आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण साधन बन गया है। यद्यपि लोक ऋण से देश मे पूँजी की मात्रा मे वृद्धि नही होती है किन्तु वह पूँजी को कार्यशील करने मे सहायता देता है तथा उसे अधिक उत्पादक बनाता । लोक ऋण की सहायता मे देश के आर्थिक साधनो का विकास किया जा सकता है । सभी अल्पविकसित देशो मे आर्थिक विकास के लिये सार्वजनिक ऋणो का प्रयोग काफी बडी मात्रा मे किया जा रहा है जिसमे इन देशों की राष्ट्रीय आय तथा लोगो के जीवन-स्तर मे धीरे-धीरे वृद्धि हो रही है।

(३) लोक ऋण जनता के लिये विनियोग का एक सुरक्षित साधन प्रस्तुत करता है। जो लोग सार्वजनिक ऋण मे रुपया लगाते हैं उनका विनियोग सुरक्षित होता है तथा उस पर एक निश्चित दर से ब्याज मिलता है। सरकारी प्रतिभूतियो मे लगे हुये रुपये को सबसे अधिक सुरक्षित माना जाता है। इसके अतिरिक्त इन प्रतिभूतियो मे लगे हुये रुपये को कभी भी निकाला जा सकता है क्योंकि इनकी माग बाजार मे हर समय रहती है। इस प्रकार के विनियोग मे तरलता, सुरक्षा तथा उत्पादनशीलता सभी गुण पाये जाते हैं। शिराज (Shirras) के शब्दो मे 'लोक ऋण एक सुविधापूर्ण विनियोग प्रदान करता है'।[1]

(४) सार्वजनिक ऋणो से बैंको का विकास होता है जो देश के औद्योगीकरण मे बडी सहायता देते है। बैंक अपनी जमा का बहुत बड़ा भाग सरकारी ऋणो मे लगाये रहते हैं। उनकी सम्पत्ति का सबसे तरल रूप सरकारी प्रतिभूतियो को माना जाता है।

(५) सार्वजनिक ऋण देश को सकटकालीन स्थिति से बाहर निकालने मे सहायता देता है। युद्ध, प्राकृतिक घटनायें तथा अन्य प्रकार की सकटकालीन स्थिति का सामना सामान्य आय के साधनो से नही किया जा सकता। ऐसे अवसर पर सरकार सार्वजनिक ऋण के द्वारा अतिरिक्त आय प्राप्त करती है और उससे संकटकालीन व्यय को पूरा किया जाता है। विशेषकर युद्धकालीन व्यय का अधिकाश सार्वजनिक ऋणो के द्वारा ही पूरा किया जाता है।

सार्वजनिक ऋण की हानियां :

सार्वजनिक ऋणो का अत्यधिक प्रयोग कुछ खतरे भी उत्पन्न कर सकता है जिनसे प्रत्येक देश की सरकार को सावधान रहना चाहिये। इस प्रकार के ऋणो से उत्पन्न होने वाली हानिया निम्नलिखित हैं—

(१) सरकार जनता से आसानी के साथ रुपया उधार ले सकती है जिसके कारण अनुपयुक्त उद्देश्यो के लिये ऋण लेने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। उत्पादक कार्यों के लिये ऋण लेना तो समाज के हित मे होता किन्तु यदि अनुत्पादक कार्यों के लिये

1 'A public debt affords a convenient form of investment.'
—*Shirras*

ऋण लिया जाता है तो उसका भार लोगों को सहन करना पडता है किन्तु उससे उन्हें कोई लाभ नहीं होता। युद्ध तथा शस्त्रीकरण पर किया जाने वाला खर्च एक प्रकार का अपव्यय है जिससे समाज की उत्पादन शक्ति में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती। इस प्रकार के कामों के लिये उधार लेते समय सरकार को संयम से काम लेना चाहिये।

(२) सार्वजनिक ऋण सरकारों को अमितव्ययी बनाता है। इन ऋणों के आधार पर अधिक व्यय वाली योजनायें, उनसे प्राप्त होने वाले लाभ का अनुमान लगाये बिना आरम्भ कर दी जाती हैं जिसका देश की वित्त-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पडता है। जनता पर ऋणों का भार बढता जाता है जब कि देश के आर्थिक विकास में इन योजनाओं से कोई विशेष लाभ नहीं होता है।

(३) तेजी के साथ बढते हुए सार्वजनिक ऋण सरकार की आर्थिक स्थिति को कमजोर करते हैं। प्रत्येक ऋण के साथ सरकार को उस पर दिये जाने वाले ब्याज तथा मूलधन के भुगतान का भार सहन करना पडता है जिसके कारण सरकार करों के द्वारा अधिक आमदनी प्राप्त करना चाहती है और जनता पर करों का भार बढता चला जाता है। जब सूद का भार बहुत अधिक बढ जाता है तो सरकार सस्ती मुद्रा नीति (Cheap money policy) को अपनाने के लिये मजबूर हो जाती है जिससे देश में आर्थिक अस्थिरता पैदा होती है तथा सरकार की वित्तीय दशा खराब होती चली जाती है।

(४) विदेशी ऋण कभी-कभी देश की राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिये खतरा उत्पन्न कर देते हैं। प्रायः विदेशी ऋणों के साथ कुछ राजनैतिक उद्देश्य लगे होते हैं जो देश में राजनैतिक अस्थिरता उत्पन्न कर सकते हैं। यदि विदेशी ऋण की मात्रा बहुत अधिक होती है तो अपने ऋणदाताओं के हितों को सुरक्षित रखने के लिये विदेशी सरकार देश की नीति में हस्तक्षेप करने लगती है। विदेशी ऋण देश के साधनों का विदेशियों के हित में शोषण कराते हैं।

(५) विदेशी ऋणों का एक और बुरा पक्ष यह भी है कि उनके कारण धन निरन्तर देश से बाहर जाने लगता है। इन ऋणों के ब्याज तथा मूलधन का भुगतान करने के लिए धन दूसरे देशों को हस्तान्तरित करना पडता है जिसका देश की अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पडता है। कभी-कभी तो पुराने ऋणों का ब्याज तथा उनके मूलधन की किस्तों का भुगतान करने के लिये देश को नये ऋण लेने पडते हैं।

सार्वजनिक ऋणों के सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्त यह होना चाहिए कि जहां तक सम्भव हो सके सरकार को करों के द्वारा आमदनी प्राप्त करनी चाहिये और ऋण तभी लेना चाहिये जब कि ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक हो। कर अपने पीछे ब्याज अथवा मूलधन के भुगतान का कोई भार नहीं छोडता, इसलिये सरकार के लिये करों से आमदनी प्राप्त करना अधिक उपयुक्त है। ऋणों की आवश्यकता तब होती है जब करों से अधिकतम आय प्राप्त करने के पश्चात् भी सरकार की आय तथा व्यय में

घाटा रह जाए। इस कमी को ऋणो के द्वारा अथवा मुद्रा प्रसार की सहायता से पूरा किया जा सकता है।

सार्वजनिक ऋण का भार :

सार्वजनिक ऋण का भार दो प्रकार का होता है—(i) प्रत्यक्ष भार (Direct burden) तथा (ii) परोक्ष भार (Indirect burden)। यह भार मौद्रिक (Monetary) तथा वास्तविक (Real) हो सकता है। ऋण का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार उस रकम के बराबर होता है जो मूलधन तथा सूद के भुगतान के रूप मे दी जाती है। प्रत्यक्ष वास्तविक भार आर्थिक कल्याण के उस नुकसान को बताता है जो ऋण का भुगतान करने के कारण उस सार्वजनिक व्यय मे होने वाली कमी को बतलाता है जिससे उत्पादन को लाभ हुआ होता।

उत्पादन कार्यों मे लगाये गये सार्वजनिक ऋण का समाज के ऊपर कोई भार नहीं होता क्योंकि उसके पीछे आय के श्रोत होते हैं जिनके द्वारा ऋण तथा सूद दोनो का भुगतान हो जाता है। इस प्रकार के ऋणो पर दिये जाने वाले ब्याज का भुगतान उस सम्पत्ति की आय से हो जाता है और कर दाता पर उसका कोई भार नही पड़ता। इसके विपरीत अनुत्पादक ऋणो के सूद तथा मूलधन की किस्तो के भुगतान का भार ऋणदाताओ पर पडता है। इस प्रकार के ऋणो के भार का अनुमान लगाने के लिये विदेशी (External) तथा आन्तरिक (Internal) ऋण का अध्ययन अलग-अलग किया जाना चाहिये।

विदेशी ऋण :

विदेशी ऋण का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार (Direct money burden) उस रकम के बराबर होता है जो विदेशी ऋणदाताओ को सूद तथा मूलधन के रूप मे भुगतान की जाती है। समस्त विदेशी भुगतानो को वस्तुओ तथा सेवाओं के रूप में ही किया जा सकता है इसलिये विदेशी ऋणो का भुगतान करने से देश का आर्थिक कल्याण उस सीमा तक कम हो जाता है जितनी वस्तुओ तथा सेवाओ का निर्यात ऋण के भुगतान के लिये करना पडता है। विदेशी ऋणो के भुगतान के कारण देश के आर्थिक कल्याण मे जितनी हानि होती है, उसे इन ऋणो का प्रत्यक्ष वास्तविक भार कहा जायगा। ऋण के वास्तविक भार की मात्रा इस बात पर निर्भर होती है कि ऋण का भुगतान करने के लिये समाज के विभिन्न सदस्यो को किस अनुपात मे कर देने पडते हैं। यदि ऋण के भुगतान के लिये लगाये जाने वाले करो का अधिकाश अमीरो से आता है तो ऋण का वास्तविक भार कम होगा। इसके विपरीत यदि गरीब लोगो पर कर लगा कर इसे प्राप्त किया जाता है तो समाज पर ऋण का वास्तविक भार अधिक होगा।

विदेशी ऋण का अप्रत्यक्ष वास्तविक भार (Indirect Real Burden) भी होता है क्योंकि ऋण के भुगतान के लिये ऋणी देश की सरकार को अपनी आय मे

वृद्धि करने की आवश्यकता पडती है जिसके कारण (i) देश मे करो की मात्रा बहुत अधिक बढ जाती है जिसका उत्पादन पर बुरा प्रभाव पडता है। (ii) सरकार को अपना सार्वजनिक सामाजिक व्यय कम करना पडता है जो दीर्घकाल मे देश की उत्पादन क्षमता को कम करता है। अतः विदेशी ऋणो का अप्रत्यक्ष वास्तविक भार उनके उत्पादन को कम करने के प्रभाव के कारण उत्पन्न होता है। किसी विदेशी ऋण का भुगतान करने के लिये अतिरिक्त आय प्राप्त किये जाने के कारण देश के उत्पादन मे जो कमी होती है वही उस ऋण का अप्रत्यक्ष वास्तविक भार होता है। विदेशी ऋण का अप्रत्यक्ष भार आन्तरिक ऋण के भार के समान ही होता है। कभी-यह कहा जाता है कि विदेशी ऋण उत्पादन को प्रोत्साहित कर सकता है किन्तु यह विचार गलत है। बडे पैमाने पर विदेशी मुद्रा का भुगतान करने की आवश्यकता निर्यात उद्योगो को प्रोत्साहन दे सकती है और उनमे रोजगार तथा उत्पादन मे वृद्धि हो सकती है। किन्तु इससे ऋणी देश का कुल उत्पादन बढता है, यह बात सन्देह-पूर्ण है क्यो कि कुछ उद्योगो को प्रोत्साहन मिलने का परिणाम यह होता है कि अन्य उद्योगो से साधन हटाकर इन उद्योगो मे लगा दिये जाते है जिससे समाज को बहुत हानि पहुचती है। वास्तव मे विदेशी ऋण का अन्तिम परिणाम ऋणी देश के उत्पादन को कम करने का होता है, बढाने का नही।

आन्तरिक ऋण :

आन्तरिक ऋण की प्रकृति विदेशी ऋण से बिल्कुल भिन्न होती है। यहाँ पर सम्बन्ध ऋणी देश तथा विदेशी ऋणदाताओं जैसा नही होता बल्कि वह एक ही देश मे रहने वाले ऋणी तथा ऋणदाताओ के बीच का सम्बन्ध होता है। आन्तरिक ऋण के कारण समाज के विभिन्न वर्गों मे ही धन का हस्तान्तरण होता है और धन देश के बाहर नही जाता। इसलिये कभी-कभी यह कहा जा सकता है कि आन्तरिक ऋण का कोई प्रत्यक्ष मौद्रिक भार नही होता और न उससे कोई प्रत्यक्ष मौद्रिक लाभ ही होता है। इस प्रकार के ऋणो के सम्बन्ध मे किये जाने वाले विभिन्न भुगतान आपस मे एक दूसरे के साथ सन्तुलित हो जाते हैं। आन्तरिक ऋण के कारण देश के भीतर धन का कई बार हस्तान्तरण होता है। जब ऋण लिया जाता है तो उसके कारण रुपया ऋणदाताओ से सरकार के पास जाता है तथा सरकार से ठेकेदारो तथा उन लोगो के पास जाता है जिनसे सरकार वस्तुए तथा सेवाएं खरीदती है। इस प्रकार रुपया समाज के एक वर्ग से दूसरे वर्ग को हस्तान्तरित होता है। यदि धन के इन हस्तान्तरणो के कारण समाज मे धन के वितरण की असमानतायें कम होती है अर्थात् रुपया अमीर लोगो से गरीबो के पास जाता है तो इस प्रकार के सार्वजनिक ऋण को लाभपूर्ण कहा जायगा किन्तु यदि उसका परिणाम धनी लोगो को और अधिक धनी करने का होता है तथा गरीब लोगो की आय उसके कारण कम होती है तो इस प्रकार के ऋण भारस्वरूप होते हैं। प्राय ऐसा ही होता है क्योकि ऋणों पर ब्याज का भुगतान करने के लिये सरकार अधिक कर लगाती है तथा यह कर

अमीर व गरीब दोनो प्रकार के लोग देते है। सरकार के ऋणदाता प्रायः अमीर लोग होते है और इस प्रकार धन गरीबो से अमीरो के पास चला जाता है।

इसके अतिरिक्त आन्तरिक ऋण का प्रभाव बूढे तथा निष्क्रिय लोगो की आमदनी को बढाने का होता है तथा वह युवको व सक्रिय लोगो की आमदनी को कम करता है। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि सरकारी ऋण पत्रो के अधिकांश मालिक अधिक आयु के होते हैं। वृद्ध लोगो के पक्ष मे धन का इस प्रकार का हस्तान्तरण उत्पादन तथा वितरण दोनो पर ही बुरा प्रभाव डालता है। यह आन्तरिक ऋणो का एक बडा दोष है।

आन्तरिक ऋण का अप्रत्यक्ष भार भी होता है जो उसके उत्पत्ति को कम करने के प्रभाव के कारण उत्पन्न होता है। ऋणो का भुगतान करने के लिये जो अतिरिक्त कर लगाये जाते है, वे कर-दाताओ की काम करने की क्षमता तथा काम करने व बचत करने की इच्छा को कम करके उत्पादन को घटा सकते हैं, उत्पादन की मात्रा मे होने वाली इस प्रकार की कमी ऋण के अप्रत्यक्ष भार को बतलाती है। आन्तरिक ऋणो के कारण ऋणदाताओ की काम करने की इच्छा तथा शक्ति मे कुछ वृद्धि हो सकती है किन्तु उसके कारण कर-दाताओ को होने वाली हानि बहुत होती है। इस प्रकार केवल उत्पादक ऋणो को छोडकर अन्य सभी प्रकार के ऋण भार पूर्ण होते हैं। शान्तिकाल मे आर्थिक विकास के लिये सरकार के द्वारा आन्तरिक ऋणो का लेना उचित है क्योकि इस प्रकार के ऋण उत्पादक आदेय (Assets) पैदा करते हैं जिनकी आमदनी से ऋण व उसके सूद का भुगतान हो जाता है। किन्तु निर्माण के कामो के लिये भी सरकार को अधिक मात्रा मे करो पर निर्भर रहना चाहिये जिससे कि ऋण-दाताओ को बिना परिश्रम की आय प्राप्त करने का मौका न मिल सके।

सार्वजनिक ऋणो के आर्थिक परिणाम :

सार्वजनिक ऋणो के लेने तथा उनका भुगतान करने की क्रियाये देश मे धन के उत्पादन तथा वितरण को प्रभावित करती है। यद्यपि लोक ऋण के आर्थिक परिणामो को सही-सही निश्चित करना सम्भव नही है किन्तु फिर भी उस के सामान्य आर्थिक प्रभावो की विवेचना की जा सकती है। सरकार के द्वारा लिये जाने वाले ऋणो के आर्थिक प्रभाव कई बातों पर निर्भर करते है जिनमे से प्रमुख इस प्रकार हैं—(i) ऋण की मात्रा (ii) ऋण लेने का उद्देश्य (iii) ब्याज की दर तथा (iv) ऋण चुकाने की शर्ते।

लोक ऋण का समाज के आर्थिक जीवन पर कैसा प्रभाव पडता है यह इस बात पर निर्भर है कि ऋण कितनी मात्रा मे लिया गया है। थोडी मात्रा मे लिया गया ऋण समाज की उत्पादन व्यवस्था पर कोई विशेष प्रभाव नही डालता। छोटे ऋण के लिये रुपया लोग अपने अतिरिक्त धन मे से दे सकते है जिसके कारण विनियोग की जाने वाली पूंजी की मात्रा मे कोई कमी नही होती। किन्तु यदि

ऋण बड़ी मात्रा में लिया जाता है तो उसका निश्चित प्रभाव पूंजी को अन्य प्रकार के विनियोगों से हटाने का होता है। लोग रुपये को व्यवसायों से हटाकर सरकारी ऋण में लगा देते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति का परिणाम उत्पादन को कम करने का होता है। राष्ट्रीय आय कम हो जाती है तथा बेरोजगारी फैलती है। ऋण का भुगतान करने अथवा उस पर ब्याज देने के लिये सरकार जो अतिरिक्त कर लगाती है इसका लोगों की काम करने की इच्छा व शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है जिसके कारण उत्पादन में कमी होती है।

यदि ऋण कम ब्याज की दर पर लिये जाते हैं तो उनका प्रभाव अधिक बुरा नहीं होता किन्तु यदि अधिक मात्रा में ऊंची ब्याज की दर पर ऋण लिया जाता है तो उसका समाज की अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है। ब्याज की दर ऊंची होने के कारण सरकार की आय का एक बहुत बड़ा भाग ब्याज के भुगतान में लग जाता है और सरकार को या तो अतिरिक्त कर लगाने पड़ते हैं या मुद्रा प्रसार की नीति को अपनाना होता है। दोनों का ही देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है। सार्वजनिक ऋणों को लेते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि बहुत ऊंची दर पर अधिक ऋण न लिये जायें।

लोक ऋण के आर्थिक प्रभाव इस बात पर भी निर्भर हैं कि ऋण किस उद्देश्य के लिये लिया गया है। उत्पादक कार्यों के लिये लिया गया ऋण समाज की उत्पादन क्षमता में वृद्धि करता है इसलिये वह आर्थिक दृष्टि से लाभपूर्ण कहा जा सकता है। यदि ऋण का व्यय अनुत्पादक मदों पर किया जाता है तो वह ऋण समाज के लिये मृतक भार के समान हो जाता है। करों से होने वाली आय को अनुत्पादक कार्यों पर व्यय करने से उतनी हानि नहीं होती जितनी कि ऋण को अनुत्पादक कामों में लगाने से होती है क्योंकि करों पर कोई ब्याज नहीं देना होता किन्तु ऋणों पर निश्चित दर से ब्याज देना पड़ता है।

ऋण का भुगतान कब और किस प्रकार किया जाता है, इस बात पर भी ऋण के आर्थिक प्रभाव निर्भर होते हैं। समृद्धि काल ऋणों को चुकाने के लिये अच्छा समय समझा जाता है क्योंकि उस समय कीमतें ऊंची होने के कारण ऋण का भार कम हो जाता है और उसका भुगतान आसानी के साथ किया जा सकता है। इसके विपरीत मंदी का काल ऋणों के भुगतान के लिये उपयुक्त समय नहीं होता क्योंकि उस समय कीमतें कम होने के कारण ऋण का भार बढ़ जाता है।

सार्वजनिक ऋणों का प्रभाव धन के वितरण पर भी पड़ता है जब ऋण लिया जाता है तो धन कुछ लोगों के पास से निकलकर उन लोगों के पास चला जाता है। सरकार जब ऋण का प्रयोग करती है तो वही धन सरकार से निकलकर उन लोगों के पास चला जाता है जिनसे सरकार वस्तुयें तथा सेवायें खरीदती है। इस प्रकार के भुगतानों के परिणाम-स्वरूप इन लोगों की आमदनी बढ़ जाती है। ऋण पर ब्याज देने के कारण ऋण-दाताओं की आमदनी बढ़ती है। इस भुगतान के लिये यदि सरकार अधिक कर लगाती है तो करदाताओं की आमदनी उसी सीमा तक कम हो जाती है। जब

ऋण का भुगतान किया जाता है तो धन सरकार से निकल कर उन लोगो के पास चला जाता है जिन लोगो ने सरकार को कर्ज दिया हुआ है। इस प्रकार लोक ऋणो के कारण समाज मे धन के वितरण मे कई तरह के परिवर्तन होते हैं । यदि सार्वजनिक ऋण का कुल प्रभाव धन के वितरण को निर्धन व्यक्तियो के पक्ष मे करने का होता है तो इस प्रकार के ऋण को सामाजिक दृष्टि से अच्छा समझा जायगा । इसके विपरीत यदि ऋण का परिणाम वितरण की असमानताओ को बढाने का होता है तो उस ऋण को किसी भी दृष्टि से अच्छा नही कहा जा सकता ।

ऋण को चुकाना अथवा उसके भार को कम करना

सरकार के द्वारा जो भी ऋण लिये जाते हैं, चाहे वे आन्तरिक हो अथवा विदेशी, उनका भुगतान सरकार को करना होता है। यदि कोई सरकार अपने ऋणो का भुगतान नही करती है तो उसे भविष्य मे ऋण प्राप्त नही हो सकेंगे। प्रत्येक सरकार अपनी साख को बनाए रखने के लिए सार्वजनिक ऋणो का ठीक समय पर भुगतान करने का प्रयत्न करती है। यदि यह किसी कारण से ऋणो का भुगतान करने मे असमर्थ है तो वह इन ऋणो के भार को कम करने का उपाय करती है। ऋणों के भार को समाप्त करने का सबसे अच्छा उपाय उनका भुगतान कर देना है। ऐसा करना न्यायपूर्ण भी है और वह सरकार की साख को भी बनाए रखता है जिससे कि सरकार को भविष्य मे आसानी से ऋण प्राप्त होते रहते है।

ऋण चुकाने से इंकार करना :

ऋण के भार को समाप्त करने का एक अन्य तरीका यह भी है कि सरकार ऋण चुकाने से इंकार कर दे। यद्यपि ऐसा करना बहुत आसान है क्योकि सरकार को ऋण चुकाने के लिए मजबूर नही किया जा सकता किन्तु इस प्रकार की नीति के बहुत बुरे प्रभाव हो सकते हैं। यदि आन्तरिक ऋण को चुकाने से सरकार इंकार करती है तो जनता का विश्वास सरकार पर से उठ जाता है और सरकार भविष्य मे सफलतापूर्वक ऋण प्राप्त नही कर सकेगी। ऐसा करना न्याय की दृष्टि से भी उचित नही है क्योकि इसके कारण उन लोगो के साथ भेद-भाव होता है जिन्होने अपनी बचत को उस ऋण मे लगाया हुआ है जिसका भुगतान नही किया जा रहा है। कुछ लोग अपनी सम्पूर्ण बचत खो बैठते है जबकि अन्य लोगो को कुछ भी नही देना पडता । ऋण का भुगतान न करने की नीति को अपना कर सरकार अपने को कठिनाई मे डाल सकती है क्योकि उसके कारण भारी सामाजिक असंतोष फैलने का डर रहता है। यदि विदेशी ऋणो को चुकाने से इंकार किया जाता है तो इसके और भी भयंकर परिणाम होते हैं। ऐसा करने से देश के सम्मान को बडी हानि पहुँचती है और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे उसकी साख बिल्कुल समाप्त हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप ऋण देने वाले देश लडाई करने के लिये भी तैयार हो सकते हैं। इन्ही सब खतरो के कारण कोई भी सरकार अपने ऋणो का भुगतान करने से इंकार

नही करनी । वह पुराने ऋणो को नये ऋणो मे बदल सकती है, ऋणो को कम कर सकती है, ऋणो का ब्याज घटा सकती है अथवा उनके भुगतान की दीर्घकालीन व्यवस्था कर सकती है किन्तु उन्हे चुकाने से सामान्तया इंकार नही करती । असामान्य परिस्थिति मे ऐसा किया जा सकता है। सन् १६१८ मे रूस की सरकार के द्वारा ऐसा किया गया तथा प्रथम युद्ध से पूर्व जर्मन सरकार ने भी अपने ऋणो को चुकाने से इंकार कर दिया था।

ऋणो को सम्पूर्ण रूप से चुकाना सरकार के लिये काफी कठिन होता है। विशेषकर वर्तमान समय मे जब सरकार का उत्तरदायित्व प्रतिदिन बढता जा रहा है और उसे जनता की भलाई के लिये अधिकाधिक व्यय करना पडता है, यह आशा करना व्यर्थ है कि कोई भी सरकार अपनी आय का बहुत बड़ा भाग ऋणो के चुकाने के लिए व्यय करती रहे। ऋण चुकाने का एक ही तरीका है कि सरकार अपनी आय से कम व्यय करे तथा बजट मे होने वाली इस बचत का प्रयोग ऋणो को चुकाने मे किया जाय। ऐसा करना प्राय सभव नही होता । निरन्तर बढते हुये व्यय के कारण वर्तमान सरकारो के बजट प्राय घाटे के बजट होते हैं और ऐसी दशा मे उनसे ऋणो के अन्तिम भुगतान की आशा नही की जा सकती । यदि सरकार ऐसा करने का प्रयत्न भी करती है तो उसे अपना व्यय काफी मात्रा मे कम करना होगा जिससे देश मे बेरोजगारी फैल सकती है तथा विकास की गति धीमी हो जाती है। इसलिए अधिकाश सरकारें सार्वजनिक ऋण के भार को समाप्त करने की अपेक्षा उसके भार को कम करने का प्रयत्न करती है।

ऋण चुकाने की रीतिया :

सार्वजनिक ऋणो को चुकाने अथवा उनके भार को कम करने के लिये निम्नलिखित तरीके काम मे लाये जा सकते हैं —

(१) बजट की बचत का प्रयोग (Utilisation of budget Surplus)—सार्वजनिक ऋणो का भुगतान करने के लिये बजट की बचत का प्रयोग किया जा सकता है। सरकार अपने ऋणो का भुगतान अपने व्यय को कम करके तथा बजट मे बचत उत्पन्न करके ही कर सकती है। यदि किसी भी वर्ष सरकारी बजट मे बचत होती है तो इस बचत का प्रयोग ऋणो को चुकाने के लिये किया जाना चाहिये। किन्तु वास्तव मे ऐसा करना सभव नही होता । प्रथम तो सरकारी बजट मे बचत होती ही नही है और यदि कभी होती भी है तो उसका प्रयोग अन्य महत्वपूर्ण कामो के लिये कर लिया जाता है। इसलिए बजट की बचत का प्रयोग ऋणो का भुगतान करने के लिए बहुत कम किया जाता है।

(२) ऋण-परिशोध कोष (Sinking Fund)—ऋण-परिशोधन की यह पद्धति सबसे अधिक प्रचलित रही है। सर्वप्रथम इसका विकास इंगलैंड मे हुआ और उसके पश्चात् इस रीति को अन्य देशो मे भी अपना लिया गया। ऋण-परिशोध कोष का निर्माण करना ऋण चुकाने की सब से अच्छी पद्धति समझी जाती है।

सरकार ऋण चुकाने के लिए एक अलग कोष का निर्माण कर देती है जिसमे प्रति वर्ष एक निश्चित रकम सरकारी आय मे से जमा होती रहती है। इस कोष का निर्माण इस प्रकार किया जाता है कि इसमें जमा रकम की सहायता से ऋण का मूलधन तथा व्याज दोनो चुकता किये जा सकें। कोष मे इतना रुपया प्रति वर्ष जमा किया जाता है कि एक निश्चित अवधि के पश्चात् उसमे इतनी रकम जमा हो जाती है कि उससे ऋण तथा ब्याज की पूरी रकम चुकाई जा सकती है। यह कोष प्राय. सरकार की करो से प्राप्त आय मे से बनाया जाता है किन्तु कभी-कभी ऋण लेकर भी इस प्रकार के कोष का निर्माण कर दिया जाता है। नया ऋण लेकर निर्मित कोष को परिशोध-कोष कहना ठीक नही है क्योकि इस प्रकार केवल पुराने ऋण को नए ऋण मे बदल दिया जाता है।

परिशोध-कोष भी दो प्रकार के हो सकते हैं—(i) निश्चित (Definite) तथा (ii) अनिश्चित (Indefinite)। यदि कोष में रकम जमा करने की एक निश्चित व्यवस्था की जाती है तो इस प्रकार के कोष को निश्चित कोष कहा जाता है। ऐसी व्यवस्था मे सरकार की करो से होने वाली आमदनी मे से एक निश्चित रकम परिशोध कोष मे जमा होती रहती है। ऋण की अवधि समाप्त होने तक इस कोष मे इतनी रकम जमा हो जाती है कि उससे ऋण तथा उसके ब्याज का भुगतान किया जा सकता है। इसके विपरीत अनिश्चित कोष वह होता है जिसमे निश्चित रूप से रकम जमा करने की व्यवस्था नही की जाती और कोष मे जमा होने वाली रकम इस बात पर निर्भर होती है कि किसी वर्ष मे सरकार को आमदनी का कितना अतिरेक रहता है। इस प्रकार कोष मे जमा होने वाली रकम प्रतिवर्ष बदलती रहती है।

निश्चित परिशोध कोष का अध्ययन तीन दृष्टिकोणो से किया जा सकता है—(क) ऋण के भुगतान की अवधि (ख) इस समय मे परिशोध कोष के भुगतानो का वितरण (ग) विभिन्न प्रकार के ऋणो के भुगतान के लिये कोष का प्रयोग। ऋण चुकाने के लिये कितना समय दिया जाना चाहिए, इसके सम्बन्ध मे यही कहा जा सकता है कि ऋण को चुकता करने का समय कम से कम होना चाहिये। उत्पादक ऋणो के सम्बन्ध मे यह सिद्धान्त होना चाहिए कि ऋण का भुगतान उतनी अवधि मे जरूर हो जाय जितने समय मे उसके द्वारा निर्मित पूंजीगत वस्तुओ का क्षय होता है। किन्तु अनुत्पादक ऋणो के सम्बन्ध मे भुगतान की अवधि काफी कम होनी चाहिए क्योकि इस प्रकार के ऋणो के पीछे किसी प्रकार के आदेय (Assets) नही होते हैं।

परिशोध कोष के भुगतान का क्या ढग होना चाहिये, यह भी एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। इस सम्बन्ध मे भुगतान की तीन विधियो को अपनाया जा सकता है—(i) बढते हुए वार्षिक भुगतान (ii) निश्चित भुगतान तथा (iii) घटते हुए

वार्षिक भुगतान। इन तीनों में अन्तिम पद्धति को सबसे अच्छा समझा जाता है क्योंकि वह राजनैतिक दृष्टि से अधिक स्थिर हो सकती। सभी प्रकार के कोषों पर वित्त-मन्त्रियों की निगाह रहती है और परिशोध कोष भी उनसे नहीं बच पाते। प्राय. ऋण परिशोध कोषों का प्रयोग अन्य कामों के लिए कर लिया जाता है। यदि ऋण प्रतिवर्ष कम होता जाता है तो कोष में जमा होने वाली रकम घटती चली जायगी और परिशोध कोष भी कम होता जायगा जिसके कारण इन कोषों को अन्य प्रयोगों में लगाने की प्रवृत्ति कमजोर हो जाती है और कोष अपनी निश्चित अवधि तक चलता रहता है।

परिशोध कोष का प्रयोग विभिन्न प्रकार के ऋणों के भुगतान के लिए किया जा सकता है। विभिन्न ऋणों की भुगतान अवधि तथा उन पर दिये जाने वाले ब्याज की दर अलग-अलग हो सकती है। इस सम्बन्ध में या तो परिशोध कोष को बिल्कुल स्वतन्त्र रक्खा जाता है या उसे किसी विशेष ऋण के भुगतान के लिये निश्चित कर दिया जाता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि कोष का कुछ भाग स्वतन्त्र छोड दिया जाता है और कुछ को विशेष ऋण के भुगतान के लिए निश्चित कर दिया जाता है। इस मामले में सरकार स्वतन्त्रता चाहती है। इसलिये प्राय स्वतन्त्र परिशोध कोष को अधिक पसन्द किया जाता है क्योंकि उसमें सरकार को यह आजादी होती है कि वह कोष की रकम किसी भी ऋण के भुगतान के लिये काम में ला सकती है।

(३) ऋण-रूपान्तरण (Conversion of Public Debts)—ऋण-रूपान्तरण के द्वारा भी सार्वजनिक ऋणों के भार को कम किया जा सकता है। इस रीति से अधिक ब्याज वाले ऋण को कम ब्याज वाले ऋण में बदल दिया जाता है। सरकार के द्वारा ऋण प्राय. बढ़ी हुई कीमतों के जमाने में लिये जाते हैं जब कि ब्याज की दर काफी ऊंची होती है। कुछ समय पश्चात् साधारण परिस्थिति आने पर सरकार के लिए यह सम्भव हो जाता है कि वह कम ब्याज की दर पर ऋण ले सके। ऐसी दशा में सरकार के हित में यह होता है कि वह अधिक ब्याज वाले ऋण को कम ब्याज वाले ऋण में बदल दे। ऐसा करने के लिए सरकार अपने ऋणदाताओं को यह सूचना देती है कि वे या तो ऋण पर ब्याज की कम दर को स्वीकार करें और पहले ऋण-पत्रों के बदले में कम ब्याज वाले नये ऋण पत्र ले लें अथवा अपना मूल-धन वापस ले लें। यदि नई ब्याज की दर बाजारी दर से जरा भी ऊंची होती है तो अधिकांश ऋण दाता कम ब्याज वाले नये ऋण-पत्रों को लेने के लिए तैयार हो जायेंगे। जो ऋणदाता इस बात के लिये तैयार नहीं होते हैं उनके मूलधन का भुगतान सरकार कम ब्याज पर नया ऋण लेकर कर देती है। इस प्रकार पुराने ऋणों को कम ब्याज वाले नये ऋणों में बदल दिया जाता है।

ऋणों के इस प्रकार के रूपान्तरण से सरकार तथा करदाताओं को काफी लाभ होता है। ब्याज की दर कम हो जाने से सरकार पर ऋण का भार कम हो

जाता है। इससे करदाताओं को भी लाभ होता है क्योंकि उन्हें ऋण पर सूद के भुगतान के लिए कम कर देने पड़ते हैं। रूपान्तरण के द्वारा ऋण पर ब्याज कम करना बिलकुल न्यायपूर्ण है क्योंकि सरकार ऋणदाताओं को इस बात का पूरा मौका देती है कि या तो वे नये ऋण-पत्र ले लें अथवा अपना मूलधन वापस ले लें।

इन्ही कारणो से ऋण-रूपान्तरण ऋणो के भार को कम करने का काफी प्रचलित तरीका रहा है। इगलैंड, फ्रास तथा अमेरिका मे ऋणो का भार कम करने के लिये इस विधि को प्राय. काम मे लाया जाता है। गत वर्षों मे भारत सरकार ने भी कुछ ऋणो का रूपान्तरण किया है। किन्तु इस विधि के प्रयोग का क्षेत्र काफी सीमित है। केवल उन्ही ऋणो का रूपान्तरण करना सम्भव होता है जिनके साथ यह शर्त हो कि सरकार जब चाहे उन्हें लौटा सकती है। अधिकाश ऋणो के साथ इस प्रकार की शर्त नही होती। इसके अतिरिक्त ऋण-रूपान्तरण तभी किया जाता है जबकि ऐसा करने से ऋण के भार मे काफी कमी होने की आशा नही की जा सकती।

(४) पूंजी कर (Capital Levy)—पूंजी कर ऋणो के भुगतान करने का एक तरीका है। कभी-कभी यह सुझाव दिया जाता है कि कई वर्षों तक कर लगा कर ऋण-शोधन कोष या निर्माण करने की अपेक्षा सरकार को चाहिये कि वह एक बार या दो बार काफी भारी कर लगा कर ऋण का भुगतान कर दे। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इस बात का सुझाव रक्खा गया कि युद्ध काल मे सरकार को जो बहुत बड़े-बड़े ऋण लेने पड़े है उनका भुगतान करने के लिए पूंजी पर एक विशेष कर लगाया जाना चाहिये। युद्धकालीन ऋण का भुगतान पूंजी कर के द्वारा किया जाय अथवा नही इस विषय पर इङ्गलैंड मे काफी वाद-विवाद रहा है। अधिकाश ब्रिटिश अर्थशास्त्रियो ने जो रिकार्डो (Recardo) के विचारों से सहमत थे, इस बात का समर्थन किया कि युद्ध सम्बन्धी ऋणो का भुगतान पूंजी कर के द्वारा किया जाय। प्रो० पीगू (Pigou) तथा डा० डाल्टन (Dr. Daltan) उनमे प्रमुख थे। बहुत से लोगो ने इसका समर्थन इसलिए भी किया क्योंकि इसके परिणामस्वरूप आने वाले वर्षों मे करो की मात्रा मे काफी कम हो जाने की सम्भावना थी। जो लोग पूंजी कर के पक्ष मे थे उनका कहना था कि (i) इस प्रकार का विशेष कर अनिवार्य है क्योंकि आय कर अकेला युद्ध के ऋणो का भुगतान नही कर सकता। (ii) ऐसा करना न्यायपूर्ण भी है क्योंकि इसका भार वृद्ध लोगो पर पड़ेगा जिन्होने सम्पत्ति एकत्रित कर ली है। ऐसे लोगो को सैनिक सेवाओ से छूट होती है। अतः युवक सरकार के लिए लड़ते हैं, तो वृद्ध लोगो को उसका खर्च उठाना चाहिये। (iii) इस पद्धति के द्वारा युद्धकालीन ऋणो का भुगतान जल्दी किया जा सकता है। (iv) ऐसा करने से लोग ऊँचे वार्षिक करो से बच सकेंगे।

इस योजना का काफी विरोध किया गया, विशेषकर सम्पन्न लोगों के द्वारा। पूंजी कर के विपक्ष मे निम्नलिखित तर्क दिये गये। (i) इस प्रकार का विशेष कर

लगाने से उद्योग तथा व्यवसाय पर कर का भार बहुत अधिक हो जायेगा जिसे वह सहन नही कर सकेगा। इससे उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड सकता है तथा बचत की मात्रा भी कम हो सकती है। (ii) इस प्रकार की योजना को कार्य रूप मे लाना सम्भव नहीं होगा क्योकि उसमे व्यवहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। इस प्रकार के कर की मात्रा को ठीक-ठीक निश्चित करना सम्भव नही हो सकेगा। इसके अतिरिक्त लोग इस प्रकार की योजना का मिलकर विरोध कर सकते है। वास्तव मे सरकार इस प्रकार के खतरे का मुकाबला कर सकती है क्योकि विरोध करने वालो की संख्या कम होगी। (iii) पूँजी के सचय पर इसका बुरा प्रभाव पडेगा क्योकि पूँजी कर जैसे भारी कर का भुगतान पूँजी अथवा बचत मे से ही किया जा सकता है। (iv) इस प्रकार का कर न्याय की दृष्टि से उचित नही है क्योकि वह उन लोगो के साथ पक्षपात करता है जो मितव्ययितापूर्ण ढग से रह कर रुपये की कुछ बचत कर लेते हैं। (v) इस प्रकार के कर के भविष्य मे न दोहराये जाने के बारे मे किसी प्रकार का आश्वासन नही दिया जा सकता।

युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था

वर्तमान युद्धो पर सरकार को भारी मात्रा मे व्यय करना होता है। युद्धकालीन व्यय को किस प्रकार पूरा किया जाय, यह एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। युद्धकालीन अर्थ-प्रबन्ध के द्वारा ही इन साधनो को जुटाया जाता है तथा साधनो को उपभोग से हटा कर लडाई के कामो मे लगाया जाता है। *इस सम्बन्ध मे हमे यह ध्यान रखना* चाहिये कि युद्ध एक अनुत्पादक कार्य है और उससे जहाँ तक सम्भव हो सके बचना चाहिये किन्तु जब एक बार आरम्भ हो जाता है तो फिर उसके समाप्त होने तक उसके लिये धन का प्रबन्ध अवश्य किया जाना चाहिये। युद्ध सम्बन्धी व्यय को पूरा करने के तीन प्रमुख साधन हैं—(i) करारोपण, (ii) सार्वजनिक ऋण तथा (iii) मुद्रा-प्रसार। इन तीनों मे से किस का अधिक प्रयोग किया जाना चाहिये, इस सम्बन्ध मे एक विचार नही पाया जाता है। *सामान्यतः मुद्रा प्रसार युद्ध व्यय को पूरा करने का अच्छा साधन* नही माना जाता क्योकि इसके भयकर परिणाम हो सकते हैं। कर अथवा ऋण, इन दोनों मे से युद्ध व्यय के लिये किसका प्रयोग किया जाना चाहिये, इस सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियों मे काफी मतभेद पाया जाता है। रिकार्डो (Recardo) का विचार था कि युद्ध व्यय को पूर्णतया करारोपण के द्वारा पूरा किया जाना चाहिये और उसके लिये ऋण नही लेने चाहियें। इसके विपरीत पियरसन (Pierson) के अनुसार युद्ध *व्यय ऋणो के द्वारा पूरा किया जाना चाहिये, करो के द्वारा नहीं। किन्तु अनुभव इस* बात को बतलाता है कि युद्ध के लिए करारोपण तथा सार्वजनिक ऋण दोनो का ही प्रयोग करना पडता है। पिछली लडाई ने इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि आधुनिक समय मे किसी भी लडाई को लडने के लिए सरकार को ऋण भी लेना पड़ता है और करो मे भी वृद्धि करनी पडती है।

(i) करारोपण तथा युद्ध :

अधिकांश अर्थशास्त्री इस बात से सहमत हैं कि सरकार को युद्ध व्यय को पूरा करने के लिये अधिक मात्रा में कर लगाने चाहियें। सरकार को सर्वप्रथम करारोपण के द्वारा अधिक से अधिक आमदनी प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये जिससे कि युद्ध व्यय के अधिकांश को पूरा किया जा सके। इसके लिये सरकार को नये कर लगाने चाहियें तथा पुराने करों की दर में वृद्धि करनी चाहिये। विदर्स (Whithers) के अनुसार युद्ध काल में करारोपण से एक साथ दो लाभ होते है— नागरिक बचत करते हैं और सरकार को आमदनी प्राप्त होती है।* युद्धकालीन व्यय के लिए करारोपण के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :—

(अ) करों से अनावश्यक उपभोग कम हो जाता है—भारी करों के द्वारा लोगों के उपभोग को कम किया जा सकता है। युद्ध काल में वस्तुओं की कमी होने के कारण इस बात की बड़ी आवश्यकता रहती है कि लोग कम से कम खर्च करें जिससे कि माग के दबाव को कम रक्खा जा सके। करारोपण इस उद्देश्य की पूर्ति में काफी सहायक होता है। करों के कारण उपभोग भी कम हो जाता है और निर्धन लोगों के जीवन स्तर पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार करारोपण केवल सरकार को अधिक आमदनी ही नहीं देता बल्कि वह उपभोग को कम करने का एक महत्वपूर्ण कार्य करता है।

(ब) लोगों की देश-भक्ति के कारण युद्ध काल में करों को आसानी से इकट्ठा किया जा सकता है। अपने देश की रक्षा के लिए ऐसे सकट काल में लोग काफी अधिक मात्रा में कर देने के लिए तैयार हो जाते हैं। सरकार को इस अवसर से लाभ उठाना चाहिये और अधिक करों के द्वारा युद्ध व्यय को पूरा करना चाहिये।

(स) करों के द्वारा प्राप्त आय पर सरकार को किसी प्रकार का ब्याज नहीं देना पड़ता, इसलिये कर अपने पीछे किसी प्रकार का भार नहीं छोड़ते हैं। युद्ध के अनुत्पादक व्यय को पूरा करने के लिये करों के द्वारा आमदनी प्राप्त करना ही अधिक उचित है।

(द) यदि युद्ध के व्यय को करों के द्वारा पूरा कर लिया जाय तो युद्ध के पश्चात् लोग सार्वजनिक ऋणों के भुगतान के लिये लगने वाले भारी करों से बच जाते हैं।

(य) करारोपण के द्वारा युद्ध व्यय को पूरा करना न्यायपूर्ण है क्योंकि इस गरीब तथा अमीर दोनों को युद्ध के लिये समान बलिदान करना पड़ता है। गरीब युद्ध में लड़ते हैं और अमीर उसके व्यय को सहन करते हैं।

(र) यदि युद्ध व्यय करारोपण के द्वारा पूरा कर लिया जाता है तो सरकार को मुद्रा-प्रसार की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ेगी और मूल्य-स्तर में होने वाली वृद्धि काफी कम हो जायेगी तथा देश मुद्रा-प्रसार के भयंकर परिणामों से बच जायगा।

---

* 'Taxation in war time is twice blessed—the citizens economise and govt. gets its revenue'. —*Withers*

यद्यपि करारोपण को युद्ध व्यय पूरा करने का अच्छा साधन माना जाता है किन्तु फिर भी केवल करो से युद्ध के कुल व्यय को पूरा नहीं किया जा सकता। प्रत्येक देश की एक कर देने की क्षमता (Taxable Capacity) होती है जिससे अधिक कर नहीं लगाये जा सकते। आधुनिक युद्ध में इतना अधिक व्यय करना पडता है कि उसे किसी भी प्रकार अकेले करो के द्वारा पूरा नही किया जा सकता। सैलिगमैन के अनुसार यदि समाज की तमाम बडी-बडी आमदनियो को तथा व्यापार के समस्त लाभो को भी सरकार जब्त कर ले, तब भी वह आधुनिक युद्ध का आधा खर्च भी पूरा नही कर सकेगी। अधिक करारोपण से देश की उत्पादन व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पडता है। एक सीमा तक करो मे वृद्धि करना समाज के लिये लाभपूर्ण हो सकता है किन्तु इस सीमा के पश्चात् यदि करो को बढाया जाता है तो उसका उत्पादन तथा बचत की मात्रा पर बुरा प्रभाव पड सकता है। इसलिए अधिक खर्चीला तथा दीर्घकालीन युद्ध-करो से नही चलाया जा सकता है।

(ii) सार्वजनिक ऋण के द्वारा युद्ध-व्यय को पूरा करना

वर्तमान युद्ध-व्यय का काफी बड़ा भाग सार्वजनिक ऋणो की सहायता से पूरा किया जाता है। युद्ध के इतने बडे खर्च को पूरा करने के लिए सरकार को जनता से ऋण लेना पडता है। कुछ अर्थशास्त्री तो यह कहते है कि युद्ध के समस्त व्यय को ऋणो के द्वारा पूरा करना चाहिये। इसके पक्ष मे विभिन्न प्रकार के तर्क दिये जाते है – (i) सरकार ऋणो के द्वारा जनता से काफी रुपया प्राप्त कर सकती है क्योंकि ऋणो का रुपया युद्ध समय पश्चात् सरकार सूद सहित लौटा देती है। इसके विपरीत करो के रूप म दिया गया रुपया जनता के पास नही लौटता। (ii) करो का प्रभाव लोगो के उपभोग को कम करने का होता है किन्तु ऋणो का प्रभाव ऐसा नही होता क्योंकि इसमे लोग अपनी बचत मे से रुपया जमा करते हैं। इस प्रकार कर ऋणो की अपेक्षा जनता के लिए अधिक कष्टपूर्ण होते है। (iii) ऋण का एक अच्छा प्रभाव यह होता है कि युद्ध के बाद मन्दी काल मे जब सरकार इन्हे लौटाती है तो उसके कारण उद्योग तथा व्यापार का विकास होता है और आर्थिक क्रियाओ मे तेजी आ जाती है।

ऋणो का सरकार के ऊपर बुरा प्रभाव पड़ता है क्योंकि उन्हे सब ऋणो को वापस लौटाना होता है। यदि ऊची दर पर सरकार बहुत अधिक ऋण ले लेती है तो उसका भार सहन करना सरकार के लिए कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त ऋणो की भी एक सीमा है और उनसे भी असीमित मात्रा मे धन प्राप्त नही किया जा सकता है। युद्ध काल में सरकार की ऋण-नीति की सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि युद्ध को जीतने की सभावना कितनी अधिक है।

(iii) मुद्रा-प्रसार तथा युद्ध-व्यय :

वर्तमान समय मे मुद्रा प्रसार को भी युद्ध व्यय पूरा करने का एक महत्वपूर्ण साधन समझा जाने लगा है। पिछले विश्व युद्ध मे भारत सरकार ने युद्ध व्यय को पूरा

करने के लिए खुले रूप से मुद्रा-प्रसार का प्रयोग किया जिसके कारण देश को आर्थिक कठिनाइयो मे गुजरना पडा। मुद्रा-प्रसार युद्ध व्यय को पूरा करने का सबसे अनुचित तरीका है क्योकि इसके काफी भयकर परिणाम हो सकते है। युद्ध-काल मे आवश्यकता इस बात की होती है कि मूल्यो की वृद्धि को रोकने के लिए लोगो के व्यय को कम रक्खा जाय किन्तु मुद्रा-प्रसार उनकी आय मे वृद्धि करके उनके खर्च को बढा देता है जिसके कारण मूल्य-स्तर तेजी के साथ बढने लगता है। मुद्रा प्रसार के कारण सरकार की साख को भी बडी हानि पहुँचती है तथा वह विदेशी व्यापार को भी बुरी तरह से प्रभावित करता है।

आर्थिक विकास के लिये अर्थ-प्रबन्ध

वर्तमान समय मे अल्प-विकसित देशो के आर्थिक विकास के लिये धन जुटाने की एक विशेष समस्या उत्पन्न हो गई है। इन देशो को आर्थिक विकास के लिए बडी मात्रा मे विनियोग करना है। प्रश्न यह होता है कि क्या युद्ध अर्थ-प्रबन्ध के सिद्धान्तो को आर्थिक विकास के लिए धन प्राप्त करने के लिये काम मे लाया जा सकता है? आर्थिक विकास के लिए अर्थ प्रबन्ध करने मे करारोपण का महत्वपूर्ण स्थान है। करो से प्राप्त आय को इस सम्बन्ध मे प्राथमिकता दी जानी चाहिये क्योकि इस पर सरकार को कोई ब्याज नही देना पडता है और न यह अपने पीछे किसी प्रकार का भार छोडती है। किन्तु अल्प विकसित देशो मे निम्न उत्पादन स्तर तथा लोगो की गरीबी के कारण करारोपण से बहुत अधिक आय प्राप्त करना सभव नही है। इन देशो मे आय-कर, मृत्यु-कर, पू जी लाभ-कर, अतिरिक्त लाभ-कर आदि प्रत्यक्ष करो की दर को बहुत अधिक नही बढाया जा सकता क्योकि उसकी बचत तथा विनियोग पर बुरा प्रभाव पड सकता है। इसलिए अतिरिक्त कर सामान्य जनता पर वस्तु कर के रूप से लगाये जा सकते है। भारतवर्ष मे आर्थिक विकास के लिए रुपया प्राप्त करने के सम्बन्ध मे इसी प्रकार के विचार का समर्थन किया जा रहा है।

आर्थिक विकास के अर्थ प्रबन्ध मे सार्वजनिक ऋण भी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इसके लिये जनता, बैंक तथा अन्य वित्तीय सस्थाओ को सरकारी प्रतिभूतियो मे रुपया लगाने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिये। सरकार को अपनी ऋण सम्बन्धी नीति का निर्माण इस प्रकार करना चाहिए कि ग्रामीण जनता की बचत को एकत्रित करके आर्थिक विकास के लिए काम मे लाया जा सके। आतरिक ऋणो के साथ-साथ विदेशी ऋण भी आर्थिक विकास मे बडी सहायता दे सकते हैं। विदेशी ऋण इसलिए आवश्यक है क्योकि आन्तरिक ऋण अकेले आर्थिक विकास के लिये पर्याप्त मात्रा मे धन नही दे सकते। वे इसलिए भी आवश्यक हैं क्योकि उनकी सहायता से विदेशो से पू जीगत वस्तुए तथा तकनीकी जानकारी (Technical Know How) प्राप्त की जा सकती है। युद्ध के लिए प्राप्त किये गये ऋण समाज पर एक मृतक भार के समान हो सकते है जबकि आर्थिक विकास के उद्देश्य से लिये जाने वाले

ऋण उत्पादक होते हैं और उनका भुगतान उन आदेयश्रो (Assets) से किया जा सकता है जो उनके द्वारा निर्माण होते हैं।

प्रत्येक आर्थिक विकास की योजना के लिये कुछ मात्रा मे घाटे की अर्थ-व्यवस्था (Deficit Financing) आवश्यक है। वास्तव मे विकासशील अर्थ-व्यवस्था मे नई मुद्रा का निर्माण करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु आर्थिक विकास के लिए घाटे की अर्थव्यवस्था करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके कारण देश मे अधिक मुद्रा प्रसार न हो जाय। यद्यपि आर्थिक विकास के कारण होने वाला मुद्रा प्रसार उतना भयकर नही होता जितना कि युद्धकालीन मुद्रा प्रसार होता है क्योंकि वह स्वय ठीक होने की प्रवृत्ति रखता है किन्तु फिर भी नियमित मुद्रा प्रसार ही विकासशील देशो के लिये लाभपूर्ण हो सकता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि युद्धकालीन अर्थ-प्रबन्ध के सिद्धांतो को कुछ सशोधन करके आर्थिक विकास के लिए भी काम मे लाया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे इस बात को ध्यान मे रखना चाहिए कि युद्धकालीन व्यय अनुत्पादक होता है और आर्थिक विकास के लिए किया जाने वाला उत्पादक।

परीक्षा-प्रश्न

1 What are the different forms of public debt ? Enumerate the consequences of incurring foreign debt.

(Agra B. A. Pt. II 1955)

सार्वजनिक ऋण कितने प्रकार के होते हैं ? विदेशी ऋण लेने के क्या परिणाम हो सकते हैं ?

2. What are the principal methods of debt repayment ? Explain their merits & demerits. (Madra B. A. 19›0)

ऋण चुकाने की मुख्य विधियां कौनसी हैं ? उनमें से प्रत्येक के लाभ तथा हानियां बतलाइये।

3 What is the place of loans in public finance ? Should a war be financed by loans or taxes ? (Madras B. A. 1951)

सार्वजनिक वित्त मे ऋणों का क्या स्थान है ? लड़ाई के व्यय को पूरा करने के लिये ऋणों का प्रयोग किया जाना चाहिए अथवा करों का।

4. Examine the merits of capital levy as a method of debt redemption (Madras B. A. 1954)

ऋण के भार को कम करने मे पूंजी कर का क्या महत्व है ?

———

भारतीय राजस्व का विकास

Evolution of Indian Public Finance

भारतीय राजस्व का अध्ययन करने के लिये यह जानना आवश्यक है कि उसका विकास किस प्रकार हुआ। राजनैतिक जागृति के साथ-साथ भारत के अर्थ-प्रबन्ध मे भी परिवर्तन होता गया और धीरे-धीरे उसने विकेन्द्रित अर्थ-प्रबन्ध का रूप धारण कर लिया। आरम्भ काल मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने शासन की विभिन्न इकाइयो को पूरी स्वतन्त्रता दे दी थी किन्तु कुछ समय पश्चात् यह अनुभव किया गया कि इस नीति के परिणामस्वरूप विभिन्न क्षेत्रो मे काफी असमानताये उत्पन्न हो गई है। सन् १८३३ मे सरकार ने वित्त का केन्द्रीयकरण करने की नीति को अपनाया और स्थानीय सरकारो के स्वतन्त्र अधिकार छीन लिये गये। सब आय भारत सरकार के नाम मे एकत्र तथा खर्च की जाने लगी और प्रान्तीय सरकार केवल धन इकट्ठा करने तथा उसे खर्च करने वाली इकाइया बन गई। प्रान्तो की समस्त आय केन्द्रीय आय मानी जाती थी और उनके सभी खर्चे केन्द्रीय सरकार के द्वारा स्वीकृत किये जाते थे। इस केन्द्रीयकरण से केन्द्रीय सरकार तो मजबूत हो गई किन्तु प्रान्तीय सरकारो की हालत खराब होती गई। आय तथा व्यय का सन्तुलन बनाये रखने का कोई उत्तरदायित्व प्रान्तीय सरकारो पर नही था इसलिए उन्होने लापरवाही से व्यय करना आरम्भ कर दिया। वे केन्द्रीय सरकार से आवश्यकता से अधिक धन की माग करने लगी। प्रतिवर्ष अधिक से अधिक माग का बजट बना कर केन्द्रीय सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता था जिससे कि अधिक से अधिक धन प्राप्त किया जा सके। प्राप्त धन को बडी लापरवाही से व्यय किया जाता था और उसमे मितव्ययिता का ध्यान नही रखा जाता था। वित्तीय केन्द्रीयकरण की नीति के परिणामस्वरूप प्रान्तीय सरकारो का अपव्यय, अकुशलता तथा परस्पर सघर्ष आदि दोष उत्पन्न हो गये। इन दोषो को दूर करने के लिए विकेन्द्रीयकरण की माग की जाने लगी और १८७१ से इस दिशा मे कुछ प्रयत्न किया गया।

प्रगतिशील विकेन्द्रीयकरण का काल :

सर्वप्रथम सन् १८७१ मे लार्ड मेयो (Lord Mayo) ने इस दिशा मे पहला कदम उठाया और प्रान्तो को कुछ स्थानीय महत्व के विभाग सौंप दिये गये जिसमे जेल, पुलिस, शिक्षा, सडकें, स्वास्थ्य आदि प्रमुख थे। इन विभागो से होने वाली आय के अतिरिक्त, इनका खर्चा चलाने के लिये प्रान्तीय सरकारो को केन्द्रीय सरकार से

निश्चित रकम अनुदान के रूप में दी जाती थी। प्रान्तीय सरकारों को स्थानीय कर लगाने का सीमित अधिकार भी दे दिया गया। किन्तु इसमें स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हो सका। प्रान्तीय सरकारों के आय के साधन अपर्याप्त थे तथा वे मितव्ययितापूर्ण व्यय करने की कोई आवश्यकता नहीं समझते थे। सन् १८७७ में लार्ड लिटन (Lord Lyton) ने प्रान्तों को कुछ और विभागों का उत्तरदायित्व सौंप दिया जैसे उत्पत्ति कर, न्याय आदि। वार्षिक अनुदान के रूप में निश्चित रकम देने की व्यवस्था को जारी रखा गया। सर्वप्रथम आय के साधनों को केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के बीच बांट दिया गया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रान्तीय आय के तीन मुख्य साधन थे—(i) प्रान्तीय सेवाओं से होने वाली आय (ii) केन्द्र द्वारा हस्तान्तरित आमदनी (iii) प्रान्त विशेष से प्राप्त आय के आधार पर दिया जाने वाला केन्द्रीय अनुदान। यद्यपि विकेन्द्रीयकरण की यह योजना अधिक सफल नहीं हो सकी किन्तु फिर भी इसे विकेन्द्रीयकरण की ओर एक निश्चित प्रयत्न माना जा सकता है। सन् १८८२ में लार्ड रिपन (Lord Ripon) ने विकेन्द्रीयकरण की इस व्यवस्था में कुछ सुधार किए। वार्षिक अनुदान की प्रणाली को समाप्त कर दिया गया और आय की मदों को तीन भागों में बांट दिया गया—(अ) पूर्ण रूप से केन्द्रीय साधन—अफीम, नमक, आयात-निर्यात कर आदि (ब) पूर्ण रूप से प्रान्तीय साधन—सिविल विभाग, प्रान्तीय कार्य तथा प्रान्तीय दरें (स) केन्द्रीय व प्रान्तीय साधन—उत्पादन कर, स्टाम्प, जंगल, रजिस्ट्रेशन, मालगुजारी आदि। इन मदों से प्राप्त आय निश्चित अनुपात में केन्द्र तथा प्रान्तों के बीच बांटी जाती थी। यह अनुपात प्रत्येक प्रान्त के लिए अलग-अलग निश्चित किया जाता था। इस प्रणाली को पंचवर्षीय प्रणाली कहा जाता है क्योंकि इसके अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारों के साथ पाँच-पाँच वर्ष के लिए समझौते किये जाते थे। किन्तु यह व्यवस्था भी अधिक सन्तोषजनक नहीं रही क्योंकि इसके अन्तर्गत प्रान्तों को अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त धन प्राप्त नहीं हो सकता था तथा इसमें काफी अनिश्चितता रहती थी। सन् १९०४ में लार्ड कर्जन (Lord Curzon) ने इस व्यवस्था को अर्ध स्थायी बना दिया। सन् १९१२ में लार्ड हार्डिंग ने यह घोषणा की कि अब इन समझौतों में समय-समय पर परिवर्तन नहीं किया जायगा। यह प्रबन्ध सन् १९१९ तक चलता रहा।

मौन्टेग्यू चैम्सफोर्ड सुधार—

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारतीय राजस्व का एक महत्वपूर्ण युग आरम्भ होता है। बहुत समय से भारत में शासन सम्बन्धी सुधारों की मांग की जा रही थी और उसके लिये राष्ट्रीय आन्दोलन भी किया गया। ब्रिटिश सरकार ने युद्ध के पश्चात् इन मांगों को पूरा करने का वचन दिया था। सन् १९१८ में भारत मंत्री मौन्टेग्यू (Montagu) तथा भारत के वाइसराय चैम्सफोर्ड (Chemsford) ने वैधानिक सुधारों के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई कि प्रान्तों को वित्तीय तथा शासन सम्बन्धी मामलों में अधिक स्वतन्त्रता दी जानी

चाहिये। रिपोर्ट मे यह भी बतलाया गया कि वैधानिक विकेन्द्रीयकरण को सफल बनाने के लिये सर्वप्रथम वित्तीय विकेन्द्रीयकरण करना चाहिए और प्रान्तो के आय के साधन केन्द्रीय सरकार के साधनो से बिल्कुल भिन्न कर देने चाहियें। इस समिति की सिफारिशो के आधार पर भारत सरकार ने १६१६ का सुधार अधिनियम (Reforms Act of 1919) पास किया। इस ऐक्ट मे वैधानिक विकेन्द्रीयकरण के सिद्धान्त को मान लिया गया था और प्रान्तो को अधिक स्वतन्त्रता दे दी गई। वित्तीय विकेन्द्रीयकरण करने के लिये केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो के आय के साधनो को एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक कर दिया गया था। प्रान्तो को स्वतत्र रूप से ऋण लेने का अधिकार भी दे दिया गया। इस ऐक्ट के अनुसार केन्द्रीय सरकार के आय के साधन इस प्रकार थे—सीमा कर, आय कर, सामान्य स्टाम्प कर, अफीम, डाक, तार व रेलों से होने वाली आय। प्रातीय सरकारो की आय की मदो मे मालगुजारी, सिंचाई, स्टाम्प व रजिस्ट्री, जगल आदि को सम्मिलित किया गया।

मैस्टन परिनिर्णय

साधनो का इस प्रकार बटवारा हो जाने का परिणाम यह हुआ कि केन्द्रीय सरकार को घाटा रहने लगा और प्रान्तीय सरकारो को काफी मात्रा मे बचत होने लगी। अत. यह निश्चित किया गया कि प्रान्तीय सरकारें अपनी अनुमानित बचत का एक निश्चित अनुपात केन्द्रीय सरकार को दें। इस रकम को निर्धारित करने के लिये लार्ड मैस्टन (Lord Meston) की अध्यक्षता मे एक कमेटी नियुक्त की गई जिसने अपनी रिपोर्ट १६२० मे प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट म मौन्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट की अधिकाश बातो को मान लिया गया था। कमेटी ने आय कर से होने वाली आमदनी के बटवारे का विरोध किया और यह सिफारिश की कि सामान्य स्टाम्प कर को प्रातीय साधन बना देना चाहिए। इस कमेटी का मत था कि प्रान्तो के द्वारा केन्द्र को दिये जाने वाले अनुदान का आधार उनकी सामान्य बचत नही होनी चाहिए बल्कि उसे उनकी खर्च करने की शक्ति के आधार पर निश्चित किया जाना चाहिये। समिति ने विभिन्न प्रान्तो के द्वारा दिये जाने वाले अनुदान को इस प्रकार निश्चित किया—मद्रास ३४८ लाख, उत्तर प्रदेश २४० लाख, पजाब १७५ लाख, बगाल ६३ लाख, बम्बई ५६ लाख, बर्मा ६४ लाख, मध्य प्रान्त २२ लाख तथा आसाम १५ लाख रुपये। इन प्रारम्भिक अशदानो को ७ साल के समय के पश्चात् घटाने अथवा बढ़ाने की व्यवस्था की गई।

मेस्टन समिति का यह विचार था कि प्रातीय सरकारें इन अनुदानो को देने के पश्चात भी काफी बचत कर सकेंगी जिसे राष्ट्र निर्माण के कार्यो मे लगाया जा सकेगा किन्तु समिति की यह आशायें पूरी न हो सकी और शीघ्र ही प्रान्तो को आर्थिक सकट का सामना करना पड़ा और इन अनुदानो को कम करने की माँग की जाने लगी। सन् १६२५ के पश्चात केन्द्रीय सरकार की स्थिति मे कुछ सुधार हुआ और प्रान्तीय अनुदानो को कम कर दिया गया। सन् १६२६ से उन्हे बिल्कुल बन्द कर दिया गया।

मेस्टन एवार्ड के दोष :

सन् १९१९ की व्यवस्था के कारण भारत सरकार तथा प्रान्तीय सरकारो के वित्तीय सम्बन्ध मे काफी खिंचाव पैदा हो गया और मेस्टन एवार्ड मे संशोधन करने की निरंतर मांग की जाने लगी। बम्बई तथा बंगाल के औद्योगिक प्रान्तो ने इसका भारी विरोध किया। यू० पी०, मद्रास तथा पंजाब के कृषि प्रांत भी कुछ अन्य कारणो से इस एवार्ड मे सम्मिलित हो गये। मेस्टन एवार्ड के मुख्य दोष इस प्रकार थे—(i) केन्द्र तथा प्रान्तो के बीच आय के साधनो का बटवारा वैज्ञानिक ढंग से नहीं किया गया था। केन्द्रीय सरकार के कार्य ऐसे थे जिन पर किये जाने वाले व्यय मे कोई विशेष परिवर्तन होने की सभावना नहीं थी किन्तु उन्हे आय कर, तट कर जैसे आय बढाने वाले साधन दिये गए थे। इसके विपरीत प्रान्तीय सरकारो से यह आशा की गई थी कि वे राष्ट्रीय निर्माण का काम करेंगे किन्तु उसके लिये उन्हे आय के बेलोच साधन दिए गये थे। (ii) कृषि प्रान्तो की तुलना म औद्योगिक प्रान्तो की आय का बहुत बडा हिस्सा केन्द्रीय सरकार के द्वारा ले लिया जाता था जिसके कारण बम्बई तथा बगाल के औद्योगिक प्रान्त विशेषतया इस ऐवार्ड से असन्तुष्ट थे। पजाब व मद्रास जैसे कृषि प्रधान प्रान्तो को इस ऐवार्ड के परिणामस्वरूप अधिक लाभ पहुँचा जबकि बम्बई बगाल, बिहार व उडीसा की आय म इतनी वृद्धि नहीं हुई। (iii) प्रान्तो को दिये जाने वाले आय के श्रोत अपर्याप्त थे। आर्थिक तथा सामाजिक निर्माण के कामो के लिये उन्हे अधिक आय की आवश्यकता थी किन्तु मेस्टन ऐवार्ड के अन्तर्गत जो साधन उन्हे दिये गये वे इस नये उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए अपर्याप्त थे।

भारत सरकार का १९३५ का अधिनियम

सन् १९३५ का ऐक्ट प्रान्तीय स्वशासन की ओर केवल पहला कदम था। अभी भी प्रान्तो को पूरी जिम्मेदारी नहीं दी गयी थी और भारत सरकार का उन पर कड़ा नियन्त्रण रहता था। मौन्टेग्यू चैम्सफोर्ड सुधारो को कार्यरूप मे लाने से यह स्पष्ट हो गया था कि प्रान्तीय सरकारो को पूरा उत्तरदायित्व दिये बिना आर्थिक तथा सामाजिक प्रगति की दिशा म कोई विशेष काम नहीं किया जा सकता है। इसलिए भारत सरकार ने यह निश्चय किया कि प्रान्तीय सरकारो को आर्थिक तथा सामाजिक विकास के मामले मे पूरी तरह जिम्मेदार बना दिया जाय। सन् १९३५ के एक्ट के द्वारा प्रान्तीय स्वशासन को अधिक पूर्ण रूप देने का प्रयत्न किया गया।

प्रान्तो तथा केन्द्र के बीच कार्यो का जो बटवारा १९१९ के एक्ट मे किया गया था उसे १९३५ के एक्ट म अधिक विस्तृत कर दिया गया। नये एक्ट मे कार्यो की तीन सूची बना दी गई — (i) सघीय सूची (Federal list) (ii) प्रान्तीय सूची (Provincial list) तथा (iii) कॉनकरेन्ट सूची (Concurrent list)। सघीय सूची मे दिये हुए कार्यो के सम्बन्ध मे नियम बनाने का अधिकार केवल केन्द्रीय सरकार को था तथा प्रान्तीय सूची मे दिए गये कार्यों के सम्बन्ध मे केवल प्रान्तीय सरकारें

ही नियम बना सकती थीं। कॉनकरेंट (Concurrent) सूची में दिये गये कार्यों के सम्बन्ध मे नियम बनाने का अधिकार केन्द्र तथा प्रान्त दोनो को था। झगड़े की दशा मे गवर्नर जनरल का फैसला अन्तिम समझा जायगा।

नये अधिनियम के अन्तर्गत आय के साधनो को भी तीन भागो मे बाट दिया गया—सघीय अथवा केन्द्रीय (Federal); प्रान्तीय (Provincial) तथा मिले-जुले (Joint) (अ) सघीय साधनो (Federal Resources) मे सीमा शुल्क, तम्बाकू तथा भारत मे बनी हुई वस्तुओ पर उत्पादन कर, कारपोरेशन टैक्स, नमक कर, कृषि आय को छोड कर अन्य प्रकार की आय पर कर उत्तराधिकारी कर, विनिमय पत्रो, प्रतिज्ञा पत्रो तथा चैक्स आदि पर लगने वाली स्टाम्प ड्यूटी, वस्तुओ तथा यात्रियो पर टर्मिनल टैक्स, रेलवे से प्राप्त होने वाली आमदनी, सिक्के ढालने व रिजर्व बैंक से होने वाली आमदनी डाक, तार विभाग की आय आदि को सम्मिलित किया गया। (ब) प्रान्तीय श्रोतों (Provincial Resources) में निम्नलिखित साधन सम्मिलित किये गये :—मालगुजारी, शराब, अफीम तथा अन्य नशीली वस्तुओ पर लगने वाला *उत्पादन कर, कृषि आय कर, भूमि तथा मकानो पर कर, व्यवसाय कर, जानवरो* तथा किश्तियो पर कर, बिक्री कर, विलास की वस्तुओ पर कर, स्टाम्प ड्यूटी, टोल टैक्स, खनिज वस्तुओ के अधिकारो पर कर आदि। (स) कुछ करो को ऐसा रक्खा गया जिन्हे समानता की दृष्टि मे केन्द्रीय सरकार के द्वारा वसूल किया जाता था-और उसकी कुल आमदनी को प्रान्तीय सरकारो मे बाट दिया जाता था। कृषि भूमि को छोड कर अन्य प्रकार की सम्पत्ति पर लगने वाला उत्तराधिकारी कर, स्टाम्प ड्यूटी तथा टर्मिनल टैक्स इसी प्रकार के कर थे। कुछ कर ऐसे थे जिन्हे केन्द्रीय सरकार इकट्ठा करती थी और उसकी आमदनी का एक निश्चित अनुपात प्रान्तो के बीच बाट दिया जाता था जैसे आय कर। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे कर भी थे जिनकी आमदनी का कुल अथवा कुछ भाग प्रान्तो को दिया जाता था जैसे नमक कर, निर्यात कर आदि।

नये एक्ट के अन्तर्गत प्रान्तो को वित्तीय मामलो मे पूर्णतया स्वतन्त्र कर दिया गया। उनकी आय के साधन केन्द्रीय सरकार के साधनो से बिल्कुल अलग कर दिये गये। आय कर से होने वाली आमदनी मे प्रान्तो को हिस्सा देने की बात भी स्वीकार कर ली गई। प्रान्तीय सरकारो को ऋण लेने के सम्बन्ध मे पूरी स्वतन्त्रता दे दी गई किन्तु वे केन्द्र की आज्ञा के बिना विदेशी ऋण नही ले सकते थे। कुछ समय तक यह व्यवस्था ठीक प्रकार से चलती रही किन्तु इसे अधिक समय तक जारी न रक्खा जा सका। काँग्रेस मन्त्रि-मण्डलो ने स्तीफा दे दिया तथा दूसरा विश्व युद्ध आरम्भ हो जाने के कारण केन्द्रीय सरकार के लिये नये कर लगाना अनिवार्य हो गया।

स्वतन्त्रता के पश्चात्—

अगस्त सन् १६४७ में भारत को स्वाधीनता प्राप्त हुई और २६ नवम्बर १६४६ को नया विधान लागू कर दिया गया। कार्यों का नया बटवारा किया गया

तथा केन्द्र व राज्यो के बीच के वित्तीय सम्बन्धो में भी कुछ परिवर्तन किये गये। नये विधान के अन्तर्गत विषयो (Subjects) को तीन भागो में बाट दिया गया— (१) सघीय सूची (Union List)—इस सूची में दिये गये विषयो के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार केवल केन्द्रीय सरकार को है। सघीय-सूची के प्रमुख विषय इस प्रकार हैं—सुरक्षा, एटम शक्ति, विदेशी मामले, रेले, हवाई यातायात, जलयान, डाक, तार, सिक्का ढलाई व मुद्रण, रिजर्व बैंक, विदेशी व्यापार, बैंक तथा बीमा कम्पनियाँ, खनिज साधनो का विकास इत्यादि। (२) राज्य सूची (State List)—कुछ विषय पूर्णतया राज्य सरकारो को सौंप दिये गये और इन्हे राज्य सूची में रक्खा गया। इन विषयो के सम्बन्ध म नियम बनाने का अधिकार राज्य सरकारो को है। इस सूची के विषय इस प्रकार हैं—पुलिस, जेल, न्याय प्रबन्ध, स्थानीय शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, सडके, पुल, खेती, जगल, राज्य के भीतर का व्यापार तथा उद्योग इत्यादि। (२) कॉंकरेन्ट सूची (Concurrent List)—विवाह और तलाक, खाद्य सामग्री म मिलावट, आर्थिक तथा सामाजिक नियोजन, मजदूर सघ, सामाजिक सुरक्षा, मूल्य नियन्त्रण, कारखाने, बिजली, छापेखाने, अखबार इत्यादि इस सूची मे रक्खे गये। इन विषयो पर नियम बनाने का अधिकार केन्द्र व राज्य दोनो को है।

— नये विधान मे आय के साधनो का बटवारा निम्न प्रकार किया गया है:—

केन्द्रीय सरकार की आय के साधन :

कृषि आय के अतिरिक्त अन्य प्रकार की आय पर कर, सीमा शुल्क, भारत मे निर्मित वस्तुओ पर उत्पादन कर, कॉरपोरेशन टैक्स, वस्तुओ तथा यात्रियो पर टरमिनल टैक्स, अखबारो तथा विज्ञापन पर लगने वाला कर, मृत्यु कर, पूंजी लाभ कर इत्यादि।

राज्य सरकारो के साधन :

मालगुजारी, कृषि आय कर, कृषि भूमि के सम्बन्ध मे उत्तराधिकारी कर, मोटर गाडियो पर कर, नशीली वस्तुओ पर कर, बिक्री कर, बिजली के उपभोग पर कर, जानवरो तथा नाव पर कर टोल टैक्स, व्यापार पर कर, विलासिता की वस्तुओ पर कर, स्टाम्प ड्यूटी इत्यादि।

विधान की २६९ धारा के अन्तर्गत कुछ ऐसे करो को बतलाया गया है जिन्हें केन्द्रीय सरकार लगायेगी तथा एकत्रित करेगी किन्तु इनसे होने वाली आय को उन राज्यो के बीच बाट दिया जायगा जहाँ से वह कर इकट्ठा किया गया है। यह बटवारा लोक सभा के द्वारा निश्चित सिद्धान्तो के अनुसार किया जायगा। यह कर इस प्रकार है—(क) कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सम्पत्ति पर लगने वाला उत्तराधिकारी कर। (ख) यात्रियो तथा सामान पर लगने वाला टरमिनल टैक्स (Terminal Tax)। (ग) रेल किराये तथा भाडे पर लगने वाला कर। (घ) सट्टा बाजार मे किये गये सौदो पर कर। (च) समाचार पत्र तथा विज्ञापन पर लगने वाला कर।

आय कर से होने वाली आमदनी को केन्द्र तथा राज्यों के बीच एक निश्चित विधि से बांटा जायगा। उल्लिखित करों पर सरचार्ज (Surcharge) लगा कर केन्द्रीय सरकार आमदनी को बढ़ा सकती है। आय मे होने वाली इस प्रकार की कुल वृद्धि केन्द्रीय सरकार के पास रहेगी। उत्पादन कर (Excise Duties) केन्द्रीय सरकार लगायेगी किन्तु उसकी आमदनी का कुछ भाग राज्यो मे बाटा जा सकता है। जूट पर निर्यात कर केन्द्रीय सरकार लगायेगी किन्तु उसकी आमदनी को जूट पैदा करने वाले प्रान्तों मे नही बाटा जायेगा। उसके बदले मे बिहार, उडीसा, आसाम तथा पश्चिमी बगाल को आर्थिक सहायता दी जायगी। राज्य सरकारो को केन्द्र से विकास योजनाओं को पूरा करने के लिये अनुदान दिया जायगा। अनुदान की रकम लोक सभा निर्धारित करेगी। संविधान के लागू होने के दो वर्ष के भीतर तथा उसके पश्चात् प्रत्येक पाच वर्ष की अवधि समाप्त होने पर राष्ट्रपति एक वित्त आयोग (Finance Commission) नियुक्त करेंगे जो निम्नलिखित बातो पर सुझाव देगा :—

(अ) बटने वाले करो तथा शुल्को से होने वाली आय को किस अनुपात मे केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो के बीच बाटा जाय।

(ब) विभिन्न राज्यो को अनुदान देने के क्या सिद्धान्त होने चाहियें।

(स) केन्द्र तथा राज्यो के बीच किये गये समझौतो को जारी रखने अथवा उनमे सुधार करने से सम्बन्धित सुझाव।

(द) कोई और विषय जिस पर उसे सिफारिश करने के लिए कहा जाय।

प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशें :

भारत संविधान की धारा २७० के आधीन दिसम्बर सन् १९५१ मे राष्ट्रपति श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में पहला वित्त आयोग नियुक्त किया। वित्त आयोग को ऐसे सिद्धान्तो का निर्माण करना था। जिनके आधार पर कुछ करो से प्राप्त आय को केन्द्र तथा राज्यो के बीच बाटा जा सके तथा राज्य सरकारो को दिये जाने वाले अनुदान निश्चित किये जा सकें। वित्त आयोग ने इस सम्बन्ध मे तीन सामान्य सिद्धान्तो को अपनाया है—(i) केन्द्र तथा राज्यो के बीच साधनो का बंटवारा इस प्रकार होना चाहिये कि केन्द्रीय सरकार सुरक्षा, आर्थिक उन्नति तथा अन्य अनिवार्य कार्यों को भली प्रकार कर सके। (ii) आय के वितरण तथा अनुदान देने के सम्बन्ध मे सभी राज्यों के लिए एक ही सिद्धान्त होना चाहिये। (iii) वितरण की योजना का उद्देश्य राज्यो के बीच वर्तमान असमानताओं को दूर करना होना चाहिये।

(१) आयोग ने आय-कर के वितरण के सम्बन्ध मे यह सुझाव दिया कि आय कर से होने वाली कुल शुद्ध आय का ५५% राज्यों मे बाट दिया जाय। बाँटी जाने वाली कुल रकम का २०% इस आधार पर दिया जाय कि किस राज्य से कितनी आमदनी हुई है और ८०% राज्यो की जनसख्या के आधार पर बाँटा जाय। इस सिद्धान्त के आधार पर बंटने वाली कुल रकम मे विभिन्न राज्यो का प्रतिशत

हिस्सा इस प्रकार निश्चित किया गया—आसाम २·२५, बिहार ९·७५, बम्बई १७·५०, हैदराबाद ४.५०, मध्य भारत १·७५, मध्य प्रदेश ५·२५, मद्रास १५·२५, मैसूर २.२५, उडीसा ३·५०, पेप्सू ०.७५, पंजाब ३·२५, राजस्थान ३.५०, सौराष्ट्र १·००, त्रिवांकुर कोचीन २.५०, उत्तर प्रदेश १५·७५ तथा पश्चिमी बंगाल ११·२५।

(२) वित्त आयोग ने राज्य सरकारों की इस माग को मान लिया कि उत्पादन-कर से केन्द्रीय सरकार को होने वाली आय का कुछ भाग राज्य सरकारों में बाँट दिया जाय। आयोग ने यह सिफारिश की कि तम्बाकू, दियासलाई, वनस्पति उपज आदि पर लगने वाले उत्पादन-कर से प्राप्त होने वाली आय का ४०% भाग राज्य सरकारों के बीच उनकी जनसंख्या के अनुपात में बाट दिया जाय। विभिन्न राज्यों का भाग इस प्रकार निश्चित किया गया—

राज्य	कुल आय का प्रतिशत	राज्य	कुल आय का प्रतिशत
असम	२.६१	उडीसा	४·२२
बिहार	११.६०	पटियाला संघ	१.००
बम्बई	१०.३७	पंजाब	३.६६
हैदराबाद	५.३६	राजस्थान	४·४१
मध्यभारत	२.२६	सौराष्ट्र	१·१६
मध्य प्रदेश	६.८३	त्रिवांकुर कोचीन	२.६८
मद्रास	१६.४४	उत्तर प्रदेश	१८·२३
मैसूर	२.६२	पश्चिम बंगाल	७·१६

(३) आयोग ने यह सिफारिश की कि जूट निर्यात कर के बदले में असम, बिहार, उडीसा तथा पश्चिमी बंगाल के राज्यों को दिया जाने वाला अनुदान सन् १९५२–५३ से आरम्भ कर दिया जाय, इन राज्यों को दी जाने वाली रकम इस प्रकार रक्खी गई—

पश्चिमी बंगाल	१५० लाख रुपया
असम	७५ लाख रुपया
बिहार	७५ लाख रुपया
उडीसा	१५ लाख रुपया

(४) आयोग के अनुसार राज्यों को दिये जाने वाले अनुदान (Grants in Aid) की रकम निश्चित करते समय उपलब्ध साधन तथा राज्यों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना जाना चाहिये। जन-कल्याण सेवाओं का विस्तार किया जाना चाहिये तथा सामाजिक सुरक्षा का विशेष प्रबन्ध होना चाहिये। अनुदान देने का

तरीका ऐसा होना चाहिये जिससे यह भ्रम उत्पन्न न हो सके कि केन्द्रीय सरकार नियमित रूप से राज्य सरकारो के वार्षिक बजट के घाटे को पूरा करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेती है। विभिन्न राज्यो को निम्नलिखित अनुदान देने की सिफारिश की गई—

आसाम	१०० लाख रुपया
मैसूर	४० लाख रुपया
उडीसा	७५ लाख रुपया
पजाव	१२५ लाख रुपया
सौराष्ट्र	४० लाख रुपया
त्रिवाकुर कोचीन	४५ लाख रुपया
पश्चिमी बगाल	८० लाख रुपया

इन सामान्य अनुदानो के अतिरिक्त वित्त आयोग ने यह सिफारिश की कि निम्नलिखित राज्यो को अगले चार वर्षों तक वढती हुई दर से, प्राथमिक शिक्षा के विकास तथा विस्तार के लिये विशेष अनुदान दिये जाये। इन राज्यो मे बिहार, हैदराबाद, मध्य भारत, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, पजाव, पेप्सू तथा राजस्थान को सम्मिलित किया गया।

आलोचना :

प्रथम वित्त-आयोग की सिफारिशो से सभी राज्य सन्तुष्ट नही थे। यद्यपि इन सिफारिशो के परिणामस्वरूप राज्यो की आय में तथा केन्द्र से मिलने वाले अनुदान मे काफी वृद्धि हुई किन्तु फिर भी कुछ राज्य यह महसूस करते थे कि उनके साथ अन्याय हुआ है। आयोग की सिफारिशों की आलोचना निम्नलिखित आधार पर की गई—(१) आय-कर से होने वाली आमदनी के बटवारे का आधार ठीक नही था। कुछ राज्यो का यह मत था कि आय-कर का बटवारा प्राप्त होने वाली आय के श्रोतों के अनुसार होना चाहिये। जिस प्रान्त मे आय-कर अधिक मात्रा मे इकट्ठा किया जाता है उसे आय-कर मे से अधिक भाग मिलना चाहिये। विशेषकर बम्बई तथा पश्चिमी बंगाल जैसे औद्योगिक प्रान्तों का यह विचार था कि आय-कर के बटवारे मे उनके साथ अन्याय किया गया है। (२) उत्पादन-कर के बटवारे के आधार पर भी ठीक नही था। आयोग की वितरण योजना मे इस बात पर अधिक ध्यान नही दिया गया था कि विभाज्य कर की कितनी राशि कौनसे राज्य से प्राप्त हुई। कुछ राज्य उत्पादन-कर मे अधिक हिस्सा चाहते थे क्योंकि उनके क्षेत्र से अधिक मात्रा मे आय-कर एकत्रित होता था। कुछ राज्यो ने यह भी कहा कि वितरण योजना बनाते समय उनकी बजट स्थिति को देखने की अपेक्षा उनकी वित्तीय आवश्यकताओ को ध्यान मे रखा जाना चाहिये था। (३) राज्यो की केन्द्र पर निर्भरता अधिक बढ गई थी। अनुदानो के लिए राज्यो को केन्द्र पर निर्भर रहना पड़ता था जो संघीय सिद्धान्त (Principles of Federalism) के अनुकूल नही था।

दूसरा वित्त-आयोग :

दूसरा वित्त आयोग श्री के० सनथानम की अध्यक्षता मे नियुक्त किया गया जिसने अपनी रिपोर्ट १४ नवम्बर सन् १९५७ को लोकसभा के सम्मुख प्रस्तुत की। आयोग को निम्नलिखित बातो पर सुझाव देने के लिये कहा गया था—

(अ) आय-कर तथा संघ उत्पादन कर मे राज्यो के हिस्से निश्चित करना।

(ब) सविधान की २७३ और २७५ धाराओ के अन्तर्गत राज्यो को दिये जाने वाले अनुदान की रकम निश्चित करना।

(स) सम्पदा-कर (Estate Duty) से प्राप्त आय को राज्यो मे बाँटना।

(द) रेल-भाडे पर लगाये जाने वाले कर मे राज्यो के हिस्से निश्चित करना।

(च) केन्द्र द्वारा राज्यों को दिये गये ऋणो की शर्तों की जाँच करना तथा उनमे आवश्यक सशोधन करना।

सिफारिशे

आयोग ने सब बातों पर विचार करने के पश्चात् निम्नलिखित सिफारिशें की—

(१) आय-कर से प्राप्त शुद्ध आय मे राज्यो का हिस्सा ५५% से बढा कर ६०% कर दिया जाय। इसका बंटवारा ९०% राज्य की जनसख्या के आधार पर तथा १०% राज्य मे एकत्रित कर की मात्रा के आधार पर किया जायगा।

(२) पहले की भाति दियासलाई, वनस्पति उपज तथा तम्बाकू आदि पर लगने वाले उत्पादन-कर से प्राप्त शुद्ध आय का ४०% राज्यो मे बाँट देना चाहिए। यह बटवारा जनसख्या के आधार पर किया जायगा। आयोग मे ८ और वस्तुओ पर लगाये गये उत्पादन-कर से प्राप्त शुद्ध आय का २५% जनसख्या के आधार पर राज्यों मे बाँटने का सुझाव दिया। इन वस्तुओ मे कहवा (Coffee), चाय, चीनी, कागज, वनस्पति तेल आदि हैं।

(६) जूट कर अनुदान के सम्बन्ध मे आयोग ने यह निश्चित किया है कि ३१ मार्च १९६० तक असम को ७५ लाख रुपया और उडीसा को १५ लाख रुपया प्रतिवर्ष दिया जाना चाहिये। विहार का क्षेत्र कम हो जाने के कारण उसका हिस्सा २·६९ लाख रुपए कम कर दिया गया। पश्चिमी बगाल के हिस्से मे इतनी ही वृद्धि कर दी गई। ३१ मार्च १९६० के पश्चात् इस प्रकार के अनुदान नही दिये जायेंगे।

(४) विभिन्न राज्यो को केन्द्र से दिए जाने वाले अनुदान की रकम इस प्रकार निश्चित की गई—

आन्ध्र प्रदेश	४०० लाख रुपया
असम	३७५ लाख रुपया
बिहार	३५० लाख रुपया
केरल	१७५ लाख रुपया
मध्य प्रदेश	३०० लाख रुपया

मैसूर	६०० लाख रुपया
उडीसा	३२५ लाख रुपया
पंजाब	२२५ लाख रुपया
राजस्थान	२५० लाख रुपया
पश्चिमी बंगाल	३२५ लाख रुपया
जम्मू काश्मीर	३०० लाख रुपया

(५) सम्पदा कर (Estate duty) की कुल आय, उस आय को छोड कर जो केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों से प्राप्त होती है, राज्यो मे बाट दी जाय। केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्रो के हिस्से के रूप मे सरकार १% आय अपने पास रख सकती है। शेष मे से राज्यो को उनकी जनसख्या तथा उनसे प्राप्त आय के आधार पर हिस्से दिए जायें।

(६) रेल भाड़े पर कर से प्राप्त आय का १% सरकार केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्रो के हिस्से के रूप मे रख सकती है। शेष रकम रेलवे लाइन की लम्बाई के आधार पर राज्यो मे बाट देनी चाहिए।

(७) मिल के कपड़े, चीनी तथा तम्बाकू के बिक्री करो से राज्यो को प्राप्त होने वाली आय का अनुमान ३१·५० करोड़ रुपया प्रति वर्ष लगाया गया। आयोग ने सिफारिश की कि इस कर के स्थान पर जो उत्पादन कर लगाया जाय उसकी आमदनी का १% केन्द्रीय सरकार केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्रो के हिस्से के रूप मे रख ले तथा १½% जम्मू व काश्मीर राज्य को दिया जाय और शेष अन्य राज्यो मे बाट दिया जाय। विभिन्न राज्यो का हिस्सा उनकी जनसख्या तथा उनके द्वारा इन वस्तुओ के उपभोग के आधार पर निश्चित किया जाय।

इस आयोग की सिफारिशो के परिणामस्वरूप राज्यों की आय मे काफी वृद्धि हुई है। केन्द्रीय सरकार के द्वारा अपने आगमन मे से लगभग १४० करोड रुपया प्रति वर्ष राज्यो को हस्तातरित करना होगा जबकि पिछले ५ वर्षों मे हस्तातरित की जाने वाली रकम लगभग ९५ करोड रुपया प्रति वर्ष रही है। आयोग ने राज्यो की आय मे वृद्धि करने का सुझाव इसलिए दिया कि राज्यो को अपनी पचवर्षीय योजनाओं को पूरा करने मे किसी प्रकार की कठिनाई न हो। यदि राज्य अपनी आय के साधनो का उचित विस्तार कर लेते हैं और उन्हे केन्द्र से निर्धारित सहायता प्राप्त होती रहती है तो राज्यों को अपने विकास कार्य-क्रमो को पूरा करने मे किसी प्रकार की कठिनाई नही होनी चाहिए।

तीसरा वित्त आयोग :

तीसरा वित्त आयोग २ दिसम्बर सन् १९६० को नियुक्त किया गया जिसने १४ दिसम्बर सन् १९६१ को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। आयोग की सिफारिशें निम्नलिखित हैं—

(१) सम्पदा कर (Estate duty)—प्रत्येक वित्त वर्ष मे कृषि भूमि को छोड़ कर अन्य प्रकार की सम्पत्ति पर कर से होने वाली कुल आय मे १% केन्द्र के

द्वारा केन्द्रीय प्रशासित राज्यो के हिस्से के रूप मे रख लिया जाय। शेष को चल (Movable) तथा अचल (Immovable) सम्पत्ति के बीच मे इन सम्पत्तियों के मूल्यो के अनुपात मे बाँट लिया जाय। अचल सम्पत्ति के हिस्से को राज्यों के बीच इस आधार पर बाट दिया जाय कि उनके क्षेत्र मे कितने मूल्य की अचल सम्पत्ति स्थित है। चल सम्पत्ति के हिस्से मे आने वाली रकम को विभिन्न राज्यों के बीच निम्नलिखित अनुपात मे बाट दिया जाय—

आन्ध्र प्रदेश	८·३४%	महाराष्ट्र	९·१६%
असम	२·७५%	मैसूर	५ ४६%
बिहार	१० ७८%	उडीसा	४·०८%
गुजरात	४ ७८%	पजाब	४ ७१%
जम्मू काश्मीर	०·८३%	राजस्थान	४ ६७%
केरल	३ ९२%	उत्तर प्रदेश	१७·१०%
मध्य प्रदेश	७ ५१%	पश्चिमी बगाल	८·११%
मद्रास	७ ८०%		

(२) रेल भाड़े पर कर के बदले मे दिया जाने वाला अनुदान—१ अप्रैल, १९६१ से १२ ५ करोड रुपया प्रति वर्ष राज्यो मे बाँट दिया जाय। विभिन्न राज्यो का हिस्सा इस प्रकार होगा—आन्ध्र प्रदेश १·११ करोड रुपया, असम ० ३४ करोड, बिहार १·१७ करोड, गुजरात ० ६८ करोड, केरल ०·२३ करोड, मध्य प्रदेश १·०४ करोड, मद्रास ०·८१ करोड, महाराष्ट्र १·३५ करोड, मैसूर ०·५६ करोड, उडीसा ०·२२ करोड, पजाब १·०१ करोड, राजस्थान ०·८५ करोड, उत्तर प्रदेश २·३४ करोड, पश्चिमी बगाल ०·७१ करोड।

(३) आय कर (Income tax)—कृषि आय को छोड कर अन्य प्रकार की आय पर कर से प्राप्त आमदनी का ६६⅔% भाग राज्यों मे बाट दिया जाय। विभिन्न राज्यो मे इसका बटवारा निम्नलिखित अनुपात म किया जायगा—

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आन्ध्र प्रदेश	७ ७१	मध्य प्रदेश	६·८१
आसाम	२ ४४	मद्रास	८ १३
बिहार	९ ९३	महाराष्ट्र	१३·४१
गुजरात	४ ७८	मैसूर	५·१३
जम्मू काश्मीर	०·७०	उडीसा	३·४४
केरल	३ ५५	पंजाब	४·४९
राजस्थान	३·९७	उत्तर प्रदेश	१४·४२
		पश्चिमी बगाल	१२·०९

(४) केन्द्रीय उत्पादन कर (Union Excise duties)—चीनी, कहवा, चाय, तम्बाकू, मिट्टी का तेल, वनस्पति उत्पादन, साबुन, कागज, सूती कपड़ा, सीमेंट,

साइकिल, जूते, दियासलाई आदि पर लगने वाले उत्पादन कर से होने वाली कुल आय मे २०% राज्यो मे बाट दिया जाय। विभिन्न राज्यो का हिस्सा इस प्रकार होगा—

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आध्र प्रदेश	८·२३	मद्रास	६ ०८
आसाम	४·७३	महाराष्ट्र	५ ७३
बिहार	११·५६	मैसूर	५·८२
गुजरात	६·४५	उडीसा	७ ०७
जम्मू काश्मीर	२ ०२	पजाब	६·७१
केरल	५ ४६	राजस्थान	५·६३
मध्य प्रदेश	८·४६	उत्तर प्रदेश	१०·६८
		पश्चिमी बगाल	५ ०७

(५) अनुदान (Grants-in-Aid)—सविधान की धारा २७५ के अन्तर्गत दिए जाने वाले अनुदान की रकम आयोग के द्वारा उपरोक्त प्रकार निश्चित की गई। इसके अतिरिक्त आयोग ने सदेशवाहन के विकास के लिए राज्यो को अतिरिक्त अनुदान देने की सिफारिश भी की। दोनों प्रकार के अनुदानो की रकम जो राज्यो को दी जाती है, निम्न तालिका मे दिखलाई गई है।

(६) अतिरिक्त उत्पादन कर (Additional duties of Excise)—सूती कपडे, सिल्क तथा ऊनी कपडे, चीनी व तम्बाकू पर बिक्री कर के स्थान पर लगाये जाने वाले उत्पादन कर से होने वाली आय का १% केन्द्रीय सरकार केन्द्र द्वारा प्रशासित राज्यो के हिस्से के रूप मे रखेगी। १½% जम्मू काश्मीर को दिया जायगा तथा शेष में से राज्यो को सर्वप्रथम उनकी १९५६–५७ मे इन वस्तुओ पर बिक्री कर

राज्य का नाम	राज्यों की आय की ओर दिया जाने वाला अनुदान	सन्देशवाहन के विकास के लिये अतिरिक्त अनुदान
आन्ध्र प्रदेश	१,२०० लाख रुपया	५० लाख रुपया
आसाम	९०० ,,	७५ ,,
बिहार	८०० ,,	७५ ,,
गुजरात	९५० ,,	१०० ,,
जम्मू काश्मीर	३२५ ,,	५० ,,
केरल	८५० ,,	७५ ,,
मध्य प्रदेश	६२५ ,,	१७५ ,,
मद्रास	८०० ,,	—
मैसूर	७७५ ,,	५० ,,
उडीसा	१,६०० ,,	१७५ ,,
पजाब	२७५ ,,	—
राजस्थान	८७५ ,,	७५ ,,
उत्तर प्रदेश	२०० ,,	—
पश्चिमी बंगाल	८५० ,,	—

से होने वाली आमदनी के बराबर हिस्सा दिया जाय तथा शेष को इस अनुपात मे बाट दिया जाय—आन्ध्र प्रदेश ७·७५, आसाम २·५०, बिहार १०·००, गुजरात ५·४०, केरल ४·२५, मध्य प्रदेश ७·००, मद्रास ९·००, महाराष्ट्र १०·६०, मैसूर ५·२५, उडीसा ४·५०, पजाब ५·२५, राजस्थान ४·००, उत्तर प्रदेश १५·५०, पश्चिमी बगाल ९·०० ।

परीक्षा प्रश्न

1 Describe the division of revenues between the Union and States under the constitution. State the position of income tax in the above allocation. (Agra B. A. 1955)
भारतीय सविधान मे केन्द्र तथा राज्यों के बीच आय के बटवारे का वर्णन कीजिये । उसमें आय कर का क्या स्थान है ।

2. Trace the history of financial relations between the Provincial Governments and the Central Government of India from 1920 to 1940. (Agra B. A. 1946)
सन् १९२० से १९४० तक केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों के वित्तीय सम्बन्धों का इतिहास बताइये ।

3. What are the existing financial relations between the Provinces and the Central Government of India ? Are Provincial revenues ad quate to meet Provincial needs ? Suggest some remedies. (Agra B. A. 1941)
केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तों के वित्तीय सम्बन्ध इस समय क्या हैं ? क्या प्रान्तों की आय उनकी आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त है । सुधार के उपाय बताइये ।

4. Discuss in brief the recommendations of the Third Finance Commission.
तीसरे वित्त आयोग की सिफारिशो को संक्षेप मे व्याख्या कीजिये ।

—:o:—

९

भारत सरकार का अर्थ-प्रबन्ध

Finances of the Government of India

अर्थ-प्रबन्ध के अन्तर्गत यह अध्ययन किया जाता है कि कोई व्यक्ति अथवा संस्था किस प्रकार अपनी आय प्राप्त करती है तथा किस प्रकार उसका व्यय करती है। आय तथा व्यय मे समायोजन स्थापित करना अर्थ-प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य समझा जाता है। किसी भी सरकार का अर्थ-प्रबन्ध उस देश के नागरिको के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव डालता है क्योकि सरकार जब अपनी आय प्राप्त करती है तो व्यक्तियो की आय उस सीमा तक कम हो जाती है और उनका आर्थिक कल्याण भी कम हो जाता है। जब सरकार के द्वारा जनता की भलाई के लिये व्यय किया जाता है तो लोगों की आय तथा उनके आर्थिक कल्याण मे वृद्धि होती है। प्रत्येक सरकार अपनी आय तथा व्यय का प्रबन्ध इस प्रकार करती है कि आय प्राप्त करने के कारण आर्थिक कल्याण मे होने वाली कमी उस वृद्धि से कम हो जो सार्वजनिक व्यय के द्वारा लोगो के कल्याण मे होती है।

भारत सरकार के अर्थ-प्रबन्ध का अध्ययन करने के लिये उसे दो भागो मे बाटा जा सकता है—(अ) भारत सरकार की आय तथा (ब) भारत सरकार का व्यय।

भारत सरकार की आय :

भारत सरकार की आय के साधनो को दो मुख्य भागो मे बाटा जा सकता है–(i) कर-आय के साधन (Sources of Tax Revenue) और (ii) गैर-कर-आय के साधन (Sources of Non-tax Revenue)। भारत सरकार को दोनो प्रकार के साधनो से आय प्राप्त होती है। कर-आय के मुख्य साधन सीमा शुल्क, यूनियन आबकारी कर, आय कर, कॉरपोरेशन कर, मृत्यु कर, अफीम पर कर तथा उत्पादन कर आदि है। गैर-कर आय की मुख्य मदें—रेल, डाक व तार, मुद्रण तथा मिन्ट, उद्योग तथा व्यवसाय आदि हैं। भारत सरकार को प्राप्त होने वाली आय का ७० से ८० प्रतिशत कर-साधनो से प्राप्त होता है और गैर-कर साधन अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। पिछले कुछ वर्षों से गैर-कर आय के साधनो का महत्व निरन्तर बढ रहा है और इनसे प्राप्त होने वाली आय मे वृद्धि हो रही है। कर-आय के साधनो मे अप्रत्यक्ष करो (Indirect Taxes) से प्राप्त होने वाली आमदनी प्रत्यक्ष करो (Direct

Taxes) की आय की अपेक्षा अधिक रहती है। अप्रत्यक्ष करों का भार धनी व्यक्तियों की अपेक्षा निर्धन व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है तथा उनकी प्रवृत्ति धन के वितरण की असमानताओं को बढ़ाने की होती है। पिछले कुछ वर्षों में सरकार ने प्रत्यक्ष करों में आय को बढ़ाने का प्रयत्न किया है किन्तु उसे इसमें कोई विशेष सफलता नहीं मिल सकी है और सरकार की अप्रत्यक्ष करों पर निर्भरता दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है।

पिछले कुछ वर्षों में भारत सरकार की कर-आय (Tax Revenue) तथा गैर-कर आय (Non-Tax Revenue) निम्न प्रकार रही है :—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	कर-आय	कुल आय का प्रतिशत	गैर-कर आय	कुल आय का प्रतिशत
१९५०-५१	३५७ ००	८७·९	४८·८६	१२·१
१९५५-५६	४११ ४७	८५·५	६९·७२	१४·५
१९५६-५७	४९३ ७६	८७ ६	६९ ४७	१२·४
१९५७-५८	५७१ ३३	८५·४	९८·०५	१४·६
१९५८-५९	५५३·०६	८२ ५	११७·१५	१७·५
१९५९-६०	६४२ ४४	८२·५	१३६·१५	१७·५
१९६०-६१	७२०·१४	८३·२	१४७ ३२	१६·८
१९६१-६२	८२३·०७	८४ १	१५५ २६	१५ ९
१९६२-६३[1]	८८९ २२	७१ १	३४६ ८९	२८·९

उपरोक्त तालिका को देखने से पता चलता है कि भारत सरकार की आय का अधिकांश कर साधनों से प्राप्त होता है। इन साधनों से प्राप्त होने वाली आय कुल आय के ७० से ९० प्रतिशत के बीच रही है। यद्यपि पिछले कुछ वर्षों में भारत सरकार की कर आय में निरन्तर वृद्धि होती रही है किन्तु कुल आय में उसका प्रतिशत भाग कम होता जा रहा है जो इस बात का प्रमाण है कि सरकार की निर्भरता कर साधनों पर कुछ कम हुई है। गैर-कर आय कुल आय के १० और ३० प्रतिशत के बीच रही है। गैर-कर साधनों से सरकार की आय तेजी के साथ बढ़ रही है और १९६२-६३ में कुल आय में उसका भाग २९% हो गया है जबकि १९५०-५१ में वह केवल १२·१% ही था। यह परिवर्तन एक अच्छी प्रवृत्ति का प्रतीक है।

---

[1] बजट अनुमान

भारत सरकार की आय की मदें

(करोड़ रुपयों में)

	१९६०-६१	१९६१-६२	१९६२-६३ (बजट अनुमान)
आय कर (शुद्ध आगम)	८०·१	४८·७३	६८·७०
कॉरपोरेशन कर	१११·०५	१६०·००	१७८·५०
व्यय कर (Expenditure Tax)	०·९१	०·८०	०·१०
सम्पदा कर (Estate Duty)	०·१८	०·१२	०·१२
सम्पत्ति कर (Wealth Tax)	८·१५	७·५०	९·००
उपहार कर (Gift Tax)	०·८९	०·८५	०·८५
स्टाम्प तथा रजिस्ट्रेशन	३·६८	३·९५	४·०९
भूमि कर (Land Revenue)	०·५९	०·६६	०·६७
सीमा शुल्क (Custom Duties) (शुद्ध आगम)	१७०·०३	१९९·६०	२०७·४०
केन्द्रीय उत्पादन कर (Excise Duty) (शुद्ध आगम)	३४१·२५	३९०·०१	४०८·७२
रेल भाडे पर कर (शुद्ध आगम)	२·१०		
अन्य कर	११·३०	१०·८५	११·०७
नागरिक शासन	५९·३२	५२·७५	५०·३८
रेलवे	४·७७	२१·०२	२१·०४
डाक व तार	०·४६	०·७८	०·७९
करेन्सी तथा मिन्ट	४७·९५	४१·५३	४९·३०
अन्य सार्वजनिक उद्योग से	०·१८	०·७०	२·२९
अन्य आय	३५·००	३८·४८	२२३·०९
कुल आय	८७७·४६	९७८·३३	१२३६·११

Figures taken from 'Report on Currency and Finance'—1961–62 (Reserve Bank of India).

कर-आय के साधन :

भारत सरकार की कर आय के साधन निम्नलिखित है :—

(१) आय कर (Income Tax)—आय कर भारत सरकार की आय का एक महत्वपूर्ण साधन है। केन्द्रीय उत्पादन कर तथा सीमा शुल्क के पश्चात् इसी का नम्बर आता है। कृषि आय को छोड कर अन्य सब प्रकार की आय पर कर लगाने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को है। भारत में सर्वप्रथम यह कर १८६० मे केवल ४ वर्षों के लिये लगाया गया था और १८६५ मे इसे समाप्त कर दिया गया।

सन् १८६९ मे उसे फिर चार वर्षों के लिये लगा दिया गया और १८८६ मे आय कर को स्थाई रूप दे दिया गया किन्तु कृषि आय को उससे मुक्त रक्खा गया। समय के साथ-साथ आय कर की दरो मे परिवर्तन होता रहा और कर को अधिक प्रगतिशील (Progressive) बनाया जाता रहा है। कर से छूट की सीमा को भी कई बार बदला गया है और अब वह पहले की अपेक्षा काफी कम हो गई है।

आय कर प्रगतिशील दर से लगाया जाता है। विवाहित व्यक्तियो के लिए छूट की वर्तमान सीमा ३००० रुपया रक्खी गई है। इतनी वार्षिक आय तक किसी प्रकार का कर नही लिया जाता। इसके ऊपर अगले २००० रु० की आय तक ३% के हिसाब से कर लगाया जाता है। आय की वृद्धि के साथ-साथ कर की दर भी बढती जाती है। प्रत्येक बच्चे के लिये ३०० रु० की छूट भी दी जाती है जो दो बच्चो तक सीमित है। कर केवल शुद्ध आय पर लगाया जाता है अर्थात् कुल आय मे आय उत्पन्न करने का व्यय घटा दिया जाता है। प्रावधान कोष (Provident Fund), जीवन बीमा आदि मे दिये हुये रुपये पर छूट दी जाती है। दरो के निर्धारण मे परत प्रणाली (Slab System) अपनाया गया है। टैक्स की दर ३ प्रतिशत से लेकर २५ प्रतिशत तक जाती है। इसके अतिरिक्त २०,००० रु० वार्षिक आमदनी से अधिक पर अतिरिक्त कर (Super Tax) भी लगाया जाता है जिसकी दर ५ प्रतिशत से ४५ प्रतिशत तक जाती है।

आय कर से भारत सरकार को अपनी आय का बहुत बडा भाग प्राप्त होता है। युद्ध काल मे तो सरकार को अपनी आय का ५ प्रतिशत आय तथा कारपोरेशन कर से प्राप्त होता था। सरकार को आय कर से प्राप्त होने वाली आय पिछले वर्षों मे काफी बढी है। सन् १९६२-६३ के बजट अनुमान के अनुसार सरकार को आय कर से १६३·४० करोड रुपया प्राप्त होगा जिसमे से ९४·७० करोड रुपया राज्यो के हिस्से के रूप मे उन्हें बाट दिया जायगा। पिछले कुछ वर्षो मे भारत सरकार को आय कर से प्राप्त होने वाली आय निम्न प्रकार थी —

१९५०–५१		१३२·७३ करोड रुपया
१९५६–५७		१५१·७४ ,,
१९५८–५९		१७२·०१ ,,
१९६०–६१		१६७·३८ ,,
१९६२–६३	(अनुमानित)	१६३·४० ,,

यह कर अधिकाश कर सिद्धान्तो (Canons of taxation) को सन्तुष्ट करता है तथा इसमे प्रत्यक्ष करो के सभी गुण पाए जाते हैं। (1) आय कर न्यायपूर्ण है क्योकि वह लोगो की कर दान क्षमता के अनुसार लगाया जाता है। अधिक कर-दान क्षमता वालो से अधिक कर लिया जाता है तथा जिनको कर-दान क्षमता कम है उन्हें या तो बिल्कुल कर नहीं देना होता है और या बहुत कम देना पड़ता है। (ii) यह एक

प्रगतिशील कर है और धन के वितरण की असमानताओं को दूर करता है। धनी व्यक्तियों से बहुत ऊँची दर से कर लिया जाता है तथा कम आय वालो को कर से मुक्त रक्खा गया है। (iii) इस कर मे निश्चितता का गुण पाया जाता है क्योंकि कर-दाताओ को यह मालूम रहता है कि उन्हे कब कर देना है और कितनी मात्रा मे देना है। सरकार भी यह अनुमान लगा सकती है कि उसे इस कर से कितनी आय प्राप्त होगी। (iv) यह कर सुविधापूर्ण भी है क्योंकि पूर्व वर्ष की आय पर ही कर लगाया जाता है तथा वेतन प्राप्त होने से पूर्व ही इसे काट लिया जाता है। (v) आय कर लोचपूर्ण भी है क्योकि उससे प्राप्त होने वाली आमदनी लोगो की आय मे वृद्धि के साथ स्वय बढती जाती है। कर की दर मे थोडी सी वृद्धि करके सरकार अपनी आमदनी को काफी बढा सकती है।

आय कर के दोष .

(१) इन सब गुणो के होते हुए भी आय कर मे कुछ दोष पाए जाते हैं जिनमे मे प्रमुख इस प्रकार हैं—(i) लोग अपनी आमदनी को छुपाकर तथा झूठे हिसाब प्रस्तुत करके अपने आपको कर से बचा लेते हैं जिससे सरकार को प्रति वर्ष करोडो रुपए की हानि उठानी पडती है। (ii) छूट की न्यूनतम सीमा बहुत कम है जिसके कारण मध्यम वर्ग के परिवारो पर अनावश्यक भार पडता है। (iii) ऊँची आय वाले वर्ग के लिए कर की दर बहुत ऊची है जिसके कारण बचत हतोत्साहित होती है। (iv) करारोपण करते समय परिवार के आकार का विशेष ध्यान नही रक्खा जाता है जिसके कारण बडे परिवारो को विशेष कठिनाई होती है।

(२) कॉरपोरेशन कर (Corporation Tax)—यह कर भारतवर्ष मे सन् १६३६ से लगाया जा रहा है। सभी भारतीय तथा विदेशी कम्पनियों को व्यक्तियों की भाँति अपनी आय पर कर देना पडता है। कॉरपोरेशन कर मिश्रित पूंजी वाली कम्पनियो के मुनाफे पर लगाया जाता है। इसकी दर भारतीय कम्पनियो के लिए ४ आने प्रति रुपया तथा विदेशी कम्पनियो के लिए ५ आने प्रति रुपया है। यह कर इसलिए लगाया जाता है क्योकि कम्पनियो को राज्य से कुछ सुविधायें प्राप्त होती हैं जिनके कारण वे अपना कार्य सफलतापूर्वक करती हैं। शान्ति व सुरक्षा, न्यायालयों का प्रयोग इसी प्रकार की कुछ सुविधायें हैं। इस कर के सम्बन्ध मे कम्पनियो को किसी प्रकार की छूट नही दी जाती और उनकी कुल आमदनी पर कर लगाया जाता है। सन् १६३६ मे इस कर से सरकार को केवल २ करोड़ रुपया प्राप्त हुआ था किन्तु औद्योगिकरण के कारण कॉरपोरेशन कर से सरकार को आमदनी निरन्तर बढ रही है। सन् १६५५–५६ मे इस मद से ३६ ७७ करोड़ रुपया प्राप्त हुआ। सन् १६६२–६३ के बजट के अनुमान के अनुसार इस कर से १७८·५० करोड़ रुपया प्राप्त होने का अनुमान है।

(३) मृत्यु कर (Death duty)—इस कर को सम्पदा कर (Estate duty) भी कहा जाता है। भारतवर्ष मे मृत्यु कर सर्वप्रथम सन् १६५३ मे लगाया गया।

यह कर मृत्यु के समय उत्तराधिकारी को प्राप्त होने वाली सम्पत्ति पर लगाया जाता है। कर चल तथा अचल सभी प्रकार की सम्पत्ति पर लगाया जाता है। कर लगाने के लिए मृतक की सम्पत्ति का मूल्यांकन बाजारी दर से किया जाता है। सम्मिलित परिवार के सम्बन्ध मे ५०,००० रु० की सम्पत्ति तक कोई कर नहीं देना होता। अन्य सम्पत्तियों के सम्बन्ध मे छूट की सीमा १ लाख रुपया रक्खी गई है। इस कर के सम्बन्ध मे कई प्रकार की छूट दी गई हैं जो इस प्रकार हैं—(i) मृत्यु से ६ मास पूर्व धार्मिक व सामाजिक कार्यों के लिए दान के रूप मे दी गई रकम जिसकी अधिकतम सीमा २,५०० रु० रक्खी गई है, (ii) मृत्यु के दो वर्ष पूर्व दिए जाने वाले १,५०० रु० तक के अन्य उपहार। (iii) मृत्यु कर के भुगतान के लिए की गई बीमा पॉलिसी जिसकी अधिक से अधिक रकम ५०,००० रु० तक हो सकती है। (iv) मृतक की बीमा पॉलिसी मे से ५,००० रु० की रकम तथा (v) किसी रिश्तेदार की लड़की के विवाह के लिए ५,००० रु० तक की रकम। इन सब रकमो को मृतक की कुल सम्पत्ति मे तो जोडा जायगा किन्तु इन पर रिबेट (Rebate) दिया जाता है। यदि एक मृत्यु के ३ महीने के भीतर दूसरी मृत्यु हो जाय तो केवल पहली मृत्यु पर ही मृत्यु कर लिया जायगा अन्य पर नहीं।

मृत्यु कर के लाभ

(१) मृत्यु कर समाजवाद स्थापित करने की दिशा मे एक महत्वपूर्ण कदम समझा जाता है। इस कर के द्वारा धन के वितरण की असमानताओं को अधिक शीघ्रता के साथ दूर किया जा सकता है। इस कर की प्रवृत्ति पूंजी तथा धन को कुछ हाथों मे केन्द्रित होने से रोकने की होती है।

(२) यह कर आय कर का सहायक है। आय कर से लोग अपने को बचा सकते हैं किन्तु मृत्यु कर से बचना सम्भव नही होता। यदि दोनो करो को एक साथ लगाया जाता है तो लोगो का कर से बचना मुश्किल हो जाता है।

(३) इस कर का जनता की काम करने की इच्छा पर अच्छा प्रभाव पडता है। जब उत्तराधिकारियों को यह मालूम हो जाता है कि उन्हे अधिक सम्पत्ति नहीं मिलने जा रही है तो उनमें काम करने की प्रवृत्ति बढेगी।

(४) आय कर उस उपयोगिता को ध्यान में नही रखता जो व्यक्ति को सम्पत्ति का मालिक होने से मिलती है। सम्पत्ति का मालिक होने से लोगों को सम्मान प्राप्त होता है जिसका ध्यान आय कर लगाते समय नही रक्खा जाता। मृत्यु कर इस विशेष उपयोगिता को ध्यान मे रखता है।

मृत्यु कर के दोष

मृत्यु कर म कुछ दोष भी पाए जाते हैं जो इस प्रकार हैं—(i) इसका भार उन परिवारो पर अधिक पडता है जिनमे जल्दी-जल्दी मृत्यु होने के कारण बार-बार सम्पत्ति का हस्तान्तरण होता रहता है। (ii) कर को लगाते समय इस बात का ध्यान नही रक्खा जाता है कि सम्पत्ति किस प्रकार प्राप्त की गई है। सभी प्रकार की

सम्पत्ति पर एक दर से कर लगाया जाता है। कुछ सम्पत्ति ऐसी होती है जिसे प्राप्त करने मे अधिक परिश्रम तथा व्यय करना पड़ता है तथा कुछ को प्राप्त करने मे कम। (iii) इस कर का पूंजी के संचय पर बुरा प्रभाव पडता है जिसके कारण उत्पादन को नुकसान पहुचता है। (iv) हमारे यहाँ न्यूनतम छूट की सीमा बहुत ऊंची रक्खी गई है। अन्य देशो मे यह ३० ००० रु० के लगभग है। (v) कर की वर्तमान दरो से अधिक मूल्य की जायदाद वालो पर कर का भार कम है।

मृत्यु कर से हमारे देश मे बहुत अधिक आय प्राप्त नही की जा रही है। सन् १९५४-५५ मे केवल ८ लाख रुपए इस कर से प्राप्त हुआ। १९५६-५७ मे ३० लाख रुपया प्राप्त किया गया। १९६२-६३ मे मृत्यु कर से केवल १२ लाख रुपए की आय प्राप्त होने की सभावना है।

(४) धन पर कर (Wealth tax)—प्रो० कॉल्डर (Kaldor) की सिफारिशो के आधार पर यह नया कर सन् १९५७ से लगाया गया। यह कर व्यक्तियो, सम्मिलित परिवारो तथा कम्पनियो सभी के धन पर लगाया जाता है। सन् १९६० से कम्पनियो को इस कर से मुक्त कर दिया गया है। कर प्रगतिशील दर (Progressive rate) से लगाया जाता है। व्यक्तियो के सम्बन्ध मे न्यूनतम छूट की सीमा २ लाख रुपए है तथा मिश्रित परिवारो के लिए यह सीमा ४ लाख रुपए रक्खी गई है।

व्यक्तियो के लिए कर की दर इस प्रकार है—

छूट सीमा से ऊपर पहले १० लाख रुपए तक	½ प्रतिशत
१० लाख से ऊपर तथा २० लाख रुपए तक	१ प्रतिशत
२० लाख से ऊपर	१½ प्रतिशत

मिश्रित परिवारो के लिए—

४ लाख से ऊपर ९ लाख रुपए तक	½ प्रतिशत
९ लाख से ऊपर १९ लाख रुपए तक	१ प्रतिशत
१९ लाख से ऊपर	१½ प्रतिशत

कुछ प्रकार की सम्पत्ति को कर से मुक्त रखा गया है— (i) कृषि सम्पत्ति, (ii) धार्मिक अथवा दान देने वाले ट्रस्टो की सम्पत्ति, (iii) ग्रामीण रहने के मकान, (iv) कला की वस्तुयें, (v) २५,००० रुपये तक व्यक्तिगत वस्तुयें, जैसे फर्नीचर, कार, गहने आदि, (vi) भारत मे रहने वाले विदेशी नागरिको का वह धन जो विदेशो मे स्थित है।

इस कर से सरकार को बहुत अधिक आय प्राप्त नही हो सकी है। सन् १९५७-५८ मे केवल ७·०४ करोड रुपया प्राप्त किया गया तथा १९५९-६० मे १२·११ करोड रुपया प्राप्त हुआ। सन् १९६२-६३ मे इस कर से केवल ९ करोड रुपये की आमदनी प्राप्त होने का अनुमान है।

धन-कर के पक्ष मे अनेक तर्क दिये जा सकते हैं—यह कर लोगों की आय को छिपाने की सभावना को कम कर देगा तथा कर अपवचन (Tax Evasion) कम हो

जायगा। इस कर के द्वारा धन की असमानताओं को दूर किया जा सकेगा और यह कर समाजवाद की दशा में एक पग होगा। इस कर के लगने से भारत सरकार को आय का एक नया श्रोत प्राप्त हो जायगा। भारतवर्ष में यह कर अधिक सफल नहीं हो सका है और सरकार को इसमें प्राप्त होने वाली आय बहुत कम है। इस कर के अन्य लाभ भी हमारे देश में प्राप्त नहीं किये जा सके हैं।

(५) उपहार-कर—उपहार-कर भारतवर्ष में सन् १९५८ से लगाया गया। यह कर भी प्रो० कालदर (Kaldor) की सिफारिशों के आधार पर लगाया गया है। कर को लगाने का प्रमुख उद्देश्य अन्य प्रत्यक्ष करों से सम्बन्धित अपवचन को रोकना है। यह कर व्यक्तियों, सम्मिलित हिन्दू परिवारों, कम्पनियों तथा संस्थाओं पर लगाया जाता है। उपहार-कर करारोपण से पूर्व वर्ष में दिये गये उपहार के मूल्य पर लगाया जाता है। करारोपण के लिये उपहार के बाजार-मूल्य को लिया जाता। ५०,००० रु० से कम कीमत के उपहार पर कोई कर नहीं लिया जाता। इससे ऊपर ५०,००० रु० तक ४% की दर से लगाया जाता है, अगले ५०,००० रु० पर कर की दर ८% और इसी प्रकार कर की दर उपहार के मूल्य के साथ-साथ बढ़ती जाती है। कर की अधिकतम दर ४०% है जो ५० लाख रुपये से ऊपर की सम्पत्ति पर लिया जाता है। कर चुकाने का प्रथम उत्तरदायित्व उपहार देने वाले पर है किन्तु उपहार प्राप्त करने वाले को भी चुकाने के लिए उत्तरदायी रक्खा गया है।

कुछ प्रकार के उपहारों को कर से छूट दी गई है जिसमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं—(i) केन्द्रीय राज्य तथा स्थानीय सरकारों को प्राप्त होने वाले उपहार, (ii) धार्मिक संस्थाओं को प्राप्त होने वाले उपहार, (iii) स्त्री-आश्रितों को विवाह के समय मिलने वाला उपहार जिसकी अधिकतम सीमा १०,००० रु० रक्खी गई है, (iv) पत्नी तथा संतान को मिलने वाला १०,००० रुपये तक का उपहार, (v) आश्रितों को मिलने वाला बीमा पालिसी का उपहार जो अधिक से अधिक १०,००० रु० तक हो सकता है, (vi) अचल सम्पत्ति जो देश से बाहर हो यदि उपहार देने वाला भारतीय नागरिक नहीं है।

(६) आयात-निर्यात कर—आजकल प्रत्येक देश बाहर से आने वाली वस्तुओं पर तथा देश से बाहर जाने वाली वस्तुओं पर कर लगाता है। आयात-कर उन वस्तुओं पर लगाया जाता है जिनका बाहर से देश में आयात किया जाता है। निर्यात-कर उन वस्तुओं पर लगाया जाता है जो देश से बाहर भेजी जाती हैं। इन करों के लगाने के दो उद्देश्य हो सकते हैं—(i) आमदनी प्राप्त करना तथा (ii) उद्योगों को संरक्षण देना। यह कर दो प्रकार से लगाया जा सकता है—(अ) वस्तु की मात्रा पर (Specific Duty) तथा (ब) वस्तु के मूल्य पर (Ad Velorem) कम मूल्यवान वस्तुओं पर कर उनकी मात्रा

के अनुसार लगाया जाता है तथा मूल्यवान वस्तुओ जैसे रेडियो, घडी, सोना, चाँदी, कार इत्यादि पर यह कर उनके मूल्य के अनुसार लगाया जाता है।

आरम्भ मे भारतवर्ष की नीति स्वतन्त्र व्यापार की नीति थी और किसी प्रकार के सीमा-कर नही लगाये जाते थे। सन् १९२२ मे सरकार ने सरक्षण की नीति को अपना लिया और बहुत सी आयात की जाने वाली वस्तुओ पर कर लगाया जाने लगा। १९३३ मे भारत ने साम्राज्य अधिमान नीति (Imperical Preference) को अपना लिया जिसके कारण विदेशी व्यापार मे काफी वृद्धि हुई और भारत सरकार की आय सीमा कर से बढने लगी। भारतवर्ष मे सीमा-कर आय प्राप्त करने तथा उद्योगो को सरक्षण देने, दोनो ही उद्देश्यो के लिए लगाया जाता है।

सीमा-कर भारत सरकार की आय का एक महत्वपूर्ण साधन है। काफी लम्बे समय तक केन्द्रीय बजट मे सीमा-कर का प्रथम स्थान रहा है किन्तु अब केन्द्रीय उत्पादन कर से होने वाली आमदनी ने इसे पीछे छोड दिया है। आयातो पर प्रतिबन्ध लग जाने के कारण अब इससे होने वाली आय को बढाने का क्षेत्र सीमित हो गया है। सन् १९३९—४० मे सरकार को इससे केवल ४३·९ करोड रुपये की आमदनी हुई किन्तु १९५०—५१ मे यह बढ कर १५७·१५ करोड रुपये हो गई। सन् १९६२-६३ के बजट मे इस साधन से होने वाली अनुमानित आय २०७.४० करोड रु० है। यद्यपि सरकार को इस मद से काफी आमदनी हो रही है किन्तु आय का यह साधन काफी अनिश्चित है। इससे होने वाली आय सरकार की आयात-निय त नीति, विदेशी विनिमय की उपलब्धता, जहाजी सुविधाये तथा वस्तुओ की माँग व पूर्ति पर निर्भर होती है।

(७) केन्द्रीय उत्पादन-कर (Central Excise Duties)—भारत सरकार बहुत सी उन वस्तुओ पर कर लगाती है जो भारत मे पैदा होती हैं जैसे चाय, वनस्पति तेल, तम्बाकू, दियासलाई, मोटर-टायर, स्प्रिट, सूती कपडा, मिट्टी का तेल, सीमेट, साबुन, जूते इत्यादि। इस कर को लगाने के दो उद्देश्य हो सकते हैं—(i) आय प्राप्त करना तथा (ii) कुछ हानिकारक वस्तुओ के उपभोग को कम करना और लाभपूर्ण वस्तुओ के उपभोग को बढाना। सन् १९५७ से इस कर मे काफी परिवर्तन किया गया है। उस समय वित्त-मन्त्री ने बताया कि इसको लगाने का हमारा उद्देश्य वस्तुओ के उपभोग को कम करना है जिससे मुद्रा-प्रसार के दबाव को कम किया जा सके तथा विनियोग के लिए अधिक धन प्राप्त किया जा सके। यह कर प्राय. आवश्यकताओ की वस्तुओ पर लगाया जाता है। उत्पादन कर एक अप्रत्यक्ष कर है जिसका भार गरीब लोगो पर अधिक पड़ता है। इसीलिये कर लगाने के लिये वस्तुओ का ठीक चुनाव करना काफी महत्वपूर्ण है। इस कर को उन वस्तुओ पर लगाया जाना चाहिये जिनका उपभोग अधिकांश धनी वर्ग के लोगो के द्वारा किया जाता हो।

आरम्भ मे इस कर से भारत सरकार की आमदनी बहुत कम थी और सन् १९३९-४० मे केवल ६ करोड रुपया ही प्राप्त किया जा सका था किन्तु

१९५५-५६ में यह आमदनी बढ़ कर १४५ करोड़ रुपये हो गई। सन् १९६२-६३ के बजट के अनुसार सरकार को उत्पादन-कर से ५२६ करोड़ रुपये की आमदनी होने का अनुमान है। इस कर से होने वाली आय में इतनी तेजी से वृद्धि होने का कारण वस्तुओं के उत्पादन में तीव्र गति से वृद्धि होना तथा अनेकों नई वस्तुओं पर कर लगाया जाना है। इस कर से होने वाली आमदनी का कुछ भाग राज्य सरकारों में बांट दिया जाता है।

गैर-कर आगम :

करारोपण के अतिरिक्त भारत सरकार को अन्य साधनों से भी काफी आय प्राप्त होती है। सन् १९६२-६३ में सरकार को गैर-कर साधनों से ३४६·८९ करोड़ रुपये की आय प्राप्त होने का अनुमान है जो कुल आय का २८.९ प्रतिशत है। भारत सरकार की गैर-कर आय के मुख्य साधन निम्नलिखित हैं—

(१) मुद्रा और टकसाल (Currency and Mint)—इस शीर्षक के अन्तर्गत उस आय को दिखलाया जाता है जो सरकार को सिक्के ढालने तथा नोटों के छापने से प्राप्त होती है। यद्यपि यह आय सरकार को १८९८ से प्राप्त हो रही है किन्तु सन् १९३५ के पश्चात् इस मद में होने वाली आय में काफी वृद्धि हुई है। सन् १९४९ में रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाने के कारण इस साधन से होने वाली आय में और अधिक वृद्धि हुई है। भारत सरकार की आय का यह एक नियमित तथा महत्व-पूर्ण साधन है। सन् १९३९-४० में सरकार को इस मद से केवल ३७ लाख रुपये की आय प्राप्त हुई थी किन्तु सन् १९५५-५६ में यह बढ़कर २३·१७ करोड़ रुपये हो गई। सन् १९६२-६३ के बजट के अनुसार सरकार को करंसी तथा मिन्ट से ४६·३ करोड़ रुपया प्राप्त होने का अनुमान है।

(२) डाक तार विभाग (Posts & Telegraphs)—भारत सरकार को डाक तार विभाग से भी कुछ आय प्राप्त होती है। इस विभाग को जो कुल आमदनी प्राप्त होती है उसमें से खर्च निकाल कर शुद्ध आय को सामान्य आगम (General Revenues) में जोड़ दिया जाता था। कुछ समय पूर्व भारत सरकार को इस विभाग से काफी आमदनी प्राप्त होती थी सन् १९४२ से लेकर १९४५ यह विभाग प्रति वर्ष १० करोड़ रुपया सरकार को देता रहा किन्तु इसके पश्चात् विभाग का विस्तार हो जाने के कारण यह आमदनी काफी कम हो गई। सन् १९५५-५६ में केवल ७० लाख रुपये की आय सरकार को इस विभाग से प्राप्त हुई है। १९६२-६३ में इस मद से ७९ करोड़ रुपया मिलने का अनुमान है।

(३) रेलों से आमदनी—रेलें भारत सरकार की आमदनी का एक महत्वपूर्ण साधन हैं। सर्वप्रथम सन् १९०० में रेलों ने कुछ लाभ उत्पन्न किया। इसके पश्चात् सन् १९३० तक रेलों को अच्छा मुनाफा होता रहा किन्तु अवसाद काल में इन्हें नुकसान होने लगा। दूसरे विश्व युद्ध काल में भी रेलों को भारी लाभ हुआ। रेलवे बजट के केन्द्रीय बजट से अलग हो जाने के पश्चात् विभिन्न समझौते किये गये जिनके अनुसार रेलों को अपने लाभ का कुछ भाग केन्द्रीय आगम में देना पड़ता है।

सन् १६४७–४८ से पूर्व रेलवे से भारत सरकार को काफी आमदनी मिलती थी किन्तु उसके पश्चात् इस मद से होने वाली वार्षिक आय ५ और ७ करोड रुपये के बीच मे रही है। दूसरे युद्ध काल मे रेलो ने कुल मिला कर १५८ करोड रुपया केन्द्रीय बजट को दिया। सन् १६५५–५६ मे सरकार को इस मद मे ६ १५ करोड रुपये प्राप्त हुये और १६६२–६३ मे २१ करोड रुपया प्राप्त होने की आशा है।

(४) नागरिक कार्यों से आय— भारत सरकार को जो आय केन्द्रीय लोक कार्य विभाग (Central P. W. D.), सिचाई आदि से प्राप्त होती है उसे इस शीर्षक के अन्तर्गत दिखलाया जाता है। सन् १६५०–५१ मे सरकार को इस मद से १२·५३ करोड रुपये की आय प्राप्त हुई। बजट अनुमान के अनुसार १६६२–६३ मे सरकार को इस मद से ५० ३८ करोड रुपये प्राप्त होगे।

(५) अन्य साधन—इसके अन्तर्गत सरकारी भूमि तथा मकानो से आमदनी, जगलो से आय, रजिस्ट्रेशन से आय मोटर गाडियो के अनुज्ञापन शुल्क आदि सम्मिलित हैं। सन् १६५०–५१ मे इस शीर्षक से १३·१७ करोड रुपये की आय प्राप्त हुई जो १६६०–६१ में बढ कर ३५ करोड रुपया हो गई। सन् १६६२–६३ मे इससे २२३ करोड रुपये की आमदनी प्राप्त होने का अनुमान है।

भारत सरकार के व्यय की मुख्य मदें :

भारत सरकार अपनी आय को किन-किन मदो पर व्यय करती है, इसे निम्नलिखित तालिका द्वारा जाना जा सकता है :—

संघ सरकार की व्यय की मदें

(करोड रुपयों मे)

मदें	१६६०–६१	१६६१–६२	१६६२–६३ (बजट अनुमान)
कर एकत्रित करने पर व्यय	२२ ४३	२१ १४	२२·५८
नागरिक शासन	५८·६६	६० ००	७०·३१
सुरक्षा सेवायें (शुद्ध)	२४७·५५	३०१ ६४	३४३·३७
ऋण सम्बन्धी व्यय	७७ ०६	८६·१०	२४७·६०
पेन्शन इत्यादि	१० ०४	१० ४६	१० ४६
असाधारण व्यय	३·६८	१३·५५	४१·१०
मिला जुला व्यय (Miscellaneous)	११७·८२	६० ०६	८५ ८१
सामाजिक और विकास सेवायें	२३६·४०	१८५ ०८	१६४·११
राज्यो को अनुदान आदि	४८·५५	२०२ ७६	२१६·६१
अन्य व्यय	३·६६	३ २५	३·८४
कुल व्यय	८२६·२१	६४४·३७	१२३६·०६

Figures taken from the 'Report on Currency and Finance'—1961–62 (Reserve Bank of India).

(१) सेना पर व्यय (Defence Expenditure)—प्रत्येक राष्ट्र को आन्तरिक सुरक्षा तथा विदेशी आक्रमण से बचाव करने के लिये अपनी आय का काफी बडा भाग सेना आदि पर व्यय करना पडता है। भारतवर्ष मे आरम्भ से ही सुरक्षा पर काफी व्यय किया जाता रहा है। ब्रिटिश काल मे सुरक्षा पर अधिक व्यय होने के कई कारण थे—भारत मे बहुत बडी सेना रक्खी जाती थी जिसकी वास्तव में यहाँ आवश्यकता नही थी। सेना मे अधिकाश अफसर अंग्रेज होते थे जिन्हे बहुत ऊँचा वेतन दिया जाता था। अंग्रेज सैनिको की सख्या काफी अधिक थी। ब्रिटिश सरकार को भारतीयो से सदा भय रहता था कि वह उपद्रव न कर दे जिसके कारण उन्हे काफी अधिक सेना रखनी पडती थी। भारत मे रहने वाली सेना केवल भारत की सुरक्षा के लिये ही नही थी बल्कि वह इस समस्त क्षेत्र मे ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिये प्रयोग की जाती थी। दूसरे युद्ध काल मे भारत का सुरक्षा सम्बन्धी व्यय और भी अधिक बढ गया क्योकि भारत को अपने तथा मित्र राष्ट्रो के सैनिक बहुत बडी मात्रा मे रखने पडे।

स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् यह आशा की जाती थी कि अब देश का सुरक्षा पर व्यय काफी कम हो जायगा। युद्ध की दशायें समाप्त हो जाने के कारण अब अधिक सेनायें रखना आवश्यक नही था तथा पाकिस्तान बन जाने के कारण अब भारत को कम क्षेत्र की रक्षा करनी पडती थी। किन्तु पाकिस्तान के साथ सम्बन्धो का बिगड जाना, काश्मीर समस्या तथा चीनी खतरे के कारण आज भारत को सुरक्षा पर पहले की अपेक्षा काफी अधिक रकम खर्च करनी पड रही है। सरकार को अपनी कुल आय का लगभग ४० प्रतिशत सुरक्षा पर व्यय करना होता है। सन् १९६०-६१ मे भारत सरकार को अपने ६२५.६२ करोड रुपये के बजट मे से २८२.६२ करोड रुपया सुरक्षा पर व्यय करना पडा। इसके अतिरिक्त ३२ करोड रुपये का पूंजीगत व्यय भी किया गया। सन् १९६२-६३ मे ३४३.३७ करोड रुपया सुरक्षा पर व्यय किये जाने का अनुमान है। अभी हाल मे चीनी आक्रमण के कारण भारत सरकार ने सुरक्षा पर अपना व्यय बहुत अधिक बढा दिया जिसके लिये लगभग ७५ करोड रुपये की पूरक माग सुरक्षा व्यय के लिये स्वीकार की गई हैं। इसके अतिरिक्त सुरक्षा सम्बन्धी पूंजीगत व्यय भी बहुत बडी मात्रा मे किया जा रहा है।

(२) नागरिक शासन (Civil Administration)—भारत सरकार को नागरिक शासन पर अपनी आय का काफी बडा भाग व्यय करना पडता है। इसके अन्तर्गत सरकारी कर्मचारियो के वेतन तथा भत्ते, ससद मन्त्री तथा मन्त्रालयो सम्बन्धी व्यय, न्याय, जेल तथा पुलिस, शिक्षा, स्वास्थ्य, विदेशी विभाग तथा विदेशो मे दूतावास पर किया जाने वाला व्यय सम्मिलित है। ब्रिटिश काल मे भी नागरिक शासन पर काफी व्यय होता था। युद्ध से पूर्व इस मद पर लगभग ११ करोड रुपया प्रति वर्ष व्यय किया जाता था किन्तु युद्ध काल मे यह बढ कर ६० करोड रुपया हो गया। इसका मुख्य कारण सरकारी विभागो का विस्तार तथा सरकारी कर्मचारियो

की संख्या मे वृद्धि थी। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् नागरिक शासन पर व्यय काफी तेजी के साथ बढा है क्योंकि ससद सदस्यो तथा मन्त्रियो की सख्या बहुत बढ गई है। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशो मे भारतीय दूतावास स्थापित किये गये है। देश मे आर्थिक नियोजन तथा विकास खण्डो की स्थापना के कारण भी यह व्यय काफी बढा है। सन् १९५५-५६ मे नागरिक शासन पर किया जाने वाला व्यय १११.७६ करोड रुपये था। इस मद पर व्यय के सम्बन्ध मे काफी आलोचना की जाती रही है। प्राय: यह कहा जाता है कि इस मद पर आवश्यकता से अधिक व्यय किया जा रहा है क्योंकि राज्य कर्मचारियो तथा पदाधिकारियो की सख्या मे आवश्यक रूप से वृद्धि हुई। विदेशी दूतावासो पर बहुत अधिक व्यय किया जा रहा है। इस मद पर सरकारी व्यय को कम करने की काफी गुजाइश है और सरकार को इस दिशा मे निश्चित कदम उठाने चाहियें।

(३) सार्वजनिक ऋण सम्बन्धी व्यय (Debt Services)—भारत सरकार को युद्ध के कारण तथा देश के आर्थिक विकास के लिये समय-समय पर जनता से ऋण लेने पडे है। इन ऋणो पर सरकार को व्याज देना पडता है तथा अन्य प्रकार के व्यय भी करने होते है। सन् १९३९ मे भारत सरकार को सार्वजनिक ऋणो पर १२ करोड रुपया प्रति वर्ष व्याज के रूप मे देना पडता था। युद्ध काल मे इन ऋणों की मात्रा काफी बढ गई। युद्ध के पश्चात् भी सार्वजनिक ऋणो मे तेजी के साथ वृद्धि हुई है क्योंकि सरकार को आर्थिक विकास के लिये काफी मात्रा मे ऋण लेने पड़े हैं। सन् १९५५-५६ मे सरकार को ऋणो के सम्बन्ध मे ४३.१४ करोड रुपया व्यय करना पडा। १९६२-६३ मे इस मद पर २४७.९० करोड रुपया खर्च होने का अनुमान है।

(४) सामाजिक तथा विकास सम्बन्धी सेवायें (Social & Developmental Services)—भारत मे कल्याणकारी राज्य की स्थापना के उद्देश्य से सरकार सामाजिक तथा आर्थिक निर्माण के कामो पर बहुत बडी मात्रा मे धन व्यय कर रही है। इस मद के अन्तर्गत सिचाई तथा बहुमुखी योजनायें, वैज्ञानिक विभाग, शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, ग्रामीण विकास, सहकारिता, सामुदायिक विकास, बिजली योजनाओं आदि पर किया जाने वाला व्यय आ जाता है। इस मद पर किया जाने वाला व्यय पिछले दस वर्षों मे काफी तेजी के साथ बढा है। सन् १९४९-५० मे इन पर ३९.५० करोड रुपया व्यय किया गया। १९६२-६३ मे १९४.११ करोड रुपया व्यय किये जाने का अनुमान है।

(५) राज्यों को अनुदान (Grants to States)—भारत सरकार को अपनी आय मे से राज्य-सरकारो को अनुदान भी देने होते है जिससे कि वे अपने कार्यों को ठीक प्रकार से कर सकें। यह अनुदान शिक्षा, स्वास्थ्य, मकान व सडको का निर्माण, बाढ योजना तथा अन्य स्वीकृत योजनाओं के लिए दिए जाते हैं। प्राय. जितनी रकम केन्द्रीय सरकार देती है उतनी ही राज्य सरकारो को अपने पास से खर्च करनी होती है।

परीक्षा प्रश्न

Describe the main features of the financial resources from taxation of the Union Government of India Suggest suitable remedies for their improvement (Agra B A & B Sc 1961)
भारतीय सरकार के कर-स्थापन के आय सम्बन्धी साधनों के मुख्य लक्षणों को बताइये। उनके सुधारने के योग्य उपाय संकेत कीजिये।

2. Adjudge the merits of the Indian Income Tax in the light of Canons of Taxation. (Agra B A. & B Sc. 1951)
करारोपण के सिद्धान्तों को ध्यान मे रखते हुए, भारतीय आय कर के गुणों की व्याख्या कीजिये।

3. Write brief notes on three of the most productive taxes of the Indian Government. (Agra B A. & B Sc. 1948)
भारतीय सरकार के तीन सबसे अधिक उत्पादक करों पर सक्षेप नोट लिखिये।

4. Write a note on the position of Income Tax in the Indian Tax System (Agra B A. & B. Sc 1947)
भारतीय कर-प्रणाली मे आय-कर के स्थान पर एक नोट लिखिये।

5 What are the heads of Income and Expenditure of the Central and a Provincial Government in India Write an explanatory note on each of them. (Agra B A. & B Sc 1945)
केन्द्रीय तथा एक प्रान्तीय सरकार की आय तथा व्यय की मदों को बतलाइये तथा उनमे से प्रत्येक की व्याख्या कीजिये।

6. What are the main sources of Income and heads of Expenditure of the Union Government of India ? Write a critical note on any two of the items (Rajasthan 1951)
भारत सरकार के आय के साधन तथा व्यय की मदे क्या क्या हैं ? उनमे से किन्हीं दो पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये।

—: • :—

१०

भारत में राज्य अर्थ-प्रबन्ध

State Finances in India

भारतीय संविधान के अन्तर्गत राज्यो को निश्चित कार्य तथा अधिकार सौंप दिये गये है। प्रत्येक राज्य को कार्य सचालन की सुविधा दी गई है। कुछ विषय केन्द्र सरकार को दे दिये गये है तथा कुछ विषय राज्य सरकारो के लिये निश्चित कर दिये गये हैं। इन विषयो से सम्बन्धित कार्य करना राज्यो का उत्तरदायित्व है। राज्यो की आय के साधन भी केन्द्रीय सरकार की आय के साधनो से पृथक कर दिये गये है। संविधान के अनुसार राज्य सरकारो के द्वारा लगाये जाने वाले कर इस प्रकार है—मालगुजारी, कृषि आय पर कर, कृषि भूमि के उत्तराधिकार पर कर, भूमि तथा मकानो पर कर, खनिज अधिकारो पर कर, अफीम, शराब तथा अन्य नशीली वस्तुओ पर कर, स्थानीय क्षेत्र मे उपभोग के लिये आने वाली वस्तुओ पर कर, बिजली के उपभोग तथा बिक्री पर कर, बिक्री कर, अखबार विज्ञापन पर कर, व्यवसायो तथा व्यापार पर कर, विलासिताओ पर कर, स्टाम्प कर। राज्य सरकारो के व्यय की मदें भी लगभग सभी राज्यो मे एकसी हैं। संविधान मे जिन कार्यों को राज्य विषयो (State Subjects) के अन्तर्गत रक्खा गया है उन्हे पूरा करने के लिए व्यय करना राज्य सरकारो का उत्तरदायित्व है। राज्य सूची के अन्तर्गत मुख्यत. पुलिस, जेल, न्याय-प्रबन्ध, स्थानीय शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, सडकें, पुल, खेती, जगल, उद्योग, व्यापार आदि को रक्खा गया है। इन कार्यो से सम्बन्धित समस्त व्यय राज्य सरकारो को करना होता है। इसके अतिरिक्त कॉनकरेंट सूची (Concurrent List) में सम्मिलित कार्यों पर भी राज्य सरकारो को व्यय करना पड सकता है। राज्य सरकारो की व्यय की मुख्य मदे इस प्रकार है—(i) नागरिक शासन पर व्यय जिसके अन्तर्गत शासन, न्याय, जेल, पुलिस, शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, सहकारिता, उद्योग धन्धे आदि सम्मिलित हैं। (ii) कर प्राप्ति व्यय। (iii) सिंचाई। (iv) सूद। (v) सिविल निर्माण कार्य। (vi) बिजली योजनायें आदि।

पिछले कुछ वर्षों मे राज्य सरकारो की आय तथा व्यय की प्रवृत्तियो को अग्रलिखित तालिका द्वारा जाना जा सकता है—

राज्य सरकारों की आय

(लाख रुपयों में)

	१९५७—५८	१९५८—५९	१९५९—६०	१९६०—६१	१९६१—६२
कर-आय (Tax Revenue)					
आय पर कर	८,१४०	८,४५५	८,८८०	९,८८८	९,१६३
सम्पत्ति तथा पूंजीगत सौदों पर कर	१२,५४०	१३,२१४	१४,१००	१३,४६१	१५,१२८
वस्तुओं तथा सेवाओं पर कर	२६,५१८	३२,०३७	३४,७६२	३६,३११	३६,८६५
कुल कर आय	४७,१९८	५३,७०६	५७,७४२	६०,५६०	६१,१५६
गैर-कर आय (Non-Tax Revenue)					
नागरिक शासन	८,२०२	१०,४४९	१२,२६६	१४,२८३	८,२८१
सार्वजनिक व्यवसाय	४,२९३	३,९६९	४,३५५	४,६७४	५,४४३
अन्य आय	४,०४४	४,९५४	६,०१८	६,६११	६,३७४
अनुदान	७,४३४	८,१८१	१०,३१८	१४,९१८	२०,८८३
कुल गैर-कर आय	२३,९७३	२७,५५३	३२,९५७	४०,४८६	४०,९८१
कुल आय	७१,१७१	८१,२५९	९०,६९९	१०१,०४६	१०२,१३७

राज्य सरकारों का व्यय

(लाख रुपयों में)

शिक्षा	१३,०३६	१४,७२५	१७,०६०	१९,४८१	२१,९४५
स्वास्थ्य	५ १५७	५,७८५	६,७९६	८,२८६	९,२९५
कृषि तथा सहकारिता	४,६२३	५,१७५	६,२१०	६,८९६	८,२६७
सिंचाई	२,३७६	५,२४३	२,९४१	३,१५७	३,५५०
बिजली	८६१	७२६	५०१	५४७	१०७
सामुदायिक विकास	३,१७०	३,९०६	४,३३६	५,३५६	५,५५४
सार्वजनिक निर्माण	५,०१२	४ ४२०	५,५३३	७,०३७	७,३८०
उद्योग आदि	१,५३५	१ ८०४	२,०७३	२,२८४	२,७६८
अन्य विकास सम्बन्धी व्यय	२ ८३५	३,२२४	३,७४८	५,२०५	५,३८३
कुल विकास व्यय	३८,६०६	४२,३०८	४९,२२८	५८,२५०	६४,७४९
गैर-विकास सम्बन्धी व्यय	२९,७८३	३४,२०६	३७,७५२	४१,४३९	४०,९८७
कुल व्यय	६८,३८९	७६,५१४	८६,९८०	९९,६८९	१,०५,७३६
अतिरेक (Surplus) + या घाटा (Deficit) —	+२,७८२	+४,७४५	+३,७१९	+१,३८७	—३,५९९

उपरोक्त तालिका को देखने से पता चलता है कि पिछले वर्षों में राज्य-सरकारों की आय में निरन्तर वृद्धि हुई है। पिछले पाँच वर्षों में इनकी आय लगभग २१० करोड़ रुपए बढ़ गई है। इन्हें प्राप्त होने वाली कुल आय का अधिकांश कर साधनों से प्राप्त होता है किन्तु गैर-कर आय साधनों से प्राप्त होने वाली आय भी तेजी के साथ बढ़ी है। कर आय के साधनों में (i) सम्पत्ति तथा पूंजीगत सौदों पर कर तथा (ii) वस्तुओं एवं सेवाओं पर कर मुख्य हैं। गैर-आय साधनों में (i) नागरिक शासन तथा (ii) अनुदान मुख्य हैं। पिछले कुछ वर्षों में राज्यों को प्राप्त होने वाले अनुदान की मात्रा तेजी के साथ बढ़ी है जो इस बात को बतलाता है कि राज्यों की केन्द्रीय सरकार पर निर्भरता पहले की अपेक्षा अधिक होती जा रही है। इसका मुख्य कारण योजना सम्बन्धी व्यय है जो राज्यों को आर्थिक तथा सामाजिक विकास के कार्यों पर करना पड़ रहा है। राज्य सरकारों का व्यय भी काफी तेजी के साथ बढ़ा है। पिछले पाँच वर्षों में उनके व्यय में लगभग २७३ करोड़ रुपए की वृद्धि हुई है। शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि एवं सहकारिता, सामुदायिक विकास और सार्वजनिक निर्माण में बड़ी तेजी के साथ वृद्धि हुई। १९६१-६२ के बजट अनुमानों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अधिकांश व्यय शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि व सहकारिता, सार्वजनिक निर्माण व सामुदायिक विकास पर किया जा रहा है। राज्य सरकारों के व्यय में वृद्धि उनकी आय की वृद्धि की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ हुई है जिसके कारण उनका बजट अतिरेक (Budget surplus) निरन्तर कम होता जा रहा है और १९६०-६१ में राज्य सरकारों को ३६ करोड़ रुपए का घाटा रहने का अनुमान है।

उत्तर प्रदेश सरकार की आय के साधन

उत्तर प्रदेश भारत का सबसे बड़ा प्रदेश है और उसकी आय तथा व्यय की मदों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि विभिन्न राज्यों की आय तथा व्यय में पूर्ण समानता नहीं मिलती किन्तु फिर भी वह एक दूसरे से काफी मिलते हैं। लगभग एक ही प्रकार के साधनों से विभिन्न राज्यों में आय प्राप्त की जाती है और उनकी व्यय की मदें भी एक-सी हैं। इस प्रकार किसी भी बड़े राज्य की आय तथा व्यय का अध्ययन करके राज्य सरकारों की आय तथा व्यय के बारे में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

उत्तर प्रदेश सरकार की आय की मदें

(लाख रुपयों में)

आय की मदें	१९६१–६२	१९६२–६३ अनुमान
१. यूनियन उत्पत्ति कर	१२६३·६०	१४८१·४१
२. आय कर (कॉरपोरेशन कर के अतिरिक्त)	१५८४·९०	१३३९·००
३. मृत्यु कर	४८·९३	६३·००
४. रेल भाड़े पर कर	२३४·००	—
५. मालगुजारी (शुद्ध)	२१५३·१६	२२१४·६५
६. राज्य उत्पादन कर	७७८·११	७६६·१३
७. स्टाम्प	४२५·००	४३५·००
८. जगल	६५७·५३	६६२·२८
९. रजिस्ट्रेशन	७८·८५	७८·१७
१०. मोटर कर	३२५·३०	३४३·३०
११. बिक्री कर	१३५०·७५	१३७०·००
१२. अन्य कर	६६२·१६	७६६·८८
१३. सिंचाई	२२८·९६	१२९३·५२
१४. सूद	५३७·१६	१२६३·३६
१५. नागरिक शासन—न्याय, जेल, पुलिस, शिक्षा, चिकित्सा, स्वास्थ्य, कृषि, पशु चिकित्सा, सहकारिता, उद्योग	२३२१·५७	१२३८·८४
१६. विविध	२३५·३९	१४९८·४१
१७. सार्वजनिक निर्माण (*Civil Works*)	९२·३९	७१·८१
१८. केन्द्रीय सरकार से अनुदान इत्यादि।	२२३९·०२	२८०२·९४
१९. सामूहिक विकास	१·००	१·११
कुल आय	१५,२१७·७८	१७,७१९·८४

व्यय की मदें	१९६१–६२	१९६२–६३ अनुमान
१. कर प्राप्ति पर व्यय	११५७·४२	११६१·५६
२. सिंचाई	७९६·६४	१८८७·७५
३. सूद	१६७२·४४	२५५५·०३
४. नागरिक शासन		
(i) शासन	११२१·९४	१२५०·१९
(ii) न्याय	१८८·४१	२०२·३९
(ni) जेल	१६२·०८	१५७·०२
(iv) पुलिस	११६३·०७	११६५·९५
(v) वैज्ञानिक विभाग	१६·८९	२०·६०
(vi) शिक्षा	२३३०·४७	२५४९·१०
(vii) चिकित्सा	५३६·९८	५५९·८५
(viii) सार्वजनिक स्वास्थ्य	४४४·२७	४९८·१२
(ix) कृषि	४६८·१८	५०८·४२
(x) पशु चिकित्सा	२३६·०८	२५८·५८
(xi) सहकारिता	१९२·८२	२०८·९८
(xii) उद्योग धन्धे	६०८·६४	८६१·६५
(xiii) विविध विभाग	११९४·९३	१८३१·५२
५ सार्वजनिक निर्माण	७१३·३८	८३४·९४
६. विविध	१६२१·१६	१२५८·७४
७ असाधारण मदें–सामूहिक विकास इत्यादि	१०४१·१७	१००९·६७
कुल व्यय	१५,६६७·११	१८,८१०·०६
अतिरेक (Surplus) (+) घाटा (Deficit) (–)	–४४९·३३	–१०९०·३२

Note :—Figures taken from India 1962.

आय की मुख्य मदों का संक्षिप्त वर्णन—उत्तर प्रदेश सरकार की आय की मुख्य मदें निम्नलिखित हैं—

(१) मालगुजारी (Land Revenue)—यह कर भूमि पर लगाया जाता है। इसलिये इसे भूमि कर भी कहते हैं। भारतवर्ष मे बहुत प्राचीन समय से ही भूमि कर लगाने की व्यवस्था रही है। हिन्दू राजाओ के जमाने मे कुल उपज का १/६ से लेकर १/१२ भाग इस कर के रूप मे लिया जाता है और कर को प्रायः वस्तुओ के रूप मे वसूल किया जाता था। मुगल बादशाहो के काल मे भूमि कर रुपयो मे वसूल किया जाने लगा। ब्रिटिश सरकार ने इस कर मे कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किये जिनके आधार पर उसे आज तक वसूल किया जाता है।

भूमि कर राज्य सरकारो की आय का एक महत्वपूर्ण साधन है। सन् १९३९–४० मे उत्तर प्रदेश सरकार की आय का ५०% भाग मालगुजारी से प्राप्त किया गया। जमीदारी उन्मूलन के पश्चात सरकार की आय इस कर से बहुत अधिक बढ गई है। सन् १९६२–६३ मे सरकार को इस कर से २२·१५ करोड रुपया प्राप्त होने का अनुमान है। मालगुजारी से प्राप्त होने वाली आय का अधिकाश भाग जमीदारो को मावजा देने के लिये काम मे लाया जाता है। स्थाई बन्दोबस्त वाले राज्यो मे इस मद से प्राप्त होने वाली आय लगभग निश्चित रहती है किन्तु अस्थाई बदोबस्त वाले क्षेत्रो मे ६० या ४० साल की अवधि के पश्चात नया बंदोबस्त होता है जिसके कारण इस कर मे वृद्धि हो सकती है।

भूमि कर करारोपण के कुछ सिद्धातो को बहुत अच्छी प्रकार पूरा करता है—(i) यह कर निश्चित है—मालगुजारी की दरें एक बार बंदोबस्त के द्वारा निश्चित कर दी जाती हैं और फिर उनमे ३० या ४० साल तक कोई परिवर्तन नही होता है। इस प्रकार सरकार को इस कर से निश्चित आमदनी प्राप्त होती रहती है। सरकार और करदाता दोनो ही कर की मात्रा को जानते हैं, अतः भूमिकर निश्चितता के सिद्धांत के अनुकूल है। (ii) भूमि कर सुविधापूर्ण है–सुविधा की दृष्टि से भूमि कर को एक अच्छा कर कहा जाता है। किसानो के लिए इस कर का भुगतान करना सुविधाजनक होता है क्योकि कर फसल कटने के मौके पर लिया जाता है। कर को एक साथ अथवा किस्तो मे भी दिया जा सकता है। कभी कभी सरकार इस कर को वस्तुओ के रूप मे देने की सुविधा भी दे देती है। (iii) यह कर मितव्ययिता पूर्ण है—क्योकि इसे एकत्रित करने पर सरकार को अधिक व्यय नही करना पडता है। जमीदारी उन्मूलन से पूर्व कर इकट्ठा करने का व्यय कुल आय का लगभग १५% आता था किन्तु अब बढ़ कर २८% हो गया है जिसके कारण अब इस कर को अधिक मितव्ययिता पूर्ण नही कहा जा सकता।

दोष—भूमि कर मे उपरोक्त गुणों के होते हुए भी कुछ ऐसे दोष हैं जिनके कारण इस कर का अधिक पसन्द नही किया जाता है। कर के कुछ प्रमुख दोष इस

ार हैं—(i) लोच का अभाव—इस कर मे लोच का गुण बिल्कुल नही पाया जाता कि कर से प्राप्त आय को आसानी के साथ घटाना बढाना सभव नही होता। वल नये बंदोबस्त के द्वारा ही इसमे वृद्धि हो सकती है जो काफी लम्बे समय के पश्चात किया जाता है। (ii) यह कर समता के सिद्धान्त को सन्तुष्ट नहीं करता। कर लगाते समय किसानो की कर दान क्षमता को ध्यान मे नही रक्खा जाता जिसके कारण इस कर को न्यायपूर्ण नही कहा जा सकता। (iii) उत्पादक नहीं है—भूमि कर से सरकार को बढती हुई आय प्राप्त नही होती। कर की दरें निश्चित होने के कारण, भूमि से उपज बढने पर भी सरकार को उतनी ही आय प्राप्त होती रहती है। (iv) कर का भार अमीरों की अपेक्षा गरीब लोगो पर अधिक पड़ता है। भूमि कर सभी लोगो पर एक दर से लगाया जाता है जिसके कारण वह कर प्रतिगामी (Regressive) हो जाता है। इनमे से अधिकांश दोष कृषि आय कर (Agricultural Incom Tax) लगाने से काफी सीमा तक दूर हो गये हैं।

(२) राज्य आबकारी कर (State Excises)—राज्य सरकारो को शराब, भाँग, गाजा, चरस आदि नशीली वस्तुओ पर कर लगाने का अधिकार है। इस कर का उद्देश्य आय प्राप्त करना न होकर इन हानिकारक वस्तुओ के प्रयोग को कम करना है। किन्तु फिर भी आबकारी कर राज्य सरकारो की आय का एक महत्वपूर्ण साधन है। इन मादक वस्तुओ के विक्रेताओ को सरकार से लाइसेंस (Licence) प्राप्त करना होता है जिसके लिये उन्हे सरकार को काफी रकम लाइसेंस शुल्क (Licence fee) के रूप मे देनी पडती है। उत्तर प्रदेश सरकार को इस मद से काफी आय प्राप्त होती रही है। किन्तु मद्य-निषेध की नीति के कारण अब यह आय कम होती जा रही है। सन् १९६२–६३ मे उत्तर प्रदेश सरकार को आबकारी कर से ७.६ करोड रुपये की आय प्राप्त होने की आशा है।

(३) स्टाम्प कर (Stamp duty)—उत्तर प्रदेश सरकार को स्टाम्प कर से १९६२–६३ मे ४.३ करोड रुपये की आय प्राप्त होने की आशा। यह कर दो प्रकार का होता है—(i) न्यायिक मुद्रांक कर (Judicial Stamp Duty) जो माल तथा फौजदारी के मुकदमे लडने के लिये लिया जाता है। (ii) व्यापारिक मुद्रांक कर (Commercial Stamp Duty) जो व्यापारिक पत्रों (विनिमय पत्रो, प्रतिज्ञा पत्रो तथा प्रसंविदा पत्रो) आदि के सम्बन्ध में लिया जाता है।

स्टाम्प कर करारोपण के कुछ सिद्धांतो को सतुष्ट करता है। यह कर सुविधा-पूर्ण तथा मितव्ययी है। इस कर को देते समय कर-दाताओ को असुविधा नही होती। निश्चितता (Certainty) की दृष्टि से भी इस कर को अच्छा कहा जा सकता है क्योकि कर-दाता को यह पता रहता है कि उसे कितना कर देना है। इस कर मे कुछ दोष भी पाये जाते है—(i) स्टाम्प कर व्यापार, उद्योग तथा सम्पत्ति के हस्तान्तरण में बाधायें उत्पन्न करता है। (ii) न्याय की दृष्टि से यह कर उचित नही है क्योकि इसे तब लिया जाता है जब लोग अपनी सम्पत्ति को बेचते हैं और सम्पत्ति प्राय-

मुसीबत के समय वेची जाती है। इन दोपो के होते हुए भी इस कर को आय का अच्छा साधन माना जाता है।

(४) रजिस्ट्रेशन (Registration)—उत्तर प्रदेश सरकार को रजिस्ट्रेशन मे १९६२–६३ मे ७८·१७ लाख रुपये की आय प्राप्त होने की आशा है। इस मद से सरकार की आमदनी बढ रही है। सन् १९५५–५६ मे इससे केवल २८·८ लाख रुपये की आमदनी प्राप्त हुई थी। रजिस्ट्रेशन फीस आवश्यक कागजो का रजिस्ट्रेशन कराने के लिये ली जाती है। हमारे देश में कुछ ऐसे प्रलेख हैं जिनका रजिस्ट्रेशन कराना आवश्यक होता है। रजिस्ट्रेशन कराने से इन कागजो के सम्बन्ध में भविष्य में की जाने वाली अदालती कार्यवाही अधिक मजबूत हो जाती है।

(५) बिक्री कर (Sales Tax)—यह कर वस्तुओं की बिक्री पर लगाया जाता है और इसे अधिकाश रूप मे दुकानदारो से वसूल किया जाता है। भारतवर्ष मे यह कर सर्वप्रथम १९३७ मे लगाया गया। उत्तर प्रदेश मे बिक्री कर आरम्भ १९४८ मे किया गया। यद्यपि आरम्भ मे इस कर से बहुत अधिक आमदनी नही होती थी किन्तु अब यह राज्य सरकार की आय का महत्त्वपूर्ण साधन बन गया है। सन् १९५३–५४ मे इस कर से केवल ५·६ करोड रुपये की आय प्राप्त हुई थी किन्तु १९६२–६३ मे बिक्री कर से प्राप्त होने वाला आय का अनुमान १३·७ करोड रुपया है। यद्यपि इस कर को अधिक अच्छा कर नही समझा जाता किन्तु फिर भी उत्पादकता की दृष्टि से इसका प्रयोग राज्य सरकारो के द्वारा किया जाता है।

बिक्री कर मे अनेको दोप पाये जाते है जिनमे से प्रमुख इस प्रकार हैं—(i) यह कर प्रतिगामी (Regressive) है—सभी लोगो से कर एक ही दर से लिया जाता है जिसके कारण कर का भार गरीब लोगो पर बहुत अधिक पडता है तथा अमीर लोगो पर कम। इस दोप को दूर करने के लिये आवश्यक है कि कर केवल ऐसी वस्तुओ पर लगाया जाय जिनका प्रयोग अधिकाश रूप से निर्धन वर्ग के लोगो के द्वारा न किया जाता हो। (ii) इस कर मे दोहरे करारोपण (Duble Taxation) की सम्भावना अधिक है—बिक्री कर से सम्बन्ध मे यह सम्भव है कि एक ही वस्तु पर दो या दो से अधिक बार कर देना पड जाय। (iii) व्यापारियों के लिये असुविधापूर्ण है—बिक्री कर को सुविधा की दृष्टि से अच्छा कर नही कहा जा सकता क्योंकि व्यापारियों को प्रत्येक ग्राहक से कर वसूल करना होता है जिसके कारण हिसाब-किताब का काम काफी बढ जाता है। (iv) व्यापारी इस कर से आसानी के साथ बच जाते है—व्यापारियो के हिसाब-किताब की ठीक जाँच करना सम्भव नही होता। व्यापारी प्राय दो प्रकार के हिसाब रखते है और झूठा हिसाब दिखला कर इस टैक्स से बच जाते हैं। कर अपवचन के कारण सरकार को बडी हानि उठानी पडती है। (iv) बिक्री कर मितव्ययितापूर्ण भी नहीं है क्योंकि इसे एकत्रित करने मे सरकार को अधिक व्यय करना पडता है।

इन दोपो के होते हुये भी बिक्री कर मे कुछ ऐसे गुण पाये जाते है जिनके कारण राज्य सरकारे इस कर को छोड़ने के लिये तैयार नही है। इस कर के कुछ

गा इस प्रकार हैं—(i) ग्राहकों को कर देने में कोई असुविधा नहीं होती—कर देते समय वे यह महसूस भी नहीं करते हैं कि उनसे कर के रूप में कुछ लिया जा रहा है। (ii) इस कर से सरकार को काफी आमदनी प्राप्त होती है—राज्य सरकारों की आय का यह एक अच्छा साधन है और उनके बढ़ते हुये व्यय को पूरा करने में बड़ी *सहायता देता है। बिक्री कर की उत्पादकता उसका सबसे बड़ा गुण है जिसके कारण* वह अधिक प्रचलित होता जा रहा है। (iii) सरकार को कर एकत्रित करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। व्यक्तिगत उपभोक्ताओं से कर दुकानदार इकट्ठा करते हैं और सरकार उसे केवल व्यापारियों से वसूल करती है।

करारोपण जांच आयोग (Taxation Enquiry Commission) ने बिक्री कर के दोषों को दूर करने तथा कर अपवचन की सम्भावना को कम करने के लिये महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। आयोग के विचार से बिक्री कर एक-बिन्दु कर (Single Point Tax) तथा बहु-बिन्दु कर (Muliple Point Tax) दोनों ही रूप में *लगाया* जाना चाहिये। सभी वस्तुओं पर नीची दर से बहु-बिन्दु कर लगाया जाना चाहिये। तथा छूट बहुत कम दी जानी चाहिये। कुछ निश्चित वस्तुओं पर ऊँची दर से एक बिन्दु कर लगाया जाना चाहिये। आयोग के विचार में कर को कम आय वाले वर्गों तक पहुंचाना आवश्यक है क्योंकि तब ही विकास योजनाओं के लिये राज्य सरकारें पर्याप्त धन प्राप्त कर सकेंगी किन्तु इस वर्ग पर कर का भार कम से कम रक्खा जाना चाहिये और इसके साथ ही धनी वर्ग पर बिक्री कर का भार अधिक होना चाहिये। *जिन वस्तुओं का प्रयोग निर्धन व्यक्ति करते है उन पर एक-बिन्दु कर नहीं* लगाना चाहिये तथा बिलासिता की वस्तुओं पर एक-बिन्दु कर काफी ऊंची दर से लगाया जाना चाहिये। आयोग ने सिफारिश की है कि ५००० रुपये वार्षिक से अधिक बिक्री वाले सभी व्यापारियों पर बहु-बिन्दु बिक्री कर लगाया जाय किन्तु उसकी दर ½ प्रतिशत या लगभग १ पाई प्रति रुपया से अधिक नहीं होनी चाहिये। आयोग ने यह भी सिफारिश की है कि अपवचन को रोकने तथा कर की दर को नीचा रखने के लिये यह आवश्यक है कि बिक्री कर से छूट के क्षेत्र को सीमित रक्खा जाय। इसके *अतिरिक्त आयोग ने बिक्रेताओं तथा बिक्री कर विभाग के झगड़ों को निबटाने* के लिये सभी राज्यों में बिक्री कर न्यायालयों (Sales Tax Tribunals) की स्थापना का सुझाव दिया है। इन सुझावों को कार्य रूप में लाने से बिक्री कर प्रणाली में काफी *सुधार हो जाने की सम्भावना है।*

(६) मनोरंजन कर (Entertainment Tax)—मनोरंजन कर बिलासिता के साधनों पर लगने वाला कर है जिसका भार धनी व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है। यह कर सर्वप्रथम बंगाल में १९२२ में लगाया गया था। उत्तर प्रदेश में इसका आरम्भ सन् १९३८-३९ में हुआ। यह कर सिनेमा, थियेटर, सरकस, घुड़दौड़ तथा अन्य प्रकार के मनोरंजन गृहों पर लगाया जाता है। कर को प्रवेश शुल्क के साथ टिकट की रकम में जोड़ दिया जाता है। स्वास्थ्य, शिक्षा, कृषि विकास, धर्म आदि

से सम्बन्धित मनोरंजन को इस प्रकार के कर से मुक्त कर दिया जाता है। महायतार्थ किये जाने वाले मनोरजन भी इससे मुक्त कराये जा सकते हैं। मनोरजन कर से उत्तर प्रदेश सरकार को काफी आमदनी प्राप्त होती है। इस कर में निश्चितता, सुविधा तथा मितव्ययिता के गुण पाये जाते हैं।

उक्तलिखित करों के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश सरकार की आय के कुछ अन्य साधन भी हैं जिसमे सार्वजनिक व्यवसाय प्रमुख है। इसके अन्तर्गत सरकार को जगल, सिंचाई तथा सरकारी कारखानो से आय प्राप्त होती है। नागरिक शासन से भी सरकार को काफी आय प्राप्त होती है। मोटर कर, सार्वजनिक निर्माण तथा कुछ नये कर जैसे विकास कर आदि भी सरकार की आय के श्रोत हैं।

उत्तर प्रदेश सरकार की व्यय की मदे

हमारी राज्य सरकार किस प्रकार अपनी आय को आवश्यक सेवाओ को चलाने तथा जनता की भलाई के लिये व्यय करती है, इसका अनुमान व्यय की प्रमुख मदो के विश्लेषण के द्वारा लगाया जा सकता है। उत्तर प्रदेश सरकार की व्यय की प्रमुख मदे इस प्रकार हैं—

(१) कर प्राप्ति पर व्यय—राज्य सरकार को विभिन्न करो की वसूली पर काफी व्यय करना पडता है। यह व्यय राजस्व पर प्रत्यक्ष माग (Direct Demand on Revenue) के अन्तर्गत आता है। मालगुजारी, कृषि आय कर, बिक्री कर, मनोरजन कर, आबकारी कर तथा अन्य करो को वसूल करने के लिये सरकार को अनेको कर्मचारी रखने होते हैं तथा कर वसूली के लिये सम्पूर्ण व्यवस्था करनी होती है। इस पर सरकार का काफी व्यय होता है जिसकी प्राय आलोचना की जाती है। सरकार को चाहिये कि वह कर प्राप्ति पर अपने व्यय को कम से कम रक्खे जिससे कि प्राप्त होने वाली रकम का अधिकाश राष्ट्र निर्माण के कामो मे लगाया जा सके। इसके लिये आवश्यक है कि कर प्रणाली सरल व साधारण होनी चाहिये तथा प्रशासन की कुशलता मे वृद्धि की जानी चाहिये। सन् १९५५–५६ मे उत्तर प्रदेश सरकार ने इस मद पर ८·८ करोड रुपया व्यय किया था। सन् १९६२–६३ मे कर प्राप्ति पर लगभग १२ करोड रुपये के व्यय का अनुमान है।

(२) नागरिक प्रशासन (Civil Administration)—राज्य के द्वारा सामान्य प्रशासन (General Administration) पर किया जाने वाला व्यय इस मद के अन्तर्गत आता है। न्याय, जेल, पुलिस, शिक्षा, स्वास्थ्य, सहकारिता, कृषि, उद्योग धन्धो आदि पर किया जाने वाला व्यय उत्तर प्रदेश सरकार के कुल व्यय का एक महत्वपूर्ण भाग है। दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व इस पर सरकार की आय का ३० प्रतिशत व्यय किया जाता था किन्तु अब सार्वजनिक विकास तथा कल्याण सेवाओ के विस्तार के कारण इस मद पर किया जाने वाला व्यय तेजी के साथ बढ रहा है और कुल आय का लगभग ५० प्रतिशत नागरिक प्रशासन पर व्यय किया जाने लगा है। सन् १९६२–६३ मे इस मद पर लगभग १०१ करोड़ रुपया व्यय किये जाने का

अनुमान है जो कुल व्यय का लगभग ५४ प्रतिशत है। इसमें सबसे अधिक व्यय शिक्षा पर किया जाता है।

(३) सार्वजनिक निर्माण (Civil Works)—राज्य सरकार सार्वजनिक निर्माण के कामों पर भी काफी व्यय करती है। यह कार्य सार्वजनिक विभाग (P. W. D. Department) के द्वारा किया जाता है। इसके अन्तर्गत सड़कों, पुलों, सरकारी दफ्तरों तथा मकानों आदि के निर्माण पर किया जाने वाला व्यय आ जाता है। इस मद पर भी सरकार का व्यय काफी बढ़ गया है। सन् १९६२–६३ में सार्वजनिक निर्माण पर लगभग ८३४ लाख रुपया व्यय किये जाने का अनुमान है।

इन मदों के अतिरिक्त राज्य सरकार को ऋणों तथा ब्याज के भुगतान पर भी काफी रुपया व्यय करना पड़ता है। असाधारण मदों के अन्तर्गत जिसमें सामूहिक विकास (Community development) प्रमुख है, सरकार का व्यय बढ़ता जा रहा है। सन् १९६२–६३ में इस मद पर १ करोड़ रुपए से अधिक व्यय करने का अनुमान है।

राज्य अर्थ-प्रबन्ध में सुधार के सुझाव

राज्य अर्थ-प्रबन्ध में सुधार करने के लिए प्रमुख आवश्यकता इस बात की है कि राज्य सरकारों की आय में वृद्धि की जाय। लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए तथा विकास योजनाओं को सफलतापूर्वक पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य सरकारें आय के अधिक से अधिक साधनों का पूर्ण शोषण करें और अपनी बढ़ी हुई आमदनी को आर्थिक तथा सामाजिक विकास के नए उत्तरदायित्व को पूरा करने में लगायें। राज्य सरकारों की आय में वृद्धि करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं —

(१) राज्य सरकारों को अपने क्षेत्रों से प्राप्त आय कर को प्रयोग करने का अधिकार मिलना चाहिए। इसके अन्तर्गत औद्योगिक प्रान्तों का आय कर में अधिक हिस्सा होना चाहिए क्योंकि उनके क्षेत्रों से अधिक आय कर प्राप्त होता है। राज्य सरकारों को आय कर पर कुछ अतिरिक्त कर (Super tax) लगाने का अधिकार भी दिया जाना चाहिए।

(२) राज्य सरकारों को कृषि आय कर का अपनी आय बढ़ाने के लिए अधिक से अधिक प्रयोग करना चाहिए। अभी तक इस साधन का पूर्ण शोषण नहीं किया जा रहा है और इससे प्राप्त होने वाली आय बहुत कम है। इसमें काफी वृद्धि की जा सकती है।

(३) उत्पादन कर में राज्यों को अधिक हिस्सा मिलना चाहिए। विशेष कर उन राज्यों का हिस्सा उत्पादन कर में बढ़ जाना चाहिए जिनके क्षेत्रों से अधिक उत्पादन कर प्राप्त होता है।

(४) राज्य सरकारों को बिक्री कर की व्यवस्था में सुधार करके अपनी आय बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। कर अपवचन को रोकने की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

(५) राज्यों को सार्वजनिक उद्योगो से अपनी आय बढानी चाहिये। इसके लिये उन्हे अधिकाधिक उद्योग अपने हाथों मे लेने चाहियें तथा उन्हे अधिक कुशलता-पूर्वक चलाना चाहिये।

(६) विलासिता की वस्तुओ पर विशेष तथा ऊंचे कर लगा कर राज्य सरकारों को अपनी आय मे वृद्धि करनी चाहिए तथा कर के भार के असमान वितरण को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(७) आय मे वृद्धि करने के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि राज्य सरकारें अपने अनुत्पादक व्यय को कम से कम रक्खे जिससे कि राष्ट्र निर्माण के कामो पर अधिक व्यय किया जा सके। विशेषकर कर वसूली पर किये जाने वाले व्यय को तथा प्रशासन सम्बन्धी व्यय को कम से कम रक्खा जाना चाहिए।

परीक्षा प्रश्न

1. Give a brief account of the revenues and expenditure of Uttar Pradesh or any other class A state of India. The account and figures must be of the latest year. (Agra B. A. 1955)

   उत्तर प्रदेश सरकार या भारत के किसी अन्य 'अ' श्रेणी के राज्य की आय तथा व्यय का संक्षिप्त वर्णन कीजिये। आंकड़े वर्तमान वर्ष के दीजिये।

2. What are the main sources of revenue of the U. P. Government? Discuss the position of Income Tax, Sales Tax and Land Revenue in it. (Agra B. A. 1953)

   उत्तर प्रदेश सरकार की आय के मुख्य साधन क्या हैं? इनमें आय कर, बिक्री कर तथा मालगुजारी के महत्व को बतलाइये।

3. What are the main sources of income of state governments in India? How far are these adequate? Suggest some new sources of income for the state governments. (Raj. B. A. 1953)

   भारतवर्ष में राज्य सरकारों की आय के मुख्य साधन क्या हैं? वे कहां तक पर्याप्त हैं? राज्य सरकारों की आय के कुछ नये साधनों का सुझाव दीजिये।

4. What are the financial relations between the Provincial and the Central government of India? Are Provincial revenues adequate to meet provincial needs? Suggest some remedies. (Agra B. A. 1941)

   भारत के केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों के वित्त सम्बन्धों की व्याख्या कीजिये। क्या प्रान्तीय सरकारों की आय उनकी आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त है। सुधार के कुछ उपाय बतलाइये।

— :o: —

११

भारत में सार्वजनिक ऋण

Public Debt in India

सार्वजनिक ऋण वह ऋण होता है जो सरकार के द्वारा लिया जाता है। यह ऋण (i) आन्तरिक तथा (ii) विदेशी हो सकता है। आन्तरिक ऋण वह ऋण होता है जो सरकार देश के भीतर अपने नागरिकों से लेती है। इसके विपरीत विदेशी ऋण वह होता है जो सरकार के द्वारा विदेशों में व्यक्तियों, सरकारों अथवा संस्थाओं से लिया जाता है। प्राय. सरकार की आय उसके व्यय को पूरा करने के लिए अपर्याप्त होती है और सरकार को ऋण लेकर अपना काम चलाना पड़ता है। कोई भी सरकार अपने समस्त व्यय को अपनी सामान्य आमदनी से पूरा नहीं कर सकती इसलिये प्रत्येक सरकार पर सार्वजनिक ऋण का कुछ न कुछ भार अवश्य होता है। वर्तमान काल में सरकारों को कल्याणकारी राज्यों की स्थापना करने के उद्देश्य से समाज सेवाओं पर काफी बड़ी मात्रा में व्यय करना पड़ता है। आर्थिक विकास की योजनाओं पर भी सरकारों को बहुत अधिक धन व्यय करना होता है। इन्ही कारणों से वर्तमान सरकारों का व्यय उनकी आय की अपेक्षा बहुत अधिक रहता है और इस कमी को प्राय: सार्वजनिक ऋणों के द्वारा पूरा किया जाता है। सरकारों को युद्ध आदि के आकस्मिक व्यय को पूरा करने के लिये भी बड़ी मात्रा में ऋण लेना पड़ता है।

अन्य सरकारों की भांति भारत सरकार पर भी ऋण का काफी भार है और आर्थिक विकास पर भारी मात्रा में किये जाने वाले व्यय के कारण सार्वजनिक ऋण का यह भार निरन्तर बढ़ता जा रहा है किन्तु भारत सरकार के ऋणों के सम्बन्ध में सबसे सन्तोषजनक बात यह है कि इसमें से अधिकांश ऋण उत्पादक कार्यों के लिए लिया गया है। ऋणों से निर्मित आदेयों (Assets) से होने वाली आय उससे बहुत अधिक होती है जितना कि ऋण पर ब्याज दिया जाता है और इस प्रकार के उत्पादक ऋणों का भार-धीरे धीरे कम होता जाता है। रेलों, नहरों तथा अन्य उत्पादक योजनाओं में लगी हुई ऋणों की रकम का दीर्घकाल में इनकी आय के द्वारा भुगतान हो जाता है और सरकार पर इन ऋणों के भुगतान का कोई विशेष भार नहीं पड़ता।

भारत में लोक ऋण का विकास :

भारतवर्ष मे लोक-ऋण का प्रारम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय से होता है। प्रारम्भ मे कम्पनी को अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए अनेको लड़ाइयाँ लडनी पडी जिसके व्यय को पूरा करने के लिए कम्पनी को इङ्गलैंड मे ऋण लेने पड़ते थे। सन् १७९२ मे कम्पनी का कुल ऋण १७० लाख पौंड था जो १८३४ मे बढ कर ३७० लाख पौंड हो गया। इसके तुरन्त बाद कम्पनी ने एक ऋण-शोधन-कोष (Debt Redemption Fund) स्थापित कर दिया और इस ऋण को घटाने का प्रयत्न किया गया किन्तु यह ऋण बढता ही गया और सन् १८५६ मे बढ कर ४६० लाख पौंड हो गया। १८५७ मे ब्रिटिश सरकार को भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम को दबाने के लिए काफी उडी मात्रा मे व्यय करना पड़ा जिसके कारण १८६० मे सरकार पर ऋण की मात्रा १००० लाख पौंड हो गई। भारत का शासन ब्रिटिश सम्राट के हाथो मे आ जाने के पश्चात् भारत मे लोक-ऋण का स्वरूप बदल गया। अब ब्रिटिश सरकार उत्पादक कार्यों के लिए ऋण लेने लगी और रेलो, नहरों, डाक तार के विकास आदि कार्यों पर बडी मात्रा मे व्यय किया गया जिसके कारण उत्पादक ऋण की मात्रा काफी बढ गई। प्रथम महायुद्ध से पूर्व सरकार ने अपने अनुत्पादक ऋण को कम से कम करने का प्रयत्न किया जिसके परिणामस्वरूप वह घट कर केवल ३ करोड रुपये हो गया। प्रथम युद्ध काल मे भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार को १० करोड रुपये की भेंट दी तथा युद्धोत्तर काल मे सरकार को बजट मे घाटा रहने लगा जिसके कारण ऋण की मात्रा फिर बढने लगी। सन् १९२४ मे अनुत्पादक ऋण बढ कर २५८ करोड रुपये तथा उत्पादक ऋण ७०० करोड रुपये हो गया। प्रारम्भ में सरकार केवल लन्दन के मुद्रा बाजार में ऋण लिया करती थी किन्तु युद्ध-काल मे इङ्गलैंड मे ऋण नही लिया जा सका और सरकार ने भारत के मुद्रा बाजार मे ऋण लेना आरम्भ किया जिसमे उसे काफी सफलता मिली। युद्ध के पश्चात् आर्थिक अवसाद काल मे बजट के घाटे को पूरा करने के लिये सरकार को काफी मात्रा मे नया ऋण लेना पड़ा जिसके कारण सन् १९३४ मे भारत सरकार का कुल ऋण उत्पादक तथा अनुत्पादक बढ कर १,२२४ करोड़ रुपये हो गया।

दूसरा विश्वयुद्ध आरम्भ होने के समय भारत का लोक-ऋण १२०५·७६ करोड़ रुपये था। युद्ध-काल मे सरकार को काफी बड़ी मात्रा मे व्यय करना पड़ा और बजट के घाटो को पूरा करने के लिये सरकार को बहुत बड़ी मात्रा मे ऋण लेना पडा जिसके कारण १९५२–५३ मे लोक-ऋण की मात्रा बढकर २६७५·६ करोड़ रुपये हो गई जो युद्ध के पूर्व की ऋण की रकम से लगभग दुगनी थी। इसमे उत्पादक ऋण १९५५·२५ करोड़ तथा अनुत्पादक ऋण ५७८ करोड़ रुपये था।

भारत के स्टर्लिंग ऋण का परिशोध (Redemption of the Sterling Debt of India)—युद्ध से पूर्व का अधिकांश भारतीय लोक-ऋण स्टर्लिंग के रूप में था। सनु १९३९ मे भारत का स्टर्लिंग ऋण ४६४·९४ करोड रुपये था। युद्धकाल

में कुछ ऐसी विशेष परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई जिनके कारण भारत सरकार ने अपने स्टर्लिंग ऋण के अधिकांश को चुका दिया। युद्ध काल में भारत से बहुत सामान इङ्गलैंड को निर्यात किया गया तथा भारत में किये जाने वाले युद्ध व्यय का भुगतान ब्रिटिश सरकार ने स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में किया जिसके कारण इङ्गलैंड में भारत की स्टर्लिंग निधि (Sterling Balances) जमा हो गई। भारत सरकार ने इस स्थिति से लाभ उठाया और अपनी स्टर्लिंग निधि का प्रयोग स्टर्लिंग ऋणों को चुकाने के लिये करना आरम्भ कर दिया। इसके परिणामस्वरूप भारत का स्टर्लिंग ऋण ४६४ ६४ करोड रु० से कम होकर १९४४-४५ में केवल ३४·१९ करोड रुपये रह गया। इस प्रकार भारत एक ऋणी देश के स्थान पर ऋणदाता देश बन गया।

युद्धोत्तर काल में लोक ऋण :

मार्च सन् १९४७ में भारत का कुल लोक-ऋण २३८१·८९ करोड़ रुपये था। देश का विभाजन होने पर लोक-ऋण का बटवारा भी किया गया और ३०० करोड रुपया पाकिस्तान के हिस्से में आया जिसका भुगतान पाकिस्तान सरकार ने ३% ब्याज की दर से ५० अंशों में करने का वचन दिया। इन अंशों का भुगतान सन् १९५२ से आरम्भ होना था। युद्ध से पूर्व सरकार प्रायः अल्पकालीन ऋण (Floating Debt) लिया करती थी किन्तु युद्ध के पश्चात् सरकार ने दीर्घकालीन ऋण लेने आरम्भ कर दिये। सन् १९५० के पश्चात् पचवर्षीय योजनाओं के लिए लिये जाने वाले ऋणों के कारण इस प्रवृत्ति को और अधिक बल मिला। अल्पकालीन ऋणों का प्रयोग विकास योजनाओं के लिए नहीं किया जा सकता था किन्तु सरकार की नीति-परिवर्तन के कारण यह दोष दूर हो गया और भारत सरकार की ऋण नीति ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा जैसे प्रगतिशील देशों की ऋण-नीति के अनुकूल हो गई है।

भारत में लोक-ऋण की प्रगति

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	रुपया ऋण	विदेशी ऋण	कुल ऋण
१९३९	७१०	४६९	१,१७९
१९४५	१,५७१	३८	१,६०९
१९५०	२,४६३	४३	२,५०६
१९५५	२,८४४	१३३	२,९७७
१९५८	४,११२	२११	४,३२३
१९६०—६१	५,४५५·०३	८,५·५७	६,२८०·६०
१९६१—६२	५,९२५४९	११८४·६४	७,११०·१३

उपरोक्त तालिका से पता चलता है कि भारतवर्ष मे १६५० के पश्चात लोक ऋण मे तेजी के साथ वृद्धि हुई है, सन् १६५० मे लोक ऋण की कुल मात्रा २५०६ करोड रुपये थी और सन् १६६१–६२ मे यह बढ कर ७११० करोड़ रुपये हो गई। इस काल मे आन्तरिक तथा विदेशी दोनो प्रकार के ऋणो मे वृद्धि हुई है, किन्तु विदेशी ऋणो की मात्रा अधिक तेजी के साथ बढी है जिसका मुख्य कारण विकास योजनाओ पर किया जाने वाला व्यय है।

पच-वर्षीय योजनाये तथा लोक-ऋण :

भारत मे पचवर्षीय योजनाओ पर किये जाने वाले व्यय का काफी बडा भाग लोक-ऋण से प्राप्त किया जा रहा है। यही कारण है कि पिछले दस वर्षों मे हमारे लोक-ऋण मे बड़ी तेजी के साथ वृद्धि हुई है। प्रथम पचवर्षीय योजना मे ५२० करोड रुपया आन्तरिक ऋणो से प्राप्त किया जाना था जिसमे से ११५ करोड रुपया आन्तरिक ऋणो से, २६० करोड अल्प बचत तथा ११५ करोड अन्य साधनो से प्राप्त किया जाना था। यह रकम योजना पर किये जाने वाले कुल व्यय का २५% थी। प्रथम योजना काल मे वास्तविक ऋण केवल ३६० करोड रुपये का ही लिया जा सका। इस काल मे विदेशी ऋणों मे ८६ करोड रुपये की वृद्धि हुई।

दूसरी योजना मे जनता से ऋण लेने का लक्ष्य १२०० करोड़ रुपए रक्खा गया जिसमे से ७०० करोड रुपया ऋणो मे तथा ५०० करोड रुपया अल्प बचत से प्राप्त किया जाना था। इस योजना काल मे अल्प बचत पर विशेष जोर दिया गया जिससे प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र निर्माण कार्य मे अपनी योग्यता के अनुसार सहयोग दे सके। बचत को प्रोत्साहित करने के लिये १ अप्रैल १६६० से इनामी बाड्स की योजना जारी की गई। सम्पूर्ण प्रयत्न करने पर भी अल्प बचत का निश्चित लक्ष्य प्राप्त नही किया जा सका और योजना काल मे केवल ४०० करोड रुपया अल्प बचत से प्राप्त हुआ।

तीसरी योजना मे ८०० करोड रुपए का ऋण बाजार से लिये जाने का लक्ष्य रक्खा गया है इसके अन्तर्गत इनामी बॉड स्कीम से प्राप्त होने वाला रुपया भी सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त ६०० करोड रुपया अल्प बचत से प्राप्त करने का लक्ष्य रक्खा गया है।

भारत का विदेशी ऋण :

आरम्भ से ही भारत सरकार को युद्ध व्यय को पूरा करने तथा रैलो आदि के निर्माण के लिये लन्दन के मुद्रा बाजार से स्टर्लिंग ऋण लेना पडता था जिसके कारण भारत पर स्टर्लिंग ऋण की मात्रा निरन्तर बढती गई। सन् १६३६ मे भारत का स्टर्लिंग ऋण ४६६.६४ करोड रुपए था किन्तु युद्ध काल मे दशाये अनुकूल हो जाने के कारण सरकार ने अधिकाश ऋण को चुका दिया। सन् १६५५–५६ में हमारा स्टर्लिंग ऋण घट कर केवल २२.६१ करोड रुपए रह गया किन्तु इसके पश्चात् युद्ध और नया ऋण लिये जाने के कारण स्टर्लिंग ऋण की मात्रा बढकर ३१ मार्च १६६१

को १२२·५० करोड रुपये हो गई। इस काल मे भारत का डॉलर ऋण भी तेजी के साथ बढा है। ३१ मार्च १६५०–५१ को डॉलर ऋण की मात्रा २४·६० करोड़ रुपए थी, ३१ मार्च १६६१ को यह बढ़कर ५२१·४० करोड रुपए हो गई। डॉलर ऋण मे वृद्धि का मुख्य कारण आर्थिक विकास के लिए लिए जाने वाले ऋण थे। इनमे से अधिकाश ऋण अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ तथा अमरीकन सरकार से लिये गये हैं। रूस तथा पश्चिमी जर्मनी से लिए गए ऋणों की मात्रा १६६०–६१ के अन्त मे ६१·५३ करोड रुपए तथा १०८·१७ करोड़ रुपए थी। विदेशी ऋण भारत के आर्थिक विकास मे महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनकी सहायता से ही भारत आर्थिक निर्माण के लिये पूंजीगत वस्तुयें तथा कच्चा माल प्राप्त कर रहा है। भारत के विदेशी ऋणो की मात्रा योजना काल मे बडी तेजी के साथ बढी है। दूसरी योजना मे १०६० करोड रुपया विदेशी ऋणो तथा सहायता से प्राप्त किया गया। तीसरी योजना मे २२०० करोड रुपया विदेशी सहायता से प्राप्त किया जाना है जिसमे विदेशी ऋण तथा मित्र राष्ट्रो से प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता भी सम्मिलित है।

लोक ऋण के सम्बन्ध मे वर्तमान स्थिति :

भारत सरकार की ऋण सम्बन्धी स्थिति को निम्नलिखित तालिका से समझा जा सकता है—

(करोड़ रुपयों में)

	१६६१–६२	१६६२–६३ बजट अनुमान
भारत मे—		
१ ऋण	२,६८८·१३	२,७६३ ३६
२. ट्रेजरी बिल्स (Treasury Bills)	१,१८२ ३०	१,३३२ ३०
३. अल्प बचत	१,०६४·५४	१,१६६·१४
४. रक्षित कोष आदि	६८·७६	११५·०३
५. अमेरिकन सरकार की भारत मे जमा	३०० ००	३६०·००
६. अन्य	३७०·२८	४०८·५२
कुल आन्तरिक ऋण	५,७०४·०४	६,१८०·३८
विदेशो से ऋण—		
१. इगलैंड	१४६·७४	१५७·०५
२. डॉलर ऋण	६५०·६५	८२१ ६८
३. पश्चिमी जर्मनी	१४१·०४	१२८·६०
४. अन्य विदेशी स्रोत	७४·८२	२६६ ३७
कुल लोक ऋण	६,७६३·६४	७,६८०·५०

परीक्षा प्रश्न

1. Attempt a lucid essay on the significance of public debt in a plan for economic development. (Agra B. A., B. Sc. 1955)
   आर्थिक विकास की योजना में लोक ऋण के महत्व पर एक निबन्ध लिखिए।
2. Write a short note on the following, covering not more than three pages of your answer-book :—Public Debt of India.
   (Agra B. A., B. Sc. Part I 1955)
   भारत मे लोक ऋण पर एक संक्षिप्त नोट लिखिए जो आपकी कापी के तीन पन्नों से अधिक न हो।
3. What is the nature and extent of India's Public Debt as it stands today. (Agra 1949)
   भारत का वर्तमान लोक ऋण कितना है तथा उसकी प्रकृति क्या है ?

———

१२

भारत में स्थानीय अर्थ-प्रबन्ध

Local Finance in India

भारत में स्थानीय संस्थायें बहुत प्रचीन काल से काम कर रही हैं। हिन्दू राजाओं के जमाने में पंचायतें बहुत अच्छी तरह से संगठित थी और वे स्थानीय महत्व की सेवाओं का प्रबन्ध करने के अतिरिक्त दीवानी तथा फौजदारी के मामूली झगड़े भी निपटाया करती थी। ब्रिटिश शासन काल के आरम्भ में इन संस्थाओं का पतन हो गया क्योंकि सरकार ने केन्द्रीय शासन स्थापित करने के उद्देश्य से इनकी ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। किन्तु देश में राजनैतिक तथा सामाजिक विकास होने के साथ-साथ विकेन्द्रीयकरण की मांग की जाने लगी और सरकार ने ग्राम पंचायतों तथा नगर पालिकाओं की स्थापना की ओर ध्यान देना आरंभ किया। सर्वप्रथम १६८७ में मद्रास तथा १७२६ में बम्बई और कलकत्ते में नगर-पालिकाओं की स्थापना की गई। सन् १८४२ के पश्चात स्थानीय संस्थाओं का विकास आरम्भ हो जाता है और देश के विभिन्न भागों में इस प्रकार की संस्थायें स्थापित की जाने लगीं। सन् १६१६ के सुधार अधिनियम के अन्तर्गत स्थानीय संस्थाओं का प्रबन्ध प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिया गया जिसके कारण सभी प्रान्तों में इस प्रकार की संस्थाओं के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् विकेन्द्रीय शासन के सिद्धांत को कार्य रूप में लाने का अवसर मिला और स्थानीय संस्थाओं को विकेन्द्रित शासन का एक महत्वपूर्ण अंग समझा जाने लगा वर्तमान समय में इन संस्थाओं को स्थानीय-स्वशासन की सक्रिय इकाइयाँ बनाने के लिए महत्वपूर्ण काम किया गया है। पिछले कुछ वर्षों में हमारे देश में ग्रामपंचायतों का बड़ी तेजी के साथ विकास हुआ है और इन्हें ग्रामीण क्षेत्रों में प्रजातन्त्रवाद का आधार माना जाने लगा है। इस काल में स्थानीय संस्थाओं के कार्यों तथा संगठन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

आज के सामाजिक जीवन में स्थानीय संस्थाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। वे कुछ ऐसे आधारभूत कार्य कर रही हैं जिनके बिना आज का सभ्य जीवन असंभव है। शिक्षा तथा स्वास्थ्य का प्रबन्ध, सड़को, गलियों व नालियों की सफाई, बिजली व पानी की व्यवस्था करना, सड़कों का निर्माण तथा अन्य प्रकार की सार्वजनिक सेवायें कुछ इसी प्रकार के काम हैं। इन कार्यों को स्थानीय संस्थायें अधिक अच्छी

प्रकार से कर सकती हैं क्योंकि इनमे से अधिकाश काम स्थानीय महत्व के हैं। केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारो के द्वारा इन कामो को नही किया जा सकता। स्थानीय संस्थायें जनता को प्रजातन्त्रवाद की शिक्षा देने के केन्द्र भी माने जाते हैं। यही पर लोगो को प्रजातंत्रवाद के प्रारम्भिक सिद्धातो को समझने तथा उन्हे कार्य रूप मे लाने का अवसर मिलता है। इस प्रकार स्थानीय संस्थायें लोगो को अच्छा नागरिक बनाने मे बडी सहायता देती हैं। इसके अतिरिक्त यह सस्थायें आर्थिक विकास की योजनाओ को सफल बनाने मे भी बडा सहयोग दे सकती हैं। स्थानीय सस्थायें योजना के लिये जन सहयोग प्राप्त करने, स्थानीय साधनो को एकत्रित करने तथा स्थानीय महत्व की योजनाओ को पूरा करने मे महत्वपूर्ण कार्य कर सकती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्थानीय सस्थायें आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण हैं। आज इन सस्थाओ के विकास की हमारे देश मे बड़ी आवश्यकता है। स्थानीय सस्थाओ से पूरा लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि इनका अर्थ-प्रबन्ध ठीक प्रकार से किया जाय जिससे कि इन्हे अपने कार्यों को करने के लिये पर्याप्त धन मिल सके।

स्थानीय अर्थ-प्रबन्ध (Local Finance) के अन्तर्गत नगर-पालिकाओ, जिला बोर्डों, ग्राम पचायतो के आय व व्यय का अध्ययन किया जाता है। इसमे यह भी अध्ययन किया जाता है कि स्थानीय सस्थाये किस प्रकार अपनी आय तथा व्यय मे समायोजन स्थापित करती हैं। स्थानीय वित्त की मुख्य समस्या स्थानीय सस्थाओ की आय की कमी है। ये सस्थाये आय के साधनो की कमी के कारण अपने कार्यों को भली प्रकार करने में असमर्थ है। सबसे बडी आवश्यकता इस बात की है कि इन सस्थाओ की आय में वृद्धि की जाय जिससे कि वे अपने कामो का विस्तार कर सके तथा उन्हे अधिक कुशलता के साथ किया जा सके। स्थानीय अर्थ प्रबन्ध के अध्ययन को हम स्थानीय सस्थाओ के आय के स्रोतो के विश्लेषण से आरम्भ कर सकते है। स्थानीय सस्थाओ के अन्तर्गत कॉरपोरेशन्स, नगर पालिकायें, टाउन एरिया कमेटिया, जिला-बोर्ड, तालुका बोर्ड तथा ग्राम पचायतें आती हैं।

स्थानीय सस्थाओं की आय के साधन (Sources of Income of Local Bodies) :—भारतवर्ष मे स्थानीय सस्थाओ की आय के मुख्य साधन निम्न प्रकार हैं—

(१) करारोपण

(२) व्यापारिक कार्यों से प्राप्त आय

(३) राज्य सरकारो से प्राप्त आय

(१) **करारोपण (Taxation)** :—स्थानीय संस्थाओ के द्वारा कौन से कर लगाए जायें, इसकी कोई भिन्न सूची नही है। किन्तु व्यवहारिक जीवन मे प्रत्येक राज्य में कुछ ऐसे कर हैं जिन्हे केवल स्थानीय सस्थाओं के लिए छोड़ दिया गया है। ये संस्थायें प्रत्यक्ष (Direct) तथा अप्रत्यक्ष (Indirect) दोनों ही प्रकार के कर लगाती हैं। प्रत्यक्ष करो के अन्तर्गत सम्पत्ति कर, भूमि शुल्क तथा व्यक्ति पर लगने वाले कर

आ जाते हैं। अप्रत्यक्ष करो के अन्तर्गत चुंगी कर, सीमा कर तथा मार्ग शुल्क आदि को सम्मिलित किया जाता है। स्थानीय संस्थाओं के द्वारा प्रायः निम्नलिखित करो का प्रयोग अपनी आय प्राप्त करने के लिए किया जाता है।

(अ) चुंगी कर (Octroi Duty).—यह कर सबमें प्राचीन कर है जिसका प्रयोग प्राय. नगर पालिकाओं के द्वारा किया जाता है। भारतवर्ष में इस कर का आरम्भ १८६० में हुआ। यह कर उपभोग की उन वस्तुओं पर लगाया जाता है जो नगर पालिका की सीमा में सडक, रेल अथवा जल-यातायात से लाई जाती हैं। चुंगी कर नगर पालिकाओं की आय का एक महत्वपूर्ण साधन है। कुछ ऐसी वस्तुयें हैं जिन पर चुंगी कर नही लगाया जा सकता जैसे वे वस्तुयें जिन पर सीमा कर अथवा उत्पादन कर लग चुका हो, यात्रियों का घरेलू सामान, डाक, पार्सल इत्यादि यद्यपि कुछ नगरपालिकायें इस कर को नही लगा रही हैं किन्तु फिर भी उसका प्रयोग उनमें से अधिकांश के द्वारा किया जाता है।

चुंगी कर को एक अच्छा कर नही माना जाता क्योंकि इसमें अनेकों दोष पाये जाते हैं तथा इसका कोई वैज्ञानिक आधार भी नहीं है। इसलिए इस कर को समाप्त करने की सिफारिश कितनी ही बार की जा चुकी है किन्तु वह नगर-पालिकाओं की आय का इतना महत्वपूर्ण साधन बन गया है कि उसे समाप्त करना संभव नही हो सका है। चुंगी कर के मुख्य दोष इस प्रकार हैं—(i) यह कर व्यवसाय तथा व्यापार में बाधायें उत्पन्न करता है। चुंगी कर के कारण स्वतंत्र रूप से व्यापार नही किया जा सकता और इस प्रकार वह देश के आर्थिक विकास में रुकावट पैदा करता है। (ii) इस कर को इकट्ठा करने पर बड़ा व्यय करना पड़ता है जिसके कारण कर अमितव्ययितापूर्ण हो जाता है। (iii) कर को निश्चित करने तथा वसूल करने के सम्बन्ध में काफी भ्रष्टाचार फैलता है। चौकियों पर काम करने वाले मुंशी घूस लेकर माल को छोड़ देते हैं जिससे चुंगी से होने वाली आय काफी कम हो जाती है। (iv) कर की दरों को निश्चित करने का कोई वैज्ञानिक आधार नही है और उन्हे प्राय मनमाने ढंग से निश्चित कर लिया जाता है। (v) यह कर करारोपण के सामान्य सिद्धांतो को सन्तुष्ट नही करता। इसमें निश्चितता, मितव्ययिता तथा सुविधा आदि के गुण नही पाये जाते। इन्हीं समस्त दोषों के कारण प्राय यह कहा जाता है कि चुंगी कर को समाप्त कर देना चाहिये। और उसके स्थान पर नगर पालिकाओं के द्वारा किसी अन्य कर का प्रयोग किया जाना चाहिये।

(ब) सीमा कर (Terminal Tax)—सीमा कर वह कर है जो नगर में रेल द्वारा आने वाली वस्तुओं पर लगाया जाता है। यह कर प्राय रेलवे के द्वारा इकट्ठा कराया जाता है। कर वस्तुओं के परिमाण के अनुसार लगाया जाता है। सडक अथवा जल-यातायात से आने वाली वस्तुओं पर सीमा मार्ग शुल्क (Terminal Toll Tax) लगाया जाता है। यह दोनो कर साथ-साथ लगाये जाते हैं। कर की

ाथा सवारी के प्रकार पर निर्भर होती है। मोटर, बैलगाडी, साइकिल आदि के द्वारा लाये गये सामान पर अलग-अलग दरों से कर लगाये जाते हैं। इन करो को प्राय: चुंगी करो का प्रतिस्थापन समझा जाता है क्योंकि इनमे वे दोष नही पाये जाते जिनके कारण चुंगी का प्रचलन कम होता जा रहा है। इस कर के मुख्य गुण निम्न प्रकार हैं :—

(i) यह कर क्षेत्र मे आने वाली, बाहर जाने वाली तथा क्षेत्र से गुजरने वाली सभी प्रकार की वस्तुओ पर लगाया जा सकता है (ii) इन करो के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की वापसी नही दी जाती है। चुगी कर के सम्बन्ध मे सब से बडी कठिनाई वापसी देने मे उत्पन्न होती है, यह कठिनाई इन करो मे काफी सीमा तक दूर हो जाती है। (iii) कर को एकत्रित करने का काम प्राय: म्युनिसिपल कर्मचारियो के हाथ से ले लिया जाता है जिसके कारण भ्रष्टाचार काफी मात्रा मे कम हो जाता है। (iv) इन करो को एकत्रित करने का व्यय बहुत कम आता है। इनका प्रबन्ध भी साधारण तथा सुविधापूर्ण ढग से किया जा सकता है। (v) सीमा कर की दरें प्राय. चुगी कर से कम होती हैं जिसके कारण वह व्यापार तथा व्यवसाय मे अधिक बाधक नहीं होता ।

सीमा कर तथा सीमा मार्ग शुल्क को अधिक उपयोगी बनाने के लिये आवश्यक है कि उसकी दरे नीची रक्खी जाये तथा उन पर राज्य सरकारो का नियन्त्रण स्थापित किया जाय। सीमा कर एक स्थानीय कर है और इसकी आय को एक विशेष क्षेत्र के लोगो की भलाई के लिये व्यय किया जाता है किन्तु इस का भार देश की सामान्य जनता पर पडता है। इस दोष को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि इसकी दरो को कम से कम रक्खा जाय तथा उन पर सरकारी नियन्त्रण रहे।

(स) मकान तथा भूमि पर कर—नगरपालिकाओ तथा अन्य स्थानीय सस्थाओ को मकानो, भूमि तथा अन्य प्रकार की सम्पत्ति पर कर लगाने का अधिकार है। मकान कर स्थानीय आय का एक महत्वपूर्ण साधन है। सम्पत्ति कर मकानो तथा भूमि की वार्षिक आय के आधार पर लगाया जाता है। चाहे सम्पत्ति किराये पर दी जाय अथवा वह मालिक के निजी प्रयोग में हो, उस पर कर देना आवश्यक होता है। कर की दरो मे काफी भिन्नता पाई जाती है किन्तु वह प्राय: ४% और ६% के बीच में होती है। कुछ नगरपालिकाओं के द्वारा यह कर प्रगतिशील आधार पर भी लगाया जाता है। कम आय वाली सम्पत्ति पर कर की दर नीची रक्खी जाती है और वह सम्पत्ति से प्राप्त आय के अनुसार बढती जाती है। अधिकतम दर १५% तक हो सकती है। प्रत्यक्ष कर होने के कारण मकान कर बहुत अच्छा कर समझा जाता है क्योंकि न तो इसके लगाने में और न वसूल करने में कोई कठिनाई होती है। कर निश्चितता के सिद्धान्त को अच्छी तरह पूरा करता है तथा मितव्ययितापूर्ण भी है क्योंकि इसे एकत्रित करने का व्यय कम आता है। मकान कर लोच पूर्ण भी है क्योंकि मकानो के किराये में वृद्धि होने पर कर से होने वाली आय को बढ़ाया जा सकता है।

मकान कर को अधिक उचित तथा उत्पादक बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उसे प्रगतिशील दरों पर लगाया जाय। कम आय वाली सम्पत्ति पर कर की दर कम होनी चाहिये तथा अधिक आय वाली सम्पत्ति पर ऊंची दर से कर लगाया जाना चाहिये। जिन मकानो का प्रयोग व्यवसायिक कार्यों के लिये होता हो उन पर कर की दर रिहाइशी मकानों की अपेक्षा अधिक होनी चाहिये। ऐसा करना न्याय की दृष्टि से उचित होगा। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि सम्पत्ति का मूल्यांकण उचित ढग से किया जाय जिसके लिये विशेष कर्मचारियों का रक्खा जाना आवश्यक है।

(द) व्यक्तियों तथा व्यवसायों पर कर (Tax on Persons and Professions)—बहुत सी नगरपालिकायें व्यक्तियो तथा व्यवसायो पर भी कर लगाती हैं। मद्रास, बगाल तथा मध्य प्रदेश की नगरपालिकायें तथा जिला बोर्ड व्यापार तथा व्यवसाय पर कर लगाती हैं। व्यवसायो को विभिन्न वर्गों मे बाट दिया जाता है और उनमे से प्रत्येक व्यवसाय करने वाले को लाइसेन्स लेना पडता है। बगाल, यू० पी०, बिहार तथा उडीसा की नगरपालिकायें तथा जिला बोर्ड हैसियत कर के नाम से व्यक्तियो पर कर लगाती हैं। व्यक्तियो पर कर उनकी सामाजिक स्थिति, आय, सम्पत्ति तथा व्यवसाय को ध्यान मे रख कर लगाया जाता है। यह कर अधिक प्रचलित नही है क्योकि निश्चित करने का कोई वैज्ञानिक आधार न होने के कारण मनमाने ढग से लगाया जाता है।

(य) अन्य कर (Other Taxes)—उपरोक्त करो के अतिरिक्त भी स्थानीय संस्थायें अनेक कर लगाती हैं जैसे जानवर, गाडी व नाव कर, यात्रियो पर कर, धोबियो पर कर, बाजार कर, मनोरंजन कर, नौकरो पर कर इत्यादि। इनमे से जानवरो तथा गाडियो पर कर प्रायः सभी नगरपालिकाओं के द्वारा लगाया जाता है। यह कर लाइसेन्स शुल्क के रूप मे लिया जाता है। इस कर के सम्बन्ध मे अपवचन की काफी गुन्जाइश है।

(२) व्यवसायिक कार्यों से प्राप्त आय—इस कर के अन्तर्गत स्थानीय संस्थाओ को बिजली, पानी, गैस, म्युनिसिपल बाजारो तथा वध-गृहो, जिला बोर्ड की रेलो, बस सर्विस, भूमि के प्रयोग आदि से प्राप्त आय सम्मिलित होती है। अधिकांश नगरपालिकाय अपने क्षेत्र म बिजली देने का कार्य करती हैं जिससे उन्हे काफी आय प्राप्त होती है। पानी व गैस का प्रबन्ध भी नगर संस्थाओं के द्वारा किया जाता है। पानी कर दो प्रकार मे वसूल किया जाता है। सामान्य कर के रूप मे (Flat Rate) तथा पानी के उपभोग के अनुसार कर लेना। पानी की व्यवस्था करने मे नगरपालिकाओ को काफी व्यय करना पडता है जिसे वे धीरे-धीरे पानी कर से वसूल करती हैं। पानी कर से स्थानीय संस्थाओ को काफी आमदनी होती है। पानी की कीमत उपभोग के आधार पर वसूल करना अधिक समझा जाता है क्योकि इस प्रणाली से पानी का बेकार खर्च नही किया जाता। मीटर के द्वारा यह नाप लिया जाता है कि कितने पानी का उपभोग किया गया है और प्रति हजार गैलन के हिसाब से पानी की कीमत वसूल

कर ली जाती है। कुछ बड़े शहरो की नगरपालिकायें गैस का उत्पादन करके अपने उपभोक्ताओं को बेचती है जिससे उन्हे काफी लाभ होता है। बड़े शहरो की नगरपालिकायें बस, ट्राम तथा अन्य आवागमन के साधनों का प्रबन्ध भी करती हैं जिसके कारण लोगो को कम किराये पर दूर-दूर सफर करने की सुविधा मिल जाती है। नगरपालिकाओ को इस काम से आमदनी प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त कुछ नगरपालिकाओ के अपने बाजार, बध गृह, सिनेमा घर तथा डेरी आदि होते हैं जिनसे उन्हे आमदनी प्राप्त होती है।

(३) अनुदान तथा ऋण (Grants and Loans)—उपरोक्त साधनो से प्राप्त आय स्थानीय सस्थाओ के व्यय को पूरा करने के लिये पर्याप्त नही होती और उन्हे काफी सीमा तक सरकारी अनुदान पर निर्भर रहना पडता है। स्थानीय संस्थाओं को राज्य सरकार से दो प्रकार का अनुदान मिलता है—(i) आवर्ती अनुदान (Recurring Grant) तथा (ii) समवरुद्ध अनुदान (Block Grant)। आवर्ती अनुदान प्रति वर्ष दिया जाता है तथा समवरुद्ध अनुदान एक कार्य के लिये केवल एक बार दिया जाता है। राज्य सरकारें अनुदान निश्चित कार्यों के लिये देती हैं जिन्हे मुख्यतः दो भागो मे बाटा जा सकता है—(क) शिक्षा अनुदान, (ख) सामान्य कामो के लिये अनुदान जैसे स्वास्थ्य, चिकित्सा, यातायात सदेशवहन इत्यादि। अनुदान की मात्रा निश्चित करने के लिये तीन प्रकार की विधियाँ काम मे लाई जाती हैं—(i) आनुपातिक अनुदान (Percentage Grant)—इसके अन्तर्गत किसी सेवा के व्यय का निश्चित प्रतिशत अनुदान के रूप मे दिया जाता है। (ii) निश्चित अनुदान (Block Grant) किसी कार्य को निश्चित मात्रा मे अनुदान देना चाहे उस पर अधिक व्यय किया जाय अथवा कम। (iii) इकाई अनुदान (Unit Grant) इस प्रणाली मे स्थाई आधार पर अनुदान दिया जाता है और उसकी रकम प्रति इकाई के आधार पर निश्चित की जाती है जैसे शिक्षा अनुदान का आधार प्रति संस्था अथवा प्रति विद्यार्थी रक्खा जाता है। आर्थिक अनुदान के अतिरिक्त स्थानीय सस्थाओं को कुछ विशेष कामो के लिए राज्य सरकारो से कम सूद पर ऋण भी मिलता है।

स्थानीय सस्थाओ का व्यय :

स्थानीय सस्थायें वर्तमान समाज मे अनेको उपयोगी सेवाओं का प्रबन्ध करती है जिनके बिना नागरिक जीवन का चलना असम्भव प्रतीत होता है। शिक्षा, स्वास्थ्य, सडको व गलियो का निर्माण, शहर की सफाई, बिजली, पानी व गैस का प्रबन्ध, अस्पताल, डिस्पेन्सरी आदि का चलाना, पार्क तथा वाटिकाओ की व्यवस्था, मेले व नुमायशो का प्रबन्ध आदि कुछ ऐसे काम हैं जो नगरपालिकाओ व जिला बोर्डों द्वारा किये जाते हैं। ये कार्य मुख्यतः दो वर्गों मे बाटे जा सकते—

(अ) अनिवार्य कार्य—(Obligatory Function)—इसके अन्तर्गत वे कार्य आ जाते है जिनका प्रबन्ध करना स्थानीय सस्थाओ के लिये अनिवार्य होता है जैसे सफाई, प्रारम्भिक शिक्षा, बिजली व पानी का प्रबन्ध तथा आवागमन के साधनो का

विकास, (ब) निर्णयात्मक कार्य (Discretionary Functions)—इसके अन्तर्गत वे कार्य आ जाते हैं जिनका प्रबन्ध यदि स्थानीय संस्था चाहे तो कर सकती है जैसे पुस्तकालयों तथा वाचनालयों की स्थापना, पार्क व व्यायामशालाओं की व्यवस्था, मेलों आदि का प्रबन्ध इत्यादि। इन सब कामों को करने के लिये स्थानीय संस्थाओं को काफी व्यय करना पड़ता है।

आय के साधनों की कमी के कारण :

आजकल इन संस्थाओं का उत्तरदायित्व पहले की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गया है जिसके कारण इनका व्यय भी दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा है। इस बढ़ते हुये व्यय को पूरा करने के लिये यह आवश्यक है कि स्थानीय संस्थाओं की आय में पर्याप्त वृद्धि की जाय जिससे कि वे महत्वपूर्ण सेवाओं का प्रबन्ध ठीक प्रकार कर सकें। आय के साधनों की कमी स्थानीय वित्त की मुख्य समस्या है। आय के साधनों की कमी के कारण ये संस्थायें अपने कार्य सुचारू रूप से नहीं कर पा रही हैं और उनकी राज्य अनुदान पर निर्भरता दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है। स्थानीय संस्थाओं की आय कम होने के कारण इस प्रकार हैं—(i) सामान्य जनता की निर्धनता—अधिकांश लोग इतने गरीब हैं तथा उनकी कर दान क्षमता इतनी कम है कि नगरपालिकाओं के लिये अपनी कर आय में वृद्धि करना सम्भव नहीं है। (ii) कर अपवचन—स्थानीय करों से लोग प्रायः बच जाते हैं जिससे नगरपालिका की आय कम होती है। विशेषकर धनी लोग कर दान-क्षमता होते हुये भी कर नहीं देना चाहते हैं। (iii) राज्य तथा केन्द्रीय करों का भार—नागरिकों को अनेक प्रकार के राज्य तथा केन्द्रीय करों का भुगतान करना होता है जिसके कारण स्थानीय करों को देने की उनकी क्षमता बहुत कम रह जाती है। (iv) व्यवसायिक आय का कम होना—अधिकांश नगरपालिकाएं बहुत कम व्यवसायिक कार्य करती हैं और अधिकांश रूप से कर आय तथा सरकारी अनुदान पर निर्भर रहती हैं। (v) अकुशल शासन तथा दोषपूर्ण निरीक्षण—शासन व्यवस्था की कार्य-कुशलता कम होने के कारण भी नगरपालिकाओं की आय कम रहती है। करों की रकम ठीक प्रकार निश्चित नहीं की जाती। निरीक्षण ठीक न होने के कारण लोग कर से बच जाते हैं। कर वसूली ठीक समय पर नहीं होती।

आय के साधनों में वृद्धि के उपाय :

स्थानीय संस्थाओं की आय में वृद्धि करने के लिये अनेकों सुझाव दिये गये हैं। इस सम्बन्ध में स्थानीय अर्थ-प्रबन्ध जाँच समिति (Local Finance Enquiry Committee) तथा करारोपण जाँच आयोग (Taxation Enquiry Commission) द्वारा दिये गये सुझाव महत्वपूर्ण हैं। कुछ मुख्य-मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं—(१) मालगुजारी की दर को नीचा रखा जाय जिससे कि स्थानीय संस्थाओं के लिये भी भूमि में कर वसूल करने की कुछ गुन्जायश रह जाय। विशेषतया ग्राम पंचायतों को अपने क्षेत्र की भूमि से प्राप्त मालगुजारी में कुछ हिस्सा मिलना चाहिये। (२) कुछ

कर राज्य सरकारो से लेकर उन्हे पूर्णतया स्थानीय सरकारो के उपयोग के लिये छोड दिया जाना चाहिये। मोटर गाडियो पर चलने वाला कर, मनोरजन कर, अचल म्पत्ति पर कर तथा बिजली कर स्थानीय सरकारो के वित्त के साधन होने चाहियें। (३) केन्द्रीय सरकार को रेल, सडक तथा वायुयान द्वारा जाने वाले यात्रियो पर सीमा कर लगाना चाहिये और उसकी कुल आमदनी स्थानीय सस्थाओ को देनी चाहिये। (४) स्थिति, पेशो तथा सम्पत्ति पर कर लगाने की व्यवस्था मे सुधार होना चाहिये। मकान पर कर प्रगतिशील दरो से लिया जाना चाहिये तथा सम्पत्ति का मूल्याकन ठीक प्रकार से होना चाहिये। (५) स्थानीय सस्थाओ को विज्ञापन कर तथा सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर लगाने का अधिकार होना चाहिये। (६) होटलो मे ठहरने वाले यात्रियो से भी कर लिया जा सकता है। (७) स्थानीय सस्थाओ को गैर-कर आय के साधनो का विकास करना चाहिये। ये सस्थाये व्यवसायिक कार्यों से काफी आय प्राप्त कर सकती हैं। बिजली, पानी व गैस की व्यवस्था, म्युनिसिपल बाजार तथा वध गृहो का निर्माण, सिनेमा घर, डेरी फार्म तथा मोटर यातायात आदि का चलना काफी आय दे सकता है। (८) राष्ट्र महत्व के कार्यों को केन्द्र अथवा राज्य सरकारो को ले लेना चाहिये जिससे स्थानीय सस्थाओ पर खर्च का भार कम हो सके। (९) राज्य सरकारो को अनुदान के रूप मे अधिक रकम देनी चाहिये। (१०) स्टाम्प कर पर अतिरिक्त कर (Surcharge) लगाने का अधिकार स्थानीय सस्थाओ को होना चाहिये तथा रजिस्ट्रेशन फीस से होने वाली आमदनी मे से उन्हे कुछ हिस्सा दिया जाना चाहिये।

————